करते हुए श्रीमान् श्रीकीर्तिनारायण सिंहजीने इस कार्यके लिए तुरन्त ठोस अनुदान भी दे डाला। तदनुसार ' वैदिक संशोधन मण्डल 'ने १०८ सूक्तोंके चयन एवं सटिप्पण अनुवाद का कार्य बम्बई विश्वविद्यालयके संस्कृत–प्राकृत विभागके अध्यक्ष एवं वेदोंके माने हुए मर्मज्ञ प्रा. ह. दा. वेलणकरजी को सौंपा।

प्रा. ह. दा. वेलणकरजीने प्रस्तुत ग्रंथमें लगभग ३५ वर्षोंके सुदीर्घ अध्ययनके फलको लिपिबद्ध किया है जिससे इसके सूक्तोंमें वेदोंसे सम्बद्ध सभी महत्त्वपूर्ण विषयोंका समावेश हुआ है। इसकी टिप्पणियाँ वेदोंके सभी अध्येताओं एवं अनुसंधान कर्ताओंके लिए निस्सन्देह अतीव सहायक सिद्ध होंगीं। सायणाचार्यकी ऋग्वेदभाष्यभूमिका इस ग्रंथमें अनुवादके साथ पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत है जिससे वेदोंके उस महान्, सर्वप्रथम भाष्यकारकी सादर वन्दना सम्पन्न होती है। प्रस्तावनामें विद्वान् लेखकने वेदाध्ययनके प्राचीन एवं अर्वाचीन प्रयत्नोंका संक्षिप्त एवं समीक्षात्मक इतिहास प्रस्तुत करके भावी अध्ययनकी दिशाकी ओर संकेत भी किया है। साथ साथ इस ग्रन्थमें शब्दकोशके साथ देवतासूची, ऋषिसूची, मन्त्रसूची तथा टिप्पणियोंमें चर्चित महत्त्वपूर्ण विषयों की सूची भी उपस्थित करके इसे सराहनीय पूर्णता प्रदान की गई है।

प्रस्तुत ग्रंथको इस रूपमें प्रस्तुत करनेमें प्रा. वेलणकरजी के साथ साथ उनके सच्छिष्य प्रा.डॉ. मो. दि. पराड़करजी का विशेष रूपसे उल्लेख करना आवश्यक है। क्या प्रस्तावना, क्या अनुवाद, क्या टिप्पणियाँ सबमें गुरुके प्रति श्रद्धासे प्रेरित इस सुशिष्यकी स्वयंस्फूर्त अतएव अनमोल सहायता यदि प्राप्त न होती तो प्रस्तुत ग्रंथको यह सुचारु एवं सुगठित रूप प्रदान करनेमें ' कालोह्ययं निरवधिः ' का अनुभव अवश्य होता। अतः प्रस्तुत ग्रन्थके प्रकाशन के लिए मैं उक्त दोनों विद्वानोंको हार्दिक धन्यवाद प्रदान करता हूँ।

' ऋक्सूक्तवैजयन्ती ' के इस प्रकाशनसे श्रीमान् श्रीकीर्तिनारायणसिंहजीकी साध आंशिक रूपमें ही पूर्ण हो रही है। सम्पूर्ण ऋग्वेदका सटिप्पण अनुवाद हिन्दीमें प्रस्तुत करनेकी उनकी आकांक्षासे हम परिचित हैं। मैं इस अवसरपर श्रीमान्‌जी को विश्वास दिलाता हूँ कि वैदिक संशोधन मण्डल आपकी मङ्गल अभिलाषाको पूर्ण करनेमें यत्नशील रहेगा। अन्तमें आशा रखता हूँ कि वेदप्रेमी रसिक एवं विद्वान् प्रस्तुत 'ऋक्सूक्तवैजयन्ती' का सहर्ष स्वागत करेंगे।

यवतमाल, ता. ३-७-१९६५. **मा. श्री. अणे**

उदाराशय श्रीमान् श्रीकीर्तिनारायण सिंह

श्रद्धा मानव जीवनका सर्वोपरि संबल है । वास्तवमें वही 'भूमाका मधुमय दान,' है जिसे पाकर मानवका समर्पित जीवन असाधारण आभासे आलोकित होते हुए देवत्वसे होड करने लगता है । संसारमें इस तरहके निरामय जीवनके अधिकारी व्यक्ति बिरले ही होते हैं; प्रस्तुत ग्रन्थके आश्रयदाता स्वनामधन्य श्रीमान् श्रीकीर्तिनारायण सिंहजी उन्हींमेंसे एक हैं ।

श्रीमान् श्रीकीर्तिनारायण सिंहके कुलके मूल पुरुष थे सूर्यवंशीय रघुकुलोत्पन्न राजा निकुम्भ । अतः कोई अचरज नहीं कि सदियोंतक साकेत याने अयोध्या ही इनके कुलकी आवास-भूमि रही हो । सतरहवीं शताब्दीमें इनके पूर्वजोंने स्थलान्तर करना उचित समझा और वे बिहारके वन्य प्रदेशोंमें स्थित पुरुषोत्तमपूरमें आकर बसे । आखिर वे क्षात्रकुलोत्पन्न राजा ही ठहरे ! अतः इस अवसरपर वे अपने साथ बारह सालदार भी ले आए थे और प्रजाकी तरह उन्होंने उनका पालन-पोषण किया । श्री. श्रीकीर्तिनारायण सिंहके पूज्य पिता-का नाम था श्री. चेदिराज वर्मा और माताका चरितार्थ अभिधान था सुश्री कुलवंती देवी । श्री. श्रीकीर्तिनारायण अपने माता-पिता की पाँचवीं सन्तान थे । इनका जन्म २६ अक्तूबर १८८४ में हुआ ।

आपके कुलका परम्परागत व्यवसाय तो खेती ही रहा था और आप चाहते तो उसी के सहारे परिवारका पालन-पोषण करते हुए बड़े आरामकी ज़िन्दगी बसर करते । लेकिन आपके संस्कार कुछ अलग ही थे; ज्ञानके प्रति पहलेसे ही आपको अपार आकर्षण रहा था। अतः सन १९०५ तक पटणाके गुरु ट्रेनिंग स्कूलमें स्कूल फायनलकी परीक्षा आपने उत्तीर्ण की और शिक्षकके जीवनको तनसे तथा मनसे अपना लिया । पेशेके लिहाज़से आप दरभंगा, मुजफ्फरपूर, शहाबाद आदि स्थानों में रहनेपर बाध्य हुए । ज्ञान-दानको आप एक तपस्या मानते आए हैं । प्रतिवर्ष छुट्टियोंमें गाँव लौटकर आप घरके बगीचे को सँवारने एवं आमोंकी देखभाल करनेमें जी-जानसे जुट जाते । बीचमें आपका विवाह चंदेल-कुलकी कन्या देविकादेवीसे हो चुका था। दुर्भाग्यसे उसके काल-कवलित होनेपर आपने दूसरा विवाह भी कर लिया। कुल मिलाकर आपके जीवनके सठ बसन्त समृद्ध एवं आनन्दपूर्ण ग्रामीण जीवन बितानेमें गुज़रे हैं । तीन पीढ़ियोंके जीवनको आपने बहुत निकटसे देखा है, परखा है । उससे उत्पन्न सन्तोषका भाव आपके चेहरेपर अङ्कित है सही, किंतु साथ साथ वर्तमान पीढ़ि उससे वञ्चित हो उठी है इसकी हूक भी आपको बीच बीच में सालती रहती है ।

आपके जैसा जिज्ञासु शिक्षक अपने समयकी राजनीतिक उथल-पुथल से अछूता कैसे रह सकता था ? सन १८९३-९४ में ही आप बाल गंगाधर तिलक की विचारधाराकी ओर आकृष्ट हो चुके थे। स्वदेशीके आंदोलनमें सम्मिलित होकर आपने अपनी नौकरीका इस्तीफ़ा दे डाला ! सन १९०८ के वङ्गभङ्गके आन्दोलनने आपके मानसको भली भाँति

झकझोरा हैं। लोकमान्य तिलक की मूर्ति आपके मानस-मन्दिरमें कब की आसीन हो चुकी थी। उनका अनूदित गीतारहस्य तो आपका पथप्रदर्शक बना था। उनके दर्शनको पानेके लिए, आप उत्सुक हो उठे थे। अन्तमें कलकत्तामें उनके दर्शनका सुअवसर पाकर आप फूले न समाए। आज भी उनकी याद आते ही आपकी आँखें आँसुओंसे छलछलाती हैं और आपके मुखसे अनायास शब्द निकलते हैं, "तिलक भगवान् की निर्भीकताके सम्बन्धमें मेरी पूरी श्रद्धा हुई थी"। आगे चलकर आप स्वराज्यके आंदोलनमें भी शरीक हुए और महात्मा गांधी के दर्शनका भी आपको लाभ हो गया।

यह सब होते हुए भी राजनीति आपके जीवनका सर्वस्व न बन सकी; धर्म ही आपके जीवनकी वास्तविक आधारशिला थी। भौतिक संपन्नताके रहते हुए भी 'उस सिरजनहार' की याद बनाए रखना आपकी अनूठी विशेषता है। सन १९०९ में भगवान् महावीर के मंदिर में अपने पूज्य पिताद्वारा आप 'ॐ नमो सिद्धिम्' इस मन्त्रमें दीक्षित हो चुके थे। आगे चलकर अनुवादोंकी सहायतासे आपने मनुस्मृतिका अध्ययन किया। इसीसे वेदोंके प्रति आकर्षणका जन्म हुआ। धीरे धीरे धर्म-भावना ज्यों ज्यों प्रबल होती गई त्यों त्यों वेदोंके प्रति अविचल श्रद्धाने आपके मस्तिष्कमें घर कर लिया। वेदोंके अर्थको समझने की 'व्याकुल एषणा' से प्रेरित होकर आपने कई व्यक्तियों के साथ लिखा-पढ़ी की; कल्याण जैसी धार्मिक पत्रिकाओंके सम्पादकोंसे सम्पर्क स्थापित किया। बिहार के सुदूर देहातमें निवास करनेके कारण इसी अन्वेषणमें आपके बीस बरस बीते लेकिन आपने ज़िद नहीं छोडी। एक दिन संयोग से एक आचार्यने पूना में स्थित वैदिक संशोधन मंडल का पता आपको दे डाला। आपने तुरन्त वेदभाष्यकी प्रति मँगवा ली। इसीसे एक नया अध्याय आरम्भ हुआ।

लोकमान्य तिलक के प्रति अपार निष्ठा रखनेवाले श्रीमान् श्रीकीर्तिनारायण सिंहजी का उन्हींकी स्मृतिके रूपमें संचालित प्रस्तुत संस्थाके संपर्कमें आना वास्तवमें 'व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतुः' का बड़ा ही अच्छा उदाहरण है। नहीं तो कहाँ बिहार और कहाँ पूना? मंडलके कार्यालयमें आकर श्रीमान्ने उसका कार्य देखा और बड़े प्रेमके साथ कहा, "मुझे अबतक चाहे जो कुछ मिला हो; ऋग्वेद सायणभाष्यसे उसकी तुलना नहीं हो सकती। इस संस्थासे बढकर आखिर कौनसी संस्था हो सकती है?" उपर्युक्त कथन आपकी पारदर्शी सरलताका उत्कृष्ट उदाहरण है। श्रद्धासे प्रेरित होकर प्रस्तुत 'ऋक्सूक्त-वैजयन्ती' के लिए अनुपम अनुदान देकर आपने 'श्रद्धाविधियुक्तं कर्मानन्त्याय कल्पते' को चरितार्थता प्रदान की है। सूदके साथ रकम का भी दान देते हुए आपने जिस ढंगसे 'प्रदानं प्रच्छन्नम्' का लिहाज रखा है उसकी तो पर्याप्त सराहना नहीं की जा सकती। विश्वास है कि वेदोंको भारतकी कोटि कोटि जनता के कंठ की वाणीमें उपस्थित करने एवं उसे लाभान्वित करने की आपकी मङ्गल अभिलाषा भी आपकी इसी अविचल श्रद्धाके बलपर पूर्ण होगी।

वेदोंके भाष्यकार श्रीसायणाचार्य

अंग्रेजी ग्रन्थकार कार्लाइलका कथन है:— 'देशका इतिहास वास्तवमें उसमें जन्म लेनेवाले बड़े लोगोंकी जीवनियोंका समाहार है'। चौदहवीं शताब्दीका भारतवर्षका इतिहास उक्त कथनकी सत्यताको प्रमाणित करता है। इस शताब्दीपर अपने अपने व्यक्तित्वकी छाप सदाके लिए अङ्कित करनेवाले चार महानुभावोंमें सायणाचार्य का समावेश किया जाता है। माना कि इस शताब्दीमें बलशाली साम्राज्य के निर्माण का गौरव हरिहर एवं बुक्क इन दो वीर बन्धुओंको प्राप्त है; फिर भी उन्हें वैचारिक प्रेरणा प्रदान करनेका कार्य तो निस्सन्देह माधवाचार्य एवं सायणाचार्य इन्हीं दो विद्वानोंने किया है।

'वेदार्थप्रकाश' के रचयिता सायणाचार्य वेदोंके अध्येताओंके सर्वप्रथम पथ-प्रदर्शक होनेके साथ-साथ विजयनगरके महान् साम्राज्यकी रचनाके प्रज्ञाचक्षु शिल्पी भी रह चुके थे। इस दृष्टिसे—

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च। सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥

यह मनुका कथन उनके विषयमें सही सिद्ध हो चुका था। स्वाभाविक है कि ऐसे व्यक्तिका जीवन प्रेरणा एवं स्फूर्तिका उत्स प्रतीत हो।

मानी हुई बात है कि भारत वर्षके प्राचीन महानुभावोंके जीवनके विषयमें प्रामाणिक जानकारी बहुत कम मिलती है। सौभाग्यसे श्रीसायणाचार्यने अपनी रचनाओंमें इस विषयमें बहुत कुछ लिखा है। साथ साथ विजयनगरके राजाओंके आज्ञापत्र एवं तत्कालीन सरकारी कागज़ात भी सायणाचार्यके जीवनपर प्रकाश डालनेमें सहायक सिद्ध होते हैं।

पारिवारिक जीवन

सायणाचार्यका परिवार आन्ध्रका निवासी था; उनका गोत्र भारद्वाज एवं सूत्र बोधायन था। कृष्णयजुर्वेदकी तैत्तिरीय शाखाके अन्तर्गत समझा जानेवाला यह परिवार संस्कृति एवं विद्याओं के आगार के रूपमें विख्यात था। सायणाचार्यने स्वयं अपने परिवार एवं माता-पिताकी जानकारी देते हुए लिखा है:—

श्रीमती जननी यस्य सुकीर्तिर्**मायणः** पिता।
यस्य बोधायनं सूत्रं शाखा यस्य च याजुषी ॥

उनकी सहचरी हेमावती 'गृहिणी सचिवः सखी मिथः' को चरितार्थ करती थी और उनके तीनों पुत्र विभिन्न शास्त्रोंके माने हुए अध्येता थे। इन पुत्रोंमेंसे कम्पण संगीतके मर्मज्ञ थे; मायण गद्य तथा पद्य की रचनामें अतीव चतुर थे और शिङ्गण वेदोंके जटापाठ एवं क्रमपाठ में अपना सानी नहीं रखते थे। अतएव सायणाचार्यने अपने अलङ्कार-सुधानिधि में 'धन्यो गृहस्थाश्रमः' की दुहाई देते हुए लिखा है:—

तत् संव्यञ्जय कम्पण! व्यसनिनः सङ्गीतशास्त्रे तव
प्रौढिं मायण! गद्यपद्यरचनापाण्डित्यमुन्मुद्रय ॥

शिक्षां दर्शय शिङ्गण ! क्रमजटाचर्चासु वेदेष्विति
स्वान् पुत्रानुपलालयन् गृहगतः सम्मोदते सायणः ॥

कोई अचरज नहीं कि उनका घर तत्कालीन विद्वानोंकी चर्चाओंसे निरन्तर गुँजता रहा हो और वह शारदाका मंदिर कहलाता हो । ‘ कथं वाचा भूमिर्भवति भवनं सायण-विभोः ’ में कोई अत्युक्ति प्रतीत नहीं होती ।

सायणाचार्यका व्यक्तित्व बड़ा ही प्रभावशाली था ।

‘आकारसदृशप्रज्ञः प्रज्ञया सदृशागमः आगमैः सदृशारम्भ आरम्भसदृशोदयः’

यह कविकुलगुरुका कथन उनके विषयमें चरितार्थ प्रतीत होता था । क्या त्याग, क्या उपभोग, क्या युद्ध, क्या याग, सभीमें सफलता उनके चरण चूमती थी । तत्कालीन समाज ‘ सायणार्यसमो लोके सायणार्यो न संशयः ’ यही कहना पसन्द करता था ।

सायणाचार्यके दोनों भाईयोंका उल्लेख करना भी नितान्त आवश्यक है । उनके छोटे भाई भोगनाथ विद्वान् होनेके साथ साथ उच्च कोटिके कवि थे । अपने काव्य–कौशलके बलपर ही उन्होंने राजा सङ्गम के नर्मसचिव का पद पाया था । उनके काव्योंमें ‘रामोल्लासः’, ‘ त्रिपुरविजयम् ’, ‘ उदाहरणमाला ’, ‘ महागणपतिस्तवः’, ‘ शृङ्गारमञ्जिरी’, ‘ गौरीनाथाष्टकम् ’ की ओर निर्देश करना समीचीन होगा । सायणाचार्यने काव्यशास्त्रपर ‘ अलङ्कार-सुधानिधि ’ नामसे जो ग्रन्थ लिखा उसमें उदाहरणोंके तौरपर पद्य उद्धृत करनेमें उन्होंने यदि अपने इसी बन्धुकी रचनाओंसे लाभ उठाया हो तो वह सर्वथा स्वाभाविक ही माना जायगा ।

वेदभाष्योंके इस स्रष्टाके बडे भाई ठहरे माधवाचार्य जो अपने समयके पारदर्शी विद्वान् थे । विजयनगरके साम्राज्यके संस्थापक बन्धुओंके, हरिहर एवं बुक के गुरु तथा मार्गदर्शक होनेके साथ साथ वे आध्यात्मिक क्षेत्रमें पहुँचे हुए व्यक्ति थे । पूर्व तथा उत्तर मीमांसा के वे माने हुए मर्मज्ञ थे । ‘ बहुजनहिताय एवं बहुजनसुखाय ’ के उद्देश्यको मनमें रखकर धर्मको सुचारु एवं सुव्यवस्थित भूमिपर खड़ा करनेके लिए उन्होंने ‘ पराशरस्मृतिव्याख्या ’ ‘ व्यवहारमाधव ’, ‘ कालमाधव ’, ‘ जीवन्मुक्तिविवेक ’, ‘ जैमिनीय-न्यायमाला-विस्तर ’, ‘ तात्पर्यदीपिका ’, ‘ पञ्चदशी ’ जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथोंकी रचना की । सच बात तो यह है कि चौदहवीं शताब्दीमें विभिन्न शास्त्रों के अध्ययनको ठोस प्रोत्साहन देनेका श्रेय माधवाचार्य को प्राप्त है । कोई आचरज नहीं कि सायणाचार्यपर इनका बहुत ही बडा प्रभाव पड़ा, हो । सायणाचार्यने अपनेको ‘ माधवकल्पतरुसहोदर ’ कहा है जो सर्वथा उचित प्रतीत होता है । माधवाचार्यके प्रकाण्ड पाण्डित्यको देखकर राजा बुक्कने वेदोंपर भाष्य लिखनेके लिए उन्हींका अनुरोध कियाः—

तत्कटाक्षेण तद्रूपं दधद्बुक्कमहीपतिः । आदिशन्माधवाचार्यं वेदार्थस्य प्रकाशने ॥

किन्तु माधवाचार्यने स्वयं अपने अनुज सायणको वह कार्य सौंपनेकी सलाह देते हुए कहाः—

अयं हि कृतिनामाद्यो सायणार्यो ममानुजः ।
सर्वं वेत्त्येष वेदानां व्याख्यातृत्वे नियुज्यताम् ॥

राजा बुक्कने इसे तुरन्त मान लिया और इस प्रकार माधवाचार्यकी कृपासे वेदभाष्य लिखनेका उत्तरदायित्व सायणाचार्यको वहन करना पड़ा। इसीलिए सायणाचार्यने कृतज्ञताके साथ अपने भाष्य उन्हींके चरणोंपर अर्पित किए हैं। आगे चलकर श्रीमाधवाचार्यने परिव्रज्या ग्रहण की और वे विद्यारण्यके नामसे शृंगेरीपीठाधीश बने। इस स्थानसे उन्होंने वेदान्तकी जो अनमोल सेवा की उसीके बलपर शृंगेरीपीठके आचार्योंकी परम्परामें उन्हें महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ। अथर्ववेदकी भाष्योपक्रमणिकामें सायणाचार्यने विद्यातीर्थके साथ साथ इन्हीं विद्यारण्यको वन्दना करते हुए लिखा है :—

अविद्याभानुसंतप्तो विद्यारण्यमहं भजे। यदर्ककरतप्तानामरण्यं प्रीतिकारणम् ॥

इससे स्पष्ट है कि उक्त भाष्यके रचनाकालमें याने द्वितीय हरिहर राजाके कालमें माधवाचार्य प्रव्रज्या ग्रहण करके शृंगेरी विद्यापीठमें अपना स्थान पा चुके थे।

शृंगेरी विद्यापीठ की उज्ज्वल परम्परा

सायणाचार्यके व्यक्तित्वके निर्माणमें उक्त पीठका भी अपना स्थान है। तपोवन एवं सिद्धाश्रम बहुत प्राचीन कालसे भारतीय संस्कृतिके प्राण रह चुके हैं। यहींसे आध्यात्मिक विचारों एवं शाश्वत मूल्यों का वितरण होता आया है। इसी उद्देश्यसे पूज्यपाद श्रीशंकराचार्यने तुंगभद्रा नदीके पास प्रकृतिकी रमणीयतासे संयुक्त एवं ऋष्यशृङ्गकी चरणरजसे पुनीत प्रदेशमें इस पीठकी स्थापना की थी। ‘ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च’ यह नियम भी उन्हींका बनाया हुआ था ताकि वेदोंके अध्ययनके मूलमें कोई सांसारिक लाभका आकर्षण न हो। ‘श्रुतिस्मृतिपुराणोंके आलय’ शंकराचार्य ‘करुणाके आगार’ थे और अपने ‘लोकशंकर’ रूपका समादर करते हुए उन्होंने वेदोंके निर्बाध अध्ययनका यह सुचारु प्रबन्ध किया था। इस पीठके अध्यक्षके रूपमें श्रीशंकराचार्यने वार्तिककार श्रीसुरेश्वराचार्य जैसे तपःपूत प्रकाण्ड पण्डितको चुनकर ‘योजकस्तत्र दुर्लभः’ का यथार्थ परिचय दिया। उनके ‘नैष्कर्म्यसिद्धि’, दक्षिणामूर्ति स्तोत्रपर लिखित ‘मानसोल्लास’ (यह टीका) तथा ‘पञ्चीकरण–टीका’ आदि ग्रन्थ उनकी तलस्पर्शिनी प्रतिभाके ज्वलन्त प्रमाण हैं। इनके बाद इस स्थानको ग्रहण करनेवाले आचार्योंने भी तपस्याके साथ साथ प्रकाण्ड पाण्डित्य एवं विवाद-पटुता की अनुपम परम्पराका प्रवर्तन किया। इस प्रकार नवमीं शताब्दीसे लेकर तेरहवीं शताब्दीतक संस्कृत विद्याओंके पुनरुज्जीवनकी यह धारा निर्बाध रूपसे चलती रही। वेदाध्ययनके साथ साथ धर्मशास्त्र, व्याकरण, मीमांसा, तर्क, न्याय एवं पुराणों की विवेचनाको भी अग्रसर करनेवाली पाठशालाओंका निर्माण हुआ और वेदोंके सर्वाङ्गीण अध्ययनकी यही उज्ज्वल परम्परा अन्ततोगत्वा सायणाचार्यविरचित ‘वेदार्थप्रकाश’ में परिणत हुई है।

सायणाचार्यकी गुरुपरम्परा

उपर्युक्त शृङ्गेरी पीठके तपःपूत एवं वैराग्यसंपन्न आचार्य **श्रीविद्याशंकरतीर्थ** सायण एवं माधव दोनों बन्धुओंके गुरु थे। प्रव्रज्या ग्रहणके पहले इनका नाम था सर्वज्ञ विष्णु। गृहस्थाश्रममें कृतकाम होनेके उपरान्त इन्होंने मुनिवर चन्द्रशेखरसे संन्यास की दीक्षा ग्रहण की और आगे चलकर काञ्चीकामकोटि-पीठके अध्यक्षके रूपमें पैंतीस वर्षोंतक उस पीठका सुचारु सञ्चालन किया। इसी कालमें माधव तथा सायण उनके संपर्कमें आए। हिमालयके अंचलमें पंद्रह वर्षोंतक सुदीर्घ तपस्या करनेके उपरान्त लौटकर इन्होंने शृङ्गेरी पीठके आचार्य का पद ग्रहण किया। इन्होंने स्वयं रुद्रप्रश्नपर भाष्य लिखा और सायणाचार्यको वेदार्थ-रहस्य प्रदान करते हुए उनके हृदयपुण्डरीकमें स्थित अज्ञानरूपी अंधकारको नष्ट किया और उन्हें चारों पुरुषार्थोंके रहस्यसे अवगत कराया। वेदोंकी उपासनाके माध्यमसे अनूठे विश्वके दर्शन करानेवाले इस महान् गुरूकी प्रत्येक ग्रन्थके प्रारम्भ एवं अन्तमें वन्दना करते हुए सायणाचार्य नहीं अघाते:—

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम्॥

माधवाचार्य भी अपने 'अनुभूतिप्रकाश'के आरम्भमें इनके विषयमें आदरके साथ कह उठते हैं:—

अन्तःप्रविष्टः शास्तेति योऽन्तर्यामिश्रुतीरितः।
सोऽस्मान् मुख्यगुरुः पातु विद्यातीर्थमहेश्वरः॥

काञ्चीकामकोटि-पीठके और एक आचार्य श्रीकण्ठ भी सायणाचार्यके गुरु रह चुके थे। उनके छोटे भाई भोगनाथ अपने 'महागणपतिस्तव'में इन्हें आदराञ्जलि अर्पित करते हुए लिखते हैं:—

श्रीकण्ठश्च गुरुः परेऽपि गुरवो लोकत्रयेऽप्यद्भुतम्।
भक्ताधीनभवाँश्च दैवतमहो सर्वेऽप्यमी देवताः॥

शृङ्गेरी पीठमें सायणाचार्यको श्रीविद्यातीर्थके शिष्य भारतीतीर्थ के मार्गदर्शनका भी लाभ हुआ था। उक्त तीनों तपःसंपन्न आचार्योंकी कृपाका भाजन बनने के कारण सायणाचार्यकी प्रज्ञाको जो प्रगल्भता एवं प्रौढता प्राप्त हुई उसीसे वेदार्थवाणी प्रस्फुटित हो पाई।

राजसंसदमें सायणाचार्य

विजयनगरके साम्राज्यके संस्थापक नरेश हरिहर एवं बुक्क शृङ्गेरीपीठके प्रबल समर्थक एवं आश्रयदाता थे। हरिहर (प्रथम) ने सन १३३५ में इस महान् साम्राज्यकी स्थापना की और अपनी राजसत्ताको धर्मकी नींवपर सुदृढ करनेकी अभिलाषासे माधव एवं सायण इन दोनों विद्वान् बन्धुओंको अपने मन्त्रिमण्डलमें सम्मिलित कर लिया। प्रारम्भमें सायणाचार्य नेल्लोरकुडाप्पाके मण्डलाधीश राजा कम्पणके मुख्यमन्त्री थे। इस कालमें कम्पणको पता

चला कि सायण सरस्वतीके वरद सुपुत्र होनेके साथ साथ युद्धकलामें भी निपुण थे। राजा कम्पण शीघ्र ही काल कवलित हो गए और शासनके पूरे उत्तरदायित्वके साथ साथ बाल राजा सङ्गमको विद्यादान करनेका कार्य भी सायणाचार्यको करना पड़ा। दोनोंको सफलताके साथ निबाहते हुए उन्होंने अपनी योग्यताका सुचारु प्रमाण उपस्थित किया। 'यज्ञतन्त्र-सुधानिधि'में राजा सङ्गमके गुरुके रूपमें उनका आदरपूर्वक उल्लेख करते हुए कहा गया है:—

तस्याभूदन्वयगुरुस्तत्त्वसिद्धान्तदर्शकः। सर्वज्ञः सायणाचार्यो मायणार्यतनूद्भवः ॥

बचपनमें राजा सङ्गमके पालनकर्ताके रूपमें राज्यके शासनका 'गुरुभार' उन्होंने जिस क्षमताके साथ वहन किया उसकी साभिमान सराहना करते हुए एक श्लोकमें कहा गया है :—

सत्यं महीं भवति शासति सायणार्ये। संप्राप्तभोगसुखिनः सकलाश्च लोकाः॥

सङ्गम नरेश जब स्वयं शासनकी बागडोर हाथमें लेनेमें समर्थ हुए तब राजा बुक्कने उन्हें तुरन्त अपने अमात्य–मण्डलमें सम्मिलित कर लिया। वेदोंमें अविचल निष्ठा रखनेवाले इस सम्राट्ने वेदार्थपर प्रकाश डालनेके लिए उन्हींका अनुरोध किया। सम्राट्की इस मङ्गल अभिलाषाको तुरन्त सर आँखोंपर करते हुए सायणाचार्यने अपने वेदभाष्योंकी रचना की। अतएव तैत्तिरीय संहिता–भाष्यमें राजराजेश्वर बुक्क भूपालको समुचित आदराञ्जलि अर्पित करते हुए सायणाचार्य लिखते हैं:— 'श्रीमद्विद्यातीर्थमहेश्वरापरावतारस्य श्रीमद्राजाधिराज-परमेश्वरस्य श्रीवीरबुक्कमहाराजस्य.... '। वेदभाष्योंके साथ साथ साधारण जनता के हितके लिए 'पुरुषार्थसुधानिधि'के नामसे व्यासोक्त पुराण-वचनोंको संगृहीत करनेकी प्रेरणा उन्हें प्रदान करनेका श्रेय भी इसी बुक्क नरेशको प्राप्त है।

बुक्क महीपतिके सुपुत्र हरिहर (द्वितीय) ने भी अपने शासन-कालमें सायणा-चार्यको 'साम्राज्य-धुरंधर'का पद प्रदान करके उन्हें अथर्ववेद संहिता एवं शतपथ ब्राह्मण पर भाष्य लिखने का सुअवसर प्रदान किया। अथर्ववेदकी भाष्यावतरणिकामें इस रसिक, पराक्रमी, धर्मप्रिय एवं 'प्रजारञ्जनलब्धवर्ण' राजाका गौरवपूर्ण उल्लेख करते हुए सायणा-चार्यने उचित ही लिखा:—

तत्कटाक्षेण तद्रूपं दधतो बुक्कभूपतेः।
अभूद्धरिहरो राजा क्षीराब्धेरिव चन्द्रमाः॥
विजितारातिव्रातो वीरश्रीहरिहरक्ष्माधीशः।
धर्मब्रह्माध्वन्यः कलिं स्वचरितेन कृतयुगं कुरुते ॥

तात्पर्य, उक्त चारों नृपतियोंके उदार आश्रय एवं प्रोत्साहन को पाकर सायणाचार्य विपुल ग्रन्थोंकी रचना कर पाए जिससे तत्कालीन समाजका सांस्कृतिक जीवन सुचारु रूपसे विकसित हुआ।

सायणाचार्यकी ज्ञान-साधना तथा ग्रन्थरचना

सरस्वतीकी सायणाचार्यकृत साधना बड़ी कठोर एवं सराहनीय थी। उनकी प्रज्ञा बहुमुखी थी। वेदोंके रहस्यकी प्राप्तिके लिए उन्होंने विविध शास्त्रोंका सुव्यवस्थित एवं सुचारु अध्ययन किया था। वेदोंके सम्यक् अध्ययनके लिए उनकी रायमें षडङ्गों एवं पुराणोंके साथ साथ न्याय, मीमांसा, इतिहास, धर्मशास्त्र आदि चौदहों विद्यास्थानोंकी गहराईमें उतरना आवश्यक था। वे स्वयं सभी विद्याओंमें पारङ्गत थे जैसा कि उनके ग्रन्थोंमें 'इति श्रूयते', 'इति च स्मर्यते', 'श्रुतिरपि', 'स्मृतिरप्येवम्', 'लौकिका एवमाहुः' जैसे पद पद पर आनेवाले उद्धरणोंसे स्पष्ट है। सिवा शास्त्रोंके मर्मको पाए 'वेदार्थविद्' के पदको पानेका प्रयत्न करना उनकी आँखोंमें आकाशके पुष्पका अन्वेषण था; इसी लिए उन्होंने ऋग्वेदसंहितापर लिखित भाष्यमें 'तदेवं विषयाद्यनुबन्धचतुष्टयमवगत्य **श्रोतारः** वेदव्याख्याने प्रवर्तन्ताम्' का महान् आदर्श पाठकों के सम्मुख रखा जो वास्तवमें 'न धीमतां कश्चिदविषयः' को साकार करनेवाले उनके जैसे मनीषीको ही जेबा देता है। वेदोंपर लिखित भाष्योंके अतिरिक्त 'सुभाषित-सुधानिधि', 'प्रायश्चित्त-सुधानिधि', 'माधवीया-धातुवृत्ति', 'पुरुषार्थ-सुधानिधि', 'आयुर्वेद-सुधानिधि' तथा 'यज्ञतन्त्र-सुधानिधि' ये स्वतन्त्र ग्रन्थ उनकी बहुज्ञताके ज्वलन्त प्रमाण जरूर हैं; साथ साथ धर्मको परम पुरुषार्थ माननेवाले व्यक्तिके रचनात्मक दृष्टिकोणपर भी ये पर्याप्त प्रकाश डालते हैं इसमें कोई सन्देश नहीं किया जा सकता।

'वेदार्थ-प्रकाश'

विविध वेदोंपर सायणाचार्यने अर्थका प्रतिपादन करनेवाले जो भाष्य लिखे उन्हें 'वेदार्थ-प्रकाश'की संज्ञा प्राप्त है। मन्त्रब्राह्मणात्मिका वेदवाणीका तलस्पर्शी अध्ययन करना भी साधारण व्यक्तिके बूतेकी बात नहीं है; उनपर भाष्य लिखना तो कोसों दूर रहा। अतएव इस कार्यमें सायणाचार्यने तत्कालीन पण्डितोंकी चर्चाओंका अनमोल लाभ अवश्य उठाया होगा। राजा हरिहर (द्वितीय)के सन १३८६ के शिलालेखमें वेदभाष्यके प्रवर्तनके लिए वाजपेय-याजी नारायण, सोमयाजी नरहरि तथा दीक्षित पण्डरी इन तीन विद्वानोंके आधारके रूपमें सम्मानित होनेका उल्लेख पाया जाता है जिससे इस अनुमानको पुष्टि मिलती है। इन भाष्योंको लिखते हुए वेदोंकी सभी संहिताओं, ब्राह्मणग्रन्थों एवं विवेचनामें सहायक सिद्ध होनेवाले सभी ग्रन्थोंको प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपमें आँखोंके सामने रखनेमें ही सायणाचार्यकी सर्वोपरि विशेषता परिलक्षित होती है। परम्पराका ऐसा कुशल पारखी ढूँढकर भी नहीं मिल सकता।

मानी हुई बात है कि प्राचीन कालमें भारतीयोंके जीवनमें धर्मको सर्वोपरि स्थान प्राप्त था। इसीलिए धर्मके स्वरूपकी सुरक्षा करनेवाली वेदरूपा वाणी भारतीयोंके लिए चरम श्रद्धाका विषय बनी। महाभारतकारने इसी भावको व्यक्त करते हुए लिखा—

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा ।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥

इस मन्त्ररूपी रिक्थकी सुरक्षा करना अनिवार्य हो उठा । उसकी अक्षरराशिको ज्यों-का-त्यों रखकर शत प्रतिशत विशुद्ध रूपमें उसे आगामी पीढ़ियोंको सौंपनेका महत्त्वपूर्ण कार्य 'विद्या-कंठ'के सिद्धान्तको माननेवाले जिन वैदिकोंने किया उनसे हम कदापि अनृण नहीं हो सकते । लेकिन अक्षरराशिके साथ साथ उनके अर्थको सुरक्षित रखना भी नितान्त आवश्यक था और इस पहलूसे—

'योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा' में दृढ विश्वास रखनेवाले अलग सम्प्रदायका जन्म हुआ। क्या पदपाठ, क्या निरुक्त, क्या शिक्षा, क्या व्याकरण, क्या ज्योतिष, सभी शास्त्र इसी संप्रदायको बल प्रदान करते हैं। उक्त सभी शास्त्र अन्ततो गत्वा वेदोंपर लिखे हुए अर्थप्रतिपादक भाष्य ही माने जाएंगे। कालानुक्रमकी दृष्टिसे षडङ्गोंके सृजनके बाद उवट, स्कन्दस्वामी, मुद्गल, भट्टभास्कर आदि उन मनीषियोंका उल्लेख करना चाहिए जिन्होंने वेदोंकी विशिष्ट शाखोंके लिए उपयोगी भाष्य लिखकर इस परम्पराको आगे बढ़ाया। लेकिन ये सभी प्रयत्न सराहनीय होते हुए भी कुछ अंशोंमें त्रुटित अवश्य थे। वेदवाङ्मयकी सम्पूर्ण परम्पराको ध्यानमें रखकर अटूट विश्वासके साथ समूचे वैदिक साहित्यपर भाष्य लिखनेका अनूठा साहस करनेवाले चिन्तकोंमें सायणाचार्य ही सर्वप्रथम हैं इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

वेदोंपर भाष्य लिखते हुए सायणाचार्यने पहले पहल अपने दृष्टिकोणको विशद करनेवाली भूमिकाएँ लिखकर अध्येताओंका बड़ा ही उपकार किया है। इन भूमिकाओंसे स्पष्ट है कि भाष्योंके रचना-कालमें उन्होंने प्रारम्भसे अन्ततक यज्ञसंस्थाका ध्यान रखा है। सामवेद भाष्यकी भूमिकामें यजुः, ऋक् एवं साम को लेकर अपनी यज्ञरूपी रूपकको बाँधते हुए सायणाचार्य 'कविर्मनीषी'के अपने स्वरूपको किस तरह प्रकट करते हैं देखिए:—

जाते देहे भवत्यस्य कटकादिविभूषणम् ।
आश्रितं मणिमुक्तादि कटकादौ यथा तथा ॥
यजुर्जाते यज्ञदेहे स्यादृग्भिस्तद्विभूषणम् ।
सामाख्या मणिमुक्ताद्या ऋक्षु तासु समाश्रिताः ॥

वेदत्रयीको इस प्रकार यज्ञसे एवं अदृष्ट तथा परलोकसम्बन्धी फल की प्राप्तिसे संबद्ध करके ऐहिक तथा पारलौकिक फलका अन्वेषण करनेवाले अथर्ववेदसे उसकी भिन्नताको पाठकोंके मनपर अङ्कित करते हुए सायणाचार्य अथर्ववेदकी भूमिकामें कह उठते हैं:—

व्याख्याय वेदत्रितयमामुष्मिकफलप्रदम् ।
ऐहिकामुष्मिकफलं चतुर्थं व्याचिकीर्षति ॥

कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय संहितापर भाष्य लिखते हुए सायणाचार्यने प्रधान रूपसे ब्राह्मणों एवं कल्पसूत्रों के साथ साथ पूर्वमीमांसा तथा व्याकरण पर बल दिया है। इस भाष्यके

रचना-कालमें वे भट्टभास्करमिश्रके भाष्यसे अधिक प्रभावित दिखाई देते हैं। अतएव इसमें अर्थको स्पष्ट करनेके स्थानपर यज्ञप्रक्रियाको विशद करना ही उनका लक्ष्य प्रतीत होता है।

ऋग्वेदपर भाष्य लिखनेके अवसरपर उन्होंने उचितरूपसे अर्थ-प्रतिपादनकी ओर ध्यान दिया है। इस भाष्यमें स्थान स्थानपर उन्होंने अपने कथनके समर्थनमें पाणिनीय सूत्रोंके साथ साथ निरुक्तके अंशोंको उद्धृत करनेकी सावधानी दिखाई है। 'अध्ययन-वदर्थज्ञानस्यापि विहितत्वादर्थज्ञानाय वेदो व्याख्यातव्यः' इस विचार-धाराको स्पष्ट करते हुए सायणाचार्यने उस समूचे पूर्ववर्ती साहित्यसे लाभ उठाया है जो ऋग्वेदके मन्त्रोंके अर्थ को स्पष्ट करनेमें सहायक हो सकता था। अतएव शिक्षा, कल्प, ज्योतिष, छन्द, निरुक्त एवं व्याकरण इन षडङ्गोंके साथ साथ इस भाष्यमें न्याय, मीमांसा, इतिहास एवं पुराणों की ओर भी पर्याप्त संकेत पाए जाते हैं।

भाष्यकार सायणाचार्यकी शैली

भाष्य लिखते लिखते सायणाचार्य थोड़ेमें वर्ण्य विषयकी सुस्पष्ट परिभाषा उपस्थित करनेमें बड़े कुशल हैं। तैत्तिरीय संहिताके उपोद्घातमें वेदका लक्षण बतलाते हुए उन्होंने क्या ही सुन्दर व्याख्या की है देखिए:—इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति इति'। इसी प्रकार एक स्थानपर निरुक्तकी परिभाषा उपस्थित करते हुए 'अर्थावबोधे पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्' कहकर 'एकैकस्य पदस्य संभाविता अवयवार्थास्तत्र निःशेषे-णोच्यन्त इति व्युत्पत्तेः' उसे पूर्णता प्रदान की है।

सायणाचार्य की शैलीका प्रमुख गुण है प्रसाद। उनके छोटे छोटे वाक्य अर्थके प्रति-पादनके साथ साथ विचार-धाराको गति भी प्रदान करते हैं। 'नन्वस्तु नाम वेदाख्यः कश्चित् पदार्थः। तथापि नासौ व्याख्यानमर्हति। अप्रमाणत्वेनानुपयुक्तत्वात्' अथवा 'कोऽयं वेदो नाम। न हि तत्र लक्षणं प्रमाणं वास्ति। न च तदुभयव्यतिरेकेण किञ्चिद्वस्तु प्रसिध्यति' जैसे अंश इसके उत्तम उदाहरण माने जा सकते हैं। कठिन या अप्रचलित शब्दोंका उपयोग करना सायणाचार्य कभी पसन्द नहीं करते। स्वाभाविक रूपसे उनका भाष्य आसानीसे समझमें आता है। तर्क एवं न्याय का उनके जैसा अध्येता विषयका अनुसन्धान छोड़नेका दुःसाहस भला कैसे कर सकता है?

भाष्यकारोंकी पूर्वपक्ष-उत्तरपक्षवाली शैलीका बड़ा अच्छा उदाहरण सायणाचार्यने उपस्थित किया। 'इति चेत् न', 'बाढम्' जैसे संवादात्मक अंशोंके साथ साथ 'अति-व्याप्तेः', 'अयुक्तत्वात्' आदिका वे बड़ा समुचित उपयोग करते हैं। विचार-धाराको रोचक एवं ठोस रूप प्रदान करनेके लिए, सरल एवं सुयोग्य दृष्टान्तोंका उपयोग करनेकी कलामें भी वे कुशल प्रतीत होते हैं। वेदोंके प्रामाण्यके समर्थनमें उपनिषदोंके वाक्योंको उद्धृत करना किस तरह असमीचीन है इसे स्पष्ट करते हुए वे पूर्वपक्षीके मुँहसे कहलवाते हैं:—

" ऋग्वेदं भगवोऽध्येमीत्यादि वाक्यं प्रमाणमिति चेत् । न । तस्यापि वाक्यस्य वेदान्तःपातित्वेनात्माश्रयत्वप्रसङ्गात् । न खलु निपुणोऽपि स्वस्कन्धमारोढुं प्रभवति " । अन्तिम वाक्यके दृष्टान्तने सन्देहके लिए कोई अवसर ही नहीं रखा । विवादमें प्रतिद्वंद्वीको उलाहना देते हुए कभी कभी उनकी शैली बड़ी व्यङ्ग्यपूर्ण, तीखी एवं पैनी हो उठती है। तैत्तिरीय-संहिता भाष्यकी भूमिकामें एक स्थानपर उन्होंने लिखा है—' न खलु....... इत्यमुमर्थं वेदव्यतिरेकेणानुमानसहस्रेणापि तार्किकशिरोमणिरप्यवगन्तुं शक्नोति ' । इस वाक्यके ' तार्किकशिरोमणिः'में कितना तिलमिलानेवाला व्यङ्ग्य है! संक्षेपमें क्या आशय, क्या शैली, दोनोंके दृष्टिकोणसे सायणाचार्यका भाष्य बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। पश्चिमीय पण्डित मैक्समुलरने सायणाचार्यके भाष्योंका मूल्याङ्कन करते हुए ' विद्वानेव विजानाति विद्वज्जनपरिश्रमम् 'के अनुसार उचित ही कहा था, "गत पचीस वर्षोंके वेदाध्ययनसे लाभ उठानेवाले आधुनिक पाठकको सायणाचार्यकृत वेदभाष्योंमें कई त्रुटियाँ भले ही नज़र आतीं हों; फिर भी वेदोंके विद्वत्तापूर्ण अध्ययनके लिए आज भी सायणके भाष्योंका अध्ययन करना अनिवार्य है । वैदिक धर्म एवं वैदिक भाषा के दुर्गम प्राङ्गणमें प्रवेश करनेके लिए वे ही हमारे ऐसे पथप्रदर्शक हैं जिनसे हम पूर्णतया उऋण नहीं हो सकते " ।

वेदभाष्योंके इस महान रचयिताकी जीवनलीला सन् १३८६ में समाप्त हुई । वेद भारतीय जीवनके मूल उत्स हैं । इन्हीं वेदोंपर प्रकाश डालनेमें उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत किया । वेदोंके वर्तमान अध्येता भी उन्हींके आलोकमें अपना कार्य करनेपर बाध्य हैं । सिवा सायणाचार्यकी सादर वन्दना किए न वेद-विद्याके पंथपर अग्रसर होना संभव है. न उसकी परिक्रमाके पूर्ण होनेकी कोई आशा की जा सकती है । यही उनके जीवनकी सर्वोपरि सफलता है ।

प्रस्तावना

१. वेदका लक्षण

'मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदः' यही वेदकी मानी हुई परिभाषा है। मन्त्रोंके कई प्रयोजन हैं जिनमें देवताओंका आवाहन, उनकी स्तुति एवं प्रार्थना, अनुष्ठानोंका स्मरण कराना, सहायक ऋत्विजोंको प्रैष प्रदान करना आदिका समावेश होता है। कई मन्त्र गद्यरूप हैं तो कई छन्दोबद्ध। छन्दोबद्ध मन्त्रोंकी संहिताएँ चार हैं जिन्हें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के नामसे पहचाना जाता है। गद्यरूप मन्त्र प्रमुख रूपसे यजुर्वेदमें ही पाए जाते है। देशकालकी भिन्नताके अनुसार उक्त चार संहिताएँ कई शाखाओंमें विभाजित हुई है अवश्य; फिर भी उनका मूल स्रोत तो एक ही रहा है। ऋक्संहिताके दस मण्डलोंमें एक हजारसे भी अधिक सूक्त सम्मिलित हैं जिनमेंसे अधिकांशका विषय है देवताओंकी स्तुति। यज्ञकर्मोंका ही वर्णन करने-वाली यजुःसंहिताके दो रूप पाए जाते हैं, कृष्णयजुर्वेद और शुक्लयजुर्वेद। पहलेमें मन्त्र एवं ब्राह्मण ये दोनों अंश एक साथ और मिले-जुले रूपमें विद्यमान हैं और दूसरेमें केवल छन्दोबद्ध मन्त्र ही देखे जाते हैं। कृष्णयजुर्वेदकी जो चार संहिताएँ आजकल उपलब्ध हैं उनके नाम हैं तैत्तिरीय, काठक, मैत्रायणी और कापिष्ठल। इनमें शाखाओंकी भिन्नताके कारण कुछ अन्तर ज़रूर पाया जाता है। इन चारोंमें गद्यात्मक ब्राह्मण अंशमें वह पूरी जानकारी एवं विवेचना ग्रथित है जो कर्मकाण्डके लिए आवश्यक हो। अतः स्वाभाविक है कि इन्हीं संहिताओंमें दर्शपूर्ण-मासादि इष्टियाँ, पशुबन्ध, तथा विभिन्न सोमयाग आदि यागविधियोंकी सर्वाङ्गीण चर्चा की गई हो। वाजसनेयि (अथवा माध्यन्दिन) तथा काण्व ये दोनों संहिताएँ भी उपर्युक्त चार संहिताओंकी ही तरह शाखाभेदके कारण तनिक भिन्नता धारण किए हुए नज़र आतीं हैं। इनके विषयोंका प्रतिपादन भी उसी ढंगका है।

सामसंहिता प्रधान रूपसे संगानके लिए ही है और उसका अधिकांश ऋक्संहितासे ही उद्धृत किया गया है। मूलतः ऋग्वेदके मन्त्रोंके साथ साथ अन्य मन्त्रोंपर सामात्मक गानोंकी आयोजना करके इस संहिताकी रचना हुई है। ग्रामगेय, आरण्य, ऊह तथा ऊह्य ये चार गान स्वतन्त्र रूपसे प्रसिद्ध हैं सही; लेकिन इनका उद्देश्य रहा है गानोंकी रचना करना और पाठ-प्रणालीका परिचय कराना।

अथर्ववेद संहिताके बीस काण्डोंमेंसे दो काण्ड केवल गद्यमें ही प्रणीत हुए हैं। अन्तिम काण्डमें अधिकतर ऋग्वेदकी ऋचाएं पाई जातीं हैं और अन्य काण्डोंमें भी ऋग्वेदके कई सूक्त अथवा सूक्तांश यत्र तत्र बिखरे हुए दिखाई देते हैं। शाखाओंके अनुसार इस संहिताके दो भेद उपलब्ध हैं; शौनकीय एवं पैप्पलाद। इस संहितामें देवताओंकी स्तुति और प्रार्थनाएं तो हैं ही; लेकिन साथ साथ विभिन्न व्याधियाँ, उनपर किए जानेवाले मन्त्ररूपी या औषधिरूपी उपचार,

आयुको बढ़ानेवाले एवं पुष्टिकारक कर्म, तरह तरहके अभिचार-प्रयोग आदिका समावेश है। इतना ही नहीं, अध्यात्म, तत्त्वज्ञान, सृष्ट्युत्पत्ति आदिके संबन्धमें विचार आदि कई विषयोंका इस संहितामें प्रतिपादन हुआ है।

ब्राह्मण-ग्रन्थ प्रायः गद्यात्मक हैं; ये उपर्युक्त चार संहिताओंके अङ्ग हैं जिनमें प्रधान रूपसे यज्ञादिका विवरण किया गया है। स्वाभाविक रूपसे इन्हें अपौरुषेय वेदोंके ही अन्तर्गत माना जाता है।

ऐतरेय और कौषीतकि ब्राह्मण ऋग्वेदके अङ्ग हैं। इनमें यज्ञके उन कर्मोंका संपूर्ण विवरण है जो होतृनामक ऋत्विजसे संबद्ध हैं। शुक्ल यजुर्वेदके शतपथ ब्राह्मणमें अध्वर्युके कर्मोंकी अगर विवेचना है, तो सामवेदके ताण्डय, जैमिनीय एवं षड्विंश ब्राह्मणोंमें उद्गाताके कर्मोंकी। कृष्ण-यजुर्वेदके तैत्तिरीय ब्राह्मणमें तैत्तिरीय संहिताके उन विषयोंका, खासकर पुरुषमेधका वर्णन है जो उस संहितामें नहीं पाया जाता। अत एव अन्योंकी तुलनामें यह ब्राह्मणग्रन्थ संक्षिप्त ही है। इसके अलावा गोपथ नामक और एक ब्राह्मण-ग्रन्थ उपलब्ध है जिसे अथर्ववेदसे संबद्ध माना जाता है; लेकिन अन्योंकी अपेक्षा यह अर्वाचीन प्रतीत होता है। इन सभी ब्राह्मणग्रंथोंमें प्रधान रूपसे बड़े बड़े यज्ञोंकी विवेचना है सही; लेकिन उसीके अनुषङ्गमें देवासुरोंके युद्धोंका उल्लेख, प्रजापति संबन्धी निर्देश, अर्थवादोंके रूपमें आई हुई प्राचीन आख्यायिकाएँ एवं कथाएँ, तथा सृष्टिकी उत्पत्तिके विचार भी संमिलित हैं। साथ साथ इन ग्रन्थोंमें उचित अवसरोंपर शब्दोंके निर्वचन, वेदिके निर्माण, यज्ञके लिए सुयोग्य समय आदि कई ऐसी बातोंका समावेश हुआ है जिन्हें वास्तवमें व्याकरण, निरुक्त, भूमिति, ज्योतिष जैसे आगामी विकसित शास्त्रोंका मूल स्रोत मानना समीचीन होगा।

उपर्युक्त ब्राह्मण-ग्रन्थोंके अन्तिम अंशोंमें सुविदित आरण्यक एवं उपनिषद् संगृहीत हैं और यही इनकी अनुपम विशेषता है। आरण्यकोंमें–जैसा कि नामसे सूचित होता है–तपोवनमें निवास करनेवाले त्यागी व्यक्तियोंके कर्तव्योंका विचार किया गया है और आगे चलकर इन्हींसे उन उपनिषदोंका निर्माण हुआ जिनमें विश्व, जीवात्मा एवं ईश्वर के पारस्परिक संबन्धोंकी मौलिक विवेचना की गई है। चातुर्वर्ण्य एवं आश्रम-व्यवस्था का प्रभाव भी इन्हींमें दिखाई देता है। मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदके अन्तिम अंशोंमें संगृहीत होनेके कारण उपनिषदोंके लिए वेदान्त संज्ञा प्राप्त हुई। ये उपनिषद् अनेक हैं। लेकिन इनमें ईशकेनादि दशोपनिषद् प्राचीन एवं विख्यात हैं और आगे चलकर इन्हींको वेदान्तकी प्रस्थानत्रयीमें महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ। इन दस उपनिषदोंमें छान्दोग्य और बृहदारण्यक दोनों ही अधिक विस्तृत हैं और इन्हींको अत्यन्त प्राचीन माना जाता है।

कर्म (यज्ञ) काण्ड ज्यों ज्यों विकसित होता गया त्यों त्यों उससे संबद्ध सभी विषयोंकी सर्वाङ्गीण विवेचना करनेवाले ग्रन्थोंकी नितान्त आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इसीसे छः प्रमुख वेदाङ्गोंका निर्माण हुआ, जिनके नाम हैं शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष। 'शिक्षा'में अगर मन्त्रोंके पठनसंबन्धी नियम समाविष्ट हैं तो 'कल्प'में श्रौत एवं स्मार्त

कर्मोंकी विधियोंका विचार हुआ है। 'व्याकरण' तथा 'निरुक्त' शब्दोंकी प्रक्रिया एवं निर्वचन पर प्रकाश डालते हैं। 'छन्द' वेद-मन्त्रोंके वृत्तोंके लक्षणोंका परिचायक है और 'ज्योतिष' यज्ञकर्मके लिए आवश्यक समयकी विवेचना करता है। मन्त्र ब्राह्मणात्मक वेद-राशिकी सुरक्षाके लिए ही ये छहों वेदाङ्ग निर्मित हैं। शिक्षा एवं कल्प संबन्धी ग्रन्थ अनेकों हैं। विभिन्न वैदिक शाखाओंकी शिक्षाओंसे संबद्ध प्रातिशाख्य ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं। उसी प्रकार श्रौतकर्मोंकी विवेचना करनेवाले कई श्रौतसूत्रों एवं शुल्बसूत्रों के साथ साथ स्मार्त तथा गृह्य कर्मोका विवरण उपस्थित करनेवाले अनेकों गृह्यसूत्रों एवं धर्मसूत्रों को भी कल्पके अन्तर्गत माना जाता है। शेष चार वेदाङ्गोंमेंसे हरेकका प्रतिनिधित्व करनेवाला एक ही ग्रन्थ पाया जाता है जिनके क्रमशः नाम हैं:— पाणिनिकृत अष्टाध्यायी, यास्कविरचित निरुक्त तथा पिङ्गलप्रणीत छन्दःसूत्र और वेदाङ्गज्योतिष।

२. ऋग्वेदका स्वरूप

ऋग्वेद-संहिता वास्तवमें १०२८ सूक्तोंका अत्यन्त प्राचीन संग्रह है। परम्पराके अनुसार महर्षि शाकल इन सूक्तोंके संकलनकर्ता हैं। इस संहिताके दस मण्डलोंमेंसे दो से लेकर सात तकके मण्डल उन्हीं मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंके नामसे प्रसिद्ध हैं जिनके कुलके व्यक्तियोंने इन्हें अपने अपने कुलका वाङ्मयरूपी निधि समझकर इनकी सुरक्षा की। इसके अनुसार ये (२ से ७ तकके) मण्डल क्रमशः गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज तथा वसिष्ठ ऋषियों के नामसे प्रसिद्ध हैं; अतः ये 'कुलमण्डल' कहलाते हैं। इनमें सातवाँ याने वासिष्ठ मण्डल अगर सबसे बड़ा है तो गार्त्समद मण्डल सबसे छोटा। हरएक मण्डलके सूक्तोंमें मन्त्रद्रष्टा महर्षिका अथवा उनका नाम धारण करनेवाले एक या अनेक व्यक्तियोंका निर्देश कई बार आता है। साथ साथ कुछ सूक्तोंमें ऋषियोंको बड़ी दक्षिणा प्रदान करनेवाले दानी राजाओंका भी उल्लेख किया गया है। इन सात कुलोंके ऋषियोंमें कोई निकटवर्ती संबन्ध स्पष्ट रूपसे दिखाई नहीं देता; फिर भी विश्वामित्र एवं वसिष्ठ कुलोंके व्यक्तियोंके बीच तीव्र संघर्षका अनुमान करना संभव है। विश्वामित्र एवं वसिष्ठ से संबद्ध मण्डलोंमें प्रमुख रूपसे भरतवंशके वीरोंके साथ उनके राजा सुदासका निर्देश पाया जाता है। वसिष्ठ एवं विश्वामित्र दोनों अपनी ओरसे भरतकुलके एवं उनके राजा सुदासके पुरोहित होनेकी और इन्द्रकी कृपाके कारण कई युद्धोंमें उनकी सुरक्षा करनेकी दुहाई देते हुए पाए जाते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि भरतोंके राजा सुदासका पौरोहित्य ही इन दोनों ऋषि-कुलोंके संघर्षकी जड़ रही होगी। माल्रम होता है कि पहले पहल विश्वामित्र ही राजा सुदासके पुरोहित थे। वसिष्ठोंने दीर्घ कालतक उनसे तीव्र संघर्ष किया और अपनी प्रतिभाके बलपर विश्वामित्रोंसे यह पद छीन लिया होगा। विश्वामित्रोंने अपने पौरोहित्य-कालमें इन्द्रकी कृपाको पाकर एक बार राजा सुदासको अश्वमेधके अवसरपर विशाल नदीके पार पहुँचाया। और एक अवसर वह रहा जब शत्रुओंके दांत खट्टे करके सोल्लास लौटनेवाले भरत कुलके वीरोंको विपाट् एवं शुतुद्री के संगमपर बड़ी बाढ़का सामना करना पड़ा था। इस समय इन नदियोंको प्रसन्न करके भरतोंको सपरिवार एवं सानन्द उनके पार पहुँचानेवाले कुशल पुरोहित विश्वामित्र ही ठहरे।

लेकिन इसके बाद बाज़ी विश्वामित्रोंके हाथसे जाती रही और वसिष्ठ भरतकुलके पुरोहित बने। देवोंकी आराधनासे अर्जित मन्त्रशक्तिके बलपर इन्हीं वसिष्ठोंने बड़ी विपत्तिमें राजा सुदास एवं भरतों की रक्षा की और मिलकर उनसे लड़नेवाले शक्तिशाली राजाओंको परास्त करके राजा सुदासके सिरपर विजयका सेहरा बाँधा। यह लड़ाई दाशराज्ञ-युद्ध इस नामसे प्रसिद्ध है और इसका आँखों-देखा वर्णन सातवें मण्डलके अठारहवें सूक्तमें किया गया है। इसीका उल्लेख बादके दो सूक्तोंमें (दे. ७·३३; ८३) भी पाया जाता है।

मित्रावरुणोंका उर्वशीसे जनित पुत्र वासिष्ठ कुलका मूल पुरुष है। उसीके भाई अगस्त्यने उसे भरतोंके हाथ सौंप दिया। ऋग्वेदके एक सूक्तमें (७·३३) यह प्रतिपादित किया गया है कि इसीको यज्ञीय कर्मोंके पौरोहित्य एवं आर्त्विज्य का संपूर्ण ज्ञान प्राप्त है। मतलब, वरुण और वसिष्ठ का बड़ा ही निकटवर्ती संबन्ध है। अतएव सातवें मण्डलमें उक्त संबन्धका वर्णन करनेवाले कई वरुण-सूक्त हैं जिनमें इसीके सहारे ऋषियोंने अपने जाने-अनजाने अपराधोंकी ओर ध्यान न देनेकी प्रार्थना की है। इसी मण्डलके एक इन्द्र-सूक्तमें (७·२८) कविकी श्रद्धा है कि कृत अपराधोंका क्षालन हुए बिना महापराक्रमी इन्द्रसे भी सहायताकी अपेक्षा रखना व्यर्थ है। इसीसे प्रेरित होकर प्रार्थना करते हुए उसने कहा, " वरुण पहले सभी अपराधोंके लिए मुझे मुआफ़ करें; उन्हें दूर हटाएँ और बादमें इन्द्र मुझे शत्रुओंको परास्त करनेकी सामर्थ्य प्रदान करे। इन्द्रावरुणा इस देवता–युगलका स्तवन भी प्रधान रूपसे इसी मण्डलके सूक्तोंका विषय रहा है।

सूक्तोंकी संख्याकी दृष्टिसे अन्य चार कुलमण्डलोंका क्रम होगा – अत्रि, भरद्वाज, वामदेव, और गृत्समद। इन चारों मण्डलोंमें प्रधान रूपसे सूक्तद्रष्टा ऋषियोंकी असाधारण सामर्थ्यकी अभिव्यक्ति हुई है। अत्रिमण्डलमें महर्षि अत्रिकी उस मन्त्रशक्तिका वर्णन है जिसके सहारे सूर्य स्वर्भानु-नामक असुरके कारण उत्पन्न संकटसे मुक्त हुए। वामदेव मण्डल ऋषि वामदेवके उस वार्तालापका वर्णन उपस्थित करता है जो उनके और इन्द्र एवं इन्द्रमाता के बीच इन्द्रजन्मके अवसरपर हुआ था। गृत्समद-मण्डलमें स्वयं ऋषि गृत्समद इन्द्र और बृहस्पति के पराक्रमका उस ढंगसे वर्णन करते हैं जिससे नास्तिक एवं संशयालु व्यक्तियोंको भी उसमें सन्देह नहीं रहता। भरद्वाज मण्डलमें मन्त्रकी सामर्थ्यसे इन्द्रको वशमें करनेवाले भरद्वाजकी वह अनमोल सहायता वर्णित है जिसीके सहारे दिवोदासको शंबर और वर्चिन् जैसे दो बलशाली शत्रुओंपर विजय प्राप्त हो सकी।

इन छहों मण्डलोंमें अग्निसूक्तोंके बाद ही इन्द्रसूक्त आए हैं। इन अग्निसूक्तोंकी संख्या विश्वामित्र मण्डलमें सबसे अधिक है; उसके बाद अत्रिमण्डलका नाम लेना पड़ेगा। इन्द्रसूक्तोंके विषयमें यह क्रम होगाः–पहले भरद्वाज मण्डल और बादमें विश्वामित्र मण्डल। इसके उपरान्त इन कुलमण्डलोंमें देवताओंका कोई विशेष क्रम नज़र नहीं आता। हाँ, यह ज़रूर कहा जा सकता है कि एक ही देवताकी स्तुति करनेवाले सूक्तोंके संकलनमें सम्मिलित ऋचाओंकी क्रमशः घटनेवाली संख्याका ध्यान रखा गया है। अग्निसूक्तों एवं इन्द्रसूक्तों में भी यही क्रम स्वीकृत है। कहीं कहीं इस क्रमका भङ्ग होता है अवश्य; लेकिन इस तरहके सूक्त प्रायः तृचात्मक अथवा प्रगाथात्मक ही होते हैं जिससे इन सूक्तों को भाषा अथवा विषय की दृष्टिसे तीन तीन अथवा दो दो ऋचाओंके स्वतन्त्र एवं छोटे छोटे खण्डोंमें विभाजित करना आसान हो।

अग्नि और इन्द्रके बाद उपर्युक्त कुलमण्डलोंमें अन्य देवताओंका भी स्तवन किया गया है; लेकिन इसमें संबद्ध ऋषिकुलकी श्रद्धा ही प्रधान है। इस दृष्टिसे गृत्समद मण्डलमें बृहस्पति, रुद्र, एवं अपां नपात् के, विश्वामित्रमण्डलमें मित्रके और वामदेवमण्डलमें ऋभु एवं दधिक्रा के दर्शन होते हैं। अत्रिमण्डलमें अगर मरुद्गण एवं मित्रावरुणा की सराहना है तो भरद्वाजमण्डलमें पूषाकी। अन्तिम वसिष्ठ-मण्डलमें मित्रावरुणा के साथ साथ अश्विना, उषा एवं वरुण भी स्तुतिके विषय बने हैं। यहाँ यह भी कहना चाहिए कि हरेक मण्डलके कतिपय सूक्त अपनी अपनी विशेषता रखते है। दूसरे मण्डलके शकुन्तसूक्त तथा तीसरेमें समाविष्ट सृष्टिविषयक रहस्यवादी सूक्तोंको इस कोटिमें रखा जाएगा। चौथे मण्डलके क्षेत्रपतिसूक्त एवं घृतधारासूक्त तथा पाँचवेंके गर्भस्राविण्युपनिषद् तथा पर्जन्यसूक्त को भी असाधारण कहना युक्तियुक्त होगा। इसी तरह छठवें मण्डलके सङ्ग्रामसूक्तके साथ साथ सातवेंमें संगृहीत मण्डूकसूक्तको भी असाधारण सूक्तोंके अन्तर्गत मानना समीचीन सिद्ध होगा।

कुलमण्डलोंको छोड़कर ऋग्वेदके अन्य चार मण्डलोंमेंसे आठवाँ मण्डल भी कण्वकुलसे ही संबद्ध है सही; लेकिन इसके सूक्तोंकी रचना उन मण्डलों-जैसी नही है; इसमें प्रगाथ नामकी संयुक्त ऋचाओंकी ही प्रचुरता पाई जाती है। नवें मण्डलके सभी सूक्त एक ही देवताकी-सोमकी–सराहनामें समर्पित हैं; अतः यह 'पवमान मण्डल' के नामसे प्रसिद्ध है। यह बात ज़रूर है कि इन सूक्तोंके द्रष्टा विभिन्न कुलोंसे संबद्ध हैं। पहले मण्डलके १९१ सूक्त रचनाकी दृष्टिसे दो खण्डोंमें बाँटे जा सकते हैं। पहला खण्ड १ से ५० तकके सूक्तोंसे बनता है जिसके ८ सूक्त-समूहोंमेंसे ४ कण्वकुलके मन्त्रद्रष्टाओंसे संबद्ध है। इनमें कुल मिलाकर ३१ सूक्त हैं। इनकी रचना आठवें मण्डलके सूक्तोंकी रचनासे समता रखती है। संभवतः यह कण्वकुलके वाङ्मयरूपी निधिका ही अंश रहा होगा। अब रहा दूसरा खण्ड। इसमें ५१ से १९१ तकके सूक्तोंका अन्तर्भाव होता है। इन विभिन्न मन्त्रद्रष्टा ऋषियों द्वारा प्रणीत सूक्तोंके ९ समूहोंका यहाँ उल्लेख किया जा सकता है। इनकी रचना एवं गठन कुलमण्डलोंकी तरह अग्निसूक्त, इन्द्रसूक्त वाले क्रमका ही अनुसरण करती है। अन्तिम याने दसवें मण्डलके सूक्तोंकी संख्या तो १९१ ही है; लेकिन इसमें कई ऋषियों द्वारा प्रणीत सूक्त समाविष्ट हैं। इन सूक्तोंके अधिकांश (१००से भी ऊपर) ऋषियोंके नामपर एक एक सूक्त ही दिया गया है। पहले ८४ सूक्त इसके लिए अपवाद हैं क्योंकि इनमें किसी ऋषिके नामपर कहीं दो, कहीं तीन तो कहीं ४ से भी अधिक सूक्त पाए जाते हैं। फिर भी सूक्तोंकी रचना प्रायः ऋचाओंकी घटनेवाली संख्याके अनुसार ही की गई है।

३. ऋग्वेद-सूक्तोंके वर्णनीय विषय

अधिकांश सूक्तोंमें इन्द्र आदि देवताओंसे प्रार्थना की गई है कि यज्ञमें वे स्वयं उपस्थित होकर हविर्भाग अथवा सोमरस का स्वीकार करें। इस प्रार्थनाके अनुषङ्गमें देवोंके अनेकों पराक्रमोंके साथ साथ उनके द्वारा याजकोंको प्रदत्त सहायताके वर्णनका ढाँचा सभी सूक्तोंमें एक ही पाया जाता है; इतना ही नहीं, आगे चलकर 'हमें भी उसी तरहकी सहायता प्राप्त हो' यही

सविनय याचना प्रायः सर्वत्र की जाती है। अग्निसूक्तोंमें विभिन्न प्रकारोंसे अग्निका स्तवन करके उससे सविनय कहा गया है कि वह स्वेच्छासे देवोंके पास हव्य पहुँचानेमें या तो याजकोंका दूत बने, या अपने रथमें देवोंको बिठाकर उन्हें यज्ञस्थलपर ले आनेकी कृपा करे। अग्निसूक्तोंके अथवा साधारण रूपसे इन्द्रसूक्तोंके अन्तमें कभी कभी विजयप्राप्तिके बाद अथवा किसी अन्य समारोहके अवसरपर राजा द्वारा-पुरोहितको प्राप्त होनेवाली विपुल दक्षिणाका बड़ा ही रसपूर्ण वर्णन पाया जाता है। उस दक्षिणामें अनेकों गायों, अश्वों एवं रथों के साथ कभी कभी सुवर्ण एवं दासियों का भी समावेश होता है। नववें तथा अन्य मण्डलोंके सोमसूक्तोंमें, सोम पीसने, उसे छानकर उसमें दूध, पानी, दधि, मधु आदि रुचिवर्धक पदार्थोंको मिलानेके उल्लेखोंके साथ साथ उसे देवोंको समर्पित करने तककी अवस्थाओंका वर्णन तो आता ही है। इतना ही नहीं, उसके पानसे अर्जित अनुपम सामर्थ्यके बलपर इन्द्रादि देवोंने जो अतुल पराक्रम किया, उसके भी विधाता होनेका गौरव सोम देवताको ही प्रदान किया गया है। आश्विन–सूक्तोंमें प्रधान रूपसे व्याधियोंसे पीडित एवं अभावोंसे ग्रस्त व्यक्तियोंपर उनके द्वारा किए गए अनुग्रहका स्तवन है। साथ साथ तीनों लोकोंमें संचरण करनेवाला उनका वह चक्रविहीन एवं किसी भी तरफ़ घूमने-वाला रथ भी प्रशंसाका भागी हुआ है जिसमें उनके साथ प्रेमिका सूर्यादेवीके लिए भी अलग आसन बिछा हुआ है। रथके साथ उसमें जोड़े गए वे पंखयुक्त अश्व भी ऋषियोंकी स्तुतिका विषय बने हैं जो जल, स्थल एवं अन्तरिक्ष में वेगसे संचरण करनेकी अनुपम क्षमता रखते हैं। वरुणसूक्तोंमें वरुणके प्रति आदरयुक्त भय पदपद पर प्रतीत होता है; अतः जानबूझकर किए गए अथवा अपने अनजाने अपराधोंके साथ साथ पूर्वजोंके अपराधोंके लिए क्षमा-याचनाका स्वर ही इनमें प्रधान हो उठा है। मरुत्सूक्त मरुद्देवोंके साहसपूर्ण संचरणके साथ साथ विविध सुवर्णालंकारोंसे विभूषित एवं शस्त्रास्त्रोंसे सुसज्ज होनेकी उनकी रुचिके परिचायक हैं। दानवोंके साथ युद्ध करनेके अवसरपर इन्द्रकी सराहना करके उसे सभी तरहकी सहायता प्रदान करनेमें इन मरुतोंकी तत्परता तथा उनके द्वारा संपन्न वृष्टिके निर्माणका कार्य भी इन सूक्तोंमें प्रशंसाके साथ वर्णित है।

ऋग्वेदके सूर्य-सूक्तोंमें अन्तरिक्षके उस विशाल तेजोगोलका वर्णन है जो अहोरात्ररूपी कालचक्रको प्रेरणा प्रदान करता है। इन सूक्तोंके रचयिताओंने इसके पाँच रूपोंकी कल्पना करके उन्हें अपनी सराहनाका भाजन बनाया है। सभी प्राणियोंपर स्नेहकी वर्षा करनेवाला मित्र; सात अश्वोंसे युक्त एवं ज्योतिष्मान् रथके साथ उदयाचलसे निकलकर उषा देवीका अनु-सरण करते हुए अन्तरिक्षके मार्गपर आरोहण करनेवाला सूर्य, ब्राह्ममुहूर्तमें समूचे संसारको जगाकर उसे क्रियाप्रवण करनेकी तथा गोधूलिके समय अपने निवास-स्थानपर लौटकर विश्राम लेनेकी प्रेरणा प्रदान करनेवाला सविता ये तीनों मानवका निःसन्देह बड़ा उपकार करते हैं। निशीथके अंधकारमें भूले-भटके हुए पथिकको 'पथका अनुसन्धान' प्राप्त कराने तथा खोई हुई वस्तुओंको अपने आलोकमें फिरसे लौटाकर मानवको राहत प्रदान करानेमें सहायक पूषा सुबह पालतू चौपायोंको चरागाहकी ओर ले जाना भी अपना कर्तव्य समझता है। वृत्रवधके समय इन्द्रके पास रहकर उसे खाद्य पदार्थों एवं पेयों के साथ अन्य सभी सहायता प्रदान करनेवाला विष्णु दूरतक पहुँचनेवाले अपने तीन पदन्यासोंमें, उच्चतम स्वर्गलोकमें स्यन्दमान मधुर-रसके निर्झरसे

देवोंके याजकोंको निरन्तर प्रमुदित करता रहता है। क्या ये पाँचों रूप अपने अपने स्थानपर सुहावने नहीं मालूम होते? इन्हींके साथ उषासूक्तोंका उल्लेख करना समीचीन है। कोई अचरज नहीं कि सूर्यकी अगुआ उषा अनन्तयौवना हो एवं उसके चेहरेपर स्मितकी आभा सदैव विद्यमान हो और हमेशा नियत समय एवं स्थानपर ताम्रवर्ण अश्वोंसे युक्त रथके साथ अवतीर्ण होकर अन्धकारका विध्वंस करके वह जीवित प्राणियोंमें चेतनाका संचार करे। क्या काव्य, क्या कल्पना दोनों दृष्टियोंसे उषा-सूक्त अपना सानी नहीं रखते।

उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि विभिन्न देवताओंके वर्णनों एवं उनकी सराहनाभरी प्रार्थनाओं को ऋग्वेद-सूक्तोंमें प्रधानता प्राप्त है। किन्तु ये सूक्त यहींतक सीमित हों सो बात नहीं है; इनमें कई अन्य विषय भी सम्मिलित हुए हैं। शकुन्तसूक्त, गर्भस्राविण्युपनिषद् जैसे कुल-मण्डलोंके विशिष्ट सूक्तोंका उल्लेख ऊपर हो चुका है। विपुल दक्षिणा प्रदान करनेवाले भोजोंके ऐश्वर्यका वर्णन करनेवाला भोजसूक्त, अन्नदानको सर्वोपरि घोषित करनेवाला भिक्षुसूक्त, रथोंकी प्रतियोगितामें सम्मिलित होनेवाले मुद्गल-मुद्गलानीका हूबहू वर्णन करनेवाला दसवें मण्डलका सूक्त तथा अवनतिके गहरे गढेमें गिरे हुए जुआरीको साकार करनेवाला अक्षसूक्त सभी बड़े ही उल्लेखयोग्य हैं। यहाँ ऋग्वेदके कतिपय संवाद-सूक्तोंकी ओर निर्देश करना आवश्यक है। यहाँ पहले पहल विश्वामित्र तथा विपाट् एवं शुतुद्री नदियोंके वार्तालापकी ओर संकेत करना चाहिए, जिसमें दोनों नदियोंने विश्वामित्रकी मन्त्रशक्तिसे प्रसन्न होकर उसे अनुयायियोंके साथ अपनी तेज़ धारासे पार पहुँचानेवाले पथको प्रदर्शित किया। इन सूक्तोंमें स्वामिभक्त सरमाको पथसे विचलित करनेमें यत्नशील पणियोंके साथ साथ सुदीर्घ तपस्याके उपरान्त रतिकी प्रार्थना करनेवाली लोपामुद्रा तथा उसे संतुष्ट करनेवाले अगस्ति ऋषि भी पाठकोंकी सेवामें उपस्थित होते हैं। इन्हीं संवादोंमें पुरूरवाके प्रेमका अस्वीकार करके नारियोंके वृकतुल्य हृदयकी दुहाई देनेवाली उर्वशी अगर एक ओर उपस्थित होती है तो दूसरी ओर भाई बहनोंके यौन संबन्धोंको समाजके स्वास्थ्यके लिए हानिकर माननेवाली तत्कालीन प्रथाकी ओर निर्देश करनेवाले यम भी यमीको, अपनी बहनको, समझाते हुए दिखाई देते हैं। इन्द्र तथा वामदेव का वार्तालाप जन्म लेनेके पहले ही इन्द्रके अनूठे ढंग एवं उसकी अनुपम सामर्थ्य का परिचायक है। अपाला-सूक्त वह सूक्त है जिसमें सोमवल्लीको अपनी डाढ़ोंसे ही पीसकर इन्द्रको सोम समर्पित करनेवाली अपाला श्रद्धाके साथ रामको जूठे बेर खिलानेवाली शबरीकी याद दिलाए विना नहीं रह सकती। वृषाकपि-सूक्तमें चतुर सौतेली मा एवं भोले-भाले, श्रद्धालु याजक के नगण्य उपहारको पाकर बेहद ख़ुश होनेवाले इन्द्रका रूप बड़ा ही रोचक मालूम होता है। यक्ष्मनाशक, विषघ्न एवं सपत्नघ्न सूक्तोंके साथ साथ अद्भुत मन्त्रशक्तिके प्रभावका परिचय करानेवाला प्रस्वापिन्युपनिषद् भी ऋग्वेदमें सम्मिलित हुआ है। विवाह-संस्कारकी अतीव प्राचीन विधियोंपर प्रकाश डालनेवाला सूर्याविवाह-सूक्त तो निःसन्देह महत्त्वपूर्ण है। रात्रिसूक्त निशीथमें अरण्योंकी भयकारिणी शान्तिका बड़ा ही सुन्दर चित्र अगर उपस्थित करते हैं; तो नासदीय जैसे सुविदित सूक्तोंमें सृष्टिविषयक रहस्यवादकी रूपरेखा प्रस्तुत हुई है। हाल ही में मृतव्यक्तिके और्ध्वदेहिक संस्कारोंकी पर्याप्त जानकारी देनेवाले पाँचों पितृसूक्त ऋग्वेदके कालके चिन्तकोंकी प्रतिभाका अलग पहलू पाठकोंके सामने

उपस्थित करते हैं। ज्ञानकी गरिमाको सर्वोपरि घोषित करनेवाला ज्ञानसूक्त भी ऋग्वेदका एक जगमगाता रत्न है। संक्षेपमें ऋग्वेद–सूक्तोंमें वर्णित विषयोंकी विविधता सूक्तद्रष्टाओंकी बहुमुखी प्रतिभाकी ही परिचायक है।

४. ऋग्वेदके अर्थविवरणका इतिहास

ऋग्वेद वास्तवमें, संस्कृत भाषाकी अत्यन्त प्राचीन धरोहर है। यह समझना आसान है कि ज्यों ज्यों समय बीतता गया, त्यों त्यों मन्त्रोंके कई शब्द प्रचलित नहीं रहे जिससे मन्त्रोंके कुछ अंश दुरूह हो गए। वेदोंकी संहिताओंके कालमें ही यह आरम्भ हो चुका था। सामवेद यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में ऋग्वेदकी ऋचाओंको उद्‌धृत करते समय कतिपय दुरूह शब्दोंके लिए कहीं कहीं नए एवं सुबोध शब्द प्रयुक्त पाए जाते हैं। ऋग्वेदके विवरणकी यही पहली कड़ी है।

लेकिन तबतक संग्रहणीय साहित्यकी पर्याप्त वृद्धि हो चुकी थी और अर्थज्ञानके साथ संपूर्ण अक्षर–राशिको सुरक्षित रखना किसी भी एक व्यक्तिके बूतेकी बात नहीं रही। फलस्वरूप दो विभिन्न संप्रदायोंका जन्म हुआ। एकने केवल अक्षर–राशिको ज्यों–का–त्यों रखना, उसकी भली भाँति सुरक्षा करना यही अपना पवित्र कर्तव्य समझकर अर्थज्ञानको गौणत्व प्रदान किया, और दूसरेने समग्र अक्षर–राशिकी सुरक्षाको गौण मानकर उसे शाखाओंतक सीमित करते हुए अर्थज्ञानकी गरिमा सर आँखोंपर की और नूतन ज्ञान एवं साहित्य के विकासका पथ प्रशस्त किया। पहले संप्रदायके विद्वान् पुरस्कर्ताओंकी दृढ श्रद्धा थी कि वेदोंके मन्त्र यज्ञ–कर्मके विनियोगके लिए ही अवतीर्ण हुए हैं। उनका यह विश्वास था कि वही कर्म श्रेयस्‌की प्राप्तिका साधन होता है, जिसमें सम्मिलित अन्यान्य क्रियाओंका अनुवाद पठित ऋचाओंमें अथवा यजु-मन्त्रोंमें संपन्न होता है। अतः यह समझना आसान है कि ऋचाओंके परम्पराप्राप्त एवं सही अर्थको समझते हुए भी उपर्युक्त विद्वान् इन्हें यज्ञकर्मोंके लिए अनुकूल सिद्ध करनेपर उतारु हुए। फल-स्वरूप उन्होंने कहीं कहीं ऋचाओंके अर्थको बरबस इधर उधर खींचा और उन्हें एक नवीन अर्थ प्रदान करनेकी चेष्टा भी की। तैत्तिरीय–संहिताके साथ साथ ऐतरेय आदि ब्राह्मण–ग्रन्थोंमें याज्या और अनुवाक्या के रूपोंमें ऋङ्मन्त्रोंका जो अर्थ स्वीकृत किया गया है उससे इसकी सचाई भली भाँति प्रतीत होती है। मन्त्रोंकी अन्तिम शक्ति उनके पठनमें ही है; उनका अर्थ समझनेमें नहीं यह श्रद्धा तो थी ही; साथ साथ अर्थज्ञानके लिए आवश्यक सामग्रीका उन दिनों अभाव भी था। नतीजा यह हुआ कि यज्ञकर्मोंके ये प्रणेता वेदोंके मूल अर्थसे धीरे धीरे बहुत दूर चले गए और कुछ काल के बाद इसका लोप हो गया। हाँ, यह बात सही है कि उसी कालमें कुछ विद्वानोंने नित्य पठित संहिताके पदोंकी सन्धियोंका विग्रह करके उनका मूल रूप स्पष्ट किया जिससे पदपाठ बना। यह प्रक्रिया भला बिना अर्थज्ञानके कैसे संपन्न होती? मतलब यह स्वीकार करना पड़ेगा कि अर्थज्ञानके बलपर ही समग्र संहिताकी सर्वप्रथम टीका उपस्थित करनेका गौरव पदपाठके इन निर्माताओंको ही प्राप्त है। संहिताके रूपमें निर्धारित एवं नियत ऋक्सूक्तोंके संग्रहको, अक्षर–राशिके इस मूल रूपको ज्यों–का–त्यों रखनेके लिए कई

प्रयत्न परवर्ती वेदाङ्ग वाङ्मयमें किए गए, जिनके कारण यह अनमोल वेदराशि मौखिक परम्पराके सहारे विना तनिक भी परिवर्तन किए वैदिकोंमें आजतक अक्षुण्ण रही है।

दूसरे संप्रदायका उल्लेख तो ऊपर हो चुका है। उसके पुरस्कर्ताओंनें अर्थज्ञानको प्रधानता देते हुए आग्रहके साथ प्रतिपादन किया कि भाषामें लिखित साधारण साहित्यकी तरह वैदिक वाङ्मयका भी अर्थयुक्त होना आवश्यक है। वेदोंका पठन मात्रसे श्रेयःप्राप्तिकी आशा नहीं की जा सकती; मंत्रोंके सही अर्थको समझना भी नितान्त आवश्यक है इस बातको इन्होंने कई प्रमाणोंके सहारे सिद्ध किया। कालके प्रवाहके कारण भाषाके शब्दसंचय तथा पदोंकी साधनाकी पद्धतिमें परिवर्तन हुआ था; इतना ही नहीं, यज्ञकर्ममें शब्दोंको ही याज्ञिकोंके हाथों प्रदत्त प्रधानताके कारण अर्थके परम्पराप्राप्त ज्ञानकी कुछ मात्रामें अवहेलना भी हुई थी। इन दोनोंके कारण वेदोंके मन्त्र कई स्थानोंपर दुरूह हो चुके थे। उपर्युक्त विद्वानोंने अपने समयमें उपलब्ध व्याकरण आदि साधनोंकी सहायतासे दुरूह मन्त्रों का संपूर्ण अध्ययन करके 'निघण्टु' नामके शब्दकोश तैयार किए। स्वाभाविक है कि इनका स्वरूप तनिक अव्यवस्थित हो। इन्हींमेंसे एक कोशके आधारपर यास्काचार्यने अपने निरुक्तकी रचना की है। अतः पदपाठके परवर्ती कालमें इस आधारभूत कोशको एवं यास्कविरचित निरुक्तको ऋग्वेदके मन्त्रोंके अर्थविवरणके महत्त्वपूर्ण साधनके रूपमें प्रधानता प्रदान करना समीचीन होगा। उपर्युक्त निघण्टु कोशके पाँच प्रकरणोंमें से पहले तीनमें पर्यायवाची ९४ संज्ञाओंके साथ साथ १९ धातुओंके गण दिए गए हैं। इनमें प्रायः संज्ञाएं कर्ताकारकमें और धातु उत्तम पुरुष एकवचन अथवा बहुवचनमें रखे गए हैं। हाँ, कहीं कहीं संज्ञाएं अन्य कारकोंमें पाई जातीं हैं और बीचमें एकाद तदर्थक क्रियाका रूप भी पाया जाता है। धातुओंके गणोंमें भी कहीं कहीं तदर्थक संज्ञा दिखाई देती है। उक्त दोनों प्रकारोंके गणोंमें उन संज्ञाओं तथा धातुओंका भी समावेश किया गया है जो प्रस्तुत अर्थका प्रतिपादन किसी विशिष्ट प्रकरणमें ही करते हैं। चौथे प्रकरणमें याने नैगमकाण्डमें लगभग २७९ पद संगृहीत हैं जिनको प्रचलित अर्थको छोड़कर विशिष्ट प्रकरणमें अभिप्रेत अर्थको समझना बड़ा दूभर होता है। पाँचवें प्रकरणमें ऋग्वेदके मन्त्रोंमें पाए जानेवाले देवताओंके नामों एवं विशेषणों के साथ साथ देवताओंके रूपमें स्तवनका विषय बनी हुई वस्तुओंका भी समावेश किया गया है। इन नामों एवं विशेषणों की संख्या १५० से भी अधिक है। माना कि यह निघण्टु कोश मन्त्रोंका अर्थ समझनेमें अधिक तर उपयोगी सिद्ध होता है; फिर भी इसके अर्थ-प्रतिपादनकी तहमें सिवा प्रकरणके अन्य कोई मूलभूत तत्त्व प्रतीत नहीं होता। इसीलिए शब्दोंका अर्थ बतलाते हुए प्रकरणके साथ साथ शब्दोंके मूल निर्वचनकी ओर ध्यान देते हुए यास्काचार्यने मूलभूत धातुओंसे अथवा उनके अर्थसे संबद्ध वस्तुका प्रतिपादन करनेकी पद्धति अपनाई और इस संबन्धमें कतिपय साधारण नियम बतलाकर अर्थ-प्रतिपादनको शास्त्रीय रूप प्रदान किया। यास्कका यह मत रहा कि प्रायः सभी संज्ञाएं आख्यातों याने क्रियाओं से उत्पन्न होतीं हैं; अतएव प्रकरण-भेदके कारण उनके अर्थोंमें परिवर्तन भले ही हों; परन्तु मूलभूत धातुके अर्थसे ये सभी किसी न किसी रूपमें संबद्ध तो होने ही चाहिए। यास्कके मतमें निरुक्त वह शास्त्र है जो

शब्दोंकी उत्पत्तिका मूलगामी विचार करता है, अतएव उसकी सहायतासे उन्होंने स्पष्टार्थ शब्दोंसे अर्थ कैसे और क्यों प्रतीत होता है इसे विशद करनेके साथ साथ अस्पष्टार्थ शब्दोंके संभाव्य अर्थोंकी ओर भी संकेत किया है और अपने विवेचनको पूर्णता प्रदान की है। इस दृष्टिसे वेदोंके मन्त्रोंके अर्थप्रतिपादनको यास्काचार्यने सुनिर्धारित नियमों एवं तत्त्वों की भूमिपर खड़ा करके उसे निःसन्देह शास्त्रकी प्रतिष्ठा प्रदान की। शब्दकी उत्पत्तिका विचार यदि सही हो तो अर्थकी प्रतिपत्ति भी शत-प्रतिशत सही होगी। अब यदि उस विचारमें ही कहीं भूल हो तो अर्थका ग़लत होना अनिवार्य है; लेकिन उचित रूपसे यास्कका दावा है कि यह दोष निर्वचन कर्ताका है; निरुक्तशास्त्रका नहीं। यास्कके निरुक्तमें नैरुक्त, याज्ञिक, ऐतिहासिक, नैदान तथा वैयाकरण जैसी अध्ययन प्रणालियोंकी ओर निर्देश भी पाए जाते हैं; इतना ही नहीं, और्णनाभ, शाकटायन, शाकपूणि, कात्थक्य, शाकल्य, आदि कई पूर्वसूरियोंका उल्लेख भी मिलता है। इससे स्पष्ट है कि वेदोंके मन्त्रोंके अर्थकी इस तरहकी विवेचना यास्कके पहले भी हो चुकी थी; किन्तु सभी पूर्ववर्ती प्रयत्नोंको सुष्ठु, सुव्यवस्थित एवं शास्त्रीय रूप प्रदान करनेका गौरव यास्कचार्यको ही प्राप्त है। इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता।

निरुक्तके रचयिताके उपरान्त वेदोंके अर्थविवरणके इतिहासमें महत्त्वपूर्ण अध्याय जोड़नेवाले दो महानुभाव हैं, अष्टाध्यायीके प्रणेता पाणिनि तथा महाभाष्यके सुलेखक पतञ्जलि। संस्कृत भाषाके वैदिक एवं लौकिक दोनों विभागोंका संपूर्ण आलोडन करके, इन्होंने पदोंके दो अवयवोंके, प्रकृति तथा प्रत्यय के आधारपर अर्थका प्रतिपादन करनेवाले शब्दोंके रहस्यको अनावृत करनेका सराहनीय प्रयत्न किया। इतना ही नहीं; वेदोंमें दृग्गोचर होनेवाले उदात्त अनुदात्त आदि स्वरोंके कारण उत्पन्न होनेवाली अर्थकी विविध छटाओंको विशद करते हुए, वैदिक भाषाको परवर्ती भाषाके नियमोंकी चहारदीवारीमें रखना अनुचित है इस सत्यकी ओर निर्देश करके अपनी सावधानीका यथार्थ परिचय दिया है। वास्तवमें व्याकरणके उपर्युक्त दोनों पण्डितोंने अपने अपने समयमें उपलब्ध वैदिक वाङ्मयके अर्थप्रतिपादनकी सामग्री जिस ढंगसे उपस्थित की है उसे देखते हुए, यह स्वीकार करना ज़रूरी है कि बिना इनकी सहायता लिए इस विषयमें आगे बढ़ना असंभव हो उठा है। हाँ, यह सच है, इनके कालतक किसीने संपूर्ण वेदराशिपर या संहितापर शुरूसे लेकर आख़िरतक भाष्य लिखनेकी नहीं सोची।

उपर्युक्त कमीको दूर करनेका महान् प्रयत्न करनेवाले सर्वप्रथम आचार्य हैं सायण। यह सच है कि इनके पहले माधव, वेङ्कटमाधव, स्कन्दस्वामी, उवट, मुद्गल, भट्टभास्कर आदि विद्वानोंने इस दिशामें प्रयत्न किए थे और इनके ग्रंथोंके कुछ अंश आजकल उपलब्ध भी हो रहे हैं; लेकिन ईसाकी चौदहवीं शताब्दीमें उत्पन्न सायणाचार्यने बड़े आत्मविश्वासके साथ संपूर्ण वेदराशिपर भाष्य लिखकर पूर्ववर्ती तथा परवर्ती प्रयत्नोंको भी निःसन्देह तिरोहित कर दिया। सायणाचार्यने अपने भाष्यमें पद पद पर पाणिनिकी अष्टाध्यायीके साथ साथ ब्राह्मण ग्रन्थ, निरुक्त, बृहद्देवता आदि सभी कृतियोंमें किए गए वेदमन्त्रोंके विवरणका भली भाँति उल्लेख किया है। फलस्वरूप वेद-मन्त्रोंकी व्याख्याकी आकाङ्क्षा रखनेवाला कोई भी व्यक्ति इस भाष्यकी

उपेक्षाका साहस नहीं कर सकता। यहाँ यह ध्यानमें रखना चाहिए कि वेदमन्त्रोंकी व्याख्याकी परम्परा ब्राह्मण, आरण्यक आदिके रचना-कालमें ही खण्डित तथा कुछ अंशोंमें लुप्त प्रतीत होती है। सायणाचार्यके समयतक आते आते तो शताब्दियाँ बीत गई थीं; अतएव सायणाचार्यके भाष्यमें सर्वत्र मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंका मन्तव्य ही स्पष्ट हुआ होगा यह मानना दूभर है। इस दृष्टिसे सर्वत्र सायणाचार्यकी व्याख्याको प्रामाणिक मानना केवल उनके प्रति व्यक्तिगत आदरभावनाका ही परिचायक होगा। संहिताके दुरूह स्थानोंपर सायणाचार्यने ब्राह्मणग्रन्थोंकी साधारण व्युत्पत्तिका अथवा निघण्टुकोशमें दिए गए अर्थका अगर कहीं कहीं सहारा लिया है, तो कुछ स्थानोंपर पर्याप्त रूपसे विकसित किन्तु परवर्ती कर्मकाण्डके आलोकमें अर्थको निर्धारित करनेकी चेष्टा की है। व्याख्येय संहिताकी संपूर्ण भाषाके तुलनात्मक अध्ययनकी आधुनिक प्रणालीके अभावमें सायणाचार्य कहीं कहीं परवर्ती वाक्यका वही अर्थ बतलाते हुए नज़र आते हैं जो केवल सन्दर्भके ही अनुकूल हो।

इस दशामें वेदोंके अर्थप्रतिपादनमें उन्नासवीं शताब्दिके विद्वान् पूर्णतया सायणाचार्य पर निर्भर रहना यदि स्वीकार न करते हों तो वह स्वाभाविक ही माना जाएगा। नए सिरेसे विकसित व्युत्पत्तिशास्त्र, भाषाशास्त्र, तुलनात्मक देवताशास्त्र आदिकी सहायतासे इन विद्वानोंने ऋग्वेद-मन्त्रोंका अध्ययन करनेकी ठान ली और अध्येताओंके सामने अपनी नवीन व्याख्याएँ उपस्थित कीं। इन विद्वानोंमें जर्मनी, फ्रान्स एवं अमरीका के निवासी ही अग्रगामी हैं। रोथ तथा बोथलिंग ने संस्कृत भाषाके उस बृहत् कोशकी रचना की जिसमें वैदिक एवं लौकिक साहित्यमें प्रयुक्त शब्द सम्मिलित हैं। लुडविग तथा ग्रासमन दोनोंने जर्मन-भाषामें टिप्पणियोंके साथ संपूर्ण ऋग्वेदका अनुवाद किया। ऋग्वेदके मन्त्रोंके संपूर्ण शब्दोंकी सूचि उपस्थित करनेवाला ग्रासमेनकृत कोश भी वह महत्त्वपूर्ण रचना है जिसमें प्रत्येक शब्दके सन्दर्भानुसार बदलनेवाले अर्थोंके साथ क्रियाओं तथा संज्ञाओं के सभी रूप एवं अर्थ भी क्रमानुसार दिए गए हैं। अमरीकी पण्डित ब्लूमफील्डने मन्त्रोंके चरणोंकी बृहत्सूची उपस्थित की जो 'वेदिक कनकॉर्डन्स' के नामसे प्रसिद्ध है। दूसरे अमरीकी विद्वान् व्हिटनेने अथर्ववेदको अंग्रेजीमें अनूदित किया और आधुनिक ढंगसे वह व्याकरण भी लिखा जो वैदिक तथा संस्कृत भाषाके अध्येताओंके लिए अतीव सहायक है। उपर्युक्त सभी ग्रन्थ अध्येताओंकी अनमोल धरोहर बने हुए हैं।

बीसवीं सदीमें भी इस परम्पराको अक्षुण्ण रखनेका श्रेय पिशेल तथा गेल्डनर इन जर्मन विद्वानोंको प्राप्त है। इन्होंने केवल भाषाशास्त्र पर बल न देते हुए परवर्ती वेदों एवं वेदाङ्गों के साथ साथ प्राचीन परम्पराके अनुसार किए गए सायणाचार्यकृत विवरणको भी महत्त्वपूर्ण एवं उपादेय माना है। ऋग्वेदके अधिकांश जटिल एवं दुरूह सूक्तों तथा शब्दों की तर्कसंगत व्याख्या करनेका इनका प्रयत्न बड़ा ही सराहनीय है। पिशेल तथा गेल्डनर द्वारा प्रस्तुत सायणानुकूल विवरणकी सर्वाङ्गीण समीक्षा करनेवाले और एक जर्मन विद्वान् हैं ओल्डेनबर्ग जिनकी ऋक्-संहिताकी आलोचनात्मक टिप्पणियाँ चिन्तनके साथ साथ स्वर, छन्द आदिके सूक्ष्म अध्ययनके लिए वेदोंके अध्येताओंमें आदरका भाजन बनी हैं। उपर्युक्त तीनों मनीषियोंमेंसे संपूर्ण ऋग्वेदका

गेल्डनरकृत जर्मन अनुवाद हाल ही में अमरीकामें प्रकाशित हुआ है। वेदोंके जटिल मन्त्रों एवं दुरूह शब्दोंकी विवेचनामें आजकल पाल थीम तथा हालण्डमें खोंडा बहुत आगे बढ़े हुए हैं। ऋग्वेदके साथ साथ समूचे वैदिक साहित्यके गहरे एवं पूर्वाग्रहोंसे परे अध्ययनके लिए फ्रान्सीसी पण्डित लुई रनूका नाम आजकल बड़ा ही मशहूर है।

वेदोंके अध्ययनकी दिशामें विदेशी पण्डितोंने जो कार्य किया है उसका उल्लेख तो ऊपर हो चुका। भारतीयोंने भी इस दिशामें जो प्रयत्न किए हैं उनमें पहले पहल महर्षि दयानन्द-सरस्वतीके भाष्यका उल्लेख करना चाहिए। महाराष्ट्रमें श्री. शंकर पांडुरंग पण्डितका 'वेदार्थयत्न' ऋग्वेदके पाँच मण्डलोंका अंग्रेजी एवं मराठी अनुवाद कतिपय टिप्पणियोंके साथ उपस्थित करता है। 'सोनार बाँगला' के सुपुत्र योगिवर अरविन्दने अपने स्फुट लेखोंमें ऋग्वेदके अर्थको विशद करनेका अच्छा प्रयत्न किया है। साथ साथ बंगला, हिन्दी, मराठी, तेलगू, तामिल आदि देशीय भाषाओंमें वेदोंके अनुवाद भी किए गए हैं और हर्षका विषय है कि वेदोंके विषयमें विश्व-विद्यालयोंमें आजकल अनुसन्धान-कार्य भी हो रहा है। ऋग्वेद हम भारतीयोंकी अनमोल संपत्ति है। प्राचीन तथा अर्वाचीन परम्पराका समन्वय करते हुए समीक्षाकी आधुनिक प्रणालियोंसे लाभ उठाकर ऋग्वेद तथा उससे संबन्धित साहित्यके मर्मको समझना हमारे लिए अधिक आसान है। स्वतन्त्र भारतमें इस दिशामें अधिक ठोस कार्य करने तथा जो चल रहा है उसमें गति भरनेकी नितान्त आवश्यकता है।

५. ऋग्वेदीय देवताओंका संक्षिप्त परिचय

ऋग्वेदके सूक्तोंमें प्रायः देवोंके स्तवनके साथ साथ उनके विविध वीरकृत्यों तथा याजकोंको उनके द्वारा प्रदत्त सहायताका वर्णन किया गया है और उनसे प्रार्थना की गई है कि वे स्तोताओंको ऐहिक ऐश्वर्यकी प्राप्ति करा दें। ऋग्वेदमें निर्दिष्ट देवताओंका यास्काचार्यकृत वर्गीकरण उनके निवास-स्थानोंपर आधारित है। इनकी संख्या कई स्थानोंपर तैंतीस (३३) बतलाई गई है। सिर्फ़ एक ही जगह ३३०९ देवोंका उल्लेख हुआ है। कतिपय सूक्तोंमें देवताओंकी दो या अधिक पीढ़ियोंकी कल्पना भी की गई है। कुछ स्थानोंपर ब्रह्मणस्पतिको तो कहीं कहीं विश्वकर्मा या हिरण्यगर्भ को इनका निर्माता माना गया है। किन्तु सबमें एक ही दार्शनिक विचार-धारा स्पष्ट रूपसे पिरोई गई है जिसके अनुसार सृष्टिके मूलमें एक ही आदितत्त्व है। इसीकी इच्छासे देवोंके साथ समूचे संसारकी उत्पत्ति हुई। अतः सभी देवता उसी आदितत्त्वके विभिन्न कार्योंके अनुरोधसे धारण किए गए अलग अलग रूप हैं। उक्त आदितत्त्वने चिन्मय होकर पुरुष-रूपसे आत्मयज्ञ करके विश्वका निर्माण किया और वह स्वयं अनेक रूप धारण करके विभिन्न संज्ञाओंका भाजन बना। 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः' (१·१६४·४६) का यही रहस्य है। इस उदात्त धारणासे प्रेरित होकर ऋग्वेदीय सूक्तोंके मन्त्रद्रष्टा आवाहित देवोंमें अन्य देवोंकी सभी विशेषताओंका समाहार करते हुए सभीको सर्वज्ञ, सर्वव्यापी एवं सर्वोपरि घोषित करते हुए पाए

जाते हैं। मानवके जीवनसे अग्नि-देवताका संबन्ध सबसे अधिक निकटवर्ती एवं गहरा था। अतएव पहले उसके माध्यमसे ऋषियोंको 'एकं सत्' का भान हुआ जिसे व्यक्त करते हुए गृत्समद एवं अत्रि मण्डलोंके प्रणेताओंने कहा 'सभी देवताओंका रूप धारण करते हुए तुम अपने अपने याजकोंपर अनुग्रह करते रहते हो' इसी भावको अधिक स्पष्ट करते हुए भारद्वाज मण्डलके एक सूक्तमें कहा गया है, 'वैश्वानर देवों एवं मानवों में मनके रूपसे निवास करनेवाला यह अग्नि ही श्रेष्ठ ज्ञानकी प्राप्ति कराता है'। अग्निके साथ साथ सूर्य तथा उषा के विषयमें भी इस तरहके सर्वात्मभावकी अनुभूतिको कण्व कुलके ऋषिने भी शब्दरूप प्रदान किया है। दसवें मण्डलके ऋषियोंका कथन है कि सूर्यरूपी सुपर्ण अथवा पतङ्ग तो एक ही है; कवियोंने उसमें कई देवताओंके रूपोंके दर्शन किए हैं। पहले मण्डलमें भी स्पष्ट रूपसे कहा गया है कि देवमाता अदिति वास्तवमें सभी देवों एवं मानवों के साथ साथ अतीतमें निर्मित एवं भविष्यके गर्भमें विद्यमान विश्वसे भी भिन्न नहीं मानी जा सकती। ऋग्वेदका सुविदित ऋत-तत्त्व भी विश्वके मूलमें विद्यमान चित्-तत्त्वका वह अविष्कार है जो विश्वके विधारण एवं पालन-पोषण के लिए आवश्यक नियमोंकी आधारशिला है। कोई अचरज नहीं यह ऋत तत्त्व इन मन्त्रद्रष्टाओंके अनुसार अनादि एवं तीनों कालोंमें निर्बाध हो और सभी देवता उसका स्वयं पालन करने तथा अन्य प्राणियोंसे उसका पालन कराने के लिए बाध्य हों। अनादि कालसे अस्तित्वमें रहनेवाले पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान एवं वर्णन (ऋत) तथा प्रतिज्ञात वस्तुओंका यथार्थ संपादन (सत्य) दोनों ऋतके ही रूप हैं। स्पष्ट रूपसे प्रतीत होनेवाली बातको न मानना और वचन देकर उसका स्वार्थवश पालन न करना ये दोनों अपराध ही 'अनृत' कहलाते हैं और ऋग्वेदीय ऋषियोंकी दृढ श्रद्धा है कि इनके लिए दण्ड देना अदितिके पुत्रोंका, खासकर वरुणका कर्तव्य है। मानवीय व्यवहारोंमें ऋत तथा सत्य के पालनको महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करके वैदिक ऋषियोंने इनका अनादर करनेवालोंको 'अनार्य' एवं 'दस्यु' की तिरस्कारपूर्ण संज्ञा प्रदान की है। कई सूक्तोंमें कहा गया है कि सूर्य एवं नक्षत्र आदित्योंके गुप्तचर हैं और उन्हींकी सहायतासे वे मानवों द्वारा किए गए तथा संकल्पित कार्योंका निर्निमेष निरीक्षण करते रहते हैं। ऋग्वेदके कई ऋषि जगह जगह देवोंकी प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि वे 'अनृतभाषी, कुटिलबुद्धि, दोमुँहे तथा झूठे प्रलोभन दिखानेवाले व्यक्तियोंको ढूँढ़कर उन्हें कठोर दण्ड दें और ऐसे व्यक्तियोंको हमपर कभी हावी न होने दें'। संक्षेपमें, निष्पक्ष अध्येताओंको स्वीकार करना पड़ेगा कि संपूर्ण विश्वकी उत्पत्तिके साथ साथ सभी नीतिनियमोंके मूलमें स्थित 'ऋतं च सत्यं च' का अन्वेषण करनेवाले ऋग्वेदीय ऋषियोंने नीतिका आडम्बर भले ही न मचाया हो, लेकिन उन्होंने संसारके अत्युच्च नीतितत्त्वों एवं नियमों का पुरस्कार अवश्य किया है।

उपर्युक्त विश्वव्यापी ऋतके पालनका एक प्रधान अंश है यज्ञकर्म जो वास्तवमें अपनी उत्तमोत्तम एवं प्रिय वस्तुओंको देवताओंके चरणोंपर न्योछावर करनेका दूसरा नाम है। कोई अचरज नहीं कि यदि इसी यज्ञको वैदिक सूक्तोंमें ऋतकी संज्ञा दी गई हो। समूचे विश्वकी उत्पत्ति तथा उसका पालन करनेवाला ऋतरूपी आदितत्त्व कभी कभी सूर्य, उषा, अग्नि आदि साक्षात् प्रतीत होनेवाली विभूतियोंके रूपोंमें अगर प्रकट होता है तो कभी उसका आविर्भाव इन्द्र, वरुण,

अश्विना आदिके माध्यमसे होता है जिनके अस्तित्वका अनुमान साक्षात् देखे हुए अथवा परम्परासे सुने गए अद्भुत कर्मोंके आधारपर किया जाता है। अतएव इन्हें हविर्भाग समर्पित करना ही ' यज्ञकर्म ' कहलाता है; यही मानवोंके देवता-पूजनका प्रधान अङ्ग है।

इस प्रकार ऋग्वेद-सूक्तोंमें वर्णित देवता ' एकं सत् ' के ही विविध रूप हैं सही; लेकिन इनकी अपनी अपनी विशेषताएँ भी विद्यमान हैं जिनके आधारपर उनके भेदोंको भी तर्कसंगत माना जा सकता है। इन देवताओंको मोटे तौरपर दो विभागोंमें रखा जाएगा। पहलेमें अग्नि, सूर्य, उषा इन तीनों प्रकाशात्मक पुञ्जोंके साथ साथ सोम, सरस्वती, द्यावापृथिवी, पर्जन्य तथा स्पर्शगोचर वायुका समावेश किया जा सकता है, क्योंकि इनके बाह्य रूपोंको मानव आँखों देख सकते हैं। दूसरा विभाग इन्द्र, मरुद्गण, अश्विना, वरुण, रुद्र, बृहस्पति, यम आदि उन छोटे-बड़े देवताओंसे बनता है, जो अदृश्य तथा अनुमेय हैं। स्वाभाविक है कि पहले विभागके देवोंका अधिकांश वर्णन उनके उस स्थूल रूपसे ही संबद्ध हो जिसे ऋषि प्रतिदिन अनुभव करते रहते थे। लेकिन यहाँ भी प्रत्येक देवताके अदृश्य अवयवोंका वह स्वामित्व भी प्रज्ञाचक्षु ऋषियोंकी वाणीका विषय बना है जो उनके तर्कगम्य कर्तृत्वके ही अनुकूल है और जिसे उनके निरे स्थूल रूपतक सीमित नहीं माना जा सकता। दूसरे विभागके देवोंके संबन्धमें भी ऋषियोंने इसी नीतिको अपनाकर उनके अदृश्य शरीरोंका वर्णन करना पसन्द किया है। माना की इन दोनों विभागोंके देवोंके शरीर ' पुरुष-विध ' (मानवों-जैसे) ही हैं, लेकिन उनके स्तवनमें उन्हीं अवयवोंका उल्लेख किया गया है, जो कल्पित पराक्रमों एवं कार्यों के लिए आवश्यक हों। उदाहरणके तौरपर अग्निको लीजिए जिसपर दूत-कार्यका; हव्यवहनका उत्तर-दायित्व है। अतः उसकी ज्वालारूपी जिह्वाओं एवं जंबाओं के साथ साथ तेजोवलयरूपी पाश तथा घृतसे सिञ्चित पृष्ठ जैसे प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले अवयवोंका वर्णन किया गया है। एक दूतके नाते देवोंको यज्ञस्थलपर ले आनेका कार्य भी अग्निको सौंपा गया है, जिससे उसके घोड़ों एवं रथ का वर्णन आवश्यक हो उठा। इन्द्रादि अदृश्य देवताओंके वर्णनमें अश्वयुक्त रथको तो स्थान है ही; साथ सोमपानके लिए आवश्यक हनु, जठर आदिका तथा दान देने एवं शस्त्र धारण करने के लिए हाथों एवं बाहुओं के साथ साथ प्रशंसा सुननेके लिए कान जैसे अवयवोंका वर्णन करना ऋषियोंने उचित समझा। इतना ही नहीं; इनके द्वारा शत्रुओंका संहार करानेके लिए वज्र आदि शस्त्र एवं भलाई-बुराई की परखके लिए उसके मनके साथ शत्रुसंहारके लिए क्रोध और याजकोंपर कृपा करनेके लिए कृपालुता आदि उनके मनोविकारोंका वर्णन करना ये ऋषि भला कैसे भूलते? उपर्युक्त प्रथम विभागके देवोंमें मानवोंके लिए सबसे निकटवर्ती एवं नित्य परिचित होनेमें अग्नि अपना सानी नहीं रखता। स्वाभाविक रूपसे अरणियोंके घर्षणसे अग्नि उत्पन्न होता है और यज्ञके लिए वह आह्वनीयके रूपमें अवतीर्ण होता है। अतः एक ओर यह ' द्विजन्मा ' कहलाया तो अनेक यज्ञोंमें विभिन्न स्थलोंपर प्रकट होनेके कारण इसे ' भूरिजन्मा 'की संज्ञा प्राप्त हुई। याजकोंकी ओरसे सभी देवोंको निमंत्रण देकर यह अग्नि सन्तोषकी साँस नहीं लेता; अपि तु उन्हें अपने रथमें बिठाकर सोमपानके लिए यज्ञस्थलमें ले आनेका महत्त्वपूर्ण कार्य भी संपन्न

करता है। इसीलिए इसे दूत कहा गया। धूम इसकी ध्वजा है और इसका मार्ग कृष्णवर्ण है। देवोंने इसे अपना मुख माना; फिर इसमें समर्पित हविर्भाग उन्हें क्यों न प्राप्त हों? घर्षणसे ही उत्पन्न होनेके कारण इसे 'सहसः सूनुः' याने शक्तिके पुत्रकी उपाधि प्राप्त हुई। जन्मसे ही यह निर्मल, तेजस्वी एवं नित्य युवा होता है। अन्तरिक्षमें मेघोंके गर्भमें निवास करनेके कारण यह 'अपां नपात्' कहलाया। पृथ्वीपर स्थित ओषधियों एवं वृक्षों के भीतर रहनेका इसे शौक है, लेकिन यह सीधे उनमें प्रवेश नहीं कर पाता। अतः अन्तरिक्षकी माताओं याने मेघान्तर्गत आपोरूपी देवताओंकी पनाह लेकर उनके द्वारा पृथ्वीपर प्रेषित वृष्टिके साथ ओषधियों एवं वृक्षों की जड़ोंमें पहुँचता है, और उनकी जड़ोंद्वारा शोषित वृष्टिजलके साथ उनके भीतर पहुँचनेकी अपनी साध पूरी कर लेता है। इसके उपरान्त अरणियोंके घर्षणसे प्रकट होकर दक्षताके साथ अपने यज्ञसंबन्धी कर्तव्योंको याने दौत्य, हव्योंके हवन जैसे कार्योंको संपन्न करता है। मधुरताका निर्माण करनेवाली अपनी ज्वालाओंसे याजकोंद्वारा समर्पित हविर्द्रव्योंको अधिक रुचिपूर्ण करके यह अग्नि द्युलोकके सभी देवोंको अपनी मधुर वाणीसे निमन्त्रण देता है और 'तनूनपात्' एवं 'नाराशंस'के नामसे इन्हें ये हविर्भाग समर्पित करता है। इसीसे ऋषियोंने इसे 'मधुजिह्व' एवं 'मन्द्रजिह्व' जैसे विशेषणोंसे विभूषित किया। पहले पहल यह अग्नि उन्नतम द्युलोकमें मातरिश्वा देवताके संमुख प्रकट हुआ। बादमें मातरिश्वाने इसकी स्थापना पहले भृगु महर्षिके पास और उसके उपरान्त उनके द्वारा अन्य ऋषियोंके सांनिध्यमें की। प्रिय अतिथिके रूपमें इसका सम्मान करके ऋषियोंने इसके माध्यमसे देवलोकसे संपर्क स्थापित किया और यज्ञकर्मके द्वारा देवलोक एवं मनुष्यलोक में सहयोगकी भावनाका निर्माण किया। प्रातःकालमें सूर्यके रूपमें यही उदित होता है और यज्ञकर्मोको प्रेरणा प्रदान करता है। याजकोंके गृहोंमें याने वेदिपर स्थित यज्ञकुण्डोंमें नित्य निवास-स्थान करते हुए सदैव उनके कल्याणकी ओर ध्यान देनेके कारण यह अग्नि 'दमूनाः', 'गृहपतिः', 'विश्पतिः', 'वैश्वानरः' जैसी संज्ञाओंका भाजन बना और ऋषियोंको वह अपने पिता, बन्धु एवं सुहृद् जैसा प्रतीत हुआ। मनकी आकाङ्क्षाओंको भली भाँति जाननेवाले इस अग्निको सच्चा आत्मीय मानकर ऋषियोंने इसे ऋत्विज्, कवि, विप्र के नामोंसे पुकारा है और मूल चिदात्मक सत्-तत्त्वके आविष्कारकी दृष्टिसे इसे विश्वका निर्माता भी कहा है।

अनन्तकालसे अन्तरिक्षके पथपर प्रकट होनेवाली हँसमुख उषा 'पुराणी' होकर भी वैदिक ऋषियोंको 'चिर युवती' प्रतीत हुई। यह उषा सूर्यको उसी तरह खींचकर ले आती है जैसे कोई प्रेमिका अपने प्रियतमको। सभी प्राणियोंमें नव उल्लासका निर्माण करने एवं उन्हें क्रियाप्रवण करनेका गौरव इसे प्राप्त है। सद्यःस्नाता एवं स्मितवदना सुन्दरीकी तरह हार्दिक स्वागतकी आशासे यह समूचे संसारके सामने साहसके साथ इसी ढंगसे उपस्थित होती है कि वह उसका कौतुकसे स्वागत करे। नियत स्थल एवं समय पर बिना कभी भूले उपस्थित रहनेमें इसकी समता जानकार महिलाके साथ की जा सकती है। अन्धकार और मनोमालिन्य का विनाश यही करती है। रक्तवर्ण एवं तेजस्वी अश्वों तथा वृषभों को अपने रथमें जोड़कर यह उषा उस अन्तरिक्ष-

मार्गपर आरूढ होती है जो उसकी बहन रात्रिके द्वारा सद्योमुक्त था। सूर्य, अग्नि तथा सोम के साथ वलासुरके कारावासमें दिन बितानेवाली द्युदेवकी इस कन्याको इन्द्र, बृहस्पति और उनके अनुयायी अङ्गिरस ऋषियोंने मुक्त किया। यज्ञकुण्डके सद्यः प्रज्वलित अग्नि इसका सहर्ष स्वागत करके अपने याजकोंके लिए धनादि उपहारोंकी याचना करते हैं। प्रतिदिन चिर युवतीके रूपमें अवतीर्ण होनेके कारण इसे अग्निकी तरह अनेकात्मक मानकर ऋषियोंने इसका निर्देश बहुवचनमें भी किया है।

उषाका अनुसरण करते हुए अन्तरिक्षके पथपर आरूढ होकर समूचे विश्वको आलोकित करनेवाले तेजोमय शक्तिके पाँच विभिन्न रूप वैदिक ऋषियोंकी प्रतिभामयी वाणीका विषय बने; ये हैं सूर्य, सविता, पूषा, मित्र तथा विष्णु। इनमेंसे सूर्य मित्रावरुणोंके साथ अन्य देवोंके सर्वसाक्षी चक्षुके रूपमें मानवोंके भले-बुरे, सभी कार्योंका सुष्ठु निरीक्षण करता रहता है। उषाके बाद प्राणिमात्रको आलोक प्रदान करनेके उद्देश्यसे अन्तरिक्षमें वरुण आदि आदित्यों द्वारा बनाए गए मार्गपर यह सूर्य अपने एतश आदि अश्वोंसे युक्त रथके साथ अवतीर्ण होता है। एक ही क्षणमें समूचे संसारको आच्छादित करनेकी अभिलाषासे अन्धकाररूपी असित वस्त्र बुनानेवाली रात्रिरूपी जुलाहिनको सब काम समेटकर चले जानेके लिए यह देवता विवश कर देता है। उपासकोंका आधियों एवं व्याधियों को दूर करनेवाला यह सूर्य चर एवं अचर विश्वकी आत्मा है। वैदिक ऋषियोंकी आँखोंमें सर्वप्रेरक सविता अन्तरिक्षकी तेजोमयी शक्तिका वह रूप है जो अपने विशाल बाहू फैलाकर चलाचल संसारको अपने अपने कर्तव्योंमें प्रवृत्त करता है और गोधूलिके समय विश्रामके लिए सभी प्राणियोंको अपने नियत निवास-स्थानपर लौटनेकी प्रेरणा प्रदान करता है। क्या सविताके अवयव, क्या उसका रथ दोनों सुवर्णमय हैं। देव भी सत्यधर्मा सविताके व्रतोंका पालन करनेपर बाध्य हैं। इसीकी प्रेरणासे रात्रि उपस्थित होती है और कार्यरत मानव अपने कार्योंको अधूरा रखकर विश्रान्ति-स्थानकी ओर प्रयाण करते हैं।

प्रातःकालमें प्रकाशके फैलनेसे दुर्गम मार्गोंका अन्धकार जब विलीन होता है तब रात्रिमें खोई हुई वस्तुओं या चौपायों का अन्वेषण करके उन्हें लौटानेवाला पूषा उस शक्तिका तीसरा रूप है। इस पूषाकी कोई भी चीज़ खोनेका नाम नहीं लेती। स्वाभाविक रूपसे इसकी याचनामें 'हम अपने पालतू जानवर कभी न खोएं और वे सिवा किसी दुर्घटनाके हमें प्राप्त हों' यही स्वर प्रधान हो उठा है। इस देवताके दांत नहीं होते; इसलिए चावलका माँड ही इसका भोजन है! फिर भी महापराक्रमी होनेके कारण वीरतापूर्ण कार्योंमें सहायकके रूपमें इन्द्र भी इसकी कद्र करते हैं। जटाजूट धारण करके अपने रथमें बकरोंको जोतनेवाले इस देवताका खास शस्त्र आरा या अष्ट्रा के नामसे प्रसिद्ध है। अतएव इसकी प्रार्थनामें ऋषियोंने अपनी अभिलाषा प्रकट करते हुए कहा, "इस शस्त्रसे कदर्य पणियोंके हृदय बींधकर उन्हें दान देनेपर विवश करो"। एक ओर यह पूषा 'आघृणि' (तुरन्त बिगड़नेवाला) है; तो दूसरी ओर 'विमोचन' (याने संकटोंसे मुक्त करनेवाला) भी।

उपर्युक्त शक्तिका चौथा रूप है मित्र जिसके नाममें ही ऋषियोंने प्रधान रूपसे मानवोंके साथ मित्रताका भाव पिरोया है। कई स्थानोंपर वरुणसे संबद्ध होनेके कारण यह मित्र भी निर्निमेष नेत्रोंसे मानवोंकी देखभाल करता है अवश्य; लेकिन मित्रताकी भावनाके कारण अपराधियोंके विषयमें वरुण-जैसी कड़ाई या कठोरता बरतना पसन्द नहीं करता। कोई अचरज नहीं कि ऋषियोंने वरुणके साथ इसे भी सम्राटकी उपाधि प्रदान की हो। मित्रावरुणाका युगल सूर्यबिम्बको मेघों द्वारा आवृत करके वृष्टिका निर्माण करता है और इसीकी मायाके बलपर सूर्यबिम्बरूपी रथचक्र आकाशमें पुनः भ्रमण करनेपर बाध्य होता है। तीन पदोंमें समूचे विश्वको (तीनों लोकोंको) व्याप्त करनेवाला विष्णु ही उस शक्तिका अन्तिम एवं पाँचवां रूप है। विस्तीर्ण रूपसे संचरण करनेवाला (उरुगाय) यह देवता बीहड़ स्थानों एवं गिरिगह्वरों में घूमता रहता है। इसके दो पद मानवों-द्वारा देखे जा सकते हैं सही; लेकिन तीसरा उस उच्चतम स्वर्गलोकमें विद्यमान है, जहाँके मधुर अमृतके स्रोतके पास पहुँचकर देवोंके भक्त आनन्दसे फूले नहीं समाते। वृत्रवधके अवसरपर इन्द्रके लिए पर्याप्त अन्न एवं सोमरस उपस्थित करके इसी विष्णुने अन्य प्रकारोंसे भी उसकी अनमोल सहायता की।

ऋग्वेदका नववां मण्डल वल्लियोंके रूपमें पर्वतोंके शिखरोंपर निवास करनेवाले वनस्पति-योंके राजा सोमकी कवित्वपूर्ण सराहनामें समर्पित है। वल्लियोंके टुकड़े करना, उन्हें अद्रियोंसे (पाषाणोंसे) पीसकर रस निकालना, उस रसमें अधिक रुचि पैदा करनेके लिए जल, दधि, दूध, घृत, शहद, सत्तुका आटा आदि द्रव्योंको मिलाकर उच्च कोटिका पेय तैयार करना आदि सोमकी सभी अवस्थाओंके दर्शन इन ऋग्वेदीय सूक्तोंमें होते हैं। मूलतः यह स्वर्गलोकका निवासी था और कृशानु नामके धनुर्धर इसकी निगरानी भी करते थे; लेकिन पक्षिवर श्येन उसकी आँख बचाकर इन्द्रके लिए इसे ले आए और उन्होंने इसे इन्द्रके याजकोंको समर्पित किया। इसी सोमके रसके कारण इन्द्रादि देवोंपर युद्धका नशा छा जाता है। इसके पानसे उन्मत्त होकर इन्द्रने वृत्रवध जैसे महान् कार्य कर डाले। अतएव सोमरसको ही उनका कर्ता माननेवाले ऋग्वेदीय कवि उनके वर्णनोंमें इसे भला कैसे भूलते? वास्तवमें बिना किसी अत्युक्तिके यह कहा जा सकता है कि पृथ्वीपर सोमदेवके आगमनके वर्णनमें मन्त्रके द्रष्टाओंने कल्पनाओं एवं उत्प्रेक्षा जैसे अलंकारों की पर्याप्त वर्षा की है।

बाह्य रूपमें साक्षात् प्रतीत होनेवाले अन्य देवोंमें सरस्वती, द्यावापृथिवी, पर्जन्य एवं वायु का अन्तर्भाव होता है। सोमकी तरह उनका रूप भी पारदर्शक एवं सहज भावसे ज्ञेय है। माना कि अन्य देवताओंकी तरह इन्हें भी सोमपान अथवा हविर्ग्रहण के लिए बुलाया जाता है; फिर भी इन्हें निर्दिष्ट पदार्थोंके अधिष्ठाता देवता माना जा सकता है। सरस्वतीको तो आप्री देवताओंमें भी स्थान दिया गया है और एक सूक्तमें पुष्टिकारक अन्न एवं समृद्धियुक्त वैभवकी प्राप्तिके लिए इसके सहोदर सरस्वान् की भी प्रार्थना की गई है। द्यावापृथिवीको 'रोदसी' की संज्ञा भी प्राप्त है; इनमेंसे एक पितृरूप देवता है और दूसरी मातृरूपा देवी। इन्हें देवोंके साथ साथ समूचे चराचर विश्वके जनक एवं पोषणकर्ता माना गया है सही; लेकिन इनके उत्पत्ति-

कर्ताके रूपमें एक अनूठे कर्तृत्ववान् देवताकी भी कल्पना की गई है, जिसने अपनी बुद्धिके बलपर कभी न गिरनेवाले अदृश्य स्तम्भोंके सहारे इन्हें सँभाला है। पर्जन्य मूर्तिमती वृष्टि है और यह देव इन्द्र, मरुद्गण, मित्रावरुणा, अग्नि आदि वृष्टिमें सहायक देवोंसे अलग अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखता है। यह देवता अपने वृष्टिरूपी बीजसे पृथिवीको गर्भवती करके मानवोंके लिए उसे विपुल जल एवं अन्न से संयुक्त कर देता है और साथ साथ चौपायों, लताओं, वृक्षों एवं मानवों को भी वह सामर्थ्य प्रदान करता है जिससे वे अपनी अपनी प्रजाके निर्माण एवं पोषण में समर्थ होते हैं। उचित समयपर मेघरूपी दूतोंको अन्तरिक्षमें भेजकर समूची धरित्रीको सुष्ठु सिञ्चित करके मृदुतासे संयुक्त करना इसीका कार्य है। 'वि वृक्षान् हन्त्युत हन्ति रक्षसो विश्वं बिभाय भुवनं महावधात्। उतानागा ईषते वृष्ण्यावतो यत् पर्जन्यः स्तनयन् हन्ति दुष्कृतः'में इसी देवताका भयकारी रूप साकार हो उठता है अवश्य; लेकिन निरापराध व्यक्तियोंको इससे तनिक भी भय नहीं रहता; 'इरा विश्वस्मै भुवनाय जायते यत्पर्जन्यः पृथिवीं रेतसावति' यही अन्ततोगत्वा इसका मङ्गलमय रूप है।

वायु अथवा वात का अनुभव मानवोंको तब होता है जब महान् रथसे उसका संचरण शुरू होता है और उसकी गड़गड़ाहटसे कान बधिर होते हैं। इसका आँखों देखा रूप तब प्रकट होता है जब इसके प्रचण्ड वेगसे लताओंके साथ बड़े बड़े वृक्ष भी उखाड़े जाते हैं। त्रिभुवनके इस राजाकी सवारीके साथ साथ छोटी-मोटी आँधियोंके रूपमें इसकी रानियाँ भी आकाशसे विद्युद्रूपी अबीरको उड़ाती हुई धूलि-कणोंसे 'नभस्तलमिव व्योम कुर्वन् व्योमेव भूतलम्' का अनुभव कराती हैं। असलमें, देवोंकी यह आत्मा सिवा किसी विश्रामके अन्तरिक्षके पथपर स्वच्छन्द विचरण करती रहती है। वायु इस देवताका वह श्वेतवर्ण सौम्य रूप है। जिसके रथका वहन नियुत् नामकी सहस्रोंसे भी अधिक घोड़ियाँ स्वयंस्फूर्तिसे करती रहती हैं। इन्द्रके साथ यह वायु भी सोमपानके लिए कई बार निमन्त्रित है। इतना ही नहीं, सोमपानमें प्रथम भागके अधिकारी होनेके कारण इसे ऋषियोंने 'पूर्वपा' एवं 'शुचिपा' की संज्ञा प्रदान की।

अदृश्य देवोंमें महापराक्रमी इन्द्र ही सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वोपरि है। इसका विशाल शरीर अपने एक पार्श्वसे समूची पृथ्वी एवं स्वर्ग को आवृत करनेकी क्षमता रखता है। कोई अचरज नहीं कि इन्हें ऊपर उठानेकी अगर इच्छा हो तो दोनों इसकी मुट्ठीमें ही समा जायँ (६·३०·१; १०·११९·७; ३·३०·५)। बलमें इसकी समता करनेवाला न कभी हुआ था; न भविष्यमें होगा। इसकी सामर्थ्यकी थाह भला कौन पा सकता है? माताके गर्भमें होनेके समयसे ही स्वतन्त्र प्रवृत्ति रखनेवाला यह इन्द्र 'जो कहूँगा सो करके रहूँगा' में विश्वास रखता है। सोमरसका इसे इतना शौक़ है कि एक ओर उससे दूर रखनेवाले अन्यायी पिताको भी इसने तुरन्त रास्तेसे दूर हटा दिया (३·४८·४; ४·१८·१२); तो दूसरी ओर अवैध ढंगसे उसे सोमरस अर्पित करनेवाली अपालापर प्रसन्न होकर उसके सब दुःख दूर कर डाले। मनसे अतीव उदार होनेके कारण स्तोताको अपने पास जो कुछ हो उसे पूरी तौरसे समर्पित करनेमें तो इसे कोई संकोच नहीं होता। स्तोताद्वारा याचित वस्तुकी प्राप्तिके लिए यह 'कामरूप' इन्द्र कभी गाय या अश्व का तो कभी

नारीका रूप भी धारण करता है और स्तोताको विमुख न लौटानेके अपने पणका पालन करता है। विविध रूप धारण करनेकी इस दैवी शक्तिके ही कारण युद्धोंमें इन्द्रके शत्रु मुँहकी खानेपर बाध्य होते है। त्वष्टाने खास इसके लिए एक बड़ा निर्घोष करनेवाला वज्र बनाया जो इसे अतीव प्रिय होनेके कारण इसके बाहुओंपर निरन्तर विराजमान है। इसीकी सहायतासे कई दस्यु रणभूमिमें खेत रहे। स्तोताओंका निमन्त्रण पाते ही अपने प्रिय अश्वोंको भव्य रथमें जोतकर उनकी सहायताके लिए दौड़नेवाला यह देवता पहले उनके द्वारा समर्पित सोमका आकण्ठ पान करके उनके स्तोत्रोंसे प्रोत्साहित होता है और उनके शत्रुओंको परास्त करके उनकी सभी संपत्ति उन्हें सौंप देता है। मरुद्गण तथा अङ्गिरस कुलके पूर्वज ऋषि इसके सहायक एवं चारण बने और उन्होंने वृत्र एवं बल के वधके अवसरपर इसकी सभी प्रकारोंसे सहायता की। वृत्रके शिकंजेमें पड़ी हुई स्वर्गीय नदियोंको मुक्त करके उन्हें इस इन्द्रने पार्थिव समुद्रकी ओर बहाया और बलकी गुहामें अवरुद्ध देवोंकी गायोंके साथ साथ सूर्य, उषा एवं अग्नि को भी मुक्त करके उन्हें अपने नित्य कार्योंमें प्रवृत्त किया। इन दोनों वीरतापूर्ण कार्योंकी भावपूर्ण सराहना करते हुए वैदिक ऋषि कभी नहीं अघाते। साथ साथ शंबर तथा वर्चिन् इन दोनों असुरोंका वध, कुत्सको अपने साथ रथमें बिठाकर शुष्णका निर्दालन, सुविदित दाशराज्ञ युद्धमें वसिष्ठोंकी पुकार सुनकर दौड़ते हुए आकर अभयप्राप्त भरतकुलके योद्धाओं एवं उनके राजा सुदास की सुरक्षा करना, गर्वीली उषाका गर्वहरण करना आदि ऋषियोंद्वारा वर्णित कई कार्य इन्द्रके पराक्रम एवं भक्त-वात्सल्यकी दुहाई देते हैं। क्या 'मघवा' (उदार उपहार देनेवाला), क्या 'शतक्रतु' (सौगुने बुद्धिसामर्थ्यसे युक्त), क्या 'पुरन्दर' (शत्रुओंके दुर्गका भेदन करनेवाला) सभी इन्द्रकी उपाधियाँ बड़ी चरितार्थ मालूम होतीं हैं।

वृत्रवधादि पराक्रमपूर्ण कार्योंमें इन्द्रकी सराहना करनेवाले उसके अनुयायी है मरुद्गण। रुद्र इनके पिता हैं और पृश्नि इनकी माता। जैसा कि नामसे स्पष्ट है ये अनेक हैं और सभी समान अवस्थाके हैं। इनकी शक्ति एवं स्तर में भी समानता है। युवकोंकी तरह इन्हें तरह तरहके सुवर्णालंकार पहननेका बड़ा शौक़ है। किन्तु यह भी ध्यानमें रखना आवश्यक है कि इनके शरीरोंपर दमकनेवाले तीक्ष्ण शस्त्रोंके साथ साथ कवच एवं भाले भी बड़ी शानके साथ विराजमान हैं। इनकी वेगभरी दौड़से पूरा संसार कम्पित होता है। कतिपय सूक्तोंमें इनके पास रथमें खड़ी इनकी प्रिया 'रोदसी' वर्णित है सही; लेकिन कई स्थानोंपर इनकी सहचरीके रूपमें विद्युत्का भी उल्लेख किया जाता है। ग्रीष्ममें सूर्यकी किरणोंसे संतप्त पृथ्वीको आर्द्र करके उसे 'सुजला' 'सस्यश्यामला' एवं 'सुफला' का रूप प्रदान करनेवाली वर्षा इनके संचरण-मार्गका ही अनुसरण करती रहती है। इनके रथ एवं वाहक अश्व भी सोनेकी तरह दीप्तिवान् हैं और इन रथचक्रोंकी क्षुरकी तरह पैनी कगारोंके सहारे ये पर्वतोंका भी भेदन कर सकते हैं।

संकटोंमें फंसे हुए प्राणियोंकी पुकार सुनते ही दौड़ते हुए आकर शल्यक्रिया एवं ओषधि-विज्ञानके समग्र कौशलके सहारे उन्हें उबारनेवाले देवोंमें अश्विना अपना सानी नहीं रखते। ये जुड़वा भाई अपनी कमनीयताके साथ साथ 'तरुनाई सुघर' के लिए प्रसिद्ध हैं। कोई अचरज

नहीं कि सूर्यादेवीने स्वयंवरमें इन्हींका वरण किया हो और वह स्वेच्छासे उनके रथपर आरूढ हुई हो। पृथ्वी, अन्तरिक्ष एवं समुद्र तीनोंमें लीलया संचरण करनेवाले ये दोनों सुबह सुबह अपनी यात्रा आरम्भ करते हैं। अश्विनाके घोड़ोंके पंख होते हे; अतएव ऋभुओंद्वारा बनाया गया एवं तीन आसनोंवाला इनका रथ अन्तरिक्षके पथपर विचरण करनेमें मनसे भी अधिक तेज़ है। ये देवता स्वयं निपुण तैराक हैं; इसलिए रथको आसानीसे समुद्रके पार पहुँचा सकते हैं। ज़मीनमें गड़े गए वन्दन ऋषिको ज़िन्दा बाहर निकालना, समुद्रमें रगेदकर जलराशिके बीच दबाए गए रेभको ऊपर उठाकर उसे उबारना, जांघके टूटनेसे घायल विश्पलाके लिए लोहमयी जाँघ बिठाना तथा क्रोधके मारे पिताद्वारा नेत्रहीन बनाए गए ऋज्राश्वको फिरसे आँखें लौटा देना आदि कई कार्य इनके कौशलके साथ साथ कोमल हृदयके परिचायक हैं। बेचारे गोतम ऋषिके कुंएका पानी तलतक पहुँचा था; इन्होंने उसे एक ओर लुढ़का दिया ताकि पानी बाहर बहे और उसकी प्यासी गौएं उसे भरसक पी सकें। अत्रि ऋषि धधकती हुई खाईमें फेंके गए थे; अश्विनाने हिमकी वर्षासे आग बुझाई, उन्हें तरोताज़ा करनेके लिए घर्म नामके अपने प्रिय पेयका अंश भी उन्हें दे डाला, और बादमें उन्हें सुखपूर्वक बाहर निकाला। भूखसे व्याकुल होकर अन्तिम घडियाँ गिननेवाले दरिद्री शयुकी बांझ गायको दुधारू बनाकर उसकी दरिद्रताको नष्ट करनेवाले देवता भी ये अश्विना ही थे। रहस्यभेदके कारण इन्द्रद्वारा सिर उतारे जानेका भय दध्यच् ऋषिपर सवार था; शल्यक्रियाके मर्मज्ञ अश्विनाने पहले ऋषिके कन्धोंपर अश्वका सिर बिठाकर उससे भंडाफोड़ करवाया और इन्द्रके द्वारा उसके उतारे जानेपर फिरसे मानवीय सिर भली भाँति बिठा दिया। फलस्वरूप दध्यच्के लिए 'आमके आम गुठलीके दाम' वाली कहावत चरितार्थ हुई। जरासे जर्जर च्यवान ऋषिको इन कुशल देवोंने उसकी जीर्ण त्वचासे उसी तरह मुक्त किया जैसे कोई व्यक्ति अपनी देहको कवचसे। इतना ही नहीं उसे वह 'तरुनाई सुघर' समर्पित की जिसपर सुन्दर युवतियोंको भी ईर्ष्या हो। राजा तुग्रकी आंखोंके सामने उनके पुत्र भुज्युका उसीके मित्रोंद्वारा विश्वासघात हो रहा था; लेकिन उसकी सुरक्षाके संबन्धमें पूर्णतया विवश होनेके कारण वे पुत्रका त्याग करनेको उसी तरह बाध्य हो रहे थे जैसे अन्तिम घडियाँ गिननेवाला व्यक्ति अपनी विशाल संपत्तिका। किन्तु इसी समय करुणाके आगार अश्विना आ पहुँचे और उन्होंने अतीव गहरे समुद्रके बीचसे भुज्युको ऊपर उठा लिया। युवा विमदको सहचरीकी प्राप्ति करानेमें भी इन्हीं दयालु देवोंका हाथ रहा। पिताके घरमें ही रहकर प्रौढ बननेवाली कन्याके लिए उचित वरकी प्राप्ति करानेकी सतर्कता ये अश्विना अगर एक ओर दिखाते हैं; तो दूसरी ओर प्रसूत होनेवाली नारियोंकी वेदनाओंको वैद्यके कुशल हाथोंसे दूर करनेकी सावधानी बरतना भी नहीं भूलते। क्रूर भेड़ियेके मुँहमें पहुँची हुई दीन एवं विवश चिड़ियाको भी उबारकर इन देवोंने अपनी अपार करुणाका यथार्थ परिचय दिया है। वास्तवमें, 'गिरे हुओंको तुरन्त उठाने'को अपना जीवन-कार्य माननेवाले इन देवोंकी 'भूरि भूरि' सराहना ऋग्वेदके सूक्तोंमें कई बार की गई है।

अदितिके सभी पुत्रोंमें ऋत-पालन एवं उसके द्वारा विश्वके विधारणका सबसे बड़ा उत्तरदायित्व ऋग्वेदमें सम्राट् एवं राजाधिराज वरुणको ही सौंपा गया है। मानवोंके आचरणका निरीक्षण करनेके लिए इसके गुप्तचर 'अत्र तत्र सर्वत्र' फैले हुए हैं। अनृत एवं असत्य भाषण करनेवालोंके प्रति इसके मनमें घृणा है। साधारण-रूपसे अपनी प्रजाके साथ अधिक संपर्क न रखनेवाले राजाकी तरह आदर एवं भय का निर्माण करनेवाले इस वरुणसे वैदिक ऋषि प्रायः दूर ही रहते हैं। यह शीघ्रकोपी देवता अपने नियमों एवं मर्यादाओं के पालनमें बड़ी कठोरता अपनाता है, इसी लिए इसे 'धृतव्रत'की उपाधि प्राप्त हुई। अपराधोंके लिए इससे क्षमाकी आशा भला कैसे रखी जा सकती है। अपराधियोंको दण्ड देनेमें इसकी कठोरताकी 'मिलत न कहूँ मिसाल'। दिव्य नदियोंके मध्यमें इसका अम्बरचुम्बी प्रासाद सहस्र-स्तम्भोंसे युक्त है और यहींसे यह सार्वभौम सम्राट् सभी प्राणियोंपर राज्य करता है। इसीके नियन्त्रणमें चराचर विश्व नियमित रूपसे अपने कर्तव्योंका पालन करता रहता है।

मरुद्गणोंका पिंगलवर्ण पिता रुद्र हाथमें हमेशा धनुष एवं बाण धारण करता है। मरुद्गणोंकी तरह इसे भी अलंकार बहुत भाते हैं; लेकिन अपराधियोंके सिरपर सहसा गिरनेवाले विद्युद्रूपी अस्त्रके कारण वैदिक ऋषि इससे बहुत डरते रहते हैं। फिर भी प्रसन्न होनेपर यह देवता अपने याजकोंकी आधियाँ एवं व्याधियाँ उन हाथोंसे दूर करता है जो रोगोंसे उत्पन्न पीड़ाका परिहार करनेवाली विभिन्न ओषधियोंसे युक्त हैं। इसीसे सन्तोष न मानकर अन्य देवताओंके क्रोधको दूर करनेमें भी मानवोंकी सहायता करनेपर उतारू होता है। माना की इसकी प्रवृत्ति हिंसक है लेकिन मनसे उदार एवं हृदयसे मृदु होनेके कारण आपत्तियोंमें फंसे हुए व्यक्तियोंकी पुकार सुनकर इससे रहा नहीं जाता और यह तुरन्त सहायताके लिए दौड़ पड़ता है।

अङ्गिरस कुलमें उत्पन्न बृहस्पति अथवा ब्रह्मणस्पति सभी सामों तथा स्तोत्रों का जनक एवं विप्रोंके सभी गणोंका अधिपति है। शत्रुओं और निन्दकों का अगर यह विध्वंसक है तो अपने उपासकोंका पालक एवं पोषक भी। इसका तेजस्वी रथ राक्षसोंका विनाश करनेवाला एवं शत्रुओंके गोधनका विजेता है। श्रद्धाहीन व्यक्तियोंके लिए यह बड़ा भयकारी प्रतीत होता है। वृत्रवधके अवसरपर इन्द्रका यह प्रधान सहायक रहा और वलकी गुहामें अवरुद्ध गौओंके साथ साथ उषा आदिको मुक्त करनेमें भी इसका बड़ा हाथ रहा था। अर्कोंकी सामर्थ्यसे तथा सिंहनादसे वलकी गुहापर घोर आक्रमण करके गायोंको बाहर निकालकर वलको आँसू बहानेपर बाध्य करनेवाले देवताके रूपमें बृहस्पति बड़ा विख्यात है। इसी देवताके प्रयत्नोंके बलपर यज्ञमें देवोंको हविर्भाग प्राप्त हुए।

मृतात्माओंके लिए स्वतन्त्र साम्राज्यकी स्थापना करनेवाले देवताके रूपमें विवस्वानके पुत्र पितृश्रेष्ठ यमराजका स्तवन ऋक्सूक्तोंमें पाया जाता है। मृत्युलोकमें मर्त्य शरीरका त्याग करके अग्निकी सहायतासे नूतन शरीर प्राप्त करनेके उपरान्त यमराजके राज्यमें पहुँचे हुए अग्निदग्ध पितरोंके साथ साथ पहलेसे ही अनग्निदग्ध एवं अनमर्त्य शरीर धारण करनेवाले भृगु, अथर्व, अङ्गिरस आदि पितरोंकी संगतिको पाकर यमराजका समय बड़े आनन्दके साथ बीतता

रहता है। यज्ञमें आवाहित होनेपर उक्त पितरोंके साथ आकर यह याजकोंद्वारा प्रदत्त सोम, हव्य, घृत आदिका ग्रहण करता है। हाल ही में मृत व्यक्ति, जलाए गए मर्त्य शरीरसे निकलकर जब यमलोककी ओर प्रयाण करता है तब यमके दो श्वान– जो विशाल नासिका एवं चार आँखों वाले होते हैं – साथ रहकर उसका मार्गदर्शन करते रहते हैं और उसे यमलोक पहुँचा देते हैं। वास्तवमें मुमूर्षु व्यक्तियोंको खोजकर उनके प्राणोंको यमके पास पहुँचाना यही इन श्वानोंका कार्य है। अतः ये मृत्युलोकमें निरन्तर घूमते रहते हैं।

सुधन्वाके तीनों पुत्र – ऋभु, विभ्वा तथा वाज – पहले मर्त्य याने मानव ही थे; लेकिन अपने अनुपम कौशलसे इन्द्र आदि देवोंको सन्तुष्ट करके इन्होंने देवलोकमें अपने लिए स्वतन्त्र स्थान पा लिया। इसीसे इनकी गणना वैदिक देवताओंमें की जाती है और तृतीय याने सायं-सवनके समय यज्ञमें सोमपान एवं हविके भक्षणके लिए अन्य देवोंके साथ इनका भी आवाहन किया जाता है। इन देवोंने अपनी अद्भुत शक्तिके बलपर आश्विनाके लिए एक अश्वहीन स्वयंचलित रथ एवं इन्द्रके लिए दो अश्वोंके साथ साथ बृहस्पतिके लिए मृत गायके चमड़ेसे कामधेनुका निर्माण किया। जरासे जर्जर पिता एवं माताको नवयौवनका दान भला इन ऋभुओंके सिवा कौन कर सकता था? देवोंके सोमपानके लिए निर्धारित सुन्दर चमससे ही चार, समान रूपसे सुन्दर चमसोंके निर्माणकी इनकी अद्भुत कलाको देखकर कुशल निर्माताके रूपमें विख्यात त्वष्टाको भी इनपर ईर्ष्या होने लगी। अगोह्य नामके गृहस्थके आतिथ्यसे सन्तुष्ट होकर ये तीनों भाई बारह दिनोंतक निद्राके सुखका अनुभव करते रहे और बादमें उसके खेतको जलसे पूर्ण करके मानवों एवं पशुओं को प्रतीत होनेवाले अन्न-जलका अभाव इन्होंने सदाके लिए नष्ट कर डाला। वैसे तीनों भाइयोंके अपने अपने नाम हे (जो ऊपर दिए गए हैं); फिर भी यज्ञमें इनके बड़े भाई ऋभु अथवा ऋभुक्षा के नामसे ही वैदिक ऋषि इन तीनोंका आवाहन करते हुए पाए जाते हैं। मानवोंके सामने 'न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः' का अनुपम आदर्श इन्हीं ऋभुओंने उपस्थित किया।

इस प्रकार ऋग्वेदमें वैदिक आर्योंकी संपूर्ण मानसिक संपत्ति साकार हो उठी है। संघर्षके कालमें आवश्यक जयिष्णु प्रवृत्तिके साथ साथ 'एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति' में जो-दार्शनिक विचार अभिव्यक्त हुआ उसीको आगे चलकर प्रणीत दर्शनोंका मूल उत्स मानना समीचीन होगा। क्या व्यवहार, क्या धर्म, क्या दर्शन, क्या साहित्य सभीका प्रेरणा-स्रोत तो ऋग्वेद ही माना जा सकता है। इस दृष्टिसे ऋग्वेदका अध्ययन कितना महत्त्वपूर्ण है इसकी ऊपर विवेचना की गई है।

यह सच है कि समूचे ऋग्वेदका समीक्षात्मक अध्ययन करना साधारण जिज्ञासु अनु-सन्धानकर्ताके लिए बड़ा दूभर है। इसी लिए गत शताब्दीमें कई विद्वानोंने ऋग्वेदके कतिपय चुने हुए सूक्तोंके संग्रह अपनी टिप्पणियोंके साथ प्रकाशित किए। इनमें पीटरसन द्वारा संपादित दो खण्ड सुविदित हैं। इन खण्डोंमें ऋग्वेदके २७ तथा ३४ छोटे–बड़े सूक्त संमिलित किए गए हैं। मैकडोनलकृत 'वेदिक रीडर' तो आजकल भारतके विभिन्न विश्वविद्यालयोंमें

स्नातकके साथ साथ स्नातकोत्तर परीक्षाओंमें भी पाठ्य क्रमके रूपमें नियुक्त हो रहा है। हमारे विश्वविद्यालयोंमें शिक्षाका माध्यम अबतक अंग्रेजी ही रहा है; अतएव उक्त तीनों संग्रहोंमें अनुवादके साथ साथ विवरण भी अंग्रेजीमें ही दिया गया है। पीटरसनके खण्डोंमें पदपाठ तथा•सायणभाष्य दोनोंका अन्तर्भाव किया गया है; किन्तु मैकडोनलके 'वेदिक रीडर'में केवल पदपाठ ही समाविष्ट है। विश्वविद्यालयके विद्यार्थियोंकी सुविधाओंकी ओर ध्यान देनेके साथ साथ वैदिक साहित्यके अध्ययनको प्रेरणा प्रदान करनेके उद्देश्यसे भी कतिपय अन्य विद्वानोंने इस दिशामें अग्रसर होकर वेदोंके सूक्तोंके संग्रह प्रकाशित किए हैं। प्रस्तुत 'ऋक्सूक्त-वैजयन्ती' भी इसी तरहका नवीन प्रयास है।

इसमें कुल मिलाकर १०८ ऋग्वेद-सूक्त संगृहीत हैं और इनके सहारे स्थाली-पुलाक न्यायके आधारपर ऋग्वेदके प्रमुख विषयोंकी संक्षिप्त विवेचनाका प्रयत्न किया गया है। सूक्तोंका अर्थ विशद करते हुए केवल सायणभाष्यसे ही नहीं; अपि तु पश्चिमीय पण्डितोंकी विवेचनाओंसे भी पर्याप्त लाभ उठाना मैंने उचित समझा है। फिर भी 'पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्' यही मेरा दृष्टिकोण रहा है। टिप्पणियोंमें कई स्थानोंपर अन्य सूक्तोंके उल्लेखोंके साथ साथ सूक्तांश भी उद्धृत करनेकी चेष्टा की गई है ताकि ये तुलनात्मक अध्ययनके लिए उपयोगी सिद्ध हों। महत्त्वपूर्ण सूक्तोंके प्रारम्भमें संक्षेपमें पीठिका उपस्थित करके विषयोंपर प्रकाश डालनेका प्रयास भी किया गया है। पूर्वाग्रहोंसे दूर रहते हुए आदर भावनासे समन्वित जिज्ञासाके बलपर ऋग्वेदके सूक्तोंके समीक्षात्मक अध्ययनकी प्रणालीका श्रीगणेश करनेके उद्देश्यसे ही प्रस्तुत पुस्तक पाठकोंकी सेवामें उपस्थित की जा रही है।

वेदोंके प्रकाण्ड पण्डित पीढ़ियोंके परिश्रमके बलपर ऋग्वेदका अध्ययन करते आए हैं; फिर भी ऋग्वेदकी कतिपय ऋचाएं आज भी पूर्णतया बोधगम्य नहीं हो पाईं। कहीं कहीं विद्वानों द्वारा प्रतिपादित अर्थ समाधानकारक प्रतीत नहीं होता। प्रस्तुत पुस्तकका रचयिता वेदोंका विनम्र अध्येता मात्र है; उससे समस्याओंके सुलझाए जानेकी आशा कैसे की जा सकती है! संभव है कि उसे 'गमिष्याम्युपहास्यताम्' का ही भागी होना पड़े? फिर भी आशा है कि पाठक ईमानदारीके साथ किए गए प्रस्तुत प्रयत्न का स्वागत करेंगे।

मेरे ऋग्वेदके अध्ययनका शुभारम्भ श्रीसायणाचार्यके भाष्यके बलपर हुआ है; उन्हींके आलोकमें मैं आगे बढ़नेकी चेष्टा कर रहा हूँ। अतएव उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ। वेदोंका अध्ययन करनेवाले पश्चिमीय विद्वानोंका भी मैं बड़ा आभारी हूँ। विशेष रूपसे ओल्डेनबर्ग तथा गेल्डनर इन दोनों पाण्डितोंके ग्रन्थ मेरे लिए अतीव सहायक सिद्ध हुए हैं। अतः उनको मैं अपने आदरकी अञ्जलि अर्पित करता हूँ।

प्रस्तुत पुस्तकको हिन्दी भाषाके माध्यमसे उपस्थित करना एक बड़ा उत्तरदायित्व था। इसे सुहृद् वेदान्ताचार्य अप्पासाहब जोशी तथा डॉ. मो. दि. पराडकर ने बड़े प्रेमके साथ

निबाहा है। डॉ. पराडकर को तो इस विषयमें समय समयपर बहुत ही परिश्रम करना पड़ा है; किन्तु वे कभी पीछे नहीं हटे। इन दोनों विद्वानोंका मैं बड़ा कृतज्ञ हूँ।

बिहारके विद्याप्रेमी एवं उदार निवासी श्री. कीर्तिनारायण सिंह के ठोस अनुदानके कारण ही प्रस्तुत पुस्तक पाठकोंकी सेवामें उपस्थित हो पाई है; अतः उनका भी मैं ऋणी हूँ। इस पुस्तकके प्रकाशनका उत्तरदायित्व वैदिक संशोधन मंडल, पूना ने उठाया। उसके कार्यवाह श्री. ना. श्री. सोनटक्के तो सौहार्द एवं सौजन्य को साकार कर चुके हैं। दोनोंको अतीव हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। अन्तमें 'सदसद्व्यक्ति हेतवः' अध्येताओं एवं पाठकों के हाथों विश्वासके साथ इस पुस्तकको सौंपते हुए मेरी प्रार्थना है :—

'समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥

बम्बई.
गुरुप्रतिपदा, मंगळवार,
सौर २७ माघ १८८६.

ह. दा. वेलणकर

ऋग्वेद-भाष्यभूमिका।



॥ श्रीगणेशाय नमः ॥ श्रीसरस्वत्यै नमः ॥

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे ।
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ॥ १ ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ २ ॥

यत्कटाक्षेण तद्रूपं दधद्बुक्कमहीपतिः ।
आदिशन्माधवाचार्यं वेदार्थस्य प्रकाशने ॥ ३ ॥

ये पूर्वोत्तरमीमांसे ते व्याख्यायातिसंग्रहात् ।
कृपालुर्माधवाचार्यो वेदार्थं वक्तुमुद्यतः ॥ ४ ॥

आध्वर्यवस्य यज्ञेषु प्राधान्याद् व्याकृतः पुरा ।
यजुर्वेदोऽथ हौत्रार्थमृग्वेदो व्याकरिष्यते ॥ ५ ॥

एतस्मिन् प्रथमोऽध्यायः श्रोतव्यः संप्रदायतः ।
व्युत्पन्नस्तावता सर्वं बोद्धुं शक्नोति बुद्धिमान् ॥ ६ ॥

ऋग्वेदभाष्यभूमिका

श्रीगणेशको प्रणाम । श्रीसरस्वतीको प्रणाम ॥

मैं उस गणपतिकी वन्दना करता हूँ जिसे किसी भी कार्यके आरम्भमें प्रणाम करके वागीश (ब्रह्मा) आदि देवता भी अपनेको कृतार्थ समझते हैं।

वेद जिसके निःश्वास हैं और जिसने वेदोंसे समूचे संसारका निर्माण किया उस विद्यातीर्थरूपी महेश्वरको मैं प्रणाम करता हूँ।

इन्हींके कटाक्षसे इनका रूप धारण करनेवाले राजा बुक्कने माधवाचार्यको वेदोंके अर्थपर प्रकाश डालनेका आदेश दिया।

पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा की संक्षेपमें विवेचना करके कृपावान् माधवाचार्य वेदार्थकी व्याख्या करनेके लिए उद्युक्त हुए।

यज्ञोंमें अध्वर्युके कार्यकी प्रधानता होनेके कारण मैंने यजुर्वेदकी पहले विवेचना की, और अब होताके कार्यकी जानकारी देनेके उद्देश्यसे ऋग्वेदकी व्याख्या की जा रही है।

इसमें प्रथम अध्यायको संप्रदायके आधारपर सुनना समीचीन है, क्योंकि उसके ज्ञानसे संपन्न, बुद्धिमान् व्यक्ति सब कुछ जाननेमें समर्थ होता है।

१. ऋग्वेदव्याख्यानस्य प्राथम्याप्राथम्यविचारः ।

अत्र केचिदाहुः । ऋग्वेदस्य प्राथम्येन सर्वत्राम्नातत्वात् 'अभ्यर्हितं पूर्वम्' इति न्यायेनाभ्यर्हितत्वात् तद्व्याख्यानमादौ युक्तम् । प्राथम्यं च पुरुषसूक्ते विस्पष्टं- 'तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे । छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत' (ऋसं १०.९०.९) इति । तस्मात् 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' (ऋसं १०.९०.१) इत्युक्तात् परमेश्वरात् यज्ञात् यजनीयात् पूजनीयात् सर्वहुतः सर्वैर्हूयमानात् । यद्यपीन्द्रादयस्तत्र तत्र हूयन्ते तथापि परमेश्वरस्यैव इन्द्रादिरूपेणावस्थानादविरोधः । तथा च मन्त्रवर्णः— 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् । एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः' (ऋसं १.१६४.४६) इति । वाजसनेयिनश्चामनन्ति- 'तद्यदिदमाहुरमुं यजामुं यजेत्येकैकं देवमेतस्यैव सा विसृष्टिरेष उ ह्येव सर्वे देवाः' (बृउ १. ४. ६) इति । तस्मात् सर्वैरपि परमेश्वर एव हूयते ॥ न केवलमृचां पाठप्राथम्येनाभ्यर्हितत्वं किंतु यज्ञाङ्गदार्ढ्यहेतुत्वादपि । तथा च तैत्तिरीया आमनन्ति- 'यद्वै यज्ञस्य साम्ना यजुषा क्रियते

१. ऋग्वेदव्याख्यानके प्राथम्याप्राथम्यका विचार.

इस विषयमें कुछ लोगोंका आक्षेप है कि सभी स्थानोंपर ऋग्वेदका प्रथम निर्देश किया गया है और अधिक पूज्य या योग्य वस्तुका निर्देश सबसे पहले करनेकी प्रथाके अनुसार पहले उसीकी व्याख्या करना समीचीन है । पुरुषसूक्तकी प्रसिद्ध ऋचा है– "तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे । छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥" इसमें ऋग्वेदके प्राथम्यका निर्देश स्पष्ट है । यहाँ 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' शब्दोंसे परमेश्वर कहा गया है, इससे यज्ञका अर्थ है यजनके योग्य, पूजाके योग्य याने परमात्मा; और 'सर्वहुतः' का अभिप्राय है उस परमात्मासे जो सब लोगों द्वारा हवन (आवाहन) किया जानेवाला है । माना कि जगह जगह इन्द्रादि देवोंका ही आवाहन होता है, किन्तु स्वयं परमात्मा ही इन्द्रादि देवोंका रूप धारण करके उपस्थित होता है । अतएव उसे सभी द्वारा हूयमान कहनेसे कोई बाधा उपस्थित नहीं होती । इस संबन्धमें ऋग्वेद-संहिताका निम्नलिखित मन्त्र उल्लेख-योग्य है ।

"इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥"

वाजसनेयि-श्रुतिका भी प्रमाण इस विषयमें उपस्थित किया जा सकता है—

"तद्यदिदमाहुरमुं यजामुं यजेत्येकैकं देवमेतस्यैव सा विसृष्टिरेष उ ह्येव सर्वे देवाः ।"

अतएव परमात्माको मनकी आँखोंके सामने रखकर ही सभी नामों द्वारा आवाहन किया जाता है । पठनके क्रममें प्रथम निर्देशका पाया जाना ही ऋग्वेदकी श्रेष्ठताका परिचायक नहीं है; यज्ञके अङ्गको दृढ बनानेकी वजहसे भी उसे सम्मान प्राप्त है । तैत्तिरीय श्रुतिका कथन है कि सामवेद एवं यजुर्वेद की सहायतासे उत्पन्न यज्ञका अङ्ग अस्थिर होता है;

शिथिलं तद्यदृचा तद्दृढम्' (तैसं ६·५·१०·३) इति। तथा च सर्वत्रैदगतानि ब्राह्मणानि स्वाभिहितेऽर्थे विश्वासदार्ढ्याय 'तदेतदृचाभ्युक्तम्' इति ऋचमेवोदाहरन्ति ॥ मन्त्रकाण्डेष्वपि यजुर्वेदगतेषु तत्र तत्राध्वर्युणा प्रयोज्या ऋचो बह्व्य आम्नाताः। साम्नां तु सर्वेषामृगाश्रितत्वं प्रसिद्धम्। आथर्वणिकैरपि स्वकीयसंहितायामृच एव बाहुल्येनाधीयन्ते। अतोऽन्यैः सर्वैर्वेदैरादृतत्वादभ्यर्हितत्वं प्रसिद्धम्। छन्दोगाश्च प्राथम्ये सनत्कुमारं प्रति नारदवाक्यमेवमामनन्ति—'ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थम्' (छांउ ७·१·२) इति। मुण्डकोपनिषद्यप्येवमाम्नायते—'ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः' (मुंउ १·१·५) इति। तापनीयोपनिषद्यपि मन्त्रराजपादेषु क्रमेणाध्ययनमेवमामनन्ति—'ऋग्यजुःसामाथर्वाणश्चत्वारो वेदाः साङ्गाः सशाखाश्चत्वारः पादा भवन्ति' (नृताउ १·२) इति। एवं सर्वत्रोदाहरणीयम्। तस्मात् ऋग्वेदस्याभ्यर्हितस्यादौ व्याख्यानमुचितमिति तान् प्रत्येतदुच्यते—

अस्त्वेवं सर्ववेदाध्ययनतत्पारायणब्रह्मयज्ञजपादौ ऋग्वेदस्यैव प्राथम्यम्। अर्थज्ञानस्य तु यज्ञानुष्ठानार्थत्वात् तत्र तु यजुर्वेदस्यैव प्रधानत्वात् तद्व्याख्यानमेवादौ

किन्तु ऋग्वेदकी सहायतासे उत्पन्न अङ्गमें दृढता रहती है। साथ साथ वेदोंसे संबद्ध सभी ब्राह्मण-ग्रन्थ अपने प्रतिपादनके विषयमें दृढ श्रद्धाको उत्पन्न करनेके उद्देश्यसे 'तदेतदृचाभ्युक्तम्' याने 'इसे ऋचामें कहा गया है' कहकर ऋचाओंका ही उल्लेख करते हुए दिखाई देते हैं। यजुर्वेदके मन्त्रकाण्डोंमें भी कई ऐसी ऋचाएँ विद्यमान हैं जिनका उपयोग करना अध्वर्युका काम है। सभी सामोंका ऋचाओंपर निर्भर रहना तो प्रसिद्ध ही है। अथर्ववेदके अनुयायी भी अपनी संहितामें ऋचाओंका ही अधिकतर अन्तर्भाव करते हैं। इस तरह अन्य सभी वेदों द्वारा सम्मानित होनेके कारण ऋग्वेद ही (यजुर्वेदकी अपेक्षा) श्रेष्ठ है। सामवेदके अनुयायी सनत्कुमारसे कहे गए उस नारद वाक्यकी दुहाई देते हैं। जिसमें नारद कहते हैं, "भगवान्! मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चतुर्थ अथर्ववेद पढ़ रहा हूँ।" [इसमें भी ऋग्वेदका उल्लेख पहले किया गया है।] मुण्डकोपनिषद् में भी 'ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद' कहकर ऋग्वेदको अग्रस्थान प्राप्त हुआ है। तापनीयोपनिषद्के अन्तर्गत मन्त्रराजपादोंमें क्रमशः अध्ययनका प्रतिपादन करते हुए लिखा है :—

"ऋक्, यजुः, साम तथा अथर्व ये चार साङ्ग तथा शाखासहित वेद ही चार पाद हैं" इस प्रकार ऋग्वेदके प्राथम्यके विषयमें समूचे वेद-वाङ्मयसे उदाहरण दिए जा सकते हैं। अतएव अन्योंकी तुलनामें ऋग्वेदकी श्रेष्ठता विवादसे परे है। इसलिए पहले उसीकी व्याख्या करना उचित है।

उपर्युक्त आक्षेपका उत्तर निम्नानुसार है। जहाँतक सभी वेदोंके अध्ययन तथा पारायण (कण्ठस्थ करनेकी क्रिया) के साथ ब्रह्मयज्ञ, जप आदिका प्रश्न है वहाँ ऋग्वेद सर्वप्रथम भले ही रहे; किन्तु अर्थका ज्ञान वास्तवमें यज्ञानुष्ठानके लिए है और यज्ञके अनुष्ठानमें यजुर्वेदको ही प्रधानता प्राप्त है। अतएव यजुर्वेदकी व्याख्या पहले करना यही समीचीन है। एक ऋचा भी यजुर्वेदकी प्रधानताको प्रश्रय देती है:—

युक्तम् । तत्प्राधान्यं च काचिदृगेवाह–' ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्करीषु । ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः ' (ऋसं १०·७१·११) इति । एतस्या ऋचस्तात्पर्यं निरुक्तकारो यास्कः संक्षिप्य दर्शयति–' इत्यृत्विक्कर्मणां विनियोगमाचष्टे ' इति । पुनरपि स एव प्रथमं पादं विवृणोति–' ऋचामेकः पोषमास्ते पुपुष्वान् होतर्गर्चनी ' (निरु १·८) इति । अस्यायमर्थः । त्वशब्द एकशब्दपर्यायो होतृविशेषणम् । होतृनामक एक ऋत्विक् यज्ञकाले स्वकीयवेदगतानामृचां पुष्टिं कुर्वन्नास्ते । भिन्नप्रदेशेष्वाम्नातानामृचां संघमेकत्र संपाद्यैतावदिदं शस्त्रमिति क्लृप्तिं करोति । सेयं पुष्टिः अर्चनीत्यमुमर्थमृक्शब्द आचष्टे । अर्च्यते प्रशस्यतेऽनया देवविशेषः क्रियाविशेषस्तत्साधनविशेषो वा इति ऋक्शब्दव्युत्पत्तिरिति । अथ द्वितीयं पादं विवृणोति–'गायत्रमेको गायति शक्करीषूद्गाता । गायत्रं गायतेः स्तुतिकर्मणः, शक्वर्य ऋचः शक्नोतेस्तद्यदाभिर्वृत्रमशकद्धन्तुं तच्छक्करीणां शक्करीत्वमिति विज्ञायते' इति । अस्यायमर्थः । उद्गातृनामकः एकः ऋत्विक् गायत्रशब्दाभिधेयं स्तोत्रं शक्करीशब्दाभिधेयासु ऋक्षु गायति । धातूनामनेकार्थत्वेन स्तुतिक्रियावाचिनो गायतिधातोरुत्पन्नोऽयं गायत्रशब्दः । शक्करीशब्दस्तु शक्नोतिधातोरुत्पन्नः । वृत्रं शत्रुं हन्तुं शक्नोत्याभिः ऋग्भिरित्येषा व्युत्पत्तिः कस्मिंश्चित्

" ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्करीषु ।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः ।। "

इस ऋचाके तात्पर्यको स्पष्ट करते हुए ' निरुक्त ' के रचयिता भगवान् यास्क कहते हैं, " यह ऋचा ऋत्विजके कार्यके विनियोगको स्पष्ट करती है। " इस ऋचाके पहले पादकी व्याख्या करते हुए यास्क फिर लिखते हैं :— " ऋचामेकः पोषमास्ते पुपुष्वान् होतर्गर्चनी । " यहाँ ' त्व ' शब्द ' एक ' शब्दका पर्यायवाची है, और वह होताका विशेषण है । यज्ञके समय होता नामक एक ऋत्विज् अपने वेदोंमें समाविष्ट ऋचाओंकी पुष्टि करता रहता है । विभिन्न स्थानोंपर पठित ऋचाओंके समूहको इकठ्ठा करके ' इतना शस्त्र है ', कहकर उनकी रचना करना पुष्टि कहलाता है । यहाँ ऋक् शब्द 'अर्चनी' इस अर्थको बतलाता है । व्युत्पत्तिके अनुसार ऋचा वह वस्तु है जिसकी सहायतासे विशिष्ट देवता, विशिष्ट कर्म अथवा कर्मसाधन को अर्चना याने स्तुति होती है ।

दूसरे पादकी विवेचना करते हुए यास्कऋषि लिखते हैं:— " गायत्रमेको गायति शक्करीषूद्गाता । गायत्रं गायतेः स्तुतिकर्मणः, शक्वर्य ऋचः शक्नोतेस्तद्यदाभिर्वृत्रमशकद्धन्तुं तच्छक्करीणां शक्करीत्वमिति विज्ञायते । " शक्करी नामसे प्रसिद्ध ऋचाओंमें उद्गाता नामका ऋत्विज ' गायत्र ' नामसे प्रसिद्ध स्तोत्र गाता है । धातुके कई अर्थ होनेके कारण स्तुति- क्रियाके वाचक ' गायति ' धातुसे ' गायत्र ' शब्द बना । किन्तु ' शक्करी ' शब्द ' शक्नोति ' धातुसे बना है । किसी एक ब्राह्मणद्वारा प्रदत्त व्युत्पत्तिके अनुसार शक्करी वे ऋचाएँ हैं जिनकी सहायतासे यजमान वृत्रका याने शत्रुका विध्वंस करनेमें समर्थ होता है।

तीसरे पादके विवरणमें यास्कने लिखाः—'ब्रह्मैको जाते जाते विद्यां वदति । ब्रह्मा सर्ववित्

ब्राह्मणे विज्ञायन इति । अथ तृतीयं पादं विवृणोति-'ब्रह्मैको जाते जाते विद्यां वदति । ब्रह्मा सर्वविद्यः सर्वं वेदितुमर्हति ' इति । अस्यायमर्थः – ब्रह्मनामकः एकः ऋत्विक् जाते जाते तदा तदोत्पन्ने यज्ञे प्रस्तुते प्रणयनादिकर्मणि विद्याम् अनुज्ञां वदति, 'ब्रह्मन्नपः प्रणेष्यामि ' इत्येवं संबोधितः सन् ' ॐ प्रणय ' इत्यनुजानाति । स च ब्रह्मा वेदत्रयोक्तसर्वकर्माभिज्ञः । तस्मात् योग्यतां दृष्ट्वा तत्तदनुज्ञातुं सति प्रमादे समाधातुं च समर्थः इति । तच्च सामर्थ्यं छन्दोगा आमनन्ति-' एष एव यज्ञस्तस्य मनश्च वाक् च वर्तनी तयोरन्यतरां मनसा संस्करोति ब्रह्मा वाचा होताध्वर्युरुद्गातान्यतराम् ' (छांउ ४·१६·१-२) इति । कृत्स्नो यज्ञः प्रमादराहित्याय मनसा सम्यगनुसंधेयो वाचा च वेदत्रयोक्तमन्त्राः पठनीयाः । तत्र होत्रादयस्त्रयो मिलित्वा वाग्रूपं यज्ञमार्गं संस्कुर्वन्ति । ब्रह्मा तु एक एव मनोरूपं यज्ञमार्गं कृत्स्नमपि संस्करोति । तस्मादस्यास्ति सामर्थ्यमिति । अथ चतुर्थं पादं विवृणोति- 'यज्ञस्य मात्रां विमिमीत एकोऽध्वर्युरध्वर्युरध्वरयुरध्वरं युनक्त्यध्वरस्य नेता ' इति । अस्यायमर्थः । अध्वर्युनामक एक ऋत्विक् यज्ञस्य मात्रां स्वरूपं विमिमीते विशेषेण निष्पादयति । मीयते निर्मीयते इति मात्रा स्वरूपम् । तन्निष्पादकत्वं च अध्वर्योर्नामनिर्वचनादवगम्यते । ' अध्वर्युः ' इत्यत्र छान्दस्या प्रक्रियया लुप्तम् अकारं पुनः प्रक्षिप्य ' अध्वरयुः ' इति नाम संपादनीयम् । अध्वरं युनक्तीत्यवयवार्थः । अध्वरस्य नेतेति तात्पर्यार्थ इति । एतदेवाभिप्रेत्य अध्वर्युवेदस्य यागनिष्पादकत्वद्योतकं निर्वचनं यास्को दर्शयति-' मन्त्रा

इति ।' समय समयपर उत्पन्न यज्ञमें प्रणयन आदि कर्मके अवसरपर ब्रह्मा नामका ऋत्विज विद्या याने अनुज्ञा देता है । जब अध्वर्यु ब्रह्मासे ' ब्रह्मन्नपः प्रणेष्यामि ' कहता है; तब ब्रह्मा ' ओम् प्रणय ' कहकर अनुज्ञा देता है । यह ब्रह्मा तीनों वेदोंमें कथित समूचे कर्मका ज्ञाता होता है । अत एव योग्यताको समझकर कर्मकी अनुज्ञा देने तथा भूल होनेपर सुधार करनेका अधिकार उसे रहता है । छान्दोग्य ब्राह्मणके ' एष एव यज्ञस्तस्य मनश्च वाक् च वर्तनी तयोरन्यतरां मनसा संस्करोति ब्रह्मा वाचा होताऽध्वर्युरुद्गाताऽन्यतराम् ' इस मन्त्रमें यही अधिकार विहित है । भूलोंसे बचनेके उद्देश्यसे मनमें समूचे यज्ञका सम्यक् अनुसंधान रखना पड़ता है और वाणीकी सहायतासे तीनों वेदोंमें विहित मन्त्रोंका उच्चारण करना भी आवश्यक होता है । इनमें होता उद्गाता तथा अध्वर्यु–तीनों वाणीका रूप धारण करनेवाले यज्ञमार्गका परिष्कार करते हैं । मनका रूप धारण करनेवाले यज्ञमार्गका संस्कार अकेले ब्रह्मा द्वारा ही संपन्न होता है । अत एव इसकी यह सामर्थ्य है ।

चौथे पादका विवरण करते हुए यास्कने लिखा:—' यज्ञस्य मात्रां विमिमीत एकोऽध्वर्युरध्वर्युरध्वरयुरध्वरं युनक्त्यध्वरस्य नेता ' इति । अध्वर्यु नामका ऋत्विज यज्ञकी मात्राका याने स्वरूपका विशेष रूपसे निर्माण करता है । व्युत्पत्तिके अनुसार मात्राकी व्याख्या है ' मीयते निर्मीयते इति ' । अत एव मात्राका अर्थ है ' स्वरूप ' । 'अध्वर्यु' शब्दके निर्वचनसे स्पष्ट है कि यज्ञकी निष्पत्ति उसीपर निर्भर है । 'अध्वर्यु ' शब्दमें छान्दस प्रक्रियाके आधारपर लुप्त ' अ 'कारको जोड़नेसे ' अध्वर्युः ' यह नाम सिद्ध होता है । अवयवके अनुसार उसका अर्थ है–अध्वरं युनक्ति–वह जो अध्वरको संयुक्त करता है, मतलब, यज्ञका नेता । इस अभिप्रायसे यास्कने 'मन्त्रा मननाच्छन्दांसि छादनात् स्तोमः स्तवनाद्यजुर्यजतेः इति' में अध्वर्युके

मननाच्छन्दांसि छादनात् स्तोमः स्तवनाद्यजुर्यजतेः' (नि ७.१२) इति। एवं सति अध्वर्युसंबन्धिनि यजुर्वेदे निष्पन्नं यज्ञशरीरमुपजीव्य तदपेक्षितौ स्तोत्रशस्त्ररूपावयवौ इतरेण वेदद्वयेन पूर्येते इत्युपजीव्यस्य यजुर्वेदस्य प्रथमतो व्याख्यानं युक्तम्। तत ऊर्ध्वं साम्नामृगाश्रितत्वादुभयोर्मध्ये प्रथमत ऋग्व्याख्यानं युक्तमिति ऋग्वेद इदानीं व्याख्यायते॥

२. वेदास्तित्वविचारः।

ननु वेद एव तावन्नास्ति कुतस्तदवान्तरविशेष ऋग्वेदः। तथा हि। कोऽयं वेदो नाम। न हि तत्र लक्षणं प्रमाणं वास्ति। न च तदुभयव्यतिरेकेण किंचिद्वस्तु प्रसिध्यति। 'लक्षणप्रमाणाभ्यां हि वस्तुसिद्धिः' इति न्यायविदां मतम्॥ प्रत्यक्षानुमानागमेषु प्रमाणविशेषेषु अन्तिमो वेद इति तल्लक्षणमिति चेत्। न। मन्वादिस्मृतिष्वतिव्याप्तेः। समयबलेन 'सम्यक्परोक्षानुभवसाधनम्' इत्येतस्यागमलक्षणस्य तास्वपि सद्भावात्। 'अपौरुषेयत्वे सति' इति विशेषणात् अदोष इति चेत्। न। वेदस्यापि परमेश्वरनिर्मितत्वेन

वेदकी यागनिष्पत्तिसूचक निरुक्ति बतलाई है। इस तरह अध्वर्युसे संबद्ध यजुर्वेदमें निष्पन्न यज्ञशरीरपर निर्भर रहनेवाले उसके स्तोत्र-शस्त्ररूपी अवयवोंकी पूर्ति अन्य दो वेदोंकी सहायतासे होती है। अतः पहले आधारभूत यजुर्वेदकी व्याख्या करना यही उचित है। इसके उपरान्त सामोंके ऋचाओंपर ही आधारित होनेके कारण इन दोनोंमेंसे पहले ऋग्वेदकी व्याख्या करना योग्य है। इसलिए अब ऋग्वेदकी व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है।

२. वेदके अस्तित्वका विचार.

पूर्वपक्षीः—किन्तु वेदका अस्तित्व है कहाँ? फिर उसके भेदको-ऋग्वेदको-कैसे मान लें। आखिर वेद क्या है? इसकी सत्ताके लिए न कोई लक्षण विद्यमान है; न कोई प्रमाण। बिना इन दोनोंके कोई भी वस्तु सिद्ध नहीं होती। न्यायकोविदोंका कहना है कि लक्षण एवं प्रमाण के आधार पर ही किसी वस्तुको सिद्ध किया जा सकता है।

सिद्धान्तीः—प्रमाण क्यों नहीं? प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम ये चार प्रमाण माने गए हैं, इनमें आगम याने वेद अन्तिम प्रमाणके रूपमें स्वीकृत ही है। यही इसका लक्षण है।

पूर्वपक्षीः—यह अनुचित है, क्योंकि इसे माननेसे यह लक्षण या परिभाषा मनुस्मृति आदि स्मृतियोंपर भी लागू होती है। इससे अतिव्याप्तिका दोष पैदा होता है। स्वीकृत सिद्धान्तके अनुसार सम्यक् परोक्ष या अतीन्द्रिय अनुभूतिका साधन यही अगर आगमका लक्षण हो तो वह मनुस्मृति जैसे ग्रन्थोंपर भी लागू होता है।

सिद्धान्तीः—आपके द्वारा बताए गए लक्षणमें 'अपौरुषेयत्वे सति' [याने अपौरुषेयत्वसे युक्त] इन शब्दोंको जोड़नेसे लक्षणकी अतिव्याप्तिका दोष नष्ट होता है। मनुस्मृति आदि ग्रन्थ 'अपौरुषेय' नहीं हैं। 'पौरुषेय' का अर्थ है पुरुषों याने मनुष्यों द्वारा निर्मित या प्रणीत। 'अपौरुषेय' का अर्थ होता है 'मनुष्यों द्वारा अप्रणीत'।

पौरुषेयत्वात् । शरीरधारिपुरुषनिर्मितत्वाभावादपौरुषेयत्वमिति चेत् । न । ' सहस्रशीर्षा पुरुषः ' (ऋसं १०.९०.१) इत्यादिश्रुतिभिरीश्वरस्यापि शरीरित्वात् । कर्मफलरूपशरीरधारिजीवनिर्मितत्वाभावमात्रेण अपौरुषेयत्वं विवक्षितमिति चेत् । न । जीवविशेषैरग्निवाय्वादित्यैर्वेदानामुत्पादितत्वात् । ' ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात् ' (ऐब्रा ५.३२) इति श्रुतेः ईश्वरस्य अग्न्यादिप्रेरकत्वेन निर्मातृत्वं द्रष्टव्यम् । मन्त्रब्राह्मणात्मकः शब्दराशिर्वेद इति चेत् । न । ईदृशो मन्त्रः ईदृशं ब्राह्मणम् इत्यनयोरद्याप्यनिर्णीतत्वात् । तस्मान्नास्ति किंचित् वेदस्य लक्षणम् ॥ नापि तत्सद्भावे प्रमाणं पश्यामः । ' ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थम् ' (छांउ ७.१.२) इत्यादिवाक्यं प्रमाणमिति चेत् । न । तस्यापि वाक्यस्य वेदान्तःपातित्वेन आत्माश्रयत्वप्रसङ्गात् । न खलु निपुणोऽपि स्वस्कन्धमारोढुं प्रभवति ।

पूर्वपक्षीः—यह समर्थन भी योग्य नहीं है । परमात्मा द्वारा प्रणीत होनेके कारण वेद भी पौरुषेय है ।

सिद्धान्तीः—किन्तु वेद तनुधारी (जीवरूपी) पुरुषके द्वारा कहाँ प्रणीत हुआ है ? इसीसे वह अपौरुषेय कहा जाता है ।

पूर्वपक्षीः—यह भी असंगत है । ' सहस्रशीर्षा पुरुषः ' आदि श्रुतियोंमें ईश्वरके भी तनुधारी होने का उल्लेख है ।

सिद्धान्तीः—' अपौरुषेय'से हमारा सिर्फ़ यही अभिप्राय है कि ' उस जीवद्वारा अनिर्मित जो कर्मोंके फलके रूपमें निर्मित शरीरको धारण करता है ' ।

पूर्वपक्षीः—यह भी युक्तियुक्त नहीं है । वेदोंको उत्पन्न करनेवाले अग्नि, वायु तथा आदित्य विशिष्ट जीव हैं । ' ऋग्वेद अग्निसे, यजुर्वेद वायुसे और सामवेद आदित्यसे उत्पन्न हुआ है ' इस श्रुतिके आधारपर मानना चाहिये कि ईश्वरने अग्नि आदि देवोंको प्रेरणा देकर वेदोंका निर्माण किया ।

सिद्धान्तीः—हमारे मतानुसार 'मन्त्रों एवं ब्राह्मणों से बनी हुई शब्दराशि' यही वेदका लक्षण है ।

पूर्वपक्षीः—यह कहना अनुचित है, क्योंकि ' मन्त्र इस प्रकार है, ब्राह्मण इस तरहका होता है ' यह (स्वरूप) अबतक निर्धारित नहीं हुआ ' अतएव वेदोंकी कोई परिभाषा नहीं की जा सकती । साथ साथ उनके (मन्त्र एवं ब्राह्मण के) अस्तित्वके लिए कोई प्रमाण भी नहीं पाया जाता ।

सिद्धान्तीः—" हे भगवन्, मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेद तथा चतुर्थ अथर्ववेद का अध्ययन करता हूँ । " जैसे वाक्य ही वेदोंके अस्तित्वका प्रमाण है ।

पूर्वपक्षीः—यह नहीं माना जा सकता, क्योंकि उक्त वाक्य भी वेदोंमें ही पाए जाते हैं । अतएव इससे ' आत्माश्रय ' का दोष लगता है । कोई कितना भी चतुर क्यों न हो, अपने ही कंधोंपर सवार नहीं हो सकता ।

'वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयसकरः परः' (याज्ञस्मृ १·४०) इत्यादिस्मृतिवाक्यं प्रमाणमिति चेत् । न । तस्याप्युक्तश्रुतिमूलत्वेन निराकृतत्वात् । प्रत्यक्षादिकं तु शङ्कितुमप्ययोग्यम् । वेदविषया तु लोकप्रसिद्धिः सार्वजनीनापि 'नीलं नभः' इत्यादिवत् भ्रान्ता । तस्मात् लक्षणप्रमाणरहितस्य वेदस्य सद्भावो नाङ्गीकर्तुं शक्यते इति पूर्वः पक्षः ॥

अत्रोच्यते—मन्त्रब्राह्मणात्मकत्वं तावददुष्टं लक्षणम् । अत एव आपस्तम्बो यज्ञपरिभाषायामेवमाह—'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' (आप परि १·३३) इति । तयोस्तु स्वरूपमुपरिष्टान्निर्णेष्यते । अपौरुषेयवाक्यत्वमितीदमपि यादृशमस्माभिर्विवक्षितं तादृशमुत्तरत्र स्पष्टीभविष्यति । प्रमाणान्यपि यथोक्तश्रुतिस्मृतिलोकप्रसिद्धिरूपाणि वेदसद्भावे द्रष्टव्यानि । यथा घटपटादिद्रव्याणां स्वप्रकाशकत्वाभावेऽपि सूर्यचन्द्रादीनां स्वप्रकाशकत्वमविरुद्धं, तथा मनुष्यादीनां स्वस्कन्धारोहासंभवेऽपि अकुण्ठितशक्तेर्वेदस्य इतरवस्तुप्रतिपादकत्ववत् स्वप्रतिपादकत्वमप्यस्तु । अत एव संप्रदायविदः अकुण्ठितां शक्तिं वेदस्य दर्शयन्ति—'चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवंजातीयकमर्थं शक्नोत्यवगमयितुम्' (शाब भा. १·१·२) इति । तथा सति वेदमूलायाः

सिद्धान्ती:—"द्विजातियों (ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्यों) के लिए वेद ही सर्वोपरि कल्याणकारक है।" आदि स्मृतिप्रणीत वाक्य वेदोंके अस्तित्वका प्रमाण हैं।

पूर्वपक्षी:—यह भी ग़लत है। इन स्मृतिवाक्योंका आधार भी उपर्युक्त श्रुति ही है। अतएव इसका अलग खण्डन करनेकी आवश्यकता नहीं है। प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणोंकी तो इस विषयमें कल्पना भी नहीं की जा सकती। यह सच है कि लोगोंमें वेदोंका अस्तित्व प्रसिद्ध है, किन्तु यह उतना ही भ्रमपूर्ण विधान है जितना कि "आकाश नीले रंगका है।" अतएव स्पष्ट है कि लक्षण के साथ साथ प्रमाणोंके अभावकी वजहसे वेदोंके अस्तित्वका स्वीकार नहीं किया जा सकता।

इस संबन्धमें उत्तर निम्नानुसार है:— मन्त्रब्राह्मणात्मक शब्दराशि ही वेद है वह परिभाषा निर्दोष है। इसी लिए सूत्रकार महर्षि आपस्तम्बने यज्ञपरिभाषामें 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' कहा है। मन्त्रों एवं ब्राह्मणों के स्वरूपको बादमें निर्धारित किया जायगा। जिस अर्थमें हम वेदोंको अपौरुषेय कहते हैं वह अर्थ भी आगे चलकर स्पष्ट किया जायगा। वेदोंके अस्तित्वके विषयमें श्रुति, स्मृति तथा लोकप्रसिद्धि ये प्रमाण भी उपस्थित हैं। जिस तरह घट, पट आदि द्रव्योंके स्वयं प्रकाशित न होते हुए भी सूर्य चन्द्र आदिके स्वयंप्रकाशित होनेमें कोई बाधा उपस्थित नहीं होती, उसी तरह (सीमित शक्ति रखनेवाले) मानव-जैसे प्राणी भले ही अपने कंधोंपर खड़े न हो सकते हों, फिर भी अप्रतिहत शक्ति रखनेवाले वेदोंको अन्य वस्तुओंको प्रकाशित करनेकी सामर्थ्यके साथ साथ अपने स्वरूपपर प्रकाश डालनेकी शक्तिसे समन्वित माननेमें कोई हर्ज नहीं है। अतएव संप्रदायके ज्ञाता वेदोंकी अकुण्ठित शक्तिकी महिमाका स्वीकार करते हुए बतलाते हैं, "चोदना [यानें वेदोंका आज्ञाकारी वाक्य] अतीत, वर्तमान एवं भविष्यसे संबद्ध अथवा सूक्ष्म, व्यवहित तथा

स्मृतेस्तदुभयमूलाया लोकप्रसिद्धेश्च प्रामाण्यं दुर्वारम्। तस्मात् लक्षणप्रमाणसिद्धो वेदो न केनापि चार्वाकादिना अपोढुं शक्यते इति स्थितम् ॥

३. वेदप्रामाण्ये मन्त्रप्रामाण्यम्।

नन्वस्तु नाम वेदाख्यः कश्चित् पदार्थः। तथापि नासौ व्याख्यानमर्हति। अप्रमाणत्वेनानुपयुक्तत्वात्। न हि वेदः प्रमाणम्। तल्लक्षणस्य तत्र दुःसंपादत्वात्। तथा हि 'सम्यगनुभवसाधनं प्रमाणम्' इति केचिल्लक्षणमाहुः। अपरे तु 'अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम्' इत्याचक्षते। न चैतदुभयं वेदे संभवति। मन्त्रब्राह्मणात्मको हि वेदः। तत्र मन्त्राः केचिदबोधकाः। 'अम्यक्सा त इन्द्र ऋष्टिः' (ऋसं १·१६९·३) इत्येको मन्त्रः। 'यादृश्मिन्धायि तमपस्यया विदत्' (ऋसं ५·४४·८) इत्यन्यः। 'सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू' (ऋसं १०·१०६·६) इत्यपरः। एवम् 'आपान्तमन्युस्तृपलप्रभर्मा' (ऋसं १०·८९·५) इत्यादय उदाहार्याः। न ह्येतैर्मन्त्रैः कश्चिदप्यर्थोऽवबुध्यते। एतेष्वनुभव एव यदा नास्ति तदा तत्सम्यक्त्वं तदीयसाधनत्वं च दूरापेतम्। 'अधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त्' (ऋसं १०·१२९·५) इति मन्त्रस्य बोधकत्वेऽपि 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इत्यादिवाक्यवत् संदिग्धार्थबोधकत्वान्नास्ति प्रामाण्यम्। 'ओषधे त्रायस्वैनम्' (तैसं

दूरस्थित, सभी वस्तुओंका ज्ञान करानेमें समर्थ है।" ऐसी दशामें वेदमूल स्मृति तथा दोनों पर आधारित लोकप्रसिद्धिकी प्रामाणिकताको मानना अनिवार्य है। अतएव लक्षण तथा प्रमाण के आधारपर वेदोंका अस्तित्व सिद्ध है और किसी भी चार्वाक जैसे विवादी व्यक्तिके कहनेसे उसका लोप नहीं किया जा सकता।

३. वेदप्रामाण्यमें मन्त्रोंका प्रामाण्य.

पूर्वपक्षीः—खैर! वेद अस्तित्वमें भले ही हों किन्तु प्रामाणिकताके अभावमें अनुपयोगी होनेके कारण उन्हें विशद करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। वेदोंके विषयमें प्रमाणके लक्षणका पाया जाना कठिन है। अतएव उसको प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। प्रमाणकी परिभाषा करते हुए कुछ लोगोंने उसे सम्यक् अनुभूतिका साधन कहा, तो कोई उसे अज्ञात अर्थकी अभिव्यक्तिका साधन मानते हैं। वेदोंके विषयमें ये दोनों असंभव हैं। मन्त्रों एवं ब्राह्मणों का समूह ही अन्ततोगत्वा वेद है। अब कुछ मन्त्र किसी भी तरहका बोध करानेमें असमर्थ हैं 'अम्यक्सा त इन्द्र ऋष्टिः' एक मन्त्र है, दूसरा है 'यादृश्मिन्न् धायि तमपस्यया विदत्'। तीसरा है 'सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू'। इसी तरह 'आपान्तमन्युस्तृपलप्रभर्मा' जैसे अन्य कई मन्त्रोंको उद्धृत किया जा सकता है। उन्हें पढ़कर किसी भी अर्थका बोध नहीं होता; किसी भी तरहके उत्कर्ष या उसके साधन बननेकी बात तो कोसों दूर रही। 'अधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त्' जैसे मन्त्र कुछ अर्थका बोध कराते हैं अवश्य; किन्तु वह अर्थ "यह स्तम्भ है अथवा पुरुष" की तरह अनिश्चित या सन्देहयुक्त है; अतएव इन मन्त्रोंको प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। 'ओषधे त्रायस्वैनम्' यह मन्त्र दर्भसे,

१·२·१·१) इति मन्त्रो दर्भविषयः। 'स्वधिते मैनं हिंसीः' (तैसं १·२·१·१) इति क्षुरविषयः। 'शृणोत ग्रावाणः' (तैसं १·३·१३·१) इति पाषाणविषयः। एतेष्वचेतनानां दर्भक्षुरपाषाणानां चेतनवत् संबोधनं श्रूयते। ततो 'द्वौ चन्द्रमसौ' इति वाक्यवद्विपरीतार्थबोधकत्वादप्रामाण्यम्। 'एक एव रुद्रो न द्वितीयाय तस्थे' (तैसं १·८·६·१), 'सहस्राणि सहस्रशो ये रुद्रा अधि भूम्याम्' (तैसं ४·५·११·१) इत्यनयोस्तु मन्त्रयोः 'यावज्जीवमहं मौनी' इति वाक्यवत् व्याघातबोधकत्वादप्रामाण्यम्। 'आप उन्दन्तु' (तैसं १·२·१·१) इति मन्त्रो यजमानस्य क्षौरकाले जलेन शिरसः क्लेदनं ब्रूते। 'शुभिके शिर आरोह शोभयन्ती मुखं मम' इति मन्त्रो विवाहकाले मङ्गलाचरणार्थं पुष्पनिर्मितायाः शुभिकाया वरवध्वोः शिरस्यवस्थानं ब्रूते। तयोश्च मन्त्रयोर्लोकप्रसिद्धार्थानुवादित्वात् अनधिगतार्थगन्तृत्वं नास्ति। तस्मात् मन्त्रभागो न प्रमाणम्॥

अत्रोच्यते—अम्यगादिमन्त्राणामर्थो यास्केन निरुक्तग्रन्थेऽवबोधितः। तत्परिचयरहितानामनवबोधो न मन्त्राणां दोषमावहति। अत एवात्र लोकन्यायमुदाहरन्ति-'नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति पुरुषापराधः स भवति' (नि १·१६) इति। 'अधः स्विदासीत्' इति मन्त्रश्च न सन्देहप्रबोधनाय प्रवृत्तः। किं तर्हि ? जगत्कारणस्य

'स्वधिते मैनं हिंसीः' क्षुरसे, और 'शृणोत ग्रावाणः' पाषाणसे संबद्ध है। इनमें अचेतन वस्तुओंपर चेतनोंका आरोप करके उनसे कुछ कहा गया है। अतः 'चन्द्रमा दो हैं' जैसे वाक्यकी तरह ये मन्त्र भी विपरीत अर्थके वाचक हैं। अतएव इन्हें प्रमाणके तौरपर अपनाया नहीं जा सकता। और दो मन्त्रोंको लीजिए। 'एक एव रुद्रो न द्वितीयाय तस्थे' और 'सहस्राणि सहस्रशो ये रुद्रा अधि भूम्याम्'। अब ये मन्त्र 'यावज्जीवमहं मौनी' जैसे वाक्योंकी तरह विरुद्ध अर्थके वाचक होनेके कारण प्रामाणिक नहीं माने जा सकते। यह सही है कि 'आप उन्दन्तु' यह मन्त्र क्षौरके अवसरपर यजमानके सिरपर पानी छिड़कनेसे संबद्ध है और 'शुभिके शिर आरोह शोभयन्ती मुखं मम' यह मन्त्र विवाहके अवसरपर वधू एवं वर के सिरोंपर पुष्पनिर्मित सेहरा लगानेकी बात उठाता है। किन्तु ये मन्त्र लोगोंकी जानी-पहचानी एवं सुविदित बातोंका अनुवाद करनेवाले हैं; अज्ञात वस्तुओंका ज्ञान करानेवाले नहीं। अतएव वेदोंमें समाविष्ट मन्त्ररूपी अंशको प्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

इस आक्षेपका उत्तर निम्नानुसार है:—'अम्यक्सा त इन्द्र ऋष्टिः' जैसे मन्त्रोंके अर्थको यास्क मुनि अपने 'निरुक्त'में स्पष्ट कर चुके हैं। अब निरुक्तसे परिचय न रखनेवाले व्यक्ति उन्हें समझ न पाएं, तो इससे मन्त्रोंको दोषयुक्त नहीं कहा जा सकता। इस विषयमें तो 'नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति' याने 'अन्धा आदमी यदि खम्बेको देख न पाए तो इसमें खम्बेका क्या दोष ?' वाली कहावत चरितार्थ है। 'अधःस्विदासीत्' यह मन्त्र तो पूरे संसारके कारणरूपी परमात्माकी अतीव गहराईको प्रदर्शित करनेके लिए प्रवृत्त हुआ है; लोगोंके मनमें सन्देहका निर्माण करनेके लिए नहीं। इसीलिए उपर्युक्त मन्त्रद्वारा ज़रा अलग

परवस्तुनोऽतिगम्भीरत्वं निश्चेतुमेव प्रवृत्तः। तदर्थमेव हि गुरुशास्त्रसंप्रदायरहितैर्दुर्बोधत्वम् 'अधः स्वित्' इत्यनया वचोभङ्ग्योपन्यस्यति। स एवाभिप्राय उपरितनेषु 'को अद्धा वेद' (ऋसं १०·१२९·६) इत्यादिमन्त्रेषु स्पष्टीकृतः। ओषध्यादिमन्त्रेष्वपि चेतना एव तत्तदभिमानिदेवताः तेन तेन नाम्ना संबोध्यन्ते। ताश्च देवता भगवता बादरायणेन 'अभिमानिव्यपदेशस्तु' (ब्रसू २·१·५) इति सूत्रे सूत्रिताः। एकस्यापि रुद्रस्य स्वमहिम्ना सहस्रमूर्तिस्वीकारान्नास्ति परस्परव्याघातः। जलादिद्रव्येण शिरःक्लेदनादेर्लोकप्रसिद्धत्वेऽपि तदभिमानिदेवतानुग्रहस्याप्रसिद्धत्वात् तद्विषयत्वेनाज्ञातार्थज्ञापकत्वम्। ततो लक्षणसद्भावादस्ति मन्त्रभागस्य प्रामाण्यम्॥

एतदेवाभिप्रेत्य भगवान् जैमिनिः मन्त्राधिकरणे मन्त्राणां विवक्षितार्थत्वमसूत्रयत् (जैसू १·२·३१-४१)। तानि च सूत्राणि क्रमेणोदाहृत्य व्याख्यास्यामः। तत्र पूर्वपक्षं सूत्रयति—'तदर्थशास्त्रात्' इति। यस्यार्थस्याभिधाने समर्थो मन्त्रः स एवाभिधेयो यस्य शास्त्रस्य ब्राह्मणवाक्यस्य तदिदं वाक्यं तदर्थशास्त्रम्। तस्मात् शास्त्रादविवक्षितार्थो मन्त्रः इत्यवगम्यते। तथा हि 'उरु प्रथस्व' (तैसं १·१·८; वासं १·२२) इति मन्त्रेण पुरोडाशप्रथनमभिधीयते। 'पुरोडाशं प्रथयति' (तैब्रा ३·२·८·४; शब्रा १·२·२·८) इति ब्राह्मणेनापि तदेवाभिधीयते। तथा सति मन्त्रेणैव प्रतीतत्वात् तदर्थबोधनाय

ढंगसे यह प्रतिपादित किया गया है कि ऊपर वर्णित परमात्माके ज्ञानको प्राप्त करना उन व्यक्तियोंके लिए बड़ा ही दूभर है जो गुरुपरंपरा तथा शास्त्रसंप्रदाय से पूर्णतया विहीन हों। 'को अद्धा वेद' जैसे बादमें आनेवाले मन्त्र भी इसी मन्तव्यको स्पष्ट करते हैं। 'ओषधे त्रायस्व°' आदि मन्त्रोंमें दर्भादिके अभिमानी देवता विभिन्न चेतनायुक्त नामोंसे निर्दिष्ट किए गए हैं और भगवान् बादरायणने अपने 'अभिमानिव्यपदेशस्तु°' इस सूत्रमें इन्हींका उल्लेख किया है। एक होते हुए भी अपनी महिमाद्वारा रुद्र हजारों रूपोंको धारण करते हैं और इससे स्पष्ट है कि 'एक एव रुद्रः' और 'सहस्रशो ये रुद्राः अधि भूम्याम्' में कोई विरोध पैदा नहीं होता। उदक आदि द्रव्योंद्वारा सिरको सराबोर करना यद्यपि प्रसिद्ध है, फिर भी इन पदार्थों या द्रव्यों के देवताओंका अनुग्रह विदित नहीं हैं और इस अर्थमें वह मन्त्र भी अज्ञात अर्थका परिचायक माना जाता है। अतएव लक्षणके अस्तित्वकी वजहसे मन्त्ररूपी अंशको प्रामाणिक मानना होगा।

इसी आशयसे भगवान् जैमिनिने मन्त्राधिकरणमें मन्त्रोंके अर्थ विवक्षित हैं इसे सूत्रों द्वारा प्रतिपादित किया है। जैमिनिद्वारा प्रणीत सूत्रोंकी क्रमशः व्याख्या निम्नानुसार है:—

'तदर्थशास्त्रात्' द्वारा जैमिनिने पूर्वपक्षको सूचित किया। शास्त्रका अर्थ है ब्राह्मणोंका वाक्य। मन्त्र जिस अर्थको स्पष्ट करनेकी शक्ति रखता है वही अर्थ ब्राह्मणवाक्यरूपी शास्त्रका प्रतिपाद्य विषय है। यही ब्राह्मणवाक्य 'तदर्थशास्त्र' कहलाता है। इस शास्त्रके याने अर्थका बोध करानेवाले ब्राह्मणवाक्यके आधारपर यह सिद्ध होता कि मन्त्रोंमें कोई अर्थ विवक्षित नहीं होता। उदाहरणके तौरपर:—'उरु प्रथस्व' पुरोडाशका प्रथन कहनेवाला मन्त्र है। 'पुरोडाशं प्रथयति' इस ब्राह्मणने भी इसीका विधान किया है। मन्त्रके द्वारा ही

प्रवृत्तं ब्राह्मणमनर्थकं स्यात्। मन्त्रस्याविवक्षितार्थत्वे तु विनियोगबोधनाय ब्राह्मणमुपयुक्तम्। तस्मात् मन्त्रा उच्चारणेनैवानुष्ठाने उपकुर्वन्ति॥ ननु उच्चारणार्थत्वे सति अदृष्टं प्रयोजनं परिकल्प्येत। अर्थाभिधायकत्वे तु दृष्टं लभ्यते। तस्मात् ब्राह्मणस्यानुवादकत्वमभ्युपेत्यापि मन्त्रस्याभिधानार्थत्वमेव इत्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति— 'वाक्यनियमात्' इति। 'अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्' (ऋसं ८·४४·१६) इत्येवमेव वाक्यं पठितव्यमिति मन्त्रे नियम उपलभ्यते। अर्थप्रत्यायनं तु मूर्धाग्निरित्येवं व्युत्क्रमपाठेऽपि भवत्येव। तस्मात् नियतपाठक्रमसाफल्याय उच्चारणमेव मन्त्रप्रयोजनम्॥ ननु पाठक्रमनियममात्रस्य अदृष्टार्थत्वेऽपि मन्त्रपाठोऽर्थबोधार्थ एव इत्याशङ्क्य तत्र दोषान्तरं सूत्रयति—'बुद्धशास्त्रात्' इति। 'अग्नीदग्नीन्विहर' (तैसं ६·३·१·२) इति प्रैषमन्त्रः प्रयोगकाले पठ्यते। तच्च अग्निविहरणादिकम् आग्नीध्रेण अध्ययनकाले एव स्वकर्तव्यत्वेन बुद्धम्। तस्य च बुद्धस्यार्थस्य पुनर्मन्त्रोच्चारणेन शासनमनर्थकम्। न हि सोपानत्के पादे पुनरप्युपानहं प्रतिमुञ्चति॥ ननु बुद्धस्याप्यर्थस्य प्रामादिकविस्मरणपरिहाराय मन्त्रेण स्मारणमस्तु इत्याशङ्क्य दोषान्तरं सूत्रयति— 'अविद्यमानवचनात्' इति। 'चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य' (ऋसं ४·५८·३)

उपर्युक्त अर्थके याने पुरोडाश-प्रथनके प्रतीत होनेके कारण उसी अर्थकी अभिव्यक्ति करनेवाला ब्राह्मणवाक्य व्यर्थ सिद्ध होता है। यदि यह मान लें कि मन्त्रमें कोई अर्थ विवक्षित नहीं होता, तो उपर्युक्त ब्राह्मणवाक्य विनियोगका बोध करानेके लिए निःसन्देह उपयोगी सिद्ध होगा। अतएव उच्चारणके ही कारण मन्त्र अनुष्ठानके लिए सहायक होते हैं॥ किन्तु उच्चारणको ही मन्त्रोंका उद्देश्य माननेसे उनके अदृश्य फलकी कल्पना करनी पड़ेगी। उन्हें यदि अर्थबोधक ही मान लें, तो दृश्य फलका ही लाभ होगा। अतः ब्राह्मणको हम भले ही अनुवाद करनेवाली वस्तु मानें तो मन्त्रोंकी अर्थबोधकता जरूर सिद्ध होगी। इस आक्षेपको उठाकर 'वाक्यनियमात्'में इसका उत्तर दिया गया है। 'अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्' इस वाक्यके उच्चारणका नियम मन्त्रोंमें पाया जाता है सही; किन्तु अर्थकी प्रतीति 'अग्निर्मूर्धा'के बदले 'मूर्धाऽग्निः' जैसे उलटे ढंगसे ही होती है। अतएव निर्धारित पाठक्रमकी सफलताके लिए उच्चारण करना यही मन्त्रोंका उद्देश्य है॥ यहाँ पाठक्रमके निर्धारणका फल अदृश्य भले ही हो; फिर भी मन्त्रोंका पाठ तो अर्थका बोध करानेके लिए ही होगा, इस सन्देहको प्रकट करके 'बुद्धशास्त्रात्' में दूसरे दोषको सूचित किया गया है। अनुष्ठानके अवसरपर 'अग्नीदग्नीन् विहर' इस प्रैष मन्त्रका पठन विहित है। अब अग्निविहरण आदि कर्म करना अपना कर्तव्य है यह बात आग्नीध्रकी समझमें पहले ही आती है। अतः इस ज्ञात वस्तुके विषयमें मन्त्रोच्चारणके द्वारा पुनः आदेश देना व्यर्थ है। आदमीके पैरोंमें जूते रहते हुए भी उसे फिर जूते पहननेको कोई नहीं कहता॥ यहाँ इस तरह कहा जायगा कि वस्तुके ज्ञात होते हुए भी गलतीसे उसे भूलना संभव है; और यह मन्त्र इसी भूलका परिहार करनेके उद्देश्यसे उसकी याद दिलानेका उचित कार्य करता है। इसके उत्तरमें 'अविद्यमानवचनात्' कहकर और एक दोष बतलाया गया। 'चत्वारि शृङ्गास्त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य' [इसके चार सींग, तीन चरण, दो मस्तक तथा सात

इति मन्त्र आम्नायते। न खलु चतुःशृङ्गत्वाद्युपेतं किंचित् यज्ञसाधनं विद्यते यन्मन्त्रपाठेनानुस्मर्येत॥ ननु ईदृशी काचिद्देवता स्यात् इत्याशङ्क्य अन्यं दोषं सूत्रयति—'अचेतनेऽर्थबन्धनात्' इति। 'ओषधे त्रायस्वैनम्' 'शृणोत ग्रावाणः' इत्यादौ अचेतने द्रव्ये चेतनोचितरक्षणश्रवणाद्यर्थं बध्नाति। स चायुक्तः। ननु 'अभिमानिव्यपदेश' इति वैयासिकशास्त्रे सूत्रितत्वात् ओषध्याद्यभिमानिचेतनदेवतात्र विवक्ष्यतामित्याशङ्क्य दोषान्तरं सूत्रयति---'अर्थविप्रतिषेधात्' इति। 'अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्' (ऋसं १·८९·१०) इति मन्त्र आम्नायते। यदेव द्यौस्तदेवान्तरिक्षमित्ययमर्थो विप्रतिषिद्धः। एवम् 'एक एव रुद्रः' (तैसं १·८·६·१), 'सहस्राणि सहस्रशो ये रुद्राः' (तैसं ४·५·११·१) इत्यादिकमप्युदाहर्तव्यम्॥ ननु 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' इत्यादिवत् अन्तरिक्षादिरूपत्वेन अदितिः स्तूयते। एवमेकस्यापि रुद्रस्य योगसामर्थ्यात् बहुमूर्तिस्वीकारोऽस्तु ततो नार्थविप्रतिषेधः इत्याशङ्क्य दोषान्तरं सूत्रयति—'स्वाध्यायवदवचनात्' इति। पूर्णिका नाम काचित् योषित् अवघातं करोति। तत्समीपे माणवकः स्वाध्यायग्रहणार्थं कदाचित् अवघातमन्त्रमधीते। न च तस्यार्थप्रकाशनविवक्षाऽस्ति, प्रतिमुसलप्रहारं तस्य मन्त्रस्यापठ्यमानत्वात्। अक्षरग्रहणायैव

हाथ हैं] यह एक मन्त्र है। अब यज्ञका ऐसा कोई साधन नहीं पाया जाता, जिसके विषयमें चार सींगों, तीन चरणों, दो मस्तकों और सात हाथों का उपर्युक्त कथन सत्य हो और मन्त्रके पठनसे जिसकी याद उचित रूपसे आ सके॥ यदि यह कहा जाय कि 'इस प्रकारके देवताका अस्तित्व संभव है' तो 'अचेतनेऽर्थबन्धनात्' में और एक दोष सूचित किया गया है। 'ओषधे त्रायस्वैनम्', 'शृणोत ग्रावाणः' आदि मन्त्रोंमें अचेतन वस्तुओंपर रक्षण, श्रवण आदि चेतनोचित क्रियाओंका आरोप किया गया है। यह अनुचित है। किन्तु भगवान् व्यास द्वारा प्रणीत शास्त्रके 'अभिमानिव्यपदेशस्तु' इस सूत्रके अनुसार ऊपर निर्दिष्ट मन्त्रोंमें ओषधि आदिके चेतन देवतासे संबद्ध अर्थका प्रतिपादन हुआ है यह कहकर यदि उपर्युक्त आक्षेपका परिहार किया जाय, तो 'अर्थविप्रतिषेधात्' से और एक दोष दृष्टिगोचर होता है। 'अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्' में धुलोकको ही अन्तरिक्ष-लोक कहा गया है; जो पूर्णतया असंगत है। 'एक एव रुद्रः', 'सहस्रशो ये रुद्राः' जैसे विरुद्ध अर्थका विधान करनेवाले अन्य कई मन्त्रोंकी ओर संकेत किया जा सकता है॥ इसके उत्तरमें यह कहना संभव है कि उपर्युक्त मन्त्रमें 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' आदि की तरह अन्तरिक्ष आदि रूपोंमें अदितिका स्तवन किया गया है। इसी तरह योगबलके आधारपर एक ही रुद्र अनेक रूपोंको आसानीसे धारण कर सकता है। अतः 'अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्' जैसे मन्त्रोंमें कोई विरोध नहीं है।

इसके बाद 'स्वाध्यायवदवचनात्' में और एक दोष दिखाई देता है। पूर्णिका नामकी एक नारी चावल कूँड रही है। उसीके पास कोई विद्यार्थी स्वाध्यायग्रहणके लिए अवघातमन्त्रोंका पठन कर रहा है। उसे मन्त्रके अर्थको स्पष्ट करनेकी कोई अभिलाषा नहीं है; क्योंकि मन्त्रका पाठ मूसलके प्रत्येक आघातके अनुसार नहीं होता। केवल

तं मन्त्रम् अन्यांश्च मन्त्रानभ्यस्यति। तत्र स्वाध्यायकाले पठितोऽप्यवघातमन्त्रो यथा पूर्णिकां प्रति स्वार्थं न ब्रूते तथा कर्मकालेऽपि स्वार्थं न वक्ष्यति॥ ननु तत्र माणवकस्य अर्थे विवक्षा नास्ति। पूर्णिकाप्यवबोद्धुमक्षमा। कर्मणि तु अध्वर्योरर्थविवक्षा विद्यते, बोधश्च संभवति इत्याशङ्क्य दोषान्तरं सूत्रयति— 'अविज्ञेयात्' इति। केषांचिन्मन्त्राणामर्थो विज्ञातुं न शक्यते। तद्यथा—'अम्यक्सा त इन्द्र ऋष्टिरस्मे' इत्येको मन्त्रः। 'सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू' इत्यपरो मन्त्रः॥ ननु ईदृशमन्त्रार्थबोधायैव निगमनिरुक्तव्याकरणानि प्रवृत्तानीत्याशङ्क्य दोषान्तरं सूत्रयति— 'अनित्यसंयोगान्मन्त्रानर्थक्यम्' इति। 'किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु' (ऋसं ३·५३·१४) इति मन्त्रे कीकटो नाम जनपद आम्नातः। तथा नैचाशाखं नाम नगरं, प्रमगन्दो नाम राजा इत्येतेऽर्था अनित्या आम्नाताः। तथा च सति प्राक् प्रमगन्दात् नायं मन्त्रो भूतपूर्व इति गम्यते। तदेवमेतैः तदर्थशास्त्रादिभिर्हेतुभिर्मन्त्राणामर्थप्रत्यायनार्थत्वं नास्ति। किंतु उच्चारणाददृष्टार्था एवेति पूर्वपक्षः॥

अक्षरोंको क्रमशः कण्ठस्थ करनेके उद्देश्यसे वह विद्यार्थी उस मन्त्रके साथ अन्य मन्त्रोंका पठन कर रहा है। यहाँ जिस तरह अध्ययनके अवसरपर अवघात-मन्त्र उच्चारित होकर भी पूर्णिकाको अपने अर्थका याने कूँडनेके कार्यका कथन नहीं करता, उसी तरह कार्य करते समय भी वह मन्त्र कूँडनेके कार्यका कथन नहीं करेगा॥ इसपर यह कहा जा सकता है कि उक्त उदाहरणमें न विद्यार्थी अर्थकी विवक्षा रखता है; न पूर्णिका अर्थको समझनेमें समर्थ है। किन्तु कर्मानुष्ठानके समय अध्वर्यु अर्थकी विवक्षा जरूर रखता है और उस समय अर्थका बोध होना भी संभव है। इसे मानकर 'अविज्ञेयात्' इस सूत्रके द्वारा अन्य दोष सूचित किया गया है। कुछ मन्त्रोंके अर्थको समझना असंभव है। उदाहरणके तौरपर 'अम्यक्सा त इन्द्र ऋष्टिरस्मे' और 'सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू'को लीजिए॥ यदि इस संबन्धमें यह कहा जाय कि 'ऐसे मन्त्रोंके अर्थका ज्ञान करानेके लिए ही निगम, निघण्टु, निरुक्त, व्याकरण आदिका प्रणयन हुआ है, तो 'अनित्यसंयोगान्मन्त्रानर्थक्यम्' यह सूत्र दूसरा दोष दिखाता है। कीकट नामके देशका उल्लेख करनेवाला मन्त्र है—'किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु'। इसी तरह कुछ अन्य मन्त्रोंमें नैचाशाख नामके शहर तथा प्रमगन्द नामके राजा आदि अनित्य वस्तुओंका उल्लेख पाया जाता है। इसके आधारपर यह सिद्ध होता है कि प्रमगन्द राजाके शासनकालके पूर्व उक्त मन्त्र विद्यमान नहीं था।

इस तरह पूर्वपक्षीके मतानुसार 'तदर्थशास्त्रात्' आदि कारणोंके आधारपर यह सिद्ध होता है कि अर्थबोध मन्त्रोंका उद्देश्य नहीं है; उच्चारणद्वारा अदृश्य फलकी प्राप्ति कराना यही मन्त्रोंका फल है।

तत्र सिद्धान्तं सूत्रयति—' अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः ' इति। तु शब्देन मन्त्राणामदृष्टार्थमुच्चारणमात्रं वारयति। क्रियाकारकसंबन्धेन प्रतीयमानो वाक्यार्थो लोकवेदयोरविशिष्टः। तथा सति यथा लोकेऽर्थप्रत्यायनायैव वाक्यमुच्चार्यते तथा वैदिकयागप्रयोगेऽपि द्रष्टव्यम्। [मन्त्रेण] प्रकाशितस्त्वर्थोऽनुष्ठातुं [शक्यते] न त्वप्रकाशितः। तस्मात् मन्त्रोच्चारणस्यार्थप्रकाशनरूपं दृष्टमेव प्रयोजनम्॥ ननु [' अभ्रिरसि नारिरसि ' इत्यारभ्य ' त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा ददे ' (तैसं ४·१·१·३-४) इति मन्त्र आम्नातः। तेनैव मन्त्रेण प्रतीतेऽपि अभ्र्यादाने पुनर्ब्राह्मणे ' तां चतुर्भिरभ्रिमादत्ते ' (तैसं ५·१·१·४) इति विधीयते। तदेतद्विधानं त्वत्पक्षे व्यर्थं स्यादित्याशङ्क्योत्तरं सूत्रयति—' गुणार्थेन पुनःश्रुतिः ' इति। मन्त्रेण प्रतीतस्यैवार्थस्य ब्राह्मणे यत्पुनः श्रवणं तदेतच्चतुःसंख्यालक्षणगुणविधानार्थत्वेनोपयुज्यते। एतस्य विधानस्याभावे चतुर्णां मन्त्राणां मध्ये येन केनाप्येकेन अभ्रिरादीयेत॥ ननु ['इमामगृभ्णन् रशनामृतस्येत्यश्वाभिधानीमादत्ते ' (तैसं. ५·१·२·१) इत्यत्र मन्त्रसामर्थ्यादेव प्राप्तस्य] रशनादानस्य पुनर्ब्राह्मणवाक्यं विनियोजकमाम्नायते। तदेतत् त्वन्मते व्यर्थमित्याशङ्क्योत्तरं सूत्रयति—

इसके बादका सूत्र है ' अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः '। यह सूत्र सिद्धान्तीके मतका प्रतिपादन करता है। पूर्वपक्षीका कथन है कि मन्त्रोंका उच्चारण केवल अदृश्य फलकी प्राप्तिके लिए ही किया जाता है। सूत्रके ' तु ' शब्दने इस कथनका निषेध किया है। क्रिया तथा कारक के संबन्धकी सहायतासे अभिव्यक्त या प्रतीत होनेवाला वाक्यार्थ लोक तथा वेद दोनोंके लिए समान ही है। अतः यह समझना उचित होगा कि लोकव्यवहारकी तरह वैदिक यागके अनुष्ठानके अवसरपर भी अर्थका भान कराना यही वाक्यके उच्चारणका उद्देश्य है। मन्त्रके द्वारा प्रदर्शित अर्थका ही अनुष्ठान संभव है; जो अर्थ मन्त्रद्वारा प्रदर्शित नहीं होता उसका अनुष्ठान कैसे हो सकता है? अतः अर्थकी अभिव्यक्तिको ही मन्त्रोच्चारणका दृश्य फल मानना समीचीन है॥ यहाँ यह आपत्ति उठाई जाएगी कि एक मन्त्र 'अभ्रिरसि नारिरसि ' से लेकर 'त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसाऽऽददे ' तक पठित हुआ है। इसी मन्त्रसे अभ्रिका याने कुदालका ग्रहण प्रतीत होता है। अतः ब्राह्मणमें ' तां चतुर्भिरभ्रिमादत्ते ' से उसका फिर एक बार जो विधान किया गया वह आपके मतानुसार व्यर्थ होगा। इस आक्षेपका उत्तर ' गुणार्थेन पुनः श्रुतिः' में दिया गया है। मन्त्रद्वारा प्रतीत अर्थका ब्राह्मणद्वारा पुनः उल्लेख ' चतुःसंख्या ' जैसे गुणके विधानके लिए किया गया है। ' चतुर्भिरभ्रिमादत्ते ' याने ' चार मन्त्रोंके उच्चारणके बाद कुदालका ग्रहण करना चाहिए ' जैसी शिक्षाके अभावमें अध्वर्यु चार मन्त्रोंमेंसे किसी एक ही मन्त्रके पठनके बाद कुदाल हाथमें ले लेता॥ किन्तु इसपर यह आक्षेप है कि ' इमामगृभ्णन् रशनामृतस्येत्यश्वाभिधानीमादत्ते ' इस मन्त्रमें मन्त्रसामर्थ्यसे प्राप्त रशनाके आदान अथवा रज्जुग्रहण का विधान करनेवाला ' अश्वाभिधानीमादत्ते ' जैसा ब्राह्मणवाक्य पहले ही समाविष्ट है। अतएव उक्त वाक्य आपके मतानुसार व्यर्थ होगा।

'परिसंख्या इति । 'गर्दभाभिधानीं नादत्ते' इति निषेधः परिसंख्या । तदर्थमिदं ब्राह्मणवाक्यम् ॥ ननु परिसंख्यायां त्रयो दोषाः प्राप्नुयुः । 'आदत्ते' इति शब्दो रशनादानलक्षणं स्वार्थं जह्यात् । निषेधलक्षणः परार्थोऽस्य शब्दस्य कल्प्येत । रशनात्वसामान्येन च प्राप्तं गर्दभरशनाया आदानं बाध्येत इति त्रयो दोषाः । मैवम् । गर्दभरशनाया अप्राप्तत्वात् । तथाहि । त्वत्पक्षे प्रकरणपाठान्यथानुपपत्त्या मन्त्रेणानेन आदानं कुर्यात् इति वाक्यं परिकल्प्यते । तेन च वाक्येन मन्त्रादानयोः संबन्धे सिद्धे सति पश्चात् किंविषयकमादानमिति वीक्षायां लिङ्गात् रशनामात्रस्यादानमुपेत्य गर्दभरशनायाः प्राप्तिर्वक्तव्या । सा च विलम्ब्यते । 'इत्यश्वाभिधानीम्' इति प्रत्यक्षेण वाक्येन मन्त्रादानयोः संबन्धे सति लिङ्गात् रशनामात्रे प्राप्तमादानम् 'अश्वाभिधानीम्' इति श्रुत्या विशेषे व्यवस्थाप्यते । ततो मन्त्रस्य निराकाङ्क्षत्वात् गर्दभरशनाया अप्राप्तत्वान्नास्ति प्राप्तबाधः । अत एव निषेधार्थो न कल्प्यते । विध्यर्थश्च न त्यज्यते । तत्र कुतो

इसका उत्तर 'परिसंख्या' इस सूत्रमें दिया गया है। 'गर्दभाभिधानीं नादत्ते' [गधेको बाँधनेवाली रज्जुका ग्रहण न करें] का निषेध वास्तवमें परिसंख्या है। अतः 'अश्वाभिधानीमादत्ते' [घोड़ेको बाँधनेवाली रज्जुका ग्रहण करें] यह वाक्य उक्त निषेधको स्पष्ट करनेके लिए विहित है। किन्तु इस तरहकी परिसंख्याको माननेसे पूर्वपक्षीके मतानुसार तीन दोष पैदा होंगे ॥ ब्राह्मणवाक्यके 'आदत्ते' शब्दमें रज्जुग्रहणकी विवक्षा है। इस अवस्थामें यदि 'गर्दभाभिधानीं नादत्ते' मे परिसंख्याका स्वीकार किया जाय तो 'आदत्ते' के विवक्षित अर्थका याने रज्जुग्रहणका त्याग विहित होता है, यह पहला दोष है। 'आदत्ते' शब्द वास्तवमें 'गधेको बाँधनेवाली रज्जुका ग्रहण न करें' इस अर्थका वाचक नहीं है; फिर भी उसके निषेधवाची अर्थकी कल्पना करनी पड़ती है। यह दूसरा दोष है। साथ साथ चूँकि रज्जुग्रहण 'आदत्ते' का विवक्षित अर्थ है; साधारणतया यह निष्कर्ष निकलता है कि किसी भी रज्जुका ग्रहण यहाँ प्राप्त है। ऐसी दशामें 'गर्दभाभिधानी' के ग्रहणका बाधित होना यह तीसरा दोष माना जाएगा ॥ तीन दोषोंके निर्माणकी उक्त आशङ्का निर्मूल है। गर्दभरशनाकी प्राप्तिका प्रश्न यहाँ नहीं उठता। प्रकरणमें पठित वस्तुकी उपपत्तिको अलग ढंगसे बताना असंभव है; इसीलिए आपके मतानुसार जिस वाक्यकी कल्पना करनी पड़ती है वह है 'इमामगृभ्णन्' मन्त्रके द्वारा आदान याने ग्रहण करना उचित होगा'। इस वाक्यके आधारपर मन्त्र एवं आदान संबन्धके सिद्ध होनेपर जो प्रश्न उपस्थित होता है वह है किसका आदान करें ? इस संबन्धमें मन्त्रमें 'रशनाम्....अगृभ्णन्' इन पदोंके अन्तर्भावके कारण लिङ्गकी वजहसे किसी भी रशनाके आदानको प्राप्त मानकर गर्दभ-रशनाकी प्राप्तिका स्वीकार करना पड़ेगा। किन्तु इसके विलम्बयुक्त होनेकी वजहसे 'अश्वाभिधानीम्' के प्रत्यक्ष वाक्यसे मन्त्र तथा ग्रहण का संबन्ध सिद्ध होता है। अतः लिङ्गके आधारपर साधारण रज्जुके संबन्धमें प्राप्त ग्रहणको विशिष्ट अश्वरज्जुके विषयमें निर्धारित करनेका कार्य 'अश्वाभिधानीम्' इस श्रुतिद्वारा संपन्न होता है। इस अवस्थामें मन्त्रके लिए आकाङ्क्षा शेष नहीं रहती और गर्दभरशनाकी प्राप्तिका प्रश्न नहीं उठता। फलतः प्राप्त

दोषत्रयम्। ईदृशमप्राप्तिरूपमेव गर्दभरशनाया निवारणमभिप्रेत्य 'परिसंख्या' इति सूत्रितम्॥ ननु 'उरु प्रथस्वेति प्रथयति' इति ब्राह्मणस्य वैयर्थ्यं तदवस्थमेव इत्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—'अर्थवादो वा' इति। वाशब्दो वैयर्थ्यं वारयति। अस्त्यत्रार्थवादः 'यज्ञपतिमेव तत्प्रथयति' इति। तेनार्थवादेन संबन्धाय ब्राह्मणे विधिः पठ्यते॥ ननु प्रथयतीत्यनेनैव विधिशब्देन प्रथनमनूद्य 'यज्ञपतिमेव' इत्यादिनार्थवादेन स्तोतव्यम्। तदेव तु प्रथनं कुतः प्राप्तमित्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति 'मन्त्राभिधानात्' इति। अध्वर्युः पुरोडाशमुद्दिश्य मन्त्रे 'प्रथस्व' इत्येवमभिधत्ते। तस्मादभिधानादध्वर्युकर्तृकं प्रथनं प्राप्तम्। यथा लोके यः 'कुरु' इति ब्रूते स कारयत्येव, तथात्रापि यः 'प्रथस्व' इति ब्रूते स प्रथयत्येव॥ यदुक्तम् 'अग्निर्मूर्धा दिवः' (ऋसं. ८·४४·१६) इति पाठक्रमनियमात् अदृष्टार्थो मन्त्र इति तत्रोत्तरं सूत्रयति—'अविरुद्धं परम्' इति। परं द्वितीयसूत्रोक्तम् अस्मत्पक्षेऽप्यविरुद्धम्। न हि वयं पाठक्रमनियमाददृष्टं निवारयामः। किं तर्हि। मन्त्रोच्चारणेन जायमानमर्थप्रत्यायनं दृष्टप्रयोजनत्वान्नोपेक्षितव्यम् इत्येतावदेव ब्रूमः॥ ननु 'प्रोक्षणीरासादय' (वासं १·२८) इति मन्त्रो बुद्धमेवार्थं शास्ति तत्

वस्तुके बाधित होनेका दोष निर्माण नहीं होता। इसीसे यहाँ न निषेधरूपी वस्तुकी कल्पना करनी पड़ती है; न विध्यर्थका त्याग। अतः यहाँ तीन दोषोंकी संभावना भी नहीं है। इस तरह अप्राप्त गर्दभरशनाके निवारणके अभिप्रायसे ही 'परिसंख्या' सूत्रका प्रणयन किया गया है॥ यह सब होते हुए भी 'उरु प्रथस्वेति प्रथयति' इस ब्राह्मणवाक्यकी व्यर्थता तो शेष रहती है इस आशङ्काका निवारण करनेके लिए 'अर्थवादो वा' सूत्रकी रचना हुई। 'वा' शब्द व्यर्थताका परिहार करता है। इस संबन्धमें अर्थवाद है 'यज्ञपतिमेव तत्प्रथयति'; [वह यज्ञके अधिपतिका ही विस्तार करता है।] इस अर्थवादसे संबन्ध स्थापित करनेके उद्देश्यसे ब्राह्मणमें 'विधि' पठित है। माना कि यहाँ 'प्रथयति' इस 'विधि' शब्दसे प्रथनका अनुवाद करके 'यज्ञपतिमेव' आदि अर्थवादसे उसी प्रथनकी सराहना की गई है। किन्तु प्रश्न है कि यह प्रथन कहाँसे प्राप्त हुआ? इस प्रश्नका उत्तर 'मन्त्राभिधानात्' इस सूत्रमें दिया गया है। 'उरु प्रथस्व' इस मन्त्रके 'प्रथस्व' में पुरोडाशका अध्वर्युकृत संबोधन है। इससे सिद्ध है कि इस प्रथनका कर्ता अध्वर्यु है। व्यवहारमें प्रायः जो व्यक्ति दूसरेसे 'करो' कहता है वही करानेवाला होता है। इसी तरह यहाँ 'प्रथस्व' कहनेवाला अध्वर्यु ही प्रथन या विस्तार करनेवाला है।

'अग्निर्मूर्धा दिवः' में पाठके क्रमका नियम विहित है। उसके आधारपर कहा गया है कि मन्त्रके उच्चारणका फल अदृष्ट होता है। इसका उत्तर 'अविरुद्धं परम्' में दिया गया है। दूसरे सूत्रमें जो कहा गया है वह हमारे मतका विरोध नहीं करता। पाठक्रमके नियमानुसार हम अदृष्टका निवारण नहीं करते; हमारा तो कहना सिर्फ यह है कि मन्त्रके उच्चारणसे उत्पन्न अर्थबोधका फल दृष्ट होनेके कारण उसकी उपेक्षा करना उचित नहीं है॥ यह कहना कि 'प्रोक्षणीरासादय' मन्त्र ज्ञात वस्तुके विषयमें ही आदेश देता है यह ठीक नहीं है। इस संबन्धमें पूर्वपक्षी यदि 'पैरोंमें जूतेके रहते हुए दूसरा जूता पहनना असंभव

अयुक्तम्। सोपानत्कस्य उपानदन्तरासंभवात् इत्युक्तमिति चेत् तस्य परिहारं सूत्रयति— 'संप्रैषकर्मणो गर्हानुपलम्भः संस्कारत्वात्' इति। संप्रैषकर्मणो गर्हा त्वदुक्तदोषो नोपलभ्यते। बुद्धस्याप्यर्थस्य मन्त्रेणैवानुस्मरणे सति नियमादृष्टलक्षणस्य संस्कारस्य सद्भावात्॥ यच्चोक्तं 'चत्वारि शृङ्गा' (ऋसं ४·५८·३) इति मन्त्रोऽसन्तमेवार्थमभिधत्ते इति तस्योत्तरं सूत्रयति—'अभिधानेऽर्थवादः' इति। असतोऽर्थस्याभिधायके वाक्ये गौणस्यार्थस्योक्तिर्द्रष्टव्या। तद्यथा। चत्वारो होत्रध्वर्यूद्गातृब्रह्माणोऽस्य कर्मणः शृङ्गाणि। प्रातःसवनादयस्त्रयः पादाः। पत्नीयजमानौ द्वे शीर्षे। गायत्र्यादीनि सप्त छन्दांसि हस्ताः। ऋग्वेदादिभिस्त्रिभिर्वेदैस्त्रेधा बन्धनम्। कामान् वर्षतीति वृषभः। रोरवीति स्तोत्रशस्त्रादिशब्दान् पुनः पुनः करोति। महो देवः सोऽयं प्रौढो यज्ञरूपो देवो मर्त्यानाविवेश इति मनुष्या एवात्राधिकारिणः। लोकेऽप्येवं गौणप्रयोगा दृश्यन्ते। 'चक्रवाकस्तनी हंसदन्तावली काशवस्त्रा शैवलकेशिनी' इत्येवं नद्याः स्तूयमानत्वात्। एवं 'ओषधे त्रायस्व', 'शृणोत ग्रावाणः' इत्याद्यचेतनसंबोधनानि स्तुतिपरत्वेन योजनीयानि। यस्मिन् वपने ओषधिरपि त्रायते तत्र वपनकर्ता त्रायत इति किमु वक्तव्यम्। तथा ग्रावाणोऽपि प्रातरनुवाकं शृण्वन्ति किमुत विद्वांसो ब्राह्मणा इत्यामन्त्रणाभिप्रायः॥

है' इस दृष्टान्तको उपस्थित करे तो इसका उत्तर 'संप्रैषकर्मणो गर्हानुपलम्भः संस्कारत्वात्' में विद्यमान है। प्रैषकर्मकी निन्दाका आपके द्वारा बतलाया गया दोष यहाँ लागू नहीं होता। ज्ञात वस्तुका ही स्मरण केवल मन्त्रद्वारा होनेपर नियमादृष्ट नामक संस्कारकी प्राप्ति अवश्य होती है।। 'चत्वारि शृङ्गा' इस मन्त्रमें तो उस वस्तुका प्रतिपादन है जो यज्ञकर्ममें दिखाई नहीं देती इस आक्षेपका उत्तर 'अभिधानेऽर्थवादः' में दिया गया है। मानना चाहिए कि इस तरहकी अविद्यमान वस्तुका प्रतिपादन करनेवाले वाक्यमें गौण अर्थ ही प्रतिपादित है। 'चत्वारि शृङ्गा....' का अर्थ निम्नानुसार है। होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा ये चारों ऋत्विज उस यज्ञ-कर्मके चार सींग या विषाण हैं तो प्रातःसवन, माध्यंदिनसवन और तृतीयसवन ये तीन चरण, पत्नी तथा यजमान उसके दो सिर, और गायत्री आदि सातों छन्द उसके हाथ है। ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद इन तीन वेदोंकी सहायतासे यह यज्ञकर्म तीन प्रकारोंसे ग्रथित हुआ है। मनोरथोंकी वृष्टि या पूर्ति करनेवाला यह (यज्ञरूपी) वृषभ स्तोत्रों और शस्त्रों के रूपमें शब्दोंका बार बार निर्माण करता है (रोरवीति)। यही वह प्रौढ़ यज्ञरूपी देव है जो मानवोंमें प्रविष्ट हुआ है। इस कारण मानव ही इस विषयमें अधिकार रखता है। नदीके स्तवनमें 'चक्रवाकरूपी स्तनों, काशरूपी वस्त्रों, काईरूपी केशों तथा हंसरूपी दाँतोंकी पङ्क्तिको धारण करनेवाली' जैसे शब्द व्यवहारमें भी गौण रूपसे प्रयुक्त होते हैं। इसी तरह 'हे ओषधि! मेरी रक्षा करो', 'पाषाणो सुनो!' आदि अचेतन वस्तुओंसे कहे गए वाक्योंको प्रशंसार्थक मानना चाहिये। जिस वपनमें ओषधि भी सुरक्षा करती है, उसमें वपन करनेवाला रक्षा करनेमें समर्थ होगा, इसे स्वतन्त्र रूपसे कहनेकी क्या आवश्यकता है? इसी तरह अगर पाषाण भी प्रातरनुवाकका श्रवण करते हैं तो विद्वान् ब्राह्मण उसका श्रवण

योऽपि ' अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम् ' (ऋसं. १·८९·१०) इति विप्रतिषेध उक्तः तस्योत्तरं सूत्रयति— ' गुणादविप्रतिषेधः स्यात् ' इति । यथा ' त्वमेव पिता त्वमेव माता ' इत्यत्र गौणप्रयोगादविरोधः तद्वत् । एवम् एकरुद्रदेवत्ये कर्मण्येको रुद्रः । शतरुद्रदेवत्ये कर्मणि शतं रुद्रा इत्यविरोधः ॥

यदप्युक्तं स्वाध्यायमधीयानो माणवकः पूर्णिकाया अवहतिं न प्रकाशयितुमिच्छतीति तत्रोत्तरं सूत्रयति—' विद्यावचनमसंयोगात् ' इति । वेदविद्याग्रहणकालेऽर्थस्य यदवचनं तदयज्ञसंयोगादुपपद्यते । न हि पूर्णिकाया अवघातो यज्ञसंयुक्तः । नापि माणवको यज्ञमनुतिष्ठति । अतो यज्ञानुपकारात् न तत्रार्थविवक्षा । यदप्युक्तम् ' अम्यक्सा त इन्द्र ', ' सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू ' इत्यादावर्थस्य ज्ञातुमशक्यत्वात् नास्त्येवाऽर्थः इति तत्रोत्तरं सूत्रयति— ' सतः परमविज्ञानम् ' इति । विद्यमान एवार्थः प्रमादालस्यादिभिर्न विज्ञायते । तेषां निगमनिरुक्तव्याकरणवशेन धातुतोऽर्थः परिकल्पयितव्यः । तद्यथा ' जर्भरी तुर्फरीतू ' इत्येवमादीनि अश्विनोरभिधानानि । तेषु हि द्विवचनान्तत्वं लक्ष्यते । आश्विनं चेदं सूक्तम् ' अश्विनोः काममप्राः ' (सं १०·१०६·११) इति दर्शनात् । एतदेवाभिप्रेत्य निरुक्तकारो व्याचष्टे-' जर्भरी भर्तारावित्यर्थस्तुर्फरीतू हन्तारावित्यर्थः ' (नि १३·५)

करते हों यह कोई विस्मयकी वस्तु नहीं । यही इन मन्त्रोंका अभिप्राय है ॥ ' अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्' इससे जो विरोध बतलाया गया है उसका उत्तर देनेके लिये 'गुणादविप्रतिषेधः' की रचना हुई । जिस तरह 'तुम ही पिता और तुम ही माता हो ' इनमें कुछ विरोध नहीं पाया जाता उसी तरह उक्त दो वाक्योंमें भी कुछ विरोध नहीं है । इसी तरह ' एक एव रुद्रः' यह श्रुति एक रुद्रको देवता माननेवाले यज्ञकर्ममें और ' शतं रुद्राः ' सौ रुद्रोंसे संबद्ध यज्ञकर्ममें प्रयुक्त हो सकती है । दोनों श्रुतियोंमें कोई विरोध हो सो बात नहीं है । कहा गया है कि वेदाध्ययन करनेवाला माणवक पूर्णिकाके कूँड़नेपर प्रकाश डालना नहीं चाहता । इस आक्षेपके उत्तरमें ' विद्यावचनमसंयोगात् ' की ओर ध्यान खींचा जाता है । वेदविद्याके ग्रहणके अवसरपर यज्ञकर्मसे कोई संबन्ध न होनेके कारण अर्थकी विवक्षाका अभाव योग्य ही है । न पूर्णिकाका कूँड़ना यज्ञसे संयुक्त है, न उस माणवकका यज्ञानुष्ठानसे कोई संबन्ध । इसी लिए माणवकका मन्त्रोच्चारण यज्ञके लिए उपयोगी नहीं है । वहाँ अर्थकी विवक्षाका प्रश्न ही नहीं उठता ॥ 'अम्यक्सा त इन्द्र' 'सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू' जैसे मन्त्रोंके संबन्धमें अर्थको समझना असंभव होनेके कारण उन्हें अर्थहीन माननेकी बात उठाई गई है । इसका उत्तर ' सतः परमविज्ञानम् ' में प्राप्त होगा । बात यह है कि इन मन्त्रोंका निश्चित अर्थ है; किन्तु प्रमाद एवं आलस्य के कारण उसे समझा नहीं जाता । अतएव यह आवश्यक है कि निगम, निरुक्त तथा व्याकरण की सहायतासे इन मन्त्रोंका मूल अर्थ समझनेका प्रयत्न करना समीचीन होगा । उदाहरणके तौरपर ' जर्भरी तुर्फरीतू ' आदि अश्विनीकुमारोंके नाम हैं; इसलिए इन शब्दोंके अन्तमें द्विवचन है । ' अश्विनोः काममप्राः ' (ऋसं १०-१०६-११) से स्पष्ट है कि उक्त सूक्त अश्विनीकुमारोंसे संबद्ध है । इसीको ध्यानमें रखकर निरुक्तके रचयिताने व्याख्या करते हुए लिखा—' जर्भरी भर्तारौ (पोषक) और ' तुर्फरीतू हन्तारौ ' [निरुक्त

इति। एवम् 'अभ्यक्ता ते' इत्यादावप्युन्नेयम्। यदप्युक्तं प्रमगन्दाद्यनित्यार्थसंयोगात् मन्त्रस्य अनादित्वं न स्यात् इति तत्रोत्तरं सूत्रयति— 'उक्तश्चानित्यसंयोगः' इति। प्रथमपादस्यान्तिमाधिकरणे सोऽयमनित्यसंयोगदोष उक्तः परिहृतः। तथा हि तत्र पूर्वपक्षे वेदानां पौरुषेयत्वं वक्तुं काठकं कालापकमित्यादिपुरुषसंबन्धाभिधानं हेतूकृत्य 'अनित्यदर्शनाच्च' (जैसू १·१·२८) इति हेत्वन्तरं सूत्रितम्। तस्यायमर्थः। 'बबरः प्रावाहणिरकामयत' (तैसं ७·१·१०·२) इत्यनित्यानां बबरादीनामर्थानां दर्शनात् ततः पूर्वमसत्त्वात् पौरुषेयो वेद इति तस्योत्तरमेवं सूत्रितं— 'परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' (जैसू १·१·३१) इति। तस्यायमर्थः। यत्काठकादिसमाख्यानं तत्प्रवचननिमित्तम्। यत्तु परं बबराद्यनित्यदर्शनं तच्छब्दसामान्यमात्रम्। न तत्र अनित्यो बबराख्यः कश्चित्पुरुषो विवक्षितः। किंतु बबरः इति शब्दानुकृतिः। तथा सति बबरेति शब्दं कुर्वन् वायुरभिधीयते। स च प्रावाहणिः प्रकर्षेण वहनशीलः। एवमन्यत्राप्यूहनीयम्। तदेवं कस्यचिदपि दोषस्यासंभवात् विवक्षितार्था मन्त्राः स्वार्थप्रकाशनायैव प्रयोक्तव्याः॥ ननु अर्थप्रकाशनार्थत्वे सति दृष्टं प्रयोजनं लभ्यते इति

१३।५] (विनाशकरनेवाले)। इस तरह 'अभ्यक्ता ते' जैसे मन्त्रोंके अर्थको भी समझना चाहिए॥ यह आक्षेप उठाया गया है कि प्रमगन्द जैसे अनित्य पदार्थोंके संयोगके कारण मन्त्रका अनादित्व सिद्ध नहीं होता। इसका समाधान 'उक्तश्च अनित्यसंयोगः' में दिया गया है। अर्थात् प्रथम पादके अन्तिम अधिकरणमें अनित्यसंयोगके दोषका निवारण किया गया है। वहाँ पूर्वपक्षमें वेदोंके पौरुषेयत्वको सिद्ध करनेके लिए काठक, कालापक आदि पुरुष-संबन्धी नामोंको बतलाकर 'अनित्यदर्शनाच्च' (जैसू १-१-२८) में दूसरे कारणको उपस्थित किया गया है। इस सूत्रका अर्थ है:—'बबरः प्रावाहणिरकामयत' (तैसं ७-१-१०-२) में बबर जैसे अनित्य अर्थोंको देखनेसे तथा उनके पूर्व वेदोंके अस्तित्वके प्रमाणको न पाने से सिद्ध है कि वेदको पौरुषेय ही मानना उचित होगा। पूर्वपक्षके उपर्युक्त कथनका उत्तर— 'परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' (जैसू १-१-३१)में दिया गया है। इसका अर्थ निम्नानुसार है:— उक्त श्रुतियोंमें काठकादि नामोंका जो उल्लेख आया है वह उन ऋषियोंके प्रवचन या पाठपरंपरा के कारण है, साक्षात् कर्तृत्वके कारण नहीं। बबरादि अनित्य पदार्थोंके दर्शनके विषयमें जो आक्षेप है उसका उत्तर यह है कि नित्य और अनित्य (वायु और पुरुष) दोनों पदार्थोंका वाचक बबर शब्द साधारण याने एक ही है और वह केवल इस वाक्यमें आया है। वहाँ अभिप्राय बबर नामधारी किसी अनित्य व्यक्तिसे नहीं है। असलमें बबर शब्द अनुकरणात्मक है, उसका अर्थ है बबर शब्द करनेवाली वायु। वही प्रावाहणि याने प्रवहमान या प्रवहनशील है। उसी तरह अन्यत्र भी अर्थको समझना चाहिए। अतः किसी भी दोषकी संभावना न होनेसे विवक्षित अर्थ रखनेवाले मन्त्रोंको अपने अपने अर्थकी अभिव्यक्तिके लिए ही प्रयुक्त करना चाहिए॥

अर्थका प्रकाशन यही मन्त्रोंका उद्देश्य मान लेनेसे उनका प्रयोजन दृष्ट होता है। यह केवल युक्तिका उपन्यास है। किन्तु इस तरहकी युक्तिको पुष्ट करनेके लिए कोई वैदिक

युक्तिमात्रमिदमुच्यते। न त्वेतदुपोद्बलकं किंचित् श्रौतं लिङ्गं पश्याम इत्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—'लिङ्गोपदेशश्च तदर्थवत्' इति। 'आग्नेय्याग्नीध्रमुपतिष्ठेत' इति श्रूयते। तस्यायमर्थः। अग्निर्देवता यस्या ऋचः सेयमाग्नेयी। तया आग्नीध्रस्थानमुपतिष्ठेत इति। अत्र ह्युपस्थानमुपदिशद्ब्राह्मणम् 'अग्ने नय' (ऋसं १·१८९·१) इत्यनया 'उपतिष्ठेत' इति मन्त्रप्रतीकं पठित्वा नोपदिशति; किंतु आग्नेयीत्वलिङ्गेन उपदिशति। यदा तस्यामृचि अग्निः प्राधान्येन प्रतिपाद्यते तदा तस्या ऋचः अग्निर्देवता भवति। तथा सति आग्नेय्या इति देवतावाचितद्धितान्तनिर्देश उपपद्यते। तस्मात् अयमुपदेशः तन्मन्त्रवाक्यमर्थवत् इति बोधयति। अतो विवक्षितार्थत्वात् अर्थप्रत्यायनार्थं प्रयोगकाले मन्त्रोच्चारणम्। तस्मिन्नेव विवक्षितार्थत्वे लिङ्गान्तरं सूत्रयति—'ऊहः' इति। प्रकृतावाम्नातस्य मन्त्रस्य विकृतौ समवेतार्थत्वाय तदुचितपदान्तरस्य प्रक्षेपेण पाठः ऊहः। तद्यथा 'अन्वेनं माता मन्यताम् अनु पिता अनु भ्राता' (तैब्रा ३·६·६·१) इति प्राकृतः पशुविषयो मन्त्रपाठः। तस्य च मन्त्रस्य विकृतौ पशुद्वये सति 'अन्वेनौ माता मन्यताम्' इत्यूहः; पशुबहुत्वे सति 'अन्वेनान् माता मन्यताम्' इत्यूहः कर्तव्यः। एतन्मन्त्रव्याख्यानरूपं ब्राह्मणमेवमाम्नायते-'न माता वर्धते न पिता' इति। तत्रेदं चिन्तनीयम्। किमत्र शरीरवृद्धिर्निषिध्यते आहोस्वित् शब्दवृद्धिरिति। एकवचनान्तस्य मातृशब्दस्य मातरौ

लिङ्ग या प्रमाण नहीं पाया जाता। इस आक्षेपका उत्तर 'लिङ्गोपदेशश्च तदर्थवत्' (जैसू १-२-५१) में दिया गया है।

'आग्नेय्याग्नीध्रमुपतिष्ठेत' इस श्रुतिवचनके अनुसार आग्नेयी ऋचा वह है जिसके देवता अग्नि हैं और इस आग्नेयी ऋचाके द्वारा पुरोहित आग्नीध्रका उपस्थान करे। यहाँ उपस्थानका उपदेश करनेवाला ब्राह्मणवाक्य आग्नेयीत्वके लिङ्गके अनुसार उपदेश करता है; 'अग्ने नय' (ऋसं १-१८९-१) इस ऋचाके द्वारा नहीं। अर्थात् अग्नि ऋचाके देवता तभी होते हैं जब उसमें प्रधानरूपसे अग्निका प्रतिपादन है, और ऐसी ऋचाके विषयमें 'आग्नेय्या' जैसा देवतावाचक तद्धितान्त निर्देश समीचीन होता है। अतः उक्त उपदेश यह बोध कराता है कि प्रस्तुत मन्त्रवाक्य अर्थवान् है। इससे सिद्ध है कि उसका अर्थ विवक्षित होता है। अतएव प्रयुक्त होते समय मन्त्रोंका उच्चारण अर्थको प्रतीत करानेके उद्देश्यसे ही होता है।

मन्त्रके विवक्षितार्थ होनेमें दूसरा हेतु 'ऊहः' (जैसू १-२-५२) में विद्यमान है। प्रकृत या निर्धारित रूपमें पठित मन्त्रके अर्थको विकृत या भिन्न रूपमें भी संगत करानेके लिए उचित पदोंके प्रक्षेपद्वारा पाठ बनाना 'ऊह' कहलाता है। उदाहरणके तौरपर 'अन्वेनं माता मन्यतामनु पिता अनु भ्राता' (तैब्रा ३-६-६१) यह पशुके विषयमें प्रकृतियागमें विहित मन्त्रपाठ है। अब विकृतियागमें दो पशु होनेपर इस मन्त्रका 'अन्वेनौ माता मन्यताम्' और अनेक पशु होनेपर 'अन्वेनान् माता मन्यताम्' जैसा पाठ बनाना याने ऊह करना पड़ता है। इस मन्त्रकी व्याख्या करनेवाले ब्राह्मणका कहना है 'न माता वर्धते न पिता'। यहाँ यह विचारणीय है कि इस ब्राह्मणसे क्या शरीरकी वृद्धिका निषेध किया गया है या शब्दकी वृद्धिका? एकवचनान्त 'मातृ' शब्दको द्विवचनान्त 'मातरौ' या बहुवचनान्त 'मातरः' में परिवर्तित करना शब्दवृद्धि कहलाएगा। यहाँ शरीरकी वृद्धिका भी

इति द्विवचनान्तत्वेन वा मातरः इति बहुवचनान्तत्वेन वा प्रयोगः शब्दवृद्धिः। तत्र न तावत् शरीरवृद्धिर्निषेद्धुं शक्यते, बाल्यकौमार्ययौवनादिवयोऽनुसारेण तद्वृद्धेः प्रत्यक्षत्वात्। अतः शब्दवृद्धिनिषेध एव परिशिष्यते। मातृशब्दपितृशब्दयोर्विशेषाकारेण वृद्धिनिषेधात् इतरस्य एनम् इति शब्दस्य अर्थानुसारिणी वृद्धिः सूचिता भवति। तत्र यद्यर्थो न विवक्ष्येत तदा पशुद्वित्वे द्विवचनं पशुबहुत्वे बहुवचनं च कथमूह्येत। तस्मात् विवक्षितार्था मन्त्राः। तस्मिन्नेवार्थे लिङ्गान्तरं सूत्रयति— 'विधिशब्दाच्च' इति। मन्त्रव्याख्यानरूपो ब्राह्मणगतः शब्दो विधिशब्दः इत्युच्यते। स चैवमाम्नायते-'शतं हिमाः शतं वर्षाणि जीव्यास्मेत्येवैतदाह' (शब्रा २.३.४.२१)। तत्र 'शतं हिमाः' इत्येतद् व्याख्येयमन्त्रस्य प्रतीकम्। अवशिष्टं तु तस्य तात्पर्यव्याख्यानम्। मन्त्रस्याविवक्षितार्थत्वे तु किं नाम तात्पर्यं मन्त्रे व्याख्यायेत। तस्मात् विवक्षितार्था मन्त्राः प्रयोगकाले स्वार्थप्रकाशनायैवोच्चारयितव्याः। तत्र संग्रहश्लोकौ—

मन्त्रा उरु प्रथस्वेति किमदृष्टैकहेतवः।
यागेषूत पुरोडाशप्रथनादेश्च भासकाः॥

निषेध नहीं किया जा सकता; क्योंकि बाल्य, कौमार्य, यौवन आदि अवस्थाओंके अनुसार शरीरकी वृद्धि तो प्रत्यक्ष रूपमें होती है। अतः मानना पड़ेगा कि इस ब्राह्मणमें शब्दकी वृद्धिका निषेध है। इस प्रकार यहाँ 'मातृ' तथा 'पितृ' वृद्धिका ही निषेध करके 'एनम्' शब्दकी अर्थानुसार वृद्धि सूचित की गई है। अब यहाँ मन्त्रके अर्थकी विवक्षा यदि न होती तो दो पशु तथा अनेक पशु होनेपर क्रमशः द्विवचन तथा बहुवचन का 'ऊह' करना कैसे संभव होता? अतः सिद्ध है कि मन्त्रका अर्थ विवक्षित ही है।

इसी अर्थको परिपुष्ट करनेके लिए तीसरा हेतु 'विधिशब्दाच्च' [जैसू १-२-५३] में दिया गया है। मन्त्रकी व्याख्याके लिए ब्राह्मण ग्रन्थमें प्रयुक्त शब्द 'विधिशब्द' कहलाता है। इसके विषयमें आम्नाय है 'शतं हिमाः शतं वर्षाणि जीव्यास्म इत्येव एतदाह' [शब्रा २-३-४-२१]। यहाँ 'शतं हिमाः' व्याख्याके लिए चुने गए मन्त्रका प्रतीक है और शेष अंश उस मन्त्रके तात्पर्यको स्पष्ट करता है। अब मन्त्रका यदि कोई विवक्षित अर्थ ही न हो तो इस ब्राह्मण द्वारा मन्त्रके तात्पर्यकी व्याख्याका क्या मतलब हो सकता है? अतः स्पष्ट है कि प्रयोगके अवसरपर विवक्षित अर्थ रखनेवाले मन्त्रोंका उच्चारण उनके अर्थकी अभिव्यक्तिके लिए ही किया जाता है। मन्त्रोंके विवक्षितार्थ होनेके विषयमें उपर्युक्त चर्चाका सार जैमिनीय न्यायमालाके निम्नलिखित श्लोकोंमें उपस्थित है:—

मन्त्रा उरु प्रथस्वेति किमदृष्टैकहेतवः।
यागेषूत पुरोडाशप्रथनादेश्च भासकाः॥

ब्राह्मणेनापि तद्भानान्मन्त्राः पुण्यैकहेतवः ।
न तद्भानस्य दृष्टत्वाद्दृष्टं वरमदृष्टतः ॥ (जैन्या १·२·४) इति ॥

४. वेदप्रामाण्ये ब्राह्मणप्रामाण्यम् ।

नन्वस्तु मन्त्रभागस्य प्रामाण्यम् । ब्राह्मणभागस्य तु न तद्युज्यते । तथा हि । द्विविधं ब्राह्मणं विधिरर्थवादश्चेति । तथा च आपस्तम्बः--'कर्मचोदना ब्राह्मणानि । ब्राह्मणशेषोऽर्थवादः' (आप परि ३४·३५) इति । विधिरपि द्विविधः अप्रवृत्तप्रवर्तनम्, अज्ञातार्थज्ञापनं चेति । 'आग्नावैष्णवं पुरोडाशं निर्वपन्ति दीक्षणीयम्' (ऐब्रा १·१) इत्याद्याः कर्मकाण्डगतविधयोऽप्रवृत्तप्रवर्तकाः । 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' (ऐआ २·४·१) इत्यादयो ब्रह्मकाण्डगता अज्ञातज्ञापकाः । तत्र कर्मकाण्डगतानां 'जर्तिलयवाग्वा वा जुहुयाद्गवीधुकयवाग्वा वा' (तैसं ५·४·३·२) इत्यादिविधीनां नास्ति प्रामाण्यम्, प्रवृत्त्ययोग्यद्रव्यविधानेन सम्यगनुभवसाधनत्वाभावात् । अयोग्यत्वं च

ब्राह्मणेनापि तद्भानान्मन्त्राः पुण्यैकहेतवः ।
न तद्भानस्य दृष्टत्वाद्दृष्टं वरमदृष्टतः ॥ [जैन्या १-२-४]

[अर्थः—क्या 'उरु प्रथस्व' आदि मन्त्रोंके उच्चारणका प्रयोजन केवल अदृष्टकी उत्पत्ति है, या यज्ञोंमें पुरोडाश–प्रथन आदिके अर्थकी अभिव्यक्ति है ? इस विषयमें पूर्वपक्षीका मत है:—ब्राह्मण मन्त्रोंके कथनसे स्पष्ट है कि केवल पुण्यका निर्माण याने अदृष्टकी उत्पत्ति ही इन मन्त्रोंके उच्चारणका प्रयोजन है । इस कथनका खंडन करते हुए यह सिद्धान्त स्थिर किया गया है कि मन्त्रोंके अर्थका भान होना यही मन्त्रोंके उच्चारणका लाभ एवं दृष्ट प्रयोजन है, और अदृष्ट प्रयोजनकी अपेक्षा दृष्ट प्रयोजनको मानना ही समीचीन है।]

४. वेदप्रामाण्यमें ब्राह्मणप्रामाण्य

पूर्वपक्षी:—वेदोंका मन्त्ररूपी अंश भले ही प्रमाण हो, किन्तु ब्राह्मणरूपी अंशको प्रमाण नहीं माना जा सकता । ब्राह्मणके दो अंश हैं, (१) विधि (२) अर्थवाद । आपस्तम्बका ही कथन है—'कर्मचोदना ब्राह्मणानि, ब्राह्मणशेषोऽर्थवादः' (आप परि ३४,३५) । विधि भी दो प्रकारकी है (१) अप्रवृत्त पुरुषको प्रवृत्त करनेवाली और (२) अज्ञात अर्थका ज्ञान करानेवाली । 'आग्नावैष्णवं पुरोडाशं निर्वपन्ति दीक्षणीयम्' (ऐब्रा. १-१) [दीक्षणीयेष्टिमें अग्नाविष्णु देवताके लिए पुरोडाशका निर्वाप किया जाता है] जैसी कर्मकाण्डमें समाविष्ट विधियाँ अप्रवृत्त पुरुषको प्रवृत्त करती हैं और 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' (ऐआ २·४-१) [यहाँ केवल आत्मा ही पहले विद्यमान था] आदि ब्रह्मकाण्ड या ज्ञानकाण्ड में संमिलित विधियाँ अज्ञात अर्थका ज्ञान कराती हैं । यहाँ कर्मकाण्डमें सम्मीलित 'जर्तिलयवाग्वा वा जुहुयाद् गवीधुकयवाग्वा वा' [जंगली तिल अथवा गोधूम की आहुति दें—तैसं ५·४·३·२] जैसे विधिवाक्योंको प्रमाण नहीं माना जा सकता; क्योंकि इनमें प्रवृत्तिके लिए अयोग्य द्रव्यका विधान होनेकी वजहसे इन्हें सम्यक् अनुभवका साधन नहीं कहा जा सकता ।

वाक्शेषे समाम्नातम्—'अनाहुतिर्वै जर्तिलाश्च गवीधुकाश्च' (तैसं ५·४·३·२) इति। तत्र हि आरण्यतिलानाम् आरण्यगोधूमानां चाहुतिद्रव्यत्वं निषिद्धम्। तस्मात् बाधितो जर्तिलादिविधिरप्रमाणम्। एवम् ऐतरेयतैत्तिरीयादिब्राह्मणेषु 'तत्तन्नादृत्यम्' (ऐब्रा २·२३) 'तत्तथा न कार्यम्' (तैब्रा १·१·८·६) इति वाक्याभ्यां बहवो विधयो निषिद्धाः। अपि च ऐतरेयब्राह्मणे अनुदितहोमं बहुधा निन्दित्वा 'तस्मादुदिते होतव्यम्' (ऐब्रा ५·३१) इत्यसकृन्निगमितम्। तैत्तिरीयाश्च तथैवामनन्ति 'यदनुदिते सूर्ये प्रातर्जुहुयात्। उभयमेवाऽऽग्नेयं स्यात्। उदिते सूर्ये प्रातर्जुहोति' (तैब्रा २·१·२·७) इति। पुनरपि त एव उदितहोमे दोषमामनन्ति—'यदुदिते सूर्ये प्रातर्जुहुयात्। यथाऽतिथये प्रद्रुताय शून्यायाऽऽवसथायाऽऽहार्यं हरन्ति। तादृगेव तत्' (तैब्रा २·१·२·१२) इति। तथैव 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इति विधिः 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इति निषेधेन बाध्यते। ज्योतिष्टोमादिष्वपि अनुष्ठानानन्तरमेव स्वर्गादिफलं नोपलभ्यते। न हि भोजनानन्तरं तृप्तेरनुपलम्भोऽस्ति। तस्मात् कर्मविधिषु प्रामाण्यं दुःसंपादम्॥ अज्ञातज्ञापकेषु ब्रह्मविधिष्वपि परस्परविरोधान्नास्ति प्रामाण्यम्। 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' इति ऐतरेयिण आमनन्ति। 'असद्वा इदमग्र आसीत्' (तैआ ८·७) इति

उक्त द्रव्योंकी अयोग्यता विधिवाक्यके शेष वाक्य द्वारा विहित है– 'अनाहुतिर्वै जर्तिलाश्च गवीधुकाश्च' (तैसं ५·४·३·२)। यहाँ आहुतिद्रव्योंके रूपमें जंगली तिलों तथा गोधूमों का उपयोग निषिद्ध माना गया है। इससे बाधित होनेवाली जर्तिल–विधि प्रमाण नहीं हो सकती। इसी तरह ऐतरेय, तैत्तिरीय आदि ब्राह्मणोंमें 'तत्तन्नादृत्यम्' [उन-उनका निरादर करना चाहिए–ऐब्रा २·२३] तथा 'तत्तथा न कार्यम्' [उसे उस तरह नहीं करना चाहिए–तैब्रा १·१·८·६] जैसे वाक्योंमें कई विधियोंका निषेध किया गया है। साथ साथ ऐतरेय ब्राह्मणमें कई प्रकारोंसे अनुदित (सूर्योदयके पूर्व किए गए) होमकी निन्दा करके कई बार 'तस्मादुदिते होतव्यम्' [अतः सूर्योदयके उपरान्त ही होम करना चाहिए– ऐब्रा ५·३१] कहा गया है। तैत्तिरीयोंका भी यही अभिप्राय है–'यदनुदिते सूर्ये प्रातर्जुहुयादुभयमेवाग्नेयं स्यादुदिते सूर्ये प्रातर्जुहोति' (तैब्रा २·१·२·७)। बादमें ये ही लोग उदित होमका दोष बतलाते हुए कहते हैं–'यदुदिते सूर्ये प्रातर्जुहुयाद् यथा अतिथये प्रद्रुताय शून्यायावसथायाहार्यं हरन्ति। तादृगेव तत्' [सूर्योदयके बाद हवन करना यह घर आए हुए अतिथिके चले जानेपर सूने घरका स्वागत करने जैसा ही है– तैब्रा. २·१·२·१२]। इसी प्रकार 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' यह विधि 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति जैसे निषेधसे बाधित होता है॥ ज्योतिष्टोम आदि यज्ञोंमें भी अनुष्ठानके उपरान्त शीघ्र ही स्वर्गादि फलकी प्राप्ति नहीं होती। व्यवहारमें तो भोजनके बाद शीघ्र ही तृप्तिका अनुभव न हो सो बात नहीं है। अतः स्पष्ट है कि कर्म– विधियोंकी प्रामाणिकताको सिद्ध करना कठिन है। अज्ञात अर्थका ज्ञान करानेवाली ब्रह्मसंबन्धी विधियोंमें भी परस्पर-विरोध पाया जाता है। ऐतरेयके अध्येताओंका कथन है 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' (ऐउ १·१)।

तैत्तिरीयाः। सोऽयं विरोधः। तस्मात् वेदे विधिभागः सर्वोऽप्यप्रमाणमिति प्राप्ते ब्रूमः—

अस्त्वेव जर्तिलादिविधेरप्रामाण्यं तदर्थस्याननुष्ठेयत्वात्। अनुष्ठेयस्त्वर्थः उपरितने 'अजाक्षीरेण जुहोति' (तैसं ५·४·३·२) इति वाक्ये विधीयते। तत्प्रशंसार्थमत्र जर्तिलादिकमनूद्य निन्द्यते। यथा गवामश्वानां च प्रशंसार्थम् 'अपशवो वा अन्ये गोअश्वेभ्यः' (तैसं. ५·२·९·४) इति वाक्येनार्थवादरूपेण अजादीनां पशुत्वं निन्द्यते, तद्वत्। एवं तर्हि अजादेर्यथा वस्तुतः पशुत्वमस्ति तथा जर्तिलादिविधिरत्र निन्द्यमानोऽपि क्वचित् शाखान्तरे भवेदिति चेत्, भवतु नाम। प्रामाण्यमपि तच्छाखाध्यायिनं प्रति भविष्यति। यथा गृहस्थाश्रमे निषिद्धमपि परान्नभोजनमाश्रमान्तरेषु प्रामाणिकं तद्वत्। अनेन न्यायेन सर्वत्र परस्परविरुद्धौ विधिनिषेधौ पुरुषभेदेन व्यवस्थापनीयौ। यथा मन्त्रेषु पाठभेदः शाखाभेदेन व्यवस्थितः तद्वत्। तैत्तिरीयाः 'वायवः स्थोपायवः स्थ' (तैसं १·१·१) इति मन्त्रमामनन्ति। वाजसनेयिनस्तु 'उपायवः स्थ' इत्येतं भागं नामनन्ति (वासं १·१); प्रत्युत शतपथब्राह्मणे स भागोऽनूद्य निराकृतः (शब्रा १·७·१·३)। तथा सूक्तवाकमन्त्रे शाखान्तरपाठं निराकृत्य पाठान्तरं तैत्तिरीयाः आमनन्ति—

तैत्तिरीयके अध्येता कहते हैं 'असद्वा इदमग्र आसीत्' (तैआ. ८·७)। इसलिए इन विधियोंको भी प्रमाण नहीं माना जा सकता। तात्पर्य वेदोंका विधियोंसे संबद्ध समूचा अंश अप्रामाणिक है ऐसा सिद्ध होता है।

• उत्तरपक्ष निम्नानुसार है। माना कि जर्तिल (जङ्गली तिल) आदि अनुष्ठानके लिए अनुचित होनेके कारण उनसे संबद्ध विधिको प्रामाण्य प्राप्त नहीं होता। किन्तु उक्त वाक्यके पहले 'अजाक्षीरेण जुहोति' (तैसं ५·४·३·२) में अनुष्ठान-योग्य अर्थका विधान हुआ है। और असलमें इसकी सराहनाके उद्देश्यसे जर्तिल (जङ्गली तिल) आदिका कथन करके उनकी उसी तरह निन्दा की गई है जैसे गौ और अश्व की प्रशंसा करनेके लिए 'अपशवो वा अन्ये गोअश्वेभ्यः' [गौ और अश्व को छोड़कर अन्य पशु ही नहीं हैं—तैसं ५·२·९·४] इस अर्थवाद-रूपी वाक्यद्वारा अज आदिके पशुभावकी निन्दा की गई है। यहाँ अगर यह कहा जाय कि जिस तरह निन्दाके बावजूद अज आदिमें वस्तुतः पशुभाव है उसी तरह जर्तिलादि विधिके यहाँ निन्दित होनेपर भी किसी अन्य शाखामें उसकी उपादेयता मानी जा सकती है तो हमारा कहना है कि जिस शाखामें यह विधि विद्यमान है उस शाखाके अध्येताओंके लिए वह उसी तरह प्रामाण्यसे युक्त होगी जिस तरह दूसरेके अन्नका भक्षण गृहस्थाश्रममें निषिद्ध होनेपर भी अन्य आश्रमोंमें प्रामाणिक माना जाता है। इस न्यायके अनुसार परस्पर-विरोध रखनेवाले विधि-निषेधोंकी व्यवस्था पुरुषके भेदके आधारपर कर लेना उचित है। यह व्यवस्था वास्तवमें शाखाभेदके आधारपर मन्त्रोंके पाठभेदकी व्यवस्थासे समानता रखती है। तैत्तिरीय शाखामें 'वायवः स्थ, उपायवः स्थ' (तैसं १·१·१) यह मन्त्रपाठ है; किन्तु वाजसनेयि शाखामें इसके 'उपायवः स्थ' वाले अंशका अभाव है। फिर भी शतपथ ब्राह्मणमें इस अंशका अनुवाद करके इसका निराकरण किया गया है। इसी तरह सूक्तवाक-मन्त्रमें अन्य शाखाके पाठका निराकरण करके तैत्तिरीय

'यद्ब्रूयात् सूपावसाना च स्वध्यवसाना चेति प्रमायुको यजमानः स्यात्' (तैसं २·६·९·६) इति निराकरणम्। 'सूपचरणा च स्वधिचरणा चेत्येव ब्रूयात्' (तैसं २·६·९·६) इति पाठान्तरोपदेशः। तत्रानुष्ठातृपुरुषभेदेन व्यवस्था। तद्वत् विधिषु द्रष्टव्यम्। षोडशिग्रहणादिदूषणं तु अश्रुतमीमांसावृत्तान्तस्य तवैव शोभते। पूर्वमीमांसायां दशमाध्यायस्याष्टमपादे षोडशिनो ग्रहणाग्रहणविकल्पो निर्णीतः (जैसू १०·८·६)। द्वितीयस्याध्यायस्य प्रथमपादे कालान्तरभाविफलसिध्यर्थमपूर्वं निर्णीतम् (जैसू २·१·५)। तद्वदुत्तरमीमांसायां प्रथमाध्यायस्य चतुर्थपादे 'कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः' (ब्रसू १·४·१४) इत्यस्मिन् सूत्रे जगत्कारणे परमात्मनि श्रुतिविप्रतिपत्तिर्निराकृता। द्वितीयस्याध्यायस्य प्रथमपादे आरम्भणाधिकरणे तु 'असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात्' (ब्रसू २·१·१७) इति सूत्रे तैत्तिरीयवाक्यगतस्य असच्छब्दस्य न शून्यपरत्वं किंतु अव्यक्तावस्थापरत्वम् इति निर्णीतम्। तथा जैमिनिः चोदनासूत्रे विधिवाक्यं धर्मे प्रमाणमिति प्रतिज्ञाय औत्पत्तिकसूत्रे तत्प्रामाण्यं समर्थयामास (जैसू १·१·२·५)। व्यासोऽपि 'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्रसू १·१·३) इति सूत्रे वेदान्तानां ब्रह्मणि प्रामाण्यं प्रतिज्ञाय 'तत्तु समन्वयात्' (ब्रसू १·१·४) इत्यादिसूत्रैः समर्थयामास।

शाखामें अलग पाठ स्वीकृत हुआ है। 'सूपावसाना च स्वध्यवसाना च' पाठको माननेसे तो यजमान ही चल बसेंगे यह निराकरण है, और इसीलिए 'सूपचरणा च स्वधिचरणा च' (तैसं २·६·९·६) का विधान करनेमें अलग पाठका उपदेश है। इस तरह अनुष्ठान करनेवाले पुरुषभेदके अनुसार विधियोंकी व्यवस्था कर लेना उचित है।

अतिरात्रमें षोडशिपात्रकी ग्रहण-विधिके विषयमें उठाया गया आक्षेप मीमांसा शास्त्रके विषयमें तनिक भी ज्ञान न रखनेवाले आपके लिए ही शोभा देता है। पूर्वमीमांसाके दसवें अध्यायके आठवें पादमें षोडशिपात्रके ग्रहण करने अथवा न करने के विकल्पका निर्णय किया गया है। दूसरे अध्यायके पहले पादमें कुछ कालके बाद प्राप्त होनेवाले फलकी सिद्धिके लिए अपूर्वका निर्णय हुआ है। उसी प्रकार उत्तर मीमांसाके पहले अध्यायके चौथे पादके चौदहवें सूत्रमें 'कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः' (ब्रसू १·४·१४)में जगत्के कारणरूपी परमात्माके विषयमें बतलाए गए श्रुतिवाक्योंके विरोधका परिहार किया गया है। दूसरे अध्यायके पहले पादके आरम्भणाधिकरणमें विद्यमान सूत्र 'असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात्'(ब्रसू २·१·१७)के आधारपर सिद्ध किया गया है कि तैत्तिरीयोपनिषद्के 'असद्वा इदमग्र आसीत्' का 'असत्' शब्द अव्यक्त अवस्थाका बोधक है, शून्यवाची नहीं। आचार्य जैमिनि भी चोदना सूत्रमें (१·१·२) धर्मके विषयमें विधिवाक्यके प्रमाण होनेका प्रथम उल्लेख करते हुए औत्पत्तिकसूत्रमें (१·१·५) इस प्रामाण्यका समर्थन करते हुए दिखाई देते हैं। इसी तरह महर्षि व्यास भी 'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्रसू १·१·३) द्वारा ब्रह्मके विषयमें वेदान्तों या उपनिषदों के प्रामाण्यका पहले प्रतिपादन करते हैं और बादमें 'तत्तु समन्वयात्' (ब्रसू १·१·४) आदि सूत्रोंकी सहायतासे इस प्रामाण्यका समर्थन करते हैं। अतः चूँकि

तस्मात् अमीमांसकस्य तव पूर्वोक्तस्थाण्वन्धन्यायो दुष्परिहरः। अतो विधिभागस्य प्रामाण्यं सुस्थितम् ॥

अर्थवादभागस्य प्रामाण्यं महता प्रयत्नेन जैमिनिः समर्थयामास। तत्सूत्राणि व्याख्यास्यन्ते (जैसू १·२·१-१८)। तत्र पूर्वपक्षं सूत्रयति—'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्यमुच्यते' इति। आम्नायस्य सर्वस्य क्रिया-प्रतिपादनाय प्रवृत्तत्वादक्रियाप्रतिपादकानामर्थवादानां नास्ति कश्चित् विवक्षितः स्वार्थः। ते चार्थवादा एवमाम्नायन्ते- 'सोऽरोदीद्यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्' (तैसं १·५·१·१), 'स आत्मनो वपामुदखिदत्' (तैसं २·१·१·४), 'देवा वै देवयजनमध्यवसाय दिशो न प्राजानन्' (तैसं ६·१·५·१) इति। यस्मादीदृशस्य वाक्यस्य विवक्षितार्थः कश्चिदपि नास्ति तस्मादिदं वाक्यमनित्यमुच्यते। यद्यप्यनादित्वात् स्वरूपेणानित्यत्वं नास्ति तथापि धर्मावबोधनलक्षणस्य नित्यकार्यस्याभावात् अनित्यैः काव्यालापैः समानत्वात् अप्रमाणमित्यर्थः॥ ननु उदाहृतानामर्थवादानामनुष्ठेये धर्मे प्रामाण्याभावेऽपि स्वार्थे प्रामाण्यमस्तु। तत्प्रत्यायकत्वेन स्वतःप्रामाण्यस्य अपवदितुमशक्यत्वात् इत्याशङ्क्य अन्येषु केषुचिदर्थवादेषु मानान्तरविरोधदर्शनादप्रामाण्ये सति तद्दृष्टान्तेन सर्वेषामप्र-

आप मीमांसक नहीं हैं, आपके विषयमें पूर्वोक्त स्थाणु–अन्ध–न्याय अपरिहार्य है। फलतः विधिरूपी वेदांशकी प्रामाणिकता सिद्ध होती है।

वेदके अर्थवादरूप अंशके प्रामाण्यका समर्थन महर्षि जैमिनिने बड़े यत्नसे किया है। अतः इस संबन्धमें हम उनके लिखे हुए सूत्रोंकी व्याख्या करेंगे। यहाँ सूत्रों द्वारा उपस्थित पूर्वपक्ष निम्नानुसार है :—

'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्यमुच्यते' (जैसू. १·२·१)। आम्नाय याने वेद अपने समग्र रूपमें क्रिया अथवा कर्म के प्रतिपादनमें प्रवृत्त हुआ है। अत एव उन अर्थवादोंमें क्रियाका प्रतिपादन न होनेसे कोई भी अर्थ विवक्षित नहीं है, और इन अर्थवादोंका कथन तो यों हुआ:-- 'सोऽरोदीद्यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्' [उस रुद्रने रुदन किया, यही उसका रुद्रत्व है'--तैसं. १·५·११], 'स आत्मनो वपामुदखिदत' [उसने (प्रजापतिने) अपनी वपा का हवन किया--तैसं. २·१·१·४], 'देवा वै देवयजनमध्यवसाय दिशो न प्राजानन' [देवोंने वेदिको निर्धारित करके दिशाओंको नहीं समझा--तैसं. ६·१·५·१]। चूँकि इस प्रकारके वाक्योंका कोई विवक्षित अर्थ नहीं है, इन्हें अनित्य कहना चाहिए। माना कि अनादि होनेके कारण ये वाक्य स्वरूपसे अनित्य नहीं हैं; फिर भी इनमें नित्य कार्यका याने धर्मका ज्ञान करानेकी शक्तिका अभाव है। अतः ये उसी तरह प्रामाणिकतासे हीन सिद्ध होते हैं जिस तरह काव्यगत अनित्य आलाप।

उपर्युक्त अर्थवाद अनुष्ठेय धर्मके विषयमें प्रमाण भले ही न हो, किन्तु अर्थका बोध करानेमें उनके प्रामाण्यको माननेमें कोई उज्र नहीं है। मतलब यह है कि उक्त अर्थवादमें कथित वस्तु अगर प्रामाणिक नहो तो यह संभव नहीं है कि उसको प्रतीत करानेवाले अर्थ-वादरूप वाक्यके स्वतःप्रामाण्यमें सन्देह किया जा सके। इस आशङ्काका उत्तर देनेके

र्थवादानामप्रामाण्यमित्यभिप्रेत्य सूत्रयति— 'शास्त्रदृष्टविरोधाच्च' इति। शास्त्रविरोधो दृष्टविरोधः शास्त्रदृष्टविरोधः इति त्रिविधो विरोधोऽर्थवादेषूपलभ्यते। तथा हि 'स्तेनं मनोऽनृतवादिनी वाक्' (मैसं ४·५·२) इत्यत्र श्रूयमाणं मानसं चौर्यं वाचिकमनृतवदनं च प्रतिषेधशास्त्रेण विरुद्धम्। 'तस्माद्धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे नार्चिस्तस्मादर्चिरेवाग्नेर्नक्तं ददृशे न धूमः' इत्यत्र दृष्टविरोधः। तथा 'न चैतद्विद्मो वयं ब्राह्मणा वा स्मोऽब्राह्मणा वा' (मैसं १·४·११) इत्यत्रापि प्रत्यक्षविरोधः। 'को हि तद्वेद यद्यमुष्मिँल्लोकेऽस्ति वा न वा' (तैसं ६·१·१·१) इत्यत्र शास्त्रदृष्टविरोधः। 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिशास्त्रे ह्यामुष्मिकं फलं दृश्यते। तस्मात् विरोधादर्थवादानामप्रामाण्यम् ॥ ननु 'सोऽरोदीत्' इत्यादीनां निष्प्रयोजनत्वात् 'स्तेनं मनः' इत्यादीनां च विरोधादप्रामाण्येऽपि फलप्रतिपादकानामर्थवादानां तदुभयवैलक्षण्यात् अस्तु प्रामाण्यमित्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—'तथा फलाभावात्' इति। यथा मानान्तरविरुद्धमर्थवादैरुक्तं तथा फलमप्यविद्यमानमेव तैरुच्यते। तथा हि गर्गत्रिरात्रं प्रकृत्य श्रूयते-'शोभतेऽस्य मुखं य एवं वेद' (तांब्रा २०·१६·६) इति।

लिए कुछ अन्य प्रमाणविरोधी होनेके कारण सभी अर्थवादोंके अप्रामाण्यको सिद्ध करनेके अभिप्रायसे पूर्वपक्षीने 'शास्त्रदृष्टविरोधाच्च' [१·२·२] में अर्थवादोंमें पाए जानेवाले तीन प्रकारके विरोधोंकी ओर संकेत किया ये तीन प्रकारके विरोध ऐसे हैं:— शास्त्र-विरोध, दृष्ट-विरोध तथा शास्त्रदृष्ट-विरोध। 'स्तेनं मनः अनृतवादिनी वाक्' में मनके चौर्य और वाणीके झूठ बोलनेका उल्लेख प्रतिषेध-शास्त्रका ['चौर्यं न कर्तव्यम्' 'नानृतं वदेत्'] विरोधी है। अतः इनमें शास्त्रविरोध है। 'तस्माद्धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे नार्चिः तस्मादर्चिरेवाग्नेर्नक्तं ददृशे न धूमः' [दिनमें अग्निका धूम ही दिखाई देता है, ज्वाला (प्रकाश) नहीं और रात्रिमें ज्वाला दिखाई देती है, धूम नहीं – तैब्रा २·१·२] में दृष्टविरोध है; क्योंकि प्रायः दिनमें अग्निकी ज्वाला और रात्रिमें उसका धूम ही दिखाई देता है। 'न चैतद् विद्मो वयं ब्राह्मणा वा स्मोऽब्राह्मणा वा' [मैसं. १·४·११] में भी प्रत्यक्ष–विरोध है; क्योंकि इस तरहकी आशङ्का संभव नहीं है। शास्त्रदृष्ट पदार्थके विरोधका उदाहरण 'को हि तद्वेद यदमुष्मिँल्लोकेऽस्ति न वा' [कौन जानता है कि उस परलोकमें कुछ है कि नहीं–तैसं ६·१·१] में उपस्थित है। क्योंकि 'स्वर्गकामो यजेत' आदि शास्त्रमें परलोकसंबन्धी फलका स्पष्ट प्रतिपादन है। इस तरहके तीनों प्रकारोंके विरोधके कारण अर्थवादोंकी अप्रामाणिकता सिद्ध होती है।

माना कि प्रयोजन-हीन होनेसे 'सोऽरोदीत्....' आदि विरोध-युक्त होनेके कारण 'स्तेनं मनः....' आदि अर्थवादरूप वाक्य प्रामाणिक नहीं माने जाएंगे। फिर भी फलका प्रतिपादन करनेवाले वाक्य उपर्युक्त दोनोंसे भिन्न हैं। अतएव इन्हें प्रामाणिक माननेमें क्या आपत्ति है? इसका उत्तर 'तथा फलाभावात्' में दिया गया है। इसका अर्थ है—प्रमाण-विरोधी वस्तुके कथनकी ही तरह अर्थवादोंमें उस फलका प्रतिपादन किया गया है जो विद्यमान नहीं होता। गर्गत्रिरात्रके प्रसङ्गमें श्रुतिका कथन है कि 'जो इस तरह जानता है उसका मुख शोभित होता है (तांब्रा २०·१६·६) और दर्शपूर्णमास–यज्ञके वेदाभि-

दर्शपूर्णमासयोर्वेदाभिमर्शनं प्रकृत्य श्रूयते– 'आस्य प्रजायां वाजी जायते य एवं वेद' (तैसं १·७·४·६) इति। न च वयं वेदितॄणां तत्फलमुपलभामहे॥ ननु ऐहिकफलवाक्यानां विसंवादात् अप्रामाण्येऽपि आमुष्मिकफलवाक्यानामस्तु प्रामाण्यमित्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—'अन्यानर्थक्यात्' इति। एवं हि श्रूयते–' पूर्णाहुत्या सर्वान् कामानवाप्नोति', 'पशुबन्धयाजी सर्वांल्लोकानभिजयति', 'तरति मृत्युं तरति पाप्मानं तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद' इति। तत्र अग्न्याधेयगतया पूर्णाहुत्या सर्वकामप्राप्तेरन्यानि अग्निहोत्रादीन्युत्तरकालीनान्यनर्थकानि स्युः। तथा निरूढपशुबन्धानुष्ठानेन सर्वलोकाभिजयात् ज्योतिष्टोमादीनामानर्थक्यम्। अध्ययनकालीनेनैव अश्वमेधवेदनेन ब्रह्महत्यादितरणात् तदनुष्ठानं च व्यर्थं स्यात्। तस्मात् आमुष्मिकफलवाक्यानामप्यप्रामाण्यम्॥ ननु मा भूत् फलवाक्यानां प्रामाण्यम्। तथापि निषेधवाक्येषु विरोधानुपलम्भादस्तु प्रामाण्यमित्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—'अभागिप्रतिषेधात्' इति। 'न पृथिव्यामग्निश्चेतव्यो नान्तरिक्षे न दिवि' (तैसं ५.२·७·१) इत्यत्र अन्तरिक्षस्य च दिवश्च प्रतिषेधभागित्वं नास्ति तत्र चयनप्रसङ्गस्यैवाभावात्॥ मा भूत्तर्हि निषेधानां

मर्शनके प्रकरणमें श्रुतिवचन है–जो इस तरह जानता है उस व्यक्तिकी सन्तानोंमें अन्न–संपन्न पुरुष जन्म लेता है'। किन्तु यह जाननेवाले व्यक्ति इस तरहका निर्दिष्ट फल प्राप्त करते हुए नहीं देखे जाते।

ऐहिक फलका प्रतिपादन करनेवाले अर्थवादात्मक वाक्योंमें विरोध है, इसलिए वे प्रामाणिक भले ही न हों; परन्तु परलोकसंबन्धी फलके प्रतिपादक वाक्योंकी प्रामाणिकतामें सन्देह रखनेकी आवश्यकता नहीं है। इस आक्षेपका उत्तर 'अन्यानर्थक्यात्'में है। 'पूर्णाहुति देकर [यजमान] अपनी सभी अभिलाषाओंकी पूर्ति करता है' [तैब्रा ३·८·१०·५]। 'पशुबन्ध यज्ञ करनेवालेको समस्त लोक प्राप्त होते हैं। जो अश्वमेध यज्ञ करता है और जो इस तरह जानता है वह मृत्यु, पाप एवं ब्रह्महत्यासे परे पहुँचता है' [तैसं ५·३·१२·२]। उपर्युक्त वाक्योंमेंसे पहले वाक्यके अनुसार अग्न्याधानमें सम्मिलित पूर्णाहुतिके द्वारा सभी अभिलाषाओंकी पूर्ति होनेकी वजहसे उस अग्न्याधानके उपरान्त विहित अग्निहोत्रादि क्रियाएं अर्थहीन हो जाएंगीं। उसी प्रकार दूसरे वाक्यके अनुसार निरूढ याने प्रसिद्ध पशुबन्धके अनुष्ठानसे ही समस्त लोकोंकी प्राप्ति होनेके कारण ज्योतिष्टोम आदि याग निरर्थक बनेंगे। तीसरे वाक्यके अनुसार वेदोंके अध्ययनके अवसरपर ही पाए जानेवाले अश्वमेध-ज्ञानसे ब्रह्महत्या जैसे पातकोंका विनाश होगा। ऐसी दशामें अश्वमेध यज्ञके अनुष्ठानकी आवश्यकता ही नहीं रहेगी। इस प्रकार परलोकसंबन्धी फलका प्रतिपादन करनेवाले अर्थवादरूप वाक्योंकी अप्रामाणिकता सिद्ध होती है।

फलसंबन्धी अर्थवाद-वाक्योंको भले ही अप्रामाणिक मान लें; किन्तु निषेधवाची अर्थवाद-वाक्योंमें कोई विरोध दिखाई नहीं देता, उन्हें प्रामाणिक माननेमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती। इस कथनका उत्तर 'अभागिप्रतिषेधात्' सूत्र में प्राप्त होता है। श्रुतिका कथन है—'पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्युलोक में अग्निका चयन नहीं करना चाहिए'; किन्तु

प्रामाण्यम्। 'बबरः प्रावाहणिरकामयत' (तैसं ७·१·१०·२) इत्यादीनां पूर्वपुरुषवृत्तान्ताभिधायिनां विरोधानुपलम्भादस्तु प्रामाण्यमित्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—'अनित्यसंयोगात्' इति। बबरादिरूपेण अनित्येनार्थेन संयोगे सति अस्य वाक्यस्य ततः पूर्वमभावात् कालिदासादिवाक्यवत् पौरुषेयत्वं प्रसज्येत। किं बहुना सर्वथापि नास्त्येवार्थवादानां प्रामाण्यमिति पूर्वः पक्षः॥

सिद्धान्तं सूत्रयति—'विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' इति। तुशब्दोऽर्थवादानामप्रामाण्यं वारयति। 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा' इत्येवमादीनामर्थवादानां 'वायव्यꣳ श्वेतमालभेत' (तैसं २·१·१·१) इत्यादिना विधिना सहैकवाक्यत्वादस्ति धर्मे प्रामाण्यम्। न च विधिवाक्यस्य अर्थवादैरपेक्ष्येण पदान्वयसंपूर्तेस्तत्रार्थवादानां नास्त्युपयोगः इति शङ्कनीयम्। ते ह्यर्थवादाः पुरुषप्रवृत्तिमाकाङ्क्षतां विधीनां स्तुत्यर्थत्वेनोपयुक्ताः स्युः। स्तुत्या च प्रलोभितः पुरुषः तत्र प्रवर्तते॥ ननु अर्थवादानां प्रमादपठितत्वेन उपेक्षणीयत्वात् किमनेन एकवाक्यताप्रयासेन इत्याशङ्क्याह—'तुल्यं च सांप्रदायिकम्' इति। अनध्यायवर्जनादिनियमपुरःसरं गुरुसंप्रदायादध्ययनं

अन्तरिक्ष तथा द्युलोक में अग्निचयन करना वास्तवमें असंभव है। अतः इस संबन्धमें जो निषेध किया गया है वह कोई अर्थ नहीं रखता।

माना कि निषेधवाचक वाक्य इस तरह अप्रामाणिक है; परन्तु 'बबरः प्रावाहणिरकामयत' आदि पूर्व पुरुषोंके आचारका कथन करनेवाले वाक्योंमें किसी भी प्रकारके विरोधका अभाव है, अतः उन्हें प्रामाणिक मानना संभव है। इस कथनके खण्डनके लिए 'अनित्यसंयोगात्' में बतलाया गया है कि बबर आदि विनाशी अर्थोंके संयोगके कारण उनके पूर्व उपर्युक्त वाक्यका अभाव सिद्ध होता है और इस दशामें कालिदास आदिके वाक्योंकी भाँति इनका पौरुषेयत्व अनिवार्य है। तात्पर्य, किसी भी तरहसे क्यों न देखें, अर्थवाद-वाक्योंका अप्रामाण्य ही सिद्ध होता है।

उपर्युक्त पूर्वपक्षके उत्तरका आरम्भ निम्नानुसार है—

पहला सूत्र है 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' (जैसू १·२·७)। यहाँ 'तु' शब्द अर्थवादोंके अप्रामाण्यका निराकरण करता है। 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा' आदि अर्थवादोंकी 'वायव्यं श्वेतमालभेत' [तैसं. २·१·१·१] इत्यादि विधियोंके साथ एकवाक्यता है और इसी वजहसे धर्मके विषयमें उक्त अर्थवाद प्रामाणिक सिद्ध होते हैं। इसके विरोधमें यह कहना है कि इन अर्थवादोंकी अपेक्षा न रखते हुए भी विधि-वाक्योंके पदोंके अन्वयके संपन्न होनेके कारण इनका कोई उपयोग नहीं है यह शङ्का अनुचित है। क्योंकि मानवी प्रवृत्तिकी आकाङ्क्षा रखनेवाली विधियोंकी सराहनाके रूपमें अर्थवादोंका उपयोग स्पष्ट है। अर्थवादोंकी सराहनासे विहित कर्मकी ओर आकृष्ट होकर मानव उसमें प्रवृत्त होता है।

मालूम होता है कि अर्थवाद प्रमादों या भूलों से ही पठित हुए है। अतः इनकी ओर ध्यान न देना ही उचित है। विधियोंके साथ इनकी एकवाक्यताको सिद्ध करनेका कष्ट नाहक क्यों उठाया जाय! इसके समाधानमें 'तुल्यं च सांप्रदायिकम्' [१·२·८] लिखा

यत्तत् सांप्रदायिकम्। तच्च विधीनामर्थवादानां समानम्। तस्मात् विधिवदेतेषामपि प्रमादपाठो न भवति॥ ननु 'शास्त्रदृष्टविरोधाच्च' इत्येवमर्थवादेष्वनुपपत्तिरुक्तेत्याशङ्क्याह–'अप्राप्ता चानुपपत्तिः प्रयोगे हि विरोधः स्याच्छब्दार्थस्त्वप्रयोगभूतस्तस्मादुपपद्येत' इति। "स्तेनं मनः' इत्यादौ शास्त्रविरोधाद्यनुपपत्तिरप्राप्ता प्रयोगस्यानुक्तत्वात्। प्रयोगे हि स्तेयादीनामुच्यमाने शास्त्रविरोधः स्यात्। न चात्र स्तेयं कर्तव्यमिति प्रयोग उच्यते। किंतु स्तेयशब्दार्थः एवोच्यते। न च शब्दार्थः प्रयोगभूतः। तस्मात् शब्दार्थवचनमात्रेण शास्त्रविरोधाभावादयमर्थवादः उपपन्नः एव॥ ननु 'स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' इति यदुक्तं तत् असत् वैयधिकरण्यात्। 'वेतसशाखया चावकाभिश्च वि कर्षत्यापो वै शान्ताः' (तैसं ५.४.४.३) इत्यत्र वेतसावके विधीयेते आपश्च स्तूयन्ते इति वैयधिकरण्यमित्याशङ्क्याह–'गुणवादस्तु' इति। तु शब्दो वैयधिकरण्यदोषं वारयति। गुणवादो ह्यत्र विवक्षितः। यथा लोके कश्मीराभिजनो देवदत्तः कश्मीरदेशेषु स्तूयमानेषु स्तुतमात्मानं मन्यते एवमत्रापि अद्भ्यो जाते वेतसावके अप्सु स्तुतासु स्तुते एव भवतः। शान्ताभ्योऽद्भ्यो

गया। संप्रदायिक अध्ययन वह है जो गुरु-परम्परासे और अनध्यायके दिनोंमें वर्ज्य मानने जैसे नियमोंके परिपालनसे किया जाता है। क्या विधियाँ, क्या अर्थवाद, दोनोंमें यह सांप्रदायिकता समान ही है। अतः विधियोंकी तरह अर्थवाद भी प्रमादसे पठित नहीं माने जाते।

यदि यह कहा जाय कि, 'शास्त्रदृष्टविरोधाच्च' में हमने अर्थवादोंकी अनुपपत्तिको सिद्ध किया है, तो इसके खण्डनके लिए 'अप्राप्ता चानुपपत्तिः प्रयोगे हि विरोधः स्याच्छब्दार्थस्त्वप्रयोगभूतस्तस्मादुपपद्यते' [१.२.९] की रचना हुई।

'स्तेनं मनः···' आदि अर्थवाद-वाक्योंमें प्रयोगका कथन नहीं है। अतः इनमें शास्त्र-विरोध-जनित अनुपपत्तिका प्रश्न नहीं उठता। शास्त्र-विरोध तभी होता जब प्रयोगमें स्तेय (चौर्य) का उल्लेख होता। यहाँ केवल 'स्तेय' शब्दके अर्थका प्रतिपादन है; 'स्तेयं कर्तव्यम्' जैसा प्रयोग नहीं किया गया है। स्तेय शब्दका अर्थ कहना और उसे प्रयुक्त करना एक नहीं है। केवल शब्दार्थके कथनसे शास्त्रविरोध उत्पन्न नहीं होता। अतएव उक्त अर्थवादके औचित्यमें सन्देह नहीं है।

अर्थवादोंकी प्रामाणिकताके लिए 'स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' में दिया गया तर्क ठीक नहीं है; क्योंकि अर्थवाद और विधिमें वैयधिकरण्य या विषय-भेद भी पाया जाता है। उदाहरण के तौरपर 'वेतसशाखया चावकाभिश्च विकर्षत्यापो वै शान्ताः' को लीजिए। इस अर्थवादमें विधान है वेतस तथा अवका (शैवाल)का और प्रशंसा है उदककी। एकवाक्यतापर किए गए इस आक्षेपका उत्तर सूत्रकारने 'गुणवादस्तु' में दिया है। इस सूत्रका 'तु' शब्द वैयधिकरण्यके दोषका निराकरण करता है। यहाँ गुणवाद अर्थात् विधि-वाक्यकी प्रशंसा विवक्षित है। जिस प्रकार कश्मीरका निवासी देवदत्त कश्मीरकी सराहनाको अपनी सराहना समझता है, उसी तरह यहाँ जलकी या उदककी प्रशंसा होनेपर उससे उत्पन्न वेतस एवं अवकाकी भी प्रशंसा संपन्न होती है। शान्त उदकसे उत्पन्न होनेके

जातत्वात् वेतसावके स्वयमपि शान्ते सत्यौ यजमानस्यानिष्टं शमयतः इत्येतादृशस्य गुणस्य वादोऽत्राभिप्रेतः। 'सोऽरोदीत्' इत्यत्रापि रजतस्य पतिताश्रुरूपत्वात् रजतदाने गृहेऽपि रोदनप्रसङ्गात् 'बर्हिषि रजतं न देयम्' इति तन्निषेधेन विधेयेनार्थवादस्यैकवाक्यत्वम्। तत्र रजतदानाभावे रोदनाभावरूपो गुणोऽत्र विवक्षितः। तेन च गुणेन रजतदाननिवारणरूपो विधिः स्तूयते। यद्यपि रजतस्य अश्रुप्रभवत्वमत्यन्तमसत् तथापि यथोक्तरीत्या विधेः स्तुतिः संपद्यते। 'यः प्रजाकामः पशुकामः स्यात् स एतं प्राजापत्यमजं तूपरमा लभेत' (तैसं २·१·१·४-५) इत्ययं विधिः प्रजापतिवपोत्खेदेन स्तूयते। यस्मात् प्रजापतिः स्ववपामपि उत्खिद्य अग्नौ प्रहृत्य ततो जातं तूपरम् अजम् आत्मार्थमालभ्य प्रजाः पशूंश्च लब्धवान्, तस्मात् प्रजादिसंपादकोऽयं तूपरः इति तूपरगुणस्य वादोऽत्र विवक्षितः। 'आदित्यः प्रायणीयश्चरुः' इत्येष विधिः 'दिशो न प्राजानन्' इत्यनेन दिङ्मोहेन स्तूयते। यदियमदितिर्देवता दिङ्मोहमपनीय दिग्विशेषं ज्ञापयति तदा बहुविधकर्मसमुदायरूपे सोमयागेऽनुष्ठानविषयं भ्रममपनयतीति किमु वक्तव्यमित्येवम् अदितिदेवतागतस्य गुणस्य वादोऽत्र विवक्षितः। स्वकीयवपोत्खेदः, देवयजनाध्यवसानमात्रेण दिङ्मोहश्चेत्युभयमस्तु वा मा

कारण वेतस तथा अवका भी स्वयं शान्त होतीं हैं और यजमानके अनिष्टका शमन करतीं हैं। इस प्रकार यहाँ अभिप्राय इनके गुणवाद याने गुणके कथनसे है। 'सोऽरोदीत्' में भी कहा गया है कि रजत गिरनेवाले आँसुओंका रूप याने वर्ण धारण करता है, इस कारण रजतके दानसे घरमें रोदनका प्रसङ्ग उपस्थित होगा ही। अतः 'बर्हिषि रजतं न देयम्' रूपी निषेधसे इस अर्थवादकी विधिसे एकवाक्यता होती है। रजतदानके अभावमें रोदनके अभावरूपी गुण यहाँ विवक्षित है। इस गुणके द्वारा यहाँ रजतदानकी निवारणरूपी विधिकी प्रशंसा होती है। इस प्रकार रजतकी आँसुओंसे उत्पत्ति नितान्त असंभव है, फिर भी उक्त ढंगसे 'सोऽरोदीत्' द्वारा विधिकी सराहना होती है। 'यः प्रजाकामः पशुकामः स्यात् स एतं प्राजापत्यमजं तूपरमालभेत' ['जो व्यक्ति संतान तथा पशुओं की प्राप्तिकी अभिलाषा रखता है वह प्रजापतिको प्रसन्न करनेके लिए तूपर (भग्नशृङ्ग) अजका वध करे' [तैसं. २·१·१·४·५] में विहित विधिकी प्रशंसा प्रजापति द्वारा अपने वपोत्खेदकी बात कहनेवाले अर्थवाद द्वारा हुई है। प्रजापतिने अपनी वपाको निकालकर अग्निको अर्पण किया और उससे उत्पन्न तूपर अजका आलम्भन याने वध करके प्रजा एवं पशुओं को पा लिया। इससे सिद्ध है कि तूपर अज प्रजा एवं पशुओं की प्राप्ति कराता है और उसके इसी गुणका कथन यहाँ अभिप्रेत है। इसी प्रकार 'दिशो न प्राजानन्' वाक्यरूपी अर्थवाद द्वारा दिङ्मोहरूपी गुणका कथन करके 'आदित्यः प्रायणीयश्चरुः' [तैसं. ६·१·५·१] के विधिकी स्तुति की गई है। जिस तरह अदिति देवता दिङ्मोहको दूर करके विशिष्ट दिशाका ज्ञान कराती है उसी तरह विभिन्न प्रकारोंके कर्मोंके समुदायरूपी सोमयागमें अनुष्ठानसंबन्धी भ्रमको भी नष्ट करती है इसे स्वतन्त्र रूपसे कहनेकी क्या आवश्यकता है? इस प्रकार यहाँ उद्देश्य है अदिति देवतामें विद्यमान गुणकी यहाँ

वा। सर्वथापि स्तुतिपरत्वमभ्युपगच्छतामस्माकं न किंचिद्धीयते। 'शिखा ते वर्धते वत्स गुडूचीं श्रद्धया पिब' इत्यादावविद्यमानेनाप्यर्थेन लोके स्तुतिदर्शनात् ॥

अथ पूर्वपक्षिणा शास्त्रविरोधं दर्शयितुं यदुदाहृतं 'स्तेनं मनोऽनृतवादिनी वाक्' इति तत्रोत्तरं सूत्रयति--'रूपात् प्रायात्' इति। 'हिरण्यं हस्ते भवत्यथ गृह्णाति' इत्येतं विधिं स्तोतुमयमर्थवाद उच्यते। यथा लोके किमृषिणा, देवदत्त एव पूजयितव्य इत्यत्र देवदत्तपूजां स्तोतुमेव औदासीन्यमृषावुपन्यस्यते, न तु पूज्यत्वमृषेर्वारयितुम्; एवमत्रापि हस्ते हिरण्यग्रहणं प्रशंसितुं मनसः स्तेनरूपत्वं वाचोऽनृतवादित्वं चोपन्यस्यते। तत्र गुणवादेन शब्दार्थो योजनीयः। यथा स्तेनाः प्रच्छन्नरूपा एवं मनोऽपीति प्रच्छन्नरूपत्वमत्र गुणः। प्रायेण वागनृतं वक्तीति प्रायिकत्वं तत्र गुणः। हस्तस्तु न प्रच्छन्नो नाप्यनृतबहुलः। अतो हस्ते हिरण्यधारणं प्रशस्तमिति स्तूयते। यदपि दृष्टविरोधाय 'धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे' इत्यादिकमुदाहृतं तत्रोत्तरं सूत्रयति-- 'दूरभूयस्त्वात्' इति। 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति सायं जुहोति', 'सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहेति प्रातः' इत्येतौ विधी स्तोतुं सोऽर्थवादः। यस्मात् अर्चिर्दिवा

सराहना करना। अब वस्तुतः प्रजापतिद्वारा अपनी वपाको निकाला गया हो या न हो, अथवा देवयजनके विषयमें केवल निश्चय करनेसे दिङ्मोह असलमें हुआ हो या न हो; अर्थवादोंको केवल प्रशंसा-पर माननेवाले हम लोगोंकी उससे कोई हानि नहीं होती। मानी हुई बात है कि 'वत्स, तुम्हारी चोटी बढ़ रही है, श्रद्धाके साथ गुड़च पीते रहो' जैसी व्यावहारिक उक्तियोंमें सर्वथा असत्य अर्थकी प्रशंसा की जाती है।

शास्त्रविरोधको बतलाते हुए पूर्वपक्षीने 'स्तेनं मनोऽनृतवादिनी वाक्' इस अर्थवादको उद्धृत किया था। इसका उत्तर 'रूपात् प्रायात्' (१·२·११) में प्राप्त होता है। उपर्युक्त अर्थवाद (स्तेनं मनो....) में 'हिरण्यं हस्ते भवति अथ गृह्णाति' [जब ग्रहण करता है तब उसके हाथमें सुवर्ण होता है] इस विधिकी प्रशंसाके लिए है। जिस तरह 'ऋषिसे क्या मतलब ? देवदत्त ही पूज्य है' जैसे व्यावहारिक वाक्यमें देवदत्तकी पूजाकी प्रशंसाके लिए ही ऋषिके विषयमें उदासीनता व्यक्त की गई है, ऋषिकी पूज्यताको हटानेके लिए नहीं; उसी तरह इस स्थानपर हाथके सुवर्णके ग्रहणकी प्रशंसाके अभिप्रायसे ही मनके स्तेनरूपका और वाणीके अनृतवादित्वका उपन्यास किया गया है। अतः यहाँ गुणवाद अथवा लक्षणा के आधारपर शब्दोंका अर्थ समझना समीचीन है। चोरोंकी तरह मन भी प्रच्छन्न या छिपा हुआ रहता है इसमें छिपा रहना यह गुण है, और वाणी प्रायः झूठ बोलती है इसमें प्रायिकत्वरूप गुण अभिप्रेत है। अब हाथ न तो प्रच्छन्न है, न प्रायः झूठा। इसलिए हाथमें हिरण्य या सुवर्णधारण करना प्रशस्त है। यही इस विधिकी प्रशंसा है।

'धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे' आदिमें जो दृष्टविरोध दिखाया गया है उसका उत्तर 'दूरभूयस्त्वात्' (१·२·१२) में दिया गया है। उपर्युक्त अर्थवाद जिन दो विधियोंकी प्रशंसाके लिए प्रणीत है वे हैं 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति सायं जुहोति, सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहेति प्रातः' [ऐब्रा. ५·५·६]। अर्चि या ज्वाला दिनमें दिखाई

न दृश्यते तस्मात् सूर्यमन्त्र एव प्रातः प्रयोक्तव्यः। यस्मात् रात्रावर्चिरेव दृश्यते तस्मात् अग्निमन्त्रो रात्रौ प्रयोक्तव्य इत्येवं तयोर्मन्त्रयोः स्तुतिः। धूमार्चिषोरदर्शनोपन्यासस्तु दूरभूयस्त्वगुणनिमित्तः। भूयसि हि दूरे पर्वताग्रे वृक्षादयोऽपि न विस्पष्टं दृश्यन्ते, किंतु तृणसादृश्येन तेषां दर्शनाभास एव। तद्वदत्रापि॥ यदप्यन्यदृष्टविरोधायैवोदाहृतं 'न चैतद्विद्मो वयं ब्राह्मणा वा स्मोऽब्राह्मणा वा' इति तत्रोत्तरं सूत्रयति--'स्त्र्यपराधात् कर्तुश्च पुत्रदर्शनात्' इति। 'प्रवरे प्रव्रियमाणे ब्रूयाद्देवाः पितरः' इत्यस्य विधेः स्तावकोऽयमर्थवादः। यदि यजमानो 'देवाः पितरः' (तैब्रा ३·७·५·४) इत्यादिमन्त्रेण प्रवरमनुमन्त्रयेत् तदानीम् अब्राह्मणोऽपि ब्राह्मणो भवेत् इत्यनुमन्त्रणस्य स्तुतिः। 'न चैतद्विद्मः' इत्येतदज्ञानवचनं दुर्ज्ञानत्वगुणेन तत्र प्रयुज्यते। यत्र स्त्रिया अपराधो भवति तत्र कर्तुरुत्पादयितुर्जारस्यापि पुत्रो दृश्यते। अतः पत्युपपत्योरुभयोः पुत्रदर्शनात् स्वकीयजन्म कीदृशमिति दुर्ज्ञानम्। अनेनाभिप्रायेण प्रयुक्तत्वात् नास्ति तत्र दृष्टविरोधः। न हि तत्र दृश्यमानं स्वब्राह्मण्यमपवदितुं 'न चैतद्विद्मः' इत्युपन्यस्तम्॥ यदपि शास्त्रीयदर्शनविरोधायोदाहृतं 'को हि तद्वेद यद्यमुष्मिँल्लोकेऽस्ति वा न

नहीं देती; अतः सूर्य-मन्त्र प्रातःकालमें प्रयुक्त होना चाहिए और चूँकि वही (ज्वाला) रात्रिमें दिखाई देती है, अग्निके मन्त्रका प्रयोग रातमें करना चाहिए। इस प्रकार 'धूम एवाग्नेः...' आदिमें इन दोनों विधियोंकी स्तुति है। धूम और ज्वाला के क्रमशः रात्रि तथा दिन में दिखाई न देनेका जो उल्लेख है वह दूरभूयस्त्वरूप गुणके निमित्तसे किया गया है। सुदूर पर्वतके शिखरपर वृक्ष आदि भी स्पष्ट रूपसे दिखाई नहीं देते, तृणके सदृश होनेके कारण उनका सिर्फ़ आभास होता है। उसी तरह यहाँ भी समझना चाहिए।

दृष्टविरोधको सिद्ध करनेके लिए पूर्वपक्षी द्वारा और एक उदाहरण 'हम ब्राह्मण हैं या अब्राह्मण यह हम नहीं जानते' में दिया गया है। इस आक्षेपका खण्डन 'स्त्र्यपराधात् कर्तुश्च पुत्रदर्शनात्' (१·२·१३) में किया गया है। वह अर्थवाद वास्तवमें 'प्रवरे प्रव्रियमाणे ब्रूयाद्देवाः पितरः' [प्रवरके कहे जानेके समय 'देवाः पितरः' के मन्त्रसे यजमान प्रवरका अनुमन्त्रण करे' मैसं. १·४·११] में विहित विधिकी स्तुति करता है। यदि यजमान 'देवाः पितरः' आदि मन्त्रसे प्रवरका अनुमन्त्रण करता है तो उस समय वह अब्राह्मण हो तो भी ब्राह्मण हो जाता है, यही उस अनुमन्त्रणकी सराहना है। उक्त अर्थवादके 'न चैतद्विद्मः' याने 'हम नहीं जानते' में अज्ञानका जो कथन है वह 'समझनेके लिए दुष्करत्वरूप' गुणसे प्रयुक्त हुआ है। देखा गया है कि स्त्रीके अपराधके कारण उपपति भी पुत्रको उत्पन्न करता है। वह पुत्र पति एवं उपपति दोनोंसे संबद्ध होता है। ऐसी दशामें अपना जन्म किससे हुआ यह समझना दूभर होता है। इसी अभिप्रायसे यह अर्थवाद प्रयुक्त हुआ है। तात्पर्य उक्त अर्थवादमें 'न चैतद्विद्मः' का अभिप्राय अपने दृश्यमान ब्राह्मणत्वके निराकरणसे बिलकुल नहीं है; अतः इसमें कोई दृष्टविरोध नहीं है।

शास्त्र-दृष्ट पदार्थके विरोधके उदाहरणके रूपमें पूर्वपक्षीने 'को हि तद् वेद

वा' इति तत्रोत्तरं सूत्रयति—'आकालिकेप्सा' इति। 'दिक्ष्वतीकाशान् करोति' इति प्राचीनवंशस्य द्वारविधिः। तस्य शेषोऽयं 'को हि तद्वेद' इति। धूमाद्युपद्रवपरिहारेण प्रत्यक्षेण फलेन द्वारविधिः स्तूयते। स्वर्गप्राप्तिरूपं तु फलमाकालिकम्। अकाले भवमाकालिकं विप्रकृष्टकालीनं न त्विदानींतनमित्यर्थः। तस्येप्सा प्राप्तुमिच्छा। सा च 'को हि तद्वेद' इत्यनिश्चयोपन्यासे कारणम्। यथा भाविकालीनः पौत्रप्रपौत्रादिवृत्तान्तो निश्चेतुं न शक्यते, तद्वत् स्वर्गप्राप्तिर्भाविकालीनेति गुणयोगादनिश्चयोपन्यासः, धूमादिपरिहारस्तु प्रत्यक्षत्वात् निश्चित इत्यभिप्रायः॥ यदप्यन्यद्दृष्टविरोधायोदाहृतं 'शोभतेऽस्य मुखं य एवं वेद' इति तत्रोत्तरं सूत्रयति—'विद्याप्रशंसा' इति। सोऽयं गर्गत्रिरात्रविधेः शेषः। तद्विषयं वेदनमपि मुखशोभाहेतुः किमुतानुष्ठानमिति स्तूयते। यथा कर्णाभरणादिना मुखं शोभितं भवति एवं वेदितुरुत्साहेनैव विकसितं वदनं शोभितमिव शिष्यैरुद्वीक्ष्यते। अतः शोभासादृश्यगुणयोगात् शोभते इत्युच्यते। यदप्यन्यद्विरोधायोदाहृतम् 'आस्य प्रजायां वाजी जायते य एवं वेद' इति सोऽपि वेदानुमन्त्रणविधेः शेषः। अत्रापि कैमुतिकन्यायेन स्तुतिः पूर्ववद्योजनीया।

यद्यमुष्मिंल्लोकेऽस्ति वा न वा' को उद्धृत किया है। उसका निराकरण आचार्य जैमिनिके 'आकालिकेप्सा' [१·२·१४] इस सूत्रमें हुआ है। 'दिक्ष्वतीकाशान् करोति' में अग्निशालामें प्राचीन बाँसका द्वार बनानेकी विधि है। 'को हि तद् वेद'....इसी विधिका यह शेष है। अग्निशालामें धूम आदि बाधाओंके परिहार जैसे प्रत्यक्ष फलके द्वारा इस द्वार-विधिकी स्तुति की गई है। स्वर्गकी प्राप्तिका फल आकालिक, अकालमें उत्पन्न याने बहुत बादमें प्राप्त होता है, तत्काल नहीं। ऐसे फलकी ईप्सा याने इच्छा 'को हि तद्वेद' याने कौन जानता है कि वह (स्वर्ग) इस लोकमें है या नहीं? जैसे अनिश्चय या सन्देह के उपन्यासका कारण बनती है। जिस तरह भावी पौत्र-प्रपौत्रादिके संबन्धमें निश्चित रूपसे कुछ नहीं कहा जा सकता उसी तरह स्वर्गकी प्राप्तिके भविष्यपर निर्भर होनेसे, [असलमें इस गुण के कारण] उसके संबन्धमें भी निश्चयके अभावको यहाँ प्रस्तुत किया गया है। धूम आदिका परिहार तो द्वारके बनानेसे प्रत्यक्ष रूपमें होता है; अतएव वह निश्चित है। इस अर्थवादका यही अभिप्राय है।

दृष्ट-विरोधको सिद्ध करनेके लिए और एक उदाहरण 'शोभतेऽस्य मुखं य एवं वेद' ['उसका मुख शोभित होता है जो इसे जानता है'; तांड्य २०·१६·६] में लिखा गया है। इसके प्रत्युत्तरमें 'विद्याप्रशंसा' (१·२·१५) यह सूत्र लिखा गया। यह अर्थवाद गर्गत्रिरात्रकी विधिका शेष है। इस विधिकी जानकारी भी मुखकी शोभाका कारण बनती है, फिर उसके अनुष्ठानके संबन्धमें कहना ही क्या है? इस रूपमें गर्गत्रिरात्र विधिकी सराहना यहाँ की गई है। कर्णभूषण पहने हुए व्यक्तिकी तरह इस विधिके जानकारका मुखमण्डल भी शिष्योंको उत्साहसे विकसित मालूम होता है। अतः शोभाकी समानताके इस गुणके कारण प्रस्तुत अर्थवादमें 'शोभते' कहा गया है।

'आऽस्य प्रजायां वाजी जायते य एवं वेद' इस अर्थवादको उपस्थित करके विरोधका

वेदितुः पुत्रः पितृशिक्षया स्वयमपि विद्वान् भवति। ततः प्रतिग्रहेणान्नं प्राप्नोति। तस्मात् ईदृशं गुणमभिप्रेत्य 'वाजी जायते' इत्युक्तम्॥

यदप्यन्यानर्थक्यायोदाहृतं 'पूर्णाहुत्या सर्वान् कामानवाप्नोति' इति तत्रोत्तरं सूत्रयति--'सर्वत्वमाधिकारिकम्' इति। 'पूर्णाहुतिं जुहुयात्' इत्यस्य विधेः शेषोऽयम्। सर्वकामावाप्तिहेतुत्वात् प्रशस्तेयमाहुतिरिति स्तूयते। यथा सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्या इत्यत्र सर्वत्वं स्वगृहागतब्राह्मणविषयम्, एवं पूर्णाहुत्या कर्मसाङ्गत्वे यत्फलं तस्मिन्नधिकारे प्रस्तावे संभाविते तद्विषयमेव सर्वत्वं द्रष्टव्यम्। पूर्णाहुतेरभावे सति आधानरूपं कर्म अङ्गविकलं भवति। तच्च वैकल्यं पूर्णाहुत्या समाधीयते इत्येकः कामः। तस्मिन् समाहिते सति आहवनीयाद्यग्नयोऽग्निहोत्रादिकर्मसु योग्या भवन्तीत्ययमन्यः कामः। तैश्च कर्मभिः तत्फलं प्राप्यते इति कामान्तरम्। ईदृशी सर्वकामावाप्तिः आहुत्यन्तरेष्वपि विद्यते इति चेत्, विद्यतां नाम। किं नश्छिन्नम्। न खल्वेतावता पूर्णाहुतिस्तुतेः काचित् हानिरस्ति॥ ननु पूर्णाहुतेरङ्गत्वात् तदीयफलश्रुतेरर्थवादत्वेन स्तावकत्वं भवतु, 'द्रव्य-

और एक उदाहरण उपस्थित किया गया है सही; किन्तु यह भी 'वेद' (कुंचीके आकारकी बनाई गई दर्भमुष्टि) अनुमन्त्रणकी विधिका शेष है। यहाँ भी पूर्ववत् कैमुतिक न्यायसे स्तुतिको समझ लेना चाहिए। इस वेदके अनुमन्त्रणको जाननेवाले व्यक्तिका पुत्र भी पिताके द्वारा प्राप्त शिक्षाके कारण विद्वान बनता है और प्रतिग्रहके द्वारा अन्न प्राप्त करता है। इस तरहके गुणके अभिप्रायसे यहाँ 'वाजी जायते' कहा गया है।

बादके अग्निहोत्र आदि कर्मोंकी व्यर्थताको सिद्ध करनेके लिए पूर्वपक्षीने 'पूर्णाहुत्या सर्वान् कामानवाप्नोति' इस अर्थवादको उद्धृत किया है। इसके उत्तरमें 'सर्वत्वमाधिकारिकम्' (१·२·१६) द्वारा बतलाया गया है कि वह अर्थवाद 'पूर्णाहुतिं जुहुयात्' इस विधिका शेष है। समस्त इच्छाओंकी पूर्तिके साधनके रूपमें उक्त आहुतिकी प्रशंसा की गई है। जिस तरह 'सभी ब्राह्मणोंको खिलाओ' में 'सभी' का संबन्ध गृहमें उपस्थित ब्राह्मणोंसे ही लगाया जाता है उसी तरह यहाँ 'सर्वान् कामान्' का संबन्ध असलमें उसी फलसे है जो इस पूर्णाहुतिसे साङ्ग कर्मके सिद्ध होनेपर उसके अधिकारमें निर्दिष्ट है। पूर्णाहुतिके अभावमें आधानरूपी कर्म अङ्गविकल याने अधूरा होता है। पूर्णाहुतिके द्वारा वह कर्म पूर्ण हो उठता है यही प्रथम अभिलाषाकी पूर्ति है। इस तरह आधानकर्मके संपन्न होनेके बाद आहवनीय आदि तीन अग्नि अग्निहोत्रादिके योग्य होते हैं यह दूसरी अभिलाषाकी पूर्ति है। इन अग्निहोत्रादि कर्मोंको पूर्ण करनेसे जो फल मिलता है उसीमें तीसरी अभिलाषा पूर्ण होती है। अब इस संबन्धमें यदि कोई यह कहता है कि इस तरह सभी इच्छाओंकी प्राप्ति या पूर्ति अन्य आहुतियोंके द्वारा भी हो सकती है याने उसके लिए पूर्णाहुतिकी आवश्यकता है सो बात नहीं; तो इसे माननेमें हमारी क्या हानि है? इससे पूर्णाहुतिकी प्रशंसामें कोई कमी पैदा नहीं होती।

माना कि पूर्णाहुति आधानकर्मका अङ्ग है और इसलिए उसके फलका प्रतिपादन करनेवाला वाक्य अर्थवादके रूपमें स्तुतिपर सिद्ध होगा। और आचार्य जैमिनिके 'द्रव्य-

संस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः' (जैसू ४·३·१) इति सूत्रेण निर्णीतत्वात्। पशुबन्धवाक्यस्य तु कर्मविधायकत्वात् सर्वलोकाभिजयस्य मुख्यफलत्वादन्यानर्थक्यं दुर्वारमित्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति--'फलस्य कर्मनिष्पत्तेस्तेषां लोकवत् परिमाणतः सारतो वा फलविशेषः स्यात्' इति। पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकेष्वन्यतमलोकाभिजयरूपं फलं पशुबन्धकर्मणा निष्पाद्यते। तेषां च पृथिव्यादीनां फलानां कर्मान्तरेण परिमाणाधिक्यं सारत्वं वा संपद्यते। ततः फलविशेषः स्यादिति नास्त्यानर्थक्यम्। लोकवत् इति उक्तार्थे दृष्टान्तः। यथा लोके निष्केण खारीपरिमितान् व्रीहीन् विक्रीय निष्कान्तरेण पुनः क्रये सति परिमाणाधिक्यं भवति। यथा वा निष्केण वस्त्रमात्रं लभ्यते निष्कद्वयेन तु सारभूतं दुकूलम्। तथा भोगाधिक्यं भोगसारत्वं वा कर्मान्तरेण द्रष्टव्यम्। ब्रह्महत्याया अपि मानस्याः स्वल्पाया वेदनमात्रेण तरणं, कायिकयास्तु महत्या अश्वमेधेनेति नास्त्यन्यानर्थक्यम्॥ योऽपि 'नान्तरिक्षे न दिवि' इत्यप्रसक्तप्रतिषेध उदाहृतः, तथा 'बबरः प्रावाहणिः' इत्यनित्यसंयोग उदाहृतस्तत्रोभयत्रोत्तरं सूत्रयति--

संस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः' [द्रव्य गुण तथा संस्कार कर्मोंमें जो फलश्रुति है वह परार्थ होनेके कारण अर्थवाद है] इस सूत्रमें यही निर्णय किया गया है। किन्तु 'पशुबन्धयाजी सर्वाँल्लोकान् जयति' यह वाक्य तो कर्मका विधान करनेवाला है, और समस्त लोकोंपर विजय प्राप्त करना मुख्य फल माना जाता है। अगर पशुबन्ध यागसे यह विजय संपन्न होती है; तो अन्य कर्मोंका अनुष्ठान तो व्यर्थ ही सिद्ध होगा। इससे बचना कैसे संभव है? इस आक्षेप का उत्तर 'फलस्य कर्मनिष्पत्तेस्तेषां लोकवत् परिमाणतः सारतो वा फलविशेषः स्यात्' (१·२·१७) में प्राप्त होता है। पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक मेंसे किसी एकपर विजय पशुबन्धसे प्राप्त होती है। अन्य कर्मोंसे इस फलोंके परिमाणमें या तो वृद्धि होती है या इनका मूल्य अधिक बढ़ता है। अतः विशेष फलकी प्राप्तिके साधन होने के कारण अन्य कर्मोंको व्यर्थ नहीं माना जा सकता। इसे स्पष्ट करनेके लिए व्यावहारिक उदाहरणको प्रस्तुत करनेके अभिप्रायसे सूत्रमें 'लोकवत्' का प्रयोग हुआ है। जिस तरह व्यवहारमें एक निष्कसे खारी (चार द्रोणोंके बराबर) भर धान खरीदकर दूसरे निष्कसे फिर उतना ही धान खरीदनेसे धानका परिमाण अधिक होता है अथवा एक निष्कसे वस्त्रमात्र मिलता है किन्तु दो निष्कोंसे वस्त्रका सारवान् रूप याने दुकूल (रेशमी वस्त्र) पाया जा सकता है, उसी तरह समझना चाहिये कि अन्य कर्मोंसे फलके परिमाण या मूल्यमें वृद्धि होती है। अश्वमेध यज्ञके अनुष्ठानके ज्ञानसे ही मानसिक ब्रह्महत्याका पाप नष्ट होता है किन्तु कायिक ब्रह्महत्यासे उत्पन्न पापका नाश प्रत्यक्ष अश्वमेधको संपन्न करनेपर ही होता है। अतः अन्य कर्मोंकी व्यर्थता नहीं होती।

'नान्तरिक्षे न दिवि' में किए गए अग्निचयनके निषेधको अप्रसक्त [या अप्राप्त] प्रतिषेधके उदाहरणके रूपमें पूर्वपक्षीद्वारा प्रस्तुत किया गया है और 'बबरः प्रावाहणिरकामयत' को अनित्यसंयोग बतलाकर आक्षेप उठाया गया है, इसके उत्तरमें 'अन्ययोर्यथोक्तम्' [१·२·१८] द्वारा कहा गया है कि इन दोनोंका उत्तर पहले ही दिया जा चुका

'अन्त्ययोर्यथोक्तम्' इति। अन्त्ययोरुदाहरणयोरुत्तरं पूर्वोक्तमेव द्रष्टव्यम्। अन्तरिक्षादौ चयननिन्दारूपोऽर्थवादो 'हिरण्यं निधाय चेतव्यम्' इत्यस्य विधेः शेषः। अतोऽत्र 'स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' इत्युक्तमेवोत्तरम्। अन्तरिक्षे चयनप्रसक्त्यभावात् तन्निन्दा नित्यानुवादोऽस्तु। तेनापि विधिः स्तोतुं शक्यते। नित्यसिद्धार्थानुवादिना वायोः क्षेपिष्ठत्वेन पशुविधेः स्तुतत्वात्। 'बबरः प्रावाहणिरकामयत' इत्यत्रापि बबरनामकः कश्चिदनित्यः पुरुषो मनुष्यो न विवक्षितः, किंतु बबरध्वनियुक्तः प्रकर्षेण वहनशीलो वायुर्व्यवहारदशायां नित्य एवार्थो विवक्षितः इत्येतदुत्तरं प्रथमपादस्यान्तिमाधिकरणे प्रोक्तम्। तस्मात् संभावितदोषाणां परिहृतत्वादर्थवादानामस्ति प्रामाण्यम्। तत्र संग्रहश्लोकाः—

वायुर्वा इत्येवमादेरर्थवादस्य मानता।
न विधेयेऽस्ति धर्मे किं किं वाऽसौ तत्र विद्यते॥
विध्यर्थवादशब्दानां मिथोऽपेक्षापरिक्षयात्।
नास्त्येकवाक्यता धर्मे प्रामाण्यं संभवेत् कुतः॥
विध्यर्थवादौ साकाङ्क्षौ प्राशस्त्यपुरुषार्थयोः।
तेनैकवाक्यता तस्माद्वादानां धर्ममानता॥ (जैन्या. १·२·१) इति॥

तदेवं वेदे विद्यमानानां त्रयाणां मन्त्रविध्यर्थवादभागानामप्रामाण्यकारणाभावात् बोध-

---

है। 'नान्तरिक्षे न दिवि' में अग्निचयनका जो निषेध किया गया है वह 'हिरण्यं निधाय चेतव्यम्' ['सुवर्णको रखकर चयन करना चाहिये' तैसं ५·२·७·१] में विहित विधिका शेष है और इसका उत्तर 'स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' में पहले ही दिया गया है। अन्तरिक्षमें अग्निचयन असंभव है; इसलिए उसकी निन्दा नित्यानुवाद सिद्ध होगी सही, किन्तु इसके (नित्यानुवादके) द्वारा भी विधिकी सराहना संभव है। यहाँ नित्यसिद्ध वस्तुका अनुवाद करनेवाली वायुकी शीघ्रगामिताके द्वारा पशुविधिकी प्रशंसा की गई है। 'बबरः प्रावाहणिरकामयत' का अभिप्राय बबर नामके किसी अनित्य पुरुषसे नहीं है; किन्तु बबरध्वनि करनेवाली और वेगसे बहनेवाली व्यवहारदशामें नित्य मानी जानेवाली वायुसे है यह प्रथमपादके अन्तिम अधिकरणमें ही कहा गया है। इस तरह सभी संभावित दोषोंका परिहार किया गया है। अतएव अर्थवादोंका प्रामाण्य सिद्ध होता है। इस संबन्धमें निम्नलिखित तीन संग्रह-श्लोक हैं:—

"वायुर्वा इत्येवमादेरर्थवादस्य मानता।
न विधेयेऽस्ति धर्मे किं किं वासौ तत्र विद्यते॥ १॥
विध्यर्थवादशब्दानां मिथोऽपेक्षापरिक्षयात्।
नास्त्येकवाक्यता धर्मे प्रामाण्यं संभवेत् कुतः॥ २॥
विध्यर्थवादौ साकाङ्क्षौ प्राशस्त्यपुरुषार्थयोः।
तेनैकवाक्यता तस्माद्वादानां धर्ममानता॥ ३॥"

इस तरह वेदके तीनों अंशों, मन्त्र, विधि तथा अर्थवादों के अप्रामाण्यके लिए कोई

कानां तेषां प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वाङ्गीकारात् कृत्स्नस्यापि वेदस्य प्रामाण्यं सिद्धम् ॥

५. वेदस्य अपौरुषेयत्वम् ।

ननु एवमपि वेदस्य पौरुषेयत्वेन विप्रलम्भकवाक्यवदप्रामाण्यं स्यात् । पौरुषेयत्वं च प्रथमपादे पूर्वपक्षत्वेन जैमिनिः सूत्रयामास--(जैसू. १·१·२७-३२)

' वेदांश्चैके संनिकर्षं पुरुषाख्याः ' इति । एके वादिनो वेदान् प्रति संनिकर्षं मन्यन्ते । कालिदासादिभिर्निर्मितानां रघुवंशादिग्रन्थानां समुच्चयार्थश्चकारः । ते ह्यत्र दृष्टान्ततया समुच्चीयन्ते । यथा रघुवंशादय इदानींतनास्तथा वेदा अपि । न तु वेदा अनादयः। अत एव वेदकर्तृत्वेन पुरुषा आख्यायन्ते। वैयासिकं भारतं वाल्मीकीयं रामायणमित्यत्र यथा भारतादिकर्तृत्वेन व्यासादय आख्यायन्ते, तथा काठकं कौथुमं तैत्तिरीयमित्येवं तत्तद्वेदशाखाकर्तृत्वेन कठादीनामाख्यातत्वात् वेदाः पौरुषेयाः ॥ ननु नित्यानामेव सतां वेदानामुपाध्यायवत् संप्रदायप्रवर्तकत्वेन काठकादिसमाख्या स्यादित्याशङ्क्य युक्त्यन्तरं सूत्रयति—' अनित्यदर्शनाच्च ' इति । अनित्या जननमरणवन्तो बबरादयो वेदे श्रूयन्ते- ' बबरः प्रावाहणिरकामयत ', ' कुसुरुबिन्द औद्दालकिरकामयत '

आधार नहीं है और अर्थग्राहक होनेके कारण तीनोंका स्वतःप्रामाण्य स्वीकृत होता है । फलस्वरूप समस्त वेदका प्रामाण्य सिद्ध है ।

५. वेदोंका अपौरुषयत्व ।

किन्तु यह सब होते हुए भी वेद पौरुषेय अथवा पुरुषप्रणीत है । अतएव वञ्चना करनेवाले वाक्योंकी तरह उसे प्रामाणिक नहीं माना जा सकता । वेदोंको पौरुषेय माननेवाले मतको आचार्य जैमिनिने प्रथम पादमें पूर्वपक्षके रूपमें उपस्थित किया है । इस संबन्धमें पहला सूत्र है ' वेदांश्चैके संनिकर्षं पुरुषाख्याः' (१·१·२७) । कुछ लोग मानते हैं कि वेदोंके संबन्धमें संनिकर्ष है याने वे समीपवर्ती कालमें प्रणीत हुए हैं । कालिदासादिके लिखित रघुवंशादि ग्रन्थोंका समावेश करनेके उद्देश्यसे सूत्रमें ' च ' का अन्तर्भाव हुआ है । यहाँ दृष्टान्त देनेके लिए इनका उल्लेख किया गया है । मतलब, रघुवंश आदि ग्रन्थोंकी तरह वेद भी आधुनिक हैं; अनादि नहीं । इसीलिए वेदोंके कर्ताओंके रूपमें पुरुषोंका निर्देश है। जिस तरह ' वैयासिकं भारतम् ' ' वाल्मीकीयं रामायणम् ' आदिमें व्यास तथा वाल्मीकिका निर्देश प्रणेताओंके रूपमें किया गया है उसी तरह काठक, कौथुम, तैत्तिरीय आदि वेद-शाखाओंके नामोंके आधारपर यह मानना उचित होगा कि कठ, कुथुम, तित्तिरि आदि पुरुष ही इन शाखाओंके प्रणेता हैं । अतः वेद भी पौरुषेय याने पुरुष-प्रणीत सिद्ध होते हैं ।

इस विषयमें अगर यह कहा जाय कि वेद तो नित्य ही हैं; कठ, कुथुम आदि उपाध्यायोंकी तरह विभिन्न संप्रदायोंके प्रवर्तक रहे होंगे । इसीलिए उनके नाम उन शाखाओंके साथ जोड़े गए होंगे । पूर्वपक्षीकी तरफ़से इसका उत्तर देते हुए आचार्य जैमिनिने ' अनित्यदर्शनाच्च ' [१·१·२८] लिखकर वेदोंका पौरुषेय सिद्ध करनेके लिए दूसरा तर्क उपस्थित किया । वेदोंमें जनन-मरण-शील बबर आदि व्यक्तियोंके नाम भी पाए जाते हैं । उदाहरणके रूपमें ' बबरः प्रावाहणिरकामयत ' [तैसं ७·१·१०·२] और ' कुसुरुबिन्द औद्दालकिरकामयत ' [तैसं ७·२·२·१] को लीजिए । इनके

(तैसं. ७·२·२·१) इति। तथा सति बबरादिभ्यः पूर्वमभावादनित्या वेदाः। विमतं वेदवाक्यं पौरुषेयं, वाक्यत्वात्, कालिदासादिवाक्यवत् इत्याद्यनुमानसमुच्चयार्थश्चकारः॥ सिद्धान्तं सूत्रयति–' उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम् ' इति। तु-शब्दो वेदानामनित्यत्वं वारयति। शब्दस्य वेदरूपस्य कठादिपुरुषेभ्यः पूर्वत्वमनादित्वं प्राचीनैरेव सूत्रैरुक्तम्। 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन संबन्धः' (जैसू. १·१·५), इत्यस्मिन् सूत्रे औत्पत्तिकशब्देन सर्वेषां शब्दानां वेदानां तदर्थानां तदुभयसंबन्धानां च नित्यत्वं प्रतिज्ञायोत्तराभ्यां शब्दाधिकरणवाक्याधिकरणाभ्यामुपपादितत्वात्। का तर्हि काठकाद्याख्याया गतिरित्याशङ्क्य संप्रदायप्रवर्तनात् सेयमुपपद्यते इत्युत्तरं सूत्रयति—' आख्या प्रवचनात् ' इति। अस्त्वियमाख्याया गतिः। ततः परं बबराद्यनित्यदर्शने यदुक्तं तस्य किमुत्तरमित्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति— ' परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम् ' इति। यत् परं बबरादिकं तत् शब्दसामान्यमेव न तु मनुष्यो बबरनामकोऽत्र विवक्षितः। बबरध्वनियुक्तस्य प्रवहणस्वभावस्य वायोरत्र वक्तुं शक्यत्वात्॥ ननु वेदे क्वचिदेवं श्रूयते—' वनस्पतयः सत्रमासत ', ' सर्पाः सत्रमासत ' इति। तत्र वनस्पतीनामचेतनत्वात् सर्पाणां चेतनत्वेऽपि विद्यारहितत्वात् न तदनुष्ठानं

आधारपर सिद्ध होता है कि वेद उक्त व्यक्तियोंके पूर्व विद्यमान नहीं थे; अतएव वे अनित्य हैं। इस विषयमें निम्नलिखित अनुमान भी किया जा सकता है:— वादविषय वेदवाक्य भी पौरुषेय हैं—क्यों कि वह वाक्य हैं—जैसे कालिदास आदिके वाक्य पुरुषकर्तृक या पौरुषेय हैं। इस अनुमानका भी समावेश करनेके अभिप्रायसे सूत्रमें ' च 'कार प्रयुक्त है।

' उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम् ' [१·२·२९] से उत्तरपक्षका आरम्भ होता है। सूत्रमें प्रयुक्त ' तु ' शब्द वेदोंकी अनित्यताका निवारण करता है। प्राचीन सूत्रोंमें ही कहा गया है कि वेदरूपी शब्द कठ आदि पुरुषोंसे पूर्व एवं अनादि है। ' औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन संबन्धः ' (१·९) इस सूत्रमें जैमिनिने ' औत्पत्तिक ' शब्दके द्वारा सभी शब्दों अर्थात् वेदों, वेदार्थों तथा दोनोंके संबन्धों की नित्यताकी प्रतिज्ञा की है और बादके दोनों अधिकरणोंकी, शब्दाधिकरण तथा वाक्याधिकरण की, सहायतासे इस नित्यताका उपपादन किया है। ऐसी दशामें काठक, कौथुम आदि नामोंकी समस्याका समाधान कैसे संभव है ? इन्हें संप्रदायोंके प्रवर्तकोंके रूपमें मान लेनेसे काठक कौथुम आदि शाखाओंके अभिधानोंका समाधान होता है इसे स्पष्ट करनेके लिए ' आख्या प्रवचनात् ' (१·१·३०) का प्रणयन हुआ।

अनित्य व्यक्तियोंके उल्लेखसे उत्पन्न दोषपरिहारके लिए ' परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम् ' (१·१·३१) की रचना की गई। अर्थात् बबर आदि शब्दसामान्य ही है; इसका अभिप्राय ' बबर ' नामके किसी पुरुष-विशेषसे नहीं है। यह कहना संभव है कि यहाँ बबरध्वनियुक्त प्रवहनशील वायु विवक्षित है।

वेदमें कभी कभी ' वनस्पतयः सत्रमासत ', ' सर्पाः सत्रमासत ' जैसे वाक्य पाए जाते हैं। वनस्पति अचेतन हैं और सर्प चेतन भले ही हों, किन्तु विद्याहीन हैं। अतएव

संभवति। अतो 'जरद्गवो गायति मद्रकाणि' इत्याद्युन्मत्तबालवाक्यसदृशत्वात् केनचित् कृतो वेद इत्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—'कृते चाविनियोगः स्यात् कर्मणः समत्वात्' इति। यदि ज्योतिष्टोमादि वाक्यं केनचित् पुरुषेण क्रियेत तदानीं कृते तस्मिन् वाक्ये स्वर्गसाधनत्वे ज्योतिष्टोमस्य विनियोगो न स्यात्, साध्यसाधनभावस्य पुरुषेण ज्ञातुमशक्यत्वात्। श्रूयते तु विनियोगः 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इति। न चैतदुन्मत्तवाक्यसदृशं, लौकिकविधिवाक्यवत् भाव्यकरणेतिकर्तव्यतारूपैस्त्रिभिरंशैरुपेताया भावनाया अवगमात्। लोके हि ब्राह्मणान् भोजयेदिति विधौ किं केन कथमित्याकाङ्क्षायां तृप्तिमुद्दिश्यौदनेन द्रव्येण शाकसूपादिपरिवेषणप्रकारेणेति यथोच्यते तथा ज्योतिष्टोमविधावपि स्वर्गमुद्दिश्य सोमेन द्रव्येण दीक्षणीयाद्यङ्गोपकारप्रकारेणेत्युक्ते कथमुन्मत्तवाक्यसदृशं भवेत्। वनस्पत्यादि सत्रवाक्यमपि न तत्सदृशम्, तस्य सत्रकर्मणो ज्योतिष्टोमादिना समत्वात्। 'यत्परो हि शब्दः स शब्दार्थः' इति न्यायविद आहुः। ज्योतिष्टोमादिवाक्यस्य विधायक-

दोनों सत्रका अनुष्ठान करनेमें असमर्थ हैं। फलस्वरूप उक्त वाक्य 'जरद्गवो गायति मद्रकाणि' जैसे पागलों अथवा बालकों के वाक्योंसे समानता रखते हैं। इनके आधारपर सिद्ध होता है कि वेदोंका प्रणयन किसी व्यक्तिके द्वारा हुआ है। इस आक्षेपका उत्तर 'कृते चाविनियोगः स्यात् कर्मणः समत्वात्' इस सूत्रमें दिया गया है। यदि 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इस वाक्यको किसी व्यक्ति या पुरुष द्वारा रचित मान लिया जाय, तो उसके बाद स्वर्गप्राप्तिके साधनके रूपमें ज्योतिष्टोमका विनियोग नहीं होता; क्योंकि स्वर्ग और ज्योतिष्टोम के साध्य साधनरूप संबन्धका ज्ञान किसी व्यक्तिको नहीं हो सकता। लेकिन उक्त श्रुतिसे स्पष्ट है कि ज्योतिष्टोमका इस रूपमें विनियोग हुआ है। उक्त वाक्यको पागलके वाक्यकी तरह अर्थहीन भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि लौकिक विधिवाक्यकी तरह इस वाक्यसे भी वही भावना प्रतीत होती है जो तीनों अंश – भाव्य, करण तथा इतिकर्तव्यता से युक्त हो। व्यवहारमें 'ब्राह्मणान् भोजयेत्' जैसे विधिवाक्यमें 'किम्' याने क्यों खिलाएं, 'केन' याने किससे खिलाएं और 'कथम्' याने कैसे या किस ढंगसे खिलाएं, ये आकाङ्क्षाएं उपस्थित होती हैं। इसका क्रमशः उत्तर है तृप्तिके उद्देश्यसे खिलाएं, ओदन आदि द्रव्यसे खिलाएं और शाक, सूप आदिको परोसकर खिलाएं। अब इस वाक्यकी तरह प्रस्तुत ज्योतिष्टोमसंबन्धी विधिवाक्यमें भी उक्त त्रिविध आकाङ्क्षाके उत्तर निम्नानुसार देना संभव है, ज्योतिष्टोमका अनुष्ठान स्वर्ग प्राप्तिके उद्देश्यसे करें, सोमरूपी द्रव्यसे करें और दीक्षणीय आदि अङ्गोंके साथ करें। ऐसी दशामें इस वाक्यको पागलके वाक्यकी तरह अर्थहीन कहना कैसे संभव है? 'वनस्पतयः सत्रमासत' को भी पागल-वाक्यकी सदृश नहीं माना जा सकता; क्योंकि सत्रका कर्म भी ज्योतिष्टोमकी तरह त्रिविध आकाङ्क्षासे युक्त है। न्यायविद् आचार्योंका, शब्दशास्त्रके ज्ञाताओंका कहना है कि शब्दका अर्थ वही है जिसके उद्देश्यसे शब्द कहा जाता है। इसके अनुसार विधायक होनेकी वजहसे 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' का अभिप्राय

त्वादनुष्ठाने तात्पर्यम्। वनस्पत्यादिसत्रवाक्यस्यार्थवादत्वात् प्रशंसायां तात्पर्यम्। सा चाविद्यमानेनापि कर्तुं शक्यते। अचेतना अविद्वांसोऽपि सत्रमनुष्ठितवन्तः, किं पुनश्चेतना विद्वांसो ब्राह्मणा इति सत्रस्तुतिः। चकारः पूर्वपक्षोक्तस्य वाक्यत्वहेतोः कर्त्रनुपलम्भेन पराहतिं समुच्चिनोति। तस्मात् नास्ति वेदस्य पौरुषेयत्वम्॥ अत्रैतौ संग्रहश्लोकौ—

" पौरुषेयं न वा वेदवाक्यं स्यात् पौरुषेयता।
काठकादिसमाख्यानाद्वाक्यत्वाच्चान्यवाक्यवत्॥
समाख्यानं प्रवचनाद्वाक्यत्वं तु पराहतम्।
तत्कर्त्रनुपलम्भेन स्यात्ततोऽपौरुषेयता॥" (जैन्या १·१·८) इति॥

ननु भगवता बादरायणेन वेदस्य ब्रह्मकार्यत्वं सूत्रितं—'शास्त्रयोनित्वात्' इति। ऋग्वेदादिशास्त्रकारणत्वात् ब्रह्म सर्वज्ञमिति सूत्रार्थः। बाढम्। नैतावता पौरुषेयत्वं भवति मनुष्यनिर्मितत्वाभावात्। ईदृशमपौरुषेयत्वमभिप्रेत्य व्यवहारदशायामाकाशादिवत् नित्यत्वं बादरायणेनैव देवताधिकरणे सूत्रितम्-'अत एव च नित्यत्वम्' (ब्रसू १·३·२९) इति।

उस यज्ञके अनुष्ठानसे है और अर्थवाद होनेके कारण 'वनस्पतयः सत्रमासत' जैसे वाक्यका अभिप्राय विधिवाक्यकी प्रशंसासे है। प्रशंसा तो उन साधनोंसे भी की जा सकती है जो विद्यमान न हों। जब अचेतन वनस्पतियों और ज्ञानहीन सर्पोंने भी सत्रका अनुष्ठान किया, तब चेतनावान् एवं विद्वान ब्राह्मणोंके विषयमें कहना ही क्या? इस रूपमें सत्रकी यहाँ प्रशंसा की गई है। सूत्रके 'च'कारसे यह समझना चाहिए की वेदोंको पौरुषेय बतलाने के लिए पूर्वपक्षी द्वारा जो वाक्यत्वरूप हेतु दिया गया है उसका भी निराकरण किया गया है। वेदोंके प्रणेताकी अनुपलब्धि इसका कारण है। अतः सिद्ध हुआ कि वेद पौरुषेय नहीं है। इस संबन्धमें निम्नलिखित संग्रहश्लोक हैं—

"पौरुपेयं न वा वेदवाक्यं स्यात् पौरुषेयता।
काठकादिसमाख्यानाद्वाक्यत्वाच्चान्यवाक्यवत्॥ १॥
समाख्यानं प्रवचनाद्वाक्यत्वं तु पराहतम्।
तत्कर्त्रनुपलम्भेन स्यात्ततोऽपौरुषेयता"॥ २॥ [जैन्या १·१·८]

वेदवाक्य पौरुषेय है अथवा नहीं यह प्रश्न है। काठकादि समाख्यानसे और अन्य पुरुषोंके वाक्यरूप दृष्टान्तसहित वाक्यत्वरूप हेतुसे भी उसकी पौरुषेयता सिद्ध होती है। तथापि प्रवचन द्वारा भी समाख्यानकी उपपत्ति होती है; और उसके कर्ताके अनुपलब्धिके कारण वाक्यत्वरूप हेतुका निराकरण होता है। इसलिए उसकी अपौरुषेयता सिद्ध है।

भगवान् बादरायणने अपने सूत्र 'शास्त्रयोनित्वात्' में वेदोंको ब्रह्मका कार्य बतलाया है। इस सूत्रका अर्थ है कि ऋग्वेद आदि शास्त्रोंका कारण होनेसे ब्रह्म सर्वज्ञ है। इस आक्षेपका समाधान करते हुए कहा गया है कि वेद ब्रह्मका कार्य है सही किन्तु इससे वे पौरुषेय सिद्ध नहीं होते क्योंकि वे मनुष्य द्वारा रचित तो नहीं हैं। स्वयं बादरायणने ही

श्रुतिस्मृती चात्र भवतः।' 'वाचा विरूप नित्यया, (ऋसं ८·७५·६) इति श्रुतिः। 'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा' (मभा १२·२२४·५५) इति स्मृतिः। तस्मात् कर्तृदोषशङ्काया अनुदयात् मन्त्रब्राह्मणात्मकस्य वेदस्य निर्विघ्नं प्रामाण्यं सिद्धम् ॥

६. मन्त्रब्राह्मणयोः स्वरूपनिर्णयः।

ननु मन्त्रब्राह्मणात्मकत्वं वेदस्य न युक्तं, तयोः स्वरूपस्य निर्णेतुमशक्यत्वात्। मैवम्। द्वितीयाध्यायस्य प्रथमपादे सप्तमाष्टमयोरधिकरणयोर्निर्णीतत्वात्। सप्तमाधिकरणमारचयति—

"अहे बुध्निय मन्त्रं म इति मन्त्रस्य लक्षणम्।
नास्त्यस्ति वाऽस्य नास्त्येतदव्याप्त्यादेरवारणात् ॥
याज्ञिकानां समाख्यानं लक्षणं दोषवर्जितम्।
तेऽनुष्ठानस्मारकादौ मन्त्रशब्दं प्रयुञ्जते ॥" (जैन्या २·१·७) ॥

आधाने इदमाम्नायते-'अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय' (तैब्रा. १·२·१·२६) इति। तत्र मन्त्रस्य लक्षणं नास्ति। अव्याप्त्यतिव्याप्त्योर्वारयितुमशक्यत्वात्। विहितार्थाभिधायको मन्त्रः इत्युक्ते 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते' (वासं. २४. २०) इत्यस्य मन्त्रस्य विधिरूपत्वादव्याप्तिः। मननहेतुर्मन्त्रः इत्युक्ते ब्राह्मणेऽतिव्याप्तिः। एवम् असिपदान्तो

देवताधिकरणमें 'अत एव च नित्यत्वम्' (ब्रसू. १·२.२९.) के द्वारा यह बतलाया है कि उक्त प्रकारके अपौरुषेयत्वके अभिमानसे आकाश आदिकी तरह वेद भी व्यवहारदशामें नित्य हैं। श्रुति एवं स्मृति दोनों इसका समर्थन भी करती हैं। श्रुति है 'वाचा विरूप नित्यया' (ऋसं ८·७५·६) और स्मृति है 'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा'। अतः वेदोंके कोई प्रणेता हों इस प्रकार सन्देहके उदयके लिए भी अवसर नहीं है। फलस्वरूप मन्त्र और ब्राह्मण रूपी वेदोंका प्रामाण्य निर्विघ्न रूपसे सिद्ध है।

६. मन्त्र और ब्राह्मणों का स्वरूपनिर्णय।

आक्षेपः—वेदोंको मन्त्रब्राह्मणात्मक कहा गया है सही; किन्तु उसे उचित नहीं माना जा सकता। क्योंकि मन्त्र तथा ब्राह्मण के स्वरूपका निर्णय करना असंभव है। इसके उत्तरमें कहा गया है कि पूर्वमीमांसाके अन्तर्गत दूसरे अध्यायके पहले पादके सातवें एवं आठवें अधिकरणमें मन्त्र तथा ब्राह्मण के स्वरूपका निर्णय किया जा चुका है।

आधान-प्रकरणमें कहा गया है, 'अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय' (तैब्रा. १·२·१·२६)। परन्तु यहाँ मन्त्रका जो कुछ लक्षण किया जायगा उसमें अव्याप्ति एवं अतिव्याप्ति के दोषोंका निवारण नहीं किया जा सकता। यदि मन्त्रको विहित अर्थका बोध करानेवाला कहें, तो 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते' इस विधिरूप मन्त्रपर यह लक्षण लागू नहीं हो सकता। यही अव्याप्ति है। अब मन्त्रको अगर मननरूप मान लें तो ब्राह्मणपर भी लागू होनेके कारण यह लक्षण अतिव्याप्त सिद्ध होगा। इसी तरह "मन्त्र वह है जिसके अन्तमें 'असि' पद आता है। अथवा मन्त्र वह है जिसके अन्तमें क्रियापद उत्तम पुरुषमें है" आदि लक्षण परस्पर अव्याप्तिके कारण त्रुटिपूर्ण ही सिद्ध होंगे।

मन्त्रः, उत्तमपुरुषान्तो मन्त्रः, इत्यादिलक्षणानां परस्परमव्याप्तिरिति चेत्। मैवम्। याज्ञिकसमाख्यानस्य निर्दोपलक्षणत्वात्। तच्च समाख्यानमनुष्ठानस्मारकादीनां मन्त्रत्वं गमयति। 'उरु प्रथस्व' (तैसं १·१·८·१) इत्यादयोऽनुष्ठानस्मारकाः। 'अग्निमीळे पुरोहितम्' (ऋसं. १·१·१) इत्यादयः स्तुतिरूपाः। 'इषे त्वा' (तैसं १·१·१·१) इत्यादयस्त्वान्ताः। 'अग्न आ याहि वीतये' (तैब्रा. ३·५·२·१) इत्यादय आमन्त्रणोपेताः। 'अग्नीदग्नीन् वि हर' (तैसं ६·३·१·२) इत्यादय प्रैषरूपाः। 'अधः स्विदासी३ दुपरि स्विदासी३ त्' (ऋसं. १०·१२९·५) इत्यादयो विचाररूपाः। 'अम्बे अम्बाल्यम्बिके न मा नयति कश्चन' (तैसं ७·४·१९·१) इत्यादयः परिदेवनरूपाः। 'पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः' (तैसं ७·४·१८·२) इत्यादयः प्रश्नरूपाः। 'वेदिमाहुः परमन्तं पृथिव्याः' (तैसं ७·४·१८·२) इत्यादय उत्तररूपाः। एवमन्यदप्युदाहार्यम्। ईदृशेष्वत्यन्तविजातीयेषु समाख्यानमन्तरेण नान्यः कश्चिदनुगतो धर्मोऽस्ति यस्य लक्षणत्वमुच्येत। लक्षणस्य चोपयोगः पूर्वाचार्यैर्दर्शितः—

"ऋषयोऽपि पदार्थानां नान्तं यान्ति पृथक्त्वशः।
लक्षणेन तु सिद्धानामन्तं यान्ति विपश्चितः॥" इति।

तस्मात् अभियुक्तानां मन्त्रोऽयमिति समाख्यानं लक्षणम्॥

पूर्वपक्षके उपर्युक्त कथनके उत्तरमें कहा गया है कि निर्दोष लक्षण है, "मन्त्र वही है जिसका समाख्यान याज्ञिक लोग 'मन्त्र' नामसे कहते हैं", याने जिसे याज्ञिक लोग 'मन्त्र' की संज्ञा देते हों। इसीसे अनुष्ठान-स्मारक अथवा अन्य स्तुतिरूप वाक्यों का 'मन्त्र' होना निर्धारित किया जाता है। उदाहरणके तौरपर 'उरु प्रथस्व' [तैसं. १·१·८·१] आदि मन्त्र अनुष्ठानके स्मारक हैं। 'अग्निमीळे पुरोहितम्' [ऋ १·१·१] आदि स्तुतिरूप हैं। 'इषे त्वा' आदि 'त्वा'न्त हैं, 'अग्न आयाहि वीतये' [तैब्रा ३·५·२·१] इत्यादि निमन्त्रणयुक्त हैं, और 'अग्नीदग्नीन् विहर' [तैसं ६·३·१·२] जैसे प्रैषरूप हैं। 'अधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत्' [ऋ १०·१२९·५] आदि मन्त्र विचाररूप हैं, 'अम्बेऽम्बिके अम्बालिके न मा नयति कश्चन' [तैसं ७·४·१९·१] आदि परिदेवन अथवा विलाप रूप हैं, 'पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः' [तैसं ७·४·१८·२] आदि प्रश्नरूप हैं और 'वेदिमाहुः परमन्तं पृथिव्याः' [तैसं. ७·४·१८·२] जैसे मन्त्र उत्तररूप हैं। इस तरहके कई और उदाहरण दे सकेंगे। इस तरहके विभिन्न तथा अत्यन्त विजातीय वाक्योंमें सिवा 'याज्ञिक समाख्यान' के कोई साधारण धर्म नहीं है जिसके आधारपर उन्हें 'मन्त्र' की संज्ञा दी जाय। प्राचीन आचार्योंने 'लक्षण' शब्दके उपयोगके विषयमें कहा है :—

ऋषयोऽपि पदार्थानां नान्तं यान्ति पृथक्त्वशः।
लक्षणेन तु सिद्धानामन्तं यान्ति विपश्चितः॥

अर्थात् ऋषि लोग भी पृथक् पृथक् पदार्थोंका अनुशीलन करके उन्हें समझ नहीं पाये;

अष्टमाधिकरणमारचयति—

" नास्त्येतद्ब्राह्मणेत्यत्र लक्षणं विद्यतेऽथ वा।
नास्तीयन्तो वेदभागा इति क्लृप्तेरभावतः॥
मन्त्रश्च ब्राह्मणं चेति द्वौ भागौ तेन मन्त्रतः।
अन्यद्ब्राह्मणमित्येतद्भवेद्ब्राह्मणलक्षणम्॥ " (जैन्या २·१·८)॥

चातुर्मास्येष्विदमाम्नायते–'एतद्ब्राह्मणान्येव पञ्च हवींषि' (तैब्रा १·७·१·१) इति। तत्र ब्राह्मणस्य लक्षणं नास्ति। कुतः। वेदभागानामियत्तानवधारणेन ब्राह्मणभागेष्वन्यभागेषु च लक्षणस्याव्याप्त्यतिव्याप्त्योः शोधयितुमशक्यत्वात्। पूर्वोक्तो मन्त्रभाग एकः। भागान्तराणि च कानिचित् पूर्वैरुदाहर्तुं संगृहीतानि—

" हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः।
परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारणकल्पना॥ "

इति। 'तेन ह्यन्नं क्रियते' इति हेतुः। 'तद्दध्नो दधित्वम्' (तैसं २·५·३·४) इति निर्वचनम्। 'अमेध्या वै माषाः' (तैसं ५·१·८·१) इति निन्दा। 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' (तैसं २·१·१·१) इति प्रशंसा। 'तं व्यचिकित्सज्जुहवानी३माहौषा३म्' (तैसं ६·५·९·१) इति संशयः। 'यजमानेन संमितौदुम्बरी भवति' (तैसं ६·२·१०·३) इति विधिः। 'माषानेव मह्यं पचन्ति' इति परकृतिः। 'पुरा ब्राह्मणा अभैषुः' (तैसं १·५·७·५) इति

किन्तु विवेकी या विद्वान् व्यक्ति लक्षणसे सिद्ध पदार्थोंको भली भाँति समझ लेते हैं। अतः सिद्ध हुआ कि मन्त्र वही है जिसे अभियुक्त अथवा विद्वान्, 'मन्त्र' की संज्ञा देते हैं।

आठवाँ अधिकरण है–'नास्त्येतद् ब्राह्मणेत्यत्र लक्षणं विद्यतेऽथवा। नास्तीयन्तो वेदभागा इति क्लृप्तेरभावतः। मन्त्रश्च ब्राह्मणं चेति द्वौ भागौ तेन मन्त्रतः। अन्यद् ब्राह्मणमित्येतद्भवेद् ब्राह्मणलक्षणम्'। [जैन्या २·१·८] चातुर्मास्य प्रकरणमें कहा गया है, 'एतद्ब्राह्मणान्येव पञ्च हवींषि' [तैब्रा १·७·१·१], किन्तु यहाँ 'ब्राह्मण' का कोई लक्षण नहीं है। वेदभागोंकी इयत्ताके निर्धारित न होनेके कारण ब्राह्मणभागों तथा अन्य भागों के किसी भी लक्षणको अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति के दोषोंसे अछूता नहीं रखा जा सकता। मन्त्रभाग पहले ही बतलाया जा चुका है। अन्यभागोंको पूर्वाचार्योंने उदाहरणके तौरपर निम्नलिखित श्लोकमें संग्रहीत किया है—

हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः।
परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारणकल्पना॥

'तेन ह्यन्नं क्रियते' [श ब्रा २·५·२·२३] में हेतुका निर्देश है। 'तद् दध्नो दधित्वम्' [तैसं. २·५·३·२] में निर्वचन है। 'अमेध्या वै माषाः' [तैसं.५·१·८·१] में माष याने उरद की निन्दा है। 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' [तैसं. २·१·१·१] में वायुकी प्रशंसा है। 'तद्व्यचिकित्सज्जुहवानी३माहौषा३म्' [तैसं. ६·५·९·१] में संशय; 'यजमानेन संमितौदुम्बरी भवति' [तैसं. ६·२·१०·३] में विधि; 'माषानेव मह्यं पचन्ति' में परकृति [याने परार्थ कर्म;] 'पुरा ब्राह्मणा अभैषुः' [तैसं.१·५·७·५]

पुराकल्पः 'यावतोऽश्वान्प्रतिगृह्णीयात्तावतो वारुणाश्चतुष्कपालान्निर्वपेत्' (तैसं.२.३.१२.१) इति विशेषावधारणकल्पना। एवमन्यदप्युदाहार्यम्। न च हेत्वादीनामन्यतमं ब्राह्मणमिति लक्षणं, मन्त्रेष्वपि हेत्वादिसद्भावात्। 'इन्दवो वामुशन्ति हि' (ऋसं. १.२.४) इति हेतुः। 'उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते' (तैसं ५.६.१.३; अथर्व. ३.१३.४) इति निर्वचनम्। 'मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः' (ऋसं १०.११७.६) इति निन्दा। 'अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्' (ऋसं ८.४४.१६) इति प्रशंसा। 'अधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त्' (ऋसं१०.१२९.५) इति संशयः। 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते' (वासं २४.२०) इति विधिः। 'सहस्रमयुता ददत्' (ऋसं ८.२१.१८) इति परकृतिः। 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' (ऋसं १.१६४.५०) इति पुराकल्पः। इतिकरणबहुलं ब्राह्मणमिति चेत्। न। 'इत्यददा इत्ययजथा इत्यपच इति ब्राह्मणो गायेत्' (तैब्रा ३.९.१४.३) इत्यस्मिन् ब्राह्मणेन गातव्ये मन्त्रेऽतिव्याप्तेः। 'इत्याह', इत्यनेन वाक्येनोपनिबद्धं ब्राह्मणमिति चेत्। न। 'राजा चित्रं भगं भक्षीत्याह' (ऋसं ७.४१.२), 'यो मायातुं यातुधानेत्याह यो वा रक्षाः शुचिरस्मीत्याह' (ऋसं ७.१०४.१६) इत्यनयोर्मन्त्रयोरतिव्याप्तेः। आख्यायिकारूपं ब्राह्मणमिति चेत्। न। यमयमीसंवादसूक्तादावतिव्याप्तेः। तस्मात् नास्ति ब्राह्मणस्य लक्षणमिति प्राप्ते ब्रूमः मन्त्रा-

---

में पुराकल्प और अन्तमें 'यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात्तावतो वारुणाश्चतुष्कलापान् निर्वपेत्' [तैसं. २.३.१२.१] में विशेष अवधारणकी कल्पना है। इस तरह अन्य भाग भी दिखला सकेंगे।

उपर्युक्त हेतु आदि नौ भागोंमेंसे किसी एकको ब्राह्मण मानकर वही ब्राह्मणका लक्षण मानना युक्तियुक्त नहीं; क्योंकि हेतु, निर्वचन आदि तो मन्त्रमें भी विद्यमान हैं। उदाहरण के लिए 'इन्दवो वामुशन्ति हि' [ऋसं १.२.४] इस मन्त्रमें हेतु है। 'उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते' [तैसं ५.६.१.३; असं. ३.१३.४] में निर्वचन; 'मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः' [ऋसं.१०.११७.६]में निन्दा; 'अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्' [ऋसं ८.४४.१६] में प्रशंसा; 'अधःस्विदासीदुपरि स्विदासीत्' [ऋसं १०.१२९.५] में संशय; 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते' [वासं २४.२०] में विधि; 'सहस्रमयुता ददत्' [ऋसं ८.२१.१८] में परकृति और 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' [ऋसं १.१६४.५०] में पुराकल्प विद्यमान है। वही वेदभाग ब्राह्मण है जिसमें 'इति' पदकी प्रचुरता हो यह लक्षण भी समीचीन नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसके आधारपर 'इत्यददा इत्यजथा इत्यपचः इति ब्राह्मणो गायेत्' [तैब्रा. ३.९.१४.३] यह ब्राह्मण द्वारा गाए जाने योग्य मन्त्र भी ब्राह्मणसिद्ध होगा और लक्षण अतिव्याप्त होगा। अब यह भी नहीं कहा जा सकता कि ब्राह्मण वह है जो 'इत्याह' वाक्यसे संबद्ध हो; क्योंकि इससे 'राजा चित्रं भगं भक्षीत्याह' [ऋसं ७.४१.२] और 'यो वा रक्षाः शुचिरस्मीत्याह' [ऋसं ७.१०४.१६] इन दोनों मन्त्रोंपर लागू होनेसे लक्षणमें अतिव्याप्तिका दोष पैदा होगा। ब्राह्मणको यदि आख्यायिका रूप मान लें, तो ऋग्वेदके दसवें मण्डलका यम-यमी संवादका सूक्त भी ब्राह्मण बन जाएगा और लक्षणकी अतिव्याप्ति सिद्ध होगी। अतः ब्राह्मणका लक्षण ही नहीं दिया जा सकता।

ब्राह्मणरूपौ द्वावेव वेदभागौ इत्यङ्गीकारात् मन्त्रलक्षणस्य पूर्वमभिहितत्वादवशिष्टो वेदभागो ब्राह्मणमित्येतल्लक्षणं भविष्यति। तदेतल्लक्षणद्वयं जैमिनिः सूत्रयामास—'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या', 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' (जैसू २·१·३२–३३) इति। तच्चोदकेषु तदभिधायकेषु वाक्येषु मन्त्र इति समाख्या संप्रदायविद्भिर्व्यवह्रियते- 'मन्त्रानधीमहे' इति। मन्त्रव्यतिरिक्तभागे तु ब्राह्मणशब्दस्तैर्व्यवहृत इत्यर्थः॥

ननु ब्रह्मयज्ञप्रकरणे मन्त्रब्राह्मणव्यतिरिक्ता इतिहासादयो भागा आम्नायन्ते—'यद्ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीः' (तैआ २·९) इति। मैवम्। विप्रपरिव्राजकन्यायेन ब्राह्मणाद्यवान्तरभेदानामेवेतिहासादीनां पृथगभिधानात्। 'देवासुराः संयत्ता आसन्' (तैसं ५·३·११·१) इत्यादय इतिहासाः। 'इदं वा अग्रे नैव किंचनासीत्' (तैब्रा २·२·९·१) इत्यादिकं जगतः प्रागवस्थामुपक्रम्य सर्गप्रतिपादकं वाक्यजातं पुराणम्। कल्पस्तु आरुणकेतुकचयनप्रकरणे समाम्नायते—' इति मन्त्राः। कल्पोऽत ऊर्ध्वम्। यदि बलिं हरेत्' (तैआ. १·३१·२) इति। अग्निचयने 'यमगाथाभिः

इसका उत्तर निम्नानुसार है। यह पहले ही स्वीकृत हो चुका है कि वेदके अंश केवल दो हैं–मन्त्र और ब्राह्मण। इनमेंसे मन्त्रका लक्षण पहले ही बतलाया गया है। अब वेदके शेष अंशको ब्राह्मण कहा जा सकता है और इसीको ब्राह्मणका लक्षण मानना होगा। आचार्य जैमिनिने अपने सूत्रोंमें इन्हीं दो लक्षणोंका समावेश किया है। वे सूत्र हैं– 'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या' [२·१·३२], 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' [२·१·३३]। संप्रदायके ज्ञाता वेदके कुछ कर्मोंके अभिधायक वाक्योंको 'मन्त्र' की संज्ञा प्रदान करते हैं; जैसे 'हम मन्त्रोंका अध्ययन कर रहे हैं' और मन्त्रोंको छोडकर वेदका जो अंश है उसके लिए 'ब्राह्मण' शब्दको प्रयुक्त करते हैं। उक्त सूत्रोंका यही अर्थ है॥ इस विषयमें संदेह है कि ब्रह्मयज्ञ प्रकरणके 'यद् ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीः' [तैआ २·९] जैसे वचनोंमें तो मन्त्र और ब्राह्मण को छोडकर इतिहास आदि अन्य वेदांशोंका भी उल्लेख हुआ है। उक्त संदेहको निर्मूल सिद्ध करनेके लिए बतलाया गया है कि यहाँ इतिहास, पुराण, कल्प आदिका पृथक् उल्लेख [1]विप्रपरिव्राजकन्यायके अनुसार ब्राह्मणोंके अवान्तर भेदोंके रूपमें ही हुआ है। 'देवासुराः संयत्ता आसन्' [तैसं ५·३·११·१] आदि इतिहास माने जाते हैं। 'इदं वा अग्रे नैव किंचिदासीत्' [तैब्रा २·२·९·१] में जगत्की प्रागवस्थाकी ओर निर्देश करके बादमें सृष्टिका प्रतिपादन करनेवाला वाक्यसमूह पुराण कहलाता है। आरुणकेतुक चयनके प्रकरणमें 'इति मन्त्राः। कल्पोऽत ऊर्ध्वम्। यदि बलिं हरेत्' [तैआ. १·३१·२] में कल्पकी चर्चा है। अग्निचयनमें 'यमगाथाभिः परिगायति' [तैसं. ५·१·८·२] कहकर

(१) 'विप्रपरिव्राजकन्याय अथवा ब्राह्मणपरिव्राजकन्याय':– वास्तवमें ब्राह्मण अथवा विप्र और परिव्राजक भिन्न नहीं हैं; पहलेमें दूसरेका अन्तर्भाव होता है। ब्राह्मणोंका ही अलग वर्ग परिव्राजक कहलाता है। सिर्फ़ यही बतलाने के लिए यह भेद किया जाता है।

परि गायति ' (तैसं ५.१.८.२) इति विहिता मन्त्रविशेषा गाथाः । मनुष्यवृत्तान्तप्रतिपादिका ऋचो नाराशंस्यः । तस्मात् मन्त्रब्राह्मणव्यतिरिक्तभागाभावात् मन्त्रब्राह्मणस्वरूपस्य लक्षितत्वात् तदुभयात्मकत्वं वेदस्य सुस्थितम् ॥ मन्त्रावान्तरविशेषश्च तस्मिन्नेव पादे इत्थं विचारितः—

" नर्क्सामयजुषां लक्ष्म सांकर्यादिति शङ्किते ।
पादश्च गीतिः प्रश्लिष्टपाठ इत्यस्त्वसंकरः ॥ " (जैन्या २.१.१०)

इदमाम्नायते—' अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय यमृषयस्त्रैविदा विदुः । ऋचः सामानि यजूंषि ' (तैब्रा १.२.१.२६) इति । त्रीन् वेदान् विदन्तीति त्रिविदः । त्रिविदां संबन्धिनोऽध्येतारस्त्रैविदाः । ते च यं मन्त्रभागम् ऋगादिरूपेण त्रिविधमाहुस्तं गोपाय इति योजना । तत्र त्रिविधानामृक्सामयजुषां व्यवस्थितं लक्षणं नास्ति । कुतः । सांकर्यस्य दुष्परिहरत्वात् । अध्यापकप्रसिद्धेष्वृग्वेदादिषु पठितो मन्त्र इति लक्षणं वक्तव्यम् । तच्च संकीर्णम् । ' देवो वः सवितोत्पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण वसोः सूर्यस्य रश्मिभिः' (तैसं १.१.५.१) इत्ययं मन्त्रो यजुर्वेदे संप्रतिपन्नयजुषां मध्ये पठितः। न च तस्य यजुष्ट्वमस्ति तद्ब्राह्मणे 'सावित्र्यर्चा' (तैब्रा ३.२.५.३) इति ऋक्त्वेन व्यवहृतत्वात् । ' एतत्साम गायन्नास्ते ' (तैआ ९.१०.५) इति प्रतिज्ञाय किंचित् साम यजुर्वेदे गीतम् । ' अक्षितमस्यच्युतमसि प्राणसंशितमसि '

जो विशिष्ट मन्त्र विहित हैं उनको गाथा कहलाते हैं। मनुष्योंके वृत्तान्तोंका कथन करनेवाली ऋचाओंको नाराशंसी कहते हैं । इस प्रकार, मन्त्र और ब्राह्मणको छोडकर वेदोंका पृथक् अंश विद्यमान नहीं है और चूंकि इन दोनोंका लक्षण बतलाया गया है; यह सिद्धान्त अब स्थिर होता है कि वेद मन्त्रब्राह्मणात्मक है ।

मन्त्रके अवान्तर भेदोंकी चर्चा उसी पादमें निम्नानुसार की है:—

' नर्क्सामयजुषां लक्ष्म साङ्कर्यादिति शङ्किते ।
पादश्च गीतिः प्रश्लिष्टपाठ इत्यस्त्वसङ्करः ' [जैन्या २.१.१०] ।

श्रुतिवचन है, ' अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय। यमृषयस्त्रैविदा विदुः। ऋचः सामानि यजूꣳषि' । तीनों वेदोंके ज्ञाता त्रिविद हैं और ' त्रैविदाः ' का अर्थ है तीनों वेदोंके अध्येता अथवा इन अध्येताओंसे संबन्ध रखनेवाले। अब उक्त श्रुतिका अन्वय इस प्रकार हुआ—' उस मन्त्रकी रक्षा करो जिसे वे ऋक् आदि रूपमें त्रिविध कहते हैं ' । यहाँ ऋक्, साम तथा यजुस् इन तीन प्रकारके वेदांशोंका लक्षण नहीं दिया गया है, क्योंकि ऐसा करनेसे संकीर्णता या साङ्कर्य के दोषको टाला नहीं जा सकता। यदि यह मान ले कि वही मन्त्र कहलाता है जो अध्यापक-परम्परामें ऋग्वेद आदि रूपमें पठित हुआ है; फिर भी यह लक्षण संकीर्णताके दोषसे मुक्त नहीं हो पाता; क्योंकि ' देवो वः सवितोत्पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण वसोः सूर्यस्य रश्मिभिः ' [तैसं १.१.५.१] यह मन्त्र यजुर्वेदमें संप्रतिपन्न नामके यजुषोंके बीच पठित है । क्योंकि इस (वेद) के ब्राह्मणमें इसे ' सावित्र्यर्चा ' [सवितृ देवताकी ऋक्] इन शब्दोंसे ऋक् कहा गया है ।

(छांउ ३·१७·६) इति त्रीणि यजूंषि सामवेदे समाम्नातानि। तथा गीयमानस्य साम्न आश्रयभूता ऋचः सामवेदे समाम्नायन्ते। तस्मात् नास्ति लक्षणमिति चेत्। न। पादादीनामसंकीर्णलक्षणत्वात्। पादेनार्थेन चोपेता वृत्तबद्धा मन्त्रा ऋचः, गीतिरूपा मन्त्रा सामानि, वृत्तगीतिवर्जितत्वेन प्रश्लिष्टपठिता मन्त्रा यजूंषि इत्युक्ते न क्वापि संकरः। तदेतत् त्रैविध्यं जैमिनिना सूत्रत्रयेण लक्षितं--'तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था', 'गीतिषु सामाख्या', 'शेषे यजुःशब्दः' (जैसू २·१·३५-३७) इति। एतमेव मन्त्रावान्तरविशेषमुपजीव्य वेदानाम् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद इति त्रैविध्यं संपन्नम्॥

७. वेदाध्ययनस्य नित्यत्वं दृष्टार्थत्वं च।

तेषां च वेदानां सर्वेषामन्यतमस्य वा स्वप्रज्ञानुसारेणाध्ययनमुपनीतेन कर्तव्यम्। तथा च याज्ञवल्क्यः स्मरति-'वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्' इति। एकवेदपक्षे पितृपितामहादिपरंपराप्राप्त एव वेदोऽध्येतव्य इत्यभिप्रेत्य 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'

यजुर्वेदमें 'एतत्साम गायन्नास्ते' [तैआ ९·१०·५] की प्रतिज्ञा करके कुछ साम गाये गए हैं। एवं सामवेदमें 'अक्षितमस्यच्युतमसि प्राणसंशितमसि' [छाउ ३·१७·६] ये तीन यजुस् पाए जाते हैं। इसी तरह गाये जानेवाले सामकी आश्रयभूत ऋचाएं सामवेदमें पठित हैं। अतः ऋक्, यजुस् तथा साम का कोई निर्दोष लक्षण विद्यमान नहीं है।

उत्तरपक्षः—पूर्वपक्षीका यह कहना ठीक नहीं है। पाद आदिका लक्षण साङ्कर्यके दोषसे रहित है। ऋचाएं वास्तवमें वृत्तबद्ध मन्त्र हैं, जो पाद एवं अर्थ से युक्त हों। गीतिरूप मन्त्र ही साम हैं। उन मन्त्रोंको 'यजुस्' कहते हैं, जो वृत्त एवं गीति से विहीन होकर प्रश्लिष्ट रूपसे पठित हैं। इस तरहकी व्यवस्थासे साङ्कर्यका दोष कहीं भी पैदा नहीं होता। आचार्य जैमिनिने तीन सूत्रोंके द्वारा इन तीन प्रकारोंको स्पष्ट किया है। ये तीन सूत्र हैं—'तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था' 'गीतिषु समाख्या' और 'शेषे यजुःशब्दः' [२·१·३५–३७]। मन्त्रोंके इन्हीं तीन अवान्तर भेदोंके आधारपर ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेदके रूपमें वेदोंका त्रैविध्य संपन्न होता है।

७. वेदाध्ययनका नित्यत्व और दृष्टार्थत्व।

उपनयन संपन्न होनेके उपरान्त [द्विजको] इन तीन वेदोंका अथवा इनमेंसे किसी एक वेदका अपनी बुद्धिके अनुसार अध्ययन करना आवश्यक है। स्मृतिकार *याज्ञवल्क्यका भी कथन है, 'वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्' अर्थात् (क्रमके अनुसार) तीनों वेदों अथवा दो वेदों या एक वेद का अध्ययन करके द्विजने गृहस्थाश्रमका स्वीकार करना योग्य है। यदि एक ही वेदका अध्ययन करना हो तो पितृपितामहादि परम्परासे प्राप्त वेदको ही अपनाना चाहिए। इसी अभिप्रायसे 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'

---

*उपलब्ध याज्ञवल्क्य स्मृतिमें यह श्लोक नहीं पाया जाता। किन्तु मनुस्मृतिमें यह विद्यमान है। दे. अ, ३, श्लो. २,

(तैआ २·१५) इति स्वशब्द आम्नातः। तच्चाध्ययनं न काम्यं किंतु नित्यम्। अत एव पुरुषार्थानुशासने सूत्रितम् 'वेदस्याध्ययनं नित्यमनध्ययने पातात्' इति। पातित्वं चैवमाम्नायते-'अपहतपाप्मा स्वाध्यायो देवपवित्रं वा एतत्तं योऽनूत्सृजत्यभागो वाचि भवत्यभागो नाके तदेषाभ्युक्ता यस्तित्याज [1]सखिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति। यदीं शृणोत्यलकं शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम् (ऋसं १०·७१·६) इति। तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' (तैआ २·१५) इति। अध्येतारं पुरुषं तदीयप्रयासाभिज्ञानेन सखिवत् पालयतीति सखिविद्वेदः। बहुद्रव्यप्रयाससाध्यक्रतुफलस्याध्ययनमात्रेण संपादनं तत्पालनम्। तदप्याम्नायते-'यं यं क्रतुमधीते तेन तेनास्येष्टं भवत्यग्नेर्वायोरादित्यस्य सायुज्यं गच्छति' (तैआ २·१५) इति। यद्यप्येतत् ब्रह्मयज्ञस्वाध्यायफलं तथापि ग्रहणार्थाध्ययनमन्तरेण ब्रह्मयज्ञासंभवात् तदीयफलमपि संपद्यते। ईदृशं सखिविदं वेदरूपं सखायं यः पुमानध्ययनमकृत्वा परित्यजति तस्य वाच्यपि भाग्यं नास्ति। फले भाग्यं नास्तीति किमु वक्तव्यम्। सकलदेवतानां धर्मस्य परब्रह्मतत्त्वस्य च प्रतिपादकं वेदम-

[तैआ २·१५] इस श्रुतिवचनमें 'स्व' शब्दका समावेश है। यह अध्ययन 'नित्य' कर्म है, 'काम्य' नहीं। इसलिए पुरुषार्थानुशासनमें सूत्र है—'वेदाध्ययनं नित्यमनध्ययने पातात्' अर्थात् वेदका अध्ययन नित्यकर्म है; क्योंकि इसे न करनेसे पतन होता है। इस पतनके संबन्धमें श्रुतिवचन है, 'अपहतपाप्मा स्वाध्यायो देवपवित्रं वा एतत्तं योऽनूत्सृजत्यभागो वाचि भवत्यभागो नाके' [तैआ २·१५]। अर्थात् जो व्यक्ति स्वाध्याय पापोंसे परे है, असलमें वही देवपवित्र है। इसका जो त्याग करता है वह वाणीके विषयमें अभागा होता है और स्वर्गरूपी फलके संबन्धमें निरा भाग्यहीन बनता है। इस संबन्धमें निम्नलिखित ऋचा भी है—"यस्तित्याज [1]सखिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागोऽस्ति। यदीं शृणोत्यलकं शृणोति न हि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्॥' [१०·७१·६] अतएव स्वाध्यायका अध्ययन करना आवश्यक है। सखिवित् वेद वह है जो अध्येता पुरुषके प्रयासोंको समझकर उसका मित्रकी तरह पालन करता है। पालनका अर्थ है केवल अध्ययन द्वारा अध्येताको वह फल प्राप्त कराना, जिसे बहुत द्रव्य और प्रयास द्वारा साध्य यज्ञके अनुष्ठानसे ही पाना संभव हो। 'यं यं क्रतुमधीते तेन तेनास्येष्टं भवत्यग्नेर्वायोरादित्यस्य सायुज्यं गच्छति' [तैआ. २·१५] में यही कहा गया है। यद्यपि यह (इस वचनमें समाविष्ट) फल ब्रह्मयज्ञरूप स्वाध्यायका है फिर भी चूँकि वेदोंको समझनेके लिए किए जानेवाले अध्ययनके बिना ब्रह्मयज्ञ भी असंभव है; अतएव अध्ययनसे ही ब्रह्मयज्ञका फल प्राप्त होता है। जो व्यक्ति बिना अध्ययन किए इस तरहके सखिवित् वेदरूप मित्रका त्याग करता है उसकी वाणीमें भी भाग्यका अभाव रहता है; फल याने फल-प्राप्तिके विषयमें तो कहनेकी भी क्या आवश्यकता है? यह तो स्पष्ट ही है कि समस्त देवताओंके धर्म एवं परब्रह्म तत्त्वके प्रतिपादक वेदका उच्चारण न करते हुए परनिन्दा, असत्य तथा कलह का

१ मूल संहिताका 'सचिविदम्' पाठ है। और भाष्य है-सचिविदम्। सचिशब्दः सखिवाची सखिविदम्।

नुचार्य परनिन्दानृतकलहहेतुं लौकिकीं वार्तां सर्वत्रोच्चारयतः स्पष्ट एव वाचि भाग्याभावः। अत एवाम्नायते–' नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत् ' (बृउ ४·४·२१) इति। यद्यप्यसौ काव्यनाटकादिकं शृणोति तथापि निरर्थकमेव तच्छ्रवणम्। तेन सुकृतमार्गज्ञानाभावादित्यर्थः। स्मृतिरपि—

' योऽनधीत्य द्विजो वेदानन्यत्र कुरुते श्रमम्।

स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ' (मनुस्मृति २·१६८) इति।

एवमन्यान्यपि बहूनि वचनान्यत्रोदाहर्तव्यानि ॥ ननु अधीते वेदे पश्चादध्ययनविध्यर्थं ज्ञानं, ज्ञाने सति पश्चादध्ययनप्रवृत्तिः, इत्यन्योन्याश्रय इति चेत्, बाढम्। अत एव गुरुमतानुसारिणः आचार्यकर्तृकाध्यापनेन प्रवृत्तिं माणवकाध्ययनस्य महता प्रयासेन संपादयन्ति। मतान्तरानुसारिणस्तु प्रकाशात्मादयोऽध्ययनात् प्रागेव संध्यावन्दनादिविधिज्ञानवत् पित्रादिभ्योऽध्ययनविधिज्ञानं वर्णयन्ति। यद्यध्यापनविधिप्रयुक्तिर्यदि वा स्वविधिप्रयुक्तिः सर्वथाप्युपनीतैरध्येतव्य एव वेदः।

कारण बननेवाली लौकिक वार्ताका ही सर्वत्र उच्चारण करनेवाले व्यक्तिकी वाणीमें भाग्यका अभाव ही विद्यमान हो। अतएव श्रुतिवचन है– ' नानुध्यायाद् बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत् ' (बृउ. ४·४·२१)। माना कि वह व्यक्ति काव्यों, नाटकों आदिका श्रवण करता रहता है; फिर भी वह सब निरा अर्थहीन है, क्योंकि उससे पुण्यके मार्गका ज्ञान नहीं हो सकता। स्मृतिका भी कथन है—

' योऽनधीत्य द्विजो वेदानन्यत्र कुरुते श्रमम्।

स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥ ' [मनुस्मृति २·१६८]

[अर्थ–जो व्यक्ति वेदोंका अध्ययन किए बिना अन्यत्र परिश्रम करता है वह जीवित रहते हुए ही अपनी प्रजाके साथ शूद्र होता है]। इस तरहके कई वचनोंको अन्यत्र उद्धृत किया जा सकता है।

इसपर आक्षेप है कि वेदोंका अध्ययन करनेके उपरान्त अध्ययन विधिके अर्थका ज्ञान संभव है और उसके बाद ही अध्ययनकी ओर प्रवृत्ति हो सकती है। ऐसी अवस्थामें ज्ञान और प्रवृत्ति में अन्योन्याश्रय दोष पैदा होता है। यह सही है और इसलिए गुरुके [याने प्रभाकरके] मतका अनुसरण करनेवाले मीमांसक बडे प्रयासोंके साथ प्रतिपादन करते हैं कि आचार्य द्वारा किए गए अध्ययनसे माणवक याने कोई भी विद्यार्थी अध्ययनकी ओर प्रवृत्त होता है। लेकिन प्रकाशात्मा जैसे अन्य मतोंके अनुयायी विद्वान् मानते हैं कि जिस प्रकार उपनयनके पूर्व ही माणवकको सन्ध्यावन्दन आदि विधियोंका ज्ञान अपने बडोंसे होता है, उसी तरह यहाँ अध्ययनके पूर्व ही उसे पिता आदिके द्वारा अध्ययन-विधिका ज्ञान प्राप्त होता है। इस तरह अध्ययनकी ओर प्रवृत्ति चाहे अध्यापनकी विधिके द्वारा होती हो, चाहे स्व-विधिके [पिता आदिके द्वारा ज्ञान विधिके अध्ययन] द्वारा; फिर भी यह आवश्यक है कि उपनीत द्विज वेदका अध्ययन अवश्य करे।

तस्य च अध्ययनस्य दृष्टार्थत्वमक्षरग्रहणान्तत्वं च पुरुषार्थानुशासने सूत्रितम्। तानि सूत्राणि तद्वृत्तिं चोदाहरामः। अध्ययनस्य दृष्टार्थत्वं साधयितुं पूर्वपक्षयति—'अदृष्टार्था त्वधीतिर्विहितत्वात्' इति। दृष्टफलसाधने भोजनादौ विध्यदर्शनात् विहितमध्ययनमदृष्टार्थमवगन्तव्यम्॥ अदृष्टविशेषो न श्रुत इति चेत्, तत्राह—'घृतकुल्याद्यतिदेशः स्वर्गकल्पनं वा' इति। ब्रह्मयज्ञजपाध्ययनार्थवादं नित्याध्ययनेऽतिदिश्य तत्रत्यं घृतकुल्यादिकं रात्रिसत्रन्यायेन फलत्वेन कल्पनीयम्। ये त्वर्थवादातिदेशं नेच्छन्ति तैर्विश्वजिन्न्यायेन स्वर्गः कल्पनीयः॥ दृष्टफलयोः संस्कारप्राप्त्योः संभवे कथमदृष्टकल्पनेत्यत आह—'अयुक्ते संस्कारप्राप्ती' इति॥ संस्कृतस्वाध्यायस्य क्वचित् क्रतौ विनियोगादर्शनात् प्राप्तेः स्वयमपुरुषार्थत्वाच्चेत्यर्थः। स्वाध्यायप्राप्तिरर्थप्रमितिहेतुतया पुरुषार्थ इत्याशङ्क्य

इस अध्ययनका दृष्टार्थ एवं अक्षरग्रहणान्त (क्रमके अनुसार कण्ठस्थ) होना पुरुषार्थानुशासनके सूत्रोंमें ग्रथित है। उन सूत्रों तथा उनपर लिखी गई वृत्तिको हम यहाँ उद्धृत करते हैं। अध्ययनके दृष्टार्थत्व (दृष्ट फल होना) को सिद्ध करनेके लिए पूर्वपक्षी कहता है—'अदृष्टार्था त्वधीतिर्विहितत्वात्'। चूँ कि दृष्टफलके साधन भोजन आदिके विषयमें कोई विधि दिखाई नहीं देती; विहित अध्ययनको भी अदृष्टार्थ याने अदृष्टफल ही मानना चाहिए। यदि यह कहा जाय कि वेदाध्ययनका विशिष्ट अदृष्ट फल श्रुतियोंमें कहीं पाया नहीं जाता तो इसके उत्तरमें सूत्र है 'घृतकुल्याद्यतिदेशः स्वर्गकल्पनं वा'। [1]ब्रह्मयज्ञजपके अध्ययनके अर्थवादका नित्य अध्ययनकी विधिमें अतिदेश करके उस प्रसङ्गमें कथित घृतकुल्या आदिकी रात्रिसत्रन्यायके[2] अनुसार फलके रूपमें कल्पना करनी चाहिए; और जो अर्थवादका अतिदेश नहीं करना चाहते, वे [3]विश्वजिन्न्यायके अनुसार स्वर्गरूपी फलकी कल्पना कर लें। संस्कार एवं (स्वाध्याय) प्राप्ति को अध्ययनके दृष्टफल मानना अगर संभव है तो अदृष्टफलके कल्पनाकी क्या आवश्यकता है? इस सन्देहका समाधान 'अयुक्ते संस्कारप्राप्ती' में किया गया है। संस्कारयुक्त स्वाध्यायका विनियोग किसी भी यज्ञमें कहीं दिखाई नहीं देता, अतएव 'संस्कार' को फल नहीं माना जा सकता;

---

१. ब्रह्मयज्ञ-जपके अध्ययनका अर्थवाद है, 'यदृचोऽधीते पयसः कुल्याः रस पितॄन् स्वधा अभिवहन्ति, यद्यजूंषि घृतस्य कुल्याः, यत् सामानि सोम एभ्यः पवते। यदथर्वाङ्गिरसो मधोः कुल्याः' [तैआ २·१०]

२. रात्रिसत्रका फल सत्रमें श्रुत नहीं है; किन्तु उसके स्तावक अर्थवादमें वह श्रुत है। प्रत्यासन्न होनेके कारण उसीको रात्रिसत्रका फल माना जाता है। इस न्यायका अर्थ है—विधिवाक्यमें यदि फल श्रुत न हो, तो अर्थवादवाक्यमें कथित फलका अतिदेश करना समीचीन है।

३. 'विश्वजिता यजेत' में कोई फल श्रुत नहीं है। इसके अर्थवादमें भी फल नहीं पाया जाता। अतः स्वर्गरूप फलकी कल्पना की जाती है, क्योंकि स्वर्ग सभीका अभीष्ट होता है। अतः इस न्यायका अर्थ है—जहाँ विधि और अर्थवादमें फल श्रुत नहीं होता, वहाँ स्वर्गरूप फलकी कल्पना करना उचित है।

विषनिर्हरणादिकार्यविनियुक्तमन्त्रवदध्ययनाङ्गतया विनियुक्तानां ज्योतिष्टोमादिवाक्यानां न स्वार्थे प्रामाण्यमित्याह—'अन्याङ्गं नार्थप्रमापकम्' इति। अध्ययनविधायकं तु वाक्यं स्वविहिताध्ययनस्यैवाङ्गमिति कृत्वा स्वार्थे प्रमाणमित्याह—'अध्ययनवाक्यमनन्याङ्गम्' इति। ननु एवमदृष्टार्थत्वे कर्मकारकभूतस्वाध्यायगतफलाभावादध्येतव्य इति कर्मवाची तव्यप्रत्ययो विरुध्येत इत्यत आह—'सक्तुवत् करणपरिणामः' इति। 'सक्तूञ्जुहोति' इत्यत्र कर्मत्वेन प्रधानभूतान् सक्तूनुद्दिश्य होमसंस्कारविधाने प्रतीयमानेऽपि होमसंस्कृतानां भस्मीभूतानां सक्तूनामन्यत्र विनियोगाभावात् कर्मप्राधान्यं हित्वा सक्तुभिर्जुहोतीति करणपरिणामः कृतः। एवमत्रापि कर्मगतयोः संस्कारप्राप्त्योरसंभवात् स्वाध्यायेनाधीयीत इति वाक्यपरिणामः कर्तव्यः॥ इदानीं दृष्टफले सति अदृष्टफलं न कल्प्यमिति सिद्धान्तयति—'दृष्टे तु नादृष्टम्' इति॥ किं तत् दृष्टफलमिति तदाह—'दृष्टौ प्राप्तिसंस्कारौ' इति॥ अक्षरप्राप्तेः परंपरया पुरुषार्थत्वमाह—'प्राप्त्यार्थबोधः' इति। जायते इति शेषः॥ न च भोजनादिवदन्वयव्यतिरेकसिद्धत्वात् विधिवैयर्थ्यमिति

और स्वयं पुरुषार्थरूप न होनेकी वजहसे (स्वाध्याय-प्राप्ति) भी फल नहीं मानी जा सकती। यही इस सूत्रका अर्थ है। इसपर यह कहना संभव है कि अर्थज्ञानका कारण होनेसे स्वाध्याय-प्राप्तिको पुरुषार्थ माननेमें क्या हर्ज है? इसका उत्तर है। 'अन्याङ्गं नार्थप्रमापकम्' इस सूत्रके द्वारा बतलाया गया है कि विषके उतारनेके लिए विनियुक्त मन्त्रोंकी तरह ज्योतिष्टोम आदि वाक्यभी अध्ययनके अङ्गके रूपमें विनियुक्त हैं; इसलिए उनका अपने अर्थमें प्रामाण्य नहीं है। यहाँ सिद्धान्त है– 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' जैसा अध्ययनका विधान करनेवाला वाक्य स्वविहित अध्ययनका ही अङ्ग होनेके कारण [अपने अर्थमें प्रमाण है] यह 'अध्ययनवाक्यमनन्याङ्गम्'के द्वारा बतलाया गया है।

आक्षेपः—अध्ययनके फलको यदि अदृष्ट माना जाय तो कर्मकारकरूपी स्वाध्यायमें फलका अभाव ही सिद्ध है और इससे 'अध्येतव्यः' के कर्मवाचक 'तव्य' प्रत्ययमें विरोधका निर्माण होगा। इस आशङ्काका उत्तर 'सक्तुवत् करणपरिणामः' में दिया गया है। 'सक्तूञ्जुहोति' में कर्मकारक होनेके कारण प्रधानभूत सक्तुको उद्देश्य करके ही होमसंस्कारका विधान प्रतीत होता है अवश्य; किन्तु होमद्वारा संस्कृत अतएव भस्मीभूत सक्तुओं का अन्यत्र विनियोग तो असंभव ही है; अतएव कर्मके प्राधान्यको छोडकर 'सक्तुभिर्जुहोति' यह करणकारकरूप परिवर्तन किया गया है। इसी तरह यहाँ भी कर्मगत (याने स्वाध्यायगत) संस्कार एवं प्राप्ति (का फलरूप) असंभव होनेकी वजहसे मूल वाक्यमें 'स्वाध्यायेन अधीयीत' यह परिवर्तन करना ठीक होगा॥

उपर्युक्त पूर्वपक्षके उत्तरका प्रारम्भ 'दृष्टे तु नादृष्टम्' इस सूत्रके द्वारा होता है। मतलब दृष्टफलके रहते हुए अदृष्टफलकी कल्पना करना असमीचीन है। अब दृष्ट फल क्या है? इसके उत्तरमें 'दृष्टे प्राप्तिसंस्कारौ' यह सूत्र लिखा गया। [अर्थात् अक्षरप्राप्ति और संस्कार दोनों अध्ययनके दृष्ट फल हैं।] अक्षरप्राप्तिको परम्परासे ही पुरुषार्थ कहा गया है इसे 'प्राप्त्यार्थबोधः' में बतलाया गया है। अक्षरको प्राप्त कर लेनेसे (याने क्रमशः

शङ्कनीयम्। अवघातादिवन्नियमादृष्टाय विध्युपपत्तेरित्याह—'विधिर्नियत्या' इति॥ यत्तूक्तं संस्कृतस्य स्वाध्यायस्य विनियोगादर्शनात् न संस्कार इति तत्राह—'संस्कार-सिद्धिः क्रत्वध्ययनविधिद्वयोपादानात्' इति। क्रतुविधयो हि विषयावबोधमपेक्षमाणास्त-दवबोधे स्वाध्यायं विनियुञ्जते। अध्ययनविधिश्च लिखितपाठादिव्यावृत्त्याध्ययनसंस्कृतत्वं स्वाध्यायस्य गमयति। अत उभयोपादानात् तत्सिद्धिः॥ ननु संस्कारो नाम अदृष्टातिशयः। स च न स्वाध्यायगतः। तव्यप्रत्ययेन स्वपदोपात्तप्रकृत्यर्थभूताध्ययनोप-रक्तापूर्वाभिधानात्। ततः कथं स्वाध्यायस्य संस्कृतत्वमिति तत्राह—'तव्यः कर्मगा-दृष्टवाची' इति। अत्र तव्यप्रत्ययस्य कर्माभिधायितया कर्मकारकस्य तव्यप्रत्ययं प्रति

कण्ठस्थ करनेसे) वेदार्थका बोध होता है, और यही पुरुषार्थ है। इसपर आशङ्का हो सकती है कि भोजनादिकी तरह [भोजन आदि होनेसे तृप्ति होती है और न होनेसे तृप्ति नहीं होती। यहाँ अन्वय और व्यतिरेकसे भोजन और तृप्ति का कार्यकारणभाव सिद्ध है। और इस तरहके अनुमानके कारण 'भोजन करना चाहिए' जैसी विधि व्यर्थ सिद्ध होती है।] अन्वय-व्यतिरेकोंसे ही [प्राप्ति और अर्थबोध का] कार्यकारणभाव सिद्ध होनेसे ['स्वाध्या-योऽध्येतव्यः' यह] विधि भी व्यर्थ सिद्ध होगी। इस आशङ्काका समाधान करते हुए 'विधिर्नियत्यै' द्वारा यह बतलाया गया कि अवघात[1] आदिकी तरह यहाँ भी नियमादृष्टके लिए याने नियमसे प्राप्त होनेवाले अदृष्ट फलके लिए विधिकी आवश्यकता सिद्ध है।

पूर्वपक्षमें कहा गया था कि संस्कारयुक्त स्वाध्यायके विनियोगके कहीं दर्शन नहीं होते; अतएव संस्कारको वेदाध्ययनका फल मानना युक्तियुक्त नहीं है। इसका उत्तर 'संस्कारसिद्धिः क्रत्वध्ययनविधिद्वयोपादानात्' में दिया गया है। विषयके ज्ञानकी अपेक्षा रखनेवाली क्रतुविधियाँ वह ज्ञान करानेमें स्वाध्यायका विनियोग करती हैं। और अध्य-यनकी विधि लिखित पाठ (बिना गुरुके उपदेशके वेदपठन) आदिको व्यावृत्त करके स्वाध्यायमें अध्ययन-जनित संस्कारको बतलाती है। अतः क्रतु-विधि एवं अध्ययन विधि दोनोंसे संस्कारकी सिद्धि संपन्न होती है। लेकिन संस्कार वास्तवमें अदृष्टका अतिशय है, और वह तो दृष्टातिशय स्वाध्यायमें विद्यमान नहीं है। क्योंकि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' में 'तव्य' प्रत्यय जिस प्रकृति (धातु) में लगा है उसका मूल अर्थ है अध्ययन। अतः उससे अध्ययनयुक्त अपूर्वका कथन होगा। इससे स्वाध्यायका संस्कारयुक्त होना कैसे सिद्ध होगा? इस आक्षेपके उत्तरमें 'तव्यः कर्मगादृष्टवाची' की रचना की गई। यहाँ 'तव्य' प्रत्ययके कर्मवाची होनेके कारण वह अध्ययनरूप प्रकृत्यर्थकी तुलनामें स्वाध्यायरूपी

१ अवघात का अर्थ है मूसलका आघात। यद्यपि मूसलके एक ही आघातसे चावल आदि कूटे जा सकते हैं; फिर भी तीन बार आघात करनेकी विधि नियमसे प्राप्त होनेवाले अदृष्ट फलके लिए है।

प्रकृत्यर्थादध्ययनादपि प्रत्यासन्नत्वात् स्वाध्यायगतमेवापूर्वं तव्यप्रत्ययो वक्ति। अपूर्वस्य धात्वर्थजन्यत्वनियमेऽपि तदुपरक्तत्वानियमादिति भावः। यच्चोक्तम् 'अन्याङ्गं नार्थप्रमापकम्' इति तदसत्; यतो मन्त्राणां स्वतन्त्रादृष्टशेषाणां तथात्वं युज्यते। इह तु स्वाध्यायाश्रितमदृष्टम्। तस्य च स्वाध्यायगताक्षरसामर्थ्यसिद्धार्थावबोधे फले सति फलान्तरकल्पनायोगात् प्रामाण्यस्योपबृंहकमेवादृष्टम्, न तु प्रतिबन्धकमित्याह--'स्वतन्त्रादृष्टाशेषत्वान्न स्वार्थप्रमा प्रतिबध्यते' इति। सक्तुन्यायेन कर्मकारकप्राधान्ये परित्यक्ते स्वतन्त्रादृष्टमेवात्रापि स्यादित्यत आह--'यथाश्रुतोपपत्तेर्न सक्तुन्यायः' इति। सक्तुषु गत्यभावात् श्रुतं परित्यज्य अश्रुतं कल्प्यतां नाम। नेह तत् युक्तं प्रदर्शितत्वादित्यर्थः।

८. वेदाध्ययनविधेः अक्षरप्राप्त्यवसानत्वम्।

इत्थमध्ययनविधेर्दृष्टार्थत्वं प्रसाध्य अर्थावबोधपर्यन्ततां निराकर्तुं पूर्वपक्षयति—'वैधमर्थनिर्णयं भट्टगुरू विधेः पुमर्थावसानात्' इति। सर्वत्र विधेः पुरुषार्थपर्यवसायित्व-

---

कर्मकारकका ही निकटवर्ती है। अतएव वह कर्मगत अर्थात् स्वाध्यायगत अदृष्ट याने अपूर्व का ही वाचक है। अपूर्व धात्वर्थसे उत्पन्न होता है सही; किन्तु वह हमेशा धात्वर्थसे ही युक्त हो यह नियम नहीं है।

'अन्याङ्गं नार्थप्रमापकम्' यह कहना भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि वह बात सिर्फ उन मन्त्रोंके विषयमें सही है जो स्वतन्त्र अदृष्टसे अलग हों। यहाँका अदृष्ट तो स्वाध्यायपर निर्भर है और इस स्वाध्यायगत अक्षरोंकी सामर्थ्यके आधारपर सिद्ध होनेवाले अर्थबोधरूपी फलके रहते हुए किसी अन्य फलकी कल्पना करना असमीचीन है। यहाँ अदृष्ट [स्वाध्यायके] स्वार्थे प्रामाण्यका समर्थक ही है; प्रतिबन्धक नहीं यह 'स्वतन्त्रादृष्टाशेषत्वान्न स्वार्थप्रमा प्रतिबध्यते' में बतलाया गया है॥ सक्तुन्यायके अनुसार कर्मकारकके प्राधान्यका त्याग करनेपर यहाँ भी स्वतन्त्र अदृष्ट का स्वीकार करना पड़ेगा। इस आशङ्काका उत्तर 'यथाश्रुतोपपत्तेर्न सक्तुन्यायः' कहकर दिया गया है। 'सक्तूञ्जुहोति'में अनिवार्य होनेके कारण श्रुत कर्मकारकका त्याग करके अश्रुत करणकारककी कल्पना करना समीचीन है; किन्तु यहाँ श्रुत [कर्म कारक] ही उपपन्न होता है। अतएव अश्रुत [करण कारक] की कल्पना करना योग्य नहीं, जैसे कि बतलाया गया है।

८. अक्षरज्ञानमें वेदाध्यनविधिका पर्यवसान।

इस प्रकार अध्ययन-विधि दृष्टार्थ (अथवा दृष्टफल) है इसे सिद्ध करके अब अर्थका ज्ञान होनेकी अवधितक वेदाध्ययन करना चाहिए इस मतके निराकरणके लिए पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—'वैधमर्थनिर्णयं भट्टगुरू विधेः पुमर्थावसानात्'। यह नियम है कि विधि सर्वत्र किसी पुरुषार्थमें पर्यवसित होती है। अतः भट्ट (याने कुमारिल भट्ट) और गुरु (याने प्रभाकर) दोनों यह मानते हैं कि यहाँ भी 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस विधिके अनुसार भी (वेदके) अर्थका ज्ञान होनेकी अवधितक अध्ययन विवक्षित है।

नियमादत्रापि पुरुषार्थभूतं फलवदर्थनिश्चयमध्ययनविधिप्रयुक्तं भट्टगुरू मन्येते॥ ननु सकृदध्ययनादावृत्तिसहितात् वा अर्थनिश्चयो नोपलभ्यते इत्याशङ्क्य, तथा सति तत्सिद्धये सोऽध्ययनविधिरर्थनिश्चयहेतुं विचारं कल्पयिष्यतीत्याह—'स विचारमाक्षिपेत्' इति॥ ननु स्वविधेयतदुपकारिणोरेव विधिः प्रयोजक इति सर्वत्र नियमः। तथा सति अतादृशं कथमत्राध्ययनविधिराक्षेप्स्यतीत्यत आह—'अविधेयानुपकार्याक्षेपोऽवघातावृत्तिवत्' इति। 'व्रीहीनवहन्ति' इत्यत्र अवघातमात्रं विधेयं न तु तदावृत्तिः। तस्या अधात्वर्थत्वात्। नापि सा विधेयोपकारिणी। अन्तरेणावृत्तिं सकृन्मुसलघातमात्रादवघातसिद्धेः। तथापि तण्डुलनिष्पत्तिफलसिद्धये स विधिरावृत्तिं यद्वदाचिक्षेप तद्वत् प्रकृतेऽप्यवगन्तव्यम्॥ ननु वेदमात्राध्यायिनोऽर्थावबोधानुदयेऽपि व्याकरणाद्यङ्गसहितवेदाध्यायिनस्तदुदयसद्भावात् तं प्रति व्यर्थं विचारं विधिर्न कल्पयेदित्याशङ्क्य अर्थगतविरोधपरिहारायापेक्षित एव विचार इत्याह—'साङ्गाध्ययनात्तद्भावे विचारो विरोधापनुत्' इति। सिद्धान्तयति—'प्राप्तेस्तु गवादिवत् पुमर्थ-

इसमें आशङ्का यह है कि एक बार अथवा कई बार अध्ययन करनेसे भी अर्थका निर्णय होता हुआ दिखाई नहीं देता। इसके उत्तरमें 'स विचारमाक्षिपेत्' इस सूत्रके द्वारा बतलाया गया है कि ऐसी स्थितिमें (अर्थके निर्णयके अभावमें) अर्थनिर्णयको सिद्ध करनेके लिए अध्ययन-विधि द्वारा उस विचारका आक्षेप हो जायगा जो अर्थनिर्णयका कारण बन सके। इसपर आक्षेप है कि विधि तो अपने विधेय तथा विधेयका उपकार करनेवाले की ही प्रयोजक होती है; यही नियम सर्वत्र देखा जाता है। ऐसी अवस्थामें अध्ययन-विधिको अर्थनिर्णयको जन्म देनेवाले विचारका आक्षेपक कैसे कहा जा सकता है? इस आक्षेपका परिहार 'अविधेयानुपकार्याक्षेपोऽवघातावृत्तिवत्' में किया गया है। 'व्रीहीनवहन्ति' इस विधिवाक्यमें केवल अवघात याने कूँडना ही विहित है; उनकी आवृत्ति (याने उसी क्रियाको दुहराना) नहीं; कारण न आवृत्ति धातुका अर्थ है और न वह विधियुक्त याने कूँडनेके लिए उपकारक भी है, क्योंकि बिना आवृत्तिके मूसलके एक ही आघातसे कूँडनेकी क्रिया संपन्न होती है। फिर भी चावलकी निष्पत्तिरूपी फलकी सिद्धिके लिए 'व्रीहीनवहन्ति' को अवघात याने कूँडने की आवृत्तिका जिस तरह प्रयोजक माना जाता है उसी तरह प्रस्तुतमें 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस विधिको भी अर्थनिर्णयकी सिद्धिके लिए उसके हेतुभूत विचारका आक्षेपक मानना उचित होगा। इसपर पुनः आक्षेप है कि केवल वेदके अध्येताको अर्थका ज्ञान भले ही न होता हो; किन्तु जो व्यक्ति व्याकरण आदि अङ्गोंके साथ वेदका अध्ययन करता है उसे अर्थका बोध ज़रूर होता है। अतः उसके लिए जो विचार व्यर्थ है उसका आक्षेप विधि नहीं करेगी। इसके उत्तरमें 'साङ्गाध्ययनात्तद्भावे विचारोऽर्थविरोधापनुत्' इस सूत्रके द्वारा यह बतलाया गया है कि (बोध होनेके उपरान्त) अर्थोंके परस्पर-विरोधके निराकरणके लिए विचार निश्चय ही अपेक्षित है।

पूर्वपक्षके उपर्युक्त कथनका खण्डन करते हुए सिद्धान्तपक्षका प्रारम्भ 'प्राप्तेस्तु

त्वाद्विधिस्तदन्तः' इति ॥ यथा फलभूतस्य क्षीरादेर्हेतवो गवादयोऽपि पुरुषैरर्थ्यन्ते, तथा फलवदर्थावबोधहेतोरक्षरप्राप्तेरपि पुरुषार्थत्वात् अध्ययनविधिरक्षरप्राप्त्यवसानोऽवगन्तव्यः ॥ ननु अक्षरप्राप्तेः पुरुषार्थत्वं फलवदर्थाववोधप्रयुक्तं चेत्, तर्हि तद्बोधस्य मुख्यपुरुषार्थत्वात् बोधान्त एव विधिः किं न स्यात् इत्यत आह—'फलवद्बोधान्तत्वेऽध्ययनाकात्स्न्यर्म्' इति। बोधस्य हि फलं कर्मानुष्ठानम्। तथा सति यस्य ब्राह्मणादेर्यस्मिन् बृहस्पतिसवादावधिकारस्तस्य तद्वाक्यमात्राध्ययनं स्यात्। न तु राजसूयादिवाक्याध्ययनम्। तत्र प्रवृत्त्यादिफलाभावात्। स्वपक्षे तु नायं दोष इत्याह—'कृत्स्नप्राप्तिर्जपार्था' इति। न च अवोधकत्वेऽर्थावबोध एव न सिध्येदिति शङ्कनीयम्। प्रमाणस्य प्रमेयबोधकत्वस्वाभाव्यात्। लौकिकाप्तवाक्यानामन्तरेणैव विधिं बोधकत्वदर्शनादित्याह—'लोकवद्वैजो बोधः' इति॥ ननु बोधस्य विधिफलत्वे बोधकाममुद्दिश्य विधातुं शक्यत्वात् सुलभोऽधिकारी स्यादित्याशङ्क्य प्राप्तिपक्षेऽपि प्राप्तिकाम उपनीताष्टवर्षब्राह्मणोऽत्राधिकारी सुलभ एव इति परिहारं स्पष्टत्वादुपेक्ष्य बोधस्य काम्यत्वं

गवादिवत्पुमर्थत्वाद्विधिस्तदन्तः' इस सूत्रके द्वारा हुआ। व्यवहारमें जिस तरह फलरूपी क्षीर आदिके लिए पुरुषों द्वारा उनके कारण गौ आदिकी प्राप्तिकी अभिलाषा भी की जाती है, उसी तरह यहाँ फलरूपी अर्थ-बोधके लिए उसके कारणरूपी अक्षर-प्राप्तिको भी पुरुषार्थ माना जाता है। अतएव 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' में विद्यमान अध्ययन-विधिको अक्षर-प्राप्तिमें पर्यवसित मानना उचित होगा ॥ इसपर आपत्ति यह है कि फलरूपी अर्थबोधके कारण अक्षर-प्राप्तिको ही यदि पुरुषार्थ मानना है, तो अर्थबोधके मुख्य पुरुषार्थ होनेकी वजहसे स्वाध्याय-विधिको उसीमें पर्यवसित क्यों न मान लें? इसका उत्तर 'फलवद्-बोधान्तत्वे अध्ययनाकात्स्न्यर्म्' में है। कर्मानुष्ठान अर्थबोधका ही फल है। और ऐसी स्थितिमें जिस बृहस्पतिसवादि कर्मके अनुष्ठानका अधिकार जिस ब्राह्मणका होगा वह उसी कर्मानुष्ठानसे संबद्ध वाक्य याने वेदांशका अध्येता सिद्ध होगा। राजसूय आदिसे संबद्ध वेदांशका अध्ययन उसके लिए आवश्यक नहीं होगा, क्योंकि उसमें प्रवृत्ति आदि फल ही असंभव होगा। अपने पक्ष याने सिद्धान्तपक्षके अनुसार अक्षर-प्राप्तिको पुरुषार्थ माननेपर यह आपत्ति पैदा नहीं होती इसे 'कृत्स्नप्राप्तिर्जपार्था' में बतलाया गया है, अर्थात् जप करनेके लिए समस्त वेदका अध्ययन आवश्यक है। यदि अध्ययन-विधि अर्थका बोध नहीं कराती तो अर्थका ज्ञान सिद्ध ही नहीं होगा। यह सन्देह भी व्यर्थ है क्योंकि प्रमेयका बोध कराना यह प्रमाणका स्वभाव ही है। साथ साथ लौकिक वाक्य तथा आप्त वाक्य बिना विधिके भी बोध कराते हुए दिखाई देते हैं इसे 'लोकवद्वैजो बोधः' इस सूत्र द्वारा स्पष्ट किया गया है ॥

यहाँ यह संदेह उठाया जाता है कि अर्थबोधको विधिका फल माननेसे बोधकी अभिलाषाके उद्देश्यसे विधान करना संभव होता है और इससे अध्ययनका अधिकार रखनेवाला व्यक्ति सुलभ होता है। इसका परिहार तो स्पष्ट है कि अक्षर-प्राप्तिके पक्षमें भी उसका अभिलाषी अष्टवर्षीय उपनीत ब्राह्मण अध्ययनके अधिकारीके रूपमें सुलभ होता ही है। अतः

दूषयति--‘ सोऽकाम्यः प्राग्बोध्यभानाभानयोः ’ इति। बोध्यस्याग्निहोत्रादिलक्षणवेदार्थस्य अध्ययनात् प्राक् संध्योपासनादिवत् पित्राद्युपदेशात एव भाने सिद्धत्वादेव सोऽर्थबोधो न काम्यः। अभाने कामयितुमशक्यः। ज्ञाते एव विषये कामनानियमात्॥ ननु सामान्यतो ज्ञाते विशेषे बुभुत्सा संभवति। यद्वा विशेषतोऽपि पित्राद्युपदेशादवगते सति औपदेशिकज्ञानस्य प्रामाण्यनिर्णयाय पुनर्बोधकामना युक्तैव इत्याशङ्क्य एवमप्यर्थावबोधमुद्दिश्याध्ययनविधानं न संभवतीत्याह--‘ उद्देशायोगात् ’ इति। अग्निहोत्रादिविशेषज्ञानानां न तावदेकबुद्धया विशेषाकारेणोद्देशः संभवति, अनन्तत्वात्। सामान्याकारेणोद्देशे सामान्यमेव विधिफलं स्यात्, न तु ज्ञानविशेषः। ततो नोद्देशो युक्तः॥ ननु अर्थावबोधमुद्दिश्योच्चारणाभावे वेदस्य स्वार्थे तात्पर्यं न स्यात्, इत्याशङ्क्य उपक्रमादिलिङ्गगम्यं तात्पर्यं शब्दबलादेव सिध्यतीत्याह—‘ तात्पर्यं शब्दात् ’ इति॥ तर्ह्यर्थज्ञानमुद्दिश्य शब्दोच्चारणं लोके व्यर्थं स्यादिति चेत्, न। पुरुषसंबन्धकृतदोषाख्य-

इस सन्देहकी उपेक्षा करके ‘ सोऽकाम्यः प्राग्बोध्यभानाभानयोः ’ इस सूत्रके द्वारा अर्थबोधके काम्य होनेको दोषपूर्ण सिद्ध किया जाता है। अग्निहोत्र आदि वेदके अर्थके अध्ययनके पहले उसका ज्ञान उपनयनके पूर्व ही सन्ध्योपासन आदिके ज्ञानके समान पिता आदिके उपदेशसे सिद्ध होता हो तो वह काम्य नहीं होगा। और यदि वेदार्थका भान सिद्ध ही न होता हो, तो उस ज्ञानको पानेकी इच्छा का उदय असंभव होगा, क्योंकि यह नियम है कि ज्ञात विषयके संबन्धमें ही इच्छाका उदय होता है॥ इसपर आपत्ति यह है कि सामान्य रूपसे जिस विषयका ज्ञान हुआ हो इसका विशेष रूपसे ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छा पैदा हो सकती है; या पिता आदिके उपदेशके कारण विशेष रूपसे अवगत होनेपर भी उपदेशसे प्राप्त ज्ञानके प्रामाण्यको निर्धारित करनेके लिए पुनः ज्ञानकी अभिलाषा युक्तियुक्त मानी जा सकती है। इसे माननेपर भी अर्थबोधके लिए अध्ययनका विधान असंभव ही है इसे बतानेका कार्य ‘ उद्देशायोगात् ’ इस सूत्रद्वारा संपन्न हुआ है। [विशेष आकारवाली] एक बुद्धिके द्वारा विशेष रूपसे अग्निहोत्रादि विशेष ज्ञानका उद्देश्य संभव नहीं है; क्योंकि ऐसे विशेष ज्ञानोंका कोई अन्त नहीं है। सामान्य आकारके उद्देश्यके रहते हुए विधिका फल भी सामान्य ही होगा; वह कोई ज्ञानविशेष नहीं हो सकता। अतः अर्थबोध अध्ययनके विधानका कोई उद्देश्य नहीं हो सकता॥

अब यदि यह मान लें कि अर्थबोधके उद्देश्यसे वेदका उच्चारण नहीं होता; तो वेदका अपने अर्थमें तात्पर्य सिद्ध नहीं होगा। इस आक्षेपका उत्तर ‘ तात्पर्यं शब्दात् ’ के द्वारा देते हुए यह बतलाया गया है कि उपक्रम–उपसंहार[1] आदि साधनों द्वारा निर्धारित होनेवाला तात्पर्य वेदके विषयमें शब्दोंके बलपर ही सिद्ध होगा॥ तब तो अर्थबोधके उद्देश्यसे शब्दका जो उच्चारण व्यवहारमें होता है वह व्यर्थ सिद्ध होगा। यह कहना भी उचित नहीं है क्योंकि लोकमें या व्यवहारमें अर्थज्ञानके उद्देश्यसे शब्दोंका उच्चारण [पुरुषके

१. ‘उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्। अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये॥

प्रतिबन्धपरिहारार्थत्वादित्याह—'उद्दिश्योच्चारणं दोषघ्नं लोके' इति। ननु अध्ययनविधेर्बोधान्तत्वाभावे विचारशास्त्रं न प्रवर्तेत प्रयोजकाभावादित्याशङ्क्याह—'विचार उत्तरविधिप्रयुक्त उपपद्यते' इति। ऋतुबोधविधयः साङ्गवेदाध्ययनादापातप्रतिपन्ना विरोधपरिहारेण प्रतिष्ठितं निर्णयज्ञानमन्तरेण अनुष्ठापयितुमशक्नुवन्तस्तन्निर्णयाय क्रतुविचारं प्रयोजयन्ति। श्रवणविधिस्तु साक्षादेव ब्रह्मविचारं विधत्ते। एवं च सति श्रवणविधेः स्वविधेयप्रयोजकत्वं क्रतुविधीनां च विधेयोपकारिप्रयोजकत्वमित्युपपद्यतेतराम्। अध्ययनविधिप्रयुक्तिपक्षे तु तद्विधेः क्रतुद्वारा स्वर्गसिद्धिपर्यन्तत्वात् क्रत्वनुष्ठानस्यापि तत्प्रयुक्तौ क्रतुविधिवैयर्थ्यमापद्येत। ननु अध्ययनविधेस्त्रैवर्णिकमात्रं प्रति नित्यत्वात् तत्प्रयुक्तौ विचारस्यापि तल्लभ्येत नान्यथेति चेत्, क्रतुविचारस्य त्रैवर्णिकमात्रेऽपि नित्यत्वसिद्धिः किं वा ब्रह्मविचारस्य। तत्राद्योऽस्मन्मतेऽपि सम इत्याह—'अतो नित्यः क्रतुविचारस्त्रैवर्णिकमात्रस्य' इति। यतोऽकरणे प्रत्यवायश्रवणात् क्रतवः त्रैवर्णिकानां नित्या अत इत्यर्थः। द्वितीयोऽनिष्ट इत्याह—'ब्रह्मविचारः पुनः परमहंसस्यैव' इति। नित्य इत्यनुषङ्ग इति॥

संबंधसे उत्पन्न दोषरूपी प्रतिबन्धको हटानेके लिए ही] किया जाता है। 'उद्दिश्योच्चारणं दोषघ्नं लोके' इस सूत्रका यही अभिप्राय है। यदि अध्ययन–विधिको अर्थबोधमें पर्यवसित नहीं माना जाएगा तो प्रयोजकके अभावके कारण विचार–शास्त्र (मीमांसा) प्रवृत्त नहीं होगा। इस सन्देह का समाधान 'विचार उत्तरविधिप्रयुक्त उपपद्यते' इस सूत्रमें किया गया है। अङ्गोंसहित वेदाध्ययनके कारण यज्ञोंके बोधकी विधियाँ आपाततः प्राप्त होतीं हैं सही, किन्तु विरोधके परिहारसे प्रतिष्ठित निर्णय–ज्ञानके बिना क्रतुओंका अनुष्ठान करानेमें ये विधियाँ असमर्थ हैं। अतएव अनुष्ठानके निर्णयके लिए उनके क्रतु-विचार-प्रयोजक होनेमें कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। श्रवण की विधि ('आत्मा वारे श्रोतव्यो मन्तव्यः') तो [अधिकारी व्यक्तिको] साक्षात् ही ब्रह्मविचारमें प्रवृत्त करती है। इस तरह श्रवणविधि अपने विधेयकी (साक्षात्) प्रयोजक एवं क्रतुविधियाँ अपने विधेयके उपकारियोंके प्रयोजक हैं यह मानना अधिक युक्तियुक्त है। अध्ययन–विधिको विचार–शास्त्रका प्रयोजक मान लेनेसे वह विधि क्रतुद्वारा स्वर्गसिद्धिमें पर्यवसित होगी। फलतः क्रतुके अनुष्ठानके भी उस अध्ययन–विधिसे प्रयुक्त सिद्ध होनेके कारण क्रतुविधियोंकी व्यर्थताका दोष पैदा होगा। अब चूँकि अध्ययनविधि तीन वर्णोंके प्रत्येक अधिकार रखनेवाले व्यक्तिके लिए नित्य है; क्रतुविचारको उस विधिसे प्रयुक्त मान लेनेपर वह विचार [अथवा ब्रह्मविचार] भी अनिवार्य रूपसे प्रत्येक त्रैवर्णिकके लिए नित्य सिद्ध होगा, अन्यथा नहीं। इसमें आशङ्का यह है कि त्रैवर्णिकमात्रके लिए जो अध्ययन-विधिद्वारा नित्यत्व सिद्ध होता है, वह केवल क्रतुविचारका है या ब्रह्मविचारका भी? आद्य पक्षमें 'अतो नित्यः क्रतुविचारस्त्रैवर्णिकमात्रस्य' इस सूत्रके द्वारा यह बतलाया गया है कि त्रैवर्णिकके लिए क्रतुविचारकी नित्यता हमारे मतसे भी समान रूपसे स्वीकृत है। क्योंकि क्रतुका अनुष्ठान न करनेसे श्रुतिमें प्रत्यवाय (विघ्न) विहित है। द्वितीय पक्ष तो (उभय वादियोंके लिए) भी

९. अर्थज्ञानस्य विध्यन्तरविहितत्वम् ।

ननु उक्तनीत्या अध्ययनस्याक्षरग्रहणान्तत्वेऽर्थज्ञानमविहितं स्यात्। मैवम्। वाक्यान्तरेण तद्विधानात्। 'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च'. इति तद्विधिः। तत्र निष्कारणशब्देनाध्ययनज्ञानयोः काम्यत्वं निवार्यते। अर्थज्ञाने पुरुषप्रवृत्तिकरं वचनद्वयं शाखान्तरगतं निरुक्तकारो यास्क एवमुदाजहार—'अथापि ज्ञानप्रशंसा भवत्यज्ञाननिन्दा च—

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥
यद्गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्' (नि १·१८) इति ॥

अस्मिन् मन्त्रद्वये 'योऽर्थज्ञः' इत्यनेनैवार्धेन वेदार्थज्ञानं प्रशस्यते। इतरेणार्धत्रयेण ज्ञानराहित्यं निन्द्यते। यो वेदार्थं जानाति सोऽयमिह लोके सकलं श्रेयः प्राप्नोति। तथा तेन ज्ञानेन पापक्षये सति मृतः स्वर्गं प्राप्नोति। तदेतत् ऐहिकामुष्मिकं च ज्ञानफलं

विरुद्ध है यह 'ब्रह्मविचारः पुनः परमहंसस्यैव' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। त्रैवर्णिक मात्रके लिए नहीं। इस सूत्रमें 'नित्य' शब्दका अनुषङ्ग होता है। मतलब ब्रह्मविचार केवल परमहंसके (हंसकी तरह आत्मा-अनात्माका विवेक करनेवालेके) लिए ही नित्य है।

९. अर्थज्ञानका अन्यविधिद्वारा विधान ।

इस प्रकार उक्त ढंगसे अध्ययनविधिको अक्षरग्रहणमें ही पर्यवसित मान लेनेसे यह सिद्ध होगा कि अर्थका ज्ञान विहित ही नहीं यह सन्देह भी उचित नहीं है, क्योंकि दूसरे वाक्यसे उसका (अर्थज्ञानका) विधान किया गया है। यह विधि-वाक्य है—'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' इस वाक्यमें 'निष्कारण' शब्दके द्वारा अध्ययन एवं अर्थज्ञान के काम्य होनेका निवारण किया गया है (एवं उसका नित्य विधान सिद्ध है)। "और ज्ञानकी सराहना तथा अज्ञानकी निन्दा भी [वेदमें] विद्यमान है" इन शब्दोंसे प्रारंभ करके निरुक्तके रचयिता यास्कने भिन्न शाखाके अन्तर्गत दो वचनोंको उद्धृत किया है:—

" स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम् ।
योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥
यद्गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते ।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित् ॥ "

इन दो मन्त्रोंमें 'योऽर्थज्ञ इत् ......' इस श्लोकार्धकी सहायतासे वेदार्थ-ज्ञानकी सराहना और शेष तीन श्लोकार्धों द्वारा उस ज्ञानसे हीन होनेवालेकी निन्दा की गई है। जो वेदका अर्थ जानता है वह इस लोकमें संपूर्ण श्रेयको प्राप्त करता है और इस ज्ञानसे पाप नष्ट होनेपर उसे मृत्युके उपरान्त स्वर्गप्राप्ति होती है। अर्थज्ञानका ऐहिक एवं पारलौकिक

तैत्तिरीया मन्त्रोदाहरणेन तदीयतात्पर्याभिधायिब्राह्मणेन च स्पष्टीचक्रुः—'तदेषाभ्युक्ता ये अर्वाङुत वा पुराणे वेदं विद्वांसमभितो वदन्त्यादित्यमेव ते परिवदन्ति। सर्वे अग्निं द्वितीयं तृतीयं च हंसमिति। यावतीर्वै देवतास्ताः सर्वा वेदविदि ब्राह्मणे वसन्ति। तस्माद्ब्राह्मणेभ्यो वेदविद्भ्यो दिवे दिवे नमस्कुर्यान्नाश्लीलं कीर्तयेदेता एव देवताः प्रीणाति' (तैआ २·१५) इति। वेदं विद्वान् अर्थाभिज्ञः पुरुषः। स च द्विविधः। अर्वाचीनकाले समुत्पन्नः चतुर्दशविद्यास्थानकुशलः कश्चिदुपाध्यायः पुरातनकाले समुत्पन्नो व्यासादिश्च। तमेतमुभयविधं विद्वांसं विद्यामदधनमदकुलमदोपेताः पण्डितंमन्या ये पुरुषा अभितो विद्यादिषु दूषयन्ति ते सर्वेऽपि आदित्यमेव प्रथमं सर्वतो दूषयन्ति। आदित्यापेक्षया द्वितीयमग्निं दूषयन्ति। तदुभयापेक्षया तृतीयं हंसं दूषयन्ति। हन्ति सदा गच्छतीति हंसो वायुः। अग्न्यादिरूपत्वं च वेदविद आम्नातम्—'अग्नेर्वायोरादित्यस्य सायुज्यं गच्छति' (तैआ २·१५) इति। न केवलमेतद्देवतात्रयं किंतु सर्वा अपि देवता वेदविदि वसन्ति। तस्मात् ब्राह्मणान् वेदविदो दृष्ट्वा स्मृत्वा वा प्रतिदिनं नमस्कुर्यात्, न तु तस्मिन् विद्यमानमपि दोषं कीर्तयेत्। एवं सति तत्तन्मन्त्रार्थभूताः सर्वा अपि देवता वेदार्थविदा स्मर्यमाणतया तदीयहृदयेऽवस्थिता अयं नमस्कर्ता तोषयति। न चैतदध्ययनस्यैव फलमिति शङ्कनीयं, 'विद्वांसम्' (तैआ २·१५)

फल तैत्तिरीय शाखाके अनुयायी मन्त्र और उसके तात्पर्यका अभिधान करनेवाले ब्राह्मणकी सहायतासे स्पष्ट इस तरह किया है—तदेषाभ्युक्ता—'ये अर्वाङुत वा पुराणे वेदं विद्वांसमभितो वदन्त्यादित्यमेव ते परिवदन्ति सर्वे अग्निं द्वितीयं तृतीयं च हंसमिति। यावतीर्वै देवतास्ताः सर्वा वेदविदि ब्राह्मणे वसन्ति। तस्माद्ब्राह्मणेभ्यो वेदविद्भ्यो दिवे दिवे नमस्कुर्यान्नाश्लीलं कीर्तयेदेता एव देवताः प्रीणाति' [तैआ. २·१५]। 'वेदं विद्वान्' का अर्थ है अर्थका ज्ञान रखनेवाले पुरुष। वे भी दो प्रकारके हैं; अर्वाचीन कालमें उत्पन्न चौदहों विद्याओंके स्थानोंमें पारङ्गत कोई उपाध्याय, और प्राचीन कालमें उत्पन्न व्यास आदि। विद्या, धन अथवा कुल के मदसे युक्त और अपने आपको पण्डित माननेवाले जो व्यक्ति इन दो प्रकारोंके विद्वानोंकी विद्या आदिके विषयमें त्रुटियाँ बतलाते हैं वे सब पहले सूर्यमें ही दोष निकालते हैं; बादमें सूर्यकी अपेक्षा अग्निमें और तदुपरान्त दोनोंकी अपेक्षा हंसमें दोष बतलाते हैं। हंस याने 'हन्ति सदा गच्छति इति' याने जो हमेशा चलती (बहती) रहती है वह वायु। 'अग्नेर्वायोरादित्यस्य सायुज्यं गच्छति' इस श्रुतिमें कहा गया है कि वेदका वेत्ता अग्नि आदिका रूप प्राप्त कर लेता है। वेदके ज्ञानमें केवल ये तीन देवता ही नहीं; अपि तु सभी देवता निवास करते हैं। अतः वेदको जाननेवाले ब्राह्मणोंको देखकर अथवा उनका स्मरण करके उन्हें प्रतिदिन नमस्कार करना चाहिए; उनमें विद्यमान दोषोंका भी उल्लेख करना ठीक नहीं। इस तरहका बर्ताव रखनेसे (उन ब्राह्मणोंको नमस्कार करनेवाला व्यक्ति) सभी देवताओंको संतुष्ट करता है, जो मन्त्रार्थभूत हैं और वेदार्थके ज्ञाता ब्राह्मणोंके द्वारा निरन्तर स्मरण किये जानेके कारण उनके हृदयमें [सदासे स्थित हैं। यहाँ यह समझना कि यह (केवल) अध्ययनका ही फल है यह शंका अनुचित है, क्योंकि

इत्याम्नातत्वात्। अन्यथा वेदमधीयानमित्याम्नायेत। तस्मात् सर्वदेवताबुद्धया प्राणिभिः पूज्यस्य वेदार्थविदो लोकद्वयेऽपि श्रेयःप्राप्तिरुपपद्यते। यस्तु वेदमधीत्यापि अर्थं न विजानाति सोऽयं पुमान् भारमेव हरति धारयति। स्थाणुरिति दृष्टान्तः। छिन्नशाखं शुष्कं वृक्षमूलं स्थाणुशब्देनोच्यते। स च यथेन्धनार्थमेवोपयुज्यते न तु पुष्पफलार्थं, तथा केवलपाठकस्य व्रात्यत्वं न भवतीत्येतावदेव, न ह्यनुष्ठानं स्वर्गादिफलसिद्धिर्वास्ति। किल इत्यनेन लोकप्रसिद्धिर्द्योत्यते। लोकेऽपि पाठकस्य यावती धनादिपूजा ततोऽप्यधिका विदुषि दृश्यते। किंच यद्वेदवाक्यमाचार्यात् गृहीतमर्थज्ञानरहितं पाठरूपेणैव पुनः पुनरुच्चार्यते, तत् कदाचिदपि न ज्वलति स्वार्थं न प्रकाशयति। यथाग्निरहितप्रदेशे प्रक्षिप्तं शुष्ककाष्ठं न ज्वलति तद्वत्। तथा सति तस्य वाक्यस्य वेदत्वमेव मुख्यं न स्यात्। अलौकिकं पुरुषार्थोपायं वेदयनेनेति वेदशब्दनिर्वचनम्। तथा चोक्तम्— 'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते। एतं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता' इति। अतो मुख्यवेदत्वसिद्धये ज्ञातव्य एव तदर्थः।

श्रुतिमें 'विद्वांसम्' यह पद प्रयुक्त हुआ है; अन्यथा 'वेदमधीयानम्' को प्रयुक्त किया जाता। अतः यह सर्वथा युक्तियुक्त है कि सभी देवताओंकी भावना द्वारा उस प्राणियोंके लिए पूज्य वेदार्थके ज्ञाता ब्राह्मणको दोनों लोकोंमें श्रेयकी प्राप्ति हो। किन्तु वेदका अध्ययन करके भी जो उसका अर्थ नहीं जानता वह व्यक्ति केवल भारको [बोझको] धारण करता है। स्थाणु....इति में दृष्टान्त दिया गया है। स्थाणुका अर्थ है सूखा हुआ वह वृक्षमूल (या ठुँठ) जिसकी सभी शाखाएँ काटी गई हों। इसका उपयोग इन्धनके रूपमें ही होता है; फूलों एवं फलों पानेके लिए नहीं। उसी तरह वेदका [बिना समझे] केवल पठन करनेवाला व्यक्ति व्रात्य (संस्कारहीन) नहीं बनता इतना ही लाभ है; किन्तु न वह अनुष्ठानका अधिकारी है, न उसे स्वर्गादि फलकी प्राप्ति होती है। मन्त्रमें विद्यमान 'किल' शब्द लोकप्रसिद्धिको सूचित करता है। लोकव्यवहारमें भी यह दिखाई देता है कि केवल पठन करनेवालेको धन आदिके रूपमें जो सम्मान मिलता है उससे अधिक सम्मान विद्वान् याने अर्थका ज्ञान रखनेवाले व्यक्तिको प्राप्त होता है। और भी आचार्यसे स्वीकृत किन्तु अर्थज्ञानसे हीन जिस वेदवाक्यका केवल पाठके रूपमें पुनः पुनः उच्चारण होता है वह वेदवाक्य किसी भी अवसरपर उसी तरह ज्वलित नहीं होता याने अपने अर्थको प्रकाशित नहीं करता, जैसे अग्निरहित प्रदेशमें फेंका गया सूखा काठ। ऐसी अवस्थामें उस (अर्थज्ञानसे हीन) वेद-वाक्यको प्रमुख रूपसे वेदत्व ही प्राप्त न हो सकेगा; क्योंकि वेद वही है जिसकी सहायतासे व्यक्ति अलौकिक पुरुषार्थकी प्राप्तिके उपायको जानता है; असलमें यही 'वेद' शब्दका निर्वचन है। इस विषयमें कहा भी गया है—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एतं विन्दन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता॥

अर्थात् जिस उपायको प्रत्यक्ष या अनुमान की सहायतासे नहीं जाना जा सकता उसे वेदकी

किं चात्र यास्केन (नि १·१९) काचिदन्याप्यृगुदाहृता—

'उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।

उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः' (ऋसं १०·७१·४)इति॥

तत्र पूर्वार्धस्य तात्पर्यं स एव दर्शयति-'अप्येकः पश्यन्न पश्यति वाचमपि च शृण्वन्न शृणोत्येनामित्यविद्वांसमाहार्धम्' इति। अस्यायमर्थः। यः पुमानर्थं न वेत्ति तं प्रति पूर्वार्धेन मन्त्रो ब्रूते। एकः पुरुषः पाठमात्रपर्यवसितो वेदरूपां वाचं पश्यन्नपि न सम्यक् पश्यति। एकवचनबहुवचनादिविवेकाभावे पाठशुद्धेरपि कर्तुमशक्यत्वात्। 'वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवैनं भूतिं गमयति' (तैसं २·१·१·१), 'आदित्यानेव स्वेन भागधेयेनोपधावति त एवैनं भूतिं गमयन्ति' इत्यादौ अव्युत्पन्नः कथं पाठं निश्चिनुयात्। अन्यः कश्चिदर्थज्ञानाय व्याकरणाद्यङ्गानि शृण्वन्नपि मीमांसाराहित्यादेनां वेदरूपां वाचं न सम्यक् शृणोति। 'यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात्तावतो वारुणाञ्चतुष्कपालान्निर्वपेत्' (तैसं २·३·१२·१) इत्यत्र व्याकरणमात्रेण प्रतिग्रहीतुरिष्टिः प्रतीयते। मीमांसायां तु न्यायेन दातुरिति निर्णीतम् (जैसू ३·४·३०)। तस्मात् उभयविधमप्यविद्वांसं प्रति एवमाहेति। तृतीयपादतात्पर्यं दर्शयति—'अप्येकस्मै तन्वं विसस्रे इति

सहायतासे जानते हैं— यही वेदका वेदत्व है। अतः प्रमुख रूपसे वेदत्वकी सिद्धिके लिए उसके अर्थको जानना आवश्यक ही है।

इतना ही नहीं, इस विषयमें यास्कने और एक ऋचाको उद्धृत किया है:—

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।

उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥ [ऋसं. १०·७१·४]

इस ऋचाके पूर्वार्धका तात्पर्य स्वयं यास्क ही निम्नानुसार बतलाते हैं, 'अप्येकः पश्यन्न पश्यति वाचमपि शृण्वन्न शृणोत्येनामित्यविद्वांसमाहार्धम्'। इसका अर्थ इस प्रकार है:—जो व्यक्ति अर्थको नहीं जानता उसके विषयमें मन्त्र पूर्वार्धसे कहता है— जिस एक व्यक्तिका अध्ययन केवल पठनमें ही पर्यवसित हुआ है वह वेदरूपा वाणीको देखते हुए भी भली भाँति नहीं देख पाता; क्योंकि एकवचन, बहुवचन आदिके विवेचनके अभावमें पठनकी शुद्धताको भी पाना असंभव है। 'वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवैनं भूतिं गमयति। आदित्यानेव स्वेन भागधेयेनोपधावति त एवैनं भूतिं गमयन्ति' आदिके विषयमें अव्युत्पन्न व्यक्ति शुद्ध पाठको निर्धारित कैसे कर पाएगा? दूसरा कोई व्यक्ति अर्थ-ज्ञानके लिए व्याकरण आदि अङ्गोंका श्रवण करनेपर भी मीमांसा [के ज्ञानके] अभावके कारण वेदरूपा वाणीका ठीक ढंगसे श्रवण नहीं करता। 'यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात्तावतो वारुणाञ्चतुष्कपालान्निर्वपेत्' में केवल व्याकरणकी सहायतासे यह प्रतीत होता है कि 'अश्वको लेनेवाला (प्रतिग्रहीता) यज्ञ करे;' किन्तु मीमांसाके न्यायके अनुसार यह निर्णय होता है कि 'अश्वका दान देनेवाला यज्ञ करे'। अतः मन्त्रके पूर्वार्धमें दोनों प्रकारोंके अविद्वानोंके संबन्धमें यह कहा गया है।

स्वमात्मानं विवृणुते ज्ञानं प्रकाशनमर्थस्याहानया वाचा इति । अस्यायमर्थः—अपिशब्द-पर्याय उतोशब्दः। स च पूर्वोक्तानभिज्ञवैलक्षण्यायात्र प्रयुक्तो निपातानामनेकार्थत्वात्। यः पुमान् व्याकरणाद्यङ्गैः स्वशब्दार्थं मीमांसया तात्पर्यं च शोधयितुं प्रवृत्तः, तस्मै एकस्मै वेदः स्वकीयां तनुं विसस्रे। स्वमित्यादिकं पदव्याख्यानम्। ज्ञानमित्यादिकं तात्पर्य-व्याख्यानम्। वेदार्थप्रकाशनक्षमं सम्यग्ज्ञानमनया तृतीयपादरूपया वाचा मन्त्र आहेति। चतुर्थपादतात्पर्यं दर्शयति—' उपमोत्तमया वाचा जायेव पत्ये कामयमाना सुवासा ऋतुकालेषु सुवासाः कल्याणवासाः कामयमाना ऋतुकालेषु यथा स एनां पश्यति स शृणोतीत्यर्थज्ञप्रशंसा ' इति। अस्यायमर्थः। उत्तमया चतुर्थपादरूपया वाचा तृतीयपादार्थस्योपमा उच्यते। उशतीत्येतस्य व्याख्यानं कामयमानेति। यद्यपि अह्नि गृहकृत्यवेलायां मलिनवासास्तथापि संभोगकालेषु कल्याणवासा भवति। तत्र हेतुः। कामयमाना ऋतुकालेष्विति। यथा स पतिरेनां जायां साकल्येनादरयुक्तः पश्यति, किंच तयोक्तमर्थं हितबुद्ध्या शृणोति, तथायं चतुर्दशविद्यास्थानपरिशीलनोपेतः पुरुषो वेदार्थरहस्यं सम्यक् पश्यति, वेदोक्तं च धर्मब्रह्मरूपमर्थं हितबुद्ध्या स्वीकरोति। सेयमुक्ता वेदार्था-

उपर्युक्त मन्त्रके तृतीय पादके तात्पर्यको बतलाते हुए यास्कने लिखा— ' अप्येकस्मै तन्वं विसस्रे इति स्वमात्मानं विवृणुते ज्ञानं प्रकाशनमर्थस्याहानया वाचा '। इसका अर्थ निम्नानुसार है —' उतो ' शब्द ' अपि ' शब्दका पर्यायवाची है। पूर्वोक्त अनभिज्ञ व्यक्तिसे भिन्नता बतलानेके लिए इसको यहाँ प्रयुक्त किया गया है; क्योंकि निपातोंके अर्थ अनेक हैं। वेद उसी अकेले व्यक्तिके सामने अपनी तनुको याने अपने यथार्थ स्वरूपको प्रकट करता है जो व्याकरण आदि अङ्गोंकी सहायतासे अपने याने वेदके शब्दोंका अर्थ और मीमांसाकी मददसे उनका तात्पर्य समझनेकी ओर प्रवृत्त हुआ हो। निरुक्तका ' स्वमात्मानं ···' आदि पदव्याख्या है और 'ज्ञानं····'आदि तात्पर्यकी व्याख्या। यह मन्त्र अपने तृतीय पादरूपा वाणीकी सहायतासे वेदार्थको प्रकट करनेकी क्षमता रखनेवाले सम्यक् ज्ञानका कथन करता है।

चौथे पादके तात्पर्यको बतलाते हुए यास्क लिखते हैं:—' उपमोत्तमया वाचा। जायेव पत्ये कामयमाना। सुवासा ऋतुकालेषु सुवासाः कल्याणवासाः कामयमाना ऋतुकालेषु यथा स एनां पश्यति स शृणोतीत्यर्थज्ञप्रशंसा '। इसका अर्थ निम्नानुसार है:—

उत्तम याने चतुर्थपादरूपा वाणीके द्वारा तृतीय पादके अर्थके लिए उपमा दी गई है। ' उशती ' इस पदकी व्याख्या ' कामयमाना ' इस पदमें की गई है। दिनमें घरका काम करनेके समय यद्यपि स्त्री मलिन वस्त्र पहनती है, फिर भी संभोगके समय वह उत्तम वस्त्र धारण करती है; क्योंकि ऋतुकालमें वह इच्छा रखती है कि पति उसकी ओर (अपनी पत्नीकी ओर) पूर्ण आदरके साथ देखे, और हितकी भावनासे उसके कथनको सुने। उसी तरह चौदहों विद्याओंके स्थानोंमें परिशीलनसे युक्त पुरुष वेदार्थके रहस्यको भली भाँति [सम्यक् रूपमें] देखता है याने समझ लेता है और वेदोंमें कथित धर्मब्रह्मरूपी अर्थका

भिज्ञस्य प्रशंसेति ॥ पुनरप्यृगन्तरं यास्कः (निरु-१·२०) उदाजहार—'तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय

उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु।
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्' (ऋसं १०·७१·५) इति ॥

अयमर्थः—पूर्वोदाहृतायाः 'उत त्वः पश्यन्' इत्यादिकाया ऋचोऽनन्तरमेवाम्नाता काचित् ऋक् तस्य पूर्वोक्तमन्त्रार्थस्य भूयसे निर्वचनाय संपद्यते। तमर्थमतिशयेन प्रतिपादयितुं प्रभवति। कथमिति चेत्, तदुच्यते। अपि चैकं चतुर्दशविद्यास्थानकुशलं पुरुषं वेदरूपाया वाचः सख्ये स्थित्वा स्थैर्येण वेदोक्तार्थामृतपानयुक्तमाहुः अभिज्ञाः कथयन्ति। 'सखिविदं सखायम्' (तैआ २·१५) इति मन्त्रे वेदस्य सखित्वमुदाहृतम्। यद्वा स्वर्गलोके देवानां सख्ये स्थित्वातिशयेन पीतामृतमाहुः। वाचाम् इना ईश्वराः सभासु प्रगल्भा वा वाजिनाः। तेषु मध्येऽप्येनं वेदार्थकुशलं चोदयितुं न हिन्वन्ति। न केऽपि प्राप्नुवन्ति। तेन सह विवदितुमसमर्थत्वात्। यस्तु अन्यः पाठमात्रपरः पुष्पफलरहितां वाचं शुश्रुवान् भवति। पूर्वकाण्डोक्तस्य धर्मस्य ज्ञानं पुष्पम्। उत्तरकाण्डोक्तस्य ब्रह्मणो ज्ञानं फलम्। यथा लोके पुष्पं फलस्योत्पादकं तथा वेदानुवचनादिधर्मज्ञान-

---

हितकी भावनासे स्वीकार करता है। यही वेदार्थके ज्ञाताकी प्रशंसा है जो यहाँ कथित हुई है।

'तस्य उत्तरा भूयसे निर्वचनाय' कहकर यास्क मुनिने और एक ऋक्को भी उद्धृत किया है। वह ऋक् है:—

"उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु।
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्" ॥[ऋ.१०·७१·५]

इसका अर्थ ऐसा है:— पहले उद्धृत 'उत त्वः पश्यन्...' इस ऋचाके बादकी प्रस्तुत ऋचा पूर्वोक्त ऋचा के अर्थको विशेष रूपसे विशद करनेमें सहायक है। यदि प्रश्न पूछा जाय कि यह कैसे संभव है; तो उत्तर निम्नानुसार है। चौदहों विद्याओंके स्थानोंमें जो कोई पुरुष कुशल है उसे वेदरूपा वाणीकी मित्रतामें सुस्थित होकर स्थिरतासे वेदोक्त अर्थरूपी अमृतके पानका यहाँ अधिकारी कहा गया याने ज्ञाताओंका कथन है; कारण 'सखिविदं सखायम्' इस तैत्तिरीय मन्त्रमें वेदकी मित्रताका कथन है। अथवा यहाँ उस [चौदह विद्याओंके स्थानोंमें कुशल] पुरुषका उल्लेख है जिसने स्वर्गलोकमें वेदोंकी मित्रतामें स्थित होकर विशेष रूपसे अमृतका पान किया हो। 'वाजिनाः' का अर्थ है 'वाचामिना ईश्वराः' 'याने वाणीके प्रभु' अथवा सभाओंमें प्रगल्भ व्यक्ति। ऐसे व्यक्तियोंके बीचमें भी इस वेदार्थकुशल पुरुषको वादमें प्रेरित करनेके लिए लोग नहीं जाते, उसे नहीं पा सकते; क्योंकि उसके साथ विवाद करना उनके लिए असंभव ही है। किन्तु जो इससे अलग होकर केवल पठनपर ही निर्भर रहता है वह पुष्प एवं फलसे हीन वाणीको सुनता रहता है। पूर्वकाण्डमें उक्त धर्मका ज्ञान पुष्प है और उत्तरकाण्ड में उक्त ब्रह्मका ज्ञान फल है। जिस तरह संसारमें फूल फलका उत्पादक है एवं वेदानुवचन आदि धर्मज्ञान अनुष्ठानद्वारा फलरूप

मनुष्ठानद्वारा फलात्मकब्रह्मज्ञानेच्छां जनयति। 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन ' (बृउ ४·४·२२) इति श्रुतेः। यथा च फलं तृप्तिहेतुस्तथा ब्रह्मज्ञानं कृतकृत्यत्वहेतुः, ' यत्पूर्णानन्दैकबोधस्तद्ब्रह्माहमस्मीति कृतकृत्यो भवति ' इति श्रुतेः। तादृशपुष्पफलरहितवेदपाठकः स एष पुमान् अधेन्वा मायया सह चरति। नवप्रसूतिका क्षीरदोग्ध्री गौः प्रीतिहेतुत्वात् धिनोतीति व्युत्पत्त्या धेनुरित्युच्यते। पाठ-मात्रपरं प्रति वेदरूपा वाग्धर्मज्ञानरूपं क्षीरं न दोग्धीत्यधेनुः। अत एवासौ माया कपटरूपा ऐन्द्रजालिकनिर्मितगोसदृशरूपत्वात्। तया मायया सह चरन्नयं परमपुरुषार्थं न लभते इत्यर्थः। इत्थं यास्केन ज्ञानस्तुत्यज्ञाननिन्दोदाहरणस्य प्रपञ्चितत्वात् यच्च स्तूयते तद्विधीयते इति न्यायेन अध्ययनवदर्थस्यापि विधिरभ्युपगन्तव्यः॥

किंच नक्षत्रेष्टिकाण्डे प्रतीष्टि फलवाक्यं यागतद्वेदनयोः समानमेवाम्नायते—' यथा ह वा अग्निर्देवानामन्नाद एवं ह वा ५ष मनुष्याणां भवति य एतेन हविषा यजते य उ चैनदेवं वेद ' (तैब्रा ३·१·४·१) इति। अतो यागवत् फलाय स्ववेदनमपि विधीयते। अनेन न्यायेन सर्वेष्वपि ब्राह्मणेषु वेदनविधयो द्रष्टव्याः॥ ननु ' विद्याप्रशंसा ' (जैसू

ब्रह्मज्ञानकी इच्छाको जन्म देता है; जैसा कि ' तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन ' [बृउ ४·४·२२] इस श्रुतिसे स्पष्ट है। जिस तरह फल तृप्तिका कारण है उसी तरह ब्रह्मज्ञान कृतकृत्यताका। यह भी ' यत् पूर्णानन्दैकबोधस्तद्-ब्रह्माहमस्मीति कृतकृत्यो भवति (परमहंसोपनिषद् ४) इस श्रुतिसे सिद्ध है। उस तरहके पुष्प-फलहीन वेदका पठन करनेवाला यह पुरुष अधेनुरूपा मायाके साथ संचरण करता है। हालहीमें ब्याई हुई और दुधार होनेके कारण प्रीतिका निर्माण करनेवाली गाय व्युत्पत्तिके तौरपर धेनु कहलाती है। वेदरूपा वाणी वेदका केवल पठन करनेवाले व्यक्तिके लिए धर्म और ब्रह्म का ज्ञानरूपी दुग्ध प्रदान नहीं करती; इसलिए वह अधेनु कहलाती है। अतएव वह वाणी माया या कपटरूपा; क्योंकि उसका रूप ठीक उसी गायके सदृश है जो ऐन्द्र-जालिक द्वारा निर्मित हुई हो। उस मायाके साथ संचरण करनेवाले इस व्यक्तिको परम पुरुषार्थकी प्राप्ति नहीं होती। यही इस मन्त्रका अर्थ है। इस तरह यास्कके द्वारा वेदार्थके ज्ञानकी प्रशंसा और अज्ञानकी निन्दा के उदाहरणके विशद किए जानेके कारण, और ' जिसकी प्रशंसा की जाती है उसीका विधान किया जाता है' [यच्च स्तूयते तद्विधीयते] इस न्यायके अनुसार यह मान लेना चाहिए कि अध्ययन–विधिकी तरह अर्थ-ज्ञानकी विधि भी विद्यमान है।

साथ साथ नक्षत्रेष्टि काण्डमें प्रत्येक यज्ञका फलवाक्य याग तथा उसका ज्ञान, दोनोंके विषयमें समान रूपसे पठित है—' यथा ह वा अग्निर्देवानामन्नादः। एवं ह वा एष मनुष्याणां भवति य एतेन हविषा यजते य उ चैनदेवं वेद ' [तैब्रा ३·१·४·१] इस न्यायके अनुसार सभी ब्राह्मणोंमें (इष्टियोंके) ज्ञानकी विधियाँ विद्यमान हैं अतः फलके लिए यागकी तरह (साक्षात्) यागके ज्ञानका भी विधान किया गया है इसका स्वीकार करना चाहिए।

१·२·१५) इति सूत्रे वेदनफलानां प्रशंसारूपत्वं जैमिनिना सूत्रितमिति चेत्, अस्तु नाम। विद्यमानेनापि फलेन प्रशंसितुं शक्यत्वात्। दर्शयागस्य पूर्णमासयागस्य च अतिपाते सति प्रायश्चित्तरूपां वैश्वानरेष्टिं विधातुं विद्यमानेनैव स्वर्गफलेन स्तुतिः क्रियते 'सुवर्गाय हि लोकाय दर्शपूर्णमासाविज्येते' (तैसं २·२·५·४) इति। एतच्चाचार्यैर्ब्रह्मज्ञानफलवाक्यस्य स्वार्थेऽपि तात्पर्यं दर्शयितुमुदाहृतम्—

इच्छाम्येवार्थवादत्वं वचसोऽन्यपरत्वतः।
यथावस्त्वभिधायित्वान्न त्वभूतार्थवादता॥
इज्येते स्वर्गलोकाय दर्शादर्शौ यथा तथा।
न त्वभूतार्थवादत्वं पापश्लोका श्रुतिर्यथा (बृउवा १२७-१२८)॥

इति। न च वेदनमात्रेण फलसिद्धावनुष्ठानवैयर्थ्यमिति शङ्कनीयम्; फलभूयस्त्वेन परिहृतत्वात्। उदाहृतं चात्र जैमिनिसूत्रं—'फलस्य कर्मनिष्पत्तेस्तेषां लोकवत् परिमाणतः सारतो वा फलविशेषः स्यात्' (जैसू १·२·१७) इति। एतच्चास्माभिः 'तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद' (तैसं ५·३·१२·२) इत्युदाहरणेन व्याख्यातम्।

इसपर आक्षेप यह है कि आचार्य जैमिनिने 'विद्याप्रशंसा' इस सूत्रमें अर्थ-ज्ञानके फलोंका प्रशंसाके रूपमें अन्तर्भाव किया है। उत्तर यह है कि ऐसा माननेसे कुछ बिगड़ता नहीं। क्योंकि प्रशंसा विद्यमान फलकी सहायतासे भी हो सकती है। दर्शयाग एवं पूर्णमासयाग का अतिक्रमण होनेपर प्रायश्चित्तरूपी वैश्वानरयागका विधान करनेके लिए 'सुवर्गाय हि लोकाय दर्शपूर्णमासाविज्येते' इन शब्दोंके द्वारा विद्यमान स्वर्गरूपी फलसे ही प्रशंसा की गई है। ब्रह्मज्ञानरूपी फलके वाक्यका अपने अर्थमें भी तात्पर्य है [केवल प्रशंसामें नहीं]। इसे बतलानेके लिए आचार्य [सुरेश्वर] के द्वारा निम्नलिखित श्लोक निर्दिष्ट हुए हैं:—

इच्छाम्येवार्थवादत्वं वचसोऽन्यपरत्वतः।
यथावस्त्वभिधायित्वान्न त्वभूतार्थवादतः॥ १॥
इज्येते स्वर्गलोकाय दर्शादर्शौ यथा तथा।
न त्वभूतार्थवादत्वं पापश्लोका श्रुतिर्यथा॥ २॥

"जो बात ज्ञानकी प्रशंसाके लिए कही गई है उसका अर्थवादरूप होना मुझे स्वीकार है; किन्तु यथास्थित फलका अभिधान करनेके कारण इसका असत्य अर्थवादरूप होना ठीक नहीं है। यह अर्थवाद उसी तरह यथार्थ फलका अभिधान करता है जैसे दर्शादर्शसंबन्धी स्वर्गफलका अर्थवाद। इसमें पापश्लोकवाली श्रुति ['यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापꣳ श्लोकꣳ शृणोति'] की तरह असत्य अर्थका कथन नहीं है।" यदि केवल ज्ञानसे ही फलकी सिद्धि होती हो, तो यज्ञ-कर्मका अनुष्ठान व्यर्थ सिद्ध होगा। यह आशङ्का ठीक नहीं है; क्योंकि इसका परिहार फलके अधिक होनेसे किया गया है। इस विषयमें जैमिनिके सूत्रका उल्लेख भी हुआ है—'फलस्य कर्मनिष्पत्तेस्तेषां लोकवत् परिमाणतः सारतो वा फलविशेषः स्यात्' (जैसू १·२·१७) और 'जो अश्वमेध यज्ञ करता है और

छन्दोगाश्च केवलादनुष्ठानात् विद्यासहितेऽनुष्ठाने फलातिशयमामनन्ति—'तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद। नाना तु विद्या चाविद्या च। यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' (छांउ १·१·१०) इति। यद्यप्यङ्गावबद्धोपास्तिरत्र विद्याशब्देन विवक्षिता तथापि न्यायः सर्वास्वपि विद्यासु समानः॥

कुतस्तवैतावती वेदने भक्तिरिति चेत्। कुतो वा तवैतावान् प्रद्वेषः। प्रशंसा त्वस्माभिर्भूयसी दर्शिता। निन्दां तु न क्वाप्युपलभामहे। किंतु कर्मजन्यमपूर्वं यथा मरणादूर्ध्वं जीवेन सह गच्छति तथा विद्याजन्यमप्यपूर्वं गच्छति। तथा च वाजसनेयिन आमनन्ति—'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च' (बृउ ४·४·२) इति। तस्मात् अध्ययनवदर्थज्ञानस्यापि विहितत्वादर्थज्ञानाय वेदो व्याख्यातव्यः॥

१०. ऋग्वेदव्याख्यानस्य अनुबन्धचतुष्टयम्।

विषयप्रयोजनसंबन्धाधिकारिज्ञानमन्तरेण श्रोतृप्रवृत्त्यभावात् विषयादयो निरूप्यन्ते। व्याख्यानस्य व्याख्येयो वेदो विषयः। तदर्थज्ञानं प्रयोजनम्। व्याख्यानव्याख्येयभावः संबन्धः। ज्ञानार्थी चाधिकारी। यद्यप्येतावत् प्रसिद्धं तथापि वेदस्य विषयाद्यभावे

जो उसे जानता भी है वह ब्रह्महत्यासे मुक्त होता है' [तैसं. ५·३·१२·२] इसकी हमने उदाहरणके तौरपर व्याख्या भी की है।

छान्दोग्य उपनिषद्के अध्येता कहते हैं कि केवल अनुष्ठानकी अपेक्षा विद्यासहित अनुष्ठानसे अधिक फल प्राप्त होता है—'तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद। नाना तु विद्या चाविद्या च। यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' [छांउ १·१·१०] यद्यपि यहाँ 'विद्या' शब्दका अभिप्राय अङ्गोंके साथ वेदोंकी उपासना है फिर भी सभी विद्याओंपर यह न्याय समान रूपसे लागू है। यदि यह पूछा जाय कि ज्ञानके विषयमें आपकी इतनी भक्ति क्यों है? तो हम भी प्रतिप्रश्न करते हैं—आपको ज्ञानसे इतना द्वेष क्यों है? ज्ञानकी प्रशंसा तो बहुत है इसे हमने बतलाया है; किन्तु उसकी निन्दा तो हमने कहीं भी नहीं पायी। जिस तरह कर्मसे जनित अपूर्व मृत्युके उपरान्त जीवके साथ जाता है उसी तरह विद्याके [वेदार्थके] ज्ञानसे जनित अपूर्व भी। जैसे कि वाजसनेयी लोग कहते हैं—'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च' [शब्रा १४·७·२·३ बृउ ४·४·२]। अतः अध्ययनकी तरह अर्थज्ञानके भी विहित होनेके कारण उसके लिए वेदकी व्याख्या करना समीचीन है।

१०. ऋग्वेदव्याख्याके चार अनुबन्ध।

विषय, प्रयोजन, संबन्ध एवं अधिकार रखनेवाला व्यक्ति इन्हें समझे बिना व्याख्याकी ओर श्रोताओंकी प्रवृत्ति नहीं होती; अतएव अब विषय आदिका निरूपण किया जा रहा है। जिसकी व्याख्या करनी है वह वेद ही व्याख्याका विषय है; इसके अर्थका ज्ञान यही प्रयोजन है। व्याख्यान-व्याख्येय भाव यही संबन्ध है, और वेदार्थके ज्ञानको पानेका अभिलाषी व्यक्ति यही व्याख्याका अधिकार रखनेवाला पुरुष है। यद्यपि यह सब सुविदित

व्याख्यानस्यापि परमविषयादिकं न स्यात्। अतो वेदस्य तच्चतुष्टयमुच्यते। वेदे पूर्वोत्तरकाण्डयोः क्रमेण धर्मब्रह्मणी विषयः, तयोरनन्यलभ्यत्वात्। तथा च पुरुषार्थानुशासने सूत्रितं—'धर्मब्रह्मणी वेदैकवेद्ये' इति। जैमिनीये च द्वितीयसूत्रे 'चोदनैव धर्मे प्रमाणम्', 'चोदना प्रमाणमेव' इति नियमद्वयं संप्रदायविद्भिरभिहितम्। चोदनैवेत्यमुमर्थमुपपादयितुं चतुर्थसूत्रे प्रत्यक्षविषयत्वं धर्मस्य निराकृतम्—'प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्' (जैसू १·१·४) इति। अनुष्ठानादूर्ध्वमुत्पत्स्यमानस्य धर्मस्य पूर्वमविद्यमानत्वात् न प्रत्यक्षयोग्यतास्ति। उत्तरकालेऽपि रूपादिराहित्यात् नेन्द्रियैरवगम्यते। अत एव अदृष्टमिति सर्वैरभिधीयते। लिङ्गराहित्यात् नानुमानविषयत्वमप्यस्ति। सुखदुःखे धर्माधर्मयोर्लिङ्गमिति चेत्, बाढम्। अयमपि लिङ्गलिङ्गिभावो वेदेनैव गम्यते। ततश्चोदनैव धर्मे प्रमाणम्॥ वैयासिकस्य तृतीयसूत्रस्य द्वितीयवर्णके ब्रह्मणः सिद्धवस्तुनोऽपि शास्त्रैकविषयत्वं भाष्यकृद्भिर्व्याख्यातं—'शास्त्रादेव प्रमाणाज्जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्माधिगम्यत इत्यभिप्रायः' (ब्रसूशांभा १·१·३) इति। श्रुतिश्च भवति—'नावेदविन्मनुते

है; फिर भी वेदके विषय आदिके अभावके कारण व्याख्याके विषय आदि भी सिद्ध नहीं होंगे। इसीलिए वेदके चारों अनुबन्धोंका—विषय, प्रयोजन, संबन्ध एवं अधिकार रखनेवाले व्यक्ति का—निर्देश किया जा रहा है।

वेदके पूर्व एवं उत्तर काण्डके क्रमशः विषय हैं धर्म और ब्रह्म; क्योंकि ये दोनों [धर्म और ब्रह्म] अन्य किसीकी भी सहायतासे उपलब्ध नहीं होते। पुरुषार्थानुशासनमें इसे सूत्रबद्ध करते हुए कहा गया है 'धर्मब्रह्मणी वेदैकवेद्ये'। संप्रदायके ज्ञाताओंका कथन है कि आचार्य जैमिनिके द्वितीय सूत्रमें दो नियम बतलाए गए हैं; वे हैं 'चोदनैव धर्मे प्रमाणम्' और 'चोदना प्रमाणमेव'। 'चोदनैव धर्मे प्रमाणम्' के अर्थको युक्तियुक्त सिद्ध करनेके लिए चौथे सूत्रमें धर्मके प्रत्यक्ष [प्रमाण] विषय होनेका निराकरण किया गया है— 'प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भत्वात्'। अनुष्ठानके उपरान्त उत्पन्न होनेवाला धर्म पहले विद्यमान नहीं हो सकता; अतएव उसमें प्रत्यक्षगोचर होनेकी योग्यता नहीं है, और बादमें भी रूपादिरहित होनेकी वजहसे वह इन्द्रियोंके द्वारा समझा नहीं जा सकता। इसीलिए सब लोगों द्वारा उसे 'अदृष्ट' कहा जाता है। लिङ्ग या हेतु के अभावके कारण वह अनुमानका भी विषय नहीं हो सकता। यदि कोई कहे कि सुख एवं दुःख धर्म तथा अधर्मके हेतु (लिङ्ग) हैं, तो यह बात बिलकुल सही है। लेकिन सुख—दुःख तथा धर्म-अधर्म के इस लिङ्ग—लिङ्गी संबन्धका ज्ञान भी वेदसे ही प्राप्त होता है। अतः धर्मके विषयमें चोदना [याने वेदविहित विधान] ही प्रमाण है।

व्यासप्रणीत तृतीय सूत्रके दूसरे वर्णकमें ब्रह्मके सिद्ध वस्तु होनेपर भी भाष्यकारोंने उसे केवल शास्त्रका ही विषय कहा है। उनका कथन है [अभिप्राय है] कि शास्त्रके ही प्रमाणसे यह जाना जाता है कि ब्रह्म जगत्के जन्म आदिका [याने स्थिति, प्रलय का] कारण है, और श्रुति भी है 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' [तैब्रा. ३·१२·९·७] याने वेदका ज्ञान न रखनेवाला व्यक्ति उस बृहत् याने महान् [ब्रह्मतत्त्व] को नहीं जानता।

तं बृहन्तम्' (तैब्रा ३·१२·९·७) इति। तत्रोपपत्तिः पूर्वाचार्यैरेवमुदीरिता—'रूपलिङ्गादि-राहित्याच्च मानान्तरयोग्यता' (वैन्या १·१·३·१८) इति। तस्मात् अनन्यलभ्यत्वादस्ति धर्मब्रह्मणोर्वेदविषयत्वम्। तदुभयज्ञानं वेदस्य साक्षात् प्रयोजनम्। न च तस्य ज्ञानस्य 'सप्तद्वीपा वसुमती', राजासौ गच्छति' इत्यादिज्ञानवत् अपुरुषार्थपर्यवसायित्वं शङ्कनीयम्। धर्मप्रयुक्तस्य पुरुषार्थस्य स्तूयमानत्वात् 'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति धर्मेण पापमपनुदति धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति' (तैआ १०·६३) इति। उद्दण्डस्य राज्ञो नियामकत्वात् विवदमानयोः पुरुषयो-र्मध्ये दुर्बलस्यापि राजसाहाय्यवत् जयहेतुत्वाच्च धर्मः पुरुषार्थः। तथा च वाजसनेयिनः सृष्टिप्रकरणे समामनन्ति—'तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत धर्मं तदेतत्क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मस्त-स्माद्धर्मात्परं नास्त्यथो अबलीयान्बलीयांसमाशंसते धर्मेण यथा राज्ञैवम्' (बृउ १·४·१४) इति। 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तैआ ८·२), 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मुंउ ३·२·९), 'तरति शोकमात्मवित्' (छांउ. ७·१·३) इत्यादिश्रुतिषु ब्रह्मज्ञानप्रयुक्तः पुरुषार्थः प्रसिद्धः।

इस विषयमें प्राचीन आचार्योंने उपपत्ति बतलाते हुए यह कहा है कि, रूप, लिङ्ग आदिसे रहित होनेके कारण यह ब्रह्मतत्त्व वेदके अतिरिक्त किसी भी प्रमाणका विषय नहीं हो सकता। अतः दूसरे किसी भी प्रमाणसे लभ्य याने ज्ञेय न होनेके कारण यह सिद्ध हुआ कि धर्म और ब्रह्म वेदके विषय हैं।

इन दोनोंका याने धर्म और ब्रह्म का ज्ञान ही वेदका साक्षात् प्रयोजन है। "पृथ्वी सात द्वीपोंसे युक्त है' और 'यह राजा जा रहा है' आदिके ज्ञानकी तरह इनका ज्ञान भी पुरुषार्थमें पर्यवसित नहीं होता यह मानना ठीक नहीं है, क्योंकि धर्मप्रयुक्त पुरुषार्थकी वेदमें यों प्रशंसा की जा रही है– 'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा। लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति। धर्मेण पापमपनुदति धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्। तस्मात् धर्मं परमं वदन्ति' [तैआ १०·६३]। अर्थात् धर्म समूचे संसारकी प्रतिष्ठा है। संसारमें प्रजा धर्मनिष्ठ व्यक्तिके पास पहुँचती है। व्यक्ति धर्मकी सहायतासे पापका नाश करता है; धर्ममें ही सब प्रतिष्ठित है; अतएव धर्मको ही सर्वश्रेष्ठ कहा जाता है। उद्दण्ड राजापर नियन्त्रण रखनेके कारण और विवाद करनेवाले दो व्यक्तियोंमें राजाकी मददकी तरह दुर्बल व्यक्तिके भी विजयका कारण बननेसे धर्म ही पुरुषार्थ है। वाजसनेयि शाखाके अनुयायि सृष्टि-प्रकरणमें कहते हैं 'तच्छ्रेयो-रूपमत्यसृजत धर्मं, तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मस्तस्माद्धर्मात् परं नास्त्यथो अबलीयान् बलीयांस-माशंसते धर्मेण यथा राज्ञैवम्' [बृउ१·४·१४]; अर्थात् कल्याणरूपी धर्मकी सृष्टि हुई। यही धर्म क्षत्रियका क्षत्रियत्व है; इसलिए धर्मसे बढ़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है। राजाकी तरह धर्मकी सहायतासे बलहीन व्यक्ति बलवान् पर विजय प्राप्त करता है। 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तैआ ८·२) 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मुंउ ३·२·९), 'तरति शोकमात्मवित्' (छांउ ७·१·३) आदि श्रुतियोंमें ब्रह्मज्ञानसे प्रयुक्त पुरुषार्थ सुविदित हुआ है।

धर्म और ब्रह्म के ज्ञानको पानेकी इच्छा करनेवाला व्यक्ति वेदमें अधिकार रखता है; वह त्रैवर्णिक [ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य तीनों वर्णोंमेंसे एक वर्णका] पुरुष ही है। ज्ञान

तदुभयज्ञानार्थी वेदेऽधिकारी। स च त्रैवर्णिकः पुरुषः। स्त्रीशूद्रयोस्तु सत्यामपि ज्ञानापेक्षायामुपनयनाभावेन अध्ययनराहित्यात् वेदेऽधिकारः प्रतिबद्धः। धर्मब्रह्मज्ञानं तु पुराणादिमुखेनोत्पद्यते। तस्मात् त्रैवर्णिकपुरुषाणां वेदमुखेनार्थज्ञानेऽधिकारः॥ संबन्धस्तु वेदस्य धर्मब्रह्मभ्यां सह प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः। तदीयज्ञानेन सह जन्यजनकभावः। त्रैवर्णिकपुरुषैः सहोपकार्योपकारकभावः। तदेवं विषयाद्यनुबन्धचतुष्टयमवगत्य समाहितधियः श्रोतारो वेदव्याख्याने प्रवर्तन्ताम्॥

११. षडाङ्गानां वेदार्थावबोधकत्वम्।

अतिगम्भीरस्य वेदस्यार्थमवबोधयितुं शिक्षादीनि षडङ्गानि प्रवृत्तानि। अत एव तेषामपरविद्यारूपत्वं मुण्डकोपनिषद्याथर्वणिका आमनन्ति—'द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते' (मुंउ १·१·३-५) इति। साधनभूतधर्मज्ञानहेतुत्वात् षडङ्गसहितानां कर्मकाण्डानामपरविद्यात्वम्। परमपुरुषार्थभूतब्रह्मज्ञानहेतुत्वात् उपनिषदां परविद्यात्वम्। वर्णस्वराद्यु-

---

की अपेक्षा रखनेपर भी स्त्री तथा शूद्र के लिए उपनयनके विहित न होनेके कारण अध्ययनहीनता है; अतएव उनका वेदमें अधिकार निषिद्ध है [उन्हें वेदाधिकार प्राप्त नहीं होता।] किन्तु पुराण आदिके श्रवणद्वारा उनमें धर्म तथा ब्रह्म के ज्ञानका निर्माण किया जाता है। अतः वेदके द्वारा त्रैवर्णिक पुरुषोंको अर्थज्ञानका अधिकार प्राप्त होता है।

धर्म तथा ब्रह्म के साथ वेदका संबन्ध क्रमशः प्रतिपाद्य एवं प्रतिपादन का और उनके ज्ञानके साथ उसका संबन्ध क्रमशः जन्य एवं जनक का है। त्रैवर्णिक पुरुषोंके साथ वेदका संबन्ध उपकार्य और उपकारक जैसा है। इस तरह विषय-प्रयोजनादि वेदोंके चार अनुबन्धोंको समझनेके लिए जिनकी बुद्धि प्रगल्भ हुई है ऐसे श्रोता प्रस्तुत वेदकी व्याख्यामें प्रवृत्त होता है।

११. छः वेदाङ्गोंका वेदार्थबोधकत्व।

अतीव गम्भीर (गहरे) वेदके अर्थका बोध करानेके लिए शिक्षा आदि छ अङ्ग हैं। इसीलिए आथर्वणिकोंने याने अथर्ववेदके अनुयायियोंने मुण्डकोपनिषदमें इन्हें अपरविद्यारूप कहा है– 'द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते' (मुंउ १·१·४-५)। साधनरूप धर्मके ज्ञानका कारण होनेसे षडङ्गोंसहित कर्मकाण्डोंको अपरा विद्या और परमपुरुषार्थरूपी ब्रह्मके ज्ञानका कारण होनेसे उपनिषदोंको परविद्या माना गया।

शिक्षा वह है जहाँ वर्ण स्वर आदिके उच्चारणका ढंग सिखाया जाता है। तैत्तिरीय लोग अपने उपनिषदके प्रारम्भमें कहते हैं–' शीक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः स्वरः।

च्चारणप्रकारो यत्रोपदिश्यते सा शिक्षा। तथा च तैत्तिरीया उपनिषदारम्भे समामनन्ति— ‘शीक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः स्वरः। मात्रा बलम्। साम संतानः। इत्युक्तः शीक्षाध्यायः’ (तैउ १·१) इति। वर्णोऽकारादिः। स चाङ्गभूतशिक्षाग्रन्थे स्पष्टमुदीरितः—‘त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिर्वा वर्णा शम्भुमते मताः। प्राकृते संस्कृते चापि स्वयं प्रोक्ताः स्वयंभुवा’ (पाशि ३) इत्यादिना॥ स्वर उदात्तादिः। सोऽपि तत्रोक्तः—‘उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च स्वरास्त्रयः’ (पाशि ११) इति॥ मात्रा ह्रस्वादिः। सापि तत्रोक्ता—‘ह्रस्वो दीर्घः प्लुत इति कालतो नियमा अचि’ (पाशि ११) इति॥ बलं स्थानप्रयत्नौ। तत्र ‘अष्टौ स्थानानि वर्णानाम्’ (पाशि १३) इत्यादिना स्थानमुक्तम्। ‘अचोऽस्पृष्टा यणस्त्वीषत्’ (पाशि ३८) इत्यादिना प्रयत्न उक्तः॥ सामशब्देन साम्यमुक्तम्। अतिद्रुतातिविलम्बितगीत्यादिदोषराहित्येन माधुर्यादिगुणयुक्तत्वेनोच्चारणं साम्यम्। ‘गीती शीघ्री शिरःकम्पी’ (पाशि ३२) इत्यादिना ‘उपांशुदष्टं त्वरितम्’ (पाशि ३५) इत्यादिना च दोषा उक्ताः। ‘माधुर्यमक्षरव्यक्तिः’ (पाशि ३३) इत्यादिना गुणा उक्ताः॥ संतानः संहिता। ‘वायवा याहि’ (ऋसं १·२·१) इत्यत्र अवादेशः। ‘इन्द्राग्नी आ गतम्’ (ऋसं ३·१२·१) इत्यत्र प्रकृतिभावः। एतच्च व्याकरणेऽभिहितत्वात् शिक्षायामुपेक्षितम्। शिक्ष्यमाणवर्णादि-

---

मात्रा बलम् । साम सन्तानः । इत्युक्तः शीक्षाध्यायः ।’ [तैआ ७·२] अकार आदि वर्ण हैं । इस वर्णका स्पष्ट कथन प्रस्तुत शास्त्रकी अङ्गभूत शिक्षाके

‘ त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शंभुमते मताः ।
प्राकृते संस्कृते चापि स्वयं प्रोक्ताः स्वयंभुवा ’ ॥ (पाशि ३)

(३) इत्यादिमें विद्यमान है । अर्थात् भगवान् शंभुके मतानुसार संस्कृत एवं प्राकृत में तिरसठ या चौंसठ वर्ण हैं । स्वयंभूने स्वयं उनसे यह कहा है । उदात्त आदि स्वर हैं । इन्हें भी ‘उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च स्वरास्त्रयः’ [पाशि ११] में वहाँ (शिक्षामें) बतलाया गया है । ह्रस्व आदि मात्रा है; इनका भी वहाँ निर्देश है–‘ह्रस्वो दीर्घः प्लुत इति कालतो नियमा अचि’ (पाशि ११) । स्थान और प्रयत्न को बल कहलाते हैं । यहाँ ‘अष्टौ स्थानानि वर्णानाम्’ (पाशि ११) में स्थानका और ‘अचोऽस्पृष्टा यणस्त्वीषत्’ (पाशि ३८) आदिमें प्रयत्न का निर्देश है । साम शब्दका अभिप्राय साम्यसे है । साम्य वह उच्चारण है जो अतिद्रुत (याने बहुत जल्द), अतिविलम्बित (याने धीमी), गीति आदि दोषोंसे रहित होकर माधुर्य आदि गुणोंसे युक्त हो । ‘गीती शीघ्री शिरःकम्पी’ [पाशि ३२] और ‘उपांशुदष्टं त्वरितम्’ [पाशि ३५] आदिमें दोष तथा ‘माधुर्यमक्षरव्यक्तिः’ [पाशि ३३] आदिमें गुण निर्दिष्ट हैं ।

सन्तानका अर्थ है संहिता याने एक पदका दूसरे पदसे सन्निकर्ष । यदि ‘वायवा याहि’ [वायो ! आ याहि] में अवादेश है; तो ‘इन्द्राग्नी आगतम्’ में प्रकृतिभाव है । इस सबका [याने संहिता का] विवेचन व्याकरणमें हुआ है; अतएव शिक्षामें इसकी उपेक्षा की गई है । सीखनेके समय वर्णादिके विकल होनेसे जो विघ्न या दोष पैदा होता है उसे शिक्षामें यों कहा गया है:—

वैकल्ये बाधस्तत्रोदाहृतः—'मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्' (पाशि ५२) इति। 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' (तैसं २·४·१२·१) इत्यस्मिन् मन्त्रे इन्द्रस्य शत्रुर्घातकः इत्यस्मिन् विवक्षितेऽर्थे तत्पुरुषसमासे 'समासस्य' (पासू ६·१·२२३) इति सूत्रेण तत्पुरुषत्वात् अन्तोदात्तेन भवितव्यम्। आद्युदात्तस्तु प्रयुक्तः। तथा सति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वेन बहुव्रीहित्वात् इन्द्रो घातको यस्य इत्यर्थः संपन्नः। तस्मात् स्वरवर्णाद्यपराधपरिहाराय शिक्षाग्रन्थोऽपेक्षितः॥

कल्पस्तु आश्वलायनापस्तम्बबौधायनादिसूत्रम्। कल्प्यते समर्थ्यते यागप्रयोगोऽत्रेति व्युत्पत्तेः॥ ननु आश्वलायनः किं मन्त्रकाण्डमनुसृत्य प्रवृत्तः किं वा ब्राह्मणमनुसृत्य। नाद्यः। 'दर्शपूर्णमासौ तु पूर्वं व्याख्यास्यामः' (आश्वश्रौ १·१) इत्येवं तेनोपक्रान्तत्वात्। न हि 'अग्निमीळे' (ऋसं १·१·१) इत्यादयो मन्त्रा दर्शपूर्णमासयोः क्वचिद्विनियुक्ताः। न द्वितीयः। 'आग्नावैष्णवं पुरोडाशं निर्वपन्ति दीक्षणीयमेकादशकपालम्' (ऐब्रा १·१) इत्येवं दीक्षणीयेष्टेः ब्राह्मणे प्रक्रान्तत्वात्। अत्रोच्यते—मन्त्रकाण्डो ब्रह्मयज्ञादिजपक्रमेण प्रवृत्तो न तु यागानुष्ठानक्रमेण। ब्रह्मयज्ञश्चैवं विहितः। 'यत्स्वाध्यायमधीयीतैकामप्यृचं

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥ [पाशि ५२]

• अर्थात् स्वर अथवा वर्णसे हीन मन्त्र मिथ्या ढंगसे प्रयुक्त होकर उस (ईप्सित) अर्थको व्यक्त नहीं करता, वह वाग्वज्र बनकर यजमानका अनिष्ट करता है जैसे स्वरके अपराधसे 'इन्द्रशत्रु' शब्दका उच्चारण। इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' (तैसं. २·४·१२·१) इस मन्त्रमें 'इन्द्रका शत्रु याने घातक' इस अर्थके विवक्षित होनेसे तत्पुरुष समास उचित है और 'समासस्य' (पासू. ६·१·२२३)के अनुसार तत्पुरुषको अन्तोदात्त होना चाहिए; किन्तु यहाँ आद्युदात्त स्वरको प्रयुक्त किया गया। फलतः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वके कारण समासके बहुव्रीहि बननेसे अर्थ हुआ वह (व्यक्ति) जिसका शत्रु या घातक इन्द्र हो। इसलिए स्वर, वर्ण आदिके अपराधोंके परिहार के लिए शिक्षाग्रन्थ अपेक्षित है।

कल्पका अर्थ है आश्वलायन, आपस्तम्ब, बौधायन आदि सूत्र। 'कल्प' शब्दकी व्युत्पत्ति है 'कल्प्यते समर्थ्यते यागप्रयोगोऽत्र' अर्थात् यहाँ यागके प्रयोगका (कल्पना याने) समर्थन किया जाता है।

यहाँ प्रश्न है क्या आश्वलायन मन्त्रकाण्डके अनुसार सूत्रोंके प्रणयनमें प्रवृत्त हुए हैं या ब्राह्मणके अनुसार? पहला पक्ष संभव नहीं है, क्योंकि 'हम पहले दर्श एवं पूर्णमास की ही व्याख्या करेंगे' यह कहकर उन्होंने प्रारंभ किया है। दर्श एवं पूर्णमास यज्ञोंमें अग्निमीळे' जैसे मन्त्रोंका विनियोग कहीं भी नहीं पाया जाता। दूसरा पक्ष भी स्वीकृत नहीं हो सकता, क्योंकि 'आग्नावैष्णवमेकादशकपालं पुरोडाशं निर्वपन्ति दीक्षणीयायाम्' के अनुसार ब्राह्मणमें दीक्षणीय इष्टिसे ही आरम्भ किया गया है।

इसका उत्तर निम्नानुसार है। मन्त्रकाण्ड ब्रह्मयज्ञादिके जपके क्रमसे प्रवृत्त हुआ है;

यजुः साम वा तद्ब्रह्मयज्ञः' (तैआ २·१०) इति। सोऽयं ब्रह्मयज्ञजपः 'अग्निमीळे' इत्याम्नायक्रमेणैवानुष्ठेयः। तथा 'सर्वा ऋचः सर्वाणि यजूंषि सर्वाणि सामानि वाचः स्तोमे पारिप्लवं शंसति' इति विधीयते। तथाश्विने शस्यमाने 'सूर्यो नोदियादपि सर्वा दाशतयीरनुब्रूयात्' इति विधीयते। तथा 'रिच्यत इव वा एष प्रेव रिच्यते यो याजयति प्रति वा गृह्णाति याजयित्वा प्रतिगृह्य वानश्नन् त्रिः स्वाध्यायं वेदमधीयीत' (तैआ २·१६) इति प्रायश्चित्तरूपं वेदपारायणं विहितम्। इत्यादिषु कृत्स्नमन्त्रकाण्डविनियोगेषु संप्रदाय-पारंपर्यागत एव क्रम आदरणीयः। विशेषविनियोगांस्तु मन्त्रविशेषाणां श्रुतिलिङ्गवाक्यादि-प्रमाणान्युपजीव्य आश्वलायनो दर्शयति। अतो मन्त्रकाण्डक्रमाभावेऽपि न कश्चिद्विरोधः। 'इषे त्वा' इत्यादिमन्त्रास्तु क्रत्वनुष्ठानक्रमेणैवाम्नाता इत्यापस्तम्बादयस्तेनैव क्रमेण सूत्रनिर्माणे प्रवृत्ताः। आम्नातत्वादेव जपादिष्वपि स एव क्रमः। यद्यपि ब्राह्मणे दीक्षणी-येष्टिः उपक्रान्ता, तथापि तस्या इष्टेर्दर्शपूर्णमासविकृतित्वेन तदपेक्षत्वात् आश्वलायनस्य आदौ तद्व्याख्यानं युक्तम्। अतः कल्पसूत्रं मन्त्रविनियोगेन क्रत्वनुष्ठानमुपदिश्य उप-करोति। तर्हि 'प्र वो वाजा' (ऋसं ३·२७·१) इत्यादीनां सामिधेनीनामृचामेव

यागके अनुष्ठानके क्रमसे नहीं। ब्रह्मयज्ञका विधान तो यों हुआ है— 'यत्स्वाध्यायमधीयीतै-कामप्यृचं यजुः साम वा तद्ब्रह्मयज्ञः' [तैआ. २·१०·६]। अर्थात् यदि कोई व्यक्ति स्वाध्यायके रूपमें एक ही ऋक् या यजुस् या साम का अध्ययन करता है वही ब्रह्मयज्ञ होता है। इस ब्रह्मयज्ञके जपका अनुष्ठान तो 'अग्निमीळे' इस वेदके क्रमसे ही करना चाहिए। इसी तरह 'वाचस्तोमे पारिप्लवं शंसति' इस श्रुतिके अनुसार समस्त ऋचाओं, यजुषों एवं सामों का विधान किया गया है। इसी तरह आश्विन की प्रशंसा प्रवर्तमान होनेपर यदि सूर्यका उदय न हुआ तो समस्त दाशतयी (ऋक्संहिता) के पठनका विधान है। साथ साथ 'रिच्यत इव वा एष प्रैव रिच्यते यो याजयति प्रति वा गृह्णाति याजयित्वा प्रतिगृह्य वाऽन-श्नन्त्रिः स्वाध्यायं वेदमधीयीत' में प्रायश्चित्तके रूपमें वेदका पारायण विहित है। तात्पर्य, मन्त्रकाण्डके ऐसे मन्त्रोंके विनियोगोंमें संप्रदाय की परम्परासे आए हुए क्रमका ही आदर (या स्वीकार) करना समीचीन है। आश्वलायन मुनिने श्रुति, लिङ्ग, वाक्य आदि प्रमाणोंके आधारपर विशिष्ट मन्त्रोंके विशिष्ट विनियोगोंका निर्देश किया है। अतः [आश्वलायन सूत्रमें] मन्त्रकाण्डके क्रमके अभावके रहते हुए भी कोई विरोध पैदा नहीं होता। किन्तु 'इषे त्वा, ऊर्जे त्वा' आदि मन्त्र क्रतुओंके अनुष्ठानके क्रमानुसार ही पठित हैं; अतः आपस्तम्ब आदि ऋषि उसी क्रमसे सूत्रोंके प्रणनयनमें प्रवृत्त हुए हैं। इन मन्त्रोंके क्रमानुसार पठित होनेके कारण जप आदिमें भी वही क्रम स्वीकृत है। ब्राह्मणमें दीक्षणीय इष्टिसे प्रारम्भ हुआ है; फिर वह दर्शपूर्णमास की विकृति है, इसलिए उसे दर्श एवं पूर्णमास की आवश्यकता ही है। अतएव पहले उनकी आश्वलायनकृत व्याख्या युक्तियुक्त है। अतः कल्पसूत्र मन्त्रोंके विनियोग द्वारा क्रतुके अनुष्ठानका उपदेश करके उपकारक होता है।

यदि ऐसी बात है तो यह उचित होगा कि आश्वलायन ऋषि 'प्र वो वाजाः' आदि सामिधेनी ऋचाओंके विनियोगका ही कथन करे। 'नमः प्रवक्त्रे' आदि ऋग्वेदमें

विनियोगमाश्वलायनो ब्रवीतु । 'नमः प्रवक्त्रे' (आश्वश्रौ १·२) इत्यादयस्त्वनाम्नाताः कुतो विनियुज्यन्ते इति चेत्, नायं दोषः । शाखान्तरसमाम्नातानां ब्राह्मणान्तरसिद्धस्य विनियोगस्य गुणोपसंहारन्यायेनात्र वक्तव्यत्वात् । 'सर्वशाखाप्रत्ययमेकं कर्म' इति न्यायविदः । तस्मात् शिक्षेव कल्पोऽप्यपेक्षितः ॥

व्याकरणमपि प्रकृतिप्रत्ययाद्युपदेशेन पदस्वरूपतदर्थनिश्चयायोपयुज्यते । तथा च ऐन्द्रवायवग्रहब्राह्मणे समाम्नायते—'वाग्वै पराच्यव्याकृतावदत्ते देवा इन्द्रमब्रुवन्निमां नो वाचं व्याकुर्विति । सोऽब्रवीद्वरं वृणै मह्यं चैवैष वायवे च सह गृह्याता इति तस्मादैन्द्रवायवः सह गृह्यते । तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत् । तस्मादियं व्याकृता वागुद्यते' (तैसं ६·४·७·३) इति । 'अग्निमीळे पुरोहितम्' (ऋसं १·१·१) इत्यादिवाक् पूर्वस्मिन् काले पराची समुद्रादिध्वनिवदेकात्मिका सती अव्याकृता प्रकृतिः प्रत्ययः पदं वाक्यमित्यादिविभागकारिग्रन्थरहिता आसीत् । तदानीं देवैः प्रार्थितः इन्द्रः एकस्मिन्नेव पात्रे वायोः स्वस्य च सोमरसग्रहणरूपेण वरेण तुष्टः तामखण्डां वाचं मध्ये विच्छिद्य प्रकृतिप्रत्ययादिविभागं सर्वत्राकरोत् । तस्मात् इयं वाक् इदानीमपि पाणिन्यादिमहर्षिभिर्व्याकृता सर्वैः पठ्यते इत्यर्थः । तस्यैतस्य व्याकरणस्य प्रयोजनविशेषो वररुचिना वार्तिके दर्शितः—'रक्षोहागमलघ्वसंदेहाः प्रयोजनम्' इति । एतानि रक्षादिप्रयोजनानि

अपठित ऋचाओंके विनियोगका कथन क्यों करते हैं? उत्तर है कि यह दोष पैदा नहीं होता । गुणोपसंहार न्यायके अनुसार अन्य शाखाओंमें पठित ऋचाओंका अन्य ब्राह्मणोंके आधारपर सिद्ध विनियोगका निर्देश यहाँ करना आवश्यक है; क्योंकि 'सर्वशाखाप्रत्ययमेकं कर्म' [अर्थात् एक ही कर्म सभी शाखाओंमें विहित है] यही न्यायवेत्ताओंका सिद्धान्त है। अतः शिक्षाकी तरह कल्पसूत्र भी [वेदके ज्ञानमें] अपेक्षित हैं ।

व्याकरण भी प्रकृति, प्रत्यय आदिके कारणसे पदोंके स्वरूप एवं अर्थ को निश्चित करनेमें उपकारक होता है । ऐन्द्रवायव ग्रह (सम्बन्धी) ब्राह्मणमें कहा गया है—'वाग्वै पराच्यव्याकृताऽवदत्ते देवा इन्द्रमब्रुवन्निमां नो वाचं व्याकुर्विति । सोऽब्रवीद्वरं वृणै मह्यं चैवैष वायवे च सह गृह्याता इति तस्मादैन्द्रवायवः सह गृह्यते । तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत् । तस्मादियं व्याकृता वागुद्यते' (तैसं. ६·४·७·३) । 'अग्निमीळे पुरोहितम्' आदि वाक् प्राचीन कालमें पराची समुद्र आदि ध्वनिकी तरह एकरूप होनेके कारण अव्याकृत थी; अर्थात् प्रकृति, प्रत्यय, पद, वाक्य आदि विभागोंको बतलानेवाले ग्रन्थोंके समूहसे रहित थी । उस समय देवोंके द्वारा प्रार्थित और एक ही पात्रमें वायुको और उसे उद्देश्य करके किए गए सोमरसके ग्रहणरूपी वरसे संतुष्ट इन्द्रने उस अखण्ड वाणीका बीचमें विच्छेद करके प्रकृति, प्रत्यय आदि विभागोंका सर्वत्र निर्माण किया । उससे यह वाणी आज भी पाणिनि आदि महर्षियों द्वारा व्याकृत [प्रकृति, प्रत्यय आदिमें विभाजित] होकर सभी लोगों द्वारा पढ़ी जा रही है। उस तरहके इस व्याकरण के विशिष्ट प्रयोजनको वररुचिने अपने वार्तिकमें बतलाया है:— 'रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्' इसका अर्थ है—रक्षा ऊह, आगम, लघु और असन्देह ये [व्याकरण के] प्रयोजन हैं। पतञ्जलिने

प्रयोजनान्तराणि च महाभाष्ये पतञ्जलिना स्पष्टीकृतानि। रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्। लोपागमवर्णविकारज्ञो हि सम्यक् वेदान् परिपालयिष्यति वेदार्थं चाध्यवस्यति। ऊहः खल्वपि न सर्वैर्लिङ्गैर्न सर्वाभिर्विभक्तिभिर्वेदे मन्त्रा निगदिताः। ते चावश्यं यज्ञगतेन यथायथं विपरिणमयितव्याः। तान् नावैयाकरणः शक्नोति विपरिणमयितुम्। तस्मादध्येयं व्याकरणम्। आगमः खल्वपि 'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' इति। प्रधानं च षट्स्वङ्गेषु व्याकरणम्। प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति। लघ्वर्थं चाध्येयं व्याकरणम्। बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच नान्तं जगाम। बृहस्पतिश्च वक्ता, इन्द्रश्च अध्येता। दिव्यं वर्षसहस्रमध्ययनकालः। अन्तं च न जगाम। अद्य तु पुनर्यदि परमायुर्भवति स वर्षशतं जीवति। तत्र कुतः प्रतिपदपाठेन सकलपदावगमः। कुतस्तरां प्रयोगेण। असंदेहार्थं चाध्येयं व्याकरणम्। याज्ञिकाः पठन्ति—'स्थूलपृषतीमाग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेत' इति। तत्र न ज्ञायते किं स्थूलानि पृषन्ति यस्याः सा स्थूलपृषती

अपने महाभाष्यमें इन प्रयोजनोंके साथ अन्य प्रयोजनोंकी भी स्पष्टतया विवेचना की है। वेदोंकी सुरक्षाके लिए व्याकरणको पढ़ना चाहिए। लोप, आगम एवं वर्णविकार को भली भाँति जाननेवाला व्यक्ति ही वेदोंका सम्यक् परिपालन करेगा और वेदोंके अर्थको निर्धारित कर पाएगा। ऊह भी सचमुच व्याकरणका प्रयोजन है। वेदके मन्त्र सभी लिङ्गों एवं विभक्तियों के साथ पठित नहीं हैं; यज्ञस्थित व्यक्तिको उनमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन करना पड़ता है। जो व्यक्ति व्याकरणको नहीं जानता वह इस तरहके परिवर्तन करनेमें असमर्थ है। अतएव (ऊहके लिए) व्याकरणका अध्ययन आवश्यक है। व्याकरण का तीसरा प्रयोजन आगम है। श्रुतिका कथन है 'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' याने ब्राह्मणने निष्कामतासे, निष्काम भावनासे धर्मका याने षडङ्गोंसहित वेदका पठन एवं ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। वेदके छः अङ्गोंमें व्याकरण प्रधान है। और प्रधान अङ्गके विषयमें किया गया प्रयत्न फलदायी होता है। लाघवके लिए भी व्याकरणका अध्ययन आवश्यक है। बृहस्पतिने इन्द्रको सहस्र दिव्य वर्षोंकी अवधि तक प्रत्येक पदमें विहित शब्दोंका शब्दपारायण सिखाया; किन्तु वे पार न पहुँच सके; उसे पूरा न कर पाए। अध्यापक बृहस्पति, अध्येता इन्द्र और अध्ययनकी अवधि एक हजार दिव्य वर्ष (तीन लक्ष साठ हजार मानव वर्ष); फिर भी बृहस्पति शब्दोंके पार न पहुँच पाए। आजकल यदि कोई दीर्घायु होगा, तो भी सौ वर्षोंतक जीवित रहेगा। तब प्रत्येक पदका पठन करके सभी पदोंका ज्ञान पाना कैसे संभव है? सभी पदोंका प्रयोग करके ज्ञान तो सुतराम् असंभव है। सन्देहोंके निराकरण के लिए या सन्देहोंसे दूर रहनेके लिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए। याज्ञिक पढ़ते हैं– 'स्थूलपृषतीमाग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेत' अर्थात् 'स्थूलपृषती एवं आग्निवारुणी गायका आलम्भन करे [यज्ञमें अर्पित करे]। अब यहाँ 'स्थूलपृषती' से 'स्थूलानि पृषन्ति यस्याः सा' याने 'जिसके शरीरपर स्थूल या बड़े बड़े बिन्दु हों' के रूपमें बहुव्रीहि समझे या 'स्थूला च असौ पृषती' याने 'जो

किंवा स्थूला चासौ पृषती च स्थूलपृषतीति। तां नावैयाकरणः स्वरतोऽध्यवस्यति। यदि समासान्तोदात्तत्वं तदा कर्मधारयः। अथ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं, ततो बहुव्रीहिरिति। इमानि च भूयः शब्दानुशासनस्य प्रयोजनानि। तेऽसुराः। दुष्टः शब्दः। यदधीतम्। यस्तु प्रयुङ्क्ते। अविद्वांसः। विभक्तिं कुर्वन्ति। यो वा इमाम्। चत्वारि। उत त्वः॥ सक्तुमिव। सारस्वतीम्। दशम्यां पुत्रस्य। सुदेवो असि वरुण इति। तेऽसुराः। तेऽसुरा हेऽलयो हेऽलय इति कुर्वन्तः परावभूवुः। तस्मात् ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै। म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः। म्लेच्छा मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम्॥ दुष्टः शब्दः। 'दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्' इति। दुष्टाञ्छब्दान् मा प्रयुक्ष्महीत्यध्येयं व्याकरणम्॥ यदधीतम्। यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते। अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्। अविज्ञातमनर्थकं माधिगीष्महीत्यध्येयं व्याकरणम्॥ यस्तु प्रयुङ्क्ते। यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान्यथावद्व्यवहारकाले। सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद्दुष्यति चापशब्दैः॥कः। वाग्योगविदेव। यो हि शब्दान् जानाति अपशब्दानप्यसौ जानाति।

स्थूल एवं बिन्दुओंसे युक्त हो' के रूपमें कर्मधारय यह इस वाक्यसे समझा नहीं जाता। जो व्यक्ति व्याकरणको नहीं जानता वह स्वरके आधारपर इन दोनोंमेंसे एक अर्थको निर्धारित करनेमें असमर्थ होगा। यदि समासमें अन्तोदात्त हो, तो वह समास कर्मधारय, और उसके पूर्वपदमें प्रकृतिस्वरत्व हो तो वह बहुव्रीहि होगा। स्वरके आधारपर यह निर्णय होता है।

इन प्रयोजनोंके साथ शब्दानुशासन तथा व्याकरणके अन्य कई प्रयोजन हैं। वे ये हैं (१) तेऽसुराः, (२) दुष्टः शब्दः, (३) यदधीतम्, (४) यस्तु प्रयुङ्क्ते, (५) अविद्वांसः, (६) विभक्तिं कुर्वन्ति, (७) यो वा इमाम्, (८) चत्वारि, (९) उत त्वः, (१०) सक्तुमिव, (११) सारस्वतीम्, (१२) दशम्यां पुत्रस्य और (१३) सुदेवोऽसि वरुण।

(१) **तेऽसुराः**—'हेलयो हेलयः' कहनेवाले वे असुर परास्त हुए। अतः ब्राह्मण न म्लेच्छतुल्य बने, न अपशब्दको प्रयुक्त करे। यह अपशब्द वास्तवमें म्लेच्छ ही है। हम म्लेच्छ न बनें, इसलिए व्याकरणका अध्ययन करना चाहिए।

(२) **दुष्टः शब्दः**—स्वर या वर्णदोष से युक्त शब्द मिथ्या ढंगसे प्रयुक्त होकर उस विवक्षित अर्थको व्यक्त नहीं करता। वह वाग्वज्र बनकर यजमानका [उसी तरह] अनिष्ट करता है जैसे स्वरके अपराधसे 'इन्द्रशत्रु' यह शब्द। दुष्ट शब्दोंको हम प्रयुक्त न करें, इसलिए व्याकरणका अध्ययन करना चाहिए।

(३) **यदधीतम्**—गुरुसे गृहीत जिस वेदवाक्यका अर्थज्ञानसे हीन होकर [बार बार] उच्चारण किया जाता है वह अग्निरहित स्थानपर फेंके गए सूखे काठकी तरह प्रकाशित नहीं होता। बिना अर्थको समझे हम वेदका अध्ययन न करें इसलिए व्याकरणको पढ़ना चाहिए।

(४) **यस्तु प्रयुङ्क्ते**—यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान्यथावद्व्यवहारकाले। सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद्दुष्यति चापशब्दैः॥ अर्थात् विशेष व्यवहारोंके

यथैव शब्दज्ञाने धर्म एवमपशब्दज्ञानेऽप्यधर्मः प्राप्नोति। अथवा भूयानधर्मः प्राप्नोति। भूयांसो ह्यपशब्दाः अल्पीयांसः शब्दाः। एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। यथा गौरित्येतस्य शब्दस्य गावी गोणी गोपोतलिका इत्येवमादयः। अथ योऽवाग्योगविदज्ञानं तस्य शरणम्। विषम उपन्यासः। नात्यन्तायाज्ञानं शरणं भवितुमर्हति। यो ह्यजानन्वै ब्राह्मणं हन्यात् सुरां वा पिबेत् सोऽपि मन्ये पतितः स्यात्। एवं तर्हि कः। अवाग्योगविदेव। अथ यो वाग्योगवित् ज्ञानं तस्य शरणम् ॥ अविद्वांसः। 'अविद्वांसः प्रत्यभिवादे नाम्नो ये न प्लुतिं विदुः। कामं तेषु तु विप्रोष्य स्त्रीष्विवायमहं वदेत्' इति। स्त्रीवन्मा

अवसरपर जो कुशल व्यक्ति शब्दोंको यथायोग्य रूपमें [सूत्रोंके अनुसार] प्रयुक्त करता है वह वाग्योगका ज्ञाता परलोकमें अनन्त विजयको प्राप्त करता है, और अपशब्दोंके प्रयोगसे दोषयुक्त होता है। वह कौन है? (पू. प.) शब्दोंका प्रयोग जाननेवाला वही व्यक्ति। जो शब्दोंको जानता है वह अपशब्दोंका भी जानकार है। जिस तरह शब्दोंके ज्ञानसे धर्म (याने पुण्य) प्राप्त होता है उसी तरह अपशब्दोंके ज्ञानसे अधर्म (याने पाप)। अथवा उससे बहुत ही अधर्म प्राप्त होता है क्योंकि अपशब्द बहुत हैं और शब्द कम हैं। एक एक शब्दके कई अपभ्रंश होते हैं। जैसे 'गौ' शब्दके गावी, गोणी, गोपोतलिका आदि। जो व्यक्ति वाग्योगको याने वाणीके परस्पर योगको नहीं जानता उसके लिए अज्ञान ही आश्रय है। (सि.) यह उपन्यास ठीक नहीं है। अत्यन्त अज्ञान आश्रय नहीं बन सकता। जो अनजानसे ब्राह्मणकी हत्या करता है या सुरापान करता है वह भी मेरे मतसे पतित होगा। (पू. प.) तो फिर वह कौन है? (सि.) वह वाग्योगको न जाननेवाला ही है। और जो वाग्योगको जानता हो उसके लिए ज्ञान ही आश्रय है। मतलब है कि वाग्योगको जाननेवाले द्वारा अपशब्द का प्रयोग कदाचित् कारकके अनुसार किया जाय तो भी उसको पाप नहीं लगता, क्योंकि वह वाग्योग जाननेवाला है। अतः उसका ज्ञानही आश्रय होता है।

(५) **अविद्वांसः**—अविद्वांसः प्रत्यभिवादे नाम्नो न ये प्लुतिं विदुः।
कामं तेषु तु विप्रोष्य स्त्रीष्विवायमहं वदेत् ॥

अर्थात् इन लोगोंमेंसे जो व्यक्ति प्रत्यभिवादनमें नामकी प्लुति करनेकी पद्धति नहीं जानते, उनको ब्रह्मचारी प्रवाससे लौटनेपर केवल 'अयं अहं' कहकर अभिवादन करे। (अपने नामका उच्चार न करे) जैसे स्त्रियोंको। स्त्रियाँ प्रत्यभिवादनमें नामकी प्लुति करना नहीं जानतीं, इसलिये उनको बिना नामनिर्देश किये 'अयं अहं भोः' से अभिवादन करे [मनु. २·१२३]। अतः हम स्त्रियोंकी तरह न बनें, इसलिये व्याकरण का अध्ययन करना उचित है।

(६) **विभक्तिं कुर्वन्ति**—याज्ञिकोंका पठन है—'प्रयाजाः सविभक्तिकाः कार्याः'। व्याकरणके सिवा प्रयाजोंको विभक्तियोंसे संयुक्त करना संभव नहीं है। अतः व्याकरण पठनीय है।

भूमेत्यध्येयं व्याकरणम् ॥ विभक्तिं कुर्वन्ति। याज्ञिकाः पठन्ति—'प्रयाजाः सविभक्तिकाः कर्तव्याः' इति। न चान्तरेण व्याकरणं प्रयाजाः सविभक्तिकाः शक्याः कर्तुम्। तस्मात् अध्येयं व्याकरणम्। यो वा इमाम्। यो वा इमां पदशः स्वरशोऽक्षरशो वर्णशो वाचं विदधाति स आर्त्विजीनो भवति आर्त्विजी स्यामेत्यध्येयं व्याकरणम् ॥ चत्वारि। 'चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य। त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ आ विवेश' (ऋसं ४·५८·३) इति। चत्वारि शृङ्गा चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च। त्रयो अस्य पादाः। त्रयः काला भूतभविष्यद्वर्तमानाः। द्वे शीर्षे सुप्तिङश्च। सप्त हस्तासो अस्य सप्त विभक्तयः। त्रिधा बद्धः त्रिषु स्थानेषु बद्ध उरसि कण्ठे शिरसि च। वृषभो वर्षणात् कामानाम्। रोरवीति। रौतिः शब्दकर्मा। महो देवो मर्त्याँ आ विवेश। महता देवेन नस्तादात्म्यं यथा स्यादित्यध्येयं व्याकरणम् ॥ अथवा चत्वारि। 'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति' (ऋसं १·१६४·४५)। ये मनीषिणः मनस ईषिणो मनीषिणः। गुहायां त्रीणि निहितानि नेङ्गयन्ति। न चेष्टन्ते न निमिषन्ति। तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति। 'तुरीयं ह वा एतद्वाचो यन्मनुष्येषु वर्तते' ॥ उत त्वः। 'उत

(७) **यो वा इमाम्**—वह व्यक्ति आर्त्विजीन ऋत्विजके कर्ममें समर्थ होता है जो पदों, स्वरों, वर्णों एवं अक्षरों के क्रमसे इस वाणीका उपयोग करता है। हम आर्त्विजीन बनें, इसलिए व्याकरण को पढ़ना चाहिए।

(८) **चत्वारि**:—चत्वारि शृङ्गा त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ आविवेश॥ [ऋ. ४·५८·३]

नाम, आख्यात, उपसर्ग एवं निपात ये चार पदसमूह चार सींग हैं। तीन काल तीन पैर हैं। सुप् और तिङ् ये दो सिर हैं। सात विभक्तियाँ सात हाथ हैं। 'त्रिधा बद्धः' का अर्थ है तीन स्थानोंमें याने उर, कण्ठ एवं सिर में बद्ध। (मनोरथोंकी) वर्षा करनेके कारण यह वृषभ है। रोरवीति याने 'रौतिः शब्दकर्मा' मतलब रव या गर्जना करनेवाला। 'महो देवो मर्त्याँ आविवेश' का अर्थ है यह महान् देव मर्त्योंमें याने मानवोंमें निवास करता है। इस महान् देवके साथ हमारा तादात्म्य हो, इसलिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए।

अथवा 'चत्वारि' शब्दसे 'चत्वारिवाक्…' यह ऋचा विवक्षित है।

'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥ [ऋ.१·१६४·४५]

अर्थात् वाणी अपने चार पदोंमें (नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात) परिमित है। वे ही ब्राह्मण इन्हें जानते हैं जो मनीषी या मनपर काबू रखनेवाले हैं। इनमेंसे तीन पद याने तीन रूप [परा, पश्यन्ती और मध्यमा] गुहामें निहित हैं, चेष्टारहित हैं; वे प्रकाशित नहीं होते। वाणीके चौथे पद या रूप को [वैखरीको] मनुष्य बोलते हैं। मनुष्योंमें जो विद्यमान (वाणी है) वही चौथा रूप है।

त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्। उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः' (ऋसं १०·७१·४)॥ अपि खल्वेकः पश्यन्नपि न पश्यति। अपि खल्वेकः शृण्वन्नपि न शृणोत्येनाम्। अविद्वांसमाहार्धम्। त्वस्मै अन्यस्मै तन्वं विसस्रे तनुं विवृणुते। जायेव पत्य उशती सुवासाः। यथा जाया पत्ये कामयमाना सुवासाः स्वमात्मानं विवृणुते एवं वाक् वाग्विदे स्वमात्मानं विवृणुते। वाङ्नो विवृणुयात् इत्यध्येयं व्याकरणम्॥ सक्तुमिव। 'सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत। अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि' (ऋसं १०·७१·२)॥ सक्तुः सचतेर्दुर्धावो भवति। कसतेर्वा स्याद्विपरीतस्य विकसितो भवति। तितउ परिपवनं भवति ततवद्वा तुन्नवद्वा। धीरा ध्यानवन्तो मनसा प्रज्ञानेन वाचमक्रत वाचमकृषत। अत्रा सखायः सख्यानि जानते। अत्र सखायः सख्यानि संजानते सायुज्यानि जानते। क एष दुर्गो मार्ग एकगम्यो वाग्विषयः। के पुनस्ते। वैयाकरणाः। कुत एतत्। भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि। एषां वाचि भद्रा लक्ष्मीर्निहिता भवति। लक्ष्मीर्लक्षणाद्भासनात् परिवृढा भवति॥ सारस्वतीम्। याज्ञिकाः पठन्ति—'आहिताग्नि-

(९) **उत त्वः**— इसका अभिप्राय निम्नलिखित मन्त्रसे है—

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।

उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥ [ऋ. १०·७१·४]

इस वाणीको एक [याने अविद्वान्] देखता हुआ भी नहीं देखता; सुनता हुआ भी नहीं सुनता। इस श्लोकार्धमें अविद्वान्का निर्देश है। दूसरे (विद्वान्) के सामने अपने शरीरको फैलाती है। 'जायेव पत्ये उशती सुवासाः' में उपमा है। अभिप्राय यह है कि जिस तरह पत्नी पतिको चाहती हुई अच्छा वस्त्र पहनकर उसके सामने अपने आपको विवृत करती है उसी तरह वाणी वाग्वेत्ताके सामने अपने स्वरूपको स्पष्ट करती है। अतः वाक्स्वरूप हमको स्पष्ट करे, इसलिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए।

(१०) **सक्तुमिव** में निम्नलिखित मन्त्र की ओर संकेत है—

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।

अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि ॥ [ऋ१०·७१·२]

सक्तु 'सचति' से बना है—दुर्धाव है (चिपक जानेसे उसका धावन दुष्कर है) या 'वि' के साथ कसतिसे बना है याने विकसित होता है। तितउ याने परिपवन (छलनी) होता है; या ततवत् या तुन्नवत् है। धीर, ध्यानवान् या प्रज्ञावान् व्यक्ति (वास्तवमें, वैयाकरण) प्रज्ञानसे, मनसे वाणीको आकृष्ट करते हैं, सखिभावको जानते हैं। वह दुर्गम मार्ग क्या है? वह एक याने विद्वान् द्वारा गम्य वाणीका विषय है। ये जाननेवाले कौन हैं? वे व्याकरणके ज्ञाता हैं। यह कैसे संभव है? कारण है 'भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताऽधि वाचि' याने इनकी वाणीमें कल्याणी लक्ष्मी निहित याने दृढ होती है। लक्ष्मी शब्दकी निरुक्ति है लक्षणात् या भासनात्।

रपशब्दं प्रयुञ्जानः प्रायश्चित्तीयां सारस्वतीमिष्टिं निर्वपेत्' इति। प्रायश्चित्तीया मा भूम इत्यध्येयं व्याकरणम्॥ दशम्यां पुत्रस्य। 'दशम्यां पुत्रस्य जातस्य नाम विदध्याद्घोषवदाद्यन्तरन्तस्थमभिनिष्ठानान्तं द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा कृतं नाम कुर्यान्न तद्धितम्' इति। न चान्तरेण व्याकरणं कृतस्तद्धिता वा शक्या विज्ञातुम्। तस्मादध्येयं व्याकरणम्॥ सुदेवो असि। 'सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः। अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव' (ऋसं ८·६९·१२)॥ सप्त सिन्धवः सप्त विभक्तयः। काकुर्जिह्वा। सास्मिन् विद्यते इति काकुदं तालु। सूर्मिः स्थूला लोहप्रतिमेति॥ एवं 'सिद्धे शब्दार्थसंबन्धे' इत्यादिवार्तिकोक्तान्यत्रापि प्रयोजनान्यनुसंधेयानि॥

अथ निरुक्तप्रयोजनमुच्यते। अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्। 'गौः ग्मा ज्मा क्ष्मा क्षा क्षमा' इत्यारभ्य 'वसवः वाजिनः देवपत्न्यो देवपत्न्यः' इत्यन्तो यः पदानां समाम्नायः समाम्नातस्तस्मिन् ग्रन्थे पदार्थावबोधाय परापेक्षा न विद्यते। एतावन्ति पृथिवीनामानि एतावन्ति हिरण्यनामानि इत्येवं तत्र तत्र विस्पष्टमभिहितत्वात्। तदेतन्निरुक्तं त्रिकाण्डम्। तच्चानुक्रमणिकाभाष्ये दर्शितम्—

(११) **सारस्वतीम्**—याज्ञिक कहते हैं:—अपशब्दको प्रयुक्त करनेवाले आहिताग्नि पुरुषको प्रायश्चित्तके रूपमें सारस्वती इष्टि करनी चाहिए। प्रायश्चित्त के पात्र हम न बनें, इसलिए व्याकरणको पढ़ना चाहिए।

(१२) **दशम्यां पुत्रस्य जातस्य**—कथन है कि उत्पन्न पुत्रका नामकरण दसवें दिन करें; नाम ऐसा हो जिसका प्रथम अक्षर घोषयुक्त हो, बीचका कोई अक्षर अन्तःस्था और अन्तमें विसर्जनीय हो या वह दो अक्षरों या चार अक्षरों का हो। यह नाम कृदन्त हो, तद्धितान्त नहीं। अब व्याकरण के बिना कृदन्त या तद्धित को समझना असंभव है। अतः व्याकरण पठनीय है।

(१३) **सुदेवो असि**—'सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः। अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव॥' (ऋसं ८·६९·१२) अर्थात् हे वरुण, तुम वह शोभमान देवता हो जिसके काकुदपर सात सिन्धुएँ उसी तरह झरतीं हैं जैसे सुषिरापर। यहाँ सात सिन्धुओंका अभिप्राय सात विभक्तियोंसे है। ककुद्का अर्थ है जिह्वा—वह इसमें विद्यमान है। अतएव काकुदं का अर्थ है तालुस्थान। सूर्मिः, लोहकी बनी हुई बड़ी प्रतिमा। इस तरह 'सिद्धे शब्दार्थसंबन्धे' आदि व्याकरणके वार्तिकोक्त प्रयोजनोंका यहाँ भी अनुसन्धान करना चाहिए।

अब निरुक्तका प्रयोजन बतलाया जाता है। निरुक्त वह है जहाँ अर्थबोधके लिए बिना किसी अन्य शास्त्रकी अपेक्षा किए पदसमूहका कथन किया जाता है जैसे गौः, ग्मा, ज्मा, क्ष्मा, क्षा, क्षमा आदिसे आरम्भ करके वसवः, वाजिनः, देवपत्न्यो देवपत्न्यः तक जो पदोंका समाम्नाय कथित हुआ है; उस ग्रन्थमें पदोंके अर्थबोधके लिए अन्य शास्त्रकी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि पृथ्वीके इतने नाम हैं, हिरण्य या सुवर्ण के इतने नाम, इस तरह

'आद्यं नैघण्टुकं काण्डं द्वितीयं नैगमं तथा।
तृतीयं दैवतं चेति समाम्नायस्त्रिधा स्थितः॥
गौराद्यपारपर्यन्तमाद्यं नैघण्टुकं मतम्।
जहाद्युल्बमृबीसान्तं नैगमं संप्रचक्षते॥
अग्न्यादिदेवपत्न्यन्तं देवताकाण्डमुच्यते।
अग्न्यादिदेवीऊर्जाहुत्यन्तः क्षितिगतो गणः॥
वाय्वादयो भगान्ताः स्युरन्तरिक्षस्थदेवताः।
सूर्यादिदेवपत्न्यन्ता द्युस्थाना देवता इति॥
गवादिदेवपत्न्यन्तं समाम्नायमधीयते॥ इति॥

एकार्थवाचिनां पर्यायशब्दानां संघो यत्र प्रायेणोपदिश्यते तत्र निघण्टुशब्दः प्रसिद्धः। तादृशेषु अमरसिंहवैजयन्तीहलायुधादिषु दश निघण्टव इति व्यवहारात्। एवमत्रापि पर्यायशब्दसंघोपदेशादाद्यकाण्डस्य नैघण्टुकत्वम्। तस्मिन् काण्डे त्रयोऽध्यायाः। तेषु प्रथमे पृथिव्यादिलोकदिक्कालादिद्रव्यविषयाणि नामानि। द्वितीये मनुष्यतदवयवादिद्रव्यविषयाणि। तृतीये तदुभयद्रव्यगततनुबहुत्वह्रस्वत्वादिधर्मविषयाणि॥ निगमशब्दो वेदवाची। यास्केन तत्र तत्र 'अपि निगमो भवति' इत्येवं वेदवाक्या-

---

स्पष्ट रूपसे स्थान स्थानपर निर्देश है। इस तरहके निरुक्तमें तीन काण्ड हैं। वे अनुक्रमणिका-भाष्यमें निम्नानुसार बतलाए गए हैं—

आद्यं नैघण्टुकं काण्डं द्वितीयं नैगमं तथा।
तृतीयं दैवतं चेति समाम्नायस्त्रिधा स्थितः॥

पहला नैघण्टुक काण्ड, 'गौः' से लेकर 'अपार' तक माना गया है। दूसरा नैगम काण्ड 'जहा' से लेकर 'उल्बमृबीस' तक कहा गया है। 'अग्नि'से लेकर 'देवपत्न्यः' तक देवताकाण्ड कहा गया है। अग्निसे लेकर देवी ऊर्जाहुति तक पृथ्वीगत देवता, वायुसे लेकर भग तक अन्तरिक्ष स्थानके देवता और सूर्यसे लेकर देवपत्न्यः तक स्वर्गस्थानके देवता निर्दिष्ट हैं। इस प्रकार 'गौः' से लेकर देवपत्नी तक 'समाम्नाय' कहा जाता है।

निघण्टु शब्द उस ग्रन्थके लिए प्रसिद्ध है जहाँ एकार्थवाची, पर्याय शब्दोंको प्रायः ग्रथित किया गया है। उसका कारण यह है कि इस तरहके अमरसिंह, वैजयन्ती, हलायुध आदि ग्रंथोंके लिए 'दस निघण्टु' का प्रयोग प्रचलित है। इसी प्रकार यहाँ [यानें प्रथम काण्डमें] पाए जानेवाले पर्यायवाची शब्दसमूहोंके कथनके कारण इस पहले काण्डको नैघण्टुक काण्ड कहा गया। इसमें तीन अध्याय हैं। इनमेंसे पहले अध्यायमें पृथिवी आदि लोगोंकी और दिक्, काल आदि द्रव्यविषयक नामोंकी चर्चा है। दूसरे अध्यायमें मानव, उसके द्रव्यविषय आदिकी चर्चा है और तीसरेमें इन दोनों प्रकारके द्रव्योंकी सूक्ष्मता, गुरुता, ह्रस्वता आदि धर्मविषयक चर्चाका अन्तर्भाव है।

'निगम' शब्द वेदका वाचक है क्योंकि यास्कने जगह जगह 'निगमो भवति' कहकर वेदवाक्योंको उद्धृत किया है। उस निगममें ही प्रायः विद्यमान शब्दोंका उपदेश

नामवतारितत्वात्, तस्मिन्निगमे एव प्रायेण वर्तमानानां शब्दानां चतुर्थाध्यायरूपे द्वितीयस्मिन् काण्डे उपदिष्टत्वात्तस्य काण्डस्य नैगमत्वम्॥ पञ्चमाध्यायरूपस्य तृतीयकाण्डस्य दैवतत्वं विस्पष्टम्। पञ्चाध्यायरूपकाण्डत्रयात्मके एतस्मिन् ग्रन्थे परनिरपेक्षतया पदार्थस्योक्तत्वात् तस्य ग्रन्थस्य निरुक्तत्वम्। तद्व्याख्यानं च 'समाम्नायः समाम्नातः' इत्यारभ्य 'तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवत्यनुभवति' इत्यन्तैः द्वादशभिरध्यायैर्यास्को निर्ममे। तदपि निरुक्तमित्युच्यते। एकैकस्य पदस्य संभाविता अवयवार्थास्तत्र निःशेषेणोच्यन्ते इति व्युत्पत्तेः। तत्र हि 'चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च' इति प्रतिज्ञाय 'उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति' इति निपातस्वरूपं निरुच्य एवमुदाहृतम्— 'नेति प्रतिषेधार्थीयो भाषायामुभयमन्वध्यायं नेन्द्रं देवममंसतेति प्रतिषेधार्थीयः' इति; 'दुर्मदासो न सुरायामित्युपमार्थीयः' (निरु १·१·४) इति च। तच्च लोके केवलप्रतिषेधार्थीयस्यापि नकारस्य वेदे प्रतिषेधोपमालक्षणोभयार्थोदाहरणमस्मिन् ग्रन्थेऽवगम्यते। एवं ग्रन्थकारेणोक्ताः तत्तत्पदनिर्वचनविशेषाः तत्तन्मन्त्रव्याख्यानावसरे एवास्माभिरुदाहरिष्यन्ते। न च निर्वचनानां निर्मूलत्वं शङ्कनीयम्। एतद्व्युत्पत्त्यर्थमेव ब्राह्मणेषु पदनिर्वचनानां केषांचिदुक्तत्वात्। 'तदाहुतीनामाहुतित्वम्' इति। 'तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र

चतुर्थाध्यायरूपी द्वितीय काण्डमें है; अतएव उसका नैगमत्व युक्तियुक्त है। पञ्चमाध्यायरूपी तृतीय काण्डका दैवतत्व तो स्पष्ट ही है। पाँच अध्यायों एवं तीन काण्डों के इस ग्रन्थमें बिना अन्य शास्त्रकी अपेक्षा किए पदोंके अर्थके कथित होनेकी वजहसे इसको 'निरुक्त' कहा गया। इसकी व्याख्या महर्षि यास्कने 'समाम्नायः समाम्नातः' से आरम्भ करके– 'तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवत्यनुभवतीति' तक के बारह अध्यायोंमें प्रस्तुत की है। इस व्याख्याको भी 'निरुक्त' की संज्ञा दी गई क्योंकि प्रत्येक पदके जो अवयवार्थ संभव हैं उन्हें यहाँ निःशेषरूपसे कहा गया है।

इस निरुक्तमें नाम, आख्यात उपसर्ग एवं निपात इन चार प्रकारोंके पदसमूहोंका प्रथम कथन करके ऊँचे नीचे अर्थोंमें जो आते हैं वे निपात इस तरह निपातकी व्युत्पत्तिको बतलाया गया है और उनके उदाहरण उपस्थित किए गए हैं। लोकभाषामें 'न' निपात प्रतिषेधके अर्थमें किन्तु वेदमें दोनों [प्रतिषेध और उपमाके] अर्थोंमें प्रयुक्त होता है। 'नेन्द्रं देवममंसत' में 'न' प्रतिषेधके अर्थमें प्रयुक्त है; तो 'दुर्मदासो न सुरायाम्' में वह उपमाके याने 'इव'के अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। इस तरह इस ग्रन्थसे उन उदाहरणों का पता चलता है जिनमें बतलाया गया है कि लोकभाषामें केवल प्रतिषेधके अर्थको व्यक्त करनेवाला 'न' कार वेदमें प्रतिषेध एवं उपमा दोनों अर्थोंको व्यक्त करता है। इस प्रकार ग्रंथकारने जिन पदोंके निर्वचन किए हैं उन्हें हम उन मन्त्रोंकी व्याख्याके अवसरपर ही उद्धृत करेंगे जिनमें उनका प्रयोग हुआ हो। इन निर्वचनोंको निर्मूल मानना उचित नहीं है, क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थोंमें पदोंकी व्युत्पत्तिके याने अर्थबोधके लिए ही कुछ पदोंका निर्वचन किया गया है। उदाहरणके तौरपर लीजिए 'तदाहुतीनामाहुतित्वम्' (ऐब्रा. १·१·२), 'तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते' [ऐत. आ. २·४·३], 'यदप्रथयत्तत्पृथिव्यै पृथिवीत्वम्'

इत्याचक्षते' (ऐआ २·४·३) इति; 'यदप्रथयत्तत्पृथिव्यै पृथिवित्वम्' (तैब्रा १·१·३·६·७) इति च। ग्रन्थकारोऽपि तत्र तत्र स्वोक्तनिर्वचनमूलभूतब्राह्मणान्युदाहरिष्यति। केषांचिन्निर्वचनानां व्याकरणबलेन सिद्धावपि न सर्वेषां सिद्धिरस्ति। अत एव ग्रन्थकार आह— 'तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वार्थसाधकं च' (निरुक्त १·१५) इति। तस्मात् वेदार्थावबोधायोपयुक्तं निरुक्तम्॥

तथा छन्दोग्रन्थोऽप्युपयुज्यते। छन्दोविशेषाणां तत्र तत्र विहितत्वात्। 'तस्मात् सप्त चतुरुत्तराणि छन्दांसि प्रातरनुवाकेऽनूच्यन्ते' इति ह्याम्नातम्। गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्बृहतीपङ्क्तित्रिष्टुब्जगतीत्येतानि सप्त छन्दांसि। चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री। ततोऽपि चतुर्भिरक्षरैरधिकाष्टाविंशत्यक्षरोष्णिक्। एवमुत्तरोत्तराधिका अनुष्टुबादयोऽवगन्तव्याः। तथान्यत्रापि श्रूयते—'गायत्रीभिर्ब्राह्मणस्यादध्यात्। त्रिष्टुब्भी राजन्यस्य जगतीभिर्वैश्यस्य' (तैब्रा १·१·९·६-७) इति। तत्र मगणयगणादिसाध्यो गायत्र्यादिविवेकश्छन्दोग्रन्थमन्तरेण न सुविज्ञेयः। किंच 'यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा पद्यति प्र वा मीयते पापीयान् भवति। तस्मादेतानि मन्त्रे मन्त्रे विद्यात्' (आब्रा १·१) इति श्रूयते। तस्मात् तद्वेदनाय छन्दोग्रन्थ उपयुज्यते॥

[तैब्रा. १·१·३·६·७]। ग्रन्थकारने भी स्थान स्थानपर स्वोक्त निर्वचनोंके मूलमें स्थित ब्राह्मण-वाक्योंको उद्धृत किया है। व्याकरणके आधारपर कुछ निर्वचन सिद्ध होते हैं; सब नहीं हो सकते। इसलिए ग्रन्थकार कहते हैं—'तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वार्थ-साधकं च' [नि १·१५] अर्थात् यह विद्यास्थान [निरुक्त] व्याकरणकी पूर्णताका एवं स्वार्थका भी साधक है। अतः वेदोंके अर्थबोधके लिए निरुक्त उपयोगी है।

इसी तरह छन्दोग्रन्थ भी उपयोगी है, क्योंकि विशिष्ट छन्द जहाँ तहाँ विहित हैं। इस विषयमें श्रुतिवचन है—'तस्मात् सप्त चतुरुत्तराणि छन्दांसि प्रातरनुवाकेऽनूच्यन्ते' (तैब्रा १·५·१२·१)। गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप् और जगती ये सात छन्द हैं। गायत्रीके अक्षर चौबीस हैं। इससे चार अधिक अक्षरोंसे याने अट्ठाईस अक्षरोंसे उष्णिक् बनता है। इसी तरह समझ लेना चाहिए कि क्रमसे उत्तरोत्तर चार अधिक अक्षरोंको मिलानेसे अनुष्टुप् आदि छन्द बनते हैं। अन्यत्र भी कहा गया है—'गायत्रीभिर्ब्राह्मणस्यादध्यात्, त्रिष्टुब्भी राजन्यस्य जगतीभिर्वैश्यस्य' [तैब्रा १·१·९·६]। अर्थात् गायत्री मन्त्रोंसे ब्राह्मणका, त्रिष्टुप्-मन्त्रोंसे क्षत्रियका और जगती-मन्त्रोंसे वैश्यका आधान करें। यहाँ मगण, यगण आदिसे साध्य गायत्री आदि छन्दोंके विवेचनको सिवा छन्दोग्रन्थोंकी सहायतासे समझना आसान नहीं है। श्रुतिका कहना है कि जिस मन्त्रके ऋषि, छन्द, देवता ब्राह्मण का ज्ञान नहीं है उस मन्त्रसे जो यज्ञ या उसका अध्यापन करता है वह स्थाणु बनता है, या गर्तमें (गढ़ेमें) गिरता है, या पापका भागी बनता है। अतः प्रत्येक मन्त्रमें इन्हें [ऋषि, छन्द आदिको] जानना

ज्योतिषस्य प्रयोजनं तस्मिन्नेव ग्रन्थेऽभिहितं—'यज्ञकालार्थसिद्धये' (वेदाङ्गज्यो ३) इति। कालविशेषविधयश्च श्रूयन्ते। 'संवत्सरमेतद्व्रतं चरेत्' (तैआ १·३२·१), 'संवत्सरमुख्यं भृत्वा' (तैसं ५·६·५·१) इत्येवमादयः संवत्सरविधयः। 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत। ग्रीष्मे राजन्य आदधीत। शरदि वैश्य आदधीत' (तैब्रा १·१·२·६·७) इत्याद्या ऋतुविधयः। 'मासिमासि पृष्ठान्युपयन्ति। मासिमास्यतिग्राह्या गृह्यन्ते' (तैसं ७·५·१·६) इत्याद्या मासविधयः। 'यं कामयेत वसीयान्त्स्यादिति तं पूर्वपक्षे याजयेत्' (तैब्रा २·२·३·१) इत्याद्याः पक्षविधयः। 'एकाष्टकायां दीक्षेरन्', 'फल्गुनीपूर्णमासे दीक्षेरन्' (तैसं ७·४·८·१) इत्याद्यास्तिथिविधयः। 'प्रातर्जुहोति सायं जुहोति' इत्याद्याः प्रातःकालादिविधयः। 'कृत्तिकास्वग्निमादधीत' (तैब्रा १·१·२·१) इत्याद्या नक्षत्रविधयः। अतः कालविशेषानवगमयितुं ज्योतिषमुपयुज्यते॥

एतेषां च वेदार्थोपकारिणां षण्णां ग्रन्थानां वेदाङ्गत्वं शिक्षायामेवमुदीरितम्—

'छन्दः पादा तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥

चाहिए [आब्रा १·१] अतः इन छन्दोंके ज्ञानके लिए छन्दःशास्त्र का उपयोग सिद्ध है।

उसी ग्रन्थमें ज्योतिषका प्रयोजन— 'यज्ञकालार्थसिद्धये' (वेज्यो. ३) द्वारा बतलाया गया है। श्रुतिमें कालविशेषकी विधियाँ विद्यमान हैं— 'संवत्सरमेतद्व्रतं चरेत्' [तैआ. १·३२·१], 'संवत्सरमुख्यं भृत्वा' (तैसं ५·६·५) आदि संवत्सरकी विधियाँ हैं। 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत। ग्रीष्मे राजन्य आदधीत। शरदि वैश्य आदधीत' [तैब्रा. १·१२·६·७] आदि ऋतुकी विधियाँ हैं। इसी तरह 'मासिमासि पृष्ठान्युपयन्ति। मासिमास्यतिग्राह्या गृह्यन्ते' [तैसं. ७·५·१·६] जैसी मासविषयक और 'यं कामयेत वसीयान्त्स्यादिति। तं पूर्वपक्षे याजयेत्' [तैब्रा. २·२·३·१] जैसी पक्षविषयक विधियोंके साथ साथ 'एकाष्टकायां दीक्षेरन्' 'फल्गुनीपूर्णमासे दीक्षेरन्' [तैसं. ७·४·८·१] आदि तिथि सम्बन्धी, 'प्रातर्जुहोति सायं जुहोति' [तैब्रा. २·१·२] जैसी प्रातःकाल आदि सम्बन्धी और 'कृत्तिकास्वग्निमादधीत' [तैब्रा. १·१·२·१] आदि नक्षत्र– सम्बन्धी विधियाँ भी पाई जातीं हैं। इसलिए सिद्ध है कि इन कालविशेषोंको समझनेके लिए ज्योतिषका अध्ययन उपयोगी है।

वेदार्थका उपकार करनेवाले उपर्युक्त छहों ग्रन्थोंका वेदाङ्ग होना शिक्षा–ग्रन्थमें ही बतलाया गया है।

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात्साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते॥ [पाशि ४१·४२]

शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते ' (पाशि ४१-४२) इति ॥

१२. पुराणादीनां वेदार्थाववोधकत्वम् ।

षडङ्गवत् पुराणादीनामपि वेदार्थज्ञानोपयोगो याज्ञवल्क्येन स्मर्यते—

' पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ' (याज्ञ १·३) इति ॥
' इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरेदिति ॥ ' (म भा. १·१·२०४)

इत्यन्यत्रापि स्मर्यते। ऐतरेयतैत्तिरीयकाठकादिशाखासूक्तानि हरिश्चन्द्रनाचिकेताद्युपाख्यानानि धर्मब्रह्मावबोधोपयुक्तानि तेषु तेष्वितिहासग्रन्थेषु स्पष्टीकृतानि। उपनिषदुक्ताः सृष्टिस्थितिलयादयो ब्राह्मपाद्मवैष्णवादिपुराणेषु स्पष्टीकृताः।

' सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥ '

अर्थात् छन्द, कल्प, ज्योतिष, निरुक्त, शिक्षा तथा व्याकरण में वेदके [वेदरूपी पुरुषके] क्रमशः दो पैर, दो हाथ, नेत्र, कान, नासिका एवं मुख हैं। अतएव षडङ्गोंसहित वेदका अध्ययन करके ही व्यक्ति ब्रह्मलोकमें सम्मान प्राप्त करता है।

१२. पुराणादिका वेदार्थाववोधकत्व ।

याज्ञवल्क्यने स्मृतिमें छः अङ्गोंकी तरह पुराणोंको भी वेदार्थके ज्ञानमें उपयोगी बतलाया है —

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥ (याज्ञस्मृ १·३)

अर्थात् पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र तथा छः अङ्गोंके साथ वेद चौदहों विद्याओंके एवं धर्मके स्थान हैं। अन्यत्र भी कथन है—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरेदिति ॥

याने इतिहास और पुराणों की सहायतासे वेदकी पुष्टि करे क्योंकि 'मुझपर यह शायद प्रहार करे ' यह सोचकर वेद अल्पज्ञ व्यक्तिसे डरता है। ऐतरेय, तैत्तिरीय, काठक आदि शाखाओंमें हरिश्चन्द्र, नचिकेत आदिके जो आख्यान पाए जाते हैं वे धर्म एवं ब्रह्म के ज्ञानमें उपयुक्त हैं और इनको उन इतिहासग्रन्थोंमें विशद किया गया है। उपनिषदोंमें वर्णित सृष्टि स्थिति लय आदि की चर्चा ब्रह्म, पद्म, विष्णु आदि पुराणोंमें स्पष्ट रूपसे की गई है। पुराणके लक्षण पाँच हैं; सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित।

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥ (विष्णुपुराण ३·६·२५)

इति सृष्ट्यादेः पुराणप्रतिपाद्यत्वावगमात्। न्यायशास्त्रे प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजन-दृष्टान्तादीनां षोडशपदार्थानां निरूपणात् तदनुसारेणेदं वाक्यमस्मिन्नर्थे प्रमाणं भवति, नेतरदिति निर्णयः कर्तुं शक्यते। पूर्वोत्तरमीमांसयोर्वेदार्थोपयोगोऽतिस्पष्ट एव। मन्वत्रिविष्णुहारीतादिप्रोक्तासु स्मृतिषु वेदोक्तसंध्यावन्दनादिविषयः प्रपञ्चिताः। 'तदु ह वा एते ब्रह्मवादिनः पूर्वाभिमुखाः संध्यायां गायत्रियाभिमन्त्रिता आप ऊर्ध्वं विक्षिपन्ति' (तैआ २·२) इत्यादिकः संध्यावन्दनविधिः। 'पञ्च वा एते महायज्ञाः सतति प्रतायन्ते' (तैआ २·१०) इत्यादिको महायज्ञविधिः। एवं विध्यन्तराणि द्रष्टव्यानि। उक्तप्रकारेण पुराणादीनां वेदार्थज्ञानोपयोगात् विद्यास्थानत्वं युक्तम्।

१३. वेदविद्याग्रहणे अधिकारिनिर्णयः।

एतैः पुराणादिभिः चतुर्दशभिर्विद्यास्थानैरुपबृंहिताया विद्याया ग्रहणेऽधिकारि-विशेषः शाखान्तरगतैश्चतुर्भिर्मन्त्रैरुपदर्शितः। तांश्च मन्त्रान् यास्क उदाजहार (निरुक्त २·४)॥ तत्रायं प्रथमो मन्त्रः—

'विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्॥' इति॥

विद्याभिमानिनी देवता ब्राह्मणमुपदेष्टारमाचार्यमाजगाम। आगत्य चैवं प्रार्थयामास।

इससे जाना जाता है कि सृष्टि स्थिति लय आदि पुराणोंके प्रतिपाद्य विषय हैं।

न्यायशास्त्रमें प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त आदि सोलह पदार्थोंके निरूपणके संपन्न होनेके कारण उसके अनुसार यह निर्णय करना संभव है कि यह वाक्य इस अर्थमें प्रमाण है, दूसरा नहीं। वेदोंके अर्थके लिए पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा दोनोंका उपयोग तो अतीव स्पष्टही है। मनु, अत्रि, विष्णु, हारीत आदि द्वारा प्रणीत स्मृतियोंमें और वेदोंमें उक्त सन्ध्यावंदन आदि विधियोंका विस्तारसे वर्णन किया गया है। 'तदु ह वा एते ब्रह्मवादिनः पूर्वाभिमुखाः सन्ध्यायां गायत्रियाऽभिमन्त्रिता आप ऊर्ध्वं विक्षिपन्ति' (तैआ. २·२) आदिमें सन्ध्यावन्दनकी विधि है। 'पञ्च वा एते महायज्ञाः सतति प्रतायन्ते'(तैआ. २·१०) आदिमें महायज्ञोंकी विधि है। इसी प्रकार अन्य विधियोंको भी देखना चाहिए। उक्त ढंगसे वेदार्थज्ञानमें उपयोगी होनेके कारण पुराण आदिका भी विद्यास्थान होना युक्तियुक्त है।

१३. वेदविद्याग्रहणके विषयमें अधिकारी व्यक्तिका निर्णय।

उपर्युक्त पुराण आदि चौदह विद्या-स्थानोंसे परिपुष्ट विद्याके ग्रहणमें जिन्हें विशिष्ट अधिकार प्राप्त हैं उनका निर्देश अन्य शाखाके चार मन्त्रोंमें किया गया है। ये मन्त्र यास्क द्वारा उद्धृत हुए हैं। इनमें पहला मन्त्र है—

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्॥

अर्थात् विद्याभिमानिनी देवता उपदेशक एवं आचार्यरूपी ब्राह्मणके पास आकर उसकी प्रार्थना-

हे ब्राह्मण, मामनधिकारिणेऽनुपदिश्य पालय। तवाहं निधिवत् पुरुषार्थहेतुरस्मि। तादृश्यां मयि तदुपदेष्टरि त्वयि च योऽसूयां करोति, यश्चार्जवेन विद्यां नाभ्यस्यति, योऽपि स्नानाचमनाद्याचारनियतो न भवति तादृशेभ्यः शिष्याभासेभ्यो मां न ब्रूयाः। तथा सति त्वद्धृदये स्थित्वा फलप्रदा भवेयम्॥ अथ द्वितीयो मन्त्रः—

'य आतृणत्त्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं संप्रयच्छन्।
तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत् कतमच्चनाह॥' इति॥

पूर्वस्मिन् मन्त्रे आचार्यस्य नियममभिधाय अस्मिन् मन्त्रे शिष्यस्य नियमोऽभिधीयते। वितथमनृतमपुरुषार्थभूतं लौकिकं वाक्यम्। तद्विपरीतं सत्यं वेदवाक्यमवितथम्। तादृशेन वाक्येन य आचार्यः शिष्यस्य कर्णौ आतृणत्ति सर्वतस्तर्दनं पूरणं करोति। उपसर्गवशादौचित्याच्च तृणत्तिधातोरर्थान्तरे वृत्तिः। सर्वदा वेदं यः श्रावयति इत्यर्थः। किं कुर्वन्। अदुःखं कुर्वन्। मन्दप्रज्ञस्य माणवकस्य आदौ अर्धर्चमृचं वा ग्रहीतुमशक्तस्य यथा दुःखं न भवति, तथा पादं पादैकदेशं वा ग्राहयन्। किंच अमृतं संप्रयच्छन्। अमृतत्वस्य देवजन्मनो मोक्षस्य वा प्रापकत्वादमृतं वेदार्थः। तस्य प्रदानं

करने लगी, "हे ब्राह्मण, अनधिकारीको मुझे प्रदान न करके तुम मेरी रक्षा करो। निधिकी तरह मैं तुम्हारे पुरुषार्थका (याने उसकी प्राप्तिका) कारण हूँ। इस तरहकी मैं और मुझे सिखानेवाले तुम दोनोंकी जो व्यक्ति असूया करते हैं, और जो ऋजुताके साथ विद्याका अध्ययन नहीं करते और जो स्नान, आचमन आदि आचारोंके पालनमें दक्ष नहीं रहते उन नामधारी शिष्योंको तुम मुझे मत सिखाओ। ऐसे करनेसे तुम्हारे हृदयमें स्थित होकर मैं तुम्हारे लिए फलकी दात्री बनूँगी।

दूसरा मन्त्र है—

य आतृणत्त्यवितथेन कर्णाविदुःखं कुर्वन्नमृतं संप्रयच्छन्।
तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत्कतमच्चनाह॥

पहले मन्त्रमें आचार्यविषयक नियमको बतलाकर यहाँ शिष्यविषयक नियमका कथन है। वितथका अर्थ है अनृत याने वह लौकिक वाक्य जो पुरुषार्थभूत नहीं है। इसके विपरीत अवितथ का अर्थ है वह वेदवाक्य जो [सर्वथा] सत्य है। इस तरहके वेदवाक्यसे जो आचार्य शिष्यके कानोंका चारों ओरसे तर्दन करता है अर्थात् उन्हें चारों ओरसे पूरित करता है। उपसर्गकी सामर्थ्यसे और औचित्यके कारण 'तृणत्ति' धातुको अन्यार्थमें प्रयुक्त किया गया है। अर्थ है 'जो हमेशा [शिष्यको] वेदको ही सुनाता है'। किस तरहसे या क्या करते हुए? इसका उत्तर है 'अदुःखं कुर्वन्' याने मन्दबुद्धि एवं आधी ऋचा या पूर्ण ऋचाके अर्थग्रहणमें असमर्थ माणवक याने शिष्य को उस ढंगसे ऋचाके चतुर्थ अंश याने पाद को या उसके भी आधे अंशको सिखाते हुए जिससे उसे [समझनेमें] कष्ट न हो। साथ साथ 'अमृतं प्रयच्छन्' क्योंकि यह ज्ञान अमृतत्वको या देवत्वको

कुर्वन्। तं तादृशमाचार्यं सच्छिष्यो मुख्यमातापितृरूपं मन्येत। पूर्वसिद्धौ तु मातापितरौ अधमस्य मनुष्यस्य शरीरस्य प्रदानादमुख्यौ। तस्मै मुख्यमातापितृरूपायाचार्यायैकमपि द्रोहं न कुर्यात्॥ अथ तृतीयो मन्त्रः—

'अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा।
यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत्॥' इति॥

ये तु अधमा विप्रा गुरुणाध्यापिताः सन्तो विनयोक्त्या तदीयहितचिन्तनेन शुश्रूषया वा गुरुं नाद्रियन्ते। आदररहितास्ते शिष्याभासा गुरोर्न भोजनीयाः, अनुभवयोग्या न भवन्ति। न हि तेषु गुरुः कृपां करोति। यथैव गुरुणा ते न पालनीयास्तथैव तान् अधमान् शिष्यान् तच्छ्रुतं गुरूपदिष्टं वेदवाक्यं न पालयति, फलप्रदं न भवतीत्यर्थः। अथ चतुर्थो मन्त्रः—

'यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्।
यस्ते न द्रुह्येत् कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन्॥' इति॥

जन्म देनेवाला या मोक्षकी प्राप्ति करानेवाला है। अमृतका अर्थ है वेदार्थ। उसको प्रदान करनेवाले उस तरहके [प्रथम मन्त्रमें निर्दिष्ट] आचार्यको सुशिष्य मुख्य मातापिताके रूपमें माने। पूर्वसिद्ध माता-पिता अधम मनुष्य-शरीरको प्रदान करनेके कारण गौण हैं। मुख्य माता-पिता रूपी उस आचार्यसे तनिक भी द्रोह न करे।

तीसरा मन्त्र निम्नानुसार है:—

अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा।
यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत्॥

जो अधम विप्र गुरुके द्वारा पढ़ाए जानेपर भी विनीत वाणी या गुरुके हितकी चिन्ता या उसकी शुश्रूषा से गुरुका समुचित आदर नहीं करते वे आदरभावनासे हीन नामधारी शिष्य गुरुके भोजनीय याने अनुभव-पात्र नहीं होते। उनपर गुरु कृपा नहीं करते। जिस तरह ये गुरुके द्वारा पालन करने योग्य नहीं होते, उसी तरह वह ज्ञान, गुरुके द्वारा पढ़ाया गया वेदवाक्य भी उन अधम शिष्योंका पालन नहीं करता, उन्हें वह फलका दाता नहीं सिद्ध होता।

चौथा एवं अन्तिम मन्त्र इस प्रकार है:—

यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्।
यस्ते न द्रुह्येत् कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन्॥

अर्थात् हे आचार्य, जिस मुख्यशिष्यको तुम पवित्रता आदि गुणोंसे युक्त समझते हो और साथ साथ जो मुख्य शिष्य तुमसे कभी द्रोह न करेगा ऐसे ही मुख्य शिष्यको, तुम्हारे विद्यारूपी निधिके पालन-कर्ताको तुम मुझे वेदरूपी विद्याको अर्पित करो।

हे आचार्य, यमेव मुख्यशिष्यं शुचित्वादिगुणोपेतं जानीयाः किंच यो मुख्यशिष्य-स्तुभ्यं कदाचिदपि न द्रुह्येत् तस्मै तु मुख्यशिष्याय त्वदीयनिधिपालकाय ब्रह्मन् वेदरूपां मां विद्यां ब्रूयाः। इत्थं विद्यादेवतया प्रार्थितत्वादाचार्येण मुख्यशिष्याय वेदविद्योपदेष्टव्या ॥

इस प्रकार विद्यादेवता द्वारा प्रार्थित होनेके कारण आचार्य मुख्य शिष्यको ही वेद-विद्याका उपदेश करे।

ऋक्सूक्तके सायण-भाष्यका नमूना



प्रथम सूक्तका भाष्य

(१·१)

तदर्थमृग्वेदोऽस्माभिः षडङ्गानुसारेण व्याख्यायते। मन्त्रब्राह्मणात्मके वेदे ब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानोपयोगित्वादादौ ब्राह्मणमारण्यकाण्डसहितं व्याख्यातम्। अथ तत्र तत्र ब्राह्मणोदाहरणेन मन्त्रात्मकः संहिताग्रन्थो व्याख्यातव्यः॥

स च 'अग्निमीळे' इत्यारभ्य 'यथा वः सुसहासति' इत्यन्तोऽष्टकाण्डैर्दशमण्डलैश्चतुःषष्ट्यध्यायैः पञ्चाशीत्यनुवाकैः ईषदधिकसहस्रसूक्तैः ईषदधिकद्विसहस्रवर्गैः ईषदधिकाभिर्दशसहस्रसंख्याभिर्ऋग्भिश्चोपेतः। तस्य च ग्रन्थस्य कृत्स्नस्याप्याम्नातक्रमेणैव सामान्यविनियोगो ब्रह्मयज्ञजपादौ पूर्वमेवाभिहितः। विशेषविनियोगस्तु तत्तत्क्रतौ सूत्रकारेण प्रदर्शितः। स च त्रिविधः सूक्तविनियोगस्तृचादिविनियोग एकैकस्या ऋचो विनियोगश्चेति॥

तत्र 'अग्निमीळे' इति सूक्तं प्रातरनुवाके आग्नेये क्रतौ विनियुक्तम्। स विनियोग आश्वलायनेन चतुर्थाध्यायस्य त्रयोदशे खण्डे सूत्रितः—'अवा नो अग्न इति षळग्निमीळेऽग्निं दूतम्' इति। तत्र हीनपादग्रहणात् सूक्तनिश्चयः। 'सूक्तं सूक्तादौ हीने पादे' (आश्वश्रौ १·१) इति परिभाषितत्वात्। तस्मिन् सूक्ते प्रथमाया ऋचो द्वितीयस्यां पवमानेष्टौ स्विष्टकृतो याज्यात्वेन विनियोगः। स च द्वितीयाध्यायस्य प्रथमखण्डे सूत्रितः—'साह्वान्विश्वा अभियुजोऽग्निमीळे पुरोहितमिति संयाज्ये' इति। तत्र कृत्स्नपादग्रहणात् ऋगित्यवगम्यते। 'ऋचं पादग्रहणे' (आश्वश्रौ १·१) इति परिभाषितत्वात्। तथा 'संयाज्ये इत्युक्ते सौविष्टकृती प्रतीयात्' (आश्वश्रौ २·१) इति परिभाषितत्वात् स्विष्टकृत्संबन्धनिश्चयः। तत्रापि द्वितीयमन्त्रत्वेनोदाहृतत्वात् याज्यात्वम्। यद्यपि साह्वानित्यनया पुरोनुवाक्ययैव देवताया अनुस्मरणरूपसंस्कारः सिद्धस्तथापि याज्यानुवाक्ययोः समुच्चयो द्वादशेऽध्याये चतुर्थपादे मीमांसितः—

पुरोनुवाक्यया याज्या विकल्प्या वा समुच्चिता।
विकल्प्यान्यतरेणैव देवतायाः प्रकाशनात्॥

पुरोनुवाक्यासमाख्यानाद्वचनाच्च समुच्चयः। देवताप्रकाशनकार्यस्यैकत्वात्। युग्मयोर्यथा विकल्पस्तथैवैकयुग्मगतयोरिति चेत्, मैवम्। पुरोनुवाक्येति समाख्याया उत्तरकालीनयाज्यामन्तरेणानुपपत्तेः। किंच 'पुरोनुवाक्यामनूच्य याज्यया जुहोति' इति प्रत्यक्षवचनेन देवतोपलक्षणहविष्प्रदानकार्ये भेदोक्तिपुरःसरं साहित्यं विधीयते। तस्मात् समुच्चय इति॥

एतच्चाग्निमित्यादिसूक्तं नवर्चम्, 'अग्निं नव मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः' इत्यनुक्रमणिकायामुक्तत्वात्। विश्वामित्रपुत्रो मधुच्छन्दोनामकस्तस्य सूक्तस्य द्रष्टृत्वात् तदीय ऋषिः। 'ऋष गतौ' इति धातुः। 'सर्वधातुभ्य इन्' (उसू ४·५५७) 'इगुपधात् कित्' (उसू ४·५५९)। वेदप्राप्त्यर्थं तपोऽनुतिष्ठतः पुरुषान् स्वयंभूर्वेदपुरुषः प्राप्नोत्। तथा च श्रूयते—'अजान् ह वै पृश्नींस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयंभ्वभ्यानर्षत्तदृषयोऽभवन्' (तैआ २·९) इति। तथातीन्द्रियस्य वेदस्य परमेश्वरानुग्रहेण प्रथमतो दर्शनात् ऋषित्वमित्यभिप्रेत्य स्मर्यते—

'युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयंभुवा ॥' इति ॥

ऋष्यादिज्ञानाभावे प्रत्यवायः स्मर्यते—

'अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं योगमेव च।
योऽध्यापयेज्जपेद्वापि पापीयाञ्जायते तु सः ॥
ऋषिच्छन्दोदैवतानि ब्राह्मणार्थं स्वराद्यपि।
अविदित्वा प्रयुञ्जानो मन्त्रकण्टक उच्यते ॥' इति ॥

वेदनविधिश्च स्मर्यते—

'स्वरो वर्णोऽक्षरं मात्रा विनियोगोऽर्थ एव च।
मन्त्रं जिज्ञासमानेन वेदितव्यं पदे पदे ॥' इति ॥

अग्निमित्यादिसूक्तस्य छन्दः अनुक्रमणिकायां यद्यप्यत्र नोक्तं तथापि परिभाषायामेवमुक्तम्- 'आदौ गायत्रं प्राग्घिरण्यस्तूपात्' (अनु १२·१४) इति। हिरण्यस्तूप ऋषिर्येषां मन्त्राणां वक्ष्यते ततः प्राचीनेषु मन्त्रेषु सामान्येन गायत्रं छन्द इत्यर्थः। पुरुषस्य पापसंबन्धं वारयितुमाच्छादकत्वाच्छन्द इत्युच्यते। तच्चारण्यकाण्डे समाम्नायते—'छादयन्ति ह वा एनं छन्दांसि पापात् कर्मणः' (ऐआ २·५) इति। अथवा चीयमानाग्निसंतापस्याच्छादकत्वाच्छन्दः। तच्च तैत्तिरीया आमनन्ति—'प्रजापतिरग्निमचिनुत स क्षुरपविर्भूत्वाऽतिष्ठत्तं देवा बिभ्यतो नोपायन् ते छन्दोभिरात्मानं छादयित्वोपायन् तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्' (तैसं ५·६·६) इति। यद्वा अपमृत्युं वारयितुमाच्छादयतीति छन्दः। तदपि छान्दोग्योपनिषद्याम्नातं—'देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशंस्ते छन्दोभिरात्मानमच्छादयन् यदेभिरच्छादयंस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्' (छांउ १·४·२) इति। तथा द्योतनार्थदीव्यतिधातुनिमित्तो देवशब्द इत्येतदाम्नायते—'दिवा वै नोऽभूदिति तद्देवानां देवत्वम्' इति। अतो दीव्यतीति देवः। मन्त्रेण द्योतते इत्यर्थः। अस्मिन् सूक्ते स्तूयमानत्वादग्निर्देवः। तथा चानुक्रमणिकायामुक्तम्—'मण्डलादिष्वाग्नेयमैन्द्रात्' (अनु १२·१२) इति। तस्य सूक्तस्य प्रथमामृचं भगवान् वेदपुरुष आह—

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्॥ १॥

अग्निम्। ईळे। पुरःऽहितम्। यज्ञस्य। देवम्। ऋत्विजम्। होतारम्। रत्नऽधातमम्॥ १॥

अग्निनामकं देवम् ᵛईळे स्तौमि। 'ईड स्तुतौ' इति धातुः। डकारस्य ळकारो बह्वृचाध्येतृसंप्रदायप्राप्तः। तथा च पठ्यते-'अज्मध्यस्थडकारस्य ळकारं बह्वृचा जगुः। अज्मध्यस्थढकारस्य ळ्हकारं वै यथाक्रमम्' इति॥ मन्त्रस्य होत्रा प्रयोज्यत्वादहं होता स्तौमीति लभ्यते। कीदृशमग्निम्। ᵛयज्ञस्य ᵛपुरोहितम्। यथा राज्ञः पुरोहितस्तदभीष्टं संपादयति, तथाग्निरपि यज्ञस्यापेक्षितं होमं संपादयति। यद्वा—यज्ञस्य संबन्धिनि पूर्वभागे आवहनीयरूपेणावस्थितम्। पुनः कीदृशम्। ᵛदेवं दानादिगुणयुक्तम्। पुनः कीदृशम्। ᵛहोतारम् ᵛऋत्विजम्। देवानां यज्ञेषु होतृनामक ऋत्विगग्निरेव। तथा च श्रूयते-'अग्निर्वै देवानां होता' (ऐब्रा. ३·१४) इति। पुनरपि कीदृशम्। ᵛरत्नधातमं यागफलरूपाणां रत्नानामतिशयेन धारयितारं पोषयितारं वा। अत्राग्निशब्दस्य यास्को बहुधा निर्वचनं दर्शयति-'अथातोऽनुक्रमिष्यामोऽग्निः पृथिवीस्थानस्तं प्रथमं व्याख्यास्यामोऽग्निः कस्मादग्रणीर्भवत्यग्रं यज्ञेषु प्रणीयतेऽङ्गं नयति संनममानोऽक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविर्न क्नोपयति न स्नेहयति, त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिरितादक्ताद्दग्धाद्वा नीतात् स खल्वेतेरकारमादत्ते गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा नीः परस्तस्यैषा भवत्यग्निमीळे' (नि ७·१४) इति। अस्यायमर्थः। सामान्येन सर्वदेवतानां लक्षणस्याभिहितत्वादनन्तरं यतः प्रतिपदं विशेषेण वक्तव्यत्वमाकाङ्क्षितम् अतोऽनुक्रमेण वक्ष्यामः। तत्र पृथिवीलोके स्थितोऽग्निः प्रथमं व्याख्यास्यते। कस्मात् प्रवृत्तिनिमित्तादग्निशब्देन देवताभिधीयत इति प्रश्नस्य 'अग्रणीः' इत्यादिकमुत्तरम्। देवसेनामग्रे स्वयं नयतीत्यग्रणीः। एतदेकमग्निशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तम्। तथा च ब्राह्मणान्तरम्-'अग्निर्देवानां सेनानीः' इति। एतदेवाभिप्रेत्य बह्वृचा मन्त्रब्राह्मणे आमनन्ति-'अग्निर्मुखं प्रथमो देवतानाम्' (ऐब्रा. १·४) इति मन्त्रः। 'अग्निर्वै देवानामवमः' (ऐब्रा. १·१) इति ब्राह्मणम्। तथा तैत्तिरीयाश्चामनन्ति-'अग्निरग्रे प्रथमो देवतानाम्' (तैब्रा. २·४·३·३) इति। 'अग्निरवमो देवतानाम्' इति च। वाजसनेयिनस्त्वेवमामनन्ति-'स वा एषोऽग्रे देवतानामजायत तस्मादग्निर्नाम' इति। यज्ञेषु अग्निहोत्रेष्टिपशुसोमरूपेषु अग्रं पूर्वदिग्वर्त्याहवनीयदेशं प्रति गार्हपत्यात् प्रणीयते इति द्वितीयं प्रवृत्तिनिमित्तम्। संनममानः सम्यक् स्वयमेव प्रह्वीभवन् अङ्गं स्वकीयं शरीरं नयति काष्ठदाहे हविष्पाके च प्रेरयतीति तृतीयं प्रवृत्तिनिमित्तम्। स्थूलाष्ठीवनामकस्य महर्षेः पुत्रो निरुक्तकारः कश्चित् 'अक्नोपनः' इति अग्निशब्दं निर्ब्रूते। तत्र न क्नोपयतीत्युक्ते न स्नेहयति, किंतु काष्ठादिकं रूक्षयतीत्युक्तं भवति। शाकपूणिनामको निरुक्तकारो धातुत्रयादग्निशब्दनिष्पत्तिं मन्यते। इतः 'इण् गतौ' इति धातुः। अक्तः 'अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु' इति धातुः। दग्धः 'दह भस्मीकरणे' इति धातुः। नीतः 'णीञ् प्रापणे' इति धातुः। अग्निशब्दो हि अकारगकारनिशब्दानपेक्षमाणः एतिधातोरुत्पन्नात् अयनशब्दात् अकारमादत्ते। अनक्तिधातु-

गतस्य ककारस्य गकारादेशं कृत्वा तमादत्ते। यद्वा—दहतिधातुजन्यात् दग्धशब्दात् गकारमादत्ते। नीः इति नयतिधातुः। स च ह्रस्वो भूत्वा परो भवति। ततो धातुत्रयं मिलित्वा अग्निशब्दो भवति। यज्ञभूमिं गत्वा स्वकीयमङ्गं नयति, काष्ठदाहे हविष्पाके च प्रेरयतीति समुदायार्थः। तस्य अग्निशब्दार्थस्य देवताविशेषस्य प्राधान्येन स्तुतिप्रदर्शनार्थैषा ‘अग्निमीळे’ इति ऋक् भवतीति। तामेतामृचं यास्क एवं व्याख्यातवान्—‘अग्निमीळेऽग्निं याचामीळिरध्येषणाकर्मा पूजाकर्मा वा, पुरोहितो व्याख्यातो यज्ञस्य देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा यो देवः सा देवता होतारं ह्वातारं जुहोतेर्होतेत्यौर्णवाभो रत्नधातमं रमणीयानां धनानां दातृतमम्’ (नि ७·१५) इति। अस्यायमर्थः ईडतिधातोः स्तुत्यर्थत्वं प्रसिद्धम्। ‘धातूनामनेकार्थत्वम्’ इति न्यायमाश्रित्य याच्ञाध्येषणापूजाः अप्यत्रोचितत्वात् तदर्थतया व्याख्याताः। पुरोहितशब्दो द्वितीयेऽध्याये ‘यद्देवापिः शंतनवे पुरोहितः’ इत्येतामृचमुदाहृत्य ‘पुर एनं दधति’ (नि २·१२) इति व्याख्यातः। तैत्तिरीयाश्च पौरोहित्ये स्पर्धमानस्य पश्वनुष्ठानं विधाय तत्फलत्वेन ‘पुर एनं दधते’ (तैसं २·१·२·९) इत्यामनन्ति। देवशब्दो दानदीपनद्योतनानामन्यतममर्थमाचष्टे। यज्ञस्य दाता दीपयिता द्योतयितायमग्निरित्युक्तं भवति। दीपनद्योतनयोरेकार्थत्वेऽप्यस्ति धातुभेदः। यद्यप्यग्निः पृथिवीस्थानस्तथापि देवान् प्रति हविर्वहनात् द्युस्थानो भवति। देवशब्ददेवताशब्दयोः पर्यायत्वान्मन्त्रप्रतिपाद्या काचिदग्निव्यतिरिक्ता देवता नान्वेषणीया। होतृशब्दस्य ह्वयतिधातोरुत्पन्नत्वेन देवानामाह्वातारमिति। और्णवाभनामकस्तु मुनिः जुहोतिधातोर्निष्पन्नो होतृशब्द इति मन्यते। अग्नेश्च होतृत्वं होमाधिकरणत्वेन द्रष्टव्यम्। रत्नशब्दो द्वितीयाध्याये ‘मघम्’ इत्यादिष्वष्टाविंशतौ धननामसु (निघण्टु २·१०·७) पठितः। रमणीयत्वात् रत्नत्वम्। दधातिधातुरत्र दानार्थवाचीति। तदिदं निरुक्तकारस्य यास्कस्य मन्त्रव्याख्यानम्॥ अथ व्याकरणप्रक्रियोच्यते। अगिधातोर्गत्यर्थात् ‘अङ्गेर्नलोपश्च’ (उसू ४·४९०) इति औणादिकसूत्रेण निप्रत्ययः। इदित्वान्नुमागमेन प्राप्तस्य नकारस्य (पासू ७·१·५८) लोपश्च भवति। अङ्गति स्वर्गं गच्छति हविर्नेतुमित्यग्निः। तत्र ‘धातोः’ (पासू ६·१·१६२) इति अकार उदात्तः। ‘आद्युदात्तश्च’ (पासू ३·१·३) इति प्रत्ययगत इकारोऽप्युदात्तः। ‘अनुदात्तं पदमेकवर्जम्’ (पासू ६·१·१५८) इति द्वयोरन्यतरमुदात्तमवशेष्येतरस्यानुदात्तत्वं प्राप्तम्। तत्र धातुस्वरे प्रथमतोऽवस्थिते सति पश्चादुपदिश्यमानः प्रत्ययस्वरोऽवशिष्यते। ‘सतिशिष्टस्वरो बलीयान्’ (वा-पासू ६·१·१५८·९) इति हि न्यायः। ततोऽन्तोदात्तमग्निप्रातिपदिकम्। ‘अनुदात्तौ सुप्पितौ’ (पासू ३·१·४) इति अम् इत्येतत् द्वितीयैकवचनमनुदात्तम्। तस्य ‘अमि पूर्वः’ (पासू ६·१·१०७) इति यत् पूर्वरूपं तदुदात्तम् ‘एकादेश उदात्तेनोदात्तः’ (पासू ८·२·५) इति सूत्रितत्वात्। अग्निशब्दो धातुजन्मेति मते सेयं प्रक्रिया सर्वापि द्रष्टव्या। मतद्वयं यास्केन प्रदर्शितम्—‘नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके’ (नि १·१२) इति। गार्ग्यस्य मतेऽग्निशब्दस्याखण्डप्रातिपदिकत्वात् ‘फिषोऽन्त उदात्तः’ (फिसू १) इत्यन्तोदात्तत्वम्। पूर्वोक्तेष्वग्रणीरित्यादिनिर्वचनेषु प्रकृतिप्रत्ययाद्यशेषप्रक्रिया यथोचितं कल्प-

नीया। एतदेवाभिप्रेत्य यास्क आह—‘ अथ निर्वचनं तद्येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्यातां तथा तानि निर्ब्रूयादथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारेऽर्थनित्यः परीक्षेत केनचिद्वृत्तिसामान्येनाविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षरवर्णसामान्यान्निर्ब्रूयान्नत्वेव न निर्ब्रूयात्’ (निरु २·१) इति। अस्यायमर्थः—तत्तत्र निर्वचनीयपदसमूहमध्ये येष्वग्न्यादिपदेषु पूर्वोक्तरीत्या स्वरसंस्कारौ समर्थौ व्याकरणसिद्धौ स्याताम्। स्वर उदात्तादिः। संस्कारो निप्रत्ययादिः। किंच तौ स्वरसंस्कारौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्याताम्। शब्दस्यैकदेशः पूर्वोक्तोऽगिधातुः प्रदेशः। तत्र भवो गुणो गतिरूपोऽर्थः, तेनान्वितौ। तान्यग्न्यादिपदानि तथा व्याकरणानुसारेण निर्ब्रूयात्। तच्च निर्वचनमस्माभिः प्रदर्शितम्। अथ पूर्वोक्तवैलक्षण्येन कश्चित् स्वेन विवक्षितोऽर्थो नान्वितः तस्मिन् शब्देऽनुगतो न भवेत्। तस्यैव व्याख्यानम्—‘ अप्रादेशिके विकारे ’ इति। अग्रनयनादिरूपः क्रियाविशेषो विकारः। स च प्रदेशेनाग्निशब्दैकदेशेनात्र नाभिधीयते इत्यप्रादेशिकः। एवं सति यः पुमानर्थनित्यः स्वविवक्षितेऽर्थे नियतो निर्बन्धवान्। ब्राह्मणानुसारेण वा देवतान्तरविशेषणत्वेन योजयितुं वा स निर्बन्धः। तदानीं स पुमान् केनचित् वृत्तिसामान्येन स्वविवक्षितमर्थं परीक्षेत, तस्मिन् शब्दे योजयेत्। वृत्तिः क्रिया। तद्रूपेण सामान्यं सादृश्यम्। अस्माभिश्च अग्रनयनादिरूपं क्रियात्वसामान्यमुपजीव्य अग्रणीत्वाद्यर्थो योजितः। तदिदं यास्काभिमतं निर्वचनम्। स्थौलाष्ठीविः अक्षरसाम्यान्निर्वक्ति। अक्नोपनशब्दस्यादौ निषेधार्थम् अकाररूपमक्षरं विद्यते। अग्निशब्दस्याप्यादौ अकारोऽस्ति। तदिदमक्षरसाम्यम्। शाकपूणिस्तु वर्णसाम्यान्निर्ब्रूते—दग्धशब्दाग्निशब्दयोर्गकारवर्णेन साम्यम्। सर्वथापि निर्वचनं न त्याज्यमिति। ईळे इत्येतत्पदं कृत्स्नमप्यनुदात्तम्। ‘ तिङ्ङतिङः ’ (पासू ८·१·२८) इति अतिङन्तादग्निशब्दात् परस्य ईळे इत्यस्य तिङन्तस्य निघातविधानात्। पदद्वयसंहिताकाले तु ईकारस्य धातुगतस्य ‘ उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः ’ (पासू ८·४·६६) इति स्वरितत्वम्। तस्मात् ऊर्ध्वभाविन एकारस्य तिङ्प्रत्ययरूपस्य ‘स्वरितात् संहितायामनुदात्तानाम् ’ (पासू १·२·३९) इति ऐकश्रुत्यं प्रचयनामकं भवति। पुरःशब्दोऽन्तोदात्तः। ‘अयं पुरो भुवः ’ (तैसं ४·३·२·१) इत्यत्र तथैवाम्नातत्वात्। ‘पूर्वाधरावराणामसि पुरधवश्चैषाम् ’ (पासू ५·३·३९) इति पूर्वशब्दात् असुप्रत्ययः पुरादेशश्च। ततोऽत्र प्रत्ययस्वरः (पासू ३·१·३)। धाञो निष्ठायां ‘ दधातेर्हिः ’ (पासू ७·४·४२) इत्यादेशे सति प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तो हितशब्दः। तत्र समासान्तोदात्तत्वे (पासू ६·१·२२३) प्राप्ते तदपवादत्वेन ‘ तत्पुरुषे तुल्यार्थ॰ ’ (पासू ६·२·२) इत्यादिना अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। यद्वा— ‘ पुरोऽव्ययम् ’ (१·४·६७) इति गतिसंज्ञायां ‘ गतिरनन्तरः ’ (पासू ६·२·४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। तत ओकार उदात्तः। अवशिष्टानामनुदात्तस्वरितप्रचयाः पूर्ववत् द्रष्टव्याः। आद्याक्षरस्य संहितायां प्रचयप्राप्तौ (पासू १·२·३९) ‘ उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः ’ (पासू १·२·४०) इत्यतिनीचोऽनुदात्तः। ‘ यजयाच॰’ (पासू ३·३·९०) इत्यादिना यजतेः नङ्प्रत्यये सति अन्तोदात्तो यज्ञशब्दः। विभक्तेः सुप्स्वरेणानुदात्तत्वे सति (पासू ३·१·४) पश्चात् स्वरितत्वम्। देवशब्दः पचाद्यजन्तः (पासू ३·१·१३४)। स च फिट्स्वरेण

(फिसू १), प्रत्ययस्वरेण (पासू ३·१·३), चित्स्वरेण (पासू ६·१·१६३) वा ऽन्तोदात्तः। ऋत्विक्शब्दः 'ऋतौ यजति' इति विग्रहे सति 'ऋत्विग्दधृक्°' (पासू ३·२·५९) इति निपातितः। 'गतिकारकोपपदात् कृत्' (पासू ६·२·१३९) इति कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः। विभक्तिस्वरः पूर्ववत्। होतृशब्दस्तृन्प्रत्ययान्तः (पासू ३·२·१३५)। नित्स्वरेणाद्युदात्तः (पासू ६·१·१९७)। स्वरितप्रचयौ पूर्ववत्। रत्नशब्दो 'नब्विषयस्यानिसन्तस्य' (फिसू २६) इत्याद्युदात्तः। तथा चाम्नायते— 'रत्नं धाता' इति। रत्नानि दधातीति विग्रहः। समासत्वादन्तोदात्तो रत्नधाशब्दः। यद्वा—कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः। तमप्प्रत्ययस्य (पासू ५·३·५५) पित्स्वरेणानुदात्ते सति (पासू ३·१·४) स्वरितप्रचयौ। संहितायामाद्याक्षरस्य प्रचयो द्वितीयाक्षरस्य सन्नतरत्वम्।

> वेदावतार आद्याया ऋचोऽर्थश्च प्रपञ्चितः।
> विज्ञातं वेदगाम्भीर्यमथ संक्षिप्य वर्ण्यते '॥

अ॒ग्निः पूर्वे॑भि॒र्ऋषि॑भि॒रीड्यो॒ नूत॑नैरु॒त। स दे॒वाँ एह व॑क्षति ॥ २ ॥

अ॒ग्निः। पूर्वे॑भिः। ऋषि॑ऽभिः। ईड्यः॑। नूत॑नैः। उ॒त। सः। दे॒वान्। आ। इ॒ह। व॒क्षति॒ ॥२॥

अयम् ᵛअग्निः ᵛपूर्वेभिः पुरातनैर्भृग्वङ्गिरःप्रभृतिभिः ᵛऋषिभिः ᵛईड्यः स्तुत्यः, ᵛनूतनैः ᵛउत इदानींतनैरस्माभिरपि स्तुत्यः। ᵛसः अग्निः स्तुतः सन् ᵛइह यज्ञे ᵛदेवान् हविर्भुजः ᵛआ ᵛवक्षति। 'वह प्रापणे' इति धातुः। आवहतु इत्यर्थः॥ पूर्वेभिरित्यत्र 'बहुलं छन्दसि' (पासू ७·१·१०) इति भिस ऐसादेशाभावः। 'पूर्व पर्व अर्व पूरणे' इति धातुः। पूर्वतिधातोः अन्प्रत्यय औणादिकः। इन्प्रत्ययान्त ऋषिशब्दः 'ऋष्यन्धक°' (पासू ४·१·११४) इति निपातनात् लघूपधगुणाभावः (पासू ७·३·८६)। कित्प्रत्ययो वात्र ज्ञेयः (उसू ४·५५९)। तौ शब्दौ नित्स्वरेणाद्युदात्तौ। ईड्यशब्दस्य ण्यत्प्रत्ययान्तत्वात् (पासू ३·१·१२४) 'तित्स्वरितम्' (पासू ६·१·१८५) इति स्वरिते शेषानुदात्तत्वे च प्राप्ते तदपवादत्वेन 'ईडवन्द°' (पासू ६·१·२१४) इत्यादिनाद्युदात्तत्वम्। 'नवस्य नू त्नप्तनखाश्च' (वा-पासू ५·४·३०·६) इति वार्तिकेन नवशब्दस्य नू इत्यादेशः तनन्प्रत्ययश्च महावार्तिके विहितः। ततो नित्स्वरेणाद्युदात्तः। अवशिष्टस्वरा अग्न्यादिषु नूतनान्तेषु पूर्ववदुन्नेयाः। उतशब्दो यद्यपि विकल्पार्थे प्रसिद्धस्तथापि निपातत्वेनानेकार्थत्वादौचित्येनात्र समुच्चयार्थो द्रष्टव्यः। 'उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति' इति निपातत्वम्। तर्हि 'निपाता आद्युदात्ताः' (फिसू ८०) इत्युकारस्योदात्तः प्राप्त इति चेत्। न। प्रातःशब्दवदन्तोदात्तत्वात्। यथा प्रातःशब्दोऽन्तोदात्तत्वेनैव स्वरादिषु (पासू १·१·३७) पठितः, एवमुतशब्दस्यापि पाठो द्रष्टव्यः, स्वरादेराकृतिगणत्वात्। यद्वा 'एवादीनामन्तः' (फिसू ८२) इत्यन्तोदात्तः। स इत्यत्र फिट्स्वरः। देवशब्दः पूर्ववत्। देवान् इत्यस्य नकारस्य संहितायां 'दीर्घादटि°' (पासू ८·३·९) इति रुत्वम्। 'अत्रानुनासिकः°' (पासू ८·३·२) इत्यनुवृत्तौ 'आतोऽटि नित्यम्' (पासू ८·३·३) इत्याकारः सानुनासिकः। 'भोभगो°' (पासू ८·३·१७) इति रोर्यकारः। स च 'लोपः शाकल्यस्य' (पासू ८·३·१९) इति लुप्यते। तस्यासिद्धत्वात् (पासू ८·२·१) न पुनः संधिकार्यम्।

आङो निपातत्वादाद्युदात्तत्वम्। इदमो ह्प्रत्यये सति निष्पन्नत्वात् (पासू ५·३·११) इहशब्दे प्रत्ययस्वरः। वहति धातोर्लोडर्थे छान्दसो लृट्। तस्य स्यप्रत्ययगतस्य यकारस्य लोपोऽपि छान्दसः। यद्वा—लेटि 'सिब्बहुलम्°' (पासू ३·१·३४) इति सिप्प्रत्ययः। 'लेटोऽडाटौ' (पासू ३·४·९४) इत्यडागमश्च। ततो वक्षतीति संपद्यते। तस्य तिङन्तत्वान्निघातः। संहितास्वराः पूर्ववत् ॥

आधाने तृतीयेष्टौ प्रथमाज्यभागस्यानुवाक्या (आश्वश्रौ २·१) सूक्तगता तृतीया ॥

अ॒ग्निना॑ र॒यिम॑श्नव॒त् पोष॑मे॒व दि॒वेदि॑वे। य॒शसं॑ वी॒रव॑त्तमम् ॥ ३ ॥

अ॒ग्निना॑। र॒यिम्। अ॒श्नव॒त्। पोष॑म्। ए॒व। दि॒वेऽदि॑वे। य॒शस॑म्। वी॒रव॑त्ऽतमम् ॥ ३ ॥

योऽयं होत्रा स्तुत्योऽग्निस्तेन Vअग्निना निमित्तभूतेन यजमानः Vरयिं धनम् Vअश्नवत् प्राप्नोति। कीदृशं रयिम्। Vदिवेदिवे Vपोषम् Vएव प्रतिदिनं पुष्यमाणतया वर्धमानमेव, न तु कदाचिदपि क्षीयमाणम्। Vयशसं दानादिना यशोयुक्तं Vवीरवत्तमम् अतिशयेन पुत्रभृत्यादिवीरपुरुषोपेतम्। सति हि धने पुरुषाः संपद्यन्ते। रयिशब्दो 'मघम्' इत्यादि-धननामसु (निघण्टु २·१०·८) पठितः। तत्र फिट्स्वरः। अश्नोतेर्धातोर्लेटि व्यत्ययेन तिप्। 'इतश्च लोपः°' (पासू ३·४·९७) इति इकारलोपः। 'लेटोऽडाटौ' (पासू ३·४·९४) इत्यडागमः। ततः 'अश्नवत्' इति भवति। तस्य निघातः। घञन्तत्वात् (पासू ६·१·१९७) पोषशब्द आद्युदात्तः। एवशब्दस्य निपातत्वेऽपि 'एवादीनामन्तः' (फिसू ८२) इत्यन्तोदात्तत्वम्। वकारान्तात् दिव्शब्दात् परस्याः सप्तम्याः 'सुपां सुलुक्°' (पासू ७·१·३९) इत्यादिना शेभावे सति 'सावेकाचः°' (पासू ६·१·१६८) इत्यादिना, 'उडिदंपदात्°' (पासू ६·१·१७१) इत्यादिना वा तस्योदात्तत्वम्। 'नित्यवीप्सयोः' (पासू ८·१·४) इति द्विर्भावे सति उत्तरभागस्य 'अनुदात्तं च' (पासू ८·१·३) इत्यनुदात्तत्वम्। यशोऽस्यास्तीति विग्रहे सति 'अर्शआदिभ्योऽच्' (पासू ५·२·१२७) इति अच्प्रत्ययः। चित्स्वरं व्यत्ययेन बाधित्वा मध्योदात्तत्वम्। फिट्स्वरेणान्तोदात्तात् वीरशब्दात् उत्तरयोर्मतुप्तमपोः पित्त्वादनुदात्तत्वम्। 'ह्रस्वनुड्भ्याम्°' (पासू ६·१·१७६) इति तु न, सावर्णान्तत्वात् 'न गोश्वन्°' (पासू ६·१·१८२) इति प्रतिषेधः ॥

अभिप्लवषडहस्य मध्यवर्तिषूक्थेषु तृतीयसवने मैत्रावरुणस्य 'अग्ने यं यज्ञम्' इत्यादिको वैकल्पिकोऽनुरूपस्तृचः। एतच्च सप्तमाध्याये 'एह्यूषु' इत्यादिखण्डे सूत्रितम्—'अग्निं वो वृधन्तमग्ने यं यज्ञमध्वरम्' (आश्वश्रौ ७·८) इति ॥

अग्ने॒ यं य॒ज्ञम॑ध्व॒रं वि॒श्वतः॑ परि॒भूरसि॑। स इद्दे॒वेषु॑ गच्छति ॥ ४ ॥

अग्ने॑। यम्। य॒ज्ञम्। अ॒ध्वरम्। वि॒श्वतः॑। परि॒ऽभूः। असि॑। सः। इत्। दे॒वेषु॑। गच्छ॑ति ॥ ४ ॥

हे Vअग्ने त्वं Vयं Vयज्ञं Vविश्वतः सर्वासु दिक्षु Vपरिभूः परितः प्राप्तवान् Vअसि Vसः Vइत स एव यज्ञः Vदेवेषु तृप्तिं प्रणेतुं स्वर्गे Vगच्छति। प्राच्यादिचतुर्दिगन्तेषु आहवनीय-

मार्जालीयगार्हपत्याग्नीध्रीयस्थानेषु अग्निरस्ति। परिशब्देन होत्रीयादिधिष्ण्यद्वयाप्तिर्विवक्षिता। कीदृशं यज्ञम्। ᵛअध्वरं हिंसारहितम्। न ह्यग्निना सर्वतः पालितं यज्ञं राक्षसादयो हिंसितुं प्रभवन्ति॥ अग्निशब्दस्य षाष्ठिकम् (पासू ६·१·१९८) आमन्त्रिताद्युदात्तत्वम्। न विद्यते ध्वरोऽस्येति बहुव्रीहौ 'नञ्सुभ्याम्' (पासू ६·२·१७२) इत्यन्तोदात्तत्वम्। विश्वतः इत्यत्र तसिलः प्रत्ययस्वरत्वं बाधित्वा पूर्ववर्णस्य 'लिति' (पासू ६·१·१९३) इत्युदात्तत्वम्। परिभूरित्यत्र अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे प्राप्ते (पासू ६·२·२) तदपवादत्वेन कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् (पासू ६·२·१३९)। अस्ति इति तिङन्तस्य 'यद्वृत्तान्नित्यम्' (पासू ८·१·६६) इति निघाताभावः॥

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः। देवो देवेभिरा गमत्॥ ५॥

अग्निः। होता। कविऽक्रतुः। सत्यः। चित्रश्रवःऽतमः। देवः। देवेभिः। आ। गमत्॥५॥

अयम् ᵛअग्निः ᵛदेवः अन्यैर्देवैर्हविर्भोजिभिः सह ᵛआ ᵛगमत् अस्मिन् यज्ञे समागच्छतु। कीदृशोऽग्निः। ᵛहोता होमनिष्पादकः ᵛकविक्रतुः। कविशब्दोऽत्र क्रान्तवचनो न तु मेधाविनाम। क्रतुः प्रज्ञानस्य कर्मणो वा नाम। ततः क्रान्तप्रज्ञः क्रान्तकर्मा वा। ᵛसत्यः अनृतरहितः फलमवश्यं प्रयच्छतीत्यर्थः। ᵛचित्रश्रवस्तमः। श्रूयते इति श्रवः। कीर्तिः। अतिशयेन विविधकीर्तियुक्तः॥ कविक्रतुः चित्रश्रवस्तमः इत्यत्रोभयत्र बहुव्रीहित्वात् पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् (पासू ६·२·१)। सत्सु साधुः सत्यः 'सत्यादशपथे' (पासू ५·४·६६) इत्यत्रान्तोदात्तो हरदत्तेन निपातितः। लोडन्तस्य गच्छतु इति शब्दस्य छत्वाभावः। उकारलोपश्छान्दसः। ततो रूपं गमत् इति भवति। स्पष्टमन्यत्॥ ॥ १॥

यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि। तवेत्तत् सत्यमङ्गिरः॥ ६॥

यत्। अङ्ग। दाशुषे। त्वम्। अग्ने। भद्रम्। करिष्यसि। तव। इत्। तत्। सत्यम्। अङ्गिरः॥६॥

अङ्ग इत्यभिमुखीकरणार्थो निपातः। ᵛअङ्ग ᵛअग्ने हे अग्ने, त्वं ᵛदाशुषे हविर्दत्तवते यजमानाय तत्प्रीत्यर्थं ᵛयत् भद्रं वित्तगृहप्रजापशुरूपं कल्याणं ᵛकरिष्यसि ᵛतत् भद्रं ᵛतव ᵛइत् तवैव। सुखहेतुरिति शेषः। हे ᵛअङ्गिरः अग्ने, एतच्च ᵛसत्यं न त्वत्र विसंवादोऽस्ति। यजमानस्य वित्तादिसंपत्तौ सत्यामुत्तरक्रत्वनुष्ठानेनाग्नेरेव सुखं भवति। भद्रशब्दार्थे शाट्यायनिनः समामनन्ति—'यद्वै पुरुषस्य वित्तं तद्भद्रं गृहा भद्रं प्रजा भद्रं पशवो भद्रम्' इति॥ अङ्गशब्दस्य निपातत्वेऽपि अभ्यादित्वात् (फिसू ८१) अन्तोदात्तत्वम्। 'दाश्वान्साह्वान्०' (पासू ६·१·१२) इति सूत्रेण 'दाशृ दाने' इति धातोः क्वसुप्रत्ययो निपातितः। तत्र प्रत्ययस्वरः (पासू ३·१·३)। आमन्त्रितस्य अग्निशब्दस्य पदात् परत्वेन आष्टमिकानुदात्तत्वं (पासू ८·१·१९) न शङ्कनीयम्, '०अपादादौ' (पासू ८·१·१८) इति पर्युदस्तत्वात्। ततः षाष्ठिकम् (पासू ६·१·१९८) आद्युदात्तत्वमेव। भद्रशब्दस्य

नब्विषयत्वेन (फिसू २६) आद्युदात्तत्वप्रसक्तावपि 'भदि कल्याणे' इति धातोरुपरि रक्प्रत्ययेन निपातनादन्तोदात्तत्वम्। अस्मिन् वाक्ये यच्छब्दप्रयोगात् 'निपातैर्यद्यदिहन्त°' (पासू ८·१·३०) इति निघाते प्रतिषिद्धे स्यप्रत्ययस्वरेण सतिशिष्टेन करिष्यसिशब्द उपान्त्योदात्तः। तवेत्यत्र 'युष्मदस्मदोर्ङसि' (पासू ६·१·२११) इत्याद्युदात्तत्वम्। 'अङ्गिराः अङ्गाराः' (नि ३·१७) इति यास्कः। ऐतरेयिणोऽपि प्रजापतिदुहितृध्यानोपाख्याने समामनन्ति—'येऽङ्गारा आसंस्तेऽङ्गिरसोऽभवन्' (ऐब्रा ३·३४) इति। तस्मात् अङ्गिरोनामकमुनिकारणत्वात् अङ्गाररूपस्याग्नेरङ्गिरस्त्वम्। अत्र पदात् परत्वेनाष्टमिकानुदात्तत्वम् ॥

अग्नीषोमप्रणयने 'उप त्वाग्ने' इत्यादिकोऽनुवचनीयस्तृचः। एतच्च ब्राह्मणे समाम्नातम्—'उप त्वाग्ने दिवेदिव उप प्रियं पनिप्नतमिति तिस्रश्चैकां चान्वाह' (ऐब्रा. १·३०) इति ॥

उप॑ त्वाग्ने दि॒वेदि॑वे॒ दोषा॑वस्तर्धि॒या व॒यम् । नमो॒ भर॑न्त॒ एम॑सि ॥ ७ ॥

उप॑ । त्वा॒ । अ॒ग्ने॒ । दि॒वेऽदि॑वे । दोषा॑ऽवस्तः । धि॒या । व॒यम् । नम॑ः । भर॑न्तः । आ । इ॒म॒सि ॥७॥

हे ^{V}अग्ने, वयम् अनुष्ठातारः ^{V}दिवेदिवे प्रतिदिनं ^{V}दोषावस्तः रात्रावहनि च ^{V}धिया बुद्ध्या ^{V}नमः ^{V}भरन्तः नमस्कारं संपादयन्तः ^{V}उप समीपे ^{V}त्वा ^{V}एमसि त्वामागच्छामः॥ उपशब्दस्य निपातस्वरः (फिसू ८०)। 'त्वामौ द्वितीयायाः' (पासू ८·१·२३) इति युष्मच्छब्दस्यानुदात्तस्त्वादेशः। दोषाशब्दो रात्रिवाची। वस्तर् इति अहर्वाची। द्वन्द्वसमासे कार्तकौजपादित्वात् (पासू ६·२·३७) आद्युदात्तः। 'सावेकाचः°' (पासू ६·१·१६८) इति धियो विभक्तिरुदात्ता। नम इति निपातः। भरन्त इत्यत्र शपः (पासू ३·१·६८) पित्वात् शतुर्लसार्वधातुकत्वाच्च अनुदात्तत्वे सति (पासू ६·१·१८६) धातुस्वरः शिष्यते। इमसि इत्यत्र 'इदन्तो मसिः' (पासू. ७·१·४६) इत्यादेशो निघातश्च।

राज॑न्तमध्व॒राणां॑ गो॒पामृ॒तस्य॒ दीदि॑विम् । वर्ध॑मानं॒ स्वे दमे॑ ॥ ८ ॥

राज॑न्तम् । अ॒ध्व॒राणा॑म् । गो॒पाम् । ऋ॒तस्य॑ । दीदि॑विम् । वर्ध॑मानम् । स्वे । दमे॑ ॥ ८ ॥

पूर्वमन्त्रे त्वामुपैम इत्यग्निमुद्दिश्योक्तम्। कीदृशं त्वाम्। ^{V}राजन्तं दीप्यमानम् ^{V}अध्वराणां राक्षसकृतहिंसारहितानां यज्ञानां ^{V}गोपां रक्षकम् ^{V}ऋतस्य सत्यस्यावश्यंभाविनः कर्मफलस्य ^{V}दीदिविं पौनःपुन्येन भृशं वा द्योतकम्। आहुत्याधारमग्निं दृष्ट्वा शास्त्रप्रसिद्धं कर्मफलं स्मर्यते। ^{V}स्वे ^{V}दमे स्वकीयगृहे यज्ञशालायां हविर्भिः ^{V}वर्धमानम् ॥ राजन्तं वर्धमानमित्यत्रोभयत्र पूर्ववत् धातुस्वरः शिष्यते। दीदिविशब्दस्य 'अभ्यस्तानामादिः' (पासू ६·१·१८९) इत्याद्युदात्तत्वम्। दमशब्दो वृषादित्वात् (पासू ६·१·२०३) आद्युदात्तः॥

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव । सचस्वा नः स्वस्तये ॥ ९ ॥

सः । नः । पिताऽइव । सूनवे । अग्ने । सुऽउपायनः । भव । सचस्व । नः । स्वस्तये ॥ ९ ॥

हे ᵛअग्ने ᵛसः ᵛत्वं ᵛनः अस्मदर्थं सूपायनः शोभनप्राप्तियुक्तः ᵛभव । तथा ᵛनः अस्माकं ᵛस्वस्तये विनाशराहित्यार्थं ᵛसचस्व समवेतो भव । तत्रोभयत्र दृष्टान्तः । यथा ᵛसूनवे पुत्रार्थं पिता सुप्रापः प्रायेण समवेतो भवति तद्वत् ॥ अस्मच्छब्दादेशस्य न इत्येतस्य 'अनुदात्तं सर्वम्°' (पासू ८·१·१८) इत्यनुदात्तत्वम् । 'चादयोनुदात्ताः' (फिसू ८४) इति इवशब्दोऽनुदात्तः । 'इवेन नित्यसमासः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च वक्तव्यम्' (वा-पासू २·१·४·२) इति समस्तः पितेवेति शब्दो मध्योदात्तः । शोभनमुपायनं यस्येति बहुव्रीहौ 'नञ्सुभ्याम्' (पासू ६·२·१७२) इत्यन्तोदात्तत्वम् । सचस्वेत्यत्र पदात् परत्वं नास्तीति न निघातः । लसार्वधातुकानुदात्तत्वे सति धातुस्वरावशेषः ॥



अन्तिम सूक्तका भाष्य

(१०·१९१)

'संसम्' इति चतुर्ऋचं चत्वारिंशं सूक्तं संवननस्यार्षम् । 'समानो मन्त्रः' इति तृतीया त्रिष्टुप्, शिष्टास्तिस्रोऽनुष्टुभः। प्रथमाया अग्निर्देवता। शिष्टानां संज्ञानम्। अनुक्रम्यते च—'संसं चतुष्कं संवननः संज्ञानमाद्याग्नेयी तृतीया त्रिष्टुप् तृतीया त्रिष्टुप्' इति। 'आनुष्टुभं तु' इति पूर्वमुक्तत्वादवशिष्टानामनुष्टुप्त्वम्। सूक्तविनियोगो लैङ्गिकः ॥

संसमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ ।
इळस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर ॥ १ ॥

सम्ऽसम् । इत् । युवसे । वृषन् । अग्ने । विश्वानि । अर्यः । आ ।
इळः । पदे । सम् । इध्यसे । सः । नः । वसूनि । आ । भर ॥ १ ॥

हे ᵛवृषन् कामानां वर्षितः ᵛअग्ने, ᵛअर्यः ईश्वरस्त्वम् । 'अर्यः स्वामिवैश्ययोः' (पासू ३·१·१०३) इति यत्प्रत्ययान्तो निपातितः। 'अर्यः स्वाम्याख्यायाम्' (फिसू १·१८) इत्यन्तोदात्तत्वम् । स त्वं ᵛविश्वानि सर्वाणि भूतजातानि ᵛसंसम् । 'प्रसमुपोदः पादपूरणे' (पासू. ८·१·६) इति समो द्विर्वचनम् । इच्छब्दोऽवधारणे । ᵛआ समन्तात् सं ᵛयुवसे मिश्रयसि । देवेषु मध्ये त्वमेव सर्वाणि भूतजातानि वैश्वानरात्मना व्याप्नोषि ।

नान्य इत्यर्थः। किंच ᵛइळः इडायाः पृथिव्याः ᵛपदे स्थाने उत्तरवेदिलक्षणे। 'एतद्वा इळायास्पदं यदुत्तरवेदीनाभिः' (ऐब्रा १·२८) इति ब्राह्मणम्। तत्र त्वं ᵛसमिध्यसे ऋत्विग्भिः संदीप्यसे। ᵛसः तादृशस्त्वं ᵛनः अस्माकं ᵛवसूनि धनानि ᵛआ ᵛभर आहर॥

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥ २ ॥

सम्। गच्छध्वम्। सम्। वदध्वम्। सम्। वः। मनांसि। जानताम्।
देवाः। भागम्। यथा। पूर्वे। सम्ऽजानानाः। उपऽआसते॥ २ ॥

हे स्तोतारः, यूयं ᵛसम् ᵛगच्छध्वं संगताः संभूता भवत॥ 'समो गम्यृच्छि°' (पासू १·३·२९) इत्यादिना गमेरात्मनेपदम्॥ तथा ᵛसं ᵛवदध्वं सह वदत। परस्परं विरोधं परित्यज्यैकविधमेव वाक्यं ब्रूतेति यावत्। 'व्यक्तवाचां समुच्चारणे' (पासू १·३·४८) इति वदेरात्मनेपदम्। ᵛवः युष्माकं ᵛमनांसि ᵛसं ᵛजानताम्। समानमेकरूपमेवार्थम-वगच्छन्तु॥ 'संप्रतिभ्यामनाध्याने' (पासू १·३·४६) इति जानातेरात्मनेपदम्॥ ᵛयथा ᵛपूर्वे पुरातनाः ᵛदेवाः ᵛसंजानानाः ऐकमत्यं प्राप्ता हविर्भागम् ᵛउपासते यथास्वं स्वीकुर्वन्ति तथा यूयमपि वैमत्यं परित्यज्य धनं स्वीकुरुतेति शेषः॥

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥ ३ ॥

समानः। मन्त्रः। सम्ऽइतिः। समानी। समानम्। मनः। सह। चित्तम्। एषाम्।
समानम्। मन्त्रम्। अभि। मन्त्रये। वः। समानेन। वः। हविषा। जुहोमि॥ ३ ॥

पूर्वोऽर्धर्चः परोक्षकृतः, उत्तरः प्रत्यक्षकृतः। ᵛएषाम् एकस्मिन् कर्मणि सह प्रवृत्ता-नामृत्विजां स्तोतॄणां वा ᵛमन्त्रः स्तुतिः शस्त्राद्यात्मका गुप्तभाषणं वा ᵛसमानः एक-विधोऽस्तु। तथा ᵛसमितिः प्राप्तिरपि ᵛसमानी एकरूपास्तु॥ 'केवलमामक°' (पासू ४·१·३०) इत्यादिना समानशब्दात् ङीप्। उदात्तनिवृत्तिस्वरेण ङीप उदात्तत्वम्। तथा ᵛमनः मननसाधनमन्तःकरणं चैषां ᵛसमानम् एकविधमप्यस्तु। ᵛचित्तं विचारजं ज्ञानं तथा ᵛसह सहितं परस्परस्यैकार्थेनैकीभूतमस्तु। अहं च ᵛवः युष्माकं ᵛसमानम् एकविधं ᵛमन्त्रम् ᵛअभि ᵛमन्त्रये। ऐकविध्याय संस्करोमि। तथा ᵛवः युष्माकं स्वभूतेन ᵛसमानेन साधारणेन ᵛहविषा चरुपुरोडाशादिना अहं ᵛजुहोमि॥ 'तृतीया च होश्छन्दसि' (पासू २·३·३) इति कर्मणि कारके तृतीया॥ वषट्कारेण हविः प्रक्षेपयामीत्यर्थः॥

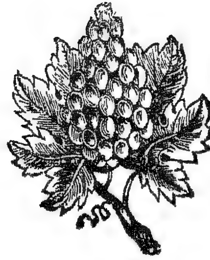
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥ ४ ॥

समानी । वः । आऽकूतिः । समाना । हृदयानि । वः ।
समानम् । अस्तु । वः । मनः । यथा । वः । सुऽसह । असति ॥ ४ ॥

हे ऋत्विग्यजमानाः, ^vवः युष्माकम् ^vआकूतिः संकल्पोऽध्यवसायः ^vसमानी एकविधोऽस्तु । तथा ^vवः युष्माकं ^vहृदयानि ^vसमाना समानान्येकविधानि सन्तु । तथा ^vवः युष्माकं ^vमनः अन्तकरणम् । प्रत्येकापेक्षयैकवचनम् । तदपि ^vसमानमस्तु । ^vयथा ^vवः युष्माकं ^vसुसह शोभनं साहित्यम् ^vअसति भवति तथा समानमस्त्वित्यन्वयः ॥ अस्तेर्लेटि 'बहुलं छन्दसि' (पासू . २·४·७३) इति शपो लुगभावः ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् । पुमर्थांश्चतुरो देयाद्विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तकश्रीवीरबुक्कभूपालसाम्राज्यधुरंधरेण सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे ऋक्संहिताभाष्येऽष्टमाष्टकेऽष्टमोऽध्यायः संपूर्णः ॥



ऋक्सूक्तवैजयन्ती

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

१

१.१.१-९ मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः ॥ अग्निः ॥ गायत्री ॥

ॐ अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् । होतारं रत्नधातमम् ॥ १ ॥

ॐ अग्निम् । ईळे । पुरःऽहितम् । यज्ञस्य । देवम् । ऋत्विजम् । होतारम् । रत्नऽधातमम् ॥१॥

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत । स देवाँ एह वक्षति ॥ २ ॥

अग्निः । पूर्वेभिः । ऋषिऽभिः । ईड्यः । नूतनैः । उत । सः । देवान् । आ । इह । वक्षति ॥२॥

अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवेदिवे । यशसं वीरवत्तमम् ॥ ३ ॥

अग्निना । रयिम् । अश्नवत् । पोषम् । एव । दिवेऽदिवे । यशसम् । वीरवत्ऽतमम् ॥ ३ ॥

अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि । स इद्देवेषु गच्छति ॥ ४ ॥

अग्ने । यम् । यज्ञम् । अध्वरम् । विश्वतः । परिऽभूः । असि । सः । इत् । देवेषु । गच्छति ॥४॥

---

१. हमारे यज्ञके अग्रमें स्थापित, (देवताओंका) आवाहन करनेवाला, और स्वयं देवरूप ऋत्विज, एवं दान देनेवाले लोगोंमें सर्वश्रेष्ठ इस अग्निदेवका मैं स्तवन करता हूँ।

२. यह अग्निदेव प्राचीन और अर्वाचीन समयके सभी ऋषियोंको वन्दनीय है। वह आज देवोंको इस (हमारे यज्ञके) स्थानपर बुलाकर ले आये।

३. इस अग्निकी सहायतासे (हमारा यजमान) दिनोंदिन कीर्तिशाली तथा वीरोंसे अत्यन्त सुशोभित संपत्ति और केवल अभ्युदय प्राप्त कर ले।

[(हमारा यजमान); दे. ऋ. ६.]

४. हे अग्निदेव, तुम जिस यज्ञ और अध्वरको (उनकी रक्षा करनेके लिये) चारों ओरसे घेरे रहते हो वही (यज्ञ और अध्वर) देवताओं तक जाकर पहुँचता है।

[**परिभूः** (परि + √भू) 'रक्षाके लिए चारों ओरसे घेरनेवाला' दे. १·९७·६; २·२·५ इ.]

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः । देवो देवेभिरा गमत् ॥ ५ ॥

अग्निः । होता । कविऽक्रतुः । सत्यः । चित्रश्रवःऽतमः । देवः । देवेभिः । आ । गमत् ॥ ५ ॥

यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि । तवेत्तत् सत्यमङ्गिरः ॥ ६ ॥

यत् । अङ्ग । दाशुषे । त्वम् । अग्ने । भद्रम् । करिष्यसि । तव । इत् । तत् । सत्यम् । अङ्गिरः ॥६॥

उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम् । नमो भरन्त एमसि ॥ ७ ॥

उप । त्वा । अग्ने । दिवेऽदिवे । दोषाऽवस्तः । धिया । वयम् । नमः । भरन्तः । आ । इमसि ॥७॥

राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम् । वर्धमानं स्वे दमे ॥ ८ ॥

राजन्तम् । अध्वराणाम् । गोपाम् । ऋतस्य । दीदिविम् । वर्धमानम् । स्वे । दमे ॥ ८ ॥

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव । सचस्वा नः स्वस्तये ॥ ९ ॥

सः । नः । पिताऽइव । सूनवे । अग्ने । सुऽउपायनः । भव । सचस्व । नः । स्वस्तये ॥ ९ ॥

५. कविकी प्रतिभा धारण करनेवाला, देवोंका आवाहन करनेवाला, विश्वासपात्र, अत्यन्त सुंदर कीर्तिमान् यह अग्निदेव देवोंको साथमें लेकर (हमारे इस यज्ञमें) समुपस्थित हो।

६. हे अग्निदेव, सचमुच उदार यजमानके लिये जो जो मंगलमय कर्म करना तुम चाहोगे वह सब, हे अंगिरस्, निश्चित रूपसे पूर्ण होकर रहेगा।

[**अङ्गिरः** यह विशेषण अनेकवार अग्निके लिए, एवं एक अथवा दो बार बृहस्पति, सोम इन्द्र और उषाके लिए भी प्रयुक्त हुआ है।]

७–८. हे रात्रिको प्रकाशित करनेवाले अग्निदेव, अध्वरोंपर प्रभुत्व जमानेवाले, ऋतकी रक्षा करनेवाले, नित्य प्रकाशमान तथा अपने (कुण्डरूपी) गृहमें वृद्धिंगत होनेवाले तुम्हारे पास विनीत बुद्धिसे हम अपने प्रणाम अर्पण करके उपस्थित होते हैं।

[**दोषावस्तर्** (दोषावस्तृ शब्दका संबोधन); दे. ७.१५.१५ पर सायणभाष्य-रात्रेराच्छादयितर् तमसो वारयितर् इत्यर्थः। **वस्तृ**-वस् आच्छादने; दे. **क्षपां वस्ता जनिता सूर्यस्य** (इन्द्रः) ३.४९.४. पूर्वऋचास्थ **उप एमसि** क्रियासे इस ऋचाका अन्वय।]

९. हे अग्निदेव, ऐसे तुम, जिस प्रकार पिता अपने पुत्रको निःशंक भावसे अपने पास आने देता है, उसी प्रकार हमें अपने पास आने दो और हमारे कल्याणके लिए हमारे साथ ही रहो।

२

१·१९·१–९ मेधातिथिः काण्वः ॥ अग्निर्मरुतश्च ॥ गायत्री ॥

इस सूक्तमें सोमपानके लिए मरुद्गणोंको अपने साथ ले आनेके लिए अग्निदेवकी प्रार्थना की गई है। मरुद्गणोंका वर्णन भी विशेषरूपमें उनके वर्षाकालीन कर्तृत्वके विषयमें किया गया है। अग्निदेवसे मरुद्गणोंके घनिष्ठ संबन्ध का वर्णन ३·१३·६; ३·१६·२; ३·२६·४–६; ८·१०३·४ इत्यादि स्थलोंमें स्पष्ट है।

प्रति त्यं चारुमध्वरं गोपीथाय प्र हूयसे। मरुद्भिरग्न आ गहि ॥ १ ॥

प्रति। त्यम्। चारुम्। अध्वरम्। गोऽपीथाय। प्र। हूयसे। मरुत्ऽभिः। अग्ने। आ। गहि ॥१॥

नहि देवो न मर्त्यो महस्तव क्रतुं परः। मरुद्भिरग्न आ गहि ॥ २ ॥

नहि। देवः। न। मर्त्यः। महः। तव। क्रतुम्। परः। मरुत्ऽभिः। अग्ने। आ। गहि ॥ २॥

ये महो रजसो विदुर्विश्वे देवासो अद्रुहः। मरुद्भिरग्न आ गहि ॥ ३ ॥

ये। महः। रजसः। विदुः। विश्वे। देवासः। अद्रुहः। मरुत्ऽभिः। अग्ने। आ। गहि ॥३॥

य उग्रा अर्कमानृचुरनाधृष्टास ओजसा। मरुद्भिरग्न आ गहि ॥ ४ ॥

ये। उग्राः। अर्कम्। आनृचुः। अनाधृष्टासः। ओजसा। मरुत्ऽभिः। अग्ने। आ। गहि ॥४॥

---

१. इस सर्वांगसुन्दर यज्ञमें दुग्ध (–मिश्रित सोम) का पान करनेके लिये तुम्हें निमंत्रित किया जाता है। हे अग्ने, मरुद्गणोंको साथ लेकर तुम आओ।

[**गोपीथाय** (पीथ √पा 'पीना'); दे. ऋ. ९ (पीनये) और सोमपीथम् (१०·१५·८). अन्य स्थलोंमें गोपीथ शब्द (५·६५·६; १०·३५·१४; १०·७७·७) संरक्षणके (√पा 'रक्षण करना') अर्थमें प्रयुक्त है।]

२. तुम्हारे जैसे महान् बुद्धिसामर्थ्यका अतिक्रमण कोई भी देव या मर्त्य नहीं कर सकता। हे अग्ने, मरुद्गणोंको साथ लेकर तुम आओ।

३. जो द्रोहरहित सभी देव इस विशाल (अन्तरिक्ष–) प्रदेशको अच्छी तरह जानते हैं, उन मरुद्गणोंको साथ लेकर तुम आओ।

[**विश्वे देवासः** ये दो शब्द स्वतन्त्र विशेषणके रूपमें प्रयुक्त हैं। किंतु साधारणतया इन दो शब्दोंको मिलाकर देवताओंके एक सर्वसाधारण गणका निर्देश किया जाता है।]

४. ओजस्वी होनेके कारण जिनपर आक्रमण करना असंभव है, और जो उग्र होकर अपना युद्धगान गाते रहते हैं उन मरुद्गणोंको साथ लेकर, हे अग्ने, तुम आओ।

[**अर्क** शब्दका अर्थ 'युद्धगान' होता है। दे. अग्निके लिए अर्क ३·१४·४; इन्द्रके लिए १·८५·२; १·१६५·११; ५·२९·१, ६ इ.]

ये शुभ्रा घोरवर्पसः सुक्षत्रासो रिशादसः । मरुद्भिरग्न आ गहि ॥ ५ ॥

ये । शुभ्राः । घोरऽवर्पसः । सुऽक्षत्रासः । रिशादसः । मरुत्ऽभिः । अग्ने । आ । गहि ॥५॥

ये नाकस्याधि रोचने दिवि देवास आसते । मरुद्भिरग्न आ गहि ॥ ६ ॥

ये । नाकस्य । अधि । रोचने । दिवि । देवासः । आसते । मरुत्ऽभिः । अग्ने । आ । गहि ॥६॥

य ईङ्खयन्ति पर्वतान् तिरः समुद्रमर्णवम् । मरुद्भिरग्न आ गहि ॥ ७ ॥

ये । ईङ्खयन्ति । पर्वतान् । तिरः । समुद्रम् । अर्णवम् । मरुत्ऽभिः । अग्ने । आ । गहि ॥ ७॥

आ ये तन्वन्ति रश्मिभिस्तिरः समुद्रमोजसा । मरुद्भिरग्न आ गहि ॥ ८ ॥

आ । ये । तन्वन्ति । रश्मिऽभिः । तिरः । समुद्रम् । ओजसा । मरुत्ऽभिः । अग्ने । आ । गहि ॥८॥

अभि त्वा पूर्वपीतये सृजामि सोम्यं मधु । मरुद्भिरग्न आ गहि ॥ ९ ॥

अभि । त्वा । पूर्वऽपीतये । सृजामि । सोम्यम् । मधु । मरुत्ऽभिः । अग्ने । आ । गहि ॥ ९ ॥

---

५. शोभायमान (फिर भी) भयावह शरीर धारण करनेवाले, उच्च कोटिके क्षात्रतेजसे संपन्न, हिंसक शत्रुओंका विनाश करनेवाले, मरुद्गणोंको साथ लेकर, हे अग्ने, तुम आओ ।

६. जो देव द्युलोकमें, इस दृश्यमान आकाशके ऊपर प्रकाशमय प्रदेशमें, (अपने अपने सुखासनपर) विराजमान रहते है उन मरुद्गणोंको साथ लेकर, हे अग्ने, तुम आओ ।

७. सर्वदा चञ्चल समुद्रके पृष्टभागपर (वर्षा समयमें) जो पर्वतके समान ऊँची-ऊँची तरंगें उठाते रहते हैं, उन मरुद्गणोंको साथ लेकर, हे अग्ने, तुम आओ ।

[**पर्वतान्** 'पर्वत सदृश तरंग'. **समुद्रमर्णवम्** दे. १०·५८·५; १०·१९०·१; **सिन्धुमर्णवम्** ३·५३·९].

८. अपनी ओजस्विताके कारण, तथा अपनी रश्मियोंकी सहायतासे जो समुद्रपर (आकाशमें) सर्वत्र फैले रहते हैं उन मरुद्गणों को साथ लेकर, हे अग्ने, तुम आओ ।

[**रश्मिभिः** 'सूर्यकी किरणोंके साथ'। अथवा 'स्वीय किरणोंके साथ' यह अर्थ भी संभव है। मरुद्गणोंके रश्मियोंके लिए दे. १·८७·६; ८·७·८. **तन्वन्ति** क्रियापदके कर्मके रूपमें **द्याम्** पदका अध्याहार आवश्यक है। दे. १·३५·७; ४·५२·७.]

९. सर्व प्रथम पान करनेके लिये, मैं तुम्हें इस सोमके मधुर रसको समर्पित करता हूँ। हे अग्ने, मरुद्गणोंको साथ लेकर तुम आओ ।

[**अभि** का **त्वा** से अन्वय; दे. ८·३·७; अथवा **अभि सृज्** धातुको द्विकर्मक समझना आवश्यक है; दे. ८·४५·१२; १०·९८·५.]

३

१·२५·१–२१ शुनःशेप आजीगर्तिः ॥ वरुणः ॥ गायत्री ॥

इस तृचात्मक सूक्तके साधारणतया तीन भाग होते हैं। प्रथम भाग (ऋ. १–६) प्रास्ताविक है और इसमें वरुणदेवके दर्शनके विषयमें कविकी उत्कट मनीषा प्रतीत होती है। द्वितीय भाग (ऋ. ७–१५) में वरुण देवके सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तित्वका वर्णन है। और तृतीय भाग (ऋ. १६–२१) में 'यज्ञमें उपस्थित होकर अपनेको वरुणदेव दर्शन दे और अपराधरूप पाशोंसे अपनेको मुक्त करे यह कविकी प्रार्थना दिखलाई पडती है।

वैदिक परंपराके अनुसार इस और इसके पूर्वके सूक्त (१·२४) में (विशेष रूपसे ऋ. १२ और १३ में) ऐतरेय ब्राह्मणान्तर्गत (८·१३–१८) शुनःशेपकी कथाका मूल रूप सुस्थित है।

यच्चिद्धि ते विशो यथा प्र देव वरुण व्रतम् । मिनीमसि द्यविद्यवि ॥ १ ॥

यत् । चित् । हि । ते । विशः । यथा । प्र । देव । वरुण । व्रतम् । मिनीमसि । द्यविऽद्यवि ॥१॥

मा नो वधाय हत्नवे जिहीळानस्य रीरधः । मा हृणानस्य मन्यवे ॥ २ ॥

मा । नः । वधाय । हत्नवे । जिहीळानस्य । रीरधः । मा । हृणानस्य । मन्यवे ॥ २ ॥

वि मृळीकाय ते मनो रथीरश्वं न संदितम् । गीर्भिर्वरुण सीमहि ॥ ३ ॥

वि । मृळीकाय । ते । मनः । रथीः । अश्वम् । न । सम्ऽदितम् । गीःऽभिः । वरुण । सीमहि ॥३॥

परा हि मे विमन्यवः पतन्ति वस्यइष्टये । वयो न वसतीरुप ॥ ४ ॥

परा । हि । मे । विऽमन्यवः । पतन्ति । वस्यःऽइष्टये । वयः । न । वसतीः । उप ॥ ४ ॥

१. हे वरुणदेव, यद्यपि हम सामान्य प्रजाजन जिस प्रकार (अपने राजाकी आज्ञाका उल्लंघन करते रहते हैं, उसी प्रकार) प्रतिदिन तुम्हारे नियमोंका उल्लंघन करते रहते हैं;

२. (तथापि) क्रोधित हुए तुम्हारे प्राणघातक शस्त्रका या संतप्त हुए तुम्हारे संतापका हमें लक्ष्य मत बनाओ।

[इन ऋचाओंका एकत्रित अन्वय करें। **जिहीळानस्य** और **हृणानस्य** ये दोनों वरुणके ही विशेषण हैं। दे. ७·८६·५ तथा १·२४·४; ४·१·४; ७·६२·४ इ.]

३. हे वरुण, जिस प्रकार रथका स्वामी अपने (स्थानपर) बँधे हुए अश्वको (बाहर जानेके लिए) मुक्त कर देता है उसी प्रकार हम अपनी स्तुतियोंसे तुम्हारे मनको, अपने ऊपर तुम्हारे अनुग्रहरूप प्रसाद को बनाए रखनेके लिए (क्रोधरूप बन्धनसे) मुक्त कर देते हैं।

[**संदितम्** 'बाँधे हुए' (सम् + √दा 'बाँधना') दे. संदानं दाम (अर्वतः) १·१६२·८.]

४. क्योंकि, मेरी ये द्रोहविरहित स्तुतियाँ, जिस प्रकार पक्षी अपने घोसलोंकी ओर जाते हैं उसी प्रकार, अपने कल्याणके अन्वेषणके लिए (तुम्हारे पास) दूर तक जाती हैं।

[**विमन्यवः** विशेषण है। इसके बादमें ऋ. ३ से **गिरः** शब्दका अध्याहार करें। ऋ. २ में

कुदा क्षत्रश्रियं नरमा वरुणं करामहे । मृळीकायोरुचक्षसम् ॥ ५ ॥

कुदा । क्षत्रऽश्रियम् । नरम् । आ । वरुणम् । करामहे । मृळीकाय । उरुऽचक्षसम् ॥ ५ ॥

तादित् समानमाशाते वेनन्ता न प्र युच्छतः । धृतव्रताय दाशुषे ॥ ६ ॥

तत् । इत् । समानम् । आशाते इति । वेनन्ता । न । प्र । युच्छतः । धृतऽव्रताय । दाशुषे ॥ ६ ॥

वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम् । वेद नावः समुद्रियः ॥ ७ ॥

वेद । यः । वीनाम् । पदम् । अन्तरिक्षेण । पतताम् । वेद । नावः । समुद्रियः ॥ ७ ॥

वेद मासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः । वेदा य उपजायते ॥ ८ ॥

वेद । मासः । धृतऽव्रतः । द्वादश । प्रजाऽवतः । वेद । यः । उपऽजायते ॥ ८ ॥

मन्यु शब्दका ‘ क्रोध, द्वेषबुद्धि, संताप ’ इस अर्थमें प्रयोग हो चुका है। और भी दे. ७·६१·१; ७·८६·६; ८·४८·८; १०·३४·८ । एवं **मन्युपाविन्** शब्दका ‘क्रोध अथवा दुष्टबुद्धिसे सोम समर्पण करनेवाला ’ के अर्थमें भी प्रयोग ८·३२·२१ में दिखाई देता है।]

५. क्षात्रतेजसे सुशोभित और दूरदर्शी तथा पौरुषयुक्त वरुणको अपने ऊपर अनुग्रह करनेके लिए हम अपने पास कब ला सकेंगे ?

६. उसके उस उभय-साधारण (अनुग्रह) का भी दोनों (यजमान और पत्नी) उपभोग करते है और उसपर प्रेम करके अपने नियमोंका पालन करवानेवाले उस (अत्यंत कठोर किंतु) दानशूर वरुणकी सेवामें किंचिन्मात्र भी न्यूनता नहीं पैदा होने देते ।

[**तत्** शब्दसे ऋ. ५ में उल्लिखित **मृळीक** शब्दका परामर्श अभिप्रेत है। और **आशाते** क्रियापदके कर्तृरूपमें **दम्पती** पदका अध्याहार भी आवश्यक है। दे. ८·३१·५–६. अन्य विद्वान् ‘ मित्रावरुणा ’ को कर्तृरूपमें अध्याहृत करके **तत्** शब्दसे **क्षत्र** (**क्षत्रश्रियं** सूचित) को अथवा (नितान्त बाह्य) **हविः** या **बर्हिः** को निर्दिष्ट समझते हैं। किंतु इनके मतमें **धृतव्रत** विशेषणको ‘व्रतपालन करनेवाले मर्त्य ’ के अर्थमें, केवल इसी स्थलमें, प्रयुक्त मानना आवश्यक होता है।]

७. अन्तरिक्षमें उड़नेवाले पक्षियोंका स्थान जो जानता है उस वरुणको, समुद्रके इस अधिपतिको, (समुद्र में चलनेवाली) नौकाओंका भी निश्चित स्थान ज्ञात है ।

[**समुद्रियः** को (**नावः** शब्द के) षष्ठयन्त अथवा (**वरुणः** शब्द के) प्रथमान्त विशेषणके रूपमें अन्वय करें। आद्य पक्षमें **पदम्** शब्दका अध्याहार। द्वितीय पक्षमें दे. ९·१०७·१६ (**राजा देवः समुद्रियः**)।]

८. अपने नियमोंका भली भाँति पालन करनेवाले इस वरुणको बारह महीनोंका उनकी प्रजाओंके साथ यथार्थ ज्ञान है। वैसे ही उनके साथ बीच बीचमें पड़नेवाले (मलमास) का भी उसे ठीक ज्ञान है ।

[**प्रजावतः** (**मासः**)। मासोंकी प्रजा दिवस ही है। तृतीय पादमें अधिक मासका उल्लेख स्पष्ट है।]

वेद वातस्य वर्तनिमुरोर्ऋष्वस्य बृहतः । वेदा ये अध्यासते ॥ ९ ॥

वेद । वातस्य । वर्तनिम् । उरोः । ऋष्वस्य । बृहतः । वेद । ये । अधिऽआसते ॥ ९ ॥

नि षसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्या३स्वा । साम्राज्याय सुक्रतुः ॥१०॥

नि । ससाद । धृतऽव्रतः । वरुणः । पस्त्यासु । आ । साम्ऽराज्याय । सुऽक्रतुः ॥ १० ॥

अतो विश्वान्यद्भुता चिकित्वाँ अभि पश्यति । कृतानि या च कर्त्वा ॥११॥

अतः । विश्वानि । अद्भुता । चिकित्वान् । अभि । पश्यति । कृतानि । या । च । कर्त्वा ॥११

स नो विश्वाहा सुक्रतुरादित्यः सुपथा करत् । प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥१२॥

सः । नः । विश्वाहा । सुऽक्रतुः । आदित्यः । सुऽपथा । करत् । प्र । नः । आयूंषि । तारिषत् ॥१२॥

बिभ्रद्द्रापिं हिरण्ययं वरुणो वस्त निर्णिजम् । परि स्पशो नि षेदिरे ॥१३॥

बिभ्रत् । द्रापिम् । हिरण्ययम् । वरुणः । वस्त । निःऽनिजम् । परि । स्पशः । नि । सेदिरे ॥१३॥

९. इस वरुणको विस्तीर्ण, उच्च और महान् वातदेवका (अन्तरिक्षमेंसे बहनेवाला) मार्ग भी ज्ञात है । और उस (मार्ग) के ऊपरके प्रदेशमें जो (मरुद्गण) रहते हैं उनका भी उसे उत्तम ज्ञान है ।

[**ये अध्यासते** याने देवाः । दे. १.१९.६.]

१०. अपने नियमोंका ठीक ठीक पालन करानेवाला यह श्रेष्ठ बुद्धिसामर्थ्य से युक्त सम्राट् वरुण दिव्य नदियोंके मध्य भागमें (अपने सिंहासनपर) साम्राज्यका पालन करनेके लिए अधिष्ठित हुआ है ।

[**पस्त्यासु** । पस्त्या शब्द स्त्रीलिङ्ग और अनेक वचनमें नदियोंके अर्थमें प्रयुक्त होता है। नपुंसक **पस्त्य** शब्द 'गृह' शब्दके समानार्थक है । दे. पस्त्यासु चक्रे वरुणः सधस्थमपां शिशुर्मातृतमास्वन्तः । वा. सं. १०.७ । वरुण देवके नदियोंके साथ संबन्धके लिए दे. २.३८.८; ७.४९.३; ७.८८.३-४ ८.४१.२ इ.]

११. इसी स्थानसे यह ज्ञानी वरुण सब तरहके असाधारण, किए गए या किए जा रहे इन सब प्रकारके, कर्मोंका सूक्ष्म दृष्टिसे निरीक्षण करता है ।

१२. श्रेष्ठ बुद्धिसामर्थ्यसे युक्त अदितिका इस तरहका यह पुत्र हमारे लिए सर्वदा ही सन्मार्गोंका निर्माण करे तथा हमारी आयुको भी वृद्धिंगत करे ।

१३. सुवर्णमय कवच धारण करके वरुणने निर्मल राजपाट धारण किया है। उसके चारों ओर उसके गुप्तचर बैठे हुए हैं ।

[वरुणके गुप्त चरोंके विषयमें दे. ७.६१.३; ७.८७.३; अ. वे. ४.१६.४ इत्यादि]

न यं दिप्सन्ति दिप्सवो न द्रुह्वाणो जनानाम्। न देवमभिमातयः ॥ १४ ॥

न। यम्। दिप्सन्ति। दिप्सवः। न। द्रुह्वाणः। जनानाम्। न। देवम्। अभिऽमातयः ॥१४॥

उत यो मानुषेष्वा यशश्चक्रे असाम्या। अस्माकमुदरेष्वा ॥ १५ ॥

उत। यः। मानुषेषु। आ। यशः। चक्रे। असामि। आ। अस्माकम्। उदरेषु। आ ॥१५॥

परा मे यन्ति धीतयो गावो न गव्यूतीरनु। इच्छन्तीरुरुचक्षसम् ॥ १६ ॥

परा। मे। यन्ति। धीतयः। गावः। न। गव्यूतीः। अनु। इच्छन्तीः। उरुऽचक्षसम् ॥ १६॥

सं नु वोचावहै पुनर्यतो मे मध्वाभृतम्। होतेव क्षदसे प्रियम् ॥ १७ ॥

सम्। नु। वोचावहै। पुनः। यतः। मे। मधु। आऽभृतम्। होताऽइव। क्षदसे। प्रियम् ॥१७॥

१४. हिंसाकी इच्छा रखनेवाले शत्रु जिस देवकी हिंसाकी इच्छा भी करनेका साहस नहीं कर सकते उस देवको, लोगोंमें विद्रोह करनेवाले तथा (स्वसामर्थ्यपर) वृथा अभिमान रखनेवाले लोग भी (दुःख नहीं दे सकते)।

१५. और जिसने मनुष्यलोकमें (और विशेष रूपसे) हमारे उदरमें (भी जलोदरके रूपमें) अपना यश सर्वत्र पूर्णतया प्रस्थापित किया है, (वही यह वरुण देव है)।

[**उदरेषु** याने जलोदर के रूपमें। उस रोग का संक्षिप्त परिचय ७·८९·२–४ में दिया है।]

१६. (गोशालासे छूटनेपर) गौएँ जिस प्रकार चरनेके जंगलकी ओर जाती हैं उसी प्रकार मेरी ये स्तुतियाँ उस दूरदर्शी वरुणको ढूँढते-ढूँढते बहुत दूर तक (उसकी ओर) चली जाती हैं।

१७. चूँकि, हे वरुण, मेरे द्वारा लाए गए तुम्हारे इस प्रिय मधुर सोमरसका तुम हमारे होताकी तरह (सर्वप्रथम) पान करनेवाले ही हो, इस लिए हम (इस विषयमें) पुनः वार्तालाप करें।

[पाद २ और ३ का एकत्रित अन्वय करें। **होतेव**। होतृ नामक ऋत्विजके 'प्रथम भक्ष' के विषयमें दे. ५·४३·३; १०·९४·२ इत्यादि। गेल्डनरके मतानुसार एवं सायणभाष्यके अभिप्रायसे भी (मज्जीवनार्थम् अञ्जःसवाख्ये कर्मणि संपादितं...हविःस्वीकारादूर्ध्वं तृप्तस्त्वं जीवन्नहं च) इस ऋचामें प्रायश्चित्तार्थ अथवा रोगनिवारणार्थ किए जानेवाले सोमपानका उल्लेख है। इस लिए दे. १·१७९·५ और ८·४८·३, ११ इत्यादि। तथापि **मे मधु (तुभ्यं) प्रियम् आभृतं** शब्दोंके कारण, एवं तृतीय पादमें प्रयुक्त उपमासे भी, यह बात उचित नहीं जँचती। मधुभक्षणके अनन्तर मैं आपके संमुख अपनी इच्छा–आकांक्षाएँ प्रकट करूँगा यह भावार्थ।]

दर्शं नु विश्वदर्शतं दर्शं रथमधि क्षमि । एता जुषत मे गिरः ॥ १८ ॥

दर्शम् । नु । विश्वऽदर्शतम् । दर्शम् । रथम् । अधि । क्षमि । एताः । जुषत । मे । गिरः ॥१८॥

इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृळय त्वामवस्युरा चके ॥ १९ ॥

इमम् । मे । वरुण । श्रुधि । हवम् । अद्य । च । मृळय । त्वाम् । अवस्युः । आ । चके ॥ १९ ॥

त्वं विश्वस्य मेधिर दिवश्च ग्मश्च राजसि । स यामनि प्रति श्रुधि ॥ २० ॥

त्वम् । विश्वस्य । मेधिर । दिवः । च । ग्मः । च । राजसि । सः । यामनि । प्रति । श्रुधि॥२०॥

उदुत्तमं मुमुग्धि नो वि पाशं मध्यमं चृत । अवाधमानि जीवसे ॥२१॥

उत् । उत्ऽतमम् । मुमुग्धि । नः । वि । पाशम् । मध्यमम् । चृत । अव । अधमानि । जीवसे ॥२१॥

१८. सब प्रकारसे दर्शनीय इस वरुणको मुझे देखने दो । इसके पृथ्वीपर उतरे हुए रथको मुझे देखने दो । मेरी इन स्तुतिरूप वाणियोंको वह प्रसन्नतासे स्वीकार करे ।

१९. हे वरुण, मेरी इस पुकारको (ध्यानपूर्वक) सुनो और आज मुझपर कृपा करो । तुम्हारी कृपाकी आशासे मैं तुम्हारे (आगमन की) प्रतीक्षा कर रहा हूँ ।

२०. हे बुद्धिशाली वरुण, तुम इस संपूर्ण द्युलोक और पृथ्वीके अधिपति हो, इस लिये आते आते (तुम मेरी पुकारको) अवधानसे सुनो ।

२१. (और) हमारे ऊपरी पाशको ऊपरसे ही छोड़ो; मध्यके पाशको शिथिल करके छोड़ो; और नीचेके (बन्धनोंको भी) छोड़कर (फेंक दो) ताकि हम जीवित रह सकें ।

[**अधमानि** शब्दके बाद **बन्धनानि** पदका अध्याहार । दे. १·१६३·३-४. शुनःशेपके पाशोंका अग्निद्वारा विमोचन ५·२·७ में उल्लिखित है ।]

४

१·३२·१–१५ हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः ॥ इन्द्रः ॥ त्रिष्टुप् ॥

इस सूक्तमें वृत्र अथवा अहिके इन्द्रकृत वधका भावपूर्ण वर्णन है। इसमें विशेषतः वृत्रद्वारा किए गए आत्यन्तिक प्रतिकारका (ऋ. ६, ७), उसके द्वारा प्रयुक्त विविध अस्त्रोंका (ऋ. १३) उसके शस्त्रास्त्रोंके निवारणके लिए इन्द्रद्वारा धारण किए गए अश्वपुच्छके रूपका (ऋ. १२), उसकी सुरक्षाके कारण उसकी माता दानुके द्वारा किए गए आत्मसमर्पणका (ऋ. ९), तथा युद्धमें धराशायी होनेके उपरान्त उसकी मृत देहको अपने पादतलके नीचे रखकर आगे बढ़नेवाली बन्धमुक्त नदियोंका (ऋ. ८–९) क्रमहीन किन्तु नितान्त सुन्दर वर्णन है।

इन्द्र॑स्य॒ नु वी॒र्या॑णि॒ प्र वो॑चं॒ यानि॑ च॒कार॑ प्रथ॒मानि॑ व॒ज्री ।
अह॒न्नहि॒मन्व॒पस्त॑तर्द॒ प्र व॒क्षणा॑ अभिन॒त् पर्व॑तानाम् ॥ १ ॥

इन्द्र॑स्य । नु । वी॒र्या॑णि । प्र । वो॒च॒म् । यानि॑ । च॒कार॑ । प्र॒थ॒मानि॑ । व॒ज्री ।
अह॑न् । अहि॑म् । अनु॑ । अ॒पः । त॒त॒र्द॒ । प्र । व॒क्षणा॑ः । अ॒भि॒न॒त् । पर्व॑तानाम् ॥१॥

अह॒न्नहिं॒ पर्व॑ते शिश्रिया॒णं त्वष्टा॑स्मै॒ वज्रं॑ स्व॒र्यं॑ ततक्ष ।
वा॒श्रा इ॑व धे॒नवः॒ स्यन्द॑माना॒ अञ्जः॑ समु॒द्रमव॑ जग्मु॒राप॑ः ॥ २ ॥

अह॑न् । अहि॑म् । पर्व॑ते । शि॒श्रि॒या॒णम् । त्वष्टा॑ । अ॒स्मै॒ । वज्र॑म् । स्व॒र्य॑म् । त॒त॒क्ष॒ ।
वा॒श्राःऽइ॑व । धे॒नव॑ः । स्यन्द॑मानाः । अञ्ज॑ः । स॒मु॒द्रम् । अव॑ । ज॒ग्मुः॒ । आप॑ः ॥ २ ॥

---

१. वज्रधारी इन्द्रने जो प्रमुख वीरकर्म किए हैं उनकी अब मुझे घोषणा करने दो। उन्होंने अहिका वध किया, (अहिद्वारा रोकी गई) नदियोंको खोदकर बहाया, और पर्वतोंकी (जलवाहक) नसोंका भेदन किया।

[**वक्षणाः** (√वह्) अर्थात् पर्वतकी जलवाहक शिराएँ। दे. १·५७·६; १·१२१·११.]

२. पर्वतोंके ऊपर (नदियोंके मार्गमें) अवरोधरूप पड़े हुए अहिका इसने वध किया। त्वष्टाने इस इन्द्रके लिए (प्रहार करते समय) गर्जना करनेवाले वज्रका निर्माण किया। (अहिको मारनेके अनन्तर मुक्त हुई नदियोंकी वह) जलराशि सीधे बहते-बहते, रँभाती हुई गायें जिस प्रकार (अपने बछड़ेकी ओर जाती हैं) उसी प्रकार समुद्रमें पहुँचकर विलीन हो गई।

[उपमेय वाक्यके **समुद्रम्** पदके समकक्ष रूपमें उपमानवाक्यमें **शिशुम्** पदका अध्याहार आवश्यक है। दे. १०·७५·४.]

वृषायमाणोऽवृणीत सोमं त्रिकद्रुकेष्वपिबत्सुतस्य ।
आ सायकं मघवादत्त वज्रमहन्नेनं प्रथमजामहीनाम् ॥ ३ ॥

वृषऽयमाणः । अवृणीत । सोमम् । त्रिऽकद्रुकेषु । अपिबत् । सुतस्य ।
आ । सायकम् । मघऽवा । अदत्त । वज्रम् । अहन् । एनम् । प्रथमऽजाम् । अहीनाम् ॥३ ॥

यदिन्द्राहन् प्रथमजामहीनामान्मायिनाममिनाः प्रोत मायाः ।
आत् सूर्यं जनयन् द्यामुषासं तादीत्ना शत्रुं न किला विवित्से ॥ ४ ॥

यत् । इन्द्र । अहन् । प्रथमऽजाम् । अहीनाम् । आत् । मायिनाम् । अमिनाः । प्र । उत । मायाः ।
आत् । सूर्यम् । जनयन् । द्याम् । उषसम् । तादीत्ना । शत्रुम् । न । किल । विवित्से ॥ ४ ॥

अहन् वृत्रं वृत्रतरं व्यंसमिन्द्रो वज्रेण महता वधेन ।
स्कन्धांसीव कुलिशेना विवृक्णाहिः शयत उपपृक् पृथिव्याः ॥ ५ ॥

अहन् । वृत्रम् । वृत्रऽतरम् । विऽअंसम् । इन्द्रः । वज्रेण । महता । वधेन ।
स्कन्धांसिऽइव । कुलिशेन । विऽवृक्णा । अहिः । शयते । उपऽपृक् । पृथिव्याः ॥५॥

३. (अहिके वधके लिये) उन्मत्त वृषभकी तरह बर्ताव करके इन्द्रने सोमरसकी माँग की और त्रिकद्रुक नामक यज्ञमें पीसकर निचोड़े गए सोमरसका यथेच्छ पान किया। (उसके उपरान्त) उस मघवा (इन्द्र) ने अपने क्षेपणास्त्र वज्रको हाथमें धारण किया और अहियोंमें प्रथमोत्पन्न इस (वृत्र) का वध किया।

[त्रिकद्रुक एक (ज्योतिर्गौरायुः एतन्नामक) यागत्रयात्मक यज्ञका नाम है। कद्रु ऐसे एक पात्रका नाम है जिसमें सोमरस पिया जाता है। दे.८·४५·२६ संभव है कि इसीसे इस यज्ञको अभिधान प्राप्त हुआ होगा।]

४. हे इन्द्र, जिस समय तुमने अहियोंमें प्रथम उत्पन्न (वृत्र) का वध किया, और उन मायावियोंकी सभी मायाओंको शीघ्र ही पूर्णतया निःसत्त्व करके सूर्य, दिन और उषाको प्रकट होने दिया, उस समय ऐसा एक भी प्रतिद्वंद्वी तुम्हें नहीं मिला जो सचमुच तुम्हें मार सके।

[पूर्वार्ध में वृत्रवधका और उत्तरार्धमें वलवधका उल्लेख है।]

५. स्कन्ध विच्छिन्न होनेपर भी और अधिक जोशके साथ विरोध करनेवाले वृत्रका इन्द्रने अपने वज्र नामके महान् शस्त्रसे वध किया, उस समय वह अहि कुठारसे काटकर टुकड़े टुकडे किए हुए (वृक्षकी) छोटी बड़ी शाखाओंकी तरह धराको आलिंगन देकर पड़ा रहा।

[संदर्भ के अनुसार **वृत्रतरम्** और **व्यंसम्** (स्कन्ध विरहित अथवा भिन्नस्कन्ध) ये दोनों वृत्रके विशेषण हैं। चतुर्थ पादमें उपरोधात्मक वर्णन है। दे. क्षां दासायोपबर्हणीं कः १·१७४·७ और पृथिव्या आपृगमुया शयन्ते १०·८९·१४.]

अयोद्धेव दुर्मद आ हि जुह्वे महावीरं तुविबाधमृजीषम्।
नातारीदस्य समृतिं वधानां सं रुजानाः पिपिष इन्द्रशत्रुः ॥ ६ ॥

अयोद्धाऽइव। दुःऽमदः। आ। हि। जुह्वे। महाऽवीरम्। तुविऽबाधम्। ऋजीषम्।
न। अतारीत्। अस्य। सम्ऽऋतिम्। वधानाम्। सम्। रुजानाः। पिपिषे। इन्द्रऽशत्रुः ॥६॥

अपादहस्तो अपृतन्यदिन्द्रमास्य वज्रमधि सानौ जघान।
वृष्णो वध्रिः प्रतिमानं बुभूषन् पुरुत्रा वृत्रो अशयद्व्यस्तः ॥ ७ ॥

अपात्। अहस्तः। अपृतन्यत्। इन्द्रम्। आ। अस्य। वज्रम्। अधि। सानौ। जघान।
वृष्णः। वध्रिः। प्रतिऽमानम्। बुभूषन्। पुरुऽत्रा। वृत्रः। अशयत्। विऽअस्तः ॥ ७ ॥

नदं न भिन्नममुया शयानं मनो रुहाणा अति यन्त्यापः।
याश्चिद्वृत्रो महिना पर्यतिष्ठत्तासामहिः पत्सुतःशीर्बभूव ॥ ८ ॥

नदम्। न। भिन्नम्। अमुया। शयानम्। मनः। रुहाणाः। अति। यन्ति। आपः।
याः। चित्। वृत्रः। महिना। परिऽअतिष्ठत्। तासाम्। अहिः। पत्सुतःऽशीः। बभूव ॥८॥

६. क्योंकि, मिथ्या अभिमान रखते हुए किसी नामधारी योद्धाकी तरह उस वृत्रने इस सीधे आक्रमण करनेवाले, अनेक शत्रुओंको धराशायी करानेवाले, महापराक्रमी वीर (इन्द्र) को ललकारा, (परन्तु बादमें) इसके शस्त्रप्रहारके सामने वह टिक न सका, (और) इन्द्रने जिसे काट दिया वह वृत्र मुखनासिका-भग्न होकर पूर्णतः मसल दिया गया।

[**संपिपिषे** 'पिष्ट हो गया; चूर चूर हुआ'। **रुजानाः** = रुजा + अनास् 'आघातसे नासाविरहित'। दे. अनासो दस्यूँरमृणो वधेन ५·२९·१०.]

७. पैरों तथा हाथोंके न होने पर भी वृत्रने, (इस अहिने), इन्द्रके साथ युद्ध जारी ही रखा। (फिर तो इन्द्रने अपने वज्रका उसके सिरपर जोरसे प्रहार किया, उसी क्षण) उन्मत्त वृषभकी बराबरीकी इच्छा रखनेवाला यह बधिया बैल, यह वृत्र, (टुकड़े टुकड़े हो कर) जहाँ तहाँ कई स्थानोंपर बिखर गया।

८. इस प्रकार गर्जना करनेवाले परन्तु (युद्धमें) व्रणोंसे विदीर्ण बैलकी तरह जमीनपर पड़े हुए वृत्रके ऊपरसे (उन मुक्त नदियोंकी) जलराशि मनरूपी रथपर आरोहण करके उस पार बह रही है। जिन नदियोंको इस वृत्र अहिने (अपने शरीरके) विस्तारसे रोक दिया था, उन्हीं नदियोंके पादतले अब वह पड़ा हुआ है।

[**नद** 'नाद करके आह्वान देनेवाला (वृषभ)'; दे. ८·६९·२ (नदं व ओदतीनां नदं योयुवतीनाम्। पतिं वो अघ्न्यानाम्)। **मनो रुहाणाः** 'मनरूपी रथके ऊपर आरोहण करके'। दे. आ रोहतायुः १०·१८·६; श्लोकमा रोहसे दिवि १·५१·१२.]

नीचावया अभवद्वृत्रपुत्रेन्द्रो अस्या अव वधर्जभार ।
उत्तरा सूरधरः पुत्र आसीद्दानुः शये सहवत्सा न धेनुः ॥ ९ ॥

नीचाऽवयाः । अभवत् । वृत्रऽपुत्रा । इन्द्रः । अस्याः । अव । वधः । जभार ।
उत्ऽतरा । सूः । अधरः । पुत्रः । आसीत् । दानुः । शये । सहऽवत्सा । न । धेनुः ॥ ९ ॥

अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम् ।
वृत्रस्य निण्यं वि चरन्त्यापो दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः ॥ १० ॥

अतिष्ठन्तीनाम् । अनिऽवेशनानाम् । काष्ठानाम् । मध्ये । निऽहितम् । शरीरम् ।
वृत्रस्य । निण्यम् । वि । चरन्ति । आपः । दीर्घम् । तमः । आ । अशयत् । इन्द्रऽशत्रुः॥१०॥

दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन्निरुद्धा आपः पणिनेव गावः ।
अपां बिलमपिहितं यदासीद्वृत्रं जघन्वाँ अप तद्ववार ॥ ११ ॥

दासऽपत्नीः । अहिऽगोपाः । अतिष्ठन् । निऽरुद्धाः । आपः । पणिनाऽइव । गावः ।
अपाम् । बिलम् । अपिऽहितम् । यत् । आसीत् । वृत्रम् । जघन्वान् । अप । तत् । ववार ॥११॥

---

९. (उस समय दानु अपने पुत्रकी रक्षाके लिए आगे बढ़ी; लेकिन शीघ्र ही) उस वृत्रकी माताकी शक्ति क्षीण हो गई । (इतनेमें ही) इन्द्रने अपना शस्त्र नीचे लाकर उसपर मारा । (और फिर उस समय) नीचे पुत्र था, और उसके ऊपर उसकी माता, दानु, बछड़े सहित (नीचे गिरी हुई) गायकी तरह, पड़ी रही ।

[**दानुः**। वृत्रकी माताका यह नाम ३·३०·८ में भी उल्लिखित है। किंतु अन्य स्थलोंमें यह नाम पुल्लिंगमें प्रयुक्त होकर सर्वसाधारण दस्युओंको दिया गया है।]

१०. (मार्गमें) क्षणभर भी स्थिर न रहनेवाले, कहीं भी पड़ाव डालकर न रुकनेवाले, स्वीय प्रवाहोंके बीचमें फेंके गए वृत्रके आवृत शरीरको नाना प्रकारसे रगडती हुई वे नदियाँ उस पार जाती हैं। इन्द्रने जिसका वध किया वह वृत्र अब चिरंतन अंधकार रूपी निद्राका अनुभव ले रहा है।

[**काष्ठा** शब्दसे अचेतन नदीप्रवाहोंका तथा **आपः** शब्दसे उनके अधिष्ठाता देवियोंका उल्लेख यहाँ अभिप्रेत है। ऋ. ८ और ११ में भी **आपः** शब्दसे सचेतन आपो देवियाँ अभिप्रेत हैं। **निण्यं** 'नीचस्थ, गुह्य'। दे. **पत्सुतः-शीः** (ऋ. ८)। **वि चरन्ति** शब्द **अति यन्ति** (ऋ. ८) शब्दसे समानार्थक है। **दीर्घं तमः** यह शब्दयुगल **दीर्घनिद्रा** अर्थात् मृत्युको उपलक्षित करता है। दीर्घाः तमिस्राः (२·२७·१४) भी **दीर्घं तमः** का समानार्थक है। दे. पणय : ससन्तवबुध्यमानास्तमसो विमध्ये ४·५१·३ ।]

११. ये नदियाँ दासोंको अपना स्वामी मानकर तथा अहिको अपना संरक्षक स्वीकार करके उनके द्वारा, जैसे (वल नामक) पणिसे देवोंकी गायें रोकी जातीं, उसी प्रकार, रोकी गई थीं।

अश्व्यो॒ वारो॑ अभव॒स्तदि॑न्द्र सृ॒के यत्त्वा॑ प्र॒त्यह॑न् दे॒व एकः॑ ।

अज॑यो॒ गा अज॑यः शूर॒ सोम॒मवा॑सृ॒जः सर्त॑वे स॒प्त सिन्धू॑न् ॥ १२ ॥

अश्व्यः॑ । वारः॑ । अ॒भ॒वः॒ । तत् । इ॒न्द्र॒ । सृ॒के । यत् । त्वा॒ । प्र॒ति॒ऽअह॑न् । दे॒वः । एकः॑ ।

अज॑यः । गाः । अज॑यः । शू॒र॒ । सोम॑म् । अव॑ । अ॒सृ॒जः॒ । सर्त॑वे । स॒प्त । सिन्धू॑न् ॥ १२ ॥

नास्मै॑ वि॒द्युन्न त॑न्य॒तुः सि॑षेध॒ न यां मिह॒मकि॑रद्ध्रा॒दुनिं॑ च ।

इन्द्र॑श्च॒ यद्यु॑यु॒धाते॒ अहि॑श्चो॒ताप॒रीभ्यो॑ म॒घवा॒ वि जि॑ग्ये ॥ १३ ॥

न । अ॒स्मै॒ । वि॒ऽद्युत् । न । त॒न्य॒तुः । सि॒से॒ध॒ । न । याम् । मिह॑म् । अकि॑रत् । ह्रा॒दुनि॑म् । च॒ ।

इन्द्रः॑ । च॒ । यत् । यु॒यु॒धाते॒ इति॑ । अहिः॑ । च॒ । उ॒त । अ॒प॒रीभ्यः॑ । म॒घऽवा॑ । वि । जि॒ग्ये॒ ॥ १३ ॥

(लेकिन) इन्द्रने वृत्रका वध करके (उसने) नदियोंकी जो गुहा बन्द कर रखी थी उसको पूर्ण रूपसे खोल दिया ।

[इस ऋचाकी उपमामें उल्लिखित पणि वल ही होगा। दे. ६·३९·२ । इसी लिए वलकी कथामें साधारणतया प्रयुक्त **बिल** शब्दका प्रयोग कविने वृत्रके इस प्रकरणमें किया है ।]

१२. जिस समय शत्रुने तुम्हारे वज्रपर ही उलटकर वार किया उस समय हे इन्द्र, अद्वितीय देव होकर (अपनी मायासे) तुमने एकदम घोड़ेकी पूँछका रूप धारण किया (और) हे शूर देव, तुम (देवोंकी) गायें जीतकर सोमको भी जीतकर लाये । वैसे ही सात नदियोंको बहनेके लिए पृथ्वीपर नीचे छोड़ दिया ।

[अपनी मायाओंकी सामर्थ्यसे इन्द्र अनेक रूप धारण कर सकता है। इसी लिए उसको **पुरुरूपः** (६·४७·१८), अथवा **वर्पणीतिः** (३·३४·३) कहते हैं। प्रस्तुत संदर्भमें इन्द्रने अश्वपुच्छका रूप धारण करके वृत्रके शस्त्रसे अपनेको बचाया। **देव एकः** शब्दोंका स्वाभाविक अन्वय **अभवः** क्रियापदसे होता है। प्रथम पादमें प्रारंभ किये गए **अश्व्यो वारः अभवः** यह मुख्य वाक्य प्रासंगिक **सृके यत् त्वा प्रत्यहन्** इस उपवाक्यसे विघटित हुआ। अब यह मुख्य वाक्य **देव एकः** शब्दोंके द्वारा उत्तरार्धमें पूर्ण होनेके लिए आगे बढता है। प्रथम पादमें इन्द्रकी मायाशक्ति, द्वितीय पादमें **देव एकः** शब्दोंसे इसका समर्थन, और उत्तरार्धमें इन्द्रकी अपेक्षित विजयका वर्णन किया गया है। **सृक** इन्द्रके वज्रका नाम है। दे. १०·१८०·२ (सृकं संशाय पविमिन्द्र)। **अजयो गाः**। वास्तवमें वह वलवधका कार्य है। किंतु कविने वृत्रवध वर्णनमें ही उसका समावेश किया है। इस प्रकारका संमिश्र वर्णन ३·४४·५; ८·३·२० आदि अन्य स्थलोंमें भी दिखाई देता है।]

१३. बिजली और मेघगर्जना, उसी प्रकार उनके द्वारा फैलाया हुआ कुहासा और उपलवृष्टि, इनमेंसे किसीका भी प्रयोग (इन्द्रपर) सफल नहीं हुआ। और जिस समय इन्द्र तथा अहि आपसमें युद्ध कर रहे थे उस समय दानवीर इन्द्रने (अपने शत्रुओंपर) आगामी अनन्तकालके लिए विजय प्राप्त की ।

[द्वितीय पादमें **सापि सिषेध** इन शब्दोंका अध्याहार वाक्यको पूर्ण करनेके लिए आवश्यक है। **अपरीभ्यः** शब्दके पश्चात् **रात्रिभ्यः** शब्दका अध्याहार करें। दे. **अपरीषु** १०·११७·३)]

अहेर्यातारं कमपश्य इन्द्र हृदि यत्ते जघ्नुषो भीरगच्छत् ।
नव च यन्नवतिं च स्रवन्तीः श्येनो न भीतो अतरो रजांसि ॥ १४ ॥

अहेः । यातारम् । कम् । अपश्यः । इन्द्र । हृदि । यत् । ते । जघ्नुषः । भीः । अगच्छत् ।
नव । च । यत् । नवतिम् । च । स्रवन्तीः । श्येनः । न । भीतः । अतरः । रजांसि ॥१४॥

इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा शमस्य च शृङ्गिणो वज्रबाहुः ।
सेदु राजा क्षयति चर्षणीनामरान्न नेमिः परि ता बभूव ॥ १५ ॥

इन्द्रः । यातः । अवऽसितस्य । राजा । शमस्य । च । शृङ्गिणः । वज्रऽबाहुः ।
सः । इत् । ऊँ इति । राजा । क्षयति । चर्षणीनाम् ।
अरान् । न । नेमिः । परि । ता । बभूव ॥ १५ ॥

१४. शत्रुका वध करने पर भी तुम्हारे अन्तःकरणमें भयने प्रवेश किया और निन्यानबे नदियों (और उनपर बसे हुए) प्रदेशोंपरसे, (उस सोमको ले आनेवाले) भयभीत श्येन पक्षीकी तरह तुम उस पार चले गए! प्रश्न है कि बदला लेनेवाले अहिके किस अनुयायीको तुमने देखा?

[**यातारम्** (√**या** 'हमला करना' दे. **यावन्** ७·१·५) 'योद्धा'। द्वितीय पादमें वर्णित इन्द्रके पलायनकी कथा विशेषतः ब्राह्मण ग्रन्थोंमें दिखाई पड़ती है। दे. ऐ. ब्रा. ३·१५; श. ब्रा. १·६·४·१; तै. सं. ६·५·५·२; तै. ब्रा. १·६·७·४। चतुर्थ पादमें उपमानभूत श्येन, स्वर्गसे सोमवल्लीको ले आनेवाला श्येन ही है यह **भीतः** पदसे अनुमित हो सकता है। दे. ४·२६·५; ४·२७·३–४; ८·८२·९; ९·७७·२ इत्यादि।]

१५. यह वज्रबाहु इन्द्र जंगम और स्थावरके साथ साथ पालतू और (तीक्ष्ण) सींगोवाले (जंगली) जानवरोंका भी राजा है। यही (एक) राजा सब लोगोंपर राज्य करता है (और) जिस प्रकार चक्रका परिध भीतरी आराओंकी, उसी प्रकार उनके चारों ओर रहकर वह उनकी रक्षा करता है।

[**शृङ्गिन्** का विरोधी है **शम**। इस लिए शृङ्गिन् शब्दका शृङ्गवाला अर्थात् 'सुतीक्ष्ण शृङ्गवाला' यह अर्थ अभिप्रेत है। **परि बभूव** दे. १·१·४ में **परिभू** पर टिप्पणी.]

५

१·३५·१–११ हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः ॥ १ अग्निर्मित्रावरुणौ रात्री सविता । २–११ सविता ॥ १, ९ जगती । २–८, १०, ११ त्रिष्टुप् ॥

सूर्यास्तके साथ साथ निशाप्रारम्भके समय, एवं उनका अधिष्ठाता सविता देव, इन दोनोंकी स्तुति इस सूक्तमें की गई है। प्रथम ऋचामें रात्रिका उल्लेख हुआ है और उसके तमोमय विस्तारका निर्देश भी 'कृष्णं रजः' शब्दोंसे तीन ऋचाओंमें (२, ४, ९) किया गया है। कविका आशय है कि अखिल प्राणिमात्रोंको विश्रामका आदेश देते देते यह सविता देव अपने सुवर्णमय रथपर आरूढ होकर अपने श्यामवर्ण किन्तु तेजस्वी अश्वोंको प्रेरणा देते हुए रसातलके तमोमय प्रदेशोंमेंसे पश्चिम दिशाको छोड़कर पूर्वदिशाकी ओर प्रातःकालमें आता रहता है। उस समयके सविताका तेजका वर्णन 'कृष्णं पाजः' शब्दोंसे (१·११५·५) तथा रात्रिका वर्णन 'कृष्णम् अहर्' शब्दोंसे (६·९·१) अन्यत्र भी मिलता है। सूर्यास्त समयका और भी वर्णन आगे २·३८ सूक्तमें है।

ह्वयाम्यग्निं प्रथमं स्वस्तये ह्वयामि मित्रावरुणाविहावसे ।
ह्वयामि रात्रीं जगतो निवेशनीं ह्वयामि देवं सवितारमूतये ॥ १ ॥

ह्वयामि । अग्निम् । प्रथमम् । स्वस्तये । ह्वयामि । मित्रावरुणौ । इह । अवसे ।
ह्वयामि । रात्रीम् । जगतः । निऽवेशनीम् । ह्वयामि । देवम् । सवितारम् । ऊतये ॥ १ ॥

आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च ।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् ॥ २ ॥

आ । कृष्णेन । रजसा । वर्तमानः । निऽवेशयन् । अमृतम् । मर्त्यम् । च ।
हिरण्ययेन । सविता । रथेन । आ । देवः । याति । भुवनानि । पश्यन् ॥ २ ॥

१. कल्याणकी कामनासे मैं सर्व प्रधान अग्निको निमंत्रित करता हूँ। मित्रावरुणको भी उनके अनुग्रहके लिए निमंत्रित करता हूँ। संपूर्ण जगत्को विश्राम देनेवाली रात्रिको निमंत्रित करता हूँ। और सविता देवको अपनी सुरक्षाके लिए निमंत्रित करता हूँ।

[**जगतो निवेशनीम्** दे. आगे १०·१२७·४, ५. एवं सविता देव अपने तेजोंसे जगत्को निशा-समयमें विश्राम देकर प्रातःकालमें उसे क्रियाप्रवण भी करता है। दे. निवेशयन् प्रसुवन्नक्तुभिर्जगत् ४·५३·३.]

२. अमर्त्य और मर्त्यको विश्राम लेनेके लिए विवश करते हुए और कृष्ण वर्ण प्रदेशोंसे आगे आगे सरकते हुए अपने सुवर्णमय रथमें बैठकर देव सविता प्राणिमात्रोंका निरीक्षण करते हुए आ रहे हैं।

याति देवः प्रवता यात्युद्वता याति शुभ्राभ्यां यजतो हरिभ्याम् ।
आ देवो याति सविता परावतोऽप विश्वा दुरिता बाधमानः ॥ ३ ॥

याति । देवः । प्रऽवता । याति । उत्ऽवता । याति । शुभ्राभ्याम् । यजतः । हरिऽभ्याम् ।
आ । देवः । याति । सविता । पराऽवतः । अप । विश्वा । दुःऽइता । बाधमानः ॥ ३ ॥

अभीवृतं कृशनैर्विश्वरूपं हिरण्यशम्यं यजतो बृहन्तम् ।
आस्थाद्रथं सविता चित्रभानुः कृष्णा रजांसि तविषीं दधानः ॥ ४ ॥

अभिऽवृतम् । कृशनैः । विश्वऽरूपम् । हिरण्यऽशम्यम् । यजतः । बृहन्तम् ।
आ । अस्थात् । रथम् । सविता । चित्रऽभानुः । कृष्णा । रजांसि । तविषीम् । दधानः ॥४॥

वि जनाञ्छ्यावाः शितिपादो अख्यन् रथं हिरण्यप्रउगं वहन्तः ।
शश्वद्विशः सवितुर्दैव्यस्योपस्थे विश्वा भुवनानि तस्थुः ॥ ५ ॥

वि । जनान् । श्यावाः । शितिऽपादः । अख्यन् । रथम् । हिरण्यऽप्रउगम् । वहन्तः ।
शश्वत् । विशः । सवितुः । दैव्यस्य । उपऽस्थे । विश्वा । भुवनानि । तस्थुः ॥ ५ ॥

---

३. अति दूरस्थ स्थानसे (निकलकर) यह पूज्य सविता देव ढालुवें और ऊँचे स्थानोंपरसे अपने तेजस्वी घोड़ोंकी सहायतासे सभी संकटोंको दूर करते हुए आ रहा है ।

४. सुन्दर तेजसे युक्त यह पूज्य सविता अपनी सामर्थ्य प्रकट करते हुए और अपनी सुवर्णमय शम्याओंसे सुशोभित तथा मुक्तामण्डित सर्वसुन्दर विशाल रथमें बैठकर कृष्णवर्ण प्रदेशोंमेंसे आगे बढ़ रहा है ।

[**आ अस्थात्** का अन्वय **रजांसि** और **रथम्** इन दोनोंके साथ करना आवश्यक है । दे.ऋ.२औरए.]

५. (इस देवके) सुवर्णमय जुएसे मण्डित रथको खींचनेवाले, शुभ्रवर्ण खुरोंवाले कृष्णवर्ण अश्वोंने लोगोंका चारों ओरसे निरीक्षण किया है । अब जहाँ-तहाँ इस दैवी सविताकी गोदमें लोग और समग्र प्राणिमात्र विश्रामसुखका अनुभव करते हैं ।

[**श्यावाः** अर्थात् **अश्वाः** । **वि अख्यन्** रात्रिके समयमें प्राणिमात्र आवश्यक विश्रान्ति लें इस लिए उस देवके अश्व भी सूक्ष्म निरीक्षण करते रहते हैं ।]

तिस्रो द्यावः सवितुर्द्वा उपस्थाँ एका यमस्य भुवने विराषाट् ।
आणिं न रथ्यममृताधि तस्थुरिह ब्रवीतु य उ तच्चिकेतत् ॥ ६ ॥

तिस्रः । द्यावः । सवितुः । द्वौ । उपऽस्था । एका । यमस्य । भुवने । विराषाट् ।
आणिम् । न । रथ्यम् । अमृता । अधि । तस्थुः । इह । ब्रवीतु । यः । ऊँ इति । तत् । चिकेतत् ॥६॥

वि सुपर्णो अन्तरिक्षाण्यख्यद्गभीरवेपा असुरः सुनीथः ।
क्वेदानीं सूर्यः कश्चिकेत कतमां द्यां रश्मिरस्या ततान ॥ ७ ॥

वि । सुऽपर्णः । अन्तरिक्षाणि । अख्यत् । गभीरऽवेपाः । असुरः । सुऽनीथः ।
क्व । इदानीम् । सूर्यः । कः । चिकेत । कतमाम् । द्याम् । रश्मिः । अस्य । आ । ततान ॥७॥

अष्टौ व्यख्यत् ककुभः पृथिव्यास्त्री धन्व योजना सप्त सिन्धून् ।
हिरण्याक्षः सविता देव आगाद्दधद्रत्ना दाशुषे वार्याणि ॥ ८ ॥

अष्टौ । वि । अख्यत् । ककुभः । पृथिव्याः । त्री । धन्व । योजना । सप्त । सिन्धून् ।
हिरण्यऽअक्षः । सविता । देवः । आ । अगात् । दधत् । रत्ना । दाशुषे । वार्याणि ॥ ८ ॥

६. तीन स्वर्गोंमेंसे दो सविताकी गोदके रूपमें प्रसिद्ध हैं । और एक (तीसरा) वीर योद्धाओंपर प्रभुत्व स्थापित करनेवाला यमलोक है। जिस प्रकार रथचक्र अपनी आणियोंपर सुरक्षित रूपमें अधिष्ठित रहता है उस प्रकार सभी अमर्त्य प्रजा इस सवितापर अधिष्ठित रहती है । यह सब रहस्य यदि किसीको ज्ञात हो तो वह सामने आकर कहे ।

[**विराषाट्** (वीर + √सह्) 'वीरोंको भी परास्त करनेवाला'। दे. **भुरिषाट्** ९·८८·२ । इन दोनों शब्दोंमें दीर्घके स्थानमें ह्रस्व स्वरका प्रयोग आर्ष समझना चाहिए। पाद ३ । **रथ्यम्** अर्थात् रथका चक्र । **आणिम्** चक्रको अक्षसे अलग न होने देनेवाले कीलककी यह संज्ञा ।]

७. तीक्ष्ण प्रतिभासंपन्न, महापराक्रमी, उत्तम पथप्रदर्शक ऐसा यह सवितारूपी सुपर्ण अंतरिक्ष के प्रदेशोंका सब प्रकारसे निरीक्षण कर रहा है । इस क्षणमें सूर्य कहाँ है और उसकी किरणें किस स्वर्ग लोकके ऊपर फैली हुई हैं इसे कौन सही रूपमें जानता है ?

[**गभीरवेपाः । वेपस्** (√विप्; दे. विप्र) 'बुद्धि, प्रतिभा'। इस ऋचामें विधाता सविता उसके विधेय तेजोगोलरूप सूर्यसे भिन्न माना गया है। दे. ऋ. ९ पाद ३.]

८. उसने पृथ्वीके आठों शिखरों, तथा तीन योजनोंतक फैले हुए समतल प्रदेशों, और सातों नदियोंका सब प्रकारसे निरीक्षण किया है । सुवर्णमय नेत्रोंवाला यह सविता देव दाता यजमानको लुभावने और सुन्दर उपहार देते-देते आया है ।

[वेदमें ककुभ् शब्दका अर्थ साधारणतया 'शिखर, अत्युच्च बिन्दु' है। पृथिवीके आठ ककुभ् माने जाते हैं ।]

हिरण्यपाणिः सविता विचर्षणिरुभे द्यावापृथिवी अन्तरीयते ।
अपामीवां बाधते वेति सूर्यमभि कृष्णेन रजसा द्यामृणोति ॥ ९ ॥

हिरण्यऽपाणिः । सविता । विऽचर्षणिः । उभे इति । द्यावापृथिवी इति । अन्तः । ईयते ।
अप । अमीवाम् । बाधते । वेति । सूर्यम् । अभि । कृष्णेन । रजसा । द्याम् । ऋणोति ॥९॥

हिरण्यहस्तो असुरः सुनीथः सुमृळीकः स्ववाँ यात्वर्वाङ् ।
अपसेधन् रक्षसो यातुधानानस्थाद्देवः प्रतिदोषं गृणानः ॥ १० ॥

हिरण्यऽहस्तः । असुरः । सुऽनीथः । सुऽमृळीकः । स्वऽवान् । यातु । अर्वाङ् ।
अपऽसेधन् । रक्षसः । यातुऽधानान् । अस्थात् । देवः । प्रतिऽदोषम् । गृणानः ॥१०॥

ये ते पन्थाः सवितः पूर्व्यासोऽरेणवः सुकृता अन्तरिक्षे ।
तेभिर्नो अद्य पथिभिः सुगेभी रक्षा च नो अधि च ब्रूहि देव ॥ ११ ॥

ये । ते । पन्थाः । सवितरिति । पूर्व्यासः । अरेणवः । सुऽकृताः । अन्तरिक्षे ।
तेभिः । नः । अद्य । पथिऽभिः । सुऽगेभिः । रक्ष । च । नः । अधि । च । ब्रूहि । देव ॥११॥

९. यह सुवर्णमय हाथोंवाला क्रियाशील सविता आकाश और पृथिवी इन दोनोंके मध्यमें भ्रमण करता रहता है। वह व्याधियोंका निवारण करता है, सूर्यको प्रेरणा देता है, और इस कृष्णवर्ण प्रदेशमेंसे स्वर्गलोककी ओर शीघ्र गतिसे जा रहा है।

[**द्यामभि ऋणोति** 'स्वर्गकी ओर जाता है।' दे. ३·१·४. **सूर्यम्** अर्थात् सूर्यबिम्बको। **वेति** √**वी** धातुका अर्थ 'आनन्दके साथ पास पहुँचना; प्रेरित करना'।]

१०. सुवर्णमय हाथोंवाला महापराक्रमी, उत्तम पथप्रदर्शक, परम कारुणिक और स्वयंसिद्ध यह सविता हमारी ओर आये। यातुधानों और राक्षसोंका निवारण करते-करते हमारे द्वारा संस्तुत यह देव प्रतिदिन रात्रिके प्रारम्भमें उपस्थित होता है।

[**स्ववान्** (स्व + वान् – पदपाठ और सायणाचार्य) किंतु पाणिनि ७·१·८३ सूत्र के अनुसार यह **स्ववस्** (सु + अवस्) शब्दका प्रथमा–एकवचनका रूप है।]

११. हे सविता, जो तुम्हारे उत्तम रूपमें निर्मित, धूलिविरहित और अन्तरिक्षमेंसे जानेवाले प्राचीन तथा सुगम मार्ग हैं उन परसे आज (यहाँ आकर) हे देव, हमारी रक्षा करो और हमारी ओरसे (आदित्योंके पास) संस्तुति करो।

[**अरेणवः पन्थाः** 'रजोहीन मार्ग'। दे. १·१६३·६; ६·६२·६.]



६

१·४८·१—१६ प्रस्कण्वः काण्वः ॥ उषाः ॥ प्रगाथः=(विषमा) बृहती (समा) सतोबृहती ॥

सह वामेन न उषो व्युच्छा दुहितर्दिवः ।
सह द्युम्नेन बृहता विभावरि राया देवि दास्वती ॥ १ ॥

सह । वामेन । नः । उषः । वि । उच्छ । दुहितः । दिवः ।
सह । द्युम्नेन । बृहता । विभाऽवरि । राया । देवि । दास्वती ॥ १ ॥

अश्वावतीर्गोमतीर्विश्वसुविदो भूरि च्यवन्त वस्तवे ।
उदीरय प्रति मा सूनृता उषश्चोद राधो मघोनाम् ॥ २ ॥

अश्वऽवतीः । गोऽमतीः । विश्वऽसुविदः । भूरि । च्यवन्त । वस्तवे ।
उत् । ईरय । प्रति । मा । सूनृताः । उषः । चोद । राधः । मघोनाम् ॥ २ ॥

उवासोषा उच्छाच्च नु देवी जीरा रथानाम् ।
ये अस्या आचरणेषु दध्रिरे समुद्रे न श्रवस्यवः ॥ ३ ॥

उवास । उषाः । उच्छात् । च । नु । देवी । जीरा । रथानाम् ।
ये । अस्याः । आऽचरणेषु । दध्रिरे । समुद्रे । न । श्रवस्यवः ॥ ३ ॥

---

१. हे द्युदेवकन्ये उषे, अपने साथ संपत्ति, विपुल वैभव और धन लाकर, हे तेजःपुञ्ज देवि तुम हमारे ऊपर प्रकाशित हो। तुम वदान्य हो।

२. (इसके पूर्वकी) उषा देवियोंने अश्व और गायें साथ लाकर और हमें सब प्रकारके (धन) सुलभ रीतिसे प्राप्त कराकर प्रकाशित होनेके लिए (अपने मूल स्थानसे) बहुत दूर तक प्रवास किया है। हे उषे, तुम अपनी दयालु वृत्तियोंको (अपने अन्तःकरणसे) ऊपर प्रवृत्त करो; तथा हमारे दानशील यजमानके दातृत्वको भी प्रेरणा दो।

[**च्यवन्त** । **ऊतये** अथवा **अवसे** पदका अध्याहार आवश्यक है। दे. ऋ. १४ एवं ८·९२·७ ८·९५·२ । सूनृताः । दे. ३·६१·२ पर टिप्पणी ।]

३. यह उषादेवी पहले भी प्रकाशित हुई है और जिस प्रकार कीर्ति अर्जित करनेकी अभिलाषा रखनेवाले (विदेशमें व्यापार करनेवाले) व्यापारी समुद्र (की आगमन-वेला) में उपस्थित

उषो ये ते प्र यामेषु युञ्जते मनो दानाय सूरयः ।
अत्राह तत् कण्व एषां कण्वतमो नाम गृणाति नृणाम् ॥ ४ ॥

उषः । ये । ते । प्र । यामेषु । युञ्जते । मनः । दानाय । सूरयः ।
अत्र । अह । तत् । कण्वः । एषाम् । कण्वऽतमः । नाम । गृणाति । नृणाम् ॥ ४ ॥

आ घा योषेव सूनर्युषा याति प्रभुञ्जती ।
जरयन्ती वृजनं पद्वदीयत उत्पातयति पक्षिणः ॥ ५ ॥

आ । घ । योषाऽइव । सूनरी । उषाः । याति । प्रऽभुञ्जती ।
जरयन्ती । वृजनम् । पत्ऽवत् । ईयते । उत् । पातयति । पक्षिणः ॥ ५ ॥

रहते हैं उसी प्रकार जो रथ उसके (उषाके) आगमनके समयमें उपस्थित होंगे, उनकी अभिवृद्धि करनेवाली होकर वह आगे भी प्रकाशित होती रहे ।

[**समुद्रे** अर्थात् ज्वार अथवा उच्च वेलाके समयमें । यह माना जाता है कि **श्रवस्यवः** पदसे यहां दर्याविहारी वणिजोंका उल्लेख किया गया है । किन्तु प्रायः १.५६.२ एवं ४.५५.६ इन ऋचाओंमें प्रयुक्त **सनिष्यवः** पदसे इस पदके समानार्थक होनेके कारण, और इन तीन ऋचाओंमें **संचरण-आचरण** पदके प्रयोगके आधारपर इनमें सर्वत्र नदियोंका ही उल्लेख है यह अधिक संभवनीय है । समुद्रकी उच्च वेलाके समय जो नदियां उसके संमुख ठहरती हैं उनकी वह पानीके द्वारा अभिवृद्धि करता है । **आचर्** धातुका अर्थ ' अव्यभिचारितया सेवा करना ' है । प्रस्तुत ऋचामें **आचरण** पदका अर्थ ' नियमितरूपसे आगमन ' है ।]

४. इस समय, हे उषादेवि, तुम्हारे आगमनोंके प्रसंगमें जो हमारे यजमान दान देनेके लिए अपने मनको जोतते हैं उन वीर पुरुषोंका नाम (गोत्र) यह कण्वकुलावंतस कण्वऋषि गा रहा है ।

[**मनो युञ्जते** । दे. **रथं युञ्जते मरुतः शुभे** ५.६३.५ । मनपर रथका आरोप यहां है । वेदोत्तर वाङ्मयमें मनोरथ शब्द सुप्रसिद्ध है ।]

५. यह उषा किसी दयालु तरुणीकी तरह अपनी कृपाको समर्पित करते हुए आ रही है । पादातिक प्राणिमात्रको वृद्धत्वकी ओर ले चलते चलते वह आगे बढ़ रही है, और पक्षियोंको (अपने घोंसलोंसे चारेकी टोहमें) उड़नेकी प्रेरणा दे रही है ।

[**पद्वत्** शब्दमें पद्से द्विपाद् और चतुष्पाद् ये दोनों अभिप्रेत हैं । दे. १.४९.३; १०.१२७.५; **जरयन्ती** दे. ७.७५.५]

वि या सृजति समनं व्य१र्थिनः पदं न वेत्योदती ।
वयो नकिष्टे पप्तिवांस आसते व्युष्टौ वाजिनीवति ॥ ६ ॥
वि । या । सृजति । समनम् । वि । अर्थिनः । पदम् । न । वेति । ओदती ।
वयः । नकिः । ते । पप्तिऽवांसः । आसते । विऽउष्टौ । वाजिनीऽवति ॥ ६ ॥

एषायुक्त परावतः सूर्यस्योदयनादधि ।
शतं रथेभिः सुभगोषा इयं वि यात्यभि मानुषान् ॥ ७ ॥
एषा । अयुक्त । पराऽवतः । सूर्यस्य । उत्ऽअयनात् । अधि ।
शतम् । रथेभिः । सुऽभगा । उषाः । इयम् । वि । याति । अभि । मानुषान् ॥७॥

विश्वमस्या नानाम चक्षसे जगज्ज्योतिष्कृणोति सूनरी ।
अप द्वेषो मघोनी दुहिता दिव उषा उच्छदप स्रिधः ॥ ८ ॥
विश्वम् । अस्याः । ननाम । चक्षसे । जगत् । ज्योतिः । कृणोति । सूनरी ।
अप । द्वेषः । मघोनी । दुहिता । दिवः । उषाः । उच्छत् । अप । स्रिधः ॥ ८ ॥

---

६. जो उषा एकत्र रहनेवाले (किन्तु भिन्न-भिन्न) उद्देश्यवाले जनसमूहको (याने कुटुम्बी लोगोंको) अलग-अलग दिशाओंमें जानेकी प्रेरणा देती है उस उत्साहपूर्ण उषाको (अपने सुदीर्घ प्रवासमें भी) विश्रामस्थानकी इच्छा नहीं रहती । श्रेष्ठ उपहारोंसे परिपूर्ण (हे उषे), तुम्हारे इस उदयकालमें उड़नेमें समर्थ कोई भी पक्षी (अपने घोंसलेमें) बैठा नहीं रहता ।

[**समनं** पदसे रातके समयमें एकत्रस्थित पथिकोंका और **अर्थिनः** पदसे एक कुटुम्बके अनेक व्यवसाय करनेवाले (९·११२·१) मनुष्योंका उल्लेख उद्दिष्ट है। **पदं** शब्दसे तनिक विश्रामके स्थलका निर्देश उद्दिष्ट है। **ओदती** (उद् = उन्द् ' क्लिन्न होना; अत्युत्सुक होना ')। अत्यन्त उत्सुक यह उषा न स्वयं ठहरती है , न दूसरे किसीको ठहरने देती है यह पूर्वार्धका आशय है।]

७. बहुत दूरके प्रदेशोंसे, जहां सूर्य उदित होता है उस स्थानसे, (इधर आनेके लिये) उषाने अपने (रथको) जोत रखा है । अपने सैंकड़ों रथोंके साथ (उनपर आरोहण करके) यह भाग्यवती उषा मनुष्योंसे मिलनेके लिए (पूर्व दिशासे) आगे बढ़ती जाती है ।

[**शतं रथेभिः । शतं** पद तृतीयान्त नामके साथ अनेकवार प्रयुक्त हो गया है।]

८. इसकी प्रभाके सामने समग्र प्राणिमात्र विनम्र हो गये हैं। यह दयालु देवता अपना प्रकाश प्रकट कर रही है । द्युदेवकी यह उदार कन्या उषा (हमारे शत्रुओंकी) द्वेष भावना और (उनकी) रुकावटोंको अपने प्रकाशसे दूर करे ।

उष आ भाहि भानुना चन्द्रेण दुहितर्दिवः ।
आवहन्ती भूर्यस्मभ्यं सौभगं व्युच्छन्ती दिविष्टिषु ॥ ९ ॥

उषः । आ । भाहि । भानुना । चन्द्रेण । दुहितः । दिवः ।
आऽवहन्ती । भूरि । अस्मभ्यम् । सौभगम् । विऽउच्छन्ती । दिविष्टिषु ॥ ९ ॥

विश्वस्य हि प्राणनं जीवनं त्वे वि यदुच्छसि सूनरि ।
सा नो रथेन बृहता विभावरि श्रुधि चित्रामघे हवम् ॥ १० ॥

विश्वस्य । हि । प्राणनम् । जीवनम् । त्वे इति । वि । यत् । उच्छसि । सुनरि ।
सा । नः । रथेन । बृहता । विभाऽवरि । श्रुधि । चित्रऽमघे । हवम् ॥ १० ॥

उषो वाजं हि वंस्व यश्चित्रो मानुषे जने ।
तेना वह सुकृतो अध्वराँ उप ये त्वा गृणन्ति वह्नयः ॥ ११ ॥

उषः । वाजम् । हि । वंस्व । यः । चित्रः । मानुषे । जने ।
तेन । आ । वह । सुऽकृतः । अध्वरान् । उप । ये । त्वा । गृणन्ति । वह्नयः ॥ ११ ॥

९. हे द्युदेवकी कन्ये उषे, हमारे यज्ञोंमें प्रकाशमान होकर और हमारे लिये विपुल सौभाग्य अपने साथ लाकर, तुम अपने सुन्दर तेजसे भासमान होती रहो ।

[**चन्द्रेण भानुना** । उषा स्वयं ही चन्द्रा और चन्द्ररथा भी है । दे. ३·६१·२ और ७]

१०. हे दयालु देवि, जिस समय तुम प्रकाशित होती हो उस समय समूचे जगत्का प्राणधारण और जीवन तुमपर ही निर्भर रहता है । हे मनोहर उपहारदायिनी तेजःपुञ्ज उषादेवि, अपने विशाल रथपर (आकर) हमारी (प्रार्थनाकी) पुकार सुनो ।

११. और इसलिए मनुष्य लोकमें सुन्दर लुभावना दिखाई देनेवाला उपहार तुम हमारे लिए प्राप्त कर लो । और उसे लेकर तुम हमारे सत्प्रवृत्त यजमानके यज्ञोंके पास एवं तुम्हारी स्तुति करनेवाले ऋत्विजोंसे मिलनेके लिए भी आओ ।

[चतुर्थ चरणमें **तांश्च** (प्रति) **उपावह** पदोंका अध्याहार ।]

विश्वा॑न्दे॒वाँ आ व॑ह॒ सोम॑पीतये॒ऽन्तरि॑क्षादुष॒स्त्वम् ।
सास्मासु॑ धा॒ गोम॒दश्वा॑वदु॒क्थ्य१॑मुषो॒ वाजं॑ सु॒वीर्य॑म् ॥ १२ ॥

विश्वा॑न् । दे॒वान् । आ । व॒ह॒ । सोम॑ऽपीतये । अ॒न्तरि॑क्षात् । उ॒षः॒ । त्वम् ।
सा । अ॒स्मासु॑ । धाः॒ । गोऽम॑त् । अश्व॑ऽवत् । उ॒क्थ्य॑म् । उष॑: । वाज॑म् । सु॒ऽवीर्य॑म् ॥१२॥

यस्या॑ रु॒शन्तो॑ अ॒र्चयः॒ प्रति॑ भ॒द्रा अदृ॑क्षत ।
सा नो॑ र॒यिं वि॒श्ववा॑रं सु॒पेश॑समु॒षा द॑दातु॒ सुग्म्य॑म् ॥ १३ ॥

यस्याः॑ । रु॒शन्तः॑ । अ॒र्चयः॑ । प्रति॑ । भ॒द्राः । अदृ॑क्षत ।
सा । नः॒ । र॒यिम् । वि॒श्वऽवा॑रम् । सु॒ऽपेश॑सम् । उ॒षाः । द॒दा॒तु॒ । सुग्म्य॑म् ॥ १३ ॥

ये चि॒द्धि त्वामृष॑यः॒ पूर्व॑ ऊ॒तये॑ जु॒हूरेऽव॑से महि ।
सा नः॒ स्तोमाँ॑ अ॒भि गृ॑णीहि॒ राध॒सोषः॑ शु॒क्रेण॑ शो॒चिषा॑ ॥ १४ ॥

ये । चि॒त् । हि । त्वाम् । ऋष॑यः । पूर्वे॑ । ऊ॒तये॑ । जु॒हू॒रे । अव॑से । म॒हि॒ ।
सा । नः॒ । स्तोमा॑न् । अ॒भि । गृ॒णी॒हि॒ । राध॑सा । उष॑: । शु॒क्रेण॑ । शो॒चिषा॑ ॥१४॥

१२. हे उषादेवि, अन्तरिक्षसे सब देवताओंको सोमपानके लिए तुम यहीं लेकर आओ (और) हे उषा देवि, गौओं, घोडों, एवं श्रेष्ठ सामर्थ्यसे युक्त (अतएव) प्रशंसायोग्य उपहार हमें समर्पित करो ।

[तृतीय चरणमें **वसु** पदका अध्याहार । एवं **उक्थ्यं** विशेषणका **वसु** (नपुं.) तथा **वाजं** (पुंलिङ्ग) पदोंसे उभयत्र अन्वय करना । अथवा तृतीय चरणस्थ नपुं. विशेषणोंका **सुवीर्यं** से, एवं **उक्थ्यं** पदका उभयत्र याने **वाजं** (पुं.) और **सुवीर्यम्** (नपुं.) पदोंसे अन्वय करना संभव है । किंतु दूसरे पक्षमें दूरान्वयका दोष पैदा होता है ।]

१३. जिसकी मंगलदायक तेजस्वी किरणें अब दृष्टिगोचर हो चुकी हैं वह उषा हमें अनायास प्राप्त होनेवाला, सबको लुभानेवाला तथा रमणीय रूपोंसे समन्वित वैभव प्रदान करें ।

१४. हे महान् उषा देवि, जिन सब प्राचीन ऋषियोंने अपनी सुरक्षाके लिए तथा तुम्हारे अनुग्रहके लिए तुम्हारा आवाहन किया, उनकी तरह, तुम अपनी उदारता और तेजस्वी प्रभाको प्रकट करके हमारे स्तोत्रोंका सम्मान करो ।

[प्रथम चरणमें **यां** के बदले **ये** पदका प्रयोग **ऋषयः** पदके आकर्षणसे हुआ है । दे. ऋ. १३ **(यस्याः – सा)** । यथास्थित वाक्यमें **तेषामिव** पदोंका अध्याहार करके अन्वयार्थ करना उचित होगा ।]

उषो यदद्य भानुना वि द्वारावृणवो दिवः ।
प्र नो यच्छतादवृकं पृथु छर्दिः प्र देवि गोमतीरिषः ॥ १५ ॥

उषः । यत् । अद्य । भानुना । वि । द्वारौ । ऋणवः । दिवः ।
प्र । नः । यच्छतात् । अवृकम् । पृथु । छर्दिः । प्र । देवि । गोऽमतीः । इषः ॥१५॥

सं नो राया बृहता विश्वपेशसा मिमिक्ष्वा समिळाभिरा ।
सं द्युम्नेन विश्वतुरोषो महि सं वाजैर्वाजिनीवति ॥ १६ ॥

सम् । नः । राया । बृहता । विश्वऽपेशसा । मिमिक्ष्व । सम् । इळाभिः । आ ।
सम् । द्युम्नेन । विश्वऽतुरा । उषः । महि । सम् । वाजैः । वाजिनीऽवति ॥ १६ ॥

---

१५. हे उषा देवि, जिस समय आज तुम अपने तेजसे स्वर्ग लोकके (अंधकारसे बंद हो चुके) द्वार खोल दोगी, उस समय हमें विशाल और निर्भय सुरक्षाके साथ साथ गायोंसे समन्वित अन्नधान्य भी दो ।

१६. हे महान् विपुल उपहारदायिनी उषादेवि, विपुल और समुचे सौन्दर्यसे समन्वित संपत्तिकी, पुष्टिप्रद अन्नोंकी, एवं सर्वोपरि श्रेष्ठता रखनेवाले वैभव और (अन्य) उपहारोंकी हमपर वृष्टि करो ।

७

१·४९ १–४ प्रस्कण्वः काण्वः ॥ उषाः ॥ अनुष्टुप् ॥

उषो भद्रेभिरा गहि दिवश्चिद्रोचनादधि ।
वहन्त्वरुणप्सव उप त्वा सोमिनो गृहम् ॥ १ ॥

उषः । भद्रेभिः । आ । गहि । दिवः । चित् । रोचनात् । अधि ।
वहन्तु । अरुणऽप्सवः । उप । त्वा । सोमिनः । गृहम् ॥ १ ॥

सुपेशसं सुखं रथं यमध्यस्था उषस्त्वम् ।
तेना सुश्रवसं जनं प्रावाद्य दुहितर्दिवः ॥ २ ॥

सुऽपेशसम् । सुऽखम् । रथम् । यम् । अधिऽअस्थाः । उषः । त्वम् ।
तेन । सुऽश्रवसम् । जनम् । प्र । अव । अद्य । दुहितः । दिवः ॥ २ ॥

वयश्चित्ते पतत्रिणो द्विपच्चतुष्पदर्जुनि ।
उषः प्रारन्नृतूँरनु दिवो अन्तेभ्यस्परि ॥ ३ ॥

वयः । चित् । ते । पतत्रिणः । द्विऽपत् । चतुःऽपत् । अर्जुनि ।
उषः । प्र । आरन् । ऋतून् । अनु । दिवः । अन्तेभ्यः । परि ॥ ३ ॥

---

१. हे उषे, स्वर्ग लोकके तेजोमय कटाह (की ओर होनेपर भी) वहांसे तुम अपनी मंगलमय किरणोंके साथ इधर आओ; (तुम्हारे) लालवर्णके घोड़े तुम्हें सोमयाग करनेवाले यजमानके घरके पास लेकर जांय।

[**भद्रेभिः** के पश्चात् **अर्चिभिः** पदका अध्याहार। दे. १·४८·१३· **रोचनात्** दे. १·१९·६· **अरुणप्सवः। गावः** पदका अध्याहार। दे. ५·८०·३·]

२. हे द्युदेवकी कन्ये उषे, जिस सुन्दर दिखनेवाले और सुखदायक रथपर तुम आरूढ हुई हो उससे ही (यहाँ आकर) आज हमारे उत्तम कीर्ति प्राप्त करनेवाले इस यजमानकी रक्षा करो।

[**सुश्रवसं जनम्**। कविके यजमान अथवा स्वयं कवि उद्दिष्ट होगा। दे. **दीर्घश्रुत् विप्रः** ७·६१·२]

३. (इस समय) पंख निकले हुए पक्षी भी, वैसे ही सभी द्विपाद और चतुष्पाद प्राणी भी, तुम्हारी इस नियत ऋतुओंका (गमनकालोंका) अनुसरण करके, आकाशके चारों छोरोंसे (अपने अपने उद्देश्यके अनुसार) आगे बढ़ रहे हैं।

[**ते ऋतून् अनु**। 'तुम्हारे नियमित समयका अतिक्रम न होने देनेसे'। दे. ७·१०३·९· मण्डूक भी अपनी नियमित ऋतुओंका भंग नहीं करते। **दिवो अन्तेभ्यस्परि** 'नाना दिशाओंसे आकर' यह अभिप्राय।]

व्युच्छन्ती हि रश्मिभिर्विश्वमाभासि रोचनम् ।
तां त्वामुषर्वसूयवो गीर्भिः कण्वा अहूषत ॥ ४ ॥

विऽउच्छन्ती । हि । रश्मिऽभिः । विश्वम् । आऽभासि । रोचनम् ।
ताम् । त्वाम् । उषः । वसुऽयवः । गीःऽभिः । कण्वाः । अहूषत ॥ ४ ॥

४. क्यों कि स्वतः प्रकाशमान होकर तुम अपनी किरणोंसे इस संपूर्ण (आकाशके) तेजोमय कटाहको प्रकाशित कर रही हो। हे उषादेवि, धनकी अभिलाषा करनेवाले इन कण्वकुलोत्पन्न ऋषियोंने तुम्हें अपने स्तोत्रोंसे आज निमंत्रित किया है।

८

१.५०.१–१३ प्रस्कण्वः काण्वः ॥ सूर्यः ॥ १–९ गायत्री । १०–१३ अनुष्टुप् ॥

इस सूक्तमें १ से १० तककी ऋचाएं सूर्यस्तुतिपर है। ऋचा ११–१२ में हृद्रोग और कामला (पीलिया) इन दोनोंका नाश करनेके लिए सूर्यकी प्रार्थना की गई है। ऋचा १३ में सूर्यदेवकी इस उद्देश्यसे प्रार्थना की गई है कि हम (रोगके शिकार होकर) शत्रुके वशमें पहुँचनेके बदले शत्रुको ही काबूमें लानेमें सफल हों। कात्यायनकी सर्वानुक्रमणीमें अन्तिम तीन ऋचाओंको 'रोगघ्नः' और 'उपनिषत्' संज्ञा दी गई है। और शौनकने भी ऋग्विधानमें इस तृचात्मक मन्त्रको रोगघ्न विषघ्न और पापनाशक कहा है।

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः । दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥ १ ॥

उत् । ऊँ इति । त्यम् । जातऽवेदसम् । देवम् । वहन्ति । केतवः । दृशे । विश्वाय । सूर्यम् ॥ १ ॥

अप त्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभिः । सूराय विश्वचक्षसे ॥ २ ॥

अप । त्ये । तायवः । यथा । नक्षत्रा । यन्ति । अक्तुऽभिः । सूराय । विश्वऽचक्षसे ॥ २ ॥

अदृश्रमस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ अनु । भ्राजन्तो अग्नयो यथा ॥ ३ ॥

अदृश्रम् । अस्य । केतवः । वि । रश्मयः । जनान् । अनु । भ्राजन्तः । अग्नयः । यथा ॥ ३ ॥

---

१. उस सर्वज्ञ सूर्य देवको उसके ध्वज रूपी अश्व सभी (क्षितिजपरसे आकाशमें) ऊपर ले जा रहे हैं ताकि सभी प्राणिमात्र उसे देखें।

[**केतवः वहन्ति** सूर्यके किरणोंपर पहले ध्वजका बादमें अश्वोंका आरोप है। **विश्वाय सूर्यं दृशे** एवं अन्वय। देखो स्वर्दृशे (ऋचा ५)।]

२. ये सब नक्षत्रगण रात्रिके (कृष्णवर्ण) अंधकारके साथ चोरोंकी तरह इस विश्वदर्शी सूर्यके सामनेसे भागे जा रहे हैं।

[**तायवो यथा** किसीके भी ध्यानमें न आनेसे नष्ट होना यह साधारणधर्म उपमामें अभिप्रेत है। **सूराय** इस चतुर्थीका अर्थ भय अथवा आदर है। 'सूर्यके भयसे अथवा आदरसे' यह अभिप्राय।]

३. अग्निसदृश प्रज्वलित दिखाई पड़नेवाले इसके ये ध्वज, ये किरण, इन लोगोंमें सर्वत्र प्रकट हुए हैं।

[**अदृश्रम् । अदृश्रन्** इस प्रथमपुरुष बहुवचनके रूपके स्थानमें यह रूप है। इस प्रकारके रूपोंके (अदृश्रन्, अवस्रन्, असृग्रन्, अबुध्रन्) आगे जब स्वर अथवा अन्तस्था (य्, र्, ल्, व्,) आते हैं तब, यदि ह्रस्व अक्षरकी अपेक्षा हो, तब यह रूप अम्–अन्त होता है नहीं तो वैसा ही रहता है। इस प्रकारका ह्रस्व अक्षर सर्व प्रकारके चरणोंमें तृतीय स्थानपर और एकादशाक्षरी तथा द्वादशाक्षरी पादोंमें पञ्चमाक्षर एवं नवमाक्षरपर अपेक्षित है। दे. ओल्डेनबर्ग, नोटेन् व्हॉ. २ पृ. १५५. **अग्नयो यथा**। आगे दिखाई पड़नेवाले प्रज्वलित श्रौताग्निका उपयोग यहां उपमानके स्थानमें हो रहा है।]

तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य । विश्वमा भासि रोचनम् ॥४॥

तरणिः। विश्वऽदर्शतः। ज्योतिःऽकृत्। असि। सूर्य। विश्वम्। आ। भासि। रोचनम् ॥४॥

प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषान्। प्रत्यङ् विश्वं स्वर्दृशे ॥ ५॥

प्रत्यङ्। देवानाम्। विशः। प्रत्यङ्। उत्। एषि। मानुषान्। प्रत्यङ्। विश्वम्। स्वः। दृशे॥ ५॥

येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु। त्वं वरुण पश्यसि ॥ ६ ॥

येन। पावक। चक्षसा। भुरण्यन्तम्। जनान्। अनु। त्वम्। वरुण। पश्यसि॥ ६ ॥

वि द्यामेषि रजस्पृथ्वहा मिमानो अक्तुभिः। पश्यञ्जन्मानि सूर्य ॥ ७ ॥

वि। द्याम्। एषि। रजः। पृथु। अहा। मिमानः। अक्तुऽभिः। पश्यन्। जन्मानि। सूर्य ॥ ७ ॥

सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य। शोचिष्केशं विचक्षण ॥ ८ ॥

सप्त। त्वा। हरितः। रथे। वहन्ति। देव। सूर्य। शोचिःऽकेशम्। विऽचक्षण ॥ ८ ॥

४. हे सूर्य, तुम पराक्रमी और सर्वसुन्दर हो, प्रकाशके जनक हो। इस संपूर्ण तेजोमय स्वर्गीकटाहको तुमने प्रकाशित किया है।

५. देवोंकी प्रजाओंके सामने, मनुष्योंके सामने वैसे ही संपूर्ण विश्वके सामने, तुम उदित हो रहे हो ताकि वे सभी तुम्हारा तेज देखें।

६. हे पापनाशक वरुण देव, जिस सूर्यरूपी नेत्रसे तुम लोगोंमें (अपने-अपने क्षेत्रमें) क्रिया-प्रवण मनुष्यका अवलोकन करते हो यही वह सूर्य या सूर्यरूप नेत्र है।

[ऋचा ४ और ५ में सर्वत्र संचार करनेवाले सूर्यके उल्लेखके साथ साथ लोगोंके सत्यानृतका यथास्थित दर्शन करानेवाला यह सूर्य मित्र और वरुण देवोंका नेत्रस्थानीय है इस कल्पनाके अनुसार कविको ठीक ही वरुणका स्मरण इस ऋचामें हो चुका है।]

७. हे सूर्य, यह स्वर्ग और यह विशाल अन्तरिक्ष प्रदेश, रात्रिके योगसे दिवसोंको सीमित करते हुए और प्राणिमात्रका निरीक्षण करते-करते, तुम आक्रमण करते रहते हो।

[**मिमानः** 'परिमित करके' याने 'दो दिनोंके बीचमें रात्रिका प्रवेश कराके उनको अलग अलग रख कर' यह अभिप्राय। ४·३०·३ इन ऋचाओंमें भी इस विषयका उल्लेख पाया जाता है।]

८. हे सूक्ष्मदर्शी सूर्यदेव, तुम्हारे हरे रंगके सात घोड़े किरणरूपी केशोंसे सुशोभित (लगनेवाले) तुम्हें रथमें ले जा रहे हैं।

अयु॑क्त स॒प्त शु॒न्ध्युवः॒ सूरो॒ रथ॑स्य न॒प्त्यः॑। ताभि॑र्याति॒ स्वयु॑क्तिभिः ॥९॥

अयु॑क्त। स॒प्त। शु॒न्ध्युवः॑। सूरः॑। रथ॑स्य। न॒प्त्यः॑। ताभिः॑। या॒ति॒। स्वयु॑क्तिऽभिः ॥ ९ ॥

उद्व॒यं तम॑स॒स्परि॒ ज्योति॒ष्पश्य॑न्त॒ उत्त॑रम्।
दे॒वं दे॑व॒त्रा सूर्य॒मग॑न्म॒ ज्योति॑रुत्त॒मम् ॥ १० ॥

उत्। व॒यम्। तम॑सः। परि॑। ज्योतिः॑। पश्य॑न्तः। उत्ऽत॑रम्।
दे॒वम्। दे॒व॒ऽत्रा। सूर्य॑म्। अग॑न्म। ज्योतिः॑। उ॒त्ऽत॒मम् ॥ १० ॥

उ॒द्यन्न॒द्य मि॑त्रमह आ॒रोह॒न्नुत्त॑रां॒ दिव॑म्।
हृ॒द्रो॒गं मम॑ सूर्य हरि॒माणं॑ च नाशय ॥ ११ ॥

उ॒त्ऽयन्। अ॒द्य। मि॒त्र॒ऽम॒हः॒। आ॒ऽरोह॑न्। उत्ऽत॑राम्। दिव॑म्।
हृ॒त्ऽरो॒गम्। मम॑। सू॒र्य॒। ह॒रि॒माण॑म्। च॒। ना॒श॒य॒ ॥ ११ ॥

---

९. इस सूर्यने अपने रथकी सात निर्मल कन्याओंको (रथमें) जोत रखा है। स्वयं रथसे जुत जानेवाली इन घोड़ियों की सहायतासे (वह सूर्य) अपने मार्गका अनुसरण करता है।

[**रथस्य नप्त्यः** 'रथकी कन्याएं'। अभिप्राय है कि जब जब ये घोड़ियां संचार करती हैं तब तब रथसे कभी दूर नहीं दिखाई पड़तीं। उसके साथ ही नित्य दृग्गोचर होती हैं। इसके विपरीत ८·२·४२ में दूध देनेवाली घोड़ियोंको **माकी रणस्य नप्त्या** (इनमेंसे कोई भी रणकी, युद्धोन्मादकी कन्या नहीं है, युद्धमें उनका उपयोग नहीं होता।) कहा गया है।]

१०. अंधकारके उसे पार श्रेष्ठ तेजका दर्शन लेते लेते हम देवलोकमें सर्वश्रेष्ठ ज्योति-स्वरूप सूर्य देवके पास पहुँच गये है।

[तमकी अपेक्षासे सूर्यरूप ज्योतिको कवि **उत्तरम्**, और निरपेक्षतया **उत्तमं, ज्योतिः** कहते हैं।]

११. मित्र की तरह (उपकारक) तेजसे विराजित हे सूर्य, आज उदित होकर उच्चतर स्वर्गपर आरोहण करते हुए मेरे इस हृद्रोग का तथा पीलेपन (कामला रोग) का भी विनाश करो।

[उच्चतर द्युलोकमें प्रवेश करनेके समय सूर्यदेव अपनी पीतवर्ण कोमल किरणोंका उपसंहार करता है। कविकी प्रार्थना है कि उसके साथ ही इन पीतवर्ण रोगोंका वह उपसंहार करे, अथवा पीतवर्ण पक्षियोंमें उनको विलीन करे।]

शुकेषु मे हरिमाणं रोपणाकासु दध्मसि ।
अथो हारिद्रवेषु मे हरिमाणं नि दध्मसि ॥ १२ ॥

शुकेषु । मे । हरिमाणम् । रोपणाकासु । दध्मसि ।
अथो इति । हारिद्रवेषु । मे । हरिमाणम् । नि । दध्मसि ॥ १२ ॥

उदगादयमादित्यो विश्वेन सहसा सह ।
द्विषन्तं मह्यं रन्धयन्मो अहं द्विषते रधम् ॥ १३ ॥

उत् । अगात् । अयम् । आदित्यः । विश्वेन । सहसा । सह ।
द्विषन्तम् । मह्यम् । रन्धयन् । मो इति । अहम् । द्विषते । रधम् ॥ १३ ॥

१२. शुक तथा रोपणाका नामक पक्षियोंमें मेरा यह पीलापन (मेरे शरीरसे अलग कर) हम रख देते हैं। नहीं तो यह मेरा पीलापन हारिद्रव नामक पक्षियोंमें संगृहीत करके हम रखते हैं।

[अभिप्राय है कि सूर्यदेवकी कृपासे और मन्त्रबलसे इन रोगोंको हम पीतवर्ण पक्षियोंमें स्थापित करते हैं।]

१३. मेरे विद्वेषी शत्रुको मेरे आगे झुकाकर, एवं अपनी संपूर्ण सामर्थ्यसे संयुक्त होकर यह अदितिका पुत्र उदित हुआ है। (हे सूर्य,) मुझे मेरे विद्वेषी शत्रुके सामने कभी मत झुकाओ।

९

१·८५·१–१२ गोतमो राहूगणः ॥ मरुतः ॥ १–४, ६–११ जगती । ५,१२ त्रिष्टुप् ॥

प्र ये शुम्भन्ते जनयो न सप्तयो यामन् रुद्रस्य सूनवः सुदंससः ।
रोदसी हि मरुतश्चक्रिरे वृधे मदन्ति वीरा विदथेषु घृष्वयः ॥ १ ॥

प्र । ये । शुम्भन्ते । जनयः । न । सप्तयः । यामन् । रुद्रस्य । सूनवः । सुऽदंससः ।
रोदसी इति । हि । मरुतः । चक्रिरे । वृधे । मदन्ति । वीराः । विदथेषु । घृष्वयः ॥ १ ॥

त उक्षितासो महिमानमाशत दिवि रुद्रासो अधि चक्रिरे सदः ।
अर्चन्तो अर्कं जनयन्त इन्द्रियमधि श्रियो दधिरे पृश्निमातरः ॥ २ ॥

ते । उक्षितासः । महिमानम् । आशत । दिवि । रुद्रासः । अधि । चक्रिरे । सदः ।
अर्चन्तः । अर्कम् । जनयन्तः । इन्द्रियम् । अधि । श्रियः । दधिरे । पृश्निऽमातरः ॥ २ ॥

१. (पतिके साथ) एकनिष्ठ भावसे रहनेवाली (पतिव्रता) स्त्रियोंकी तरह जो अपने शरीरको (अलंकारसे) विभूषित करते हैं, तथा जो रुद्र के सत्पुत्र, अपने संचरणमें विलक्षण आश्चर्यजनक कार्य करते हैं – चूंकि इन मरुद्गणोंने (अपने शरीरोंके विस्तारसे) स्वर्ग और भूमिको भी अधिक विस्तृत होनेके लिए विवश किया – वे ये मदोन्मत्त वीर हमारे यज्ञोंमें आनन्दसे बेहोश होते रहते हैं ।

[**सप्तयः** (**सप्ति** √सप्) 'निष्ठावान्, विश्वासपात्र' । ८·२०·२३ में मरुतोंको **सप्तयः सखायः** बतलाया है । **वृधे चक्रिरे** अपने शरीरोंकी विशालतासे द्यावापृथिवीको विस्तृत होनेपर बाध्य किया । अथवा अँधेरेसे संकुचित दिखाई पड़नेवाले स्वर्ग और पृथिवीको प्रकाशित करके विशाल दिखाई पड़नेपर विवश किया ।]

२. (शरीरसामर्थ्यसे) बढ़ जानेके कारण वे (मरुद्गण) महानता पा गये हैं । इन रुद्रोंने स्वर्गलोकमें अपना आसन निश्चित किया है । अपना युद्ध-गान गाकर इन्द्रकी विशिष्ट सामर्थ्य वृद्धिंगत करनेवाले इन पृश्निपुत्रोंने बहुविध शोभा धारण की है ।

[**रुद्रासः** पिताका नाम पुत्रोंको दिया है । दे. '**रुद्रो यद्वो मरुतो रुक्मवक्षसो वृषाजनि पृश्न्याः शुक्र ऊधनि** २·३४·२. **इन्द्रियं** के आगे **पौंस्यं** पदका अध्याहार; दे. ४·३०·२३· **अधि श्रियो दधिरे** । दे. ५·५७·६; १०·१२७·१·]

गोमा॑तरो॒ यच्छु॒भय॑न्ते अ॒ञ्जिभि॑स्त॒नूषु॑ शु॒भ्रा द॑धिरे वि॒रुक्म॑तः ।
बाध॑न्ते॒ विश्व॑मभिमा॒तिन॒मप॒ वर्त्मा॑न्येषा॒मनु॑ रीयते घृ॒तम् ॥ ३ ॥

गोऽमा॑तरः । यत् । शु॒भय॑न्ते । अ॒ञ्जिऽभिः॑ । त॒नूषु॑ । शु॒भ्राः । द॒धि॒रे॒ । वि॒ऽरुक्म॑तः ।
बाध॑न्ते । विश्व॑म् । अ॒भि॒ऽमा॒तिन॑म् । अप॑ । वर्त्मा॑नि । ए॒षा॒म् । अनु॑ । री॒य॒ते॒ । घृ॒तम् ॥ ३ ॥

वि ये भ्राज॑न्ते॒ सुम॑खास ऋ॒ष्टिभिः॑ प्रच्या॒वय॑न्तो॒ अच्यु॑ता चि॒दोज॑सा ।
म॒नो॒जुवो॒ यन्म॑रुतो॒ रथे॒ष्वा वृष॑व्रातास॒ः पृष॑ती॒रयु॑ग्ध्वम् ॥ ४ ॥

वि । ये । भ्राज॑न्ते । सुऽम॑खासः । ऋ॒ष्टिऽभिः॑ । प्र॒ऽच्य॒वय॑न्तः । अच्यु॑ता । चि॒त् । ओज॑सा ।
म॒नः॒ऽजुवः॑ । यत् । म॒रु॒तः॒ । रथे॑षु । आ । वृष॑ऽव्रातासः । पृष॑तीः । अयु॑ग्ध्वम् ॥ ४ ॥

प्र यद्रथे॑षु॒ पृष॑ती॒रयु॑ग्ध्वं॒ वाजे॒ अद्रिं॑ मरुतो रं॒हय॑न्तः ।
उ॒तारु॒षस्य॒ वि ष्य॑न्ति॒ धारा॒श्चर्मे॒वोद॒भि॒र्व्यु॑न्दन्ति॒ भूम॑ ॥ ५ ॥

प्र । यत् । रथे॑षु । पृष॑तीः । अयु॑ग्ध्वम् । वाजे॑ । अद्रि॑म् । म॒रु॒तः॒ । रं॒हय॑न्तः ।
उ॒त । अ॒रु॒षस्य॑ । वि । स्य॒न्ति॒ । धाराः॑ । चर्म॑ऽइव । उ॒द॒ऽभिः॑ । वि । उ॒न्द॒न्ति॒ । भूम॑ ॥५॥

३. जिस समय पृश्निके इन पुत्रोंने अलंकारोंसे अपने शरीरोंको विभूषित किया उसी समय उन सुशोभित देहवाले मरुद्गणोंने अपने शरीरपर तीक्ष्ण शस्त्र भी धारण किये। हरएक उद्धत शत्रुको वे मारकर दूर भगा देते है। उनके जानेके मार्गसे घृतका प्रवाह बहता रहता है।

[**गोमातरः** पृश्निनामकी धेनु उनकी माता; देखो ऋचा २ पर टिप्पणी। **विरुक्मत्** यह विशेषण नामके स्थानपर दिया गया है। **घृतम्** याने घृतके समान पुष्टिकर अन्नोंकी निर्मात्री वृष्टि; दे. ५.८३.८.]

४. हे मरुद्गणों, जिस समय तुमने अपने रथोंमें भूरे रंगकी (मनकी तरह चपल) घोडियाँ जोतीं, उस समय जिनके अनुयायी गण बलवान हैं, जो श्रेष्ठ वीर अपने भालोंसे चमकते रहते हैं, ऐसे तुमने अपनी सामर्थ्यसे अटल (समझी जानेवालीं) वस्तुओंको भी अपने स्थानसे हिला दिया।

[द्वितीय चरणमें क्रियापदके स्थानपर कृदन्त (**प्रच्यावयन्तः**) की योजना करके प्रधान वाक्यको सिद्ध किया गया है। इस ऋचामें कविने पूर्वार्धमें देवताका परोक्ष वर्णन और उत्तरार्धमें अपरोक्ष संबोधन किया है। पंचम ऋचामें उसके विरुद्ध पूर्वार्धमें संबोधन और उत्तरार्धमें परोक्ष वर्णन है। **पृषतीः** मरुद्गण अपने रथमें चित्रल घोडों एवं शबल मृगीको भी जोड़ देते हैं।]

५. जिस समय, हे मरुद्गणों, अपनी भूरे रंगकी घोडियाँ तुमने रथमें जोतीं, उस समय तुमने युद्धमें (इन्द्रके) वज्रको गति (और उत्तेजना) प्रदान की। और ये मरुद्गण अपने लाल

आ वो वहन्तु सप्तयो रघुष्यदो रघुपत्वानः प्र जिगात बाहुभिः ।
सीदता बर्हिरुरु वः सदस्कृतं मादयध्वं मरुतो मध्वो अन्धसः ॥ ६ ॥

आ । वः । वहन्तु । सप्तयः । रघुऽस्यदः । रघुऽपत्वानः । प्र । जिगात । बाहुऽभिः ।
सीदत । आ । बर्हिः । उरु । वः । सदः । कृतम् । मादयध्वम् । मरुतः । मध्वः । अन्धसः ॥६॥

तेऽवर्धन्त स्वतवसो महित्वना नाकं तस्थुरुरु चक्रिरे सदः ।
विष्णुर्यद्धावद्वृषणं मदच्युतं वयो न सीदन्नधि बर्हिषि प्रिये ॥ ७ ॥

ते । अवर्धन्त । स्वऽतवसः । महिऽत्वना । आ । नाकम् । तस्थुः । उरु । चक्रिरे । सदः ।
विष्णुः । यत् । ह । आवत् । वृषणम् । मदऽच्युतम् । वयः । न । सीदन् । अधि । बर्हिषि । प्रिये ॥७॥

(घोड़ेकी दुग्ध) की धाराओंको बहनेके लिए मुक्त कर देते है। तथा किसी चमड़ेकी तरह उस जलसे पृथ्वीको भिगोकर बहुत गीली करते है ।

[यहां इन्द्रके वज्रको अद्रि कहा गया है। दे. ऋचा ९ । यहां भी द्वितीय चरणमें कृदन्त (रंहयन्तः)की योजना करके वाक्यको पूरा किया गया है। **अरुषस्य** याने **अश्वस्य**; दे. ५·८३·६। दोनों स्थानोंपर विद्युत्संयुक्त मेघ अभिप्रेत है। **चर्म इव** इस उपमानसे उपमेय (भूम) का अल्पत्व और तन्मूलक ('उन्नति-) क्रियाकी सुलभता सूचित है। दे. ७·६३·१]

६. तुम्हारे शीघ्रगामी अश्व तुम्हें इधर (इस यज्ञके लिए) लेकर आयें। जल्दी दौड़नेवाले तुम अपनी (फैली हुई) भुजाओंकी सहायतासे आगे बढ़ो। हमारे इस कुशासन पर बैठो, क्यों कि तुम्हारे ही लिए यह विशाल आसन हमने बनाया है। हे मरुद्गणों, इस सोमरसका यथेच्छ पान करके आनन्दमग्न हो जाओ ।

[**बाहुभिः रघुपत्वानः** पक्षोंके स्थानपर बाहुओंको माना गया है। कई स्थलोंपर मरुतोंको पक्षियोंकी उपमा दी गई है। दे· ऋचा ७ । ७·५९·७ में तो इनको नीलपृष्ठ हंस बना दिया है]

७. स्वीय सामर्थ्यसे बलशाली मरुद्गण अपनी स्वतःसिद्ध महानतासे ही महान् हो गये। स्वर्गके कटाहपर आरोहण करके उन्होंने वहाँ अपने लिये विशाल आसन बना दिया है। जिस समय विष्णुने उस मदसे बेहोश, पराक्रमी इन्द्रको (सोमरस अर्पण करके) सहायता दी, उस समय ये मरुद्गण पक्षियोंकी तरह (वर्तुलाकार होकर) सोमपानके लिये अपने प्रिय कुशासनोंपर अधिष्ठित हो गये थे ।

[तृतीय चरणमें वृत्रवधके अवसरपर इन्द्रको उसका अन्न और पान तैयार रख कर विष्णुद्वारा प्रदत्त साहाय्यका ही उल्लेख है। दे. ६·१७·११; ८·७७·१० उस समय इन्द्रके सहायक सखा और चारणके रूपमें मरुतोंको भी सोमपानमें अंशभागित्व प्राप्त हुआ। **वयो न** यह उपमा मरुतोंको अनेक बार दी गई है। दे.ऋ. ६ के ऊपर टिप्पणी। त्वरित गमन और वर्तुलाकार पङ्क्तिमें आसनग्रहण ये दोनों साधारणधर्मके रूपमें यहां अभिप्रेत हैं]

शूरांइवेद्युयुधयो न जग्मयः श्रवस्यवो न पृतनासु येतिरे ।
भयन्ते विश्वा भुवना मरुद्भ्यो राजानइव त्वेषसंदृशो नरः ॥ ८ ॥

शूराःऽइव । इत् । युयुधयः । न । जग्मयः । श्रवस्यवः । न । पृतनासु । येतिरे ।
भयन्ते । विश्वा । भुवना । मरुत्ऽभ्यः । राजानःऽइव । त्वेषऽसंदृशः । नरः ॥ ८ ॥

त्वष्टा यद्वज्रं सुकृतं हिरण्ययं सहस्रभृष्टिं स्वपा अवर्तयत् ।
धत्त इन्द्रो नर्यपांसि कर्तवेऽहन् वृत्रं निरपामौब्जदर्णवम् ॥ ९ ॥

त्वष्टा । यत् । वज्रम् । सुऽकृतम् । हिरण्ययम् । सहस्रऽभृष्टिम् । सुऽअपाः । अवर्तयत् ।
धत्ते । इन्द्रः । नरि । अपांसि । कर्तवे । अहन् । वृत्रम् । निः । अपाम् । औब्जत् । अर्णवम् ॥९॥

ऊर्ध्वं नुनुद्रेऽवतं त ओजसा दादृहाणं चिद्बिभिदुर्वि पर्वतम् ।
धमन्तो वाणं मरुतः सुदानवो मदे सोमस्य रण्यानि चक्रिरे ॥ १० ॥

ऊर्ध्वम् । नुनुद्रे । अवतम् । ते । ओजसा । दादृहाणम् । चित् । बिभिदुः । वि । पर्वतम् ।
धमन्तः । वाणम् । मरुतः । सुऽदानवः । मदे । सोमस्य । रण्यानि । चक्रिरे ॥१०॥

८. शूर योद्धाओंकी तरह हमेशा ही (युद्धमें) कूदनेवाले ये मरुद्गण यशोभिलाषी वीरोंकी तरह संग्रामोंमें स्पर्धासे लड़ते रहते हैं। समग्र प्राणिमात्र इन मरुद्गणोंसे डरते हैं। ये नरवीर राजाओंकी तरह देखनेमें सुतीक्ष्ण हैं।

[**शूराः युयुधयः** यह है विशेषणविशिष्ट उपमान। **इव** और **न** ये दोनों उपमावाचक यहां प्रयुक्त है और **जग्मयः** है साधारणधर्मवाचक। इस विशिष्ट उपमानमें विशेषण (शूराः) और विशेष्य (युयुधयः) दोनोंका भी प्रधान रूपसे उल्लेख अभिप्रेत है। अत एव प्रत्येकके अनन्तर उपमावाचक प्रयुक्त है और आपाततः उसकी द्विरुक्ति भी हो चुकी है। इस प्रकारकी द्विरुक्ति १·११६·३ में और इतरत्र भी दिखाई पड़ती है। और दोनोंका भी प्रधानतया उल्लेख उसका उद्देश्य है।]

९. जिस समय कुशल कारीगर त्वष्टाने (इन्द्रके लिए) सुन्दर गढ़न तथा सहस्र धारावाले सुवर्णमय वज्रका निर्माण किया उस समयसे पराक्रमी शत्रुके विरुद्ध वीरकर्म करनेके लिए इन्द्र उसे हाथमें धारण करता है। (उसकी सहायतासे) इन्द्रने वृत्रका वध किया और नदियोंकी महान् बाढ़को बाहर निकाल दिया।

[इस ऋचामें मुख्यतः इन्द्रका ही वर्णन है जिसकी मरुद्गणों द्वारा दी गई सहायताका उल्लेख ऋचा ७ और ८ में उपवर्णित है। तथापि स्तोत्रका वर्ण्यविषय मरुद्गण होनेके कारण इस ऋचामें **युज्येभिरेभिः** इन दो पदोंका अध्याहार कविको अभिप्रेत है यह मानना युक्तियुक्त होगा। दे. १·१६५·७। **नरि** याने वृत्ररूप योद्धाके विषयमें। **अपांसि कर्तवे** अपना वीरकर्म करनेके लिए यह अभिप्राय। ८·९६·१९ में भी इन्द्रको **नरि अपांसि कर्ता** कहा गया है। **धत्ते** क्रियाके कर्म रूपमें **तद्** (वज्रं) पदका अध्याहार करना।]

१०. इन मरुद्गणोंने अपने ओजसे उस कूपको उलटा करके उसके तलको ऊपर

जिह्मं नुनुद्रेऽवतं तया दिशासिञ्चन्नुत्सं गोतमाय तृष्णजे ।
आ गच्छन्तीमवसा चित्रभानवः कामं विप्रस्य तर्पयन्त धामभिः ॥ ११ ॥

जिह्मम् । नुनुद्रे । अवतम् । तया । दिशा । असिञ्चन् । उत्सम् । गोतमाय । तृष्णऽजे ।
आ । गच्छन्ति । ईम् । अवसा । चित्रऽभानवः । कामम् । विप्रस्य । तर्पयन्त । धामऽभिः ॥११॥

या वः शर्म शशमानाय सन्ति त्रिधातूनि दाशुषे यच्छताधि ।
अस्मभ्यं तानि मरुतो वि यन्त रयिं नो धत्त वृषणः सुवीरम् ॥ १२ ॥

या । वः । शर्म । शशमानाय । सन्ति । त्रिऽधातूनि । दाशुषे । यच्छत । अधि ।
अस्मभ्यम् । तानि । मरुतः । वि । यन्त । रयिम् । नः । धत्त । वृषणः । सुऽवीरम् ॥१२॥

ढ़केल दिया। अत्यन्त दृढ़ पर्वतको तोड़कर फोड़ दिया। इन दानी मरुद्गणोंने अपनी बाँसुरी मुँहसे बजाकर सोमपानके मदमें (याजकोंके लिए) कई आनन्दप्रद कार्य किये।

[**अवतं नुनुद्रे** दे. ऋचा ११ भी। यही अद्भुत कृत्य १·११६·९ में अश्विना देवोंपर आरोपित किया गया है। द्वितीय चरणमें उपवर्णित कर्म अलग है। दे. ५·५६·४; ८·७·२३। **वाणम्** वेणुके सदृश एक सुषिर वाद्य है। **रण्यानि (रण =** तेजस्वी उन्माद) 'तेजस्वी, उन्माद प्राप्त होनेलायक कर्म'।]

११. उस (ऊर्ध्व) दिशाकी ओरसे (उस गौतमके) कूपको (तहसे) ढकेलकर उन्होंने टेढ़ा किया और उसके जलका स्रोत तृषार्त गौतम ऋषिकी ओर बहा दिया। सुन्दर तेजसे सुशोभित ये देवता अपने अनुग्रहके साथ (किसीके भी पास) आते हैं। वे अपनी सामर्थ्यसे (हमारे इन) विप्रोंकी कामना पूर्ण करें।

[**कामं तर्पयन्त** दे. 'काममावरत्' ऊपर १·१४३·६; तथा **कामं मन्दयस्व गोभिरश्वैः** ३·३०·२०। **गोतमाय तृष्णजे** दे. १·११६·९ पर टिप्पणी।]

१२. उत्साहसे काम करनेवाले याजकोंके लिए रखे हुए, तीन अवयवोंसे परिपूर्ण तुम्हारे जो दुःखनिवारक अनुग्रह होंगे वे सब हमारे इस दाता यजमानको दो तथा हमें भी समर्पित करो। हे पराक्रमी वीरों, वीर्यवान् पुत्रोंसे युक्त संपत्ति भी हमारे पास रख दो।

[**त्रिधातूनि शर्म** 'तीन घटकावयववाला' याने 'अत्यन्त सुदृढ' सुरक्षा।]



१०

१·११५·१–६ कुत्स आङ्गिरसः ॥ सूर्यः ॥ त्रिष्टुप् ॥

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥ १ ॥

चित्रम् । देवानाम् । उत् । अगात् । अनीकम् । चक्षुः । मित्रस्य । वरुणस्य । अग्नेः ।
आ । अप्राः । द्यावापृथिवी इति । अन्तरिक्षम् । सूर्यः । आत्मा । जगतः । तस्थुषः । च ॥१॥

सूर्यो देवीमुषसं रोचमानां मर्यो न योषामभ्येति पश्चात् ।
यत्रा नरो देवयन्तो युगानि वितन्वते प्रति भद्राय भद्रम् ॥ २ ॥

सूर्यः । देवीम् । उषसम् । रोचमानाम् । मर्यः । न । योषाम् । अभि । एति । पश्चात् ।
यत्र । नरः । देवऽयन्तः । युगानि । विऽतन्वते । प्रति । भद्राय । भद्रम् ॥ २ ॥

भद्रा अश्वा हरितः सूर्यस्य चित्रा एतग्वा अनुमाद्यासः ।
नमस्यन्तो दिव आ पृष्ठमस्थुः परि द्यावापृथिवी यन्ति सद्यः ॥ ३ ॥

भद्राः । अश्वाः । हरितः । सूर्यस्य । चित्राः । एतऽग्वाः । अनुऽमाद्यासः ।
नमस्यन्तः । दिवः । आ । पृष्ठम् । अस्थुः । परि । द्यावापृथिवी इति । यन्ति । सद्यः ॥ ३ ॥

---

१. देवोंका यह सुन्दर मुख, यह मित्रका, वरुणका और अग्निका नेत्र, उदित हुआ है। इस सूर्यने, स्थावरजंगमात्मक विश्वकी इस आत्माने, स्वर्ग, पृथ्वी तथा अन्तरिक्ष इन तीनों लोकोंको (अपने दिव्य प्रकाशसे) भर दिया है।

[**चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्य** दे. आगे ऋचा ५ और ७·६३·१। **आत्मा जगतस्तस्थुषश्च** ७·१०१·६ में पर्जन्य देवको भी विश्वकी आत्मा कहा गया है।]

२. जिस स्थानपर देवोंके उपासक, दूसरे कल्याणकी ओर ले जानेवाले एक कल्याणकी अभिलाषासे यज्ञरूप हलके जुए पकड़कर आगे ले जाते रहते हैं, उस स्थानपर जिस प्रकार कोई युवक किसी युवतीके पीछे पीछे जाता है उसी प्रकार यह सूर्य सौन्दर्यसे चमकती उषा देवीके पीछे जाता रहता है।

[**युगानि वितन्वते** यज्ञकर्मपर कृषिकर्मका आरोप करके यह वर्णन किया गया है। दे.१०·१०१·३–४। १·१४२·१ में उसपर तन्तुवायके कर्मका आरोप स्पष्ट है। दे. वहाँकी टिप्पणी।]

३. इस सूर्यके ये कल्याणप्रद, पीतवर्ण, सुशोभित, शीघ्रतासे गमन करनेवाले, सराह-

तत् सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्तोर्विततं सं जभार ।
यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै ॥ ४ ॥

तत् । सूर्यस्य । देवऽत्वम् । तत् । महिऽत्वम् । मध्या । कर्तोः । विऽततम् । सम् । जभार ।
यदा । इत् । अयुक्त । हरितः । सधऽस्थात् । आत् । रात्री । वासः । तनुते । सिमस्मै ॥४॥

तन्मित्रस्य वरुणस्याभिचक्षे सूर्यो रूपं कृणुते द्योरुपस्थे ।
अनन्तमन्यद्रुशदस्य पाजः कृष्णमन्यद्धरितः सं भरन्ति ॥ ५ ॥

तत् । मित्रस्य । वरुणस्य । अभिऽचक्षे । सूर्यः । रूपम् । कृणुते । द्योः । उपऽस्थे ।
अनन्तम् । अन्यत् । रुशत् । अस्य । पाजः । कृष्णम् । अन्यत् । हरितः । सम् । भरन्ति ॥५॥

नाके योग्य घोड़े, आदरपूर्वक विनम्र होकर, स्वर्गके पृष्ठभाग पर चढ़ रहे हैं। एक क्षणमें ही स्वर्ग और पृथिवीको भी ये घोड़े संवेष्टित कर लेते हैं।

[**नमस्यन्तः** आकाशमार्गसे उड़ान करनेके लिए घोडों द्वारा उठाए गये अग्रिम दो चरणोंपर, नमस्कार करनेके लिए प्रयुक्त दो हस्तोंकी यह मनोहर कविकल्पना है ।]

४. (बुननेके) कार्यके प्रवर्तमान कामके बीचमें ही रात्रिने अपना (बुननेके लिये) फैलाया हुआ (अन्धकाररूप वस्त्र) समेट लिया, इसीमें सूर्यके देवत्व और महत्त्व हैं। जिस समय सूर्यने अश्वशालासे घोड़ोंको अपने रथमें जोता ठीक उसी समय प्रत्येक प्राणिमात्रके लिए रात्रि अपना अन्धकाररूप वस्त्र बुनती रहती है ।

[**विततं** के साथ चतुर्थ चरणसे **वासः** शब्दको खींच करके अन्वय उचित है । साथ साथ **संजभार** क्रियाके कर्ताके रूपमें **रात्री** शब्दका अन्वय करना भी आवश्यक है; दे. २·३८·४। २·३·६ में उषा और रात्रि इन दोनोंको बुननेवाली नारियाँ बतलाया गया है । **हरितः** सात है; दे. ७·६०·३। **तनुते** यह वर्तमान-कालीन प्रयोग सूचित करता है कि जबतक सूर्य साक्षात् आकर खड़े न हों तबतक यह धृष्ट रात्री अपना कार्य चालू ही रखती है ।]

५. यह सूर्य अपना रूप स्वर्गकी गोदमें प्रगट कर रहा है ताकि मित्र और वरुण उसे अच्छी तरहसे अवलोकन करें। इसके घोड़े, इसका कभी समाप्त न होनेवाला एवं चमकनेवाला एक तेज (दिनमें) और दूसरा कृष्णवर्ण तेज (बादमें रातमें प्रकट करके) निरन्तर लाते रहते हैं।

[**मित्रस्य वरुणस्य अभिचक्षे** 'अपने स्वामी मित्रको और वरुणको दिखाई दे इस लिए'। **रूपं कृणुते** 'अपना स्वरूप प्रकट करता है' । षष्ठीका संबन्ध **अभिचक्षे** (तुमन्त) से है, **रूपम्** से नहीं। **अन्यत् रुशत् अन्यत् कृष्णम्** सूर्यदेव दिनमें शुभ्रवर्ण और रातमें कृष्णवर्ण तेज धारण करता है और उसकी घोडियाँ उसके इस तेजको क्रमशः (पृथ्वीके) ऊपर और नीचेके स्थानोंमें वहन करती हैं। इसी वजहसे ऋषिलोग रातका और दिनका उल्लेख क्रमशः **अहश्च कृष्णम् अहरर्जुनं च** शब्दोंसे ६·९·१ में करते हैं।]

अद्या देवा उदिता सूर्यस्य निरंहसः पिपृता निरवद्यात् ।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः ॥ ६ ॥

अद्य । देवाः । उत्ऽइता । सूर्यस्य । निः । अंहसः । पिपृत । निः । अवद्यात् ।
तत् । नः । मित्रः । वरुणः । ममहन्ताम् । अदितिः । सिन्धुः । पृथिवी । उत । द्यौः ॥६॥

६. हे देवों, आज इस सूर्यके उदयके समय संकट तथा अपयशसे भी हमें बचाओ। मित्र, वरुण, अदिति, सिन्धु, पृथ्वी तथा द्युदेव हमारी इस मनीषाको पूर्ण करें।

[**उदिता सूर्यस्य** इन पदोंमें सूचित अर्थ निम्नानुसार है–सूर्यदेव मित्र, वरुण, तथा अन्य देवोंका वह नेत्र है जो लोगोंके सत्यानृतका साक्षी है। अतः उदित होनेपर यह सूर्य सभी देवोंके संमुख हमारे निरपराधत्वक प्रतिपादन करे और ये देव भी हमें पापनिर्मुक्त करें।]

११

१·११६·१–२५ कक्षीवान् दैर्घतमस औशिजः ॥ अश्विनौ ॥ त्रिष्टुप् ॥

नासत्याभ्यां बर्हिरिव प्र वृञ्जे स्तोमाँ इयर्म्यभ्रियेव वातः।
यावर्भगाय विमदाय जायां सेनाजुवा न्यूहतू रथेन ॥ १ ॥

नासत्याभ्याम् । बर्हिःऽइव । प्र । वृञ्जे । स्तोमान् । इयर्मि । अभ्रियाऽइव । वातः ।
यौ । अर्भगाय । विऽमदाय । जायाम् । सेनाऽजुवा । निऽऊहतुः । रथेन ॥ १ ॥

वीळुपत्मभिराशुहेमभिर्वा देवानां वा जूतिभिः शाशदाना ।
तद्रासभो नासत्या सहस्रमाजा यमस्य प्रधने जिगाय ॥ २ ॥

वीळुपत्मऽभिः । आशुहेमऽभिः । वा । देवानाम् । वा । जूतिऽभिः । शाशदाना ।
तत् । रासभः । नासत्या । सहस्रम् । आजा । यमस्य । प्रऽधने । जिगाय ॥ २ ॥

१. जिन्होंने युवा विमदको अपने (कूच करनेके लिए आज्ञापित) सेनाकी तरह वेगवान् रथसे, उसकी भार्या लाकर दी, उन नासत्य देवोंको जिस प्रकार कुशासन उस प्रकार (यह घर्मरूप हव्य भी) मैं समर्पित करता हूँ। जिस प्रकार हवा छोटे छोटे बादलोंको (आकाशमें घुमानेकी) प्रेरणा देती है उसी प्रकार मैं अपने स्तोत्रोंको (उनकी ओर जानेकी) प्रेरणा देता हूँ।

[प्रथम पादमें **घर्मम्** शब्दका अध्याहार करना उचित होगा। **प्र+वृज्** धातुका 'घर्म' नामके हव्यसे संबन्ध होना युक्त है; दे. ५।३०।१५। **जायाम्** इसका नाम है कमद्यू; दे. १०·६५·१२। **सेनाजुवा** (सेनाजू) 'हमला करनेवाली सेनाकी तरह वेगवान्' दे. १·१४३·५]

२. कभी मज़बूत पंखवाले (पक्षियोंकी), कभी अति वेगवान् अश्वोंकी, तो कभी देवोंके द्वारा दी गयी उत्तेजनाकी, सहायतासे तुम (पूर्वकालीन दौड़ोंमें) चमके। किन्तु यमके द्वारा चलायी हुई उस मूल्यवान् दाँववाली दौड़में तुम्हारे रासभने ही यह सहस्रनिष्कात्मक दाँव जीता।

[**शाशदाना** (√शद्) यह समझना उचित होगा कि यहाँ भी कृदन्तका उपयोग क्रियाकी तरह हुआ है। **रासभः** अश्विनोंके वाहनोंमें यह भी एक प्रमुख था। **आजा यमस्य** सायणाचार्यके मतमें यहाँ सूर्याके स्वयंवरके समय आयोजित स्पर्धाका उल्लेख है।]

तुग्रो ह भुज्युमश्विनोदमेघे रयिं न कश्चिन्ममृवाँ अवाहाः ।
तमूहथुर्नौभिरात्मन्वतीभिरन्तरिक्षप्रुद्भिरपोदकाभिः ॥ ३ ॥

तुग्रः। ह। भुज्युम्। अश्विना। उदऽमेघे। रयिम्। न। कः। चित्। ममृऽवान्। अव। अहाः।
तम्। ऊहथुः। नौभिः। आत्मन्ऽवतीभिः। अन्तरिक्षप्रुत्ऽभिः। अपऽउदकाभिः ॥ ३ ॥

तिस्रः क्षपस्त्रिरहातिव्रजद्भिर्नासत्या भुज्युमूहथुः पतङ्गैः ।
समुद्रस्य धन्वन्नार्द्रस्य पारे त्रिभी रथैः शतपद्भिः षळश्वैः ॥ ४ ॥

तिस्रः। क्षपः। त्रिः। अहा। अतिव्रजत्ऽभिः। नासत्या। भुज्युम्। ऊहथुः। पतङ्गैः।
समुद्रस्य। धन्वन्। आर्द्रस्य। पारे। त्रिऽभिः। रथैः। शतपत्ऽभिः। षट्ऽअश्वैः ॥ ४ ॥

अनारम्भणे तदवीरयेथामनास्थाने अग्रभणे समुद्रे ।
यदश्विना ऊहथुर्भुज्युमस्तं शतारित्रां नावमातस्थिवांसम् ॥ ५ ॥

अनारम्भणे। तत्। अवीरयेथाम्। अनास्थाने। अग्रभणे। समुद्रे।
यत्। अश्विनौ। ऊहथुः। भुज्युम्। अस्तम्। शतऽअरित्राम्। नावम्। आतस्थिऽवांसम् ॥५॥

---

३. हे अश्विना देवों, तुग्र नामके राजाने अपने भुज्यु नामक पुत्रको जलसे भरे हुए समुद्रमें, उसी प्रकार (असहायतासे ही) छोड़ दिया जैसे कोई मृत पुरुष अपनी संपत्तिको। (तथापि) तुमने, जलको स्पर्श न करनेवाली, अन्तरिक्षमें चलनेवाली सजीव नौकाओंसे उसे बाहर निकाला।

[यह भुज्युकी कथा है। दूसरे चरणकी उपमाके आधारपर मालूम होता है कि विवश होकर तुग्रने भुज्युका त्याग किया होगा। उसका विश्वासघात असलमें उसके मित्र कहलानेवालोंने ही किया। दे. ७·६८·७। **नौभिः** आगे चलकर देखिये।]

४. तीन रात और तीन दिन निरन्तर चलनेवाले पक्षियोंकी सहायतासे, हे नासत्यो, अपने छः अश्व तथा सौ चरणवाले तीन (प्रकारके) रथपर बैठाकर, तुम भुज्युको जलसे भरे हुए समुद्रके पार सूखी ज़मीन पर ले गये।

[अश्विनीकुमारोंका रथ भुज्युको ज़मीन पानी एवं अन्तरिक्ष इन तीनों प्रदेशोंमेंसे उठाकर ले आया। अतएव इस एक ही रथमें छः घोडोंके तीन रथोंकी और सौ डाँडोंकी सहायतासे चलनेवाली नौका अथवा नौकाओंकी (ऋ. ३) कल्पना करके अन्तमें कविने अश्विनीकुमारोंके घोडोंको श्येनपक्षी भी माना है। **त्रिः अहा** 'त्रीणि' के स्थानपर 'त्रिः' अव्ययको प्रयुक्त करना कविकी निरङ्कुशताका परिचायक है। इसी तरहका उपयोग अन्य स्थानोंपर भी पाया जाता है।]

५. जिस समय सौ डाँडोंवाली नौकापर आरूढ भुज्युको तुमने उसके घर पहुँचाया, उस समय टिकने, खड़े रहने तथा पकड़नेके लिए बिलकुल आधार न रखनेवाले समुद्रमें तुमने अपना पराक्रम दिखाया।

यमश्विना ददथुः श्वेतमश्वमघाश्वाय शश्वदित्स्वस्ति ।
तद्वां दात्रं महि कीर्तेन्यं भूत्पैद्वो वाजी सदमिद्धव्यो अर्यः ॥ ६ ॥

यम् । अश्विना । ददथुः । श्वेतम् । अश्वम् । अघऽअश्वाय । शश्वत् । इत् । स्वस्ति ।
तत् । वाम् । दात्रम् । महि । कीर्तेन्यम् । भूत् । पैद्वः । वाजी । सदम् । इत् । हव्यः । अर्यः ॥६॥

युवं नरा स्तुवते पज्रियाय कक्षीवते अरदतं पुरंधिम् ।
कारोतराच्छफादश्वस्य वृष्णः शतं कुम्भाँ असिञ्चतं सुरायाः ॥ ७ ॥

युवम् । नरा । स्तुवते । पज्रियाय । कक्षीवते । अरदतम् । पुरम्ऽधिम् ।
कारोतरात् । शफात् । अश्वस्य । वृष्णः । शतम् । कुम्भान् । असिञ्चतम् । सुरायाः ॥ ७ ॥

हिमेनाग्निं घ्रंसमवारयेथां पितुमतीमूर्जमस्मा अधत्तम् ।
ऋबीसे अत्रिमश्विनावनीतमुन्निन्यथुः सर्वगणं स्वस्ति ॥ ८ ॥

हिमेन । अग्निम् । घ्रंसम् । अवारयेथाम् । पितुऽमतीम् । ऊर्जम् । अस्मै । अधत्तम् ।
ऋबीसे । अत्रिम् । अश्विना । अवऽनीतम् । उत् । निन्यथुः । सर्वऽगणम् । स्वस्ति ॥ ८ ॥

६. हमेशा दुष्ट अश्व ही जिसके हिस्से पड़ते हैं ऐसे (पेदु नामक) वीरको, उसका मूर्तिमान् नित्य कल्याणरूप जो शुभ्र अश्व तुमने दिया, वह तुम्हारा दान, हे अश्विना, महत्त्वपूर्ण और प्रशंसनीय हुआ । पेदुका यह बलवान् अश्व श्रीमान् यजमानकी सहायताके लिये सर्वदा बुलाये जाने लायक ही है ।

[**अघाश्व**—यह पेदु नामके राजपुत्रका उपनाम मालूम होता है । शायद उसके भागमें हमेशा दुष्ट (अघ) घोड़े ही रहे हों । **स्वस्ति** (नपुं.) तथा **दात्रं** का क्रमशः **अश्वं** तथा **वाजी** के साथ सामानाधिकरण्य (समान विभक्ति) मानना ठीक होगा ।]

७. हे नरश्रेष्ठों, तुम्हारी स्तुति करनेवाले पज्रकुलोत्पन्न कक्षीवान् नामके ऋषिको तुमने अत्यंत समृद्धि भी प्राप्त करा दी । उसे तुमने अपने बलवान् अश्वकी खुररूपी छाननीसे सुराके सैंकड़ों घड़े निकालकर प्रदान किये ।

[**कारोतरात् शफात्**—घोड़ेके खुरपर छलनीका आरोप किया गया है। यहाँ आशय तो यह दिखाई देता है कि कक्षीवान् ऋषिको सैंकड़ों सुराके कुम्भ प्राप्त हुए; अतः उन्हें बेचकर वे स्वयं श्रीमान् बने । १·११७·६ के 'मधु' में इसी सुराका ही उल्लेख है । मालूम होता है कि उस समय धनवान् अनार्योंके साथ साथ कई आर्य लोग भी सुराके ग्राहक थे । '**युध्यन्ते दुर्मदासो न सुरायाम्**' (८·२·१२) द्वारा इसीको पुष्टि मिलती है।]

८. हे अश्विना देवों, हिमवृष्टि करके (उसके चारों ओरकी) जलती हुई अग्निका (याने

परावतं नासत्यानुदेथामुच्चाबुध्नं चक्रथुर्जिह्मबारम्।
क्षरन्नापो न पायनाय राये सहस्राय तृष्यते गोतमस्य ॥ ९ ॥

परा। अवतम्। नासत्या। अनुदेथाम्। उच्चाऽबुध्नम्। चक्रथुः। जिह्मऽबारम्।
क्षरन्। आपः। न। पायनाय। राये। सहस्राय। तृष्यते। गोतमस्य ॥ ९ ॥

जुजुरुषो नासत्योत वव्रिं प्रामुञ्चतं द्रापिमिव च्यवानात्।
प्रातिरतं जहितस्यायुर्दस्रादित्पतिमकृणुतं कनीनाम् ॥ १० ॥

जुजुरुषः। नासत्या। उत। वव्रिम्। प्र। अमुञ्चतम्। द्रापिम्ऽइव। च्यवानात्।
प्र। अतिरतम्। जहितस्य। आयुः। दस्रा। आत्। इत्। पतिम्। अकृणुतम्। कनीनाम् ॥ १० ॥

उसके दाहक तेजका) तुमने प्रथम निवारण किया। तदनन्तर उसे अन्नांशयुक्त पुष्टिवर्धन पेय दिया, और फिर गर्तमें फेंके गए अत्रिको उसके समग्र परिवारसहित तुमने सुखसे ऊपर निकाला।

[**पितुमती ऊर्ज्**–गरम किया गया दूध–यह पेय आश्विनोंको विशेष रूपसे प्रिय है। यहाँकी कथा निम्नानुसार है—अत्रि ऋषिको धधकती ज्वालाओंसे ऊपर उठानेके पहले इन देवोंने हिमवृष्टि करके उसकी आगको बुझा दिया। बादमें अत्यन्त क्षीण एवं बहुत दुबले ऋषिने जब थोडा बहुत होश सँभाला तब उसे उन्होंने सुखपूर्वक ऊपर उठाया। इसके लिए ७·६८·५ की टिप्पणी देखिये।]

९. (उस गौतमके) कूपको तुमने (उलटा करके) ऊपर ऊँचा उठा दिया और उसे ऊर्ध्वतल तथा तिर्यङ्मुख स्थापित किया। अपने तृषित अनुयायियोंको (याने गायोंको) पिलाने दिया जाय तथा खुद गोतमऋषिको भी हजारों (गायोंकी) संपदा प्राप्त हो जाँय इस लिए, (उस कूपमेंसे ही) जलके प्रवाह नदियोंकी तरह (उन सभीको आगे समतल भूमिपर) बहने लगे।

[गहरे कुँएके जलको ऊपर ले आनेकी यह दैवी सूझ पहले १·८५·१०–११ के स्थानपर मरुद्गणोंके संबन्धमें और इसी ऋषिके विषयमें वर्णित है। अन्तर सिर्फ़ इतना ही है कि वहाँ स्वयं ऋषि ही प्यासा है, तो यहाँ उसके हजारों प्राणी, चौपाये (गौएं आदि) प्याससे व्याकुल बने हैं। '**पानाय**' के स्थानपर '**पायनाय**' जैसे प्रयोजक रूपको प्रयुक्त करनेका यही अभिप्राय मालूम होता है। संभव है कि गहरे कुंएसे ऊपरी सतहपर आये हुए पानीको निकालनेमें आदमी समर्थ हो सकें (ऋचा २२); किन्तु चौपायोंके लिए यह सर्वथा असंभव है। इसीलिए जलको समतल भूमिपर बहाना अतीव आवश्यक हो उठा। **गोतमस्य** का अन्वय **अवतम्** के साथ साथ **तृष्यते** इस पदसे भी करना उचित है।]

१०. और हे नासत्यों, उस जराजर्जर च्यवानऋषिके शरीरकी खालें, जिस प्रकार जिरहबख्तर (कवच) उतारा जाता है उसी प्रकार अत्यंत आसानीसे छुड़ा कर निकाल लीं। हे अद्भुत कर्म करनेवाले देवों, जिसको उसके आप्तोंने निराश होकर छोड़ दिया था, उस ऋषिकी आयु तुमने बढ़ाई; साथ ही उसे विवाहयोग्य कन्याओंका पति भी बनाया।

[**द्रापिम् इव**। ५·७४·५ में '**द्रापिम्**' के स्थानपर 'अत्कम्' उपमानके रूपमें आया है। ये दोनों उपमाएं त्वचाको निकाल देनेकी सुलभता सूचित करती हैं। साथ साथ दे. ७·६८·६।]

तद्वां नरा शंस्यं राध्यं चाभिष्टिमन्नासत्या वरूथम् ।
यद्विद्वांसा निधिमिवापगूळ्हमुद्दर्शतादूपथुर्वन्दनाय ॥ ११ ॥

तत् । वाम् । नरा । शंस्यम् । राध्यम् । च । अभिष्टिऽमत् । नासत्या । वरूथम् ।
यत् । विद्वांसा । निधिम्ऽइव । अपऽगूळ्हम् । उत् । दर्शतात् । ऊपथुः । वन्दनाय ॥११॥

तद्वां नरा सनये दंस उग्रमाविष्कृणोमि तन्यतुर्न वृष्टिम् ।
दध्यङ् ह यन्मध्वाथर्वणो वामश्वस्य शीर्ष्णा प्र यदीमुवाच ॥ १२ ॥

तत् । वाम् । नरा । सनये । दंसः । उग्रम् । आविः । कृणोमि । तन्यतुः । न । वृष्टिम् ।
दध्यङ् । ह । यत् । मधु । आथर्वणः । वाम् । अश्वस्य । शीर्ष्णा । प्र । यत् । ईम् । उवाच ॥१२॥

११. जिस समय (भूगर्भमें) छिपा कर रखी हुई निधिकी तरह उस सुन्दर (गर्तमेंसे) वन्दन ऋषिको उसकी वन्दनाकी वजहसे ऊपर निकाला, उस समयकी, तुम्हारी वह आश्वासन-सहित सुरक्षा, हे नरश्रेष्ठ नासत्यों, सराहनीय होनेके साथ सम्मानयोग्य भी है ।

[**निधिम् इव** । ऋ. १·११७·५ में ' दर्शतं रुक्मम् ' उपमान बनकर आया । दोनों उपमाओंका उद्देश्य स्पष्ट है । यहाँ क्रियाविषय ऋषिके अथवा उसके गर्तके द्वारा कवि अश्विनीकुमारोंकी क्रियाकी दर्शनीयताको सूचित करना चाहता है । प्रस्तुत स्थानपर **दर्शत** पद स्पष्टतया गर्तके विशेषणके रूपमें प्रयुक्त है; अत एव **ऋश्यदात्** (१०।३९।८) अथवा **क्षेत्रात्** (१·११९·७) का अध्याहार करना उचित होगा। **वन्दनाय** यहाँ **वन्दन** शब्द स्पष्ट रूपसे श्लिष्ट है और इस श्लेषकी सहायतासे चतुर्थीके प्रत्ययद्वारा, क्रियाविषय पुरुष (वन्दन ऋषि) एवं क्रियाके प्रयोजन (प्रणाम) दोनोंका बोध कराना यही कविका उद्देश्य है । पुरुषवाचक चतुर्थीके लिये दे. ' विश्पलायै ' (१·११६·१५)। अथवा प्रस्तुत ऋचामें वाक्यार्थको स्पष्ट करनेके लिए ' **वन्दनम्** ' पदका अध्याहार कीजिये।]

१२. जिस समय अथर्वकुलोत्पन्न दध्यच् ऋषिने (अपने रुण्डपर तुमने अस्थायी रूपसे लगाए हुए) अश्वके सिरकी सहायतासे तुम्हें यह मधुविद्या विशद करके सिखाई उस समयका वह तुम्हारा उग्र और अद्भुत कर्म पारितोषिक प्राप्त करनेकी आशासे, (अपनी वाणीसे लोगोंमें) मैं उसी प्रकार प्रकट कर रहा हूँ जैसे मेघगर्जना वृष्टिको ।

[उत्तरार्धमें ' यत् ' दो बार प्रयुक्त हुआ है । पहली बार मधुविद्याके कथनका, और दूसरी बार उसके कथनके ढंगका अद्भुतत्व सूचित है । कविका आशय यों है–इन्द्रके विरोधके बावजूद उस विद्याका कथन किया यह तो अद्भुत है ही; किन्तु चिपकाए गये घोड़ेके मुँहसे उसे कहा गया यह तो इससे भी अधिक अद्भुत है । प्रथमार्धकी उपमामें ' प्रमोदजनक अविष्कार ' को ही साधारणधर्म मानना ठीक होगा ।]

अजोहवीन्नासत्या करा वां महे यामन् पुरुभुजा पुरंधिः ।
श्रुतं तच्छासुरिव वध्रिमत्या हिरण्यहस्तमश्विनावदत्तम् ॥ १३ ॥

अजोहवीत् । नासत्या । करा । वाम् । महे । यामन् । पुरुऽभुजा । पुरम्ऽधिः ।
श्रुतम् । तत् । शासुःऽइव । वध्रिऽमत्याः । हिरण्यऽहस्तम् । अश्विनौ । अदत्तम् ॥१३

आस्नो वृकस्य वर्तिकामभीके युवं नरा नासत्यामुमुक्तम् ।
उतो कविं पुरुभुजा युवं ह कृपमाणमकृणुतं विचक्षे ॥ १४ ॥

आस्नः । वृकस्य । वर्तिकाम् । अभीके । युवम् । नरा । नासत्या । अमुमुक्तम् ।
उतो इति । कविम् । पुरुऽभुजा । युवम् । ह । कृपमाणम् । अकृणुतम् । विऽचक्षे ॥१४॥

१३. तुम्हारे (लोकहित के लिए किये गए) नित्य संचारमें, हे बहुतोंको अन्नदान करनेवाले नासत्यों, एक महान् (प्रसाद) के लिए एक प्रौढ स्त्रीने तुम्हारे (प्रसूतिकाओंको छुड़ाने में कुशल) हाथोंकी प्रार्थना की । उसी प्रकार नपुंसक पतिवाली एक स्त्रीका (बयान) तुमने किसी अधिकारी पुरुषकी आज्ञाकी तरह सुना, और उसे हिरण्यहस्त नामक पुत्र प्राप्त करा दिया ।

[' पुरन्धि ' नामकी स्त्री सुलभ प्रसूतिकी आकाङ्क्षा रखती थी; इसीलिये उसने इन देवोंके (नासत्योंके) उन हस्तोंका आवाहन किया है जो गर्भिणीको मुक्त करनेमें सिद्धहस्त है । दे. १०·३९·७ **युवं सुषुतिं चक्रथुः पुरन्धये** । सार्थक नाम रखनेवाली वध्रिमतीको (**वध्रि** याने तृतीयप्रकृति) पुत्रकी ही अपेक्षा थी । देखो १।११७।२४ । तीसरे पादमें ' हवम् ' का अध्याहार अपेक्षित है और **शासुः इव** की उपमाद्वारा विना विलम्बके एवं तत्परताके साथ क्रियाकारिता सूचित की गई है । दूसरे पादमें **महे** को **मह** (स्वरान्त) शब्दसे बना हुआ ' **यामन्** ' का सप्तम्यन्त विशेषण मान लें, अथवा **अवसे** या **सुविताय** (७·७५·२) के अध्याहार करके उसे **मह्** (व्यञ्जनान्त) शब्दकी चतुर्थी माननेमें कोई कठिनाई नहीं है ।]

१४. हे नरश्रेष्ठ नासत्यों, तुमने किसी भेड़ियेके जबड़ेसे एक छटपटाती हुई चिड़ियाको, सहायताके लिए उसके पास दौड़ कर छुड़ाया और फिर, हे बहुत लोगोंका पोषण करनेवाले मनीषियों, तुमने उस दीन, दयाकी याचना करनेवाले अंध कविको दृष्टि प्रदान करके देखनेमें समर्थ बनाया ।

[**वर्तिकाम्** दे. १·११७·१६; १०·३९·१३ । इसे तो भेड़िया पूरी तौरसे निगल चुका था; फिरभी अश्विनोंने उसके मुँहसे इसे छीन लिया । **कवि** यह विशेष संज्ञा दिखाई देती है। दे. १०·४९·३।१०·९९·९ इस कवि तथा ऋज्राश्वकी (ऋ. १६) तरह कण्वको भी इन्हीं देवोंने दृष्टि (आँखें) प्रदान की । दे. १·११८·७]

चरित्रं हि वेरिवाच्छेदि पर्णमाजा खेलस्य परितक्म्यायाम् ।
सद्यो जङ्घामायसीं विश्पलायै धने हिते सर्तवे प्रत्यधत्तम् ॥ १५ ॥

चरित्रम् । हि । वेःऽइव । अच्छेदि । पर्णम् । आजा । खेलस्य । परिऽतक्म्यायाम् ।
सद्यः । जङ्घाम् । आयसीम् । विश्पलायै । धने । हिते । सर्तवे । प्रति । अधत्तम् ॥ १५ ॥

शतं मेषान् वृक्ये चक्षदानमृज्राश्वं तं पितान्धं चकार ।
तस्मा अक्षी नासत्या विचक्ष आधत्तं दस्रा भिषजावनर्वन् ॥ १६ ॥

शतम् । मेषान् । वृक्ये । चक्षदानम् । ऋज्रऽअश्वम् । तम् । पिता । अन्धम् । चकार ।
तस्मै । अक्षी इति । नासत्या । विऽचक्षे । आ । अधत्तम् । दस्रा । भिषजौ । अनर्वन् ॥ १६ ॥

आ वां रथं दुहिता सूर्यस्य कार्ष्मेवातिष्ठदर्वता जयन्ती ।
विश्वे देवा अन्वमन्यन्त हृद्भिः समु श्रिया नासत्या सचेथे ॥ १७ ॥

आ । वाम् । रथम् । दुहिता । सूर्यस्य । कार्ष्मऽइव । अतिष्ठत् । अर्वता । जयन्ती ।
विश्वे । देवाः । अनु । अमन्यन्त । हृत्ऽभिः । सम् । ऊँ इति । श्रिया । नासत्या । सचेथे इति ॥ १७ ॥

---

१५. (घुड़दौड़ में दौड़नेवाली विश्पला नामकी घोड़ीकी) टाँग खेल राजाद्वारा पुरस्कृत घुड़दौड़में ऐन मौकेपर उसी प्रकार सहसा टूट गई जैसे किसी पक्षीका पंख । किंतु तुमने एक ही क्षणमें, घोषित दाँवकी धनराशि जीतनेके लिए वह दौड़में सम्मिलित हो सके इस लिए उस विश्पलाकी (टूटी हुई टाँगकी जगह पर एक मज़बूत) लोहेकी टाँग लगा दी ।

[प्राचीन संप्रदायके अनुसार विश्पला एक युद्ध करनेवाली वीर नारी थी; किन्तु संदर्भको देखते हुए यह स्पष्ट होता है कि वह एक प्रतियोगितामें दौड़की घोड़ी रही होगी ।]

१६. तुम्हारी (कृपापात्र) वृकीको सौ मेंडे काटकर बलि देनेवाले उस ऋज्राश्वको उसके पिताने इस कृत्यपर क्रुद्ध होकर आँख फोड़कर अंधा बना दिया । हे अद्भुत कर्म करनेवाले (कवि-सम्राटों), तुमने निर्विरोध रीतिसे उसके लिए दो नयी आँखें लगा दीं ताकि वह पूर्ववत् स्पष्ट रूपसे देख सके ।

[**वृक्ये**—यह वृकी असलमें वह रासभ है जो अश्विनोंका वाहन था । वही वेषको बदलकर ऋज्राश्वकी परीक्षा लेने आया था । **अनर्वन्** सप्तम्यन्त अव्यय 'उस ढंगसे, जिसमें विरोध (पैदा) न हो'।]

१७. अपने अश्वकी सहायतासे (घुड़दौड़में) विजयी होकर जिस प्रकार कोई युवती सीमाकी रेखापर खड़ी रहती है उसी प्रकार सूर्यकी यह दुहिता तुम्हारे रथपर आरूढ है । उस

यदयातं दिवोदासाय वर्तिर्भरद्वाजायाश्विना हयन्ता ।
रेवदुवाह सचनो रथो वां वृषभश्च शिंशुमारश्च युक्ता ॥ १८ ॥

यत् । अयातम् । दिवःऽदासाय । वर्तिः । भरत्ऽवाजाय । अश्विना । हयन्ता ।
रेवत् । उवाह । सचनः । रथः । वाम् । वृषभः । च । शिंशुमारः । च । युक्ता ॥ १८ ॥

रयिं सुक्षत्रं स्वपत्यमायुः सुवीर्यं नासत्या वहन्ता ।
आ जह्नावीं समनसोप वाजैस्त्रिरह्नो भागं दधतीमयातम् ॥ १९ ॥

रयिम् । सुऽक्षत्रम् । सुऽअपत्यम् । आयुः । सुऽवीर्यम् । नासत्या । वहन्ता ।
आ । जह्नावीम् । सऽमनसा । उप । वाजैः । त्रिः । अह्नः । भागम् । दधतीम् । अयातम् ॥ १९ ॥

समय सभी देवोंने उसके इस कृत्यको एकदम हृदयसे अनुमति दी । सचमुच उस समय, हे नासत्यों, तुम प्रत्यक्ष शोभासे समन्वित हो गये ।

[**काष्मं** 'सीमाकी परिचायक रेष' जिसे सर्व प्रथम छूनेसे, स्पर्धा या प्रतियोगितामें विजय पाई जाती है । **अर्वता जयन्ती** 'प्रतियोगितामें संमिलित होनेवाली युवती'। दे. मुद्गलानी १०.१०२.२ आदि । **सचेथे**-यह वर्तमान कालका प्रयोग असलमें उस अतीतके वृत्तान्तका वाचक है जो कविको कल्पनामें प्रतीत- हुआ था ।]

१८. जिस समय, हे अश्विनीकुमारों, राजा दिवोदास और उसके पुरोहित भरद्वाजकी सहायताके लिए (अपने अश्वोंको) दबाकर अपने नियत संचारके लिए तुमने प्रयाण किया उस समय तुम्हारा वह नित्य उपस्थित होनेवाला रथ तुम्हें बड़े वैभवसे ले गया । क्यों कि उसकी एक बगलमें (ज़मीनपर घूमनेके लिए) एक बड़ा साँड़ और दूसरी बगलमें (जलमार्गसे जानेके लिए) एक बडा नक्र ऐसी जोड़ी जुटी हुई थी ।

[**वृषभ** और **शिंशुमार** ये दो वाहन भूमि तथा जलमेंसे रथको ले जानेके लिए नियुक्त हैं । अन्तरिक्षके प्रवासके लिए श्येनोंका भी उपयोग १.११८.४ आदि स्थानोंपर दिखाई देता है । सिवा इनके रासभ भी इनका बड़ा ही प्रिय वाहन है । (दे. ऋ. २) ।]

१९. हे नासत्यों, दिनमें तीन बार तुम्हारा हविर्भाग तुम्हें समर्पित करनेवाली जन्हुकी प्रजाको तुमने, उत्तम क्षात्रतेजसे युक्त धन और उत्तम प्रजा तथा श्रेष्ठ सामर्थ्यसे युक्त दीर्घ आयुकी अनेक पारितोषिकोंके साथ, एकमत होकर भेंट दी ।

[**जह्नावीम्**-राजा जह्नुकी प्रजा । गेल्डनरके मतमें यह जह्नुकी रानी रही होगी । **त्रिः अह्नः** तीन सवनोंके समयपर । दे. १।१४२।३; ४.५४.६ ।]

परिविष्टं जाहुषं विश्वतः सीं सुगेभिर्नक्तमूहथू रजोभिः ।
विभिन्दुना नासत्या रथेन वि पर्वताँ अजरयू अयातम् ॥ २० ॥

परिऽविष्टम् । जाहुषम् । विश्वतः । सीम् । सुऽगेभिः । नक्तम् । ऊहथुः । रजःऽभिः ।
विऽभिन्दुना । नासत्या । रथेन । वि । पर्वतान् । अजरयू इति । अयातम् ॥ २० ॥

एकस्या वस्तोरावतं रणाय वशमश्विना सनये सहस्रा ।
निरहतं दुच्छुना इन्द्रवन्ता पृथुश्रवसो वृषणावरातीः ॥ २१ ॥

एकस्याः । वस्तोः । आवतम् । रणाय । वशम् । अश्विना । सनये । सहस्रा ।
निः । अहतम् । दुच्छुनाः । इन्द्रऽवन्ता । पृथुऽश्रवसः । वृषणौ । अरातीः ॥ २१ ॥

शरस्य चिदार्चत्कस्यावतादा नीचादुच्चा चक्रथुः पातवे वाः ।
शयवे चिन्नासत्या शचीभिर्जसुरये स्तर्यं पिप्यथुर्गाम् ॥ २२ ॥

शरस्य । चित् । आर्चत्ऽकस्य । अवतात् । आ । नीचात् । उच्चा । चक्रथुः । पातवे । वारिति वाः ।
शयवे । चित् । नासत्या । शचीभिः । जसुरये । स्तर्यम् । पिप्यथुः । गाम् ॥ २२ ॥

२०. चारों ओरसे घिरे हुए उस जाहुष राजाको रात्रिके समय तुमने (भिन्न भिन्न) प्रदेशोंमेंसे और सुगम मार्गोंसे (सुरक्षित स्थानपर) पहुँचा दिया। हे कभी जीर्ण न होनेवाले नासत्यों, तुम अपने (जयशाली) सर्वभेदक रथसे उन पर्वतोंके पार चले गये ।

[उत्तरार्धकी कथा अलग है।]

२१. एक समय प्रभातमें, हे अश्विना, वशनामक (पृथुश्रवाके) पुरोहितको सहस्रों गायों (की दक्षिणा) मिले इस लिए उसके राजाको युद्धमें तुमने सहायता दी। हे पराक्रमी देवों, उस समय तुमने इन्द्रकी सहायता लेकर उस पृथुश्रवस् राजाके दुष्ट निन्दकों तथा शत्रुओंका भी वध किया ।

[**वश** नामका ऋषि कानीन राजा पृथुश्रवस्का पुरोहित था। **इन्द्रवन्ता** इसका आशय है दुष्ट शत्रुओंके विध्वंसनके लिए अश्विनोंने इन्द्रकी सहायताका स्वीकार किया ।]

२२. ऋचत्कका पुत्र जो शर नामक ऋषि उसके गहरे कूपमेंसे उसको पीनेके लिए पानी ऊपर आ जाय ऐसा तुमने किया । (और) हे नासत्यों, क्षुधासे अत्यंत क्षीण शयुके लिए भी तुमने उसकी वन्ध्या गायको भी दूधसे परिपूर्ण बना दिया ।

[**शर** नामका ऋषि । इसके कुंएके तलमें विद्यमान जलको ये देव ऊपरी सतहपर ले आये ताकि मानव उसे पी सकें । इसके विपरीत ऋ. ९ में वर्णन है कि गौतमके कुएके जलको ऊपरी सतहपर लाकर उसे इन देवोंने भूमिपर बहाया ताकि गौतमकी गायें उसे पीनेमें समर्थ हो। शयुकी कथाके लिए दे. १।११८।८ ; ७·६८·८.]

अवस्यते स्तुवते कृष्णियाय ऋजूयते नासत्या शचीभिः ।
पशुं न नष्टमिव दर्शनाय विष्णाप्वं ददथुर्विश्वकाय ॥ २३ ॥

अवस्यते । स्तुवते । कृष्णियाय । ऋजुऽयते । नासत्या । शचीभिः ।
पशुम् । न । नष्टम्ऽइव । दर्शनाय । विष्णाप्वम् । ददथुः । विश्वकाय ॥ २३ ॥

दश रात्रीरशिवेना नव द्यूनवनद्धं श्नथितमप्स्वन्तः ।
विप्रुतं रेभमुदनि प्रवृक्तमुन्निन्यथुः सोममिव स्रुवेण ॥ २४ ॥

दश । रात्रीः । अशिवेन । नव । द्यून् । अवऽनद्धम् । श्नथितम् । अप्ऽसु । अन्तरिति ।
विऽप्रुतम् । रेभम् । उदनि । प्रऽवृक्तम् । उत् । निन्यथुः । सोमम्ऽइव । स्रुवेण ॥ २४ ॥

प्र वां दंसांस्यश्विनाववोचमस्य पतिः स्यां सुगवः सुवीरः ।
उत पश्यन्नश्नुवन् दीर्घमायुरस्तमिवेज्जरिमाणं जगम्याम् ॥ २५ ॥

प्र । वाम् । दंसांसि । अश्विनौ । अवोचम् । अस्य । पतिः । स्याम् । सुऽगवः । सुऽवीरः ।
उत । पश्यन् । अश्नुवन् । दीर्घम् । आयुः । अस्तम्ऽइव । इत् । जरिमाणम् । जगम्याम् ॥ २५ ॥

---

२३. हे नासत्यों, तुम्हारी स्तुति करनेवाले, तुम्हारी कृपा चाहनेवाले, सरलहृदय कृष्णपुत्र विश्वक ऋषिके लिए, तुमने अपने अलौकिक सामर्थ्योंसे उसके पुत्र विष्णापूको किसी खोये हुए पशुकी तरह ढूँढकर, उसके सामने खड़ा किया ताकि वह स्वयं उसे देख सके ।

[तीसरे पादमें उपमावाचक दो बार प्रयुक्त हुआ है। दे. १·१८५·८ की टिप्पणी ।]

२४. दस रात तथा नौ दिन तक दुष्ट शत्रुसे पानीमें फेंके गये, तथा हाथपाँव बांधकर, कुचलकर, गहरे पानीमें डुबाकर रखे गये, रेभ नामक ऋषिको तुमने, उसी प्रकार ऊपर निकाला, जैसे (बड़े पात्रमेंसे) करछुलसे सोमरस। (इस तरह उसे जीवनदान दिया।)

२५. हे अश्विनीकुमारों, तुम्हारे अद्भुत कर्मोंको मैने गाया है। बहुतसी गायें और अनेक पुत्र मुझे मिले, और मै इस सारी संपत्तिका स्वामी होकर रहूँ। तथा अन्ततक (उसे) देखनेमें समर्थ रहकर, दीर्घ आयुका अनुभव लेते हुए घरमें प्रवेश करनेवालेकी तरह, मैं (सुरक्षितता और सुलभतासे) वृद्धावस्थामे प्रवेश करूँ ।

[**अस्य** का अर्थ है 'सामने दिखाई देनेकी संपत्तिका।' दे. ९·८५·८। **पश्यन्**—यह सभी इन्द्रियोंके कार्योंकी ओर संकेत है। **अस्तम् इव जरिमाणम्**—इस उपमाके द्वारा कालके कमसे प्राप्त एवं निरामय वृद्धावस्था सूचित हुई है। दे. १०·१८·६ उपरकी टिप्पणी]

१२

१·११८·१-११ कक्षीवान् दैर्घतमस औशिजः ॥ अश्विनौ ॥ त्रिष्टुप् ॥

आ वां रथो॑ अश्विना श्येनप॑त्वा सुमृळीकः स्ववाँ यात्वर्वाङ् ।
यो मर्त्य॑स्य मन॑सो जवी॑यान् त्रिवन्धुरो वृ॑षणा वात॑रंहाः ॥ १ ॥

आ । वाम् । रथः॑ । अश्विना । श्येनऽप॑त्वा । सुऽमृळीकः । स्वऽवा॑न् । यातु । अर्वाङ् ।
यः । मर्त्य॑स्य । मन॑सः । जवी॑यान् । त्रिऽवन्धुरः । वृषणा । वात॑ऽरंहाः ॥ १ ॥

त्रिवन्धुरेण॑ त्रिवृता रथे॑न त्रिचक्रेण॑ सुवृता या॑तमर्वाक् ।
पिन्व॑तं गा जिन्व॑तमर्व॑तो नो वर्धय॑तमश्विना वीरमस्मे ॥ २ ॥

त्रिऽवन्धुरेण॑ । त्रिऽवृता॑ । रथे॑न । त्रिऽचक्रेण॑ । सुऽवृता॑ । आ । यातम् । अर्वाक् ।
पिन्व॑तम् । गाः । जिन्व॑तम् । अर्व॑तः । नः । वर्धय॑तम् । अश्विना । वीरम् । अस्मे इति॑ ॥२॥

प्रवद्या॑मना सुवृता रथे॑न दस्रा॑विमं शृणुतं श्लोकमद्रेः ।
किमङ्ग वां प्रत्यव॑र्तिं गमि॑ष्ठाहुर्विप्रा॑सो अश्विना पुराजाः ॥ ३ ॥

प्रवत्ऽया॑मना । सुऽवृता॑ । रथे॑न । दस्रौ॑ । इमम् । शृणुतम् । श्लोक॑म् । अद्रेः॑ ।
किम् । अङ्ग । वाम् । प्रति॑ । अव॑र्तिम् । गमि॑ष्ठा । आहुः । विप्रा॑सः । अश्विना । पुराऽजाः ॥३॥

---

१. हे पराक्रमी अश्विनीकुमारों, जो श्येनोंके योगसे (अन्तरिक्षमें) गमन करनेवाला, अत्यन्त दयालु, स्वयंसिद्ध, तीन आसनोंसे युक्त, (मनुष्यके) मनसे भी अधिक वेगवान् तथा वायुकी तरह अतीव शीघ्रगामी है वह तुम्हारा रथ इस ओर मुड़े ।

[**स्ववान्**—१·३५·१० की टिप्पणी देखो । **त्रिवन्धुरः (रथः)** तीसरा आसन अश्विनीकुमारोंकी प्रिया सूर्याके लिये निर्धारित है। ऊपर दे. १·११६·१७।]

२. अपने उस तीन आसन तथा तीन चक्रवाले, सुखसे भ्रमण करनेवाले, तीनों ओरोंसे आगे बढ़नेवाले रथसे तुम यहाँ आओ। और हमारी गायोंको (दुग्धसे) परिपूर्ण करो, अश्वोंको तेजस्वी बनाओ, और हमारी वीर्यशाली प्रजाको सुसमृद्ध करो ।

[**त्रिवृता त्रिचक्रेण**—इस रथके तीन चक्र या पहिये हैं और इनमेंसे किसी भी एकको आगे रखकर याने इच्छानुसार किसी भी ओरसे वह रथ आगे बढ़ सकता है। आशय यह है कि तीन पहियोंपर बिछाये गये तीन आसनोंपर बैठे हुए स्वामियोंमेंसे किसी एककी इच्छाके अनुसार किसी भी दिशामें यह रथ चल सकता है।]

३. ढालुवे मार्गसे आगे बढ़नेवाले, सुखसे भ्रमण करनेवाले अपने रथमें (आकर), हे अद्‌भुत कर्म करनेवाले (देवों), हमारे इस अद्रिका यह श्लोक अच्छी तरह सुनो । हे अश्विनों,

आ वां श्येनासो अश्विना वहन्तु रथे युक्तास आशवः पतङ्गाः ।
ये अप्तुरो दिव्यासो न गृध्रा अभि प्रयो नासत्या वहन्ति ॥ ४ ॥

आ । वाम् । श्येनासः । अश्विना । वहन्तु । रथे । युक्तासः । आशवः । पतङ्गाः ।
ये । अप्ऽतुरः । दिव्यासः । न । गृध्राः । अभि । प्रयः । नासत्या । वहन्ति ॥ ४ ॥

आ वां रथं युवतिस्तिष्ठदत्र जुष्ट्वी नरा दुहिता सूर्यस्य ।
परि वामश्वा वपुषः पतङ्गा वयो वहन्त्वरुषा अभीके ॥ ५ ॥

आ । वाम् । रथम् । युवतिः । तिष्ठत् । अत्र । जुष्ट्वी । नरा । दुहिता । सूर्यस्य ।
परि । वाम् । अश्वाः । वपुषः । पतङ्गाः । वयः । वहन्तु । अरुषाः । अभीके ॥ ५ ॥

उद्वन्दनमैरतं दंसनाभिरुद्रेभं दस्रा वृषणा शचीभिः ।
निष्टौग्र्यं पारयथः समुद्रात् पुनश्च्यवानं चक्रथुर्युवानम् ॥ ६ ॥

उत् । वन्दनम् । ऐरतम् । दंसनाभिः । उत् । रेभम् । दस्रा । वृषणा । शचीभिः ।
निः । तौग्र्यम् । पारयथः । समुद्रात् । पुनरिति । च्यवानम् । चक्रथुः । युवानम् ॥ ६ ॥

पुरातन कालमें जन्म धारण करनेवाले ब्राह्मणोंने तुम्हें संकटके समय दौड़नेवालोंमें सर्वश्रेष्ठ क्यों कहा है ?

[**अद्रेः श्लोकम्**–सोमको पीसनेवाले अद्रियों या पाषाणोंकी गंभीर ध्वनिपर श्लोकमय स्तुतिका आरोप किया गया है। दे. ७·६८·४ । **अवर्तिम्** (अव + ऋतिम्–दे. अवर्त्या ४·१८·३)–' अधःपात, दुर्गति, हीन दशा '। **प्रतिगमिष्ठा**–' विपत्तियोंमें सहायताके लिए तुरन्त दौड़नेवालोंमें सर्वश्रेष्ठ '। कविने इस तरहके चुभनेवाले प्रश्न इन्द्रसे ६·४४·१०; ८·८०·३; १०·४२·२ में और सोमसे ६·५२·३ में पूछे हैं।]

(४) हे अश्विनों, जो जलमें भी चलते हैं, दिव्य गृध्रोंकी तरह अन्तरिक्षमें भी उड़ान लेते हैं तथा तुम्हें सर्वदा (यज्ञोंमें) अपने प्रिय हविर्भाग की ओर ले जाते हैं, वे तुम्हारे रथमें जोड़े हुए वेगवान् श्येन पक्षी तुम्हें यहां लेकर आ जाँय।

[**अप्तुरः**–' स्वर्गीय अथवा अन्य जलोंको पार करनेवाले '। **दिव्यासो गृध्राः**–इनका अभिप्राय सूर्यके स्वर्गीय या दिव्य अश्वोंसे अथवा स्वयं सूर्यसे दिखाई देता हैं। बहुवचनको उपमेयसापेक्ष समझना ठीक होगा। सूर्यको १·१६४·४६ तथा ५२ में ' दिव्य सुपर्ण ' कहा गया है और ७·६३·५ में उसे श्येनकी उपमा दी गई है।]

(५) हे नरश्रेष्ठों, इस स्थानपर सूर्यकी युवती कन्याने खुद अपनी इच्छासे चुनकर, तुम्हारे रथपर आरोहण किया। वे तुम्हारे अन्तरिक्षमें भ्रमण करनेवाले सुन्दर अश्व, वे तुहारे ईषद्रक्तवर्ण पक्षी, तुम्हें हमारी ओर ले आँय।

[**जुष्ट्वी**–' रुचि या प्यार पैदा होनेसे '। फिर भी इस स्वयंवरके लिए प्रतियोगितामें विजय पानेकी शर्त तो थी ही। दे. १·११६·१७।]

(६) अपनी अद्भुत सामर्थ्यसे तुमने वन्दन ऋषिको (गर्तसे) ऊपर निकाला। हे

युवमत्रयेऽवनीताय तप्तमूर्जमोमानमश्विनावधत्तम् ।
युवं कण्वायापिरिप्ताय चक्षुः प्रत्यधत्तं सुष्टुतिं जुजुषाणा ॥ ७ ॥

युवम् । अत्रये । अवऽनीताय । तप्तम् । ऊर्जम् । ओमानम् । अश्विनौ । अधत्तम् ।
युवम् । कण्वाय । अपिऽरिप्ताय । चक्षुः । प्रति । अधत्तम् । सुऽस्तुतिम् । जुजुषाणा ॥७॥

युवं धेनुं शयवे नाधितायापिन्वतमश्विना पूर्व्याय ।
अमुञ्चतं वर्तिकामंहसो निः प्रति जङ्घां विश्पलाया अधत्तम् ॥ ८ ॥

युवम् । धेनुम् । शयवे । नाधिताय । अपिन्वतम् । अश्विना । पूर्व्याय ।
अमुञ्चतम् । वर्तिकाम् । अंहसः । निः । प्रति । जङ्घाम् । विश्पलायाः । अधत्तम् ॥८॥

युवं श्वेतं पेदव इन्द्रजूतमहिहनमश्विनादत्तमश्वम् ।
जोहूत्रमर्यो अभिभूतिमुग्रं सहस्रसां वृषणं वीड्वङ्गम् ॥ ९ ॥

युवम् । श्वेतम् । पेदवे । इन्द्रऽजूतम् । अहिऽहनम् । अश्विना । अदत्तम् । अश्वम् ।
जोहूत्रम् । अर्यः । अभिऽभूतिम् । उग्रम् । सहस्रऽसाम् । वृषणम् । वीळुऽअङ्गम् ॥ ९ ॥

अद्भुत कर्म करनेवाले पराक्रमी वीरों, तुमने अपनी सामर्थ्योंसे रेभ ऋषिको भी (पानीसे) ऊपर उठाया । तुग्रके पुत्र भुज्युको सुखपूर्वक समुद्रसे बाहर तुम ले आये और बूढ़े च्यवान ऋषिको फिर जवान बना दिया ।

(७) हे अश्विनों, जलती हुई (कन्दरा) में फेंके गये अत्रि ऋषिको तुमने अपना पुष्टि-दायक (घर्म नामक) अन्न और संरक्षण प्रदान किया । तुमने घायल कण्व ऋषिके लिए उसकी सुन्दर स्तुतिका आनन्दपूर्वक स्वीकार करके, उसकी (गई हुई) आँखको पुनः प्रस्थापित कर दिया ।

[यहाँ अन्वय है (**ऋवीसे**) **अवनीताय । तप्तं** (**घर्मम्**)के माने हैं दूध । **ऊर्ज्** का अभिप्राय उसी घर्म नामके पेयसे है जो उन्होंने (अश्विनोंने) उसे दिया । दे. साथ साथ ७·६८·५ की टिप्पणी । कण्व अपने घरमें ही किसी दुर्घटनाके कारण अन्धे बने । इसका उल्लेख ८·५·२३ में मिलता है ।]

(८) हे अश्विनों, तुम्हारी करुणा चाहनेवाले पुराने शयुऋषिके लिए उसकी (बांझ) गायको तुमने (दूधसे) परिपूर्ण किया । (भेड़ियाके जबड़ेकी) आपात्तिसे एक चिड़ियाको पूर्ण रूपसे तुमने मुक्त किया (और) विश्पला (नामक घोड़ी) की (टूटी हुई) टाँग फिर (अपने जगहपर) जोड़ दी ।

[**अंहसो अमुञ्चतम्– अंहस्** और कुछ नहीं, वह विपत्ति है जिसने भेड़ियेके मुँहका रूप धारण किया । दे. १·११६·१४ ।]

(९) हे अश्विनों, तुमने पेदु (नामक राजपुत्र) को, जो इन्द्रसे उत्तेजित, शत्रुओंको मारनेवाला धनी यजमानको (सहायताके लिए) बार बार बुलाए जाने योग्य (प्रतिस्पर्धियोंको

ता वां नरा स्ववसे सुजाता हवामहे अश्विना नाधमानाः ।
आ न उप वसुमता रथेन गिरो जुषाणा सुविताय यातम् ॥ १० ॥

ता । वाम् । नरा । सु । अवसे । सुऽजाता । हवामहे । अश्विना । नाधमानाः ।
आ । नः । उप । वसुऽमता । रथेन । गिरः । जुषाणा । सुविताय । यातम् ॥ १० ॥

आ श्येनस्य जवसा नूतनेनास्मे यातं नासत्या सजोषाः ।
हवे हि वामश्विना रातहव्यः शश्वत्तमाया उषसो व्युष्टौ ॥ ११ ॥

आ । श्येनस्य । जवसा । नूतनेन । अस्मे इति । यातम् । नासत्या । सऽजोषाः ।
हवे । हि । वाम् । अश्विना । रातऽहव्यः । शश्वत्ऽतमायाः । उषसः । विऽउष्टौ ॥ ११ ॥

हरानेवाला) उग्र, हजारों उपहार जीतनेवाला, पराक्रमी, सुदृढ अवयवोंसे युक्त एक अत्यन्त धवल घोड़ा दिया ।

[**जोहूत्रम्, अर्यः अभिभूतिम्**–कई बार देवोंकी सहायताकी याचना करनेवाला और शत्रूको परास्त करनेवाला । सायणाचार्य भी इसी तरह अन्वय करते हैं और वही सही मालूम होता है; किन्तु **जोहूत्र** की व्याख्या करते हुए उन्होंने 'अतिशयेन संग्रामेषु आह्वातारम्' लिखा है। इसे युक्तियुक्त नहीं माना जा सकता। क्यों कि इस धातुके यङ्लुगन्त रूप 'देवोंकी सहायताके लिए आवाहन'के अर्थमें कई बार प्रयुक्त हुए है। दे. वाकर० II–२ पृष्ठ ७०७। फिर भी २·१०·१ तथा २·२०·३ में भी इस शब्दका उन्होंने 'सर्वैः ह्वातव्यः' यही अर्थ बतलाया है। इसीका अनुकरण करते हुए गेल्ड्नरने यहाँ 'अर्यो जोहूत्रम्': यह अन्वय किया और प्रस्तुत स्थानपर अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा–'धनवान् यजमानोंद्वारा सहायताकी याचनाके योग्य'। इसी घोड़ेके लिए अन्यत्र 'हव्यो अर्यः' (१·११६·६) तथा 'हव्यं नृभ्यः' (१०·३९·१०) जैसे शब्दोंका उपयोग उपर्युक्त अन्वयके लिए अनुकूल ही पड़ता है। फिर भी यह कहना चाहिये कि 'त्र' धातु-प्रत्ययका अर्थ प्रायः कर्ता अथवा करण का वाचक होता है।]

१०. हे नरश्रेष्ठ अश्विनों, इस प्रकार तुम धन्यजन्मा हो। प्रार्थना करके हम अपनी सुरक्षाके लिए तुम्हें विनयपूर्वक बुला रहे हैं। (तब) हमारी इस स्तुतिरूप वाणियोंका प्रसन्नतासे स्वीकार करके तुम अपने सभी प्रकारके धनोंसे परिपूर्ण रथसे हमारे पास आओ।

११. हे नासत्यों, तुम (अपने रथमें जोड़े हुए) श्येन पक्षीके अभिनव वेगसे, एकाचित्त होकर हमारी ओर आओ। क्यों कि, हे अश्विनों, नियमसे निरन्तर आनेवाली उषा देवीके प्रकट होनेके अवसरपर, हविर्भाग समर्पित करके मैं तुम्हें बुला रहा हूँ।

[**श्येनस्य जवसा**–पदनिदर्शनाका (का. प्र. १०) उत्तम उदाहरण है। यहाँ उद्देश्य शायद उस श्येनसे है जो स्वर्गसे सोमवल्ली लाता है। **सजोषाः**–(क्रियाविशेषण)।]

१३

१·१४२·१-१३ दीर्घतमा औचथ्यः ॥ आप्रीसूक्तम् ॥ १ इध्मः समिद्धोऽग्निर्वा । २ तनूनपात् । ३ नराशंसः । ४ इळः । ५ बर्हिः। ६ देवीर्द्वारः। ७ उषासानक्ता । ८ देव्यौ होतारौ प्रचेतसौ । ९ तिस्रो देव्यः सरस्वतीळाभारत्यः । १० त्वष्टा। ११ वनस्पतिः। १२ स्वाहाकृतयः । १३ इन्द्रः ॥ अनुष्टुप् ॥

समिध्, इडा, बर्हिः आदि यज्ञकर्मोंसे संबद्ध पदार्थोंमें देवताओंकी कल्पना करके उनकी प्रशंसा या स्तुतिके रूपमें प्रणीत सूक्त ‘ आप्री सूक्त ’ कहलाते हैं। (आ समन्तात् देवताः प्रीणन्ति ताः आप्रियः ऋचः।) दे. निरुक्त ८·४। सामान्य रूपसे इन सूक्तोंकी दूसरी ऋचामें नराशंस अथवा तनूनपात् (या दोनों) देवताओंकी स्तुति की जाती है। यह देवता यदि नराशंस हो तो सूक्तको ‘ आप्रियः ’ और तनूनपात् हो तो उसे ‘ आप्रम् ’ की संज्ञा देनेकी प्रथा है। ऋग्वेदमें कुल मिलाकर इस तरहके १० सूक्त हैं। इन सूक्तोंकी ऋचाओंकी संख्या प्रायः ११ होती है। किन्तु प्रस्तुत सूक्तमें तनूनपात् एवं नराशंस दोनोंके उल्लेखके साथ साथ दो ऋचाओंमें स्वाहाकृतियोंका भी स्तवन किया गया है। फलस्वरूप इसमें १३ ऋचाओंका अन्तर्भाव है। पशुयागकी ‘ प्रयाज् ’ नामसे प्रसिद्ध आहुतियोंके साथ साथ इन सूक्तोंका उपयोग किया जाता था और इनक प्रणयन भी इसी उद्देश्यसे हुआ होगा यह मत प्रचलित है। दे.–म. म. पां. वा. काणेकृत धर्मशास्त्रका इतिहास खण्ड २, पृष्ठ १११७–११२०। फिर भी डॉ. पोतदारका प्रतिपादन है कि प्रारम्भमें याने प्रणयनके समय साधारणतया घृत, सोम आदि हव्योंसे संपन्न किये जानेवाले यज्ञोंमें ही इनका उपयोग करनेकी पद्धति प्रचलित रही होगी। दे.–बंबई विश्वविद्यालयका जर्नल् १९४५–४६।

समिद्धो अग्न आ वह देवाँ अद्य यतस्रुचे ।
तन्तुं तनुष्व पूर्व्यं सुतसोमाय दाशुषे ॥ १ ॥

सम्ऽइद्धः । अग्ने । आ । वह । देवान् । अद्य । यतऽस्रुचे ।
तन्तुम् । तनुष्व । पूर्व्यम् । सुतऽसोमाय । दाशुषे ॥ १ ॥

१. उत्तम रूपमें प्रज्वलित होनेपर, हे अग्निदेव, (हविर्भाग समर्पण करनेके लिए) ऊपर उठाए हुए (हातमें) स्रुचा पकड़ लेनेवाले और पीसकर सोमरस तैयार रखनेवाले यजमानके लिए तुम देवोंको लेकर आओ। इस प्रकार पुरातन कालसे प्रचलित इस यज्ञरूप तन्तुको आगे भी बढ़ने दो।

[**पूर्व्यं तन्तुम्**–यज्ञकर्मरूप तन्तु। कल्पना यों है–यज्ञसंस्था एक पट है और व्यक्तिगत या प्रत्येक यज्ञ उसका तन्तु है।]

घृतवन्तमुप मासि मधुमन्तं तनूनपात् ।
यज्ञं विप्रस्य मावतः शशमानस्य दाशुषः ॥ २ ॥

घृतऽवन्तम् । उप । मासि । मधुऽमन्तम् । तनूऽनपात् ।
यज्ञम् । विप्रस्य । माऽवतः । शशमानस्य । दाशुषः ॥ २ ॥

शुचिः पावको अद्भुतो मध्वा यज्ञं मिमिक्षति ।
नराशंसस्त्रिरा दिवो देवो देवेषु यज्ञियः ॥ ३ ॥

शुचिः । पावकः । अद्भुतः । मध्वा । यज्ञम् । मिमिक्षति ।
नराशंसः । त्रिः । आ । दिवः । देवः । देवेषु । यज्ञियः ॥ ३ ॥

ईळितो अग्न आ वहेन्द्रं चित्रमिह प्रियम् ।
इयं हि त्वा मतिर्ममाच्छा सुजिह्व वच्यते ॥ ४ ॥

ईळितः । अग्ने । आ । वह । इन्द्रम् । चित्रम् । इह । प्रियम् ।
इयम् । हि । त्वा । मतिः । मम । अच्छ । सुऽजिह्व । वच्यते ॥ ४ ॥

---

२. हे तनूनपात्, मेरे जैसे परिश्रमपूर्वक कर्म करनेवाले और उपहार समर्पित करनेवाले विप्रका घृत और मधुसे युक्त यह यज्ञीय हविर्भाग (देवोंके पास ले जाकर तुम उन्हें) समर्पित करो।

[**यज्ञम्**–' यज्ञीय हविर्भाग '। दे. १·१·४। **उप मासि** अर्थात् ' देवेभ्यः ' यह पद अध्याहृत है। **तनूनपात्** इस शब्दके अर्थके लिए दे. ३·२९·११.]

३. यह पवित्र, पावन, अद्भुत, देवोंमें यज्ञका स्वीकार करने योग्य नराशंस देव, दिनमें तीन बार हमारे यज्ञ (के हविर्भाग) पर मधुर रससे सिंचन करता है।

[**मध्वा मिमिक्षति**–' मधुर या स्वादुरसका सिञ्चन करता है ' याने मधुर बनाता है (अर्थात् पकाकर)। इसी अर्थमें **सुषूदति** तथा ' **सूदयति** ' जैसे शब्द प्रयुक्त हुए हैं। **त्रिरा दिवः**–' तीन सवनोंके समय '। दे. १·११६·१९; ४·५४·६।]

४. हे अग्निदेव, (इस प्रकार) संप्रार्थित तुम उस सुन्दर तथा (सभीके) प्रिय इन्द्रको यहाँ लेकर आओ। क्यों कि यह मेरी प्रार्थना, हे उत्तम जिह्वा धारण करनेवाले (देव), तुम्हारी ओर अनायास एवं सहज भावसे आ रही है।

स्तृणानासो यतस्रुचो बर्हिर्यज्ञे स्वध्वरे ।
वृञ्जे देवव्यचस्तममिन्द्राय शर्म सप्रथः ॥ ५ ॥

स्तृणानासः । यतऽस्रुचः । बर्हिः । यज्ञे । सुऽअध्वरे ।
वृञ्जे । देवव्यचःऽतमम् । इन्द्राय । शर्म । सऽप्रथः ॥ ५ ॥

वि श्रयन्तामृतावृधः प्रयै देवेभ्यो महीः ।
पावकासः पुरुस्पृहो द्वारो देवीरसश्चतः ॥ ६ ॥

वि । श्रयन्ताम् । ऋतऽवृधः । प्रऽयै । देवेभ्यः । महीः ।
पावकासः । पुरुऽस्पृहः । द्वारः । देवीः । असश्चतः ॥ ६ ॥

आ भन्दमाने उपाके नक्तोषासा सुपेशसा ।
यह्वी ऋतस्य मातरा सीदतां बर्हिरा सुमत् ॥ ७ ॥

आ । भन्दमाने इति । उपाके इति । नक्तोषसा । सुऽपेशसा ।
यह्वी इति । ऋतस्य । मातरा । सीदताम् । बर्हिः । आ । सुऽमत् ॥ ७ ॥

---

५. उत्तम हविर्द्रव्यसे युक्त इस यज्ञमें हमने (देवोंके बैठनेके लिए) कुशासन बिछाकर रखे हैं। और साथ ही घृतपूर्ण कलछुलें (हवन करनेके उद्देश्यसे) ऊंची करके (हाथमें तैयार) रखी हैं। (वैसे ही) इन्द्रके लिए विशाल तथा (उसे और अन्य) देवोंके लिए भी वह सुखासन बिछाया गया है जिस पर बहुत खाली जगह है।

[**स्तृणानासः**–क्रियाके स्थानपर इस कृदन्तका उपयोग किया गया है। उत्तरार्धमें ' बर्हिः ' पदको फिरसे लेकर उसपर ' शर्म 'का आरोप करें और उसे **वृञ्जे** क्रियाका कर्ता मान लें। अर्थात् प्रयोग कर्मणि है। **देवव्यचस्तमम्** (बर्हिः)। उनमें उत्तम जहाँ देवोंके बैठनेके लिए पर्याप्त जगह हो। दे. ५·२६·८।]

६. ऋतका वैभव वृद्धिंगत करनेवाली विशाल, पावन, अनेकोंके लिए स्पृहणीय तथा अक्षयरूप ये द्वार–देवियाँ, सभी देवोंको आगे बढ़नेके लिए एक दूसरेसे अलग हो जाँय।

[**प्रयै**–(प्र + या) चतुर्थी तुमन्त। **विश्रयन्ताम्**–अकर्मक क्रिया।]

७. जिनकी स्तुति सर्वदा ही होती है ऐसे ये उत्तम देहकान्तिसे विभूषित पड़ोसी, ये ऋतकी तरुण माताएँ, नक्त और उषा देवियाँ, हमारे इस दर्भासनपर एक साथ ही उपस्थित हो जाँय।

[**उपाके** (प्रथमा द्विवचन), ' पड़ोसमें रहनेवाली '। **सुमत्** = स्मत् ' साथ साथ ', ' एक ही समय '।]

मन्द्रजिह्वा जुगुर्वणी होतारा दैव्या कवी।
यज्ञं नो यक्षतामिमं सिध्रमद्य दिविस्पृशम्॥ ८॥

मन्द्रऽजिह्वा। जुगुर्वणी इति। होतारा। दैव्या। कवी इति।
यज्ञम्। नः। यक्षताम्। इमम्। सिध्रम्। अद्य। दिविऽस्पृशम्॥ ८॥

शुचिर्देवेष्वर्पिता होत्रा मरुत्सु भारती।
इळा सरस्वती मही बर्हिः सीदन्तु यज्ञियाः॥ ९॥

शुचिः। देवेषु। अर्पिता। होत्रा। मरुत्ऽसु। भारती।
इळा। सरस्वती। मही। बर्हिः। सीदन्तु। यज्ञियाः॥ ९॥

तन्नस्तुरीपमद्भुतं पुरु वारं पुरु त्मना।
त्वष्टा पोषाय वि ष्यतु राये नाभा नो अस्मयुः॥ १०॥

तत्। नः। तुरीपम्। अद्भुतम्। पुरु। वा। अरम्। पुरु। त्मना।
त्वष्टा। पोषाय। वि। स्यतु। राये। नाभा। नः। अस्मऽयुः॥ १०॥

---

८. इन मधुर जिह्वावाले, तथा निरन्तर पठन करनेवाले प्रतिभाशाली देवोंके होते हमारा यह यज्ञ आज द्युलोकमें पहुँचकर सफल हो जाय इस प्रकार देवोंको समर्पित करें।

[**सिध्रं** तथा **दिविस्पृशम्** को अपेक्षित प्रयोजनके परिचायक विशेषण मानना उचित होगा।]

९. देवोंमें प्रस्थापित यह पवित्र होत्रा (देवी), तथा मरुद्गणोंमें (प्रस्थापित) यह भारती (देवी), यह इळा देवी, यह श्रेष्ठ सरस्वती, ये सभी हमारे यज्ञका अङ्गीकार करने योग्य देवियाँ हमारे कुशासनपर उपस्थित हो जाँय।

[**होत्रा भारती**–दे. २·१·११; ३·६२·३। **मही** यहाँ विशेषण है।]

१०. हमारे विषयमें आत्मीयता धारण करनेवाला यह त्वष्टा, हमारी नाभिमें (स्थित) प्रकृतिसे ही विपुल, अनेक बार भी काम आ सके इतना अद्भुत वीर्य, (हमारे वंशकी) वृद्धि हो जाय इसलिए बन्धनसे मुक्त कर दे।

[**पुरु वा अरम्** (अरं पुरु)= **अरं पृथु** ५·६६·५। **वा अरम्** ६·१३·४ तथा ७·७·६ में भी पाये जाते हैं। **नाभा तुरीपम्**। दे. २·३·९; ३·४·९। त्वष्टा उत्पादन शक्तिका अधिष्ठाता देवता माना गया है। इसलिए नाभिस्थ अमोघ वीर्यको मुक्त कर देनेकी उसे प्रार्थना है।]

अवसृजन्नुप त्मना देवान्यक्षि वनस्पते ।
अग्निर्हव्या सुषूदति देवो देवेषु मेधिरः ॥ ११ ॥

अवऽसृजन् । उप । त्मना । देवान् । यक्षि । वनस्पते ।
अग्निः । हव्या । सुसूदति । देवः । देवेषु । मेधिरः ॥ ११ ॥

पूषण्वते मरुत्वते विश्वदेवाय वायवे ।
स्वाहा गायत्रवेपसे हव्यमिन्द्राय कर्तन ॥ १२ ॥

पूषण्ऽवते । मरुत्वते । विश्वऽदेवाय । वायवे ।
स्वाहा । गायत्रऽवेपसे । हव्यम् । इन्द्राय । कर्तन ॥ १२ ॥

स्वाहाकृतान्या गह्युप हव्यानि वीतये ।
इन्द्रा गहि श्रुधी हवं त्वां हवन्ते अध्वरे ॥ १३ ॥

स्वाहाऽकृतानि । आ । गहि । उप । हव्यानि । वीतये ।
इन्द्र । आ । गहि । श्रुधि । हवम् । त्वाम् । हवन्ते । अध्वरे ॥ १३ ॥

११. हे वनस्पते, (यह हव्य) देवोंके पास पहुँचाकर उनका यजन करो । क्योंकि देवोंमें (सबसे अधिक) प्रतिभाशाली यह अग्निदेव हमारे इन हव्योंको स्वादयुक्त बना देता है।

[प्रथम पादमें भी **हव्या** इस (तृतीय पादके) पदको **अवसृजन्** कियाके कर्मके रूपमें ले लें। **सुषूदति**–इसी कल्पनाके लिए दे. ऋ. ३। कुछ आप्री सूक्तोंमें इस स्थानपर आनेवाली ऋचामें **शमिता** (३·४·१०; १०·११०·१०) तथा **रशना** (१०·७०·१०) ये शब्द प्रयुक्त हैं। और बादकी यज्ञप्रक्रियामें इनका संबन्ध वध्य पशुसे स्थापित होता है। अतः कुछ लोगोंके मतमें यहाँ भी वही अर्थ अभिप्रेत होगा।]

१२. पूषा, मरुद्गण तथा विश्वदेव इन्हें साथ लेकर आये हुए इस वायुको, तथा गायत्र (के श्रवण) से प्रसन्न होनेवाले इस इन्द्रको, स्वाहा शब्दका उच्चारण करके हव्य समर्पित करो।

[**विश्वदेवाय** (ब. व्री.) प्रथमार्धके तीनों विशेषणोंका इन्द्रसे संबद्ध होना युक्त है। दे. ८·९८·२। किन्तु समीपताके आधारपर यहाँ इन्हें वायुके लिए प्रयुक्त किया गया है। **गायत्रवेपसे**–वेपस्–' स्फूर्ति ', ' उत्साह ', ' ताज़गी '। गायत्र–गायत्रसाम। सभी देवोंमें **इन्द्र** श्रेष्ठ है; अतएव इस आप्री सूक्तकी चार ऋचाओं (४, ५, १२ और १३) में इसका उल्लेख आया है।]

१३. स्वाहा शब्दके उच्चारणसे अभिमंत्रित हमारे इन हव्योंका स्वीकार करनेके लिए, हे वायुदेव, तुम उपस्थित रहो। हे इन्द्र, तुम भी उपस्थित रहो और हमारा यह आवाहन सुनो। इस यज्ञमें (हमारे ये अनुयायी) तुम्हें आवाहित करते हैं।

१४

१·१४३·१-८ दीर्घतमा औचथ्यः ॥ अग्निः ॥ १-७ जगती । ८ त्रिष्टुप् ॥

प्र तव्यसीं नव्यसीं धीतिमग्नये वाचो मतिं सहसः सूनवे भरे ।
अपां नपाद्यो वसुभिः सह प्रियो होता पृथिव्यां न्यसीदद्दृत्वियः ॥ १ ॥

प्र । तव्यसीम् । नव्यसीम् । धीतिम् । अग्नये । वाचः । मतिम् । सहसः । सूनवे । भरे ।
अपाम् । नपात् । यः । वसुऽभिः । सह । प्रियः । होता । पृथिव्याम् । नि । असीदत् । ऋत्वियः ॥ १ ॥

स जायमानः परमे व्योमन्याविरग्निरभवन्मातरिश्वने ।
अस्य क्रत्वा समिधानस्य मज्मना प्र द्यावा शोचिः पृथिवी अरोचयत् ॥ २ ॥

सः । जायमानः । परमे । विऽओमनि । आविः । अग्निः । अभवत् । मातरिश्वने ।
अस्य । क्रत्वा । सम्ऽइधानस्य । मज्मना । प्र । द्यावा । शोचिः । पृथिवी इति । अरोचयत् ॥ २ ॥

१. दिव्य नदियोंका जो कुमार ठीक समयपर उपस्थित होकर तथा हमारा प्रिय होता बनकर अन्य देवोंके साथ इस पृथिवीपर बैठ रहा है उस अग्निदेवको, उस साक्षात् शक्तिके पुत्रको, मैं अपनी यह अधिक सामर्थ्यशाली, एवं अधिक नूतन प्रार्थना तथा वाङ्मयी स्तुति समर्पित करता हूँ।

[**धीतिम्-वाचो मतिम्** । मानसिक एवं वाचिक स्तुतियोंकी इसी तरहकी जोड़ी अन्यत्र भी दिखाई देती है।]

२. यह अग्निदेव उच्चतम स्वर्गमें जिस समय प्रथम प्रादुर्भूत हुआ उस समय उसने मातरिश्वाके सामने अपना स्वरूप प्रकट किया। जब वह (मनुष्योंसे) प्रज्वलित किया गया तब उसकी बुद्धिसामर्थ्य तथा महानताके कारण, उसके तेजने द्युलोक तथा पृथिवी दोनोंको भी पूर्णतया प्रकाशित किया।

[उच्चतम स्वर्गमें अग्नि प्रथम मातरिश्वाको प्राप्त हुआ और देवों तथा मानवोंके कल्याणके लिए वह उसे पृथ्वीपर ले आया। दे. ३·९·५; मातरिश्वाने अग्निको मन्थनसे प्राप्त कर लिया इसका भी उल्लेख ऋग्वेदके कुछ सूक्तोंमें पाया जाता है। **अस्य क्रत्वा**–दे. **तव क्रत्वा** ३·९·६।]

अस्य त्वेषा अजरा अस्य भानवः सुसंदृशः सुप्रतीकस्य सुद्युतः ।
भात्वक्षसो अत्यक्तुर्न सिन्धवोऽग्ने रेजन्ते अससन्तो अजराः ॥ ३ ॥

अस्य । त्वेषाः । अजराः । अस्य । भानवः । सुऽसंदृशः । सुऽप्रतीकस्य । सुऽद्युतः ।
भाऽत्वक्षसः । अति । अक्तुः । न । सिन्धवः । अग्नेः । रेजन्ते । अससन्तः । अजराः ॥ ३ ॥

यमेरिरे भृगवो विश्ववेदसं नाभा पृथिव्या भुवनस्य मज्मना ।
अग्निं तं गीर्भिर्हिनुहि स्व आ दमे य एको वस्वो वरुणो न राजति ॥ ४ ॥

यम् । आऽईरिरे । भृगवः । विश्वऽवेदसम् । नाभा । पृथिव्याः । भुवनस्य । मज्मना ।
अग्निम् । तम् । गीःऽभिः । हिनुहि । स्वे । आ । दमे । यः । एकः । वस्वः । वरुणः । न । राजति ॥४॥

---

३. सुन्दर दिखनेवाले तथा सुन्दर मुख और तेजस्विता धारण करनेवाले इस अग्निदेवकी किरणें सुतीक्ष्ण एवं जरारहित हैं। तेज ही जिसका सामर्थ्य है ऐसे इस अग्निदेवकी कभी सुप्त न होनेवाली और जरारहित (किरणें) नित्य बहनेवाली नदियोंकी रौनककी तरह निरन्तर चमकती रहती हैं।

[**अक्तुर्न सिन्धवः**–यहाँ 'सिन्धूनाम्' जैसी षष्ठीके स्थानपर 'सिन्धवः' जैसी प्रथमा विभक्तिका प्रयोग करके गौण संज्ञाको प्रधान संज्ञाके साथ समान महत्ता कविने प्रदान की है और इससे लक्षणाके सहारे प्रधान संज्ञापर गौण संज्ञाके सभी गुणोंका आरोप करनेमें सफलता पाई है। इस तरहकी शैली अन्यत्र भी दिखाई देती है। सिन्धुओंकी (बहनेवाली नदियोंकी) ऊपरी सतहपर हमेशा दिखाई देनेवाली **अक्तु** का (दीप्तिका) उल्लेख २·३०·१ में स्पष्ट रीतिसे पाया जाता है। **अति** का अन्वय **रेजन्ते** क्रियासे है। इसी तरहका अन्वय अन्यत्र भी करना पड़ता है। (यो मर्त्यः अक्तुभिः अति शिशीते–वह व्यक्ति जो रातके समय अपने घातक शस्त्रोंको सान देकर सुसज्ज करता है १·३६·१६।)]

४. जिस सर्वज्ञ अग्निदेवको भृगुओंने भुवनके तथा पृथिवीके नाभिप्रदेशपर, उसकी महानताके कारण प्रस्थापित किया और वरुणदेवकी तरह जो अकेला ही (सर्व जगत्की) संपत्तिका स्वामी है उसे अपने घरमें ही अपनी स्तुतियोंसे, (हे अध्वर्यु,) प्रवृत्त करो।

[**मज्मना**–यह **मज्मन्** 'बड़प्पन्' अग्निका है, 'भुवन'का नहीं। दे. ऋ. २। मज्मा, क्रतु, शवस् प्रायः देवताओंके विषयमें प्रयुक्त होते हैं। अतः पृथिव्या भुवनस्य (च) नाभा (वेदीके ऊपर) यही अन्वय ठीक होगा। दे. **भुवनस्य नाभिः** के लिए १·१६४·३४-३५; १·१८५·५ आदि।]

न यो वरा॑य म॒रुता॑मिव स्व॒नः सेने॑व सृ॒ष्टा दि॒व्या य॒थाश॒निः ।
अ॒ग्निर्जम्भै॑स्तिगि॒तैर॑त्ति॒ भर्व॑ति यो॒धो न शत्रू॒न्त्स वना॒ न्यृ॑ञ्जते ॥ ५ ॥

न । यः । वरा॑य । म॒रुता॑म्ऽइव । स्व॒नः । सेना॑ऽइव । सृ॒ष्टा । दि॒व्या । यथा॑ । अ॒शनिः ।
अ॒ग्निः। जम्भैः। ति॒गि॒तैः। अ॒त्ति। भर्व॑ति। यो॒धः। न। शत्रू॑न्। सः। वना॑। नि। ऋ॒ञ्ज॒ते ॥५॥

कु॒विन्नो॑ अ॒ग्निरु॒चथ॑स्य॒ वीरस॒द्वसु॑ष्कु॒विद्वसु॑भिः काम॑मा॒वर॑त् ।
चो॒दः कु॒वित्तु॑तु॒ज्यात् सा॒त॒ये धिय॒ः शुचि॑प्रतीकं॒ तम॒या धि॒या गृ॑णे ॥६॥

कु॒वित्। नः। अ॒ग्निः। उ॒चथ॑स्य। वीः। अस॑त्।वसुः। कु॒वित्। वसु॑ऽभिः । काम॑म्। आ॒ऽवर॑त् ।
चो॒दः। कु॒वित्। तु॒तु॒ज्यात्। सा॒त॒ये। धिय॑ः। शुचि॑ऽप्रतीकम्। तम्। अ॒या। धि॒या। गृ॒णे॥६॥

घृ॒तप्र॑तीकं व ऋ॒तस्य॑ धू॒र्षद॑म॒ग्निं मि॒त्रं न स॑मिधा॒न ऋ॑ञ्जते ।
इन्धा॑नो अ॒क्रो वि॒दथे॑षु॒ दीद्य॑च्छु॒क्रव॑र्णा॒मुदु॑ नो यंसते॒ धिय॑म् ॥ ७ ॥

घृ॒तऽप्र॑तीकम्। वः। ऋ॒तस्य॑। धूः॒ऽसद॑म्। अ॒ग्निम्। मि॒त्रम्। न। स॒म्ऽइ॒धा॒नः। ऋ॒ञ्ज॒ते।
इन्धा॑नः। अ॒क्रः। वि॒दथे॑षु। दीद्य॑त्। शु॒क्रऽव॑र्णाम्। उत्। ऊँ इति॑। नः। यं॒स॒ते। धिय॑म् ॥ ७ ॥

५. मरुद्गणोंकी प्रचण्ड गर्जना, (शत्रुओंपर टूट पड़नेके लिए) छोड़ी हुई (योद्धाओंकी) सेना, आकाशसे गिरनेवाली बिजली, इनकी तरह जिसका निवारण अशक्यप्राय है ऐसा यह अग्निदेव अपनी निशित दंष्ट्राओंसे (वनस्पतियाँ) खाता है और उनका चर्वण करता है। जिस प्रकार योद्धा वीर अपने शत्रुओंको (रणक्षेत्रपर रगड़ देता है) उसी प्रकार यह अग्निदेव वनस्पतियोंको रगड़ देता है।

[**वराय न**—' अनिवार्य है। ' **सेनेव सृष्टा**—' टूट पड़नेकी आज्ञा जिसे मिल चुकी है उस सेनाकी तरह '। यहाँ धातु है **सृज्**—'निर्दिष्ट कार्यको संपन्न करनेके उद्देश्यसे वेगके साथ जानेके लिये छोड़ना', ' आज्ञा देना ' आदि । प्रतियोगितामें दौड़नेवाले अश्वोंके विषयमें इसको कई बार प्रयुक्त किया गया है। **नि ऋञ्जते**–'अपने काबूमें या कब्जेमें कर लेता है'। **नि + ऋञ्ज्** धातुका अर्थ है, ' दूसरेको बलहीन बनाकर वशमें कर लेना '।]

६. क्या यह अग्निदेव हमारे स्तोत्रका गुणग्राहक बनेगा ? क्या यह देव विविध प्रकारके धनोंसे हमारी कामनाकी पूर्ति करेगा ? क्या (हमारे स्तोत्रोंके) यह प्रेरक देवता हमारी स्तुतियोंको धनप्राप्तिके लिए प्रेरित करेगा ? मैं इस स्तोत्रसे तेजस्वी मुखवाले उस देवकी स्तुति करता हूँ।

[**वसुभिः काममावरत्**। दे. **इमं कामं मन्दया गोभिरश्वैः** ३·३०·२० ।]

७. घृतकी तरह (पवित्र) मुखवाले इस यज्ञके प्रमुख नेताको, अग्निदेवको, प्रज्वलित करनेवाला यह (अध्वर्यु) किसी मित्रकी तरह अपने वशमें ला रहा है। यज्ञोंमें प्रज्वलित होकर प्रकाशमान होनेवाला यह अग्निस्वरूप अश्व हमारी उज्ज्वल वर्णकी इस स्तुतिको (देवोंकी ओर जानेकी) प्रेरणा दे।

अप्रयुच्छन्नप्रयुच्छद्भिरग्ने शिवेभिर्नः पायुभिः पाहि शग्मैः ।
अदब्धेभिरदृपितेभिरिष्टेऽनिमिषद्भिः परि पाहि नो जाः ॥ ८ ॥

अप्रऽयुच्छन् । अप्रयुच्छत्ऽभिः । अग्ने । शिवेभिः । नः । पायुऽभिः । पाहि । शग्मैः ।
अदब्धेभिः । अदृपितेभिः । इष्टे । अनिमिषत्ऽभिः । परि । पाहि । नः । जाः ॥ ८ ॥

[**घृतप्रतीकं**–'(वह) जिसका प्रतीक घृतकी तरह **शुचि** (पवित्र) है'। दे. **शुचिप्रतीकं** (ऋ. ६)। 'शुचि' इस साधारण धर्मके लिए 'घृत' उपमानके रूपमें अनेक स्थलोंमें प्रयुक्त है। इसी कल्पनाके अनुसार (७·८५·१ में) उषाको **घृतप्रतीका** कहा गया है। फिर भी अग्निके संबन्धमें **घृतप्रतीकं** का विग्रह 'घृतमेव प्रतीकं यस्य' अथवा 'घृतेन आहुतं प्रतीकं यस्य' की तरह भी किया जा सकेगा। अग्निको **घृतनिर्णिज्** (२·३५·४) तथा **घृतकेश** (८·६०·२) भी कहा गया है। **ऋतस्य धूर्षदम्** ऋत याने यज्ञ-कर्मरूप रथकी धुरापर बैठनेवाला याने सारथ्य करनेवाला अर्थात् ऋतका (यज्ञका) नेता। इसी तरह पूषाको (६·५५·१ में) **ऋतस्य रथीः** कहा गया है। **शुक्रवर्णां धियम्**–स्तुतिरूप वाणीका रंग शुभ्र है यह कल्पना अन्यत्र भी पाई जाती है। ३·३९·२ में तो **'धीः' भद्रा वस्त्राणि अर्जुना वसाना** 'अतीव शुभ्र वस्त्र धारण करनेवाली'के रूपमें वर्णित है।]

८. हे अग्निदेव, कभी न भूलते हुए तुम अपने कभी न भूलनेवाले, मंगलप्रद तथा शक्तिशाली रक्षणसाधनोंसे हमारी रक्षा करो। हे अत्यंत इष्ट देवता, हमारी प्रजाओंकी भी सभी ओरसे अपने उन रक्षकोंके द्वारा रक्षा करो जो रक्षक कभी वञ्चित नहीं हुए, कभी दर्पान्ध न बने और जिन्होंने अपनी आँखोंको कभी नहीं मूँद लिया।

[**इष्टे**–इष्टिका अर्थ है 'मूर्तिमती इच्छा', 'इष्टतम वस्तु'। (अदब्धेभिः) **पायुभिः पाहि**। दे. (अदब्धेभिः) **गोपाभिः पाहि** ६·८·७ (यहाँ भी **इष्टे** यही संबोधन प्रयुक्त है)।]

१५

१·१५४·१-६ दीर्घतमा औचथ्यः ॥ विष्णुः ॥ त्रिष्टुप् ॥

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि ।
यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः ॥ १ ॥

विष्णोः । नु । कम् । वीर्याणि । प्र । वोचम् । यः । पार्थिवानि । विऽममे । रजांसि ।
यः । अस्कभायत् । उत्ऽतरम् । सधऽस्थम् । विऽचक्रमाणः । त्रेधा । उरुऽगायः ॥ १ ॥

प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः ।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ॥ २ ॥

प्र । तत् । विष्णुः । स्तवते । वीर्येण । मृगः । न । भीमः । कुचरः । गिरिऽस्थाः ।
यस्य । उरुषु । त्रिषु । विऽक्रमणेषु । अधिऽक्षियन्ति । भुवनानि । विश्वा ॥ २ ॥

प्र विष्णवे शूषमेतु मन्म गिरिक्षित उरुगायाय वृष्णे ।
य इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थमेको विममे त्रिभिरित् पदेभिः ॥ ३ ॥

प्र । विष्णवे । शूषम् । एतु । मन्म । गिरिऽक्षिते । उरुऽगायाय । वृष्णे ।
यः । इदम् । दीर्घम् । प्रऽयतम् । सधऽस्थम् । एकः । विऽममे । त्रिऽभिः । इत् । पदेभिः ॥ ३ ॥

---

१. जिसने पार्थिव प्रदेशोंपर आक्रमण किया है तथा ऊर्ध्व लोकको भी आधार दिया है, जो अतिविकट चलनेवाला और तीन ही स्थानोंपर दूर दूर पदनिक्षेप करनेवाला है उस विष्णुके पराक्रमोंका गान मुझे करने दो ।

[**त्रेधा (त्रइधा)**–त्रिष्टुभ् अथवा जगतीके चरणोंमें पहले यतिके बाद तुरन्त आनेपर इस शब्दको तीन अक्षरोंका मूल्य प्राप्त होता है ।]

२. जिसके अत्यंत विशाल (दूरतक फैले हुए) पादत्रयोंमें सभी भुवन समा जाते हैं ऐसा उस, भयंकर वन्य पशुकी तरह पर्वतोंपर रहनेवाले और कठिन स्थलोंपर नित्य भटकनेवाले विष्णुका, उसके पराक्रमके कारण स्तवन किया जाता है ।

[तीन **विक्रमण** याने तीनों स्थान–पृथिवी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग । दे. ऋ. ५ तथा १·१५५·३ । **प्र स्तवते** = प्रस्तूयते (कर्मणि) ।]

३. जिसने अकेले होनेपर भी इस अतिविशाल और दूरतक फैले हुए जगत्‌का, केवल तीन पदनिक्षेपोंमें आक्रमण किया, उस पर्वतके निवासी तथा सर्वत्र विशाल संचरण करनेवाले महापराक्रमी विष्णुके पास यह मेरा सामर्थ्यवान् स्तोत्र पहुँचे ।

[**दीर्घं प्रयतं सधस्थम्**–' समूचा विश्व ' ।]

यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्यक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति ।
य उं त्रिधातु पृथिवीमुत द्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा ॥ ४ ॥

यस्य । त्री । पूर्णा । मधुना । पदानि । अक्षीयमाणा । स्वधया । मदन्ति ।
यः । ॐ इति । त्रिऽधातु । पृथिवीम् । उत । द्याम् । एकः । दाधार । भुवनानि । विश्वा ॥४॥

तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां नरो यत्र देवयवो मदन्ति ।
उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः ॥ ५ ॥

तत् । अस्य । प्रियम् । अभि । पाथः । अश्याम् । नरः । यत्र । देवऽयवः । मदन्ति ।
उरुऽक्रमस्य । सः । हि । बन्धुः । इत्था । विष्णोः । पदे । परमे । मध्वः । उत्सः ॥ ५ ॥

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः ।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमव भाति भूरि ॥ ६ ॥

ता । वाम् । वास्तूनि । उश्मसि । गमध्यै । यत्र । गावः । भूरिऽशृङ्गाः । अयासः ।
अत्र । अह । तत् । उरुऽगायस्य । वृष्णः । परमम् । पदम् । अव । भाति । भूरि ॥ ६ ॥

---

४. जिस विष्णुके कभी क्षीण न होनेवाले तथा मधुर रससे नित्य परिपूर्ण रहनेवाले पद-निक्षेपके तीन स्थान निरन्तर यथेच्छ आनन्दका अनुभव करते हैं और जिसने अकेले होने पर भी पृथिवी, स्वर्ग, त्रिगुणात्मक विश्व, तथा समस्त भुवनोंको भी आधार दिया ।

[**मधुना पूर्णा**–ये शब्द विष्णुके सिर्फ़ तीसरे स्थानपर ही लागू हैं। दे. ऋ. ५ तथा ८·२९·७; लक्षणाकी सहायतासे इन्हें अन्य स्थानोंके विषयमें प्रयुक्त किया गया है ।]

५. इस विष्णुका वह प्रिय स्थान मुझे प्राप्त हो, जहाँ देवभक्त पुरुष आनन्दसे विहार करते रहते हैं । क्योंकि सर्वत्र विशाल गमन करनेवाले उस विष्णुकी बन्धुता वैसे ही प्राप्त होती है । विष्णुके इस उच्चतम स्थानमें मधुर रसका एक बड़ा निर्झर है ।

[**प्रियं पाथः। पाथः** में मूल धातु 'पा' रक्षा करना–इससे यह संज्ञा बनी है । अर्थ है 'सुरक्षा प्राप्त प्रदेश' । **बन्धुः**–' ज्ञातिसंबन्धी '–दे. ५·७३·४ की टिप्पणी ।

६. तुम दोनोंके ऐसे निवासस्थानोंकी कामना हम रखते हैं, जहाँ बहुत सींगोंवाली, तथा कभी न थकनेवाली गायें रहती हैं । इस जगहपर ही विकट रूपसे संचरण करनेवाले महापराक्रमी विष्णुका वह अत्यंत श्रेष्ठ पदनिक्षेपका स्थान तेजसे बहुत चमकता रहता है ।

[**वाम्**-(द्विवचन) इस शब्दका वाच्य है इन्द्राविष्णूका युगल । दे. १·१५५·१ से ३ । साथ साथ दे. ७·९९·१–३ विष्णु; ४–६ इन्द्राविष्णू ।]

१६

१·१६०·१—५ दीर्घतमा औचथ्यः ॥ द्यावापृथिवी ॥ जगती ॥

ते हि द्यावापृथिवी विश्वशंभुव ऋतावरी रजसो धारयत्कवी ।
सुजन्मनी धिषणे अन्तरीयते देवो देवी धर्मणा सूर्यः शुचिः ॥ १ ॥

ते इति । हि । द्यावापृथिवी इति । विश्वऽशंभुवा । ऋतवरी इत्यृतऽवरी ।
रजसः । धारयत्कवी इति धारयत्ऽकवी ।
सुजन्मनी इति सुऽजन्मनी । धिषणे इति । अन्तः । ईयते । देवः ।
देवी इति । धर्मणा । सूर्यः । शुचिः ॥ १ ॥

उरुव्यचसा महिनी असश्चता पिता माता च भुवनानि रक्षतः ।
सुधृष्टमे वपुष्ये३ न रोदसी पिता यत्सीमभि रूपैरवासयत् ॥ २ ॥

उरुऽव्यचसा । महिनी इति । असश्चता । पिता । माता । च । भुवनानि । रक्षतः ।
सुधृष्टमे इति सुऽधृष्टमे । वपुष्ये३ इति । न । रोदसी इति ।
पिता । यत् । सीम् । अभि । रूपैः । अवासयत् ॥ २ ॥

१. ये द्यावापृथिवी सारे विश्वको सुख देनेवाली, ऋतकी स्वामिनी, तथा (अपने मध्यवर्ती) प्रदेश याने अन्तरिक्ष में कविको आधार देनेवाली है। इन दो मंगल जन्म देनेवाली आश्रयभूत देवियोंके मध्यमें तेजस्वी सूर्य देव नियमसे संचार करते रहते हैं।

[**धारयत्कवी**—यह कर्मोत्तरपद समास है। आकाङ्क्षाके आधारपर इसके 'कवि' पदका संबन्ध 'रजसः' से है। तीनों पदोंको अन्वित करनेपर अर्थ होता है – 'अन्तरिक्षस्थ कविको याने सूर्यको (इसका उल्लेख चौथे पादमें है) धारण करनेवाला युगल'। १·१३६·३ में इसी तरहका कर्मोत्तरपद समास प्रयुक्त हुआ है। **धारयत्-क्षितिम् (अदितिम्)** दे. मैक्डोनल वेदिक ग्रामर पृ. २७९–८०। प्रथमार्ध स्वतंत्र वाक्यके रूपमें आया है। **देवी**— द्यावापृथिवीके इस युगलको कहीं दो नारियाँ (प्रस्तुत ऋचा तथा ऋचा २ का उत्तरार्ध), कहीं कहीं मातापिताकी जोड़ी (ऋचा २ तथा ३ का पूर्वार्ध) तो कभी स्त्रीपुरुषात्मक एक ही तत्त्व (ऋचा ३ का उत्तरार्ध) माना गया है।]

२. विशाल निवासस्थान देनेवाली, महापराक्रमी, सर्वदा अक्षय मातापिताओंकी यह जोड़ी सभी भुवनोंकी सुरक्षा करती रहती है। सुदृढ शरीरवाली युवतियोंकी तरह ये रोदसी प्रगल्भ हैं, क्यों कि इनके पिताने उन्हें सुंदर रूपोंसे सजाया है।

स वह्निः पुत्रः पित्रोः पवित्रवान् पुनाति धीरो भुवनानि मायया ।
धेनुं च पृश्निं वृषभं सुरेतसं विश्वाहा शुक्रं पयो अस्य धुक्षत ॥ ३ ॥

सः । वह्निः । पुत्रः । पित्रोः । पवित्रऽवान् । पुनाति । धीरः । भुवनानि । मायया ।
धेनुम् । च । पृश्निम् । वृषभम् । सुऽरेतसम् । विश्वाहा । शुक्रम् । पयः । अस्य । धुक्षत ॥३॥

अयं देवानामपसामपस्तमो यो जजान रोदसी विश्वशंभुवा ।
वि यो ममे रजसी सुक्रतूययाजरेभिः स्कम्भनेभिः समानृचे ॥ ४ ॥

अयम् । देवानाम् । अपसाम् । अपःऽतमः । यः । जजान । रोदसी इति । विश्वऽशंभुवा ।
वि । यः । ममे । रजसी इति । सुक्रतुऽयया । अजरेभिः । स्कम्भनेभिः । सम् । आनृचे ॥४॥

[**सश्चत्**—'पीछा करनेवाला शत्रु'। असश्चत्– 'शत्रुहीन अतएव निष्प्रतिद्वन्द्वि, अनुपम'। दे. ३·९·४ । दूसरे पादमें **पिता** द्युदेव है; किन्तु चौथे पादमें वह असलमें उसका भी पिता याने त्वष्टा है । दे. १०·११०·९ का पूर्वार्ध तथा ऋ. ४ की टिप्पणी ।]

३. इन मातापितरोंका प्रतिभाशाली तथा पावन करनेकी सामग्रीसे युक्त यह होनहार पुत्र अपनी अद्भुत सामर्थ्यसे सभी प्राणिमात्रोंको पावन करता है । और यह धेनु तथा विपुल वीर्यवान् वृषभ इन दोनोंसे सर्वदा ही शुभ्र (वृष्टिरूप) दूध प्राप्त कर लेता है ।

[**वह्निः**—याने अग्नि ; किन्तु ऋचाके उत्तरार्धसे स्पष्ट है कि यहाँ अभिप्राय तृतीय लोकके सूर्यरूप अग्निसे है । **अस्य**— चौथे पादके इस पुल्लिङ्गी पदका संबन्ध तीसरे पादमें निर्दिष्ट धेनु-वृषभात्मक तत्त्वसे है । दे. ऋ. १ की टिप्पणी । एवं ३·३८·७ तथा ४·३·१० ।]

४. जिसने विश्वको सुख देनेवाली इन रोदसियोंको निर्माण किया, तथा इन दोनों प्रदेशोंको अपनी विशाल प्रतिभाके सामर्थ्यपर कभी जर्जर न होनेवाले आधारस्तम्भोंसे नाप लिया, उन होनहार देवोंमें भी अत्यन्त होनहार देवका सभी ओरसे स्तवन किया गया है ।

[**अपसामपस्तमः**— १०·५३·९ में यह विशेषण त्वष्टाके लिए प्रयुक्त हुआ है । यहाँ भी समूचे विश्वके एक ही कर्ताके रूपमें त्वष्टाके द्वारा देवाधिदेवका याने मूल एकात्मक तत्त्वका उल्लेख है । दे. ४·५६·३ तथा १०·१२१·९ । तीसरे पादके **यः** शब्दका अभिप्राय सूर्यरूप अग्निसे ही है । **अजरेभिः स्कम्भनेभिः**— 'किसी भी समय जीर्ण न होनेवाले स्तम्भ'। **समानृचे**—यह पद पहले पादके **अयम्** से संबद्ध है, तीसरे पादके **यः** से नहीं, जैसा कि क्रियाके निघात स्वरसे स्पष्ट है । **सुक्रतूयया— सुक्रतूय्** इस नामधातुसे बनी हुई धातुसाधित संज्ञा **सुक्रतूया** (उच्च कोटिकी बुद्धिमत्ता) का तृतीया एकवचन ।]

ते नो गृणाने महिनी महि श्रवः क्षत्रं द्यावापृथिवी धासथो बृहत् ।
येनाभि कृष्टीस्ततनाम विश्वहा पनाय्यमोजो अस्मे समिन्वतम् ॥ ५ ॥

ते इति । नः । गृणाने इति । महिनी इति । महि । श्रवः ।
क्षत्रम् । द्यावापृथिवी इति । धासथः । बृहत् ।
येन । अभि । कृष्टीः । ततनाम । विश्वहा ।
पनाय्यम् । ओजः । अस्मे इति । सम् । इन्वतम् ॥ ५ ॥

५. हे महान् द्यावापृथिवी देवों, इस प्रकार संस्तुत होकर तुम हमें विशाल कीर्ति और विस्तीर्ण प्रभुत्व प्रदान करो। (तथा) वह स्तवन करने योग्य ओज हमें प्राप्त करा दो, जिससे लोगोंपर हमारा सर्वदा अधिकार रहे ।

[**अभि ततनाम—'अभि तन्**' का अर्थ है 'दूसरेपर काबू रखना'। **क्षत्रम्**—क्षत्रकी याचन मुख्य रूपसे कवि अपने यजमानके लिए कर रहा है।]

१७

१·१८४·१–६ अगस्त्यः ॥ अश्विनौ ॥ त्रिष्टुप् ॥

ता वामद्य तावपरं हुवेमोच्छन्त्यामुषसि वह्निरुक्थैः ।
नासत्या कुह चित्सन्तावर्यो दिवो नपाता सुदास्तराय ॥ १ ॥

ता । वाम् । अद्य । तौ । अपरम् । हुवेम । उच्छन्त्याम् । उषसि । वह्निः । उक्थैः ।
नासत्या । कुह । चित् । सन्तौ । अर्यः । दिवः । नपाता । सुदाःऽतराय ॥ १ ॥

अस्मे ऊ षु वृषणा मादयेथामुत्पणीँर्हतमूर्म्या मदन्ता ।
श्रुतं मे अच्छोक्तिभिर्मतीनामेष्टा नरा निचेतारा च कर्णैः ॥ २ ॥

अस्मे इति । ऊँ इति । सु । वृषणा । मादयेथाम् । उत् । पणीन् । हतम् । ऊर्म्या । मदन्ता ।
श्रुतम् । मे । अच्छोक्तिऽभिः । मतीनाम् । एष्टा । नरा । निऽचेतारा । च । कर्णैः ॥ २ ॥

१. सर्व प्रसिद्ध तुम दोनोंको हम आज और इसके बाद भविष्यकालमें भी आवाहित करें। उषा देवीके प्रकाशमान होनेपर हमारा पुरोहित, द्युदेवके सत्पुत्र नासत्योंको–चाहे वे कहीं भी हों–हमारे किसी भी संपन्न धनिकसे अधिक दानशील यजमानके लिए, आवाहित करते हैं।

[**अपरम्**— (क्रि. वि.) 'इसके उपरान्त, भविष्यमें'। दे. **अपरीभ्यः** (१·३२·१३) की टिप्पणी। **अद्य अपरम्** –'आज और इसके उपरान्त' याने हमेशा ही। **नूनम् – अपरम्** यह शब्द-युगल भी इसी अर्थमें प्रयुक्त होता है। दे. २·२८·८। दूसरे चरणमें (हुवेम पदद्वारा सूचित) **हवते** का अध्याहार करें। अन्वय यों कीजिए — **अर्यः सुदास्तराय**।]

२. हे पराक्रमी देवो, हमारे सहवासमें महान् आनन्दका अनुभव करो। हमार सोमरसकी उछलती धारासे बेहोश होकर पणियोंका वध करो। हे नरवीरो, तुम (हमारी स्तुतियोंके लिये) अत्यन्त इष्ट तथा अपने कर्णोंसे ध्यानपूर्वक सब जान लेनेवाले हो। हमारी स्तुतियोंकी पुकारके कारण मुझे सुनो।

[**ऊर्म्या**—'सोमरसकी ऊर्मि' दे. ३·४७·१; ६·४१·२; ६·४७·१ और **ऊर्मिणं** (सोमम्) ९·९८·६। **मतीनाम् अच्छोक्तिभिः** (अच्छ + उक्ति याने 'निवेदन, पुकार')। साथ साथ दे. **मतीनां हवम्** १·८६·२ और **मतीनां हवना** ६·६९·४। **कर्णैः** यह पद स्वाभाविक रूपसे **श्रुतम्** से संबद्ध है। **निचेतारा**—'समझनेवाले, भली भाँति ध्यान देनेवाले (नि + $\sqrt{\text{चि}}$)']

श्रिये पूषन्निषुकृतेव देवा नासत्या वहतुं सूर्यायाः ।
वच्यन्ते वां ककुहा अप्सु जाता युगा जूर्णेव वरुणस्य भूरेः ॥ ३ ॥

श्रिये । पूषन् । इषुकृताऽइव । देवा । नासत्या । वहतुम् । सूर्यायाः ।
वच्यन्ते । वाम् । ककुहाः । अप्ऽसु । जाताः । युगा । जूर्णाऽइव । वरुणस्य । भूरेः ॥ ३ ॥

अस्मे सा वां माध्वी रातिरस्तु स्तोमं हिनोतं मान्यस्य कारोः ।
अनु यद्वां श्रवस्या सुदानू सुवीर्याय चर्षणयो मदन्ति ॥ ४ ॥

अस्मे इति । सा । वाम् । माध्वी इति । रातिः । अस्तु । स्तोमम् । हिनोतम् । मान्यस्य । कारोः ।
अनु । यत् । वाम् । श्रवस्या । सुदानू इति सुऽदानू । सुऽवीर्याय । चर्षणयः । मदन्ति ॥ ४ ॥

---

३. हे **पूषन्** देव, सूर्याकी (स्वयंवरसंबन्धी) वरयात्रामें, दो कुशल धनुर्धारियोंकी तरह (उपस्थित रहकर), इन दो नासत्य देवोंने विजयश्री प्राप्त की (यह बात तुम्हें विदित ही है) । हे नासत्यो, महापराक्रमी वरुणकी जर्जर धुरियोंकी तरह, जलमें उत्पन्न हुए (तथा जलमें प्रवास करनेवाले) तुम्हारे दिव्य अश्व (समुद्रके पृष्ठभाग पर) लीलायुक्त गमन करते हैं ।

[**पूषन्**—सूर्या देवीके स्वयंवरके अवसरपर पूषा उपस्थित था । इतना ही नहीं; उसने उस अवसरपर अश्विनोंको अपना पिता माना और देवोंने उसे दत्तक पुत्रके रूपमें सूर्यादेवीको सौंपा । दे. ६·५८·४; १०·८५·१४ । यहाँ कविने उसे उस अवसरके गवाहके रूपमें संबोधित किया है । **इषुकृता**—'बाण बनानेवाले'। यहाँ अर्थ है स्पर्धाके लिए विशेष ढंगसे बाणोंको तैयार करके उनका उपयोग करनेवाले ' दो कुशल धनुर्धर ' । प्रथमार्धमें **अयातम्** का अध्याहार करना उचित होगा । उपमाका आशय यों है–'स्पर्धामें विजय पानेके लिए आवश्यक कौशल संपादन करके' । यहाँके उपमानको देखकर द्रौपदीके स्वयंवरके अवसरपर रखी गयी मात्स्यवेध-संबन्धी शर्तकी याद आती है । (महाभारत १·१८५·११; ३५–३६) । **ककुह**—संभवतः रथका वहन करनेवाला प्राणी है । अश्विना उसे घोड़ोंकी ही तरह रथमें जोतते थे । दे. ५·७३·७ । **युगा जूर्णा इव वरुणस्य** 'वरुणके जर्जर जुआठे' याने समुद्रकी प्रचण्ड ऊर्मियाँ । १·४६·३ में कहा गया है कि अश्विनोंके ये ककुह 'जूर्णा विष्टप्' के ऊपरसे सहज भावसे प्रयाण करते हैं । यह ' **जूर्णा विष्टप्** ' और ८·३४·१३; ९·१२·६ तथा ९·१०७·१४ में निर्दिष्ट **'समुद्रस्य विष्टप्'** असलमें एक ही हैं ; और मालूम होता है कि प्रस्तुत ऋचामें ' **जूर्णा युगा** ' इसी ' विष्टप् ' के ऊपरकी ऊर्मियाँ हैं । ' **जूर्णः अक्षुः** ' में (१·१८०·५), इन्हींका उल्लेख दिखाई देता है । कुल मिलाकर यह स्पष्ट है कि उत्तरार्धमें, ककुहों की सहायतासे अश्विनोंने समुद्रकी जो सफ़रें कीं उन्हींका वर्णन है । वरुण और समुद्रके बीचका स्वस्वामिभाव भी १·१६१·१४ में स्पष्ट रूपसे पाया जाता है ।]

४. हे मधुर रसका पान करनेवाले देवो, तुम्हारा वह सुविदित उपहार हमें प्राप्त हो । हे श्रेष्ठ दानवीरो, उत्तम वीर्य-प्राप्तिके लिए जब हमारे लोग तुम्हारे सुप्रसिद्ध पराक्रमोंके संकीर्तनमें हर्षनिर्भर होते हैं, तब इस मान–कुलोत्पन्न स्तुतिपाठकके स्तोमको उत्तेजना दो ।

[**श्रवस्यम्** (नपुं. नाम) याने ' स्तवनके योग्य कर्म ' दे. १·११७·१० । **श्रवस्या** (कर्म) **अनु मदन्ति** यह अन्वय । इन्द्रके **श्रवस्योंका** उल्लेख ८·१५·३ और ८·१६·२ में पाया जाता है । **श्रवस्या** का

एष वां स्तोमो अश्विनावकारि मानेभिर्मघवाना सुवृक्ति ।
यातं वर्तिस्तनयाय त्मने चागस्त्ये नासत्या मदन्ता ॥ ५ ॥

एषः । वाम् । स्तोमः । अश्विनौ । अकारि । मानेभिः । मघऽवाना । सुऽवृक्ति ।
यातम् । वर्तिः । तनयाय । त्मने । च । अगस्त्ये । नासत्या । मदन्ता ॥ ५ ॥

अतारिष्म तमसस्पारमस्य प्रति वां स्तोमो अश्विनावधायि ।
एह यातं पथिभिर्देवयानैर्विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम् ॥ ६ ॥

अतारिष्म । तमसः । पारम् । अस्य । प्रति । वाम् । स्तोमः । अश्विनौ । अधायि ।
आ । इह । यातम् । पथिऽभिः । देवऽयानैः । विद्याम । इषम् । वृजनम् । जीरऽदानुम् ॥६॥

अर्थ सायणाचार्यने 'कीर्तेरिच्छया' बतलाया है; किन्तु यह अर्थ प्रस्तुत शब्दके स्वरके प्रतिकूल है । 'कीर्तिकी इच्छा' के रूपमें **श्रवस्या** (स्त्रीलिङ्गी शब्द) अन्तोदात्त है । ८·१५·३ में **श्रवस्यानि** का अर्थ बतलाते हुए सायणाचार्यने लिखा है 'श्रवस्यानि श्रवणार्हाणि यशांसि' और यही अर्थ प्रस्तुत स्थानपर अपेक्षित है ।]

५. हे उदारधी अश्विनो, मानकुलके कवियोंने उत्तम रचना करके इस स्तोत्रको तुम्हारे लिए निर्माण किया । अगस्त्य कुलके कवियोंकी संगतिमें आनंदित होकर हमें और हमारे वंशजोंको सर्वदा ही भेंट देते रहो ।

६. हम इस अन्धकारमय अवस्थाके पार पहुँच गये हैं । हे अश्विनो, यह स्तोत्र तुम्हें समर्पित किया गया है । देवोंके प्रवासके लिए निर्धारित मार्गोंसे तुम यहाँ आओ । तथा हमें वह यजमान-कुल प्राप्त हो जो उत्तेजना देनेवाला एवं शीघ्रदाता हो ।

[**अस्य तमसः**—अर्थ है 'हृदयके अज्ञानरूप अंधकारका' दे. ५·३१·९ । **पथिभिर्देवयानैः**—'वे मार्ग जिनका उपयोग देव स्वर्गसे पृथ्वीपर आने-जानेमें' करते हैं । दे. १·७२·७; १०·५१·५ आदि । इसके सिवा १०·२·७ के '**पितृयाण**' शब्दसे पितृदेवोंके मार्गका भी कथन किया गया है । साथ साथ मृत्युके एक स्वतंत्र मार्गका उल्लेख भी १०·१८·१ में पाया जाता है । १०·१४·१ में एक ऐसे मार्गका उल्लेख है जिससे यम कई व्यक्तियोंको अपने लोककी ओर ले गये; यही मार्ग प्रायः ऊपर निर्दिष्ट '**पितृयाण**' रहा होगा । **वृजनं**—अनुयायियोंका समूह; √वृज्—अनुकूल बनाना । प्रस्तुत स्थानपर ईप्सित अर्थ है 'यजमान-कुल' ।]

१८

२·१२·१–१५ गृत्समदः ॥ इन्द्रः ॥ त्रिष्टुप् ॥

१५ ऋचाओंके इस सूक्तमें पहली १४ ऋचाओंके अन्तमें 'स जनास इन्द्रः' यह ध्रुपद आता है। श्रद्धाहीन एवं संशयालु अनुयायियोंके मनमें इन्द्रके अस्तित्व एवं पराक्रमके विषयमें श्रद्धाको पैदा करना यही इस सूक्तका उद्देश्य है। प्राचीन परंपराके अनुसार गृत्समद ऋषिने इस सूक्तमें उन असुरोंको संबोधित किया है जिन्होंने उसे गृत्समद ऋषिके वेषमें घूमनेवाला इन्द्र समझकर घेर लिया था। इस तरहका उल्लेख बृहद्देवता ४·६६ से ६८ में पाया जाता है।

यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत्।
यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः ॥ १ ॥

यः। जातः। एव। प्रथमः। मनस्वान्। देवः। देवान्। क्रतुना। परिऽअभूषत्।
यस्य। शुष्मात्। रोदसी इति। अभ्यसेताम्। नृम्णस्य। मह्ना। सः। जनासः। इन्द्रः ॥ १ ॥

यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद्यः पर्वतान् प्रकुपिताँ अरम्णात्।
यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो यो द्यामस्तभ्नात्स जनास इन्द्रः ॥ २ ॥

यः। पृथिवीम्। व्यथमानाम्। अदृंहत्। यः। पर्वतान्। प्रऽकुपितान्। अरम्णात्।
यः। अन्तरिक्षम्। विऽममे। वरीयः। यः। द्याम्। अस्तभ्नात्। सः। जनासः। इन्द्रः ॥२॥

१. उत्पन्न होते ही जिस सर्वश्रेष्ठ तथा धैर्यवान् देवने अन्य देवोंको अपने बुद्धिवैभवसे आभूषित किया, तथा जिसके पौरुषकी महानता और सामर्थ्यके कारण ही स्वर्ग और पृथिवी भयकम्पित हो गयी, सज्जनो, वही इन्द्र है।

[**परि + अभूषत्**— 'सुरक्षाके लिए (चारों ओरसे) घेर लिया'। दे. ३·५१·८ और १·१५·४; १·३१·२ आदि। (परि + भूष् = चारों ओर रहना)। **अभ्यसेताम्**—√भ्यस्]

२. कम्पमान होनेवाली पृथ्वीको जिसने सुस्थिर बनाया, प्रक्षुब्ध हुए (कामसंचारी) पर्वतोंको जिसने स्थानपर बैठा दिया, जिसने इस अत्यंत विशाल अन्तरिक्षकी थाह पाई तथा स्वर्ग लोकको जिसने रोक रक्खा, सज्जनो, वही इन्द्र है।

[**व्यथ्, प्र + कुप्** तथा **रम्** धातु ऋग्वेदमें शारीरिक क्रियाका बोध कराते हैं; परवर्ती संस्कृत साहित्यकी तरह मानसिक क्रियाके वाचक नहीं हैं। दूसरे चरणमें 'उड़ाकू' पर्वतोंकी कथाका उल्लेख है। दे. बादमें आनेवाली ४·५४·५ की टिप्पणी। **विममे**—वि+मा धातुका अर्थ है 'थाह लेना', प्रभावको आँकना।]

यो हत्वाहिमरिणात्सप्त सिन्धून्यो गा उदाजदपधा वलस्य ।
यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान संवृक्समत्सु स जनास इन्द्रः ॥ ३ ॥

यः। हत्वा। अहिम्। अरिणात्। सप्त। सिन्धून्। यः। गाः। उत्ऽआजत्। अपऽधा। वलस्य।
यः। अश्मनोः। अन्तः। अग्निम्। जजान। सम्ऽवृक्। समत्ऽसु। सः। जनासः। इन्द्रः ॥३॥

येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि यो दासं वर्णमधरं गुहाकः ।
श्वघ्नीव यो जिगीवाँल्लक्षमाददर्यः पुष्टानि स जनास इन्द्रः ॥ ४ ॥

येन। इमा। विश्वा। च्यवना। कृतानि। यः। दासम्। वर्णम्। अधरम्। गुहा। अकरित्यकः।
श्वघ्नीऽइव। यः। जिगीवान्। लक्षम्। आदत्। अर्यः। पुष्टानि। सः। जनासः। इन्द्रः ॥४॥

---

३. अहिका वध कर जिसने सात सिन्धुओंके प्रवाहको मुक्त किया, वलासुर (की गुहा का द्वार) खोलकर जिसने उसके क़ैदख़ानेसे गायोंको बाहर निकाला, दो पत्थरोंके उदरमें जिसने अग्नि निर्माण किया, और युद्धोंमें (शत्रुओंकी सम्पदा) जो खींच लेता है वही, सज्जनो, इन्द्र है ।

[**अपधा**—(अपधा स्त्री. शब्दकी तृतीया) ' अपधानेन ' । दे. ' एकया प्रतिधा ' = ' प्रतिधानेन ' ८·७७·४ । ' एक ही घूंटमें ', ' एक ही तेड़कीमें ' । **वलस्य अपधा**—' वलको हटानेसे ', ' उस किनारे करनेसे ' । **अश्मनोः अन्तर्** – ' काले चट्टानोंके भीतर '; अर्थ है दो मेघरूप काले चट्टानोंके बीचमें विद्युत-रूप अग्नि ।]

४. जिसने इन सभीको (अपनी सामर्थ्यसे) ही स्वस्थानसे हिलाकर जर्जर किया, जिसने दास वर्णको अधोगतिकी ओर ले जाकर नामशेष भी किया, और जीतनेवाला जुआड़ी जिस प्रकार दाँव पर लगाया हुआ धन बलात् बटोर लेता है उसी प्रकार जो शत्रुकी संचित धनराशि छीन लेता है वही, सज्जनो, इन्द्र है ।

[**विश्वा च्यवना कृतानि** — दे. विश्वानि चिच्युषे ४·३०·२२; साथ साथ **अच्युतच्युत्** ऋ. ९ । **दासं वर्णम्** —' दास वर्णके याने काले वर्णके याने कृष्णवर्णीय लोग ' । इसके विरोधमें **आर्यं वर्णम्** (३·३४·९) याने 'श्वेत (सफेद) रंगके श्वेतवर्णीय लोग' । **लक्षम्**—' दाँवमें लगाया हुआ धन ' (धातु लग्) । **श्वघ्नी**—' द्यूतकार ', ' जुआरी ', इसकी निरुक्ति ' स्वं हन्ति ' शब्दोंसे निरुक्त ५·२३ म दी गई है । **अर्यः पुष्टानि** — ' शत्रुका पोषणसाधन ', ' संपत्ति ' ।]

यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरमुतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम् ।
सो अर्यः पुष्टीर्विजइवा मिनाति श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः ॥ ५ ॥

यम् । स्म । पृच्छन्ति । कुह । सः । इति । घोरम् ।
उत । ईम् । आहुः । न । एषः । अस्ति । इति । एनम् ।
सः । अर्यः । पुष्टीः । विजःऽइव । आ । मिनाति ।
श्रत् । अस्मै । धत्त । सः । जनासः । इन्द्रः ॥ ५ ॥

यो रध्रस्य चोदिता यः कृशस्य यो ब्रह्मणो नाधमानस्य कीरेः ।
युक्तग्राव्णो योऽविता सुशिप्रः सुतसोमस्य स जनास इन्द्रः ॥ ६ ॥

यः । रध्रस्य । चोदिता । यः । कृशस्य । यः । ब्रह्मणः । नाधमानस्य । कीरेः ।
युक्तऽग्राव्णः । यः । अविता । सुऽशिप्रः । सुतऽसोमस्य । सः । जनासः । इन्द्रः ॥ ६ ॥

यस्याश्वासः प्रदिशि यस्य गावो यस्य ग्रामा यस्य विश्वे रथासः ।
यः सूर्यं य उषसं जजान यो अपां नेता स जनास इन्द्रः ॥ ७ ॥

यस्य । अश्वासः । प्रऽदिशि । यस्य । गावः । यस्य । ग्रामाः । यस्य । विश्वे । रथासः ।
यः । सूर्यम् । यः । उषसम् । जजान । यः । अपाम् । नेता । सः । जनासः । इन्द्रः ॥७॥

५. जिस भयंकर देवके विषयमें 'वह तो है कहाँ' ऐसी पूछताछ होती है और 'यह है ही नहीं' ऐसा भी जिसके बारेमें (नास्तिक लोग) कहते हैं वह इन्द्र, जिस प्रकार (विजयी द्यूतकार) दाँव पर लगाये हुए धन पर टूट पड़ता है उसी प्रकार शत्रुकी संचित संपत्ति खींच लेता है, उसपर श्रद्धा रखिये। वही, सज्जनो, इन्द्र है।

[पूर्वार्धमें क्रमशः संशयालु तथा नास्तिक व्यक्तियोंका उल्लेख है। **विजः इव**—'उद्वेगकारक' दाँवमें लगाया हुआ धन'; अर्थात् विजेताके लिए हर्षकारक किन्तु परास्त द्यूतकारके लिए उद्वेगकारक।]

६. जो दुर्बल और शक्तिहीन पुरुषका पुरस्कर्ता है, याचना करनेवाले निर्धन ब्राह्मणके साथ साथ सील बट्टे जोड़कर सोमरस तैयार रखनेवालेका भी जो सहारा है, सज्जनो, वही सुन्दर जबड़ावाला इन्द्र है।

[पूर्वार्धमें सभी विशेषण **ब्रह्मणः** (ब्रह्म-ऋषि) के हैं और सभी मिलकर **चोदिता** से संबद्ध हैं। **युक्तग्रावा** (बहुव्रीहि समास)।]

७. (सभी प्रकारके) घोड़े, गायें, गाँव, तथा रथ जिसके आदेशमें रहते हैं, जिसने सूर्य और उषाको जन्म दिया, और जो नदियोंका नेता है, वही, सज्जनो, इन्द्र है।

यं क्रन्दसी संयती विह्वयेते परेऽवर उभया अमित्राः ।
समानं चिद्रथमातस्थिवांसा नाना हवेते स जनास इन्द्रः ॥ ८ ॥

यम् ।क्रन्दसी इति ।संयती इति सम्ऽयती ।विह्वयेते इति विऽह्वयेते । परे । अवरे । उभयाः। अमित्राः।
समानम् । चित् । रथम् । आतस्थिऽवांसा । नाना । हवेते इति । सः। जनासः । इन्द्रः ॥८॥

यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो यं युध्यमाना अवसे हवन्ते ।
यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव यो अच्युतच्युत्स जनास इन्द्रः ॥ ९ ॥

यस्मात् । न । ऋते । विऽजयन्ते । जनासः । यम् । युध्यमानाः । अवसे । हवन्ते ।
यः । विश्वस्य । प्रतिऽमानम् । बभूव । यः । अच्युतऽच्युत् । सः । जनासः । इन्द्रः ॥ ९ ॥

८. युद्धगर्जना करनेवाली और एक दूसरे पर टूट पड़नेवाली दोनों सेनाएँ तथा इस पारके और उस पारके दोनों पक्षके आपसमें शत्रुता रखनेवाले योद्धा जिसे सहायताके लिए अपनी अपनी ओर से बुलाते हैं, वही, सज्जनो, इन्द्र है । एक ही रथपर आरूढ दो पुरुष (याने योद्धा और उसका पुरोहित) भी इसकी सहायताके लिए अलग अलग याचना करते हैं ।

[**क्रन्दस्** तथा **संयत्** (सम् + $\sqrt{}$इ) (नपुं.) 'युद्धगर्जना करके एक दूसरेपर टूट पडनेवाली' । तीसरे चरणमें एक ही रथपर आरूढ दो व्यक्तियोंका उल्लेख है; ये दोनों वास्तवमें योद्धा वीर और उसका पुरोहित हैं; दे. ३·३३·९–१२; ३·५३·९ और ७·३३·५–६ । इन सभी स्थानोंपर विश्वामित्र एवं वसिष्ठ दोनोंके क्रमशः अपने यजमानोंके सुदास् एवं भरतकुलके वीरोंके साथ साथ युद्धमें रहनेका वर्णन है । [योद्धाके] रथसे ही इन्द्रकी प्रार्थना करनेवाले विप्रका उल्लेख भी ५·३६·३ में पाया जाता है । **हवेते** क्रियाके निघात-स्वरसे स्पष्ट है कि पूर्वार्धको **स जनास इन्द्रः** इस ध्रुपदसे अन्वित करके उत्तरार्धके शेष वाक्यको अलग ढंगसे मुख्य वाक्यके रूपमें मान लेना उचित होगा ।]

९. जिसके विना योद्धा विजय पा नहीं सकते, जिसे युद्ध करनेवाले वीर अपनी सुरक्षाके लिये पुकारते हैं, जो किसी भी वीरका प्रतिवीर हो रहा है, और कभी पीछे न हटनेवाले योद्धाओंको भी जो समरांगण में भगा देता है वही, सज्जनो, इन्द्र है ।

[**विश्वस्य प्रतिमानम्**— दे. **सतः सतः प्रतिमानम्** ३·३१·८ । किन्तु १·१०२·६ में इन्द्रको इतना ओजस्वी कहा गया है कि उसके लिए किसी प्रतिमान या उपमानकी कल्पना करना असलमें उसका अपमान करना है । (**अकल्प इन्द्रः प्रतिमानमोजसा**) ।]

यः शश्वतो मह्येनो दधानानमन्यमानाञ्छर्वा जघान।
यः शर्धते नानुददाति शृध्यां यो दस्योर्हन्ता स जनास इन्द्रः ॥ १० ॥

यः। शश्वतः। महि। एनः। दधानान्। अमन्यमानान्। शर्वा। जघान।
यः। शर्धते। न। अनुऽददाति। शृध्याम्। यः। दस्योः। हन्ता। सः। जनासः। इन्द्रः ॥१०॥

यः शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वारिंश्यां शरद्यन्वविन्दत्।
ओजायमानं यो अहिं जघान दानुं शयानं स जनास इन्द्रः ॥ ११ ॥

यः। शम्बरम्। पर्वतेषु। क्षियन्तम्। चत्वारिंश्याम्। शरदि। अनुऽअविन्दत्।
ओजायमानम्। यः। अहिम्। जघान। दानुम्। शयानम्। सः। जनासः। इन्द्रः ॥११॥

यः सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मानवासृजत्सर्तवे सप्त सिन्धून्।
यो रौहिणमस्फुरद्वज्रबाहुर्द्यामारोहन्तं स जनास इन्द्रः ॥ १२ ॥

यः। सप्तऽरश्मिः। वृषभः। तुविष्मान्। अवऽअसृजत्। सर्तवे। सप्त। सिन्धून्।
यः। रौहिणम्। अस्फुरत्। वज्रऽबाहुः। द्याम्। आऽरोहन्तम्। सः। जनासः। इन्द्रः ॥ १२ ॥

---

१०. बड़े दुष्कृत्य करनेवाले अनेक अनादरशील शत्रुओंको जिसने अपने शस्त्रसे कत्ल कर दिया, जो घमण्डी शत्रुका घमण्ड कुचल डालता है और जो दस्युका वधकर्ता है, वही, सज्जनो, इन्द्र है।

[**एनो दधानान्— दे. एनः कृण्वन्तम्** २·२८·७।]

११. अपने अनेक पहाड़ी दुर्गोंमें (भिन्न भिन्न स्थानोंपर) निवास करते हुए शम्बरको आखिर चालीसवें वर्षमें जिसने पकड़कर समाप्त कर दिया, तथा जिसने अपनी बलशक्तिका प्रदर्शन करनेवाले और (नदियोंके मार्गमें) पड़े हुए दानु अहिका वध किया, सज्जनो, वही इन्द्र है।

[**चत्वारिंश्यां शरदि**—इन शब्दोंमें किसी विशिष्ट कालखण्डका उल्लेख नहीं हैं, इनका अर्थ सिर्फ् है 'सुदीर्घ समयके बाद'। आशय है कि शम्बरके सैंकड़ो पर्वतीय दुर्ग (पर्वतेषु) थे। अतएव वह इन्द्रको बरसोंतक चकमाता रहा। **ओजायमानम्** दे. ३·३२·११ और १·३२·५–७। **दानुम्** दे. १·३२·९ की टिप्पणी।]

१२. सात रस्सोंसे खींचकर पकड़ने लायक एवं मदोन्मत्त जिस साँड़ने सप्त सिन्धुओंको (अपने नियमित मार्ग परसे) बहनेके लिए मुक्त कर दिया और जिस वज्रबाहु वीरने स्वर्गपर आरोहण करनेका प्रारम्भ करनेवाले रौहिण नामक दैत्यकी हड्डी–पसलियाँ तोड़ दी, सज्जनो, वही इन्द्र है।

[**सप्तरश्मिः वृषभः** — वह बैल 'जिसे सात रस्सोंसे काबूमें लाना संभव हो,' याने अतीव बलवान्, उन्मत्त। **रौहिणम्**—बड़ा ही सार्थ नाम 'आरोहण करनेवाला'।]

द्यावा चिदस्मै पृथिवी नमेते शुष्माच्चिदस्य पर्वता भयन्ते ।
यः सोमपा निचितो वज्रबाहुर्यो वज्रहस्तः स जनास इन्द्रः ॥ १३ ॥

द्यावा । चित् । अस्मै । पृथिवी इति । नमेते इति । शुष्मात् । चित् । अस्य । पर्वताः । भयन्ते ।
यः । सोमऽपाः । निऽचितः । वज्रऽबाहुः । यः । वज्रऽहस्तः । सः । जनासः । इन्द्रः ॥१३॥

यः सुन्वन्तमवति यः पचन्तं यः शंसन्तं यः शशमानमूती ।
यस्य ब्रह्म वर्धनं यस्य सोमो यस्येदं राधः स जनास इन्द्रः ॥ १४ ॥

यः । सुन्वन्तम् । अवति । यः । पचन्तम् । यः । शंसन्तम् । यः । शशमानम् । ऊती ।
यस्य । ब्रह्म । वर्धनम् । यस्य । सोमः । यस्य । इदम् । राधः । सः । जनासः । इन्द्रः॥१४॥

यः सुन्वते पचते दुध्र आ चिद्वाजं दर्दर्षि स किलासि सत्यः ।
वयं त इन्द्र विश्वह प्रियासः सुवीरासो विदथमा वदेम ॥ १५ ॥

यः । सुन्वते । पचते । दुध्रः । आ । चित् । वाजम् । दर्दर्षि । सः । किल । असि । सत्यः ।
वयम् । ते । इन्द्र । विश्वह । प्रियासः । सुऽवीरासः । विदथम् । आ । वदेम ॥ १५ ॥

१३. उसके सामने द्यावापृथिवी भी विनम्र होती है। उसकी सामर्थ्यसे ही पर्वत भयकम्पित होते हैं। जो भुजाओंमें और हाथमें वज्र धारण करनेवाला और सोमपान करनेवाला इन्हीं नामोंसे प्रसिद्ध है, वही, सज्जनो, इन्द्र है।

१४. सोम पीसनेवाले, पुरोडाश पकानेवाले, प्रशंसक तथा अन्य श्रम करनेवाले पुरुषोंकी जो सहायता एवं सुरक्षा करता है और जिसे हमारा स्तोम, सोमरस, और यह हविर्दाय, शक्तिशाली बनाता है वही, सज्जनो, इन्द्र है।

१५. (शत्रुके लिए) दुर्धर्ष होकर भी, सोम पीसनेवाले तथा (पुरोडाश) पकानेवाले यजमानको जो (शत्रुओंके) खज़ानोंका विध्वंस करके लूट प्राप्त करा देते हो वही तुम निश्चयसे अस्तित्ववान् हो ऐसा प्रतीत होता है। हे इन्द्र, सर्वदा तुम्हारे प्रिय होकर वीरपुत्रों-सहित तुम अपना स्तोत्र हमें ऊँचे स्वरसे गाने दो।

[**वाजं दर्दर्षि**—दृ धातुके कर्मस्थानीय वाज शब्दसे यहाँ वाजके आधारको लेना (समझना) उचित होगा। **विदथमा वद्** - यह **विदथे बृहद् वद्** शब्दोंसे समानार्थक है।]

१९

२.२३.१-१९ गृत्समदः ॥ १.५.९.११.१७.१९ ब्रह्मणस्पतिः ॥

२.४.६-८.१०.१२-१६.१८ बृहस्पतिः॥ १-१४.१६-१८ जगती ॥१५.१९ त्रिष्टुप्॥

गणानां त्वा गणपतिं हवामहे कविं कवीनामुपमश्रवस्तमम् ।
ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पत आ नः शृण्वन्नूतिभिः सीद सादनम् ॥ १ ॥

गणानाम् । त्वा । गणऽपतिम् । हवामहे । कविम् । कवीनाम् । उपमश्रवःऽतमम् ।
ज्येष्ठऽराजम् । ब्रह्मणाम् । ब्रह्मणः । पते । आ । नः । शृण्वन् । ऊतिऽभिः । सीद । सदनम् ॥१॥

देवाश्चित्ते असुर्य प्रचेतसो बृहस्पते यज्ञियं भागमानशुः ।
उस्राइव सूर्यो ज्योतिषा महो विश्वेषामिज्जनिता ब्रह्मणामसि ॥ २ ॥

देवाः । चित् । ते । असुर्य । प्रऽचेतसः । बृहस्पते । यज्ञियम् । भागम् । आनशुः ।
उस्राःऽइव । सूर्यः । ज्योतिषा । महः । विश्वेषाम् । इत् । जनिता । ब्रह्मणाम् । असि ॥ २ ॥

१. हे ब्रह्मणस्पते, (हम ब्राह्मणोंके) गणोंके अधिपति, कवियोंमें श्रेष्ठ कवि, सर्वोत्तम कीर्तिमान्, तथा हमारे स्तोत्रोंके ज्येष्ठ सम्राट् तुम हो । हम तुम्हें आवाहित करते हैं । हमारे आवाहनको सुनकर अपने अनुग्रहोंके साथ तुम अपने आसनपर विराजमान हो जाओ ।

[**गणानाम्— गण** शब्दसे स्तोताओंके समूह समझना चाहिए । दे. ५.१.३; ५.७९.५; ६.५६.५। साथ साथ दे. **गण्या गीः** (स्तोतृगणकी वाणी) ३.७.५ । किन्तु एक स्थानपर इन्द्रको **गणपति** (१०.११२.९) कहा गया है और यहाँ **गण** का अभिप्राय मरुद्गणोंसे है; स्तोताओंके समूहसे नहीं ।]

२. हे महान् पराक्रमी बृहस्पते, महाबुद्धिमान् देव भी तुम्हारी (कृपा) से ही यज्ञोंमें अपने हविर्भागोंका उपभोग ले सकते हैं । जिस प्रकार सूर्य अपने तेजसे उषःकालका निर्माण करते हैं वैसे ही तुम सभी स्तोत्रोंके निर्माता हो ।

[**ते** के बाद ऋ. १ से **ऊतिभिः** का अध्याहार । उत्तरार्धके वाक्यकी रचना पूर्वापर विरोधको जन्म देती है । उपमाकी रचनाकी ओर देखनेसे मालूम होता है कि **जन्** धातुके रूपका उपयोग करके 'ब्रह्म' इस द्वितीयान्त कर्मको प्रयुक्त करनेका कविका इरादा था; किन्तु **जनिता** इस तज्जन्य (**जन्** से बनी हुई) संज्ञाके प्रयोगके कारण ही ब्रह्मशब्दके षष्ठ्यन्त रूपको (**ब्रह्मणाम्**) प्रयुक्त करनेपर वह बाध्य हुआ ।]

आ विबाध्या परिरापस्तमांसि च ज्योतिष्मन्तं रथमृतस्य तिष्ठसि ।
बृहस्पते भीममभित्रदम्भनं रक्षोहणं गोत्रभिदं स्वर्विदम् ॥ ३ ॥

आ । विऽबाध्य । परिऽरपः । तमांसि । च । ज्योतिष्मन्तम् । रथम् । ऋतस्य । तिष्ठसि ।
बृहस्पते । भीमम् । अमित्रऽदम्भनम् । रक्षःऽहनम् । गोत्रऽभिदम् । स्वःऽविदम् ॥ ३ ॥

सुनीतिभिर्नयसि त्रायसे जनं यस्तुभ्यं दाशान्न तमंहो अश्नवत् ।
ब्रह्मद्विषस्तपनो मन्युमीरसि बृहस्पते महि तत्ते महित्वनम् ॥ ४ ॥

सुनीतिऽभिः । नयसि । त्रायसे । जनम् । यः । तुभ्यम् । दाशात् । न । तम् । अंहः । अश्नवत् ।
ब्रह्मऽद्विषः । तपनः । मन्युऽमीः । असि । बृहस्पते । महि । तत् । ते । महिऽत्वनम् ॥४॥

न तमंहो न दुरितं कुतश्चन नारातयस्तितिरुर्न द्वयाविनः ।
विश्वा इदस्माद्ध्वरसो वि बाधसे यं सुगोपा रक्षसि ब्रह्मणस्पते ॥ ५ ॥

न । तम् । अंहः । न । दुःऽइतम् । कुतः । चन । न । अरातयः । तितिरुः । न । द्वयाविनः ।
विश्वाः । इत् । अस्मात् । ध्वरसः । वि । बाधसे । यम् । सुऽगोपाः । रक्षसि । ब्रह्मणः । पते ॥५॥

---

३. चुगलखोर निन्दकोंको, तथा (हमारे अन्तःकरणोंके) अन्धकारोंको, दूर हटाकर तुम अपने तेजस्वी, (शत्रुओंको) भीतिप्रद, अमित्रोंका संहार एवं राक्षसोंका विनाश करनेवाले, (शत्रुकी) गोशालाका भेदन करके सूर्यप्रकाश प्राप्त करानेवाले, ऋतके रथपर आरूढ होते हो ।

[**तमांसि**—अन्तःकरणमें विद्यमान अज्ञानरूप अंधकार, दे. ५·३१·९ । **ऋतस्य रथम्**—'ऋतरूपी रथ' अथवा 'ऋतका याने यज्ञका रक्षक रथ' । अग्नि तथा वरुणको 'ऋतस्य धूर्षद्' १·१४३·७ तथा 'ऋतस्य रथी' कहा गया है ।]

४. उत्तम प्रकारके मार्गदर्शनोंसे तुम मनुष्यको नेक राह दिखा कर उसकी रक्षा करते हो । जो पुरुष तुम्हें उपहार देगा उसपर संकट हमला नहीं करेगा । हमारे स्तोत्रोंका द्वेष करनेवाले तथा क्रोधसे प्रहार करनेवाले (पुरुष) को तुम संतप्त करके उसके क्रोधका विनाश करते हो । हे बृहस्पते, वह तुम्हारा बड़प्पन बहुत महान् है ।

[**मन्युमीः**—दे. ७·१८·१६ जहां कहा गया है 'इन्द्रो मन्युम्यो मन्युं मिमाय' याने 'इन्द्रने स्वयं क्रोधको प्रहार करनेवाले याने **मन्युमी** एवं दुर्दान्त शत्रुके मन्युको भी सोख लिया'।]

५. हे ब्रह्मणस्पते, तुम्हारे जैसा श्रेष्ठ रक्षक जिस पुरुषकी रक्षा करता है, उसको किसी भी स्थानसे संकट अथवा अनर्थ, शत्रु अथवा दोनों तरफ़ चलनेवाले (दोमुंहे) (आजतक) कभी पराजित नहीं कर सके । उससे सारे घातकोंको तुम दूर भगा देते हो ।

[**द्वयाविन्**—अनार्यके जैसे स्वभाववाला वह आर्य जो 'ऊपरी तौरसे वैदिक देवोंमें श्रद्धा दिखाते हुए भीतरसे उनके विरोधकोंका या प्रतिद्वन्द्वियोंका सम्मान करता हो' । इसीको अन्यत्र 'द्वयु' भी कहा गया है ।]

त्वं नो॑ गो॒पाः प॑थि॒कृद्वि॑चक्ष॒णस्तव॑ व्र॒ताय॑ म॒तिभि॑र्जरामहे ।
बृह॑स्पते॒ यो नो॑ अ॒भि ह्वरो॑ द॒धे स्वा तं म॑र्मर्तु दु॒च्छुना॒ हर॑स्वती ॥ ६ ॥

त्वम् । न॒: । गो॒पाः । प॒थि॒ऽकृत् । वि॒ऽच॒क्ष॒णः । तव॑ । व्र॒ताय॑ । म॒तिऽभि॑ः । ज॒रा॒म॒हे॒ ।
बृह॑स्पते । यः । न॒: । अ॒भि । ह्वरः॑ । द॒धे । स्वा । तम् । म॒र्म॒र्तु॒ । दु॒च्छुना॑ । हर॑स्वती ॥६॥

उ॒त वा॒ यो नो॑ म॒र्चया॒दना॑गसोऽराती॒वा मर्तः॑ सानु॒को वृकः॑ ।
बृह॑स्पते॒ अप॒ तं व॑र्तया प॒थः सु॒गं नो॑ अ॒स्यै दे॒ववी॑तये कृधि ॥ ७ ॥

उ॒त । वा॒ । यः । न॒: । म॒र्चया॑त् । अना॑गसः । अ॒रा॒ति॒ऽवा । मर्तः॑ । सा॒नु॒कः । वृकः॑ ।
बृह॑स्पते । अप॑ । तम् । व॒र्त॒य॒ । प॒थः । सु॒ऽगम् । न॒: । अ॒स्यै । दे॒वऽवी॑तये । कृ॒धि॒ ॥ ७ ॥

त्रा॒तारं॑ त्वा त॒नूनां॑ हवाम॒हेऽव॑स्पर्तरधिव॒क्तार॑मस्म॒युम् ।
बृह॑स्पते देव॒निदो॒ नि ब॑र्हय॒ मा दु॒रेवा॒ उत्त॑रं सु॒म्नमुन्न॑शन् ॥ ८ ॥

त्रा॒तार॑म् । त्वा॒ । त॒नूना॑म् । ह॒वा॒म॒हे॒ । अव॑ऽस्पर्तः । अ॒धि॒ऽव॒क्तार॑म् । अ॒स्म॒ऽयुम् ।
बृह॑स्पते । दे॒व॒ऽनिद॑ः । नि । ब॒र्ह॒य॒ । मा । दु॒ःऽएवा॑ः । उत्ऽत॑रम् । सु॒म्नम् । उत् । न॒श॒न् ॥८॥

६. तुम हमारे मार्गोंका निर्माण करनेवाले महाबुद्धिमान् संरक्षक हो। तुम्हारे नियमके अनुसार ही हम अपने स्तोत्रोंसे तुम्हारी प्रार्थना करते है । हे बृहस्पते, जो पुरुष हमारे ऊपर अपना कूट फाँस फेंके उसे उसकी अपनी तीक्ष्णतम दुष्टता विनष्ट कर दे ।

[**ह्वरसः**—(√ह्वृ 'वंचना करना, कपट करना' । दे. **अदेवानि ह्वरांसि** – ६·४८·१० । **हरस्वती** (हरस् √हृ – 'क्रुद्ध होना') दे. । '**दैव्यस्य हरसः**, ८·४८·२ ।]

७. और, हे बृहस्पते, जो शत्रुता रखनेवाला मनुष्य, जो लोभी भेड़िया, हमारा कुछ अपराध न होते हुए भी हमें तकलीफ़ देता हो, उसे तुम हमारे मार्गसे दूर हटा दो तथा हमारे देवोंकी इस समाराधनाके लिए हमें सब कुछ सुगमतासे प्राप्त करा दो ।

[**सानुकः**—(√सन्) 'लोभी'; सायणाचार्यके मतसे यह शब्द 'सानु' से बना है, अर्थ–'समुच्छ्रितः'। **मर्तः वृकः** (रूपक) दे. ७·६८·८ ।]

८. हे आपत्तियोंसे (बेड़ा) पार लगानेवाले देवता, हम तुम्हें अपने शरीरोंका संरक्षक तथा हमारे प्रति हमदर्दी रखनेवाला अधिकृत वक्ता मानकर आमंत्रित करते हैं । हे बृहस्पते, देवोंके निन्दकोंका पूर्ण निर्मूलन करो । हमारे दुष्टबुद्धि शत्रुओंको तुम्हारे उस अनुग्रहकी प्राप्ति कभी मत होने दो जो हमारी अपेक्षा उच्च कोटिका हो ।

त्वया वयं सुवृधा ब्रह्मणस्पते स्पार्हा वसु मनुष्या ददीमहि ।
या नो दूरे तळितो या अरातयोऽभि सन्ति जम्भया ता अनप्नसः ॥ ९ ॥

त्वया । वयम् । सुऽवृधा । ब्रह्मणः । पते । स्पार्हा । वसु । मनुष्या । आ । ददीमहि ।
याः । नः । दूरे । तळितः । याः । अरातयः । अभि । सन्ति । जम्भय । ताः । अनप्नसः ॥९॥

त्वया वयमुत्तमं धीमहे वयो बृहस्पते पप्रिणा सस्निना युजा ।
मा नो दुःशंसो अभिदिप्सुरीशत प्र सुशंसा मतिभिस्तारिषीमहि ॥ १० ॥

त्वया । वयम् । उत्ऽतमम् । धीमहे । वयः । बृहस्पते । पप्रिणा । सस्निना । युजा ।
मा । नः । दुःऽशंसः । अभिऽदिप्सुः । ईशत । प्र । सुऽशंसाः । मतिऽभिः । तारिषीमहि ॥१०॥

अनानुदो वृषभो जग्मिराहवं निष्टप्ता शत्रुं पृतनासु सासहिः ।
असि सत्य ऋणया ब्रह्मणस्पत उग्रस्य चिद्दमिता वीळुहर्षिणः ॥ ११ ॥

अननुऽदः । वृषभः । जग्मिः । आऽहवम् । निःऽतप्ता । शत्रुम् । पृतनासु । ससहिः ।
असि । सत्यः । ऋणऽयाः । ब्रह्मणः । पते । उग्रस्य । चित् । दमिता । वीळुऽहर्षिणः ॥११॥

९. हे ब्रह्मणस्पते, हमारा अभ्युदय करनेवाली तुम्हारी सहायतासे मनुष्योंके उपभोगके योग्य और स्पृहणीय धन हमें प्राप्त हो । तथा हमारे जो शत्रु दूर अथवा समीप रहकर हमपर प्रभुत्व रखनेका प्रयत्न करें, उन्हें उनका सर्वस्व हरण करके कुचल डालो ।

[**तडितः**—(तडित्, √तड् से विशेषण) 'निकटवर्ती, पासके' दे. १·९४·७ । **अनप्नसः** (अप्नस् – √आप् – 'आय') – 'द्रव्यहीन, अकिंचन' । दे. **सु-अप्नसः** (मरुतः) १०·७८·१ । '**मनुष्या वसु**' (बहुवचन) दे. **नर्यं वसु** ६·५३·२ ।]

१०. हे बृहस्पते, नित्य विजयशाली तथा (याचकोंको) पर्याप्त दान देनेवाले तुम हमारे सहायक होकर अपनी कृपासे हमें श्रेष्ठ सामर्थ्यका संचय करने दो । नीच वाणीवाले और हमारा नाश चाहनेवाले (शत्रु) का अधिकार हमपर मत चलने दो । मधुर भाषण करनेवाले हम लोगोंका अपने स्तोत्रोंसे श्रेष्ठ अभ्युदय होने दो ।

[**दुःशंसः (अरिः)** । उसके विपक्षमें **सुशंसाः वयम्** । वाणीकी भलाई या सभ्यता आर्योंकी प्रमुख विशेषता मानी जाती है ।]

११. हे ब्रह्मणस्पते, कभी पीछे न हटनेवाले, प्रतिस्पर्धियोंकी चुनौतीका नियमसे स्वीकार करनेवाले, याचकोंका ऋणशोधन करनेवाले, अपने सामर्थ्यकी डींग हांकनेवाले, उग्र शत्रुका भी दमन करनेवाले, विश्वासयोग्य महापराक्रमी वीर तुम ही हो ।

[**अननुदः**— दे. **न अनु ददाति** २·१२·१० ।]

अदेवेन मनसा यो रिषण्यति शासामुग्रो मन्यमानो जिघांसति ।
बृहस्पते मा प्रणक्तस्य नो वधो नि कर्म मन्युं दुरेवस्य शर्धतः ॥ १२ ॥

अदेवेन । मनसा । यः । रिषण्यति । शासाम् । उग्रः । मन्यमानः । जिघांसति ।
बृहस्पते । मा । प्रणक् । तस्य । नः । वधः । नि । कर्म । मन्युम् । दुःऽएवस्य । शर्धतः ॥१२॥

भरेषु हव्यो नमसोपसद्यो गन्ता वाजेषु सनिता धनंधनम् ।
विश्वा इदर्यो अभिदिप्स्वो३ मृधो बृहस्पतिर्वि ववर्हा रथाँइव ॥ १३ ॥

भरेषु । हव्यः । नमसा । उपऽसद्यः । गन्ता । वाजेषु । सनिता । धनम्ऽधनम् ।
विश्वाः । इत् । अर्यः । अभिऽदिप्स्वः । मृधः । बृहस्पतिः । वि । ववर्ह । रथान्ऽइव ॥ १३ ॥

तेजिष्ठया तपनी रक्षसस्तप ये त्वा निदे दधिरे दृष्टवीर्यम् ।
आविस्तत्कृष्व यदसत्त उक्थ्यं१ बृहस्पते वि परिरापो अर्दय ॥ १४ ॥

तेजिष्ठया । तपनी । रक्षसः । तप । ये । त्वा । निदे । दधिरे । दृष्टऽवीर्यम् ।
आविः । तत् । कृष्व । यत् । असत् । ते । उक्थ्यम् । बृहस्पते । वि । परिऽरपः । अर्दय ॥१४॥

१२. हे बृहस्पते, देवोंको न माननेवाले मनसे जो हमें दुःख देना चाहता है, तथा शासन करनेवाले वीरोंमें अपनेको उग्र माननेवाले जो शत्रु हमारा वध करना चाहते हैं उन दोनोंके शस्त्रोंको हमें स्पर्श मत करने दो ।

[**शासाम्**— दे. **दिव्यम् शासम् इन्द्रम्** ३·४७·५ । **उग्रो मन्यमानो यः**–ऋग्वेदमें मन् धातुका कर्म उसके कर्तासे यदि भिन्न न हो, तो दोनोंको (कर्म एवं कर्ता) एक ही विभक्तिमें रखा जाता है । **अमर्मणो मन्यमानस्य वृत्रस्य** ३·३२·४; **एक इदप्रतिर्मन्यमानः** ५·३२·३; **रेवाँ इवाहं मन्ये** ८·४८·६ । **प्रणक्** (प्र + √नश्) दे. ७·९४·८ (प्र + आप्नोतु – सायण) किन्तु यहाँ और १·१८·३ में भी सायणाचार्य (प्रायः पदपाठका अनुकरण करते हुए) उसकी व्याख्यामें ' संपृणक्तु ' ('प्रणक्', रूप एक-पदकी कल्पना करके) लिखते है और ' चादिलोपे ' सूत्रके आधारपर उसके निघाताभावका समर्थन करते हैं ।]

१३. हमलोंमें सहायताकी पुकार करने योग्य, प्रणामकी सहायतासे समीप जाने योग्य, एवं युद्धोंमें उपस्थित होकर उनमें सब प्रकारकी संपत्ति आत्मसात् करनेवाले इस बृहस्पतिने, सभी विश्वासघातकी विरोधियों तथा शत्रुओं का, (लकड़ीके) रथोंकी तरह, संपूर्ण संहार किया है ।

[**रथान् इव** । दे. **प्रधीन् इव** ४·३०·१५; **पात्रा इव** (भिन्दन्) ७·१०४·२१। तीनों स्थानोंपर शत्रुओंको मारनेकी जो क्रिया है उसकी अतीव सुलभता सूचित है ।]

१४. तुम्हारे असाधारण पराक्रमको पूर्णतया देखते हुए भी जो (निन्दक) तुम्हारी निन्दा करना चाहते हैं उन राक्षसोंको तुम अपनी अत्यन्त तेजस्वी प्रज्वलित शस्त्रोंसे जला दो। तुम अपना वह (पराक्रम) प्रकट करो जो स्तवन करने योग्य है । हे बृहस्पते, उन चुगलखोर निन्दकोंको (पैरके नीचे) कुचल डालो ।

[**उक्थ्यं दृष्टवीर्यम्** मेंसे **वीर्यम्** शब्दका अध्याहार करना उचित होगा।]

बृहस्पते अति यदर्यो अर्हाद्द्युमद्विभाति क्रतुमज्जनेषु ।
यद्दीदयच्छवस ऋतप्रजात तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रम् ॥ १५ ॥
बृहस्पते । अति । यत् । अर्यः । अर्हात् । द्युऽमत् । विऽभाति । क्रतुऽमत् । जनेषु ।
यत् । दीदयत् । शवसा । ऋतऽप्रजात । तत् । अस्मासु । द्रविणम् । धेहि । चित्रम् ॥१५॥

मा नः स्तेनेभ्यो ये अभि द्रुहस्पदे निरामिणो रिपवोऽन्नेषु जागृधुः ।
आ देवानामोहते वि व्रयो हृदि बृहस्पते न परः साम्नो विदुः ॥ १६ ॥
मा । नः । स्तेनेभ्यः । ये । अभि । द्रुहः । पदे । निराभिणः । रिपवः । अन्नेषु । जगृधुः ।
आ । देवानाम् । ओहते । वि । व्रयः । हृदि । बृहस्पते । न । परः । साम्नः । विदुः ॥१६॥

विश्वेभ्यो हि त्वा भुवनेभ्यस्परि त्वष्टाजनत्साम्नःसाम्नः कविः ।
स ऋणचिदृणया ब्रह्मणस्पतिर्द्रुहो हन्ता मह ऋतस्य धर्तरि ॥ १७ ॥
विश्वेभ्यः । हि । त्वा । भुवनेभ्यः । परि । त्वष्टा । अजनत् । साम्नःऽसाम्नः । कविः ।
सः । ऋणऽचित् । ऋणऽयाः । ब्रह्मणः । पतिः । द्रुहः । हन्ता । महः । ऋतस्य । धर्तरि ॥१७॥

१५. हे ऋतसे जन्म लेनेवाले बृहस्पते, हमारे प्रतिस्पर्धियोंकी अपेक्षा अधिक योग्यतावाला, तथा तेजस्विता और बुद्धिमत्तासे युक्त होनेके कारण लोकमें प्रभावशाली दिखाई देनेवाला, एवं सामर्थ्यके योगसे उज्वल रहनेवाला, सुन्दर वैभव हमें दो ।

१६. देवद्रोहिणी राक्षसीके स्थानपर आराम करनेवाले तथा हमारे अन्नधान्योंपर गृध्रदृष्टि रखनेवाले चोरोंके (अधीन हमें मत करो) । ये चोर देवोंकी दुर्बलताकी डींग बाह्यतः अलापते हैं, लेकिन भीतरसे नहीं (वह दुर्बलता है नहीं ऐसा मानते हैं ।) । हे बृहस्पते, हमारे सामके उस पार (रहनेवाले तुम्हें) वे नहीं जानते ।

[पूर्वार्धमें **परा दाः** इस समुचित क्रियाका अध्याहार करना समीचीन होगा । दे. ७·१·१९; ८·७१·७ आदि । **व्रयस्** (√वी) सामर्थ्य । **वि + आ + ओहते** – ' भ्रान्त धारणाका निर्माण कर लेते हैं ' । **साम्नः परः** – ' सामके परः याने उससे भी अधिक बलवान या महत्त्वपूर्ण ' । दे. **' न त्वत् काव्यैः परो अस्ति '** (५·३·५) 'बुद्धिमें या सयानेपनमें तुमसे परे कोई नहीं है ' ।]

१७. कवि त्वष्टाने तुम्हें सभी वस्तुजातसे तथा प्रत्येक सामसे निर्माण किया है । हमारे ऋणका भार जाननेवाला तथा उसका शोधन करनेवाला यह ब्रह्मणस्पति, श्रेष्ठ ऋतको धारण करनेके लिए द्रुह राक्षसीका हनन करनेवाला भी है ।

[**धर्तरि**— (सप्तम्यन्त तुमन्त) ' धारण करनेके लिए ' । **' भुवनेभ्यः साम्नः '** । **भुवना** यह उपादान कारण; **सामन्** निमित्त-कारण । दे. **विश्वस्मादा जनुषो वेदसस्परि** (यहाँ जनुस् और वेदस्) । २·१७·६ । **ऋणचित्** अतएव **ऋणया** (ऋणोंपर आक्रमण करनेवाला) ।]

तव॑ श्रि॒ये व्य॑जिहीत॒ पर्व॑तो॒ गवां॑ गो॒त्रमु॒दसृ॑जो॒ यद॑ङ्गिरः ।

इन्द्रे॑ण यु॒जा तम॑सा॒ परी॑वृतं॒ बृह॑स्पते॒ निर॒पामौ॑ब्जो अर्ण॒वम् ॥ १८ ॥

तव॑ । श्रि॒ये । वि । अ॒जि॒ही॒त॒ । पर्व॑तः । गवा॑म् । गो॒त्रम् । उ॒त्ऽअसृ॑जः । यत् । अ॒ङ्गि॒रः ।

इन्द्रे॑ण । यु॒जा । तम॑सा । परि॑ऽवृतम् । बृह॑स्पते । निः । अ॒पाम् । औ॒ब्जः । अ॒र्ण॒वम् ॥१८॥

ब्रह्म॑णस्पते॒ त्वम॒स्य य॒न्ता सू॒क्तस्य॑ बोधि॒ तन॑यं च जिन्व ।

विश्वं॒ तद्भ॒द्रं यद॑वन्ति दे॒वा बृ॒हद्व॑देम वि॒दथे॑ सु॒वीराः॑ ॥ १९ ॥

ब्रह्म॑णः । प॒ते॒ । त्वम् । अ॒स्य । य॒न्ता । सु॒ऽउ॒क्तस्य॑ । बो॒धि॒ । तन॑यम् । च॒ । जि॒न्व॒ ।

विश्व॑म् । तत् । भ॒द्रम् । यत् । अव॑न्ति । दे॒वाः । बृ॒हत् । व॒दे॒म॒ । वि॒दथे॑ । सु॒ऽवीराः॑ ॥१९॥

---

१८. हे अंगिरसकुलोत्पन्न बृहस्पते, जिस समय तुमने गायोंके समूहको (बलासुरकी पर्वतीय गुहासे) बाहर निकाला, उस समय उस पर्वतने (तुम्हारे डरसे ही मानों स्वयं) विघटित होकर तुम्हें वैभव प्राप्त करा दिया । एवं अन्धकारमें डूबे हुए (वृत्रके द्वारा रोकी गई नदियोंके) पानियोंके बहावको, इन्द्रको सहायकके रूपमें लेकर, बरियाईसे खींचकर बाहर निकाला ।

[**वि + अजिहीत**—'छितर गया, विघटित हुआ' । दे. **वि जिहीष्व वनस्पते** ५·७८·५।। **तमसा परिवृतम्** – वृत्र स्वयं ही अन्धकारमें आनन्द माननेवाला दास (५·३२·६ **असूर्ये तमसि वावृधानम्**) था; अतएव उसके द्वारा घिरे हुए 'अर्णव' को यहाँ लक्षणाके आधारपर **तमसा परिवृतम्** कहा गया है। १०·११३·६ में इसी वृत्रको **आपो बिभ्रतं तमसा परिवृतम्** कहा है।

१९. हे ब्रह्मणस्पते, तुम इस (सभी जगत्) के नियामक हो । (हमारे इस) सूक्तको मान लो । तुम हमारे पुत्रपौत्रोंको उत्तेजना दो । जिस वस्तुपर देवोंकी कृपादृष्टि होती है वही वस्तु शुभप्रद होती है । वीर्यवान् पुत्रादिसे युक्त होकर यज्ञ सभामें हम ऊँचे स्वरसे तुम्हारे (स्तोत्रका) पठन करें ।

[**अस्य**—यह पद उदात्त है; अतः **सूक्तस्य** के साथ इसका अन्वय करना अधिक युक्तियुक्त होगा । दे. निरुक्त ४·२५·८; फिर भी सायणके अनुसार **अस्य** का अर्थ **बुद्धिस्थं पुरोवर्ति जगत्** भी हो सकेगा और तब उदात्तस्वर 'तीव्रार्थ' का वाचक होगा; **सूक्तस्य यन्ता बोधि** (बोधि–√भू–बनो, बन जाओ) अथवा **सूक्तस्य बोधि** (बोधि – √बुध्) **अस्य यन्ता** (सन्) [सूक्तको समझ ले] इस तरह अन्वय करना भी संभव है ।]

२०

२·२८-१–११ ॥ कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा ॥ वरुणः ॥ त्रिष्टुप् ॥

इदं कवेरादित्यस्य स्वराजो विश्वानि सान्त्यभ्यस्तु मह्ना ।
अति यो मन्द्रो यजथाय देवः सुकीर्तिं भिक्षे वरुणस्य भूरेः ॥ १ ॥

इदम् । कवेः । आदित्यस्य । स्वऽराजः । विश्वानि । सन्ति । अभि । अस्तु । मह्ना ।
अति । यः । मन्द्रः । यजथाय । देवः । सुऽकीर्तिम् । भिक्षे । वरुणस्य । भूरेः ॥ १ ॥

तव व्रते सुभगासः स्याम स्वाध्यो वरुण तुष्टुवांसः ।
उपायन उषसां गोमतीनामग्नयो न जरमाणा अनु द्यून् ॥ २ ॥

तव । व्रते । सुऽभगासः । स्याम । सुऽआध्यः । वरुण । तुस्तुऽवांसः ।
उपऽअयने । उषसाम् । गोऽमतीनाम् । अग्नयः । न । जरमाणाः । अनु । द्यून् ॥ २ ॥

तव स्याम पुरुवीरस्य शर्मन्नुरुशंसस्य वरुण प्रणेतः ।
यूयं नः पुत्रा अदितेरदब्धा अभि क्षमध्वं युज्याय देवाः ॥ ३ ॥

तव । स्याम । पुरुऽवीरस्य । शर्मन् । उरुऽशंसस्य । वरुण । प्रनेतरिति प्रऽनेतः ।
यूयम् । नः । पुत्राः । अदितेः । अदब्धाः । अभि । क्षमध्वम् । युज्याय । देवाः ॥ ३ ॥

---

१. स्वराट् कवि अदितिपुत्र वरुण देवका यह स्तोत्र, आजतक विद्यमान स्तोत्रोंमें अपनी महानतासे सबसे बढ़कर रहे। जो यजन करनेके लिए अत्यन्त आल्हाददायक है इस पराक्रमी वरुण देवसे मैं विमल कीर्तिकी याचना करता हूँ।

[पूर्वार्धमें '**इदं**' तथा '**विश्वानि**' के बाद क्रमशः **वचः** और **वचांसि** का अध्याहार करना उचित है। दे. ३·३३·१०; ७·१०१·५ । **अति** का **मन्द्रः** से अन्वय।]

२. हे वरुण, गोधनसे संपन्न उषाओंके आगमनके समय दिन प्रतिदिन, वैतान अग्निकी तरह जागृत रह कर तथा पवित्र विचार मनमें रखकर तुम्हारी स्तुति करते करते तुम्हारे शासनमें रहनेवाले हमें उत्तम भाग्य प्राप्त करा दो।

[**अग्नयो न** – समिधाओंको अर्पित करके जागृत किये गये तीन श्रौत अग्नि। **अनु द्यून्** – 'निर्बाध-रूपसे प्रतिदिन'। इसके पर्यायवाचीके रूपमें **द्युभिः** अथवा **दिवे दिवे** को भी प्रयुक्त किया जाता है।]

३. हे श्रेष्ठ नेता वरुण, तुम अनेक वीरोंसे संपन्न, विशाल कीर्तिवाले हो। तुम्हारी सुरक्षामें हम रहें। कभी वञ्चित न होनेवाले अदितिके पुत्रो, देवो, तुम हमें प्रमादोंकी क्षमा करो, ताकि हमें तुम्हारा सायुज्य प्राप्त हो।

[इस वरुण-सूक्तमें कविने अदितिके पुत्रोंका उल्लेख 'अपराधोंके लिए क्षमा करनेवालों' के संदर्भमें किया है।]

प्र सीमादित्यो असृजद्विधर्ताँ ऋतं सिन्धवो वरुणस्य यन्ति ।
न श्राम्यन्ति न वि मुचन्त्येते वयो न पप्तू रघुया परिज्मन् ॥ ४ ॥

प्र । सीम् । आदित्यः । असृजत् । विऽधर्ता । ऋतम् । सिन्धवः । वरुणस्य । यन्ति ।
न । श्राम्यन्ति । न । वि । मुचन्ति । एते । वयः । न । पप्तुः । रघुऽया । परिऽज्मन् ॥४॥

वि मच्छ्रथाय रशनामिवाग ऋध्याम ते वरुण खामृतस्य ।
मा तन्तुश्छेदि वयतो धियं मे मा मात्रा शार्यपसः पुर ऋतोः ॥ ५ ॥

वि । मत् । श्रथय । रशनाम्ऽइव । आगः । ऋध्याम । ते । वरुण । खाम् । ऋतस्य ।
मा । तन्तुः । छेदि । वयतः । धियम् । मे । मा । मात्रा । शारि । अपसः । पुरा । ऋतोः ॥५॥

४. इस अदितिके पुत्रने, (नदियोंके) इस धारणकर्ताने, उन्हें (बहनेके लिये) मुक्त कर खोल दिया। ये नदियाँ वरुणके अमोघ नियमके अनुसार आगे बढ़ रही हैं। वे कभी श्रान्त नहीं होतीं अथवा अपने (घोड़ोंको) मुक्त कर आराम भी नहीं लेतीं। अपने परिभ्रमणमें वे पक्षियोंकी तरह तेज़ीसे दौड़ती रहती हैं।

[इस ऋचामें माना गया है कि वरुण स्वर्गकी सिन्धुओं और उसके अनुसार पार्थिव नदियोंके भी अधिष्ठाता हैं। **वरुणस्य ऋतम्**–ऋतके पालक एवं विधरण कर्ता (विधरणके लिए दे. २·३८·४ की टिप्पणी)। देवोंमें वरुण के सर्वश्रेष्ठ होनेके कारण कविने यहाँ **वरुणस्य ऋतम्** तथा ऋ. ५ में **ते ऋतस्य (खाम्)** इन शब्दोंको प्रयुक्त किया है। ऐसे स्थानोंपर अन्यत्र **व्रत** शब्द प्रयुक्त होता है। देवोंके द्वारा बनाए गये नियम व्रत कहलाते हैं। किन्तु **ऋत** को देवोंका भी पूर्ववर्ती एवं अकर्तृक माना गया है। **वि + मुच्** का अर्थ 'घोड़ोंको रथसे मुक्त करके बहुत समयतक आराम करना, विश्राम लेना' और **नि + विश्** के माने हैं 'रातभर डेरा डालकर [और अन्य प्रबन्ध करके] वहीं रहना' दे. १·३२-१०; साथ साथ ३·३२·१ आदि।]

५. रस्सीकी तरह मुझे जकड़नेवाले मेरे इस अपराधको बिलकुल शिथिल करो (और नीचे गिरा दो)। तुम्हारे निर्बाध नियमरूपी निर्झरका प्रतिपालन हमारे हाथों द्वारा अच्छे ढंगसे होने दो। जबतक मैं तुम्हारे स्तोत्र गूँथता रहूँ तबतक उसका एक भी तन्तु न टूटने दो। उसी प्रकार मेरे यज्ञादि कर्मका खड़ा किया अंश उसकी समाप्तिके निर्धारित समयके पहले नष्ट न हो जायँ।

[**रशनामिव**। यही अपराधरूप बन्धनकी कल्पना १·२५·१ तथा ७·८९·५ में भी पाई जाती है। **तन्तुः**– 'धी' पर वस्त्रका आरोप (रूपक) किया गया है। **ऋतु**—'समुचित समय' या 'योग्य काल'; दे. ७·१०३·९। **अपसः मात्रा**– 'कुशल कारीगरद्वारा निर्मित कृतिका भाग (अंश)'।]

अपो सु म्यक्ष वरुण भियसं मत्सम्राळृतावोऽनु मा गृभाय।
दामेव वत्साद्वि मुमुग्ध्यंहो नहि त्वदारे निमिषश्चनेशे ॥ ६ ॥

अपो इति। सु। म्यक्ष। वरुण। भियसम्। मत्। सम्ऽराट्। ऋतऽवः। अनु। मा। गृभाय।
दामऽइव। वत्सात्। वि। मुमुग्धि। अंहः। नहि। त्वत्। आरे। निऽमिषः। चन। ईशे ॥६॥

मा नो वधैर्वरुण ये त इष्टावेनः कृण्वन्तमसुर भ्रीणन्ति।
मा ज्योतिषः प्रवसथानि गन्म वि षू मृधः शिश्रथो जीवसे नः ॥ ७ ॥

मा। नः। वधैः। वरुण। ये। ते। इष्टौ। एनः। कृण्वन्तम्। असुर। भ्रीणन्ति।
मा। ज्योतिषः। प्रऽवसथानि। गन्म। वि। सु। मृधः। शिश्रथः। जीवसे। नः ॥ ७ ॥

नमः पुरा ते वरुणोत नूनमुतापरं तुविजात ब्रवाम।
त्वे हि कं पर्वते न श्रितान्यप्रच्युतानि दूळभ व्रतानि ॥ ८ ॥

नमः। पुरा। ते। वरुण। उत। नूनम्। उत। अपरम्। तुविऽजात। ब्रवाम।
त्वे इति। हि। कम्। पर्वते। न। श्रितानि। अप्रऽच्युतानि। दुःऽदभ। व्रतानि ॥ ८ ॥

---

६. हे वरुण, भयको मुझसे दूर हटा दो। हे ऋतके स्वामिन्, हे सम्राट्, मुझपर अनुग्रह करो। जिस प्रकार बछड़े (के गले) से दामन् छोड़ा जाय उसी प्रकार मेरे अपराध मुझसे छुड़ा दो। तुमसे दूरवर्ती स्थानमें अपने नेत्रनिमीलनपर भी हमारा स्वामित्व नहीं चलता।

७. हे महापराक्रमी वरुण, जो तुम्हारे आदेशसे (साधुओंको) तंग करनेवालोंको दण्ड देते हैं उन शस्त्रोंसे हमें मत (मारो)। अधिक समय तक हम सूर्यप्रकाशसे दूर न रहें। एवं ऐसा प्रबंध करो जिससे हमें प्रतिबंध करनेवाले (शत्रु) आप ही आप गिर पड़े और हम जीवित रह सकें।

[पहले चरणमें **वधीः** का अध्याहार करना समीचीन है। (**ज्योतिषः**) **प्रवसथानि गन्म**। यह है **अव स्थाम्** (ऋ. ११) से समानार्थक।]

८. हे वरुण, तुम्हें हमने पहले भी प्रणाम (किया है) और आज भी (कर रहे हैं)। हे जन्मसिद्ध सुसमर्थ देव, और आगे भी हम तुम्हारे स्तोत्रका पठन करते रहें। क्योंकि, हे दुर्दान्त देव, जिस प्रकार पर्वतके आश्रयसे (वृक्षादिक) नहीं ढलते रहते उसी प्रकार तुम्हारे ये निर्बाध नियम तुम्हारे आधारसे कभी भग्न न होते हुए रहते हैं।

[**पर्वते न** यह उपमान दृढताको सूचित करता है।]

परं ऋणा सावीरध मत्कृतानि माहं राजन्नन्यकृतेन भोजम् ।
अव्युष्टा इन्नु भूयसीरुषास आ नो जीवान्वरुण तासु शाधि ॥ ९ ॥

परा । ऋणा । सावीः । अधं । मत्ऽकृतानि । मा । अहम् । राजन् । अन्यऽकृतेन । भोजम् ।
अविंऽउष्टाः । इत् । नु । भूयंसीः । उषसंः । आ । नः । जीवान् । वरुण । तासुं । शाधि ॥९॥

यो मे राजन्युज्यो वा सखा वा स्वप्ने भयं भीरवे मह्यमाह ।
स्तेनो वा यो दिप्सति नो वृको वा त्वं तस्माद्वरुण पाह्यस्मान् ॥ १० ॥

यः । मे । राजन् । युज्यंः । वा । सखा । वा । स्वप्ने । भयम् । भीरवें । मह्यम् । आह ।
स्तेनः । वा । यः । दिप्संति । नः । वृकंः । वा । त्वम् । तस्मांत् । वरुण । पाहि । अस्मान् ॥१०॥

माहं मघोनो वरुण प्रियस्य भूरिदाव्न आ विदं शूनमापेः ।
मा रायो राजन्त्सुयमादव स्थां बृहद्वदेम विदथे सुवीराः ॥ ११ ॥

मा । अहम् । मघोनंः । वरुण । प्रियस्यं । भूरिऽदाव्नंः । आ । विदम् । शूनंम् । आपेः ।
मा । रायः । राजन् । सुऽयमांत् । अवं । स्थाम् । बृहत् । वदेम । विदथें । सुऽवीराः ॥११॥

९. खुद मुझसे किये गये अपराधोंको तुम दूर हटानेका आदेश दो । दूसरोंसे किये गये अपराधोंके कारण, हे राजन्, मैं दुःखका अनुभव करनेपर बाध्य न हो जाऊँ । अब भी अनेक उषाएं उदित होनेवाली हैं [अतः] उनमें हम जीवित रह सकें ऐसी ही आज्ञा दो ।

[दे. ७.८६.५ । **अन्यकृतेन** के बाद **ऋणेन** का अध्याहार योग्य है ।]

१०. हे राजन् वरुण, जो मेरा संगी या स्नेही कायर हृदयवाले मुझसे स्वप्नमें भयप्रद बातें कहता है, अथवा जो चोर या भेड़िया (जागृत अवस्थामें) हमपर हमला करना चाहता है उससे भी तुम हमारी रक्षा करो ।

[**वृकः**—' भेड़ियेकी तरह लोभी एवं कपट करनेवाला व्यक्ति '; दे. २.२३.७ ।]

११. हे वरुण, हमें प्रिय दाता अथवा काफ़ी उपहार देनेवाले संबंधीके अभावका अनुभव न होने दो । उसी प्रकार उस संपत्तिसे मुझे दूर मत रहने दो जिसका पालन अनायास हो सके । वीर सुपुत्रोंके सहित हम यज्ञसभामें (तुम्हारे स्तोत्रका) ऊँचे स्वरसे पठन करें ।

[**शूनं विद् = शूनम् अर्** ३.३३.१३; **शूने भू** १.१०५.३; **शूने नि षद्** ७.१.११ इन सभीका अर्थ ' शून्य बनाना, ओझल होना, नष्ट होना '।]

२१

२-३३·१–१५ ॥ गृत्समदः ॥ रुद्रः ॥ त्रिष्टुप् ॥

आ ते॑ पितर्मरुतां सु॒म्नमे॑तु॒ मा न॒ः सूर्य॑स्य सं॒दृशो॑ युयोथाः ।
अ॒भि नो॑ वी॒रो अर्व॑ति क्षमेत॒ प्र जा॑येमहि रुद्र प्र॒जाभि॑ः ॥ १ ॥

आ । ते॒ । पि॒त॒रिति॑ । म॒रु॒ता॒म् । सु॒म्नम् । ए॒तु॒ । मा । न॒ः । सूर्य॑स्य । स॒म्ऽदृशः॑ । यु॒यो॒थाः॒ ।
अ॒भि । न॒ः । वी॒रः । अर्व॑ति । क्ष॒मे॒त॒ । प्र । जा॒ये॒म॒हि॒ । रु॒द्र॒ । प्र॒ऽजाभि॑ः ॥ १ ॥

त्वाद॑त्तेभी रुद्र॒ शंत॑मेभिः श॒तं हिमा॑ अशीय भेष॒जेभि॑ः ।
व्य१॒॑स्मद्द्वेषो॑ वित॒रं व्यंहो॒ व्यमी॑वाश्चातयस्वा॒ विषू॑चीः ॥ २ ॥

त्वाऽद॑त्तेभिः । रु॒द्र॒ । शम्ऽत॑मेभिः । श॒तम् । हिमा॑ः । अ॒शी॒य॒ । भे॒ष॒जेभि॑ः ।
वि । अ॒स्मत् । द्वेष॑ः । वि॒ऽत॒रम् । वि । अंह॑ः । वि । अमी॑वाः । चा॒त॒य॒स्व॒ । विषू॑चीः ॥ २ ॥

१. हे मरुतोंके पिता, तुम्हारी कृपादृष्टि हमारी ओर मुड़े। सूर्यके दर्शनसे हमें वञ्चित मत होने दो। अश्वके बारेमें यह वीर (रुद्र) हम पर क्षमाशील रहे। हे रुद्र, सन्तानके योगसे हमें निरन्तर समृद्ध होने दो।

[**सूर्यस्य संदृशः** (पञ्चमी) सूर्यका प्रकाश वास्तवमें आर्योंके जीवनका सर्वस्व है। अतः हमेशा उसके संनिध रहनेकी अभिलाषा ऋग्वेदीय कवियोंकी प्रार्थनाओंमें सर्वत्र दिखाई देती है। तीसरे चरणके ' अधिक्षमेत ' का कर्ता **वीर** एवं रुद्र ही है। इस धातुका कर्ता प्रायः कोई देवता ही रहता है। दे. ऋ. ७; २·२८·३ आदि। **प्रजाभिः प्र जायेमहि** दे. २·३५·८.]

२. तुम्हारे द्वारा दी हुई अत्यन्त आरोग्यदायक ओषधियोंके सेवनसे, हे रुद्र, मुझे सौ शीत ऋतुओंसे परिपूर्ण आयुका उपभोग करने दो। (दुर्जनोंकी) द्वेषबुद्धिको हमसे दूर तथा आपत्तिको उससे भी अधिक दूर भगा दो। और व्याधियोंको भी इधर उधर भगाकर छितरा दो।

[**हिमाः**—मालूम होता है कि हमेश पाए जानेवाले ' शरदः ' के स्थानपर संकटकालके उपलक्षणके रूपमें यहाँ कविने इस शब्दको प्रयुक्त किया है। आशय निम्नानुसार है –' कड़ाकेके जाड़ेसे ' सुखपूर्वक बचकर हमें ' जीवनके लिए अनुकूल ' शरद्का अनुभव प्राप्त हो। **हिमाः** का उल्लेख अन्यत्र भी पाया जाता है। चौथे चरणके लिए दे. ६·७४·२]

श्रेष्ठो जातस्य रुद्र श्रियासि तवस्तमस्तवसां वज्रबाहो ।
पर्षि णः पारमंहसः स्वस्ति विश्वा अभीती रपसो युयोधि ॥ ३ ॥

श्रेष्ठः । जातस्य । रुद्र । श्रिया । असि । तवःऽतमः । तवसाम् । वज्रबाहो इति वज्रऽबाहो ।
पर्षि । नः । पारम् । अंहसः । स्वस्ति । विश्वाः । अभिऽईतीः । रपसः । युयोधि ॥ ३ ॥

मा त्वा रुद्र चुक्रुधामा नमोभिर्मा दुष्टुती वृषभ मा सहूती ।
उन्नो वीराँ अर्पय भेषजेभिर्भिषक्तमं त्वा भिषजां शृणोमि ॥ ४ ॥

मा । त्वा । रुद्र । चुक्रुधाम । नमःऽभिः । मा । दुःऽस्तुती । वृषभ । मा । सऽहूती ।
उत् । नः । वीरान् । अर्पय । भेषजेभिः । भिषक्ऽतमम् । त्वा । भिषजाम् । शृणोमि ॥ ४ ॥

हवीमभिर्हवते यो हविर्भिरव स्तोमेभी रुद्रं दिषीय ।
ऋदूदरः सुहवो मा नो अस्यै बभ्रुः सुशिप्रो रीरधन्मनायै ॥ ५ ॥

हवीमऽभिः । हवते । यः । हविःऽभिः । अव । स्तोमेभिः । रुद्रम् । दिषीय ।
ऋदूदरः । सुऽहवः । मा । नः । अस्यै । बभ्रुः । सुऽशिप्रः । रीरधत् । मनायै ॥ ५ ॥

---

३. उत्पन्न प्राणियोंमें, हे रुद्र, तुम वैभवसे सर्वश्रेष्ठ हो। हमें संकटके पार सुखसे ले चलो (और) शारीरिक आघातके सभी हमले हमसे दूर रखो।

[**रपसो अभीतीः युयोधि।** दे. **रिषः संपृचः पाहि** तथा **तन्वो रपः प्रचुच्युवुः** १०·९७·१० । साथ साथ प्रस्तुत सूक्तमें सातवीं ऋचामें (**रपसः अपभर्ता**) ।]

४. हे रुद्र, हमारे (बार बार किये गये) प्रणामोंसे, अथवा दोषयुक्त स्तुतिसे, किंवा हे पराक्रमी देवता, अन्य देवोंके साथ तुम्हें दिये निमंत्रणसे, हमपर अपनी नाराज़ी मत होने दो। अपनी ओषधियों (के प्रभाव) से हमारे वीरोंको उठाओ। क्यों कि मैंने सुना है सभी कविराजोंमें तुम अत्यंत श्रेष्ठ वैद्यराज हो।

[**नमोभिः (चुक्रुधाम)** 'पिछलगू बनकर बारबार की गई सराहनाओं एवं प्रार्थनाओं से'। ८·१·२० में इसी तरहकी प्रार्थनाकी सफ़ाई देते हुए कवि बड़े लाड़-प्यारसे इन्द्रसे सीधे पूछता है—'क ईशानं न याचिषत्' (श्रीमान् दाताके प्राप्त होनेपर कौन याचना नहीं करेगा) किन्तु रुद्र अथवा वरुणके सामने इस तरहके लाड़-प्यारकी दाल नहीं गलती। **सहूती** अन्योंके 'साथ दिया गया निमंत्रण' (याने व्यक्तिगत रूपसे नहीं)। इन्द्र भी इसे पसन्द नहीं करते (७·२७·४); सिर्फ सोमके साथ इस तरहका निमंत्रण स्वीकृत होता है। दे. ६·७४ (सोमारुद्रा)। **उद् अर्पय्**– 'जगाओ', 'उठाओ' इसके विपरीत **नि-अर्पय्** – 'सुलाओ, लुठाओ' दे. **नि अर्पयतम्** ७·१०४·१]

५. आवाहन तथा हवियों से जिसे निमन्त्रित किया जाता है उस रुद्रको मैं अपने

उन्मा ममन्द वृषभो मरुत्वान्त्वक्षीयसा वयसा नाधमानम् ।
घृणीव च्छायामरपा अशीया विवासेयं रुद्रस्य सुम्नम् ॥ ६ ॥

उत् । मा । ममन्द । वृषभः । मरुत्वान् । त्वक्षीयसा । वयसा । नाधमानम् ।
घृणिऽइव । छायाम् । अरपाः । अशीय । आ । विवासेयम् । रुद्रस्य । सुम्नम् ॥ ६ ॥

क्व१ स्य ते रुद्र मृळयाकुर्हस्तो यो अस्ति भेषजो जलाषः ।
अपभर्ता रपसो दैव्यस्याभी नु मा वृषभ चक्षमीथाः ॥ ७ ॥

क्व । स्यः । ते । रुद्र । मृळयाकुः । हस्तः । यः । अस्ति । भेषजः । जलाषः ।
अपऽभर्ता । रपसः । दैव्यस्य । अभि । नु । मा । वृषभ । चक्षमीथाः ॥ ७ ॥

स्तोत्रोंसे प्रसन्न करनेमें समर्थ हो सकूँ। दयालु अंतःकरणवाला तथा सुलभ रीतिसे बुलाये जाने लायक, काञ्चनवर्ण, सुन्दर हनुसे युक्त यह रुद्र हमें अपने इस प्रकारके रोषका शिकार न बनाये।

[**अव दिषीय** (अव + दा = सान्त्वना देना)। **ऋदूदरः** = ' कोमल अन्तःकरणवाला '। सोमको भी ८·४८·१० में ऋदूदर कहा गया है। **ऋदु** –(√ऋद् = अर्द्) 'कोमल, मृदु'। **अस्यै मनायै**'–'इस क्रोधके लिए ' याने ऋ. ४ में जिन कारणोंका उल्लेख है उनकी वजहसे उसके (रुद्रके) हमपर उत्पन्न क्रोधके लिए। इसी **मना** को ऋ. १४ में ' **दुर्मति** ' कहा गया है। अन्यत्र **मना** शब्द ' विचार, प्रार्थना, स्तुति ' के अर्थमें भी प्रयुक्त होता है। दे. ४·३३·२; साथ साथ दे. **मनायु** (इन्द्र) ४·२५·२ व ५; **मनावसु** (अश्विना) ५·७४·१ आदि। किन्तु इसी धातुसे बना हुआ ' **मन्यु** ' शब्द ' क्रोध, संताप ' के अर्थमें ही प्रयुक्त हुआ है। दे. १·२५·२ तथा ४ की टिप्पणी।]

६. मरुद्गणोंसे युक्त इस पराक्रमी रुद्रने प्रभावशाली सामर्थ्यसे संयुक्त करके (आपत्तिमें सहायताकी) याचना करनेवाले मुझे अत्यन्त उल्लसित किया है। गरमीसे संतप्त पुरुष जिस प्रकार छाया प्राप्त कर लेता है उसी प्रकार कुछ भी तकलीफ़ न होते हुए मुझे (उसकी उस सामर्थ्यकी) प्राप्ति हो जायँ और रुद्रका प्रसाद मैं प्राप्त करूँ।

[**त्वक्षीयसा वयसा** – ' दृढ सामर्थ्यकी सहायतासे ' याने वह (सामर्थ्य) मुझे प्राप्त कराके या प्रदान करके। दे. **वर्षीयः वयः कृणुहि (अस्मे)** ६·४४·९। **घृणि** (घृण् शब्दका सप्तम्यन्त रूप) **घृणि** (वर्तमानः) यह उपमान है।]

७. हे रुद्र, तुम्हारा कृपाप्रवण, सन्तापका हरण एवं रोगका निवारण करनेवाला वह हस्त आज कहां है ? जो देवोंके द्वारा भेजी गये शरीरहानिको भी दूर करता है। हे महापराक्रमी देव, तुम मुझे (मेरे अपराधोंको) क्षमा करो।

[**भेषजः** (विशेषण)। दे. **भेषजीः आपः** १०·१३७·६। **अभिचक्षमीथाः** दे. ऋ. १।]

प्र बभ्रवे वृषभाय श्वितीचे महो महीं सुष्टुतिमीरयामि ।
नमस्या कल्मलीकिनं नमोभिर्गृणीमसि त्वेषं रुद्रस्य नाम ॥ ८ ॥

प्र । बभ्रवे । वृषभाय । श्वितीचे । महः । महीम् । सुऽस्तुतिम् । ईरयामि ।
नमस्य । कल्मलीकिनम् । नमःऽभिः । गृणीमसि । त्वेषम् । रुद्रस्य । नाम ॥ ८ ॥

स्थिरेभिरङ्गैः पुरुरूप उग्रो बभ्रुः शुक्रेभिः पिपिशे हिरण्यैः ।
ईशानादस्य भुवनस्य भूरेर्न वा उ योषद्रुद्रादसुर्यम् ॥ ९ ॥

स्थिरेभिः । अङ्गैः । पुरुऽरूपः । उग्रः । बभ्रुः । शुक्रेभिः । पिपिशे । हिरण्यैः ।
ईशानात् । अस्य । भुवनस्य । भूरेः । न । वै । ऊँ इति । योषत् । रुद्रात् । असुर्यम् ॥९॥

अर्हन्बिभर्षि सायकानि धन्वार्हन्निष्कं यजतं विश्वरूपम् ।
अर्हन्निदं दयसे विश्वमभ्वं न वा ओजीयो रुद्र त्वदस्ति ॥ १० ॥

अर्हन् । बिभर्षि । सायकानि । धन्व । अर्हन् । निष्कम् । यजतम् । विश्वऽरूपम् ।
अर्हन् । इदम् । दयसे । विश्वम् । अभ्वम् । न । वै । ओजीयः । रुद्र । त्वत् । अस्ति ॥१०॥

---

८. पीतवर्ण एवं धवल वस्त्रावृत पराक्रमी रुद्रको मैं अपनी इस महान् देवताकी उचित बड़ी और सुन्दर स्तुति समर्पित करता हूँ। (हे स्तोता), अपने प्रणामोंसे इस तेजस्वी देवको नमन करो। हम सभी इस रुद्रके तेजस्वी नामकी संस्तुति करते हैं।

[**महो** याने रुद्रस्य; 'महान् देवताकी बड़ी स्तुति या प्रशंसा'।]

९. अनेक रूप धारण करनेवाले, पीतवर्ण, उग्र और सुदृढ अंगोंसे युक्त इस रुद्रने देदीप्यमान सुवर्णालंकारोंसे अपने को मण्डित किया है। इस महापराक्रमी, विशाल भुवनके प्रशासकसे, इस रुद्रसे, आसुरी सामर्थ्य कभी वियोग नहीं पाएगी।

[**भूरेः** (पञ्चमी) **ईशानात्**, दे. **वरुणस्य भूरेः** २·२८·१ अथवा **भूरेः** (षष्ठी) **भुवनस्य** ७·९५·२ दोनों तरहका अन्वय करना समीचीन है।]

१०. (शस्त्र धारण करने) योग्य होनेसे तुम धनुष और बाण धारण करते हो। (अलंकार धारण करने) योग्य होनेसे पवित्र और सभी रूपोंसे सुन्दर ऐसा कण्ठहार (भी तुम धारण करते हो)। इस प्रकार (दान देने) योग्य होनेसे तुम अपने याजकोंको सब प्रकारकी अद्भुत सामर्थ्य भी समर्पित करते हो। हे रुद्र, तुमसे बढ़कर अधिक ओजस्वी सचमुच कोई भी भूत-जात नहीं है।

[**अभ्वम्**—अद्भुतम् (अच्छे अथवा बुरे दोनों अर्थोंमें); दे. ४·५१·९. '**त्वत्तः ओजीयः** (**किंचित्**) नास्ति' यह अन्वय।]

स्तुहि श्रुतं गर्तसदं युवानं मृगं न भीममुपहत्नुमुग्रम्।
मृळा जरित्रे रुद्र स्तवानोऽन्यं ते अस्मन्नि वपन्तु सेनाः ॥ ११ ॥

स्तुहि। श्रुतम्। गर्तऽसदम्। युवानम्। मृगम्। न। भीमम्। उपऽहत्नुम्। उग्रम्।
मृळ। जरित्रे। रुद्र। स्तवानः। अन्यम्। ते। अस्मत्। नि। वपन्तु। सेनाः ॥११॥

कुमारश्चित्पितरं वन्दमानं प्रति नानाम रुद्रोपयन्तम्।
भूरेर्दातारं सत्पतिं गृणीषे स्तुतस्त्वं भेषजा रास्यस्मे ॥ १२ ॥

कुमारः। चित्। पितरम्। वन्दमानम्। प्रति। ननाम। रुद्र। उपऽयन्तम्।
भूरेः। दातारम्। सत्ऽपतिम्। गृणीषे। स्तुतः। त्वम्। भेषजा। रासि। अस्मे इति ॥१२॥

या वो भेषजा मरुतः शुचीनि या शंतमा वृषणो या मयोभु।
यानि मनुरवृणीता पिता नस्ता शं च योश्च रुद्रस्य वश्मि ॥ १३ ॥

या। वः। भेषजा। मरुतः। शुचीनि। या। शम्ऽतमा। वृषणः। या। मयःऽभु।
यानि। मनुः। अवृणीत। पिता। नः। ता। शम्। च। योः। च। रुद्रस्य। वश्मि ॥१३॥

---

११. (हे स्तोता), (रथमें) आसनपर आरूढ, सुप्रसिद्ध युवा, उग्र, तथा भयंकर जंगली जानवरकी तरह (दुष्टोंको) मारनेकी ताकमें रहनेवाले इस रुद्रकी स्तुति करो। हे रुद्र, ऐसी स्तुति की जानेसे तुम इस स्तुतिपाठकपर दया करो। तुम्हारी ये सेनाएँ हमसे भिन्न मनुष्योंपर टूट पड़ें।

१२. हे रुद्र, जिस प्रकार कोई छोटा बच्चा अपनी ओर अभिवादन करते करते आते हुए अपने पिताको प्रतिप्रणाम करता है, उसी प्रकार मैंने तुम्हें प्रतिप्रणाम किया है। ख़ूब उपहार देनेवाले इस महान् स्वामीकी मैं स्तुति करता हूँ। इस प्रकार अपनी स्तुति होनेपर तुम हमें दिव्य ओषधियाँ समर्पित करो।

[पूर्वार्धमें **त्वाम्** का अध्याहार करना उचित है। **वन्दमानम्**–बधाई देने या अभिवादन करनेकी पद्धतिमें पुत्रको दीक्षित करनेके लिए वात्सल्यके साथ 'प्रणत होनेवाला' यह अर्थ है। दे. ७·१०३·३। **चिद्**– उपमावाचक है सही; दे. निरुक्त १·४·१३ अथवा ३·१३·२२; किन्तु यहाँ रूपक मान लेनेमें कोई उज्र नहीं है।]

१३. हे मरुद्गणो, जो शुद्ध, अतीव हितकारी, तथा सुखदायी ओषधियाँ तुम्हारे पास हैं, तथा जिन्हें हमारे प्राचीन पूर्वज मनुने भी चुना था, उन ओषधियोंकी तथा (तुम्हारे पिता) रुद्रके (अधिकारमें रहनेवाली) शान्ति और आनंदकी भी मैं कामना करता हूँ।

[**मयोभु** (बहुवचन)। यहाँ ध्वनि यह है–मरुद्गण रुद्रके ही पुत्र हैं (ऋ. १); अतएव उनके पास भी कई भेषज याने दवाएं रहती ही हैं।]

परि णो हेती रुद्रस्य वृज्याः परि त्वेषस्य दुर्मतिर्मही गात् ।
अव स्थिरा मघवद्भ्यस्तनुष्व मीढ्वस्तोकाय तनयाय मृळ ॥ १४ ॥

परि । नः । हेतिः । रुद्रस्य । वृज्याः । परि । त्वेषस्य । दुःऽमतिः । मही । गात् ।
अव । स्थिरा । मघवत्ऽभ्यः । तनुष्व । मीढ्वः । तोकाय । तनयाय । मृळ ॥ १४ ॥

एवा बभ्रो वृषभ चेकितान यथा देव न हृणीषे न हंसि ।
हवनश्रुन्नो रुद्रेह बोधि बृहद्वदेम विदथे सुवीराः ॥ १५ ॥

एव । बभ्रो इति । वृषभ । चेकितान । यथा । देव । न । हृणीषे । न । हंसि ।
हवनऽश्रुत् । नः । रुद्र । इह । बोधि । बृहत् । वदेम । विदथे । सुऽवीराः ॥ १५ ॥

१४. इस रुद्रका अस्त्र हमें छोड़कर पार चला जायँ । उसी प्रकार इस क्रोधी रुद्रकी तीव्र अवकृपा भी दूरसे ही चली जाय । हमारे दाताओंके लिए, (उनके शत्रुओंके) मज़बूत धनुष्योंको भी शिथिल करो, तथा हे उदार देव, उनके बालबच्चोंपर (भी) कृपा करो ।

[तीसरे चरणमें **धन्वानि** का अध्याहार उचित है । **अव + तन्**–' शिथिल करना ', **आ + तन्** – ' पूरी तौरसे खींचना ' । यहाँ शत्रुओंके धनुष्योंका उल्लेख है ।]

१५. हे पीतवर्ण, पराक्रमी, सुप्रसिद्ध रुद्र, इस प्रकार (हमने तुम्हारा स्तवन किया है) जिससे, हे देव, तुम हमारे ऊपर क्रुद्ध न हो जाओ अथवा हमें न मारो । हे रुद्र, यहाँ (आकर) तुम हमारा आवाहन अच्छी तरह सुन लो । सुपुत्रोंसहित हम यज्ञसभामें तुम्हारे स्तोत्रका ऊँचे स्वरसे गान करें ।

[**यथा** – ' इस लिए कि जिसकी वजहसे ' । इसी अर्थमें **यथा** का उपयोग ३·३२·१४ में भी किया गया है ।]

२२

२·३५·१–१५ ॥ गृत्समदः ॥ अपां नपात् ॥ त्रिष्टुप् ॥

इस सूक्तमें अपां नपात्‌का दोनों रूपोंमें – माध्यमिक (वैद्युत) तथा पार्थिव अग्निके रूपोंमें–स्तवन एवं वर्णन किया गया है। १ से ८ तककी ऋचाओंमें अबिन्धन (जल जिसका इन्धन है वह) वैद्युताग्नि, ऋ. ९ और १० में उसका पार्थिवाग्निके रूपमें होनेवाला परिवर्तन और ११ से १५ तककी ऋचाओंमें यही घृतान्न (घृत जिसका अन्न है) यज्ञीय पार्थिवाग्नि वर्णित है। ऋ. १३ में स्पष्टतया दोनोंकी एकताका वर्णन किया गया है।

उपेमसृक्षि वाजयुर्वचस्यां चनो दधीत नाद्यो गिरो मे।
अपां नपादाशुहेमा कुवित्स सुपेशसस्करति जोषिषद्धि ॥ १ ॥

उप। ईम्। असृक्षि। वाजऽयुः। वचस्याम्। चनः। दधीत। नाद्यः। गिरः। मे।
अपाम्। नपात्। आशुऽहेमा। कुवित्। सः। सुऽपेशसः। करति। जोषिषत्। हि ॥१॥

इमं स्वस्मै हृद आ सुतष्टं मन्त्रं वोचेम कुविदस्य वेदत्।
अपां नपादसुर्यस्य मह्ना विश्वान्यर्यो भुवना जजान ॥ २ ॥

इमम्। सु। अस्मै। हृदः। आ। सुऽतष्टम्। मन्त्रम्। वोचेम। कुवित्। अस्य। वेदत्।
अपाम्। नपात्। असुर्यस्य। मह्ना। विश्वानि। अर्यः। भुवना। जजान ॥ २ ॥

---

१. वाजकी कामना करनेवाले मैंने अपनी यह स्तुति उसके पास भेजी है। यह नदियोंका पुत्र (अपां नपात्), मेरी वाणियोंका आनन्दसे स्वीकार करे। क्या शीघ्र दौड़नेवाला वह देव उनको सुशोभित करेगा? क्यों कि उसे ये (वाणियाँ) निश्चय ही ख़ूब पसन्द होंगीं।

[**(गिरः) सुपेशसः** –अर्थ है ' दान देनेसे शोभित '; दे. **वाजपेशसं धियम्** २·३४·६।]

२. इसके लिए हमारे हृदयसे उत्तम प्रकारसे बनाये गये इस मन्त्रका सुन्दर (स्वरसे) हम पठन करें। क्या यह देव इस पर ध्यान देगा? अपनी सार्वभौम सामर्थ्यकी महानतासे प्रभुने, अपां नपात्‌ने, सभी प्राणिमात्रोंका निर्माण किया।

[**हृदः आ सुतष्टम् (हृदः वच्यमानं सुतष्टं च)** दे. **हृदा तष्टं मन्त्रम्** १·६७·४; **हृदः आ वच्यमाना मतिः** ३·३९·१।]

समन्या यन्त्युप यन्त्यन्याः समानमूर्वं नद्यः पृणन्ति ।
तमू शुचिं शुचयो दीदिवांसमपां नपातं परि तस्थुरापः ॥ ३ ॥

सम् । अन्याः । यन्ति । उप । यन्ति । अन्याः । समानम् । ऊर्वम् । नद्यः । पृणन्ति ।
तम् । ऊँ इति । शुचिम् । शुचयः । दीदिऽवांसम् । अपाम् । नपातम् । परि । तस्थुः । आपः ॥३॥

तमस्मेरा युवतयो युवानं मर्मृज्यमानाः परि यन्त्यापः ।
स शुक्रेभिः शिक्वभी रेवदस्मे दीदायानिध्मो घृतनिर्णिगप्सु ॥ ४ ॥

तम् । अस्मेराः । युवतयः । युवानम् । मर्मृज्यमानाः । परि । यन्ति । आपः ।
सः । शुक्रेभिः । शिक्वऽभिः । रेवत् । अस्मे इति । दीदाय । अनिध्मः । घृतऽनिर्निक् । अप्ऽसु ॥४॥

अस्मै तिस्रो अव्यथ्याय नारीर्देवाय देवीर्दिधिषन्त्यन्नम् ।
कृताइवोप हि प्रसर्स्रे अप्सु स पीयूषं धयति पूर्वसूनाम् ॥ ५ ॥

अस्मै । तिस्रः । अव्यथ्याय । नारीः । देवाय । देवीः । दिधिषन्ति । अन्नम् ।
कृताःऽइव । उप । हि । प्रऽसर्स्रे । अप्ऽसु । सः । पीयूषम् । धयति । पूर्वऽसूनाम् ॥ ५ ॥

---

३. कुछ नदियाँ एक साथ मिलकर (समुद्रके पास) जाती हैं, तो अन्य नदियाँ स्वतंत्र रीतिसे ही उसके पास प्राप्त होती है। (तथापि) सभी नदियाँ एक ही विशाल गोष्ठको (समुद्रको) भरती रहती हैं। ये पवित्र नदियाँ उस पवित्र और तेजस्वी अपां नपात्को (अंतरिक्षमें) घेरकर रहती हैं।

[पूर्वार्धमें पार्थिव नदियोंका और उत्तरार्धमें उनकी आधारभूत स्वर्गीय नदियोंका वर्णन किया गया है।]

४. उत्तम प्रकारका शृङ्गार करके ये लज्जाशील युवतियाँ, ये नदियाँ, उसके सम्मुख सेवामें उपस्थित रहती हैं। और वह भी अपने तेजस्वी तथा सामर्थ्यपूर्ण अंगोंसे जलरूप घृतका राजकञ्चुक परिधान करके, बिना इन्धनका उपयोग किये ही इन नदियोंके मध्यमें हमारे लिए भव्य रीतिसे प्रदीप्त हो रहा है।

[**अस्मेरा युवतयः** –' न हँसनेवाली, गंभीर-प्रकृति मातृस्थानीय युवतियाँ याने नदियाँ '। **स्मेरा युवती** है हँसोड, परिहासप्रिय युवती। उषाकी तुलना इस तरहकी युवतीसे १·१२३·१० में की गई है। **हस्रा** (१·१२४·७) यह विशेषण ' विशेष प्रगलभता ' का परिचायक है। **शिक्वभिः**–' बलवान् (अवयवोंसे)'; **शिक्वन्** – (√शक्) इस विशेषणको विशिष्ट संज्ञाके स्थानपर प्रयुक्त किया गया है। **घृतनिर्णिज्** यहाँ लक्षणाके आधारपर **घृत** का अर्थ है जल। पार्थिव अग्नि अपां नपात्का ही अवतार (रूप) है और वह साक्षात् **घृतनिर्णिज्** है। दोनों असलमें एक ही हैं; अत एव अपां नपात् को भी **घृतनिर्णिज्** कहा गया है। **अस्मे**–हमारे यज्ञमें उपस्थित होनेके लिए; दे. १० से १२ तककी ऋचाएं।]

५. इस अक्षोभ्य देवको तीन देवस्त्रियाँ उसका अन्न देना चाहती हैं। वह भी पानीके

अश्वस्यात्र जनिमास्य च स्वर्द्रुहो रिषः संपृचः पाहि सूरीन्।
आमासु पूर्षु परो अप्रमृष्यं नारातयो वि नशन्नानृतानि ॥ ६ ॥

अश्वस्य। अत्र। जनिम। अस्य। च। स्वः। द्रुहः। रिषः। सम्ऽपृचः। पाहि। सूरीन्।
आमासु। पूर्षु। परः। अप्रऽमृष्यम्। न। अरातयः। वि। नशन्। न। अनृतानि ॥ ६ ॥

स्व आ दमे सुदुघा यस्य धेनुः स्वधां पीपाय सुभ्वन्नमत्ति।
सो अपां नपादूर्जयन्नप्स्व१न्तर्वसुदेयाय विधते वि भाति ॥ ७ ॥

स्वे। आ। दमे। सुऽदुघा। यस्य। धेनुः। स्वधाम्। पीपाय। सुऽभु। अन्नम्। अत्ति।
सः। अपाम्। नपात्। ऊर्जयन्। अप्ऽसु। अन्तः। वसुऽदेयाय। विधते। वि। भाति ॥७॥

मध्यमें, अन्नपान देनेवाली धात्रियोंकी तरह उन देवस्त्रियोंके पास जाता रहता है और उन प्रथम प्रसूत माताओंके मधुर स्तन्यका पान करता है।

[**तिस्रः** अर्थ है '**अनेक**'। **अप्सु** 'जलके मध्यमें'। यहाँ जल या 'आपः' और जलकी अधिष्ठात्री देवी **आपो देवीः** में कवि भेदकी कल्पना कर रहा है। इन्हीं देवियोंको उसने कृता 'धात्री' की उपमा दी है और ऋ. ७ में इन्हींको **धेनु** कहा है। **कृता** याने कृत्रिम (दे. **कृतकतनयः** मेघदूत ७५) माता, धात्री। **पूर्वसू** — 'पहली बार प्रसूत' और **पीयूष** – 'प्रसवके उपरान्त पहली बार संचित स्तन्य या दूध'।]

६. इस (अपां नपात् रूपी) अश्वका जन्म यहाँ (इन स्वर्गीय नदियोंके मध्यमें) होकर उसका दिव्य तेज भी यहीं प्रकट हुआ है। (हे देव), द्रुह राक्षसीसे तथा शारीरिक बाधाके संपर्कमे हमारे यजमानोंकी रक्षा करो। आर्द्र प्राकारोंके भीतर बहुत दूर रहनेवाले इस अवि-स्मरणीय देवके पास शत्रु अथवा उनकी दुष्ट कृतियाँ कभी पहुँच नही पातीं।

[**अश्व**—'अग्निरूप हय' यहाँ अपां नपात्। '**अत्र च स्वः** (**अत्रैव**)' यही अन्वय। दे. **आविः स्वरभवज्जाते अग्नौ** ४·३·११ ; १०·८८·२। **संपृचः** (पञ्चमी) संपर्कात्। दे. २·३३·३ की टिप्पणी। **आमासु पूर्षु**–'आर्द्र चहारदीवारी' या 'पानीसे सराबोर प्राकार' याने जलरूपी दुर्ग। **अप्रमृष्यम्**। दे. **न प्रमृषे** ३·९·२।]

७. जिसकी उत्तम दूध देनेवाली धेनु अपने घरमें ही है उस अपां नपात्ने अपनी स्वतंत्र वृत्ति बढ़ायी है। (और) सुलभ रीतिसे पैदा हुआ अन्न ही वह खाता है। वह अपां नपात् पानीके मध्यमें अपनी शक्ति प्रकट करके अपने याजकको संपत्तिका दान देनेके लिए विशेष रूपसे प्रकाशित होता रहता है।

[**सुदुघा धेनुः**—याने ऊपर निर्दिष्ट **आपो देवीः**। **स्वधां पीपाय**–घरमें ही कामधेनुके अस्तित्वके कारण उसे दूसरे किसीकी भी परवाह नहीं है; अतएव उसने अपनी स्वतंत्र प्रवृत्तिका विकास किया है। **सुभु अन्नम्** याने 'स्वर्गीय जल'। **वि भाति**—माध्यमिक याने वैद्युत अग्निके रूपमें विशेष ढंगसे प्रकाशित होता है।]

यो अप्स्वा शुचिना दैव्येन ऋतावाजस्र उर्विया विभाति ।
वया इदन्या भुवनान्यस्य प्र जायन्ते वीरुधश्च प्रजाभिः ॥ ८ ॥

यः । अप्ऽसु । आ । शुचिना । दैव्येन । ऋतऽवा । अजस्रः । उर्विया । विऽभाति ।
वयाः । इत् । अन्या । भुवनानि । अस्य । प्र । जायन्ते । वीरुधः । च । प्रऽजाभिः ॥ ८ ॥

अपां नपादा ह्यस्थादुपस्थं जिह्मानामूर्ध्वो विद्युतं वसानः ।
तस्य ज्येष्ठं महिमानं वहन्तीर्हिरण्यवर्णाः परि यन्ति यह्वीः ॥ ९ ॥

अपाम् । नपात् । आ । हि । अस्थात् । उपऽस्थम् । जिह्मानाम् । ऊर्ध्वः । विऽद्युतम् । वसानः ।
तस्य । ज्येष्ठम् । महिमानम् । वहन्तीः । हिरण्यऽवर्णाः । परि । यन्ति । यह्वीः ॥ ९ ॥

८. जो ऋतुका स्वामी और कभी क्षय न होनेवाला अपां नपात् इन (स्वर्गीय) जल-समूहोंके मध्यमें अपने धवल तथा दैवी (तेजसे) सर्वत्र चमकता रहता है उसकी ही ये अन्य प्राणिजात सचमुच शाखाएँ हैं । तथा लताएँ भी अपनी छोटे छोटे पौधोंसे (इसी देवके प्रभावसे) अनेक बार बढ़ती रहती हैं ।

[**शुचिना । भामेन** का अध्याहार योग्य है । वैद्युताग्निकी कृपासे वृष्टि होती है । और सभी वनस्पतियाँ एवं प्राणिमात्र विकसित (या समृद्ध) होते हैं । इसलिए उत्तरार्धमें उन्हें अपां नपात्की शाखाएं मान गया है ।]

९. क्योंकि यह क्रियाप्रवण अपां नपात् अपने तेज(रूपी वस्त्र)को ओढ़कर इन विनम्र (वनस्पतियों) के अन्तरङ्गमें प्रविष्ट हो गया । तथापि उसकी श्रेष्ठ महानता अपनेमें धारण करके ये काञ्चनवर्ण तरुण वधुएँ इसकी सेवामें इधर उधर संचार करती हैं ।

[**जिह्मानाम्** । यहां ऋचाके चौथे चरणके आधारपर **वीरुधाम्** का अध्याहार करना समीचीन होगा । ' हि ' निपातसे स्पष्ट है कि इसे पिछली ऋचाके अन्तमें किये गये विधानका विवरण ही समझना चाहिए । वृष्टिके द्वारा स्वर्गीय जलसे अपने तेजके साथ निकलकर वनस्पतियोंकी जड़ोंद्वारा शोषित जलके साथ उनके उदरोंमें प्रविष्ट होकर अपां नपात् अरणियोंके घर्षणसे प्रकट हुआ यही कविका आशय है । ३·९·२ में यही कल्पना अभिप्रेत है। **यह्वीः** 'युवा वधू ' याने स्वर्गीय आपो देवियाँ । यद्यपि 'अपां नपात्' पार्थिव अग्निके रूपमें अवतीर्ण हुआ; फिर भी वह अपने मूल रूपमें स्वर्गमें निःसंदेह विद्यमान है। वही पिता (अपां नपात्के रूपमें) और वही पुत्र (पार्थिवाग्निके रूपमें) । दोनों समान रूपसे तेजस्वी एवं बलवान् होते हैं। **दे. ऋ. १३ ।**]

हिरण्यरूपः स हिरण्यसंदृगपां नपात् सेदु हिरण्यवर्णः ।
हिरण्ययात् परि योनेर्निषद्या हिरण्यदा ददत्यन्नमस्मै ॥ १० ॥

हिरण्यऽरूपः । सः । हिरण्यऽसंदृक् । अपाम् । नपात् । सः । इत् । ऊँ इति । हिरण्यऽवर्णः ।
हिरण्ययात् । परि । योनेः । निऽसद्य । हिरण्यऽदाः । ददति । अन्नम् । अस्मै ॥ १० ॥

तदस्यानीकमुत चारु नामापीच्यं वर्धते नप्तुरपाम् ।
यमिन्धते युवतयः समित्था हिरण्यवर्णं घृतमन्नमस्य ॥ ११ ॥

तत् । अस्य । अनीकम् । उत । चारु । नाम । अपीच्यम् । वर्धते । नप्तुः । अपाम् ।
यम् । इन्धते । युवतयः । सम् । इत्था । हिरण्यऽवर्णम् । घृतम् । अन्नम् । अस्य ॥ ११ ॥

अस्मै बहूनामवमाय सख्ये यज्ञैर्विधेम नमसा हविर्भिः ।
सं सानु मार्ज्मि दिधिषामि बिल्मैर्दधाम्यन्नैः परि वन्द ऋग्भिः ॥ १२ ॥

अस्मै । बहूनाम् । अवमाय । सख्ये । यज्ञैः । विधेम । नमसा । हविःऽभिः ।
सम् । सानु । मार्ज्मि । दिधिषामि । बिल्मैः । दधामि । अन्नैः । परि । वन्दे । ऋक्ऽभिः ॥ १२ ॥

१०. इस अपां नपात्का रूप और दिखावट सोनेके समान (तेजस्वी) है । (और जिस समय) यह अपने (विद्युद्रूप) सुवर्णमय निवासस्थानसे (बाहर निकलकर वेदीके ऊपर) अधिष्ठित होता रहता है उस समय भी उसका वर्ण सुवर्ण सदृश ही रहता है। और सुवर्णकी दक्षिणा देनेवाले (दानवीर यजमान) इसे (अपना घृतादिक) अन्न समर्पित करते रहते हैं ।

[वही तेजस्वी अपां नपात् अपने विद्युद्रूप स्वर्गीय निवासस्थानसे निकलकर वेदीपर पार्थिवाग्निके रूपमें प्रतिष्ठित हुआ और इस तरह प्रतिष्ठित होनेके बाद भी उसके तेजमें या आभामें कोई भी न्यूनता पैदा नहीं हुई । दे. **अनभिम्लातवर्णः** (ऋ. १३) । तीसरे चरणमें **योनेः परि** के बाद **आगत्य** इस योग्य क्रियाका अध्याहार करना समीचीन है ।]

११. अपां नपात्का यह अप्रकट दर्शन और नाम अभी वृद्धिंगत हो रहा है। जिसे युवती स्त्रियाँ प्रज्वलित करती हैं उस अपां नपात्का यहांका (याने भूमिपरका) अन्न यह सुवर्णवर्ण घृत है ।

[अबतक पानीमें रहनेके कारण अपां नपात्का **अनीक** एवं **नाम** छिपा हुआ था; किन्तु अब कराङ्गुलिरूप अन्य युवतियाँ उसे प्रज्वलित करती हैं । और इस अवसरपर पीतवर्ण (पीले रंगका) घृत ही उसका अन्न होता है । दानी यजमान उसे यह अन्न अर्पित करते हैं । ऋ. १० ।]

१२. अनेक (मित्रोंके) समुदायसे इस अत्यन्त प्रिय मित्रकी हम, यज्ञ, प्रणाम तथा हविर्द्रव्य इन सभीसे सेवा करें । मैं इसकी पीठ पोंछकर साफ़ करता हूँ । लकड़ियोंसे इसे

स ईं वृषाजनयत्तासु गर्भं स ईं शिशुर्धयति तं रिहन्ति।
सो अपां नपादनभिम्लातवर्णोऽन्यस्येवेह तन्वा विवेष ॥ १३ ॥

सः। ईम्। वृषा। अजनयत्। तासु। गर्भम्। सः। ईम्। शिशुः। धयति। तम्। रिहन्ति।
सः। अपाम्। नपात्। अनभिम्लातऽवर्णः। अन्यस्यऽइव। इह। तन्वा। विवेष ॥ १३ ॥

अस्मिन् पदे परमे तस्थिवांसमध्वस्मभिर्विश्वहा दीदिवांसम्।
आपो नप्त्रे घृतमन्नं वहन्तीः स्वयमत्कैः परि दीयन्ति यह्वीः ॥ १४ ॥

अस्मिन्। पदे। परमे। तस्थिऽवांसम्। अध्वस्मऽभिः। विश्वहा। दीदिऽवांसम्।
आपः। नप्त्रे। घृतम्। अन्नम्। वहन्तीः। स्वयम्। अत्कैः। परि। दीयन्ति। यह्वीः॥१४॥

तैरता रखना चाहता हूँ। उसका अन्न उसे समर्पित करके मैं उसे सामर्थ्यवान् बनाता हूँ और मन्त्रोंका पाठ करके उसकी स्तुति करता हूँ।

[**सानु**—' शिखर ' – ज्वालाओंकी शिखाएं। **संमार्ज्मि** – ' घृतकी आहुतियाँ देकर उद्दीपित करता हूँ। निर्मल बनाता हूँ '। अग्निके **सानु** का उल्लेख ४.५५.७ में पाया जाता है। **परि** को **दधामि**·तथा **वन्दे** दोनोंके साथ अन्वित करना उचित होगा।]

१३. सचमुच इसीने नर होकर उन (वीरुधों) में गर्भका आधान किया। सचमुच यही उनका शिशु होकर स्तनपान भी करता है। तथा वे भी उसे प्रेमसे चाटती रहती हैं। यही अपां नपात् अपने तेजस्वी वर्णका विनाश नहीं होने देता और अन्य किसीके शरीरके समान शरीर धारण कर यहाँ (इस वेदीपर) कार्य में व्यग्र होता रहता है।

[**स वृषा** = अपां नपात्। **तासु** = जिह्वासु [ऋ. ८; ९।] **शिशु** और **गर्भ** = यज्ञीय अग्नि (आहवनीय); दे. ऋ. ९ की टिप्पणी। **अनभिम्लातवर्णः** – आहवनीय रूपमें यानें पार्थिवाग्निके रूपमें प्रकट होनेपर भी उस अपां नपात्के तेजस्वी वर्णमें किसी भी तरहकी न्यूनता पैदा नहीं हुई। **अन्यस्य तन्वा इव** – यह कोई अन्य है ऐसा प्रतीत हुआ; फिर भी असलमें दोनो एक ही हैं। यही कविका आशय है।]

१४. इस उच्चतम स्थानपर रहकर अपनी धूमविरहित किरणोंसे सर्वदा प्रकाशित होनेवाले इस अपने शिशुको (अपां नपात्को) उसका अन्न, घृत, देकर ये युवती नदियाँ अपने स्वाभाविक वस्त्रोंसे युक्त होकर उसके चारों ओर घूमती रहती हैं।

[यहाँ पूर्वार्धमें अपां नपात् तथा उत्तम स्थानपर (आकाशमें) स्थित सूर्यरूप अग्निकी भी एकता सूचित है। उत्तरार्धमें **यह्वीः** के माने है स्वर्गीय नदियां; **घृत** का अर्थ है (श्लेषकी सहायतासे) स्वर्गीय जल और गायका घृत; पहला अपां नपात्के लिए और दूसरा आहवनीयके लिए। आशय निम्नानुसार है – वृष्टिके द्वारा अन्न और अन्नके द्वारा गायके दूध एवं घृत को प्राप्त करके – दे. १·८५·३ की टिप्पणी। **स्वयमत्कैः** (**परिहितैः** का अध्याहार) – ' स्वाभाविक शुभ्रताको धारण करके '; दे. ४·१८·५ (**इन्द्रः स्वयम् अत्कं वसानः**।]

अयांसमग्ने सुक्षितिं जनायायांसमु मघवंद्भ्यः सुवृक्तिम् ।
विश्वं तद्भद्रं यदवन्ति देवा बृहद्वदेम विदथे सुवीराः ॥ १५ ॥

अयांसम् । अग्ने । सुऽक्षितिम् । जनाय । अयांसम् । ऊँ इति । मघवत्ऽभ्यः । सुऽवृक्तिम् ।
विश्वम् । तत् । भद्रम् । यत् । अवन्ति । देवाः । बृहत् । वदेम । विदथे । सुऽवीराः ॥१५॥

१५. हे अग्निदेव, (तुम्हारे इस स्तोत्रके पठनसे मेरे अनुयायी) जनको हमने उत्तम निवासस्थान प्राप्त करा दिया है। वैसे ही अपने दाता यजमानोंको यह उत्तम स्तोत्र मैंने समर्पित किया है। जिन जिन वस्तुओंपर देव कृपा करते हैं वे सभी मंगलप्रद होती है। वीर्यवान् पुत्रोंसे परिवृत होकर यज्ञसभामें ऊँचे स्वरसे हम (अपने स्तोत्रका) पठन करें।

[यहांतक अपां नपात् एवं आहवनीयकी एकताको सिद्ध करके इस ऋचामें कविने आहवनीयका, वेदीपर स्थित यज्ञीय अग्निका, स्तवन किया है। उत्तरार्धके लिए दे. २·२३·१९।]

२३

२·३८·१–११ ॥ गृत्समदः ॥ सविता ॥ त्रिष्टुप् ॥

इस सवितृसूक्तमें सविताके सायंकालीन कृत्योंका वर्णन है। ऊपर वर्णित पाँचवा सूक्त (१·३५) भी इसी प्रकारका है। फिर भी यह (सविता) देव प्राणिमात्रको आदेश देनेवाला है। यह प्रातःकालमें उन्हें अगर क्रियाओंमें प्रवृत्त करता है तो संध्या समय उन्हें विश्राम लेनेपर बाध्य भी करता है (१·३५·२)। इस तरहकी कल्पनाके कारण प्रस्तुत सूक्तकी पहली और चौथी ऋचामें उसके उदयकालके कृत्योंका भी धुँधला या अस्पष्ट उल्लेख है।

उदु ष्य देवः सविता सवाय शश्वत्तमं तदपा वह्निरस्थात्।
नूनं देवेभ्यो वि हि धाति रत्नमथाभजद्वीतिहोत्रं स्वस्तौ ॥ १ ॥

उत्। ऊँ इति। स्यः। देवः। सविता। सवाय। शश्वत्ऽतमम्। तत्ऽअपाः। वह्निः। अस्थात्।
नूनम्। देवेभ्यः। वि। हि। धाति। रत्नम्। अथ। आ। अभजत्। वीतिऽहोत्रम्। स्वस्तौ ॥१॥

विश्वस्य हि श्रुष्टये देव ऊर्ध्वः प्र बाहवा पृथुपाणिः सिसर्ति।
आपश्चिदस्य व्रत आ निमृग्रा अयं चिद्वातो रमते परिज्मन् ॥ २ ॥

विश्वस्य। हि। श्रुष्टये। देवः। ऊर्ध्वः। प्र। बाहवा। पृथुऽपाणिः। सिसर्ति।
आपः। चित्। अस्य। व्रते। आ। निऽमृग्राः। अयम्। चित्। वातः। रमते। परिऽज्मन् ॥२॥

---

१. यही जिसका काम है ऐसा देव सविता, वह नेता, (संपूर्ण संसारको अपनेअपने कार्यमें) प्रवृत्त करनेके लिए अनेक बार उदित हो रहा है। इस समय वह देवोंको (उनके हविर्भाग रूप) रमणीय उपहार विभाजित कर देता है। तथा यज्ञसमारोहमें देवोंको निमंत्रित करनेवाले (हमारे यजमानको) भी अपने कल्याण-वितरणमें हिस्सेदार बनाया है।

[**उदस्थात्**। इस ऋचामें प्रातःकालमें सविताद्वारा प्रदत्त आदेशका वर्णन है। **सवाय**। दे. ४·५४·६। **तदपाः**—'वह, जिसका वही काम हो'। **वह्निः**—यह 'नेता' के अर्थमें सविताके लिए प्रयुक्त विशेषण है। **वीतिहोत्रम्**–यह शब्द 'याजक' के लिए इस अवसरके साथ और दो स्थानोंपर (१·८४·१८ और ८·३१·९) ही प्रयुक्त किया गया है। अन्यत्र इसका उपयोग अग्निके लिए हुआ है। उत्तरार्धकी तुलना ४·५४·१–२ के साथ करना रोचक है।]

२. अखिल संसार सुने इसलिए यह विशाल हाथवाला देव खड़ा होकर अपनी भुजाएँ फैला रहा है। इसीके आदेशसे नदियाँ भी विनम्र हो गई हैं। तथा यह वायु भी अपने परिभ्रमणमें इसीके आदेशसे विश्राम ले रहा है।

[**प्र बाहवा सिसर्ति**। दे. 'ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति माम्' (महाभारत १०·५·६२)। श्रोताओंका ध्यान खींचनेके लिए वक्ता अपना हाथ ऊपर उठाता है। **बाहवा** है **बाहव**

आशुभिश्चिद्यान् वि मुचाति नूनमरीरमदतमानं चिदेतोः ।
अध्यर्षीणां चिन्न्ययाँ अविष्यामनु व्रतं सवितुर्मोक्यागात् ॥ ३ ॥

आशुऽभिः । चित् । यान । वि । मुचाति । नूनम् । अरीरमत् । अतमानम् । चित् । एतोः ।
अध्यर्षीणाम् । चित् । नि । अयान् । अविष्याम् । अनु । व्रतम् । सवितुः । मोकी । आ । अगात् ॥३॥

पुनः समव्यद्विततं वयन्ती मध्या कर्तोर्न्यधाच्छक्म धीरः ।
उत्संहायास्थाद्वि ऋतूँरदर्धररमतिः सविता देव आगात् ॥ ४ ॥

पुनरिति । सम् । अव्यत् । विऽततम् । वयन्ती । मध्या । कर्तोः । नि । अधात् । शक्म । धीरः ।
उत् । सम्ऽहाय । अस्थात् । वि । ऋतून् । अदर्धः । अरमतिः । सविता । देवः । आ । अगात् ॥४॥

(= बाहु) का द्विवचन । **निमृग्राः (नि + मृज्)** 'नम्र, प्रह्वीभूत'। बहनेवाली नदियाँ भी सविताके आज्ञाका उल्लंघन नहीं करतीं । दे. ३·३३·६ । कवि कल्पना करता है कि वैसे हमेशा संचरणशील वायु भी इस गोधूलिके समय स्तब्ध होती है ।]

३. वेगवान् अश्वोंकी सहायतासे यात्रा करनेवाले पथिक भी (अपने अश्वोंको विश्रान्तिके लिए रथसे) मुक्त करेंगे । (दिनभर) भ्रमण करनेवाले पादचारीको भी इस सविताने अपने मार्गके आक्रमणसे निवृत्त किया है । सर्पोपर हमला करनेवाले (अन्तरिक्षसंचारी पक्षियों) की तीव्र लालसाको भी इस सविताने रोक दिया है । इसके नियमके अनुसार प्राणिमात्रोंको श्रमसे मुक्त करनेवाली रात आई है ।

[**आशुभिः** (अश्वैः) । वि + मुचाति – दे. २·२८·४ की टिप्पणी । **नि + अयान्** ($\sqrt{}$यम्) । मोकी— मुच् 'सभी प्राणियोंको निद्राके वशमें रखकर उन्हें कष्टोंसे मुक्तिप्रदान करनेवाली' निशा ।]

४. बुननेवाली जुलाहिनने अपनी फैली हुइ बुनाई (इस रातके समय) समेट कर फिर रख दी है । कुशल कारीगरने अपना काम शुरू रहनेपर भी अपने उपकरणको पार्श्वमें रख दिया । सारी रात विश्राम लेकर वह अभी खड़ा हुआ है और ऋतुओंका योग्य विभाजन भी उसने किया है । यह प्रत्युत्पन्नमति सविता यहाँ उपस्थित हुआ है ।

[**वयन्ती** । दे. १·११५·४ की टिप्पणी । निशा या रातको 'बुनकर महिला' कहा गया है । उत्तरार्धमें कविका अभिप्राय प्रातःकालीन सवितासे है । **वि अदर्धः (वि +** $\sqrt{}$**धृ)** । दे. **विधर्ता** (वरुण) २·२८·४, '**विधरण**' याने कई विरोधी वस्तुओंका इस तरहसे मेल करना ताकि उनके बीच संघर्ष पैदा न हो । दे. 'एष सेतुर्विधरणः एषां लोकानामसंभेदाय' बृहदारण्यकोपनिषत् ४·४·२२ ।]

नानौकांसि दुर्यो विश्वमायुर्वि तिष्ठते प्रभवः शोको अग्नेः ।
ज्येष्ठं माता सूनवे भागमाधादन्वस्य केतमिषितं सवित्रा ॥ ५ ॥

नाना । ओकांसि । दुर्यः । विश्वम् । आयुः । वि । तिष्ठते । प्रऽभवः । शोकः । अग्नेः ।
ज्येष्ठम् । माता । सूनवे । भागम् । आ । अधात् । अनु । अस्य । केतम् । इषितम् । सवित्रा ॥५॥

समाववर्ति विष्ठितो जिगीषुर्विश्वेषां काममश्चरताममाभूत् ।
शश्वाँ अपो विकृतं हित्व्यागादनु व्रतं सवितुर्दैव्यस्य ॥ ६ ॥

सम्ऽआववर्ति । विऽस्थितः । जिगीषुः । विश्वेषाम् । कामः । चरताम् । अमा । अभूत् ।
शश्वान् । अपः । विऽकृतम् । हित्वी । आ । अगात् । अनु । व्रतम् । सवितुः । दैव्यस्य ॥६॥

त्वया हितमप्यमप्सु भागं धन्वान्वा मृगयसो वि तस्थुः ।
वनानि विभ्यो नकिरस्य तानि व्रता देवस्य सवितुर्मिनन्ति ॥ ७ ॥

त्वया । हितम् । अप्यम् । अप्ऽसु । भागम् । धन्व । अनु । आ । मृगयसः । वि । तस्थुः ।
वनानि । विऽभ्यः । नकिः । अस्य । तानि । व्रता । देवस्य । सवितुः । मिनन्ति ॥ ७ ॥

५. जीवनकी सभी अवस्थाओंमें घर घर में रहनेवाला अग्निदेवका प्रभावशाली ज्वाला-समूह अपने भिन्न भिन्न स्थानोंपर एक साथ विविध प्रकारोंसे आरूढ हो रहा है। (इस समय) माँने अपने बेटेको, उसके इच्छानुरूप सविता द्वारा भेजा हुआ अन्नका उत्तम भाग समर्पण किया है।

[**नाना ओकांसि**— यहाँ याजकोंके गृहोंका उल्लेख है। मालूम होता है कि **माता, सूनु** तथा **भाग** शब्द प्रायः साधारण श्रमिककी जननी, श्रमिक और उसके सायंकालीन अन्नके अंशकी ओर संकेत करते हैं। फिर भी संभव है कि इनमें क्रमशः रात अग्नि एवं सायंकालीन अग्निहोत्रकी ओर संकेत हो। ऋ. ३ तथा ४ में रात या निशाका उल्लेख आया है और १.९६.५ में अग्निको रात एवं उषा का पुत्र भी कहा गया है।]

६. (काम्य विषय) प्राप्त करनेकी अभिलाषासे प्रेरित होकर भिन्न भिन्न स्थानोंमें (दिनभर) काम करनेवाला हरएक प्राणी (इस समय) लौटकर एक ही स्थानपर (घरपर) आया है। (दिनभर) इधर-उधर भटकनेवाले सभी प्राणिमात्रोंकी इच्छा अब घरकी ओर हो गई है। अधूरे कामको वैसे ही छोड़कर प्रायः सभी लोग सवितादेवके नियमके अनुसार घर लौट आये हैं।

[**विष्ठितः**। दे. **वि तिष्ठते** (ऋ. ५)। **अमा भूत्**। दे. **अमा सते मर्त्याय** १.१२४.१२। **विकृतम् अपः हित्वी**। दे. **मध्या कर्तोः** (ऋ. ४)।]

७. पानीमें रहनेवाले जलचर तुम्हारे द्वारा निर्धारित विभिन्न जलाशयोंमें अपने अपने स्थानोंपर लौट गये हैं। वन्यमृगोंके पीछे पड़नेवाले (व्याघ्रादि हिंस्र पशु) जंगलमें तितर–

याद्राध्यं१ वरुणो योनिमप्यमनिशितं निमिषि जर्भुराणः ।
विश्वो मार्ताण्डो व्रजमा पशुर्गात् स्थशो जन्मानि सविता व्याकः ॥ ८ ॥

यात्ऽराध्यम् । वरुणः । योनिम् । अप्यम् । अनिऽशितम् । निऽमिषि । जर्भुराणः ।
विश्वः । मार्ताण्डः । व्रजम् । आ । पशुः । गात् ।
स्थऽशः । जन्मानि । सविता । वि । आ । अकरित्यकः ॥ ८ ॥

न यस्येन्द्रो वरुणो न मित्रो व्रतमर्यमा न मिनन्ति रुद्रः ।
नारातयस्तमिदं स्वस्ति हुवे देवं सवितारं नमोभिः ॥ ९ ॥

न । यस्य । इन्द्रः । वरुणः । न । मित्रः । व्रतम् । अर्यमा । न । मिनन्ति । रुद्रः ।
न । अरातयः । तम् । इदम् । स्वस्ति । हुवे । देवम् । सवितारम् । नमःऽभिः ॥ ९ ॥

बितर हो गये हैं। पक्षियोंको (विश्रामके लिये तुमने) भिन्न-भिन्न वृक्ष (निश्चित किये है)। (तात्पर्य) सविता देवके द्वारा प्रस्थापित इन नियमोंका उल्लंघन किसी भी जातिके प्राणी नहीं करते।

[**अप्यम्** के बाद **जन्म** का उचित अध्याहार [ऋ. ८]। दे. **अप्याः देवाः** ६·५०·११; ७·३५·११; **अप्यं योनिम्** [ऋ. ८]। पहले चरणमें **वि तिष्ठते** इस क्रियाका अध्याहार (दे. वि तस्थुः)। अन्वय इस तरह होगा— **अप्यम्** (जन्म) निजम् **अप्सु** वर्तमानं **भागं** (वि तिष्ठते)। तीसरे चरणमें **वनानि** के बाद **हितानि** का अध्याहार योग्य होगा।]

८. (विश्रामके लिये) नेत्रनिमीलन करते हुए भी जागरूक रहनेवाला वरुणराज अपने (समुद्रके) जलमें सुखद और यथेष्ट विश्राम देनेवाले स्थानकी ओर गया है। सभी पक्षी (अपने घोंसलोंकी ओर), तथा सभी पशु अपने गोष्ठकी ओर बढ़ रहे हैं। इस सविता देवने सभी प्राणियोंको (विश्रामके लिये) अपने अपने स्थानपर विभाजित कर दिया है।

[**याद्राध्यम्** (याद् √राध्) 'जब चाहिए तब और जहाँतक चाहिए वहाँतक सुखदायक' याने अतीव सुखदायक, स्पृहणीय आदि। **अनिशितम्** (अ + नि + शितम्–√शो) 'अतीक्ष्ण मृदु सुखस्पर्श'। **निमिषि जर्भुराणः** 'नींदमें भी सतर्क या सावधान रहनेवाला'। **जर्भुराणः** √भुर्)। मित्रावरुणाके युगलका इसी तरहका वर्णन ८·२५·९ में विद्यमान है। [**नि चिन्मिषन्ता निचिरा नि चिक्यतुः**—आँखें मूँद लेनेपर भी इन बुद्धिमान देवोंने (सभी बातोंको) समझ लिया है]। पूर्वार्धमें तीसरे चरणकी **गात्** क्रियाको ले लेना उचित होगा। अन्वय निम्नानुसार होगा— **व्रजं पशुः । मार्ताण्डो (वसतिं) गात्।** अथवा 'योनिम्' शब्दका पुनः अध्याहार करना ठीक होगा। **स्थशः** (स्थ = स्थान + शस्) दे. **श्रेणिशः** ३·८·९; **पर्वशः** १·५७·६ आदि।]

९. जिसके नियमका उल्लंघन इन्द्र, वरुण, मित्र, अर्यमा तथा रुद्र भी नहीं करते, तथा (देवोंके या हमारे) शत्रु भी जिसके नियमको नहीं लाँघते, उस सविता देवको इस समयमें कल्याणके लिए मैं अपने प्रणामोंसे आवाहित करता हूँ।

[**इदम्** (अव्यय) 'अभी; यहाँ'। **स्वस्ति** (क्रियाविशेषण) 'कल्याणके लिए'।]

भगं धियं वाजयन्तः पुरंधिं नराशंसो ग्रास्पतिर्नो अव्याः ।
आये वामस्य संगथे रयीणां प्रिया देवस्य सवितुः स्याम ॥ १० ॥

भगम् । धियम् । वाजयन्तः । पुरम्ऽधिम् । नराशंसः । ग्नाःपतिः । नः । अव्याः ।
आऽअये । वामस्य । सम्ऽगथे । रयीणाम् । प्रियाः । देवस्य । सवितुः । स्याम ॥ १० ॥

अस्मभ्यं तद्दिवो अद्भ्यः पृथिव्यास्त्वया दत्तं काम्यं राध आ गात् ।
शं यत् स्तोतृभ्य आपये भवात्युरुशंसाय सवितर्जरित्रे ॥ ११ ॥

अस्मभ्यम् । तत् । दिवः । अत्ऽभ्यः । पृथिव्याः । त्वया । दत्तम् । काम्यम् । राधः । आ । गात् ।
शम् । यत् । स्तोतृऽभ्यः । आपये । भवाति । उरुऽशंसाय । सवितः । जरित्रे ॥ ११ ॥

१०. भग, धी और पुरन्धि इन देवताओंको हम (अपनी स्तुतियों तथा हविर्दानों से) सामर्थ्यशाली बना रहे हैं । देवपत्नियोंका स्वामी नराशंस हमारी रक्षा करे । जिस समय सुन्दर वस्तुएँ प्राप्त होती हैं और विविध प्रकारकी संपदा एकत्रित होती है उस समय हम सविता देवके प्रीतिपात्र बनें ।

[**स्याम** को पहले चरणमें फिर ले लेना उचित होगा । इस चरणकी भग, धी तथा पुरन्धि इन तीनोंको देवता ही मान लेना समीचीन है । दे. १०·६५·१४ । **अव्याः** (√अव्) तृतीया एकवचन - विध्यर्थ । दे. **वृज्याः** २·३३·१४; ६·२८·७ । **संगथे रयीणाम्** । दे. **वाजस्य संगथे** १·९१·१६; ९·३१·४ ।]

११. हे सविता, जो उपहार तुम्हारे स्तोताओंको और विशाल कीर्तिका गान करनेवाले इस तुम्हारे सुहृदको भी सुखदायक हो वह तुमसे दिया गया स्पृहणीय उपहार, स्वर्ग, जल, और पृथ्वी इनके पाससे हमें प्राप्त होने दो ।

[**उरुशंस जरिता** का विशेषण है । दे. **उरुशंसाय वाघते** १·३१·१४ ।]

२४

३.९.१–९ ॥ विश्वामित्रः ॥ अग्निः ॥ १–८ बृहती ॥ ९ त्रिष्टुप् ॥

सखायस्त्वा ववृमहे देवं मर्तास ऊतये ।
अपां नपातं सुभगं सुदीदितिं सुप्रतूर्तिमनेहसम् ॥ १ ॥

सखायः । त्वा । ववृमहे । देवम् । मर्तासः । ऊतये ।
अपाम् । नपातम् । सुऽभगम् । सुऽदीदितिम् । सुऽप्रतूर्तिम् । अनेहसम् ॥ १ ॥

कायमानो वना त्वं यन्मातृरजगन्नपः ।
न तत्ते अग्ने प्रमृषे निवर्तनं यद्दूरे सन्निहाभवः ॥ २ ॥

कायमानः । वना । त्वम् । यत् । मातॄः । अजगन् । अपः ।
न । तत् । ते । अग्ने । प्रऽमृषे । निऽवर्तनम् । यत् । दूरे । सन् । इह । अभवः ॥२॥

१. भाग्यशाली, अत्यंत तेजस्वी, श्रेष्ठ तारक और निर्भय ऐसे तुमको, अपां नपात् देवको, हम तुम्हारे मर्त्य सखा, अपनी सुरक्षाके लिये निर्वाचित करते हैं ।

[**ववृमहे**— दूत तथा होता होनेके कारण । दे. **अग्निं दूतं वृणीमहे** १.१२.१ तथा **प्र त्वा दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम्** १.३६.३ । **सुप्रतूर्तिम्** (प्र + तृ) 'श्रेष्ठ आक्रमणकर्ता'। ८.२३.२९ में अग्निको **सुप्रतुर** कहा गया है ।]

२. वनस्पतिकी ओर लोभसे आकृष्ट होकर जब तुम अपनी (अन्तरिक्षकी) जलरूपी माँके पास गये, उस समयका तुम्हारा वह (वहाँसे पृथ्वीपर) लौट आना विस्मरणयोग्य नहीं है । क्योंकि इतनी दूर होने पर भी तुम यहीं (इन वनस्पतियोंमें) आकर बैठे हो ।

[**वना** (वन् शब्दकी तृतीया) कायमानः । **कन्** = **का** धातुका तृतीयान्त कर्मके साथ अन्वय ८.६२.४ (**येभिश्चाकनः**) में भी पाया जाता है । यहाँ **वना** के आद्युदात्त होनेके कारण **वन** शब्दके बहुवचनका स्वीकार नहीं किया जा सकता। इस ऋचामें अपने साध्यकी सिद्धिके लिए याने वनस्पतियोंके अन्तर्भागमें निवासको पानेके लिए अग्निद्वारा अपनाए गए ऊपरी तौरसे बेढंगे बर्तावकी अविस्मरणीयता वर्णित है । प्रत्यक्ष रूपसे वनस्पतियोंमें प्रवेश करनेके स्थानपर सुदूर अन्तरिक्षमें विद्यमान जलोंमे प्रविष्ट होकर उससे जनित वृष्टिद्वारा वनस्पतियोंकी जड़ोंके ज़रिये उनके अन्तरंगमें प्रवेश करनेकी क्रियामें अग्निके इस बर्तावका बेढंगापन निहित है। साक्षात् रूपसे वनस्पतियोंमें प्रवेश करनेपर उनके पूर्णतया जल जानेके भयसे ही यह टेढ़ा एवं लंबा ढंग अपनाया । परन्तु इसमें उसकी अलौकिक बुद्धिमत्ता और अङ्गीकृत कार्यको सफल बनानेका उसका दृढ निश्चय स्पष्ट रूपसे दिखाई देता है और यही कविका मन्तव्य है । दसवें मण्डलके ५१ तथा ५२ इन दो सूक्तोंमें अन्तरिक्षगत जलमें अग्निके छिपकर रहनेका जो उल्लेख है उसका इस ऋचासे तनिक भी संबन्ध नहीं है। हाँ, यह बात सही है कि अपने उद्दिष्ट कार्यमें मातृस्वरूप जलोंकी सहायता लेनेके कारण यहाँ (ऋ. १ में) अग्निके लिए **अपां नपात्** इस साभिप्राय विशेषणको प्रयुक्त किया गया है ।]

अति तृष्टं ववक्षिथाथैव सुमना असि ।
प्रप्रान्ये यन्ति पर्यन्य आसते येषां सख्ये असि श्रितः ॥ ३ ॥

अति । तृष्टम् । ववक्षिथ । अथ । एव । सुऽमनाः । असि ।
प्रऽप्र । अन्ये । यन्ति । परि । अन्ये । आसते । येषाम् । सख्ये । असि । श्रितः ॥३॥

ईयिवांसमति स्रिधः शश्वतीरति सश्चतः ।
अन्वीमविन्दन्निचिरासो अद्रुहोऽप्सु सिंहमिव श्रितम् ॥ ४ ॥

ईयिऽवांसम् । अति । स्रिधः । शश्वतीः । अति । सश्चतः ।
अनु । ईम् । अविन्दन् । निऽचिरासः । अद्रुहः । अप्ऽसु । सिंहम्ऽइव । श्रितम् ॥४॥

३. (प्रतिस्पर्धियोंकी) तीक्ष्ण (दुर्वचनों) की ओर ध्यान न देते हुए तुम वृद्धिंगत हुए हो और साथ ही प्रसन्न चित्त भी । जिन विप्रोंके सख्यके आश्रयसे तुम रहे हो उनमेंसे कुछ अग्रेसर बनकर इधर उधर घूमते हैं तो दूसरे कोई तुम्हारे चारों ओर तुम्हारी सेवामें उपस्थित है ।

[हालहीमें अरणियोंसे उत्पन्न अग्निको संबोधित करके कवि इस ऋचामें उससे कह रहा है। **तृष्टम्** (तृष् धातुका भूतकालवाचक धातुसाधित कृदन्त) याने **वाचः तृष्टम्** (प्रतिद्वन्द्वियोंके) 'तीखे या कटु अभिशाप' (गालीगलौज—स्त्री.) । दे.— **यद् वाचस्तृष्टं जनयन्त रेभाः** १०.८७.१३ तथा **प्रत्यग् एनं शपथा यन्तु तृष्टाः** १०.८७.१५ । आशय यों है – प्रतिद्वन्द्वियोंके अभिशापोंकी परवाह न करते हुए हमपर प्रसन्न होकर तुम प्रकट हुए । **तृष्टम्** शब्दसे 'धूम' की ओर संकेत मानना असमीचीन है। धूम अग्निका विरोधी है यह कल्पना असलमें अवैदिक है। सच बात तो यह है कि धूमके लिए **यजत दर्शत** जैसे विशेषणोंको प्रयुक्त करके उसे ' अग्निका ध्वज ' भी कहा गया है। और कविने अग्निके पहले उसीको उत्पन्न करनेकी प्रार्थना ऋत्विजोंके सामने ३.२९.१ में की है । गेल्डनरने १.१४०.५ तथा ५.२.९ इन दो ऋचाओंका इस संदर्भमें उल्लेख किया है सही; किन्तु वे दोनों प्रस्तुत संदर्भमें युक्तियुक्त नहीं मालूम होते। पहली ऋचाका **कृष्णम् अभ्वम्** वास्तवमें 'भीषण अंधकार' अथवा ' अँधेरी रात ' है ' धूम ' नहीं इसे उसीने १.९२.५ तथा ४.५१.९ की टिप्पणियोंमें स्वयं मान्यता दी है। दूसरी ऋचाकी ४.५१.९ की ' अदेवीः मायाः' भी धूम नहीं, धूमकी (और साथ साथ अग्निकी) उत्पत्तिको विरोध करनेवाली शक्तियाँ हैं यह भी बादकी ऋचामें **स्रिधः** तथा **सश्चतः** इन शब्दोंसे स्पष्ट होता है ।]

४. अनेक आपत्तियों तथा पीछे दौड़नेवाले शत्रुओंको चकमाकर आगे बढ़े हुए तथा अन्तरिक्षस्थ जलोंमें शेरकी तरह (निर्भयतासे) रहे हुए इस अग्निदेवको, अत्यन्त अनुभवी और (अग्निदेवका) द्रोह न करनेवाले देवोंने पीछा करके खोज निकाला ।

[इस ऋचाओंमें भी प्रस्तुत अग्निका ही उल्लेख है; १०.५१ में वर्णित छिपकर रहनेवाले अग्निका नहीं, यह बात निर्भय सिंहकी उपमाके साथ साथ बादकी ऋचामें प्रयुक्त ' **मथितम्** ' शब्दके आधारपर ['मन्थन ' शब्द सिर्फ वनस्पतियोंमें विद्यमान अग्निसे है] स्पष्टतया सिद्ध होती है। यहाँ कविका मन्तव्य निम्नानुसार है – ' ऋ. २ में वर्णित अग्निकी चतुराई अन्य किसीकी समझमें भले ही न आई हो, देव उसे ज़रूर समझ पाए (**निचिरासः** यह विशेषण साभिप्राय ही है) और मातरिश्वा भी। अतएव मातरिश्वाने मन्थन किया '।]

सुसुवांसमिव त्मनाग्निमित्था तिरोहितम् ।
ऐनं नयन्मातरिश्वा परावतो देवेभ्यो मथितं परि ॥ ५ ॥

सुसुवांसम्ऽइव । त्मना । अग्निम् । इत्था । तिरःऽहितम् ।
आ । एनम् । नयत् । मातरिश्वा । पराऽवतः । देवेभ्यः । मथितम् । परि ॥ ५ ॥

तं त्वा मर्ता अगृभ्णत देवेभ्यो हव्यवाहन ।
विश्वान्यद्यज्ञाँ अभिपासि मानुष तव क्रत्वा यविष्ठ्य ॥ ६ ॥

तम् । त्वा । मर्ताः । अगृभ्णत । देवेभ्यः । हव्यऽवाहन ।
विश्वान् । यत् । यज्ञान् । अभिऽपासि । मानुष । तव । क्रत्वा । यविष्ठ्य ॥ ६ ॥

तद्भद्रं तव दंसना पाकाय चिच्छदयति ।
त्वां यदग्ने पशवः समासते समिद्धमपिशर्वरे ॥ ७ ॥

तत् । भद्रम् । तव । दंसना । पाकाय । चित् । छदयति ।
त्वाम् । यत् । अग्ने । पशवः । सम्ऽआसते । सम्ऽइद्धम् । अपिऽशर्वरे ॥ ७ ॥

५. इस प्रकार यहाँ अदृश्य हुए इस अग्निदेवको, (देवोंने खोज निकालने पर) बहुत दूर स्थानसे अपने खुशीसे आनेवाले किसी मित्रकी तरह, देवोंके पार्श्वसे (पृथ्वीपर काष्ठ) मन्थन करके मातरिश्वा ले आये ।

[**ससुवांसमिव त्मना** — 'मानो स्वयं ही बाहर आए हुए' याने बलात् अथवा हविर्भाग देनेकी शर्तपर नहीं (१०·५२·१; १०·१२४·३) । **तिरोहितम्**— 'आँखोंसे परे पहुंचे हुए' 'छिपकर रहे हुए' नहीं । दूसरी कल्पनाके लिए कविने अलग शब्दको प्रयुक्त किया है; दे. 'गुहा यन्' (१०·१२४·२) और 'गुह्याम्' (१०·५३·३) ।]

६. एवंगुणविशिष्ट तुम्हारा मर्त्य लोगोंने देवोंके कार्यके लिए स्वीकार किया । क्योंकि हे (देवोंको) हव्य ले जानेवाले, हे मानवोंको अनुकल अत्यन्त युवा अग्निदेव, तुम अपनी बुद्धि-सामर्थ्यसे (हम मर्त्य जनोंके) सभी यज्ञोंकी अभिमानपूर्वक सुरक्षा करते हो ।

[**देवेभ्यो** शब्दको दुबारा उक्त मान लेना उचित और दुहराए गए शब्दको निघात स्वरसे युक्त समझकर बादमें आनेवाले संबोधनके साथ उसका अन्वय करना ठीक होगा । ये ही शब्द १०·११८·५;१०·११९·१३ तथा १०·१५०·१ में आए हैं और वहाँ भी इनका अन्वय इसी तरह करना समीचीन होगा । **यविष्ठ्य**—चरणके अन्तमें जहाँ चार अक्षर अपेक्षित हों वहाँ **यविष्ठके** स्थानपर **यविष्ठ्य** (यविष्ठिअ) यह चार अक्षरोंसे बना हुआ रूप ऋग्वेदमें अन्यत्र भी पाया जाता है । **तव क्रत्वा**— दे. **अस्य क्रत्वा** १·१४३·२ ।]

७. जिस समय धेनु आदि पशु रात्रिके मध्यमें प्रज्वलित हुए तुम्हारे चारों ओर (शीत-निवारणके लिए) सुखसे बैठे रहते हैं उस समय तुम्हारा वह मंगलमय (स्वरूप) और आश्चर्य-जनक कर्म मन्दमति पुरुषको भी स्पष्ट रूपसे दृष्टिगोचर होता है ।

आ जुहोता स्वध्वरं शीरं पावकशोचिषम् ।
आशुं दूतमजिरं प्रत्नमीड्यं श्रुष्टी देवं सपर्यत ॥ ८ ॥

आ । जुहोत । सुऽअध्वरम् । शीरम् । पावकऽशोचिषम् ।
आशुम् । दूतम् । अजिरम् । प्रत्नम् । ईड्यम् । श्रुष्टी । देवम् । सपर्यत ॥८॥

त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन् ।
औक्षन् घृतैरस्तृणन् बर्हिरस्मा आदिद्धोतारं न्यसादयन्त ॥ ९ ॥

त्रीणि । शता । त्री । सहस्राणि । अग्निम् । त्रिंशत् । च । देवाः । नव । च । असपर्यन् ।
औक्षन् । घृतैः । अस्तृणन् । बर्हिः । अस्मै । आत् । इत् । होतारम् । नि । असादयन्त ॥९॥

[**भद्रम्** (अनीकम्) दे. ४.११.१ । **दंसना** यह है उत्तरार्धमें वर्णित अद्भुत कार्य । **छदयति—** दे. अच्छान्त्सुः १०.११९.६ । **पशवः समासते** – कड़ाकेके दिनोंमें मनुष्योंसे हिली हुई गौएं और चौपाए रातके समय अपने अपने खुरको या बाड़ोंमें जान बूझकर बनाई गई अंगीठियोंके पास बैठकर जाड़ेसे अपनेको बचाते हैं । उस अवसरपर पशुओं और साधारण बुद्धिवाले मानव को भी तुम्हारा मङ्गल रूप और अद्भुत पराक्रम (तीव्र जाड़ेका नाश) साफ़ दिखाई देता है । इस तरहकी शीतका निवारण करनेवाली अँगीठीका स्पष्ट उल्लेख १०.४.२ के उपमा वाक्यमें — ' **गावः उष्णमिव व्रजम्** ' में—विद्यमान है । **अपिशर्वरे** याने ' अर्ध रात्रिमें कड़ाकेके जाड़ेके समय ।]

८. जिसकी सहायतासे यज्ञकर्म अच्छीतरह संपन्न होते हैं, जो तीक्ष्ण है और जिसकी ज्वालाएँ पावन हैं, उस अग्निदेवको आहुतियाँ समर्पित करो । चञ्चल और त्वरित गमन करनेवाले इस दूतकी, इस प्रशस्य और पुरातन देवकी, बड़ी तत्परतासे सेवा करो ।

[**आजुहोत (अग्निम्)** यहाँ अग्निको √हु धातुका कर्म माना गया है । **श्रुष्टी** ('श्रुष्टि'की तृतीया) । ' आनन्दके साथ, तत्परतासे ' ।]

९. तीन हजार तीन सौ उनचालीस देवोंने अग्निदेवकी (प्राचीन युगमें) सेवा की है । घृतकी धाराओंसे उन्होंने उसे अभिषेक किया, उसके लिए कुशासन तैयार किया, और शीघ्र ही उसे (यज्ञमें देवोंको निमन्त्रण देनेवाले) होतृरूप मानकर उसपर बैठाया ।

[देवोंकी सबसे बड़ी संख्या इस ऋचामें पाई गई है । ८.३०.२ में सिर्फ़ ३३ देवोंका उल्लेख है । यही ३३ संख्या अन्यत्र भी पाई जाती है ।]

२९

३·२९·१–१६ विश्वामित्रः ॥ १-४·६-१६ अग्निः ॥ ५ ऋत्विजः अग्निर्वा ॥
१·४·१०-१२ अनुष्टुप् ॥ २·३·५·७-९·१३·१६ त्रिष्टुप् ॥ ६·११·१४·१५ जगती ॥

अस्तीदमधिमन्थनमस्ति प्रजननं कृतम् ।
एतां विश्पत्नीमा भराग्निं मन्थाम पूर्वथा ॥ १ ॥

अस्ति । इदम् । अधिऽमन्थनम् । अस्ति । प्रऽजननम् । कृतम् ।
एताम् । विश्पत्नीम् । आ । भर । अग्निम् । मन्थाम । पूर्वऽथा ॥ १ ॥

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भइव सुधितो गर्भिणीषु ।
दिवेदिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः॥ २ ॥

अरण्योः । निऽहितः । जातऽवेदाः । गर्भःऽइव । सुऽधितः । गर्भिणीषु ।
दिवेऽदिवे । ईड्यः । जागृवत्ऽभिः । हविष्मत्ऽभिः । मनुष्येभिः । अग्निः ॥ २ ॥

१. अग्निमन्थन करनेकी यह सामग्री यहाँ संमिलित है । इस प्रकार प्रजनन तयार रक्खा है । अब इस गृहराज्ञीको लाकर उपस्थित करो । ताकि हम अग्निदेवको यथापूर्व मन्थन करके उत्पन्न करें ।

[अग्निमन्थन उत्पादनकी दैवी क्रिया है । इसमें ऊपरकी अरणिको जनक और नीचेकी अरणिको जननी मानकर इस ऋचामें पहलीको ' प्रजनन ' और दूसरीको ' विश्पत्नी ' की संज्ञा प्रदान की गई है ।]

२. जिस प्रकार गर्भस्थ बालक गर्भिणियोंके उदरोंमें सुरक्षासे सुस्थापित रहता है उसी प्रकार यह जातवेदा (अग्निदेव) दो अरणियोंके मध्यमें सुप्रतिष्ठित है । यह अग्निदेव प्रतिदिन यज्ञकर्मके विषयमें सचेत रहनेवाले तथा हविर्द्रव्य सम्पादन करके देवोंको समर्पित करनेवाले मनुष्योंके द्वारा स्तुति करने योग्य है ।

[इस ऋचाके पूर्वार्धका आशय निम्नानुसार है– ऊपरकी दो ऋचाओंमें [यानी २·३५·९ तथा ३·९·२ में किए गए वर्णनके अनुसार अपने मध्यम स्थानसे निकलकर अग्निने वनस्पतियोंमें, यहाँ अरणियोंमें, निवास किया है ।]

उत्तानायामव भरा चिकित्वान्त्सद्यः प्रवीता वृषणं जजान ।
अरुषस्तूपो रुशदस्य पाज इळायास्पुत्रो वयुनेऽजनिष्ट ॥ ३ ॥

उत्तानायाम् । अव । भर । चिकित्वान् । सद्यः । प्रऽवीता । वृषणम् । जजान ।
अरुषऽस्तूपः । रुशत् । अस्य । पाजः । इळायाः । पुत्रः । वयुने । अजनिष्ट ॥ ३ ॥

इळायास्त्वा पदे वयं नाभा पृथिव्या अधि ।
जातवेदो नि धीमह्यग्ने हव्याय वोळ्हवे ॥ ४ ॥

इळायाः । त्वा । पदे । वयम् । नाभा । पृथिव्याः । अधि ।
जातऽवेदः । नि । धीमहि । अग्ने । हव्याय । वोळ्हवे ॥ ४ ॥

मन्थता नरः कविमद्वयन्तं प्रचेतसममृतं सुप्रतीकम् ।
यज्ञस्य केतुं प्रथमं पुरस्तादग्निं नरो जनयता सुशेवम् ॥ ५ ॥

मन्थत । नरः । कविम् । अद्वयन्तम् । प्रऽचेतसम् । अमृतम् । सुऽप्रतीकम् ।
यज्ञस्य । केतुम् । प्रथमम् । पुरस्तात् । अग्निम् । नरः । जनयत । सुऽशेवम् ॥ ५ ॥

३. (यह प्रक्रिया) भली भाँति जानकर इस उत्तानपाद (अधरारणिके गहरे भाग) में प्रजननको लाकर बैठा दो। सद्यः (समागमसे) सन्तुष्ट होकर इस (अधरारणि) ने इस पराक्रमी वत्सको जन्म दिया है। इसका तेज प्रज्वलित है; ताम्रवर्ण जटाजूट धारण करनेवाला इड़ादेवीका यह पुत्र हमारे इस नित्य कर्मके लिए उत्पन्न हुआ है।

[**उत्तानायाम्**—ऊपर ऋ. १ की टिप्पणीके साथ साथ दे. २.१०.३, १०.१४२.५। **अव भर** का कर्म **प्रजननम्** यहाँ ऋ. १ से अध्याहृत है। **सद्यः**— 'तुरन्त, कुछ कालके व्यवधानको न रखते हुए'। **अरुषस्तूपः** को स्वतंत्र वाक्यके रूपमें मान लेना उचित होगा। अथवा **रुशदस्य पाजः** को स्वतंत्र अन्तर्गत वाक्य मानकर शेष उत्तरार्धको एक पूरा वाक्य मान लेना समीचीन होगा। **इळायाः पुत्रः** इला हविष्यान्नकी अधिष्ठात्री देवी; इसे **घृतहस्ता** (७.१६.८) तथा **घृतपदी** (१०.७०.८) भी कहा गया है। आप्री सूक्तोंकी 'तीन देवियोंमें' इसका अन्तर्भाव किया जाता है। **वयुने अजनिष्ट** 'वयुने'को 'विषये सप्तमी' समझ लें अथवा 'वयुन' का अर्थ होगा 'समुचित काल' याने यज्ञकार्यका समय।]

४. इस इड़ा देवीके पवित्र स्थानपर पृथ्वीकी नाभिके मध्य भागमें हमारे इस हविर्द्रव्यको (देवोंके पास) ले जाने के लिए, हे अग्निदेव, हम तुम्हारी स्थापना करना चाहते हैं।

[**इळायाः पदे** — 'यज्ञकुण्डमें'। **पृथिव्याः नाभा** – 'वेदीपर'। दे. १.१४३.४; १.१६४.३४.३५ आदि। **हव्याय वोढवे** तुमन्तके आकर्षणसे संप्रदान कारकका प्रयोग; दे. **शरवे हन्तवै** १०.१२५.६। **नि धीमहि** – मन्थनका वर्णन करनेवाली ऋचाओं (ऋ. १ से ११ तककी) के बीचमें ही यह और आठवी ऋचा रखी गई हैं। मन्थनका प्रयोजन है अग्निका निधान याने आधान; इसे बतलाना ही इन ऋचाओंका प्रयोजन है।]

५. हे पुरुषो, कवि, ऐकान्तिक, अत्यन्त प्रतिभाशाली, अमर्त्य तथा सुन्दर मुखवाले इस

यदी मन्थन्ति बाहुभिर्वि रोचतेऽश्वो न वाज्यरुषो वनेष्वा।
चित्रो न यामन्नश्विनोरनिवृतः परि वृणक्त्यश्मनस्तृणा दहन् ॥ ६ ॥

यदि । मन्थन्ति । बाहुऽभिः । वि । रोचते । अश्वः । न । वाजी । अरुषः । वनेषु । आ ।
चित्रः । न । यामन् । अश्विनोः । अनिऽवृतः । परि । वृणक्ति । अश्मनः । तृणा । दहन् ॥६॥

जातो अग्नी रोचते चेकितानो वाजी विप्रः कविशस्तः सुदानुः।
यं देवास ईड्यं विश्वविदं हव्यवाहमदधुरध्वरेषु ॥ ७ ॥

जातः । अग्निः । रोचते । चेकितानः । वाजी । विप्रः । कविऽशस्तः । सुऽदानुः ।
यम् । देवासः । ईड्यम् । विश्वऽविदम् । हव्यऽवाहम् । अदधुः । अध्वरेषु ॥ ७ ॥

सीद होतः स्व उ लोके चिकित्वान्त्सादया यज्ञं सुकृतस्य योनौ।
देवावीर्देवान् हविषा यजास्यग्ने बृहद्यजमाने वयो धाः ॥ ८ ॥

सीद । होतरिति । स्वे । ऊँ इति । लोके । चिकित्वान् । सादय । यज्ञम् । सुऽकृतस्य । योनौ ।
देवऽअवीः । देवान् । हविषा । यजासि । अग्ने । बृहत् । यजमाने । वयः । धाः ॥ ८ ॥

देवको मन्थन करके बाहर निकालिये। हे पुरुषो, यज्ञके इस श्रेष्ठ ध्वजको, इस परम कृपालु अग्निदेवको, अपने सामने निर्माण कीजिये।

६. जिस समय (ऋत्विज् लोग) अपनी भुजाओंसे मन्थन करके उसे निकालते हैं, उस समय रक्तवर्ण अश्वकी तरह सामर्थ्यशाली यह (अग्निदेव) वनस्पतियोंके मध्यमें विशेष तेजसे प्रकाशमान होता है। दौड़में दिखाई पड़नेवाले अश्विनोंके भव्य रथकी तरह अनिवारित रहनेवाला यह देव तृणोंको जलाते हुए कंकड़ पत्थरोंको छोड़ देता है।

[**चित्रो न** । **रथः** पदका अध्याहार; दे· १·३४·१०; ३·२·१५। वनेषु इस श्लिष्ट शब्दसे (समिधाएं, वृक्ष) मालूम होता है कि उत्तरार्धमें वनके दावाग्निका उल्लेख हुआ है। **अश्विनोः यामन्** के लिए दे.५·७३·९ की टिप्पणी।]

७. यज्ञोंमें सभीको (देवोंको तथा मनुष्योंको) पहचाननेवाला तथा स्तुति करने योग्य, हविर्भाग पहुँचानेके अधिकारीके रूपमें जिसे देवोंने स्थापित किया है, वह सुप्रसिद्ध, सामर्थ्यवान् विप्र, कवियोंसे संस्तुत, उत्तम दाता अग्निदेव जन्म ग्रहण करते ही प्रकाशमान होता है।

[**देवासः दधुः—** यह काम करनेके लिए देवोंने स्थापना की है।]

८. हे होता, उत्तम अनुभवी होकर तुम अपने ही स्थानपर बैठो। हमारे इस यज्ञको, सत्कर्योंसे प्राप्त होनेवाले लोकमें प्रस्थापित करो। देवोंको संतोष देनेवाले तुम हमारे इस

कृणोत धूमं वृषणं सखायोऽस्रेधन्त इतन वाजमच्छ ।
अयमग्निः पृतनाषाट् सुवीरो येन देवासो असहन्त दस्यून् ॥ ९ ॥

कृणोत । धूमम् । वृषणम् । सखायः । अस्रेधन्तः । इतन । वाजम् । अच्छ ।
अयम् । अग्निः । पृतनाषाट् । सुऽवीरः । येन । देवासः । असहन्त । दस्यून् ॥ ९ ॥

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः ।
तं जानन्नग्न आ सीदाथा नो वर्धया गिरः ॥ १० ॥

अयम् । ते । योनिः । ऋत्वियः । यतः । जातः । अरोचथाः ।
तम् । जानन् । अग्ने । आ । सीद । अथ । नः । वर्धय । गिरः ॥ १० ॥

हविर्द्रव्यसे देवोंका यजन करो । और याग करनेवाले यजमानको, हे अग्निदेव, तुम विशाल सामर्थ्य समर्पित करो ।

[**स्वे लोके**— 'अपने स्थानपर', याने कुण्डमें । **सुकृतस्य योनौ** – 'उस पुण्य स्थानमें जो सत्कृत्योंसे प्राप्त होता है;' देवलोकमें । **देव – अवीः** (√अव्) वास्तवमें **देव-वी** पदका ही यह पादके प्रारंभमें दृग्गोचर होनेवाला रूप है जिसके मध्यमाक्षर छन्दके अनुसार दीर्घत्व पा रहा है । 'देवोंका आराधक'।]

९. हे सखाओ, इस पराक्रमी धूमका निर्माण करो । कुछ प्रमाद न करते हुए पुरस्कार प्राप्त करनेके लिए सीधे उधर चलो । जिसकी सहायतासे देवोंने दस्युओंको पराजित किया वही यह अग्निदेव अच्छे वीरोंसे संयुक्त होकर शत्रुओंकी सेनाको परास्त करता है ।

[**वाजम्**— 'यज्ञकर्मका फल' – यही पारितोषिक ।]

१०. जहाँसे जन्म ग्रहण करनेपर तुम तेजसे चमक उठे वही यह तुम्हारा योग्य उत्पत्ति-स्थान समयपर प्राप्त हुआ है । यह जानकर, हे अग्निदेव, उसपर आरूढ हो जाओ, और हमारे स्तोत्रोंको (पारितोषिकोंसे) समृद्ध करो ।

[**अयं योनिः** याने अरणिरूपी जन्मस्थान । आश्वलायन श्रौतसूत्र (३·१०) का कहना है कि मन्थनके पूर्व गार्हपत्य अग्निपर अरणिको तपानेके अवसरपर इस मन्त्रका पठन होना चाहिए । **यतो जातो** शब्दोंसे दिखाई देता है कि यहाँ **योनि** शब्दसे अरणियोंको ही समझ लेना उचित है ।]

तनूनपादुच्यते गर्भ आसुरो नराशंसो भवति यद्विजायते ।
मातरिश्वा यदमिमीत मातरि वातस्य सर्गो अभवत् सरीमणि ॥ ११ ॥

तनूऽनपात् । उच्यते । गर्भः । आसुरः । नराशंसः । भवति । यत् । विऽजायते ।
मातरिश्वा । यत् । अमिमीत । मातरि । वातस्य । सर्गः । अभवत् । सरीमणि ॥ ११ ॥

सुनिर्मथा निर्मथितः सुनिधा निहितः कविः ।
अग्ने स्वध्वरा कृणु देवान् देवयते यज ॥ १२ ॥

सुनिःऽमथा । निःऽमथितः । सुऽनिधा । निऽहितः । कविः ।
अग्ने । सुऽअध्वरा । कृणु । देवान् । देवऽयते । यज ॥ १२ ॥

११. असुर (याने उत्तरारणिरूपी पिता) के उदरमें गर्भरूपसे जब वह रहता है तब इसे तनूनपात् कहा जाता है । जिस समय वह स्फुलिंगरूपमें विशेषराया प्रकट होता है उस समय वह नराशंस ही होता है । तथा जिस समय वह अपनी माताके (याने अधरारणिके) शरीरपर प्रसृत होता है उस समय वह मातरिश्वा (माना जाता) है, और अन्तमें जिस समय चलने लगता है उस समय वह वायुका अश्व होता है (वायुके ऊपर उसकी गति अवलम्बित होती है ।)

[**आसुरः गर्भः—** दे. **असुरस्य जठरादजायत** (ऋ. १४)। **असुर** पिता याने ऊपरकी अरणि । **विजायते—** ' चिनगारीके रूपमें प्रकट होता है ' । **अमिमीत मातरि –** ' माताकी याने नीचेकी अरणिकी देहपर फैल गया ' । ऊपरकी अरणिमें विद्यमान अग्नि तनूनपात् याने खुदका ही पुत्र होता है । दे. २·३५·१३ । चिनगारीके रूपमें उत्पन्न होनेपर वह मानवोंके स्तवनके योग्य बनता है। अतएव उसे ' नराशंस ' कहते हैं । और बादमें नीचेकी अरणिपर फैल जानेपर या वृद्धिंगत होनेपर उसे ' मातरिश्वा ' की संज्ञा प्राप्त होती है । तीनों नामोंके निर्वचनका यह कविकृत प्रयत्न है । चौथे चरणमें दावाग्निका उल्लेख है । ' वायुका अश्व बनता है ' याने अतीव वेगवान् होता है । अथवा वायु उसे जिस तरफ घुमाएगा उस तरफ यह अग्नि चला जाता है । अग्निके लिए ' मातरिश्वा ' नामको कई बार प्रयुक्त किया गया है; दे. १·९६·४; ३·५·९ आदि ।]

१२. यह कवि अग्निदेव अच्छी तरह किये गए मन्थनसे मथकर निकाला हुआ है और कुशलतापूर्ण हस्तक्रियासे (अपनी वेदिके स्थानपर) रखा गया है । हे अग्निदेव, उत्तम यज्ञकर्मोंको साहाय्य दो और देवोंपर श्रद्धा रखनेवाले हमारे यजमानके लिए देवोंका यजन करो ।

[**सुनिर्मथा** तथा **सुनिधा** को तृतीयान्त अव्यय मान लेना चाहिए। दे. **सुबुधा बुध्यमानः—** अथर्ववेद १४·२·६१ तथा ७५ । **स्वध्वरा** + $\sqrt{}$**कृ** – ' अच्छे यज्ञोंको संपन्न करा लें । (**स्वध्वरा = स्वध्वराणि** – द्वितीया बहुवचन) ।]

अजीजनन्नमृतं मर्त्यासोऽस्रेमाणं तरणिं वीळुजम्भम् ।
दश स्वसारो अग्रुवः समीचीः पुमांसं जातमभि सं रभन्ते ॥ १३ ॥
अजीजनन् । अमृतम् । मर्त्यासः । अस्रेमाणम् । तरणिम् । वीळुऽजम्भम् ।
दश । स्वसारः । अग्रुवः । सम्ऽईचीः । पुमांसम् । जातम् । अभि । सम् । रभन्ते ॥ १३ ॥

प्र सप्तहोता सनकादरोचत मातुरुपस्थे यदशोचदूधनि ।
न नि मिषति सुरणो दिवेदिवे यदसुरस्य जठरादजायत ॥ १४ ॥
प्र । सप्तऽहोता । सनकात् । अरोचत । मातुः । उपऽस्थे । यत् । अशोचत् । ऊधनि ।
न । नि । मिषति । सुऽरणः । दिवेऽदिवे । यत् । असुरस्य । जठरात् । अजायत ॥ १४ ॥

अमित्रायुधो मरुतामिव प्रयाः प्रथमजा ब्रह्मणो विश्वमिद्विदुः ।
द्युम्नवद्ब्रह्म कुशिकास एरिर एकएको दमे अग्निं समीधिरे ॥ १५ ॥
अमित्रऽयुधः । मरुताम्ऽइव । प्रऽयाः । प्रथमऽजाः । ब्रह्मणः । विश्वम् । इत् । विदुः ।
द्युम्नऽवत् । ब्रह्म । कुशिकासः । आ । ईरिरे । एकःऽएकः । दमे । अग्निम् । सम् । ईधिरे ॥ १५ ॥

१३. हमारे मर्त्य ऋत्विजोंने इस अमर्त्य, विफल न होनेवाले विजेता, और मज़बूत दंष्ट्रावाले अग्निका मन्थन करके निर्माण किया है। एक मतसे व्यवहार करनेवाली दस कुँआरी बहनें (करांगुलियाँ) इस पुरुषको उसके जन्मग्रहणके पश्चात् तत्काल प्रेमसे आलिंगन देती हैं ।

[**स्रेमन्**—'विफलता' (√स्रा–स्रि = 'गलना, नष्ट होना') । **दश स्वसारः अग्रुवः**—याने ऋत्विजोंकी दस उंगलियाँ ।]

१४. पुरातन कालसे सात ऋत्विजोंके द्वारा संपूजित यह अग्निदेव जिस समय अपनी माताके अंकपर गोदमें पहली बार चमक उठा उस पुरातन समयसे वह (नित्य ही अपने प्रतिदिन तेजसे) विशेष रूपमें प्रकाशित हो रहा है । (अपने हव्य-वहनरूपी कार्यमें) । यह अत्यन्त प्रमुदित वृत्तिवाला अग्निदेव कभी आँख मूँदकर नहीं लेता । क्योंकि वह असुरके (उत्तराराणि-रूपी पिताके) हृदयसे उत्पन्न हुआ है ।

[**सप्तहोता**— 'सात होता जिसके याजक हों वह' । मालूम होता है कि बहुत प्राचीन यज्ञसंस्थाको मनमें रखकर यह कहा गया है। २.१.२ में ग्रथित सात ऋत्विजोंके नामोंकी ओर देखें। फिर भी दे–'वैदिक इण्डेक्स्' पृ ११२ ('ऋत्विज्' शीर्षकमें)। इस ऋचामें भी **माता** तथा **असुर** को क्रमशः ऊपरकी अरणि और नीचेकी अरणि ही मान लेना समीचीन होगा ।]

१५. मरुद्गणोंके हमलेकी तरह शत्रुओंको रगड़नेवाले ये कुशिक गोत्रोत्पन्न पुरातन ऋषि पवित्र मन्त्रका समस्त स्वरूप जानते हैं । इन्होंने अपना वैभवशाली स्तोत्र (अग्निदेवकी और)

यदद्य त्वा प्रयति यज्ञे अस्मिन् होतश्चिकित्वोऽवृणीमहीह ।
ध्रुवमया ध्रुवमुताशमिष्ठाः प्रजानन् विद्वाँ उप याहि सोमम् ॥ १६ ॥

यत् । अद्य । त्वा । प्रऽयति । यज्ञे । अस्मिन् । होतरिति । चिकित्वः । अवृणीमहि । इह ।
ध्रुवम् । अयाः । ध्रुवम् । उत । अशमिष्ठाः । प्रऽजानन् । विद्वान् । उप । याहि । सोमम् ॥ १६॥

भेज दिया है । उनमेंसे हर एकने अपने अपने घरमें अग्निदेवको समिधाओंसे प्रज्वलित किया है ।

[**प्रया** (स्त्री०) ' हमला, आक्रमण ' (प्र +√या) । **विश्वं विदुः—** विश्वामित्रके ' ब्रह्म ' की सामर्थ्य ३·५३·१२ में वर्णित है ।]

१६. हे विद्वान् होता, जिस लिए हमने आज तुम्हें इस प्रगत यज्ञमें (अपना होता) निर्वाचित किया है –और (इसके पूर्व कालमें भी) तुम (अनेक बार) सफलतासे यज्ञोंको समाप्त कर चुके हो, तथा (यज्ञके बारेमें दूतका और होताका) कर्म भी निष्ठापूर्वक कर चुके हो–उस लिए दीर्घ अनुभवी और विद्वान् ऐसे तुम इस सोमके पास (देवोंके सहित) उपस्थित हो जाओ ।

[**अयाः** (√यज्) । **प्रजानन्—** ' अनुभवी ज्ञाता '; **विद्वान्** 'वह व्यक्ति जो पुस्तकोंको पढ़कर जानकार बना है '। **उप याहि** । आशय है, देवोंको साथ लेकर उपस्थित हो जाओ । दे. १·१·९ ।]

२६

३.३२.१–१७ विश्वामित्रः ॥ इन्द्रः ॥ त्रिष्टुप् ॥

इन्द्र सोमं सोमपते पिबेमं माध्यंदिनं सवनं चारु यत्ते ।
प्रप्रुथ्या शिप्रे मघवन्नृजीषिन् विमुच्या हरी इह मादयस्व ॥ १ ॥

इन्द्र । सोमम् । सोमऽपते । पिब । इमम् । माध्यंदिनम् । सवनम् । चारु । यत् । ते ।
प्रऽप्रुथ्य । शिप्रे इति । मघऽवन् । ऋजीषिन् । विऽमुच्य । हरी इति । इह । मादयस्व ॥१॥

गवाशिरं मन्थिनमिन्द्र शुक्रं पिबा सोमं ररिमा ते मदाय ।
ब्रह्मकृता मारुतेना गणेन सजोषा रुद्रैस्तृपदा वृषस्व ॥ २ ॥

गोऽआशिरम् । मन्थिनम् । इन्द्र । शुक्रम् । पिब । सोमम् । ररिम । ते । मदाय ।
ब्रह्मऽकृता । मारुतेन । गणेन । सऽजोषाः । रुद्रैः । तृपत् । आ । वृषस्व ॥ २ ॥

१. हे सोमस्वामी इन्द्र, तुम्हें लुभानेवाले इस सोमरसका, इस माध्यंदिन सवनका, पान करो। हे सरलप्रकृति दानशूर देव, तुम अपने गाल फुलाकर तथा अश्वोंको मुक्त करके इस स्थानपर प्रमुदित हो जाओ।

[**प्रप्रुथ्य शिप्रे** का '**मादयस्व**' इस पदसे अन्वय करना समीचीन है; क्योंकि ऋग्वेदमें अन्यत्र इसी तरहका अन्वय विवक्षित है। **प्र+ प्रुथ्** का अर्थ है 'खोलना', 'स्वरके लिए फुलाना'; √प्रुथ्— (हिन-हिनाना) अकर्मक धातु है किन्तु **अप** तथा **प्र** इन उपसर्गोंसे संयुक्त होकर ऋग्वेदमें यह सकर्मक बनता है। यहाँ इसे प्रयुक्त करनेका अभिप्राय मालूम होता है – सोमपानसे उत्पन्न आनन्दको व्यक्त करना। **शिप्रा** — इस अवयवका सोमपानसे संबन्ध ऋग्वेदमें बड़ा ही निकटवर्ती है।]

२. हे इन्द्र, गायके दूधसे मिश्रित तथा मन्थद्रव्यसहित इस तेजस्वी सोमरसका तुम पान करो। तुम्हें मदयुक्त करनेके लिए वह तुम्हें समर्पित किया गया है। तुम्हारी स्तुति करनेवाले इन मरुद्गणोंके साथ आनन्दसे (आकर) उन रुद्रपुत्रोंके सहित पूर्णतया तृप्त होनेकी अवधितक (अपने जठरमें इस सोमरसकी) वर्षा कर दो।

[सोमके लिए **गवाशिरम्** तथा **शुक्रम्** ये विशेषण ऋग्वेदमें कई स्थानोंपर प्रयुक्त हुए हैं। **मन्थिनम्** —दूध आटा आदि द्रव्योंके साथ बिलोकर बनाया गया। **ब्रह्मकृता**– मरुद्गण इन्द्रकी सराहना एवं स्तुति करनेवाले सखा हैं यह कल्पना ऋग्वेदमें बहुत प्रचलित है। **तृपत्** –यह अव्यय 'तृप्ति होनेतक' के अर्थ में प्रयुक्त है। इसी तरह दूसरे भी अव्यय हैं **द्रवत्** – 'द्रुत गतिसे' और **धृषत्** – 'धृष्टतासे'। **आ वृषस्व** का कर्म है **सोमं** और अधिकरण है **जठरे**; इन दोनोंका अध्याहार करना उचित होगा।]

ये ते शुष्मं ये तविषीमवर्धन्नर्चन्त इन्द्र मरुतस्त ओजः ।
माध्यंदिने सवने वज्रहस्त पिबा रुद्रेभिः सगणः सुशिप्र ॥ ३ ॥

ये । ते । शुष्मम् । ये । तविषीम् । अवर्धन् । अर्चन्तः । इन्द्र । मरुतः । ते । ओजः ।
माध्यंदिने । सवने । वज्रऽहस्त । पिब । रुद्रेभिः । सऽगणः । सुऽशिप्र ॥ ३ ॥

त इन्न्वस्य मधुमद्विविप्र इन्द्रस्य शर्धो मरुतो य आसन् ।
येभिर्वृत्रस्येषितो विवेदामर्मणो मन्यमानस्य मर्म ॥ ४ ॥

ते । इत् । नु । अस्य । मधुऽमत् । विविप्रे । इन्द्रस्य । शर्धः । मरुतः । ये । आसन् ।
येभिः । वृत्रस्य । इषितः । विवेद । अमर्मणः । मन्यमानस्य । मर्म ॥ ४ ॥

मनुष्वदिन्द्र सवनं जुषाणः पिबा सोमं शश्वते वीर्याय ।
स आ ववृत्स्व हर्यश्व यज्ञैः सरण्युभिरपो अर्णा सिसर्षि ॥ ५ ॥

मनुष्वत् । इन्द्र । सवनम् । जुषाणः । पिब । सोमम् । शश्वते । वीर्याय ।
सः । आ । ववृत्स्व । हरिऽअश्व । यज्ञैः । सरण्युऽभिः । अपः । अर्णा । सिसर्षि ॥ ५ ॥

---

३. तुम्हारे ओजका स्तवन करके जिन मरुद्देवोंने तुम्हारी शरीरसामर्थ्य तथा तीक्ष्णता बढ़ाई है उस (रुद्र-पुत्र) के परिवारसहित होकर है मोहक जबड़ेवाले तथा वज्रपाणि (इन्द्र), इस माध्यंदिन सवनमें (सोमका) पान करो ।

[**रुद्रेभिः सगणः** – रुद्रके पुत्र मरुद्गणोंके लिए भी ' रुद्र ' संज्ञाका उपयोग किया गया है । दे. १·८५·१,२ ।]

४. जो इन्द्रके वीर्यसम्पन्न अनुचर हो रहे हैं, जिनकी उत्तेजनासे उसने (इन्द्रने) ' हम अमर्मा हैं ' यह माननेवाले वृत्रके मर्मोंका भेदन किया, उस इन्द्रके मरुद्गणोंने (उसके लिए) मधुर कण्ठसे (स्तोत्रका) गान किया है ।

[**इन्द्रस्य शर्धः** —यहाँ मरुद्गणोंको ही इन्द्रका साक्षात् बल कहा गया है । **विविप्रे** –√ विप् अकर्मक धातु; **मधुमत्**—क्रियाविशेषण । **अमर्मणो मन्यमानस्य** –दे. २·२३·१२ की टिप्पणी ।]

५. मनुकी तरह ही (हमारे) सवनका अपनी रुचिसे ग्रहण करके, ऐकान्तिक वीर्यप्राप्तिके लिए, हे इन्द्र, हमारे इस सोमका पान करो ! एवंविशिष्ट जो तुम हो वह, हे हर्यश्व, हमारे यज्ञके योगसे यहाँ लौट आओ ! इन आक्रमण करनेवाले (मरुद्गणों) के साथ ही तुम नदियों तथा उनके प्रवाहों को भी मुक्त कर देते हो ।

त्वमपो यद्ध वृत्रं जघन्वाँ अत्याँइव प्रासृजः सर्तवाजौ।
शयानमिन्द्र चरता वधेन वव्रिवांसं परि देवीरदेवम् ॥ ६ ॥

त्वम्। अपः। यत्। ह। वृत्रम्। जघन्वान्। अत्यान्ऽइव। प्र। असृजः। सर्तवै। आजौ।
शयानम्। इन्द्र। चरता। वधेन। वव्रिऽवांसम्। परि। देवीः। अदेवम् ॥ ६ ॥

यजाम इन्नमसा वृद्धमिन्द्रं बृहन्तमृष्वमजरं युवानम्।
यस्य प्रिये ममतुर्यज्ञियस्य न रोदसी महिमानं ममाते ॥ ७ ॥

यजामः। इत्। नमसा। वृद्धम्। इन्द्रम्। बृहन्तम्। ऋष्वम्। अजरम्। युवानम्।
यस्य। प्रिये इति। ममतुः। यज्ञियस्य। न। रोदसी इति। महिमानम्। ममाते इति ॥७॥

इन्द्रस्य कर्म सुकृता पुरूणि व्रतानि देवा न मिनन्ति विश्वे।
दाधार यः पृथिवीं द्यामुतेमां जजान सूर्यमुषसं सुदंसाः ॥ ८ ॥

इन्द्रस्य। कर्म। सुऽकृता। पुरूणि। व्रतानि। देवाः। न। मिनन्ति। विश्वे।
दाधार। यः। पृथिवीम्। द्याम्। उत। इमाम्। जजान। सूर्यम्। उषसम्। सुऽदंसाः॥८॥

---

६. चूँकि, हे इन्द्र, लेटकर दिव्य नदियोंको अवरुद्ध करनेवाले, देवोंको न माननेवाले वृत्रका, युद्धमें भ्रमण करनेवाले शस्त्रसे वध करके, तुमने घुडदौड़के घोड़ोंकी तरह (अपने उद्देश्य की ओर) दौड़ते हुए जानेके लिए उन (दिव्य नदियोंको) पूर्णरूपसे मुक्त कर दिया है;

७. इस लिए, जिस यज्ञार्ह इन्द्रकी (शारीरिक) महानताको उसके प्रिय द्यावापृथिवीने अपनेमें समेट लिया है, तो भी वे उस महानताको (बुद्धिसे) संकलित करनेमें असमर्थ हो गये, उस जराविहीन, नित्ययुवा, विशाल, श्रेष्ठ और उन्नत इन्द्रको हम प्रणामाञ्जलिसहित पूजा समर्पित करते हैं।

[ऋ. ६ का उपवाक्य के रूपमें ऋ. ७ की **यजामः** क्रियाके साथ अन्वय करना योग्य है। **प्र + असृजः** –इस शब्दके पदपाठके लिए बादमें आनेवाली ७.१०३.३ की टिप्पणी देखें। **अत्यान् इव**— दे. ३.३३.२। **शयानं – चरता** तथा **देवीः – अदेवम्** में दिखाई देनेवाला विरोध कविद्वारा विवक्षित है। (महिमानम्) **ममतुः—न ममाते** इसका आशय है–शरीरसे उसके बड़प्पनको तौल लिया किन्तु असलमें मनसे उस बड़प्पनको या महत्ताको वे ही समझ न पाए।]

८. (इस) इन्द्रके अच्छी तरह संपन्न किये पराक्रम अनेक हैं। सभी देव उसके नियमोंका उल्लंघन नहीं करते। जिसने पृथ्वी तथा स्वर्ग को भी आधार देकर स्थिर किया, उसी अद्भुत कर्म करनेवाले इन्द्रने इस सूर्य और उषा का भी निर्माण किया है।

[तीसरे और दूसरे पाद को क्रमशः उपवाक्य और मुख्यवाक्य तथा कारण और कार्यके रूपमें समझना समीचीन है। दे. ४.५४.४।]

अद्रोघ सत्यं तव तन्महित्वं सद्यो यज्जातो अपिबो ह सोमम् ।
न द्याव इन्द्र तवसस्त ओजो नाहा न मासाः शरदो वरन्त ॥ ९ ॥

अद्रोघ । सत्यम् । तव । तत् । महिऽत्वम् । सद्यः । यत् । जातः । अपिबः । ह । सोमम् ।
न । द्यावः । इन्द्र । तवसः । ते । ओजः । न । अहा । न । मासाः । शरदः । वरन्त ॥९॥

त्वं सद्यो अपिबो जात इन्द्र मदाय सोमं परमे व्योमन् ।
यद्ध द्यावापृथिवी आविवेशीरथाभवः पूर्व्यः कारुधायाः ॥ १० ॥

त्वम् । सद्यः । अपिबः । जातः । इन्द्र । मदाय । सोमम् । परमे । विऽओमन् ।
यत् । ह । द्यावापृथिवी इति । आ । अविवेशीः । अथ । अभवः । पूर्व्यः । कारुऽधायाः ॥१०॥

अहन्नहिं परिशयानमर्णं ओजायमानं तुविजात तव्यान् ।
न ते महित्वमनु भूदध द्यौर्यदन्यया स्फिग्या३ क्षामवस्थाः ॥ ११ ॥

अहन् । अहिम् । परिऽशयानम् । अर्णः । ओजायमानम् । तुविऽजात । तव्यान् ।
न । ते । महिऽत्वम् । अनु । भूत् । अध । द्यौः । यत् । अन्यया । स्फिग्या । क्षाम् । अवस्थाः ॥११॥

---

९. हे द्रोहातीत इन्द्र, वह तुम्हारी महानता अनुपम है, जिससे तुमने जन्म ग्रहण करते ही सोमपान किया। पराक्रमी ऐसे तुम्हारे ओजका निवारण दिन, अहोरात्र या मास या वर्ष भी नहीं कर सकेंगे।

[दे. ३·४८·१-३ । **न वरन्त** —दे. ऋ. १६ ।]

१०. उच्चतम स्वर्गमें जन्म ग्रहण करते ही मदप्राप्तिके लिए तुमने सोमका पान किया; (और) जिस समय तुमने द्यावापृथिवीमें प्रवेश किया, उसी समय तुम अपने स्तोत्रपाठकोंके सर्वप्रथम आश्रयदाता बने।

११. (नदियोंके) प्रवाहमें सोकर उन्हें रोकनेवाले तथा अपने ओजका प्रदर्शन करनेवाले अहिका, हे जन्मसे ही बलवान् इन्द्र, उससे अधिक सामर्थ्यशाली तुमने वध किया। जिस समय तुमने अपने एक ही कटिभागसे (सभी) पृथ्वीको आच्छादित कर छोड़ा उस समय प्रत्यक्ष स्वर्ग भी तुम्हारी महानताकी बराबरी नहीं कर सका।

[महत्तामें या बड़प्पनमें द्युदेव इन्द्रकी समता नहीं कर सकते, क्योंकि इन्द्र अपनी कटिसे ही समूची पृथ्वीको आवृत कर सकते हैं; लेकिन इसीके लिए द्युदेव अपने पूरे विस्तारकी सहायता लेनेपर बाध्य होते हैं। दे. १०·११९·७ । **अवस्थाः** (√वस्–वस्ते) प्रथम भूतकाल ।]

यज्ञो हि त इन्द्र वर्धनो भूदुत प्रियः सुतसोमो मियेधः ।
यज्ञेन यज्ञमव यज्ञियः सन् यज्ञस्ते वज्रमहिहत्य आवत् ॥ १२ ॥
यज्ञः । हि । ते । इन्द्र । वर्धनः । भूत् । उत । प्रियः । सुतऽसोमः । मियेधः ।
यज्ञेन । यज्ञम् । अव । यज्ञियः । सन् । यज्ञः । ते । वज्रम् । अहिऽहत्ये । आवत् ॥ १२ ॥

यज्ञेनेन्द्रमवसा चक्रे अर्वागैनं सुम्नाय नव्यसे ववृत्याम् ।
यः स्तोमेभिर्वावृधे पूर्व्येभिर्यो मध्यमेभिरुत नूतनेभिः ॥ १३ ॥
यज्ञेन । इन्द्रम् । अवसा । आ । चक्रे । अर्वाक् । आ । एनम् । सुम्नाय । नव्यसे । ववृत्याम् ।
यः । स्तोमेभिः । ववृधे । पूर्व्येभिः । यः । मध्यमेभिः । उत । नूतनेभिः ॥ १३ ॥

विवेष यन्मा धिषणा जजान स्तवै पुरा पार्यादिन्द्रमह्नः ।
अंहसो यत्र पीपरद्यथा नो नावेव यान्तमुभये हवन्ते ॥ १४ ॥
विवेष । यत् । मा । धिषणा । जजान । स्तवै । पुरा । पार्यात् । इन्द्रम् । अह्नः ।
अंहसः । यत्र । पीपरत् । यथा । नः । नावाऽइव । यान्तम् । उभये । हवन्ते ॥ १४ ॥

---

१२. हे इन्द्र, यह यज्ञ, तथा निचोड़े हुए सोमसहित यह तुम्हारा प्रिय हव्य, तुम्हारी सामर्थ्य बढ़ानेवाले हैं। तुम यज्ञका स्वीकार करने योग्य हो। हमारे यज्ञद्वारा ही यज्ञकी रक्षा करो क्योंकि यज्ञने ही अहिके वधके समय तुम्हारे वज्रको बड़ी सहायता दी।

[**यज्ञेन यज्ञमव**—तुम्हारी कृपा के कारण एक यज्ञसे ही दूसरे यज्ञका निर्माण होता है।]

१३. (इसके पूर्वभी) यज्ञके द्वारा इन्द्रको उसके अनुग्रहरूपी प्रसादके साथ मैं अपने पास ले आया हूँ। जो इन्द्र प्राचीन तथा मध्य कालके, एवं (अत्यंत) नूतन-विरचित स्तोमोंसे भी बलसंपन्न होता है, उसे (आज भी) कुछ नूतन प्रसादकी आशासे मुझे लाना पड़ेगा।

[**अवसा** –'सहार्थे तृतीया' है, तो **यज्ञेन** 'करणे तृतीया' मानी जाएगी। **स्तोमेभिः** — दे. १·१·२ की टिप्पणी।]

१४. जिस समय धिषणा देवीने मुझे व्याप्त किया उस समय मैंने भी (यह स्तोत्र) बनाया। आपत्तिके पार होनेके आवश्यक दिन (लड़ाईके अंतिम अतएव निर्णायक दिन) के पूर्व ही मैं इन्द्रकी स्तुति करूँगा ताकि उस दिन मुझे आपत्तिसे वह पार करा दे। क्योंकि नौकासे (इस पार उस पार) चक्कर काटनेवाले (नौकावाले) की तरह, (पुकार सुनकर) जानेवाले उस (इन्द्र) को ही दोनों पारके लोग पुकारते हैं।

[**धिषणा** कविप्रतिभाकी अधिष्ठात्री देवी है। **जजान**—कर्ता है **अहम्**। दे. **स्तोमं जीजनम्** ७·१५·४ और **जनामि सुष्टुतिम्** ८·४३·२। **पार्ये अहन्**—युद्धका वह अन्तिम दिन जिसे सफलतापूर्वक पार करना आवश्यक है। दे. (बादमें) **पार्ये दिवि** ७·८३·५। **नावेव यान्तम्** — केवट, खेवनहार, माँझी। दे. **आशुभिर्यान्** २·३८·३ और **नावा** मतीनां **यातम्** १·४६·७। तथापि **पृ** धातुका **नावा** से जो अत्यन्त निकटवर्ती संबन्ध है उसकी ओर यदि ध्यान दें तो मालूम होगा कि यहाँ **नावेव** का **पीपरत्** इस

आपूर्णो अस्य कलशः स्वाहा सेक्तेव कोशं सिसिचे पिबध्यै ।
समु प्रिया आववृत्रन्मदाय प्रदक्षिणिदभि सोमास इन्द्रम् ॥ १५ ॥

आऽपूर्णः । अस्य । कलशः । स्वाहा । सेक्ताऽइव । कोशम् । सिसिचे । पिबध्यै ।
सम् । ऊँ इति । प्रियाः । आ । अववृत्रन् । मदाय । प्रऽदक्षिणित् । अभि । सोमासः । इन्द्रम् ॥ १५॥

न त्वा गभीरः पुरुहूत सिन्धुर्नाद्रयः परि षन्तो वरन्त ।
इत्था सखिभ्य इषितो यदिन्द्रा दृळ्हं चिदरुजो गव्यमूर्वम् ॥ १६ ॥

न । त्वा । गभीरः । पुरुऽहूत । सिन्धुः । न । अद्रयः । परि । सन्तः । वरन्त ।
इत्था । सखिऽभ्यः । इषितः । यत् । इन्द्र । आ । दृळ्हम् । चित् । अरुजः । गव्यम् । ऊर्वम् ॥ १६॥

शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन् भरे नृतमं वाजसातौ ।
शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि संजितं धनानाम् ॥ १७ ॥

शुनम् । हुवेम । मघऽवानम् । इन्द्रम् । अस्मिन् । भरे । नृऽतमम् । वाजऽसातौ ।
शृण्वन्तम् । उग्रम् । ऊतये । समत्ऽसु । घ्नन्तम् । वृत्राणि । सम्ऽजितम् । धनानाम् । ॥१७॥

क्रियासे संबन्ध जोड़ना यही कविका अभिप्राय रहा हो । दे. १·१७·७ **नावेव पारय** । तीसरे पादके **यत्र** से कविका अभिप्राय **पार्यम् अहन्** से दिखाई देता है और **यथा** हेतुवाचक अव्ययके रूपमें प्रयुक्त है ।]

१५. इस (इन्द्र) का (पान करने का) लोटा लबालब भरा हुआ है । वह पी ले इस लिए मैंने यह कलश, पानी पिलानेवाले पुरुष की तरह, (उसके मुँहमें) खाली कर दिया है । इन्द्रके प्रिय ये सोमरस, उस इन्द्रके पास (वेदीकी) दक्षिण ओर आ गये हैं ताकि उसे मदप्राप्ति हो जाय ।

[**सिसिचे** -(√सिच् = खाली करना, उँडेलना, धाराके रूपमें डालना) दे. **असिञ्चतम्** १·११६·७, **नि षिञ्च** ५·८३·८ आदि ।]

१६. जिस समय तुम्हें उत्तेजित बनाकर अपने सुहृदोंके (अङ्गिरस ऋषियोंके) लिए (बलासुरके) गायोंके अत्यंत मज़बूत गोष्ठका भी भेदन किया, उस समय गंभीर सागर तथा (रास्तेमें) प्रतिरोधरूप पड़े हुए पर्वत भी, हे पुरुहूत, तुम्हें रोक न सके ।

[पहले दो पादोंमें अभिव्यक्त कल्पनाके लिए दे. ८·६६·२ तथा ८·८८·३ ।]

१७. इस युद्धमें धनधान्य (वाज) की प्राप्तिके लिए हम उस इन्द्रका सानन्द आवाहन करें जो उदार नरश्रेष्ठ है, उग्र होते हुए भी पुकारोंका श्रोता, युद्धोंमें शत्रुओंका वधकर्ता, एवं नानाविध धनों का श्रेष्ठ विजेता है ।

[**शुनम्** —(क्रियाविशेषण) ' सुखसे, आनन्दके साथ '। धातु है **श्वि** – ' बढ़ना '। **शूनम्** (३·३३·१३) शब्द भी इसी धातुसे बना है। इसका अर्थ है ' पोल, खाली जगह ' । एकके मूलमें ' भीतरी और बाहरी उभयविधा वृद्धि ' अभिप्रेत है तो दूसरेके मूलमें ' केवल बाहरी वृद्धि '।

२७

३·३३·१–१३ संवादो नदीभिर्विश्वामित्रस्य ॥ १-१२ त्रिष्टुप् ॥ १३ अनुष्टुप् ॥

प्र पर्वतानामुशती उपस्थादश्वेइव विषिते हासमाने ।
गावेव शुभ्रे मातरा रिहाणे विपाट्छुतुद्री पयसा जवेते ॥ १ ॥

प्र । पर्वतानाम् । उशती इति । उपऽस्थात् ।
अश्वे इवेत्यश्वेऽइव । विसिते इति विऽसिते । हासमाने इति ।
गावाऽइव । शुभ्रे इति । मातरा । रिहाणे इति । विऽपाट् । शुतुद्री । पयसा । जवेते इति ॥१॥

इन्द्रेषिते प्रसवं भिक्षमाणे अच्छा समुद्रं रथ्येव याथः ।
समाराणे ऊर्मिभिः पिन्वमाने अन्या वामन्यामप्येति शुभ्रे ॥ २ ॥

इन्द्रेषिते इतीन्द्रऽइषिते । प्रऽसवम् । भिक्षमाणे इति । अच्छ । समुद्रम् । रथ्याऽइव । याथः
समाराणे इति सम्ऽआराणे । ऊर्मिऽभिः । पिन्वमाने इति ।
अन्या । वाम् । अन्याम् । अपि । एति । शुभ्रे इति ॥ २ ॥

१. विश्वाः—मुक्त की गयी तथा (स्पर्धासे) दौड़नेवाली दो घोड़ियोंकी तरह एवं (अपने वत्सको) चाटनेवाली सुन्दर गायोंकी तरह, विपाट् और शुतुद्री ये दो उत्साहपूर्ण नदियाँ पर्वतोंके गर्भसे (बाहर निकलकर) अपनी जलराशिके साथ वेगसे आगे बढ़ रही है।

[**अश्वे इव विषिते** दे. ६·६·४ **विषितासो अश्वाः** । तीसरे पादमें **वत्सम्** पदका अध्याहार करना उचित । दे. ऋ. ३ ।]

२. विश्वाः—इन्द्रके भेजे हुए, (उससे वेगवान् प्रवाहरूपी) अनुज्ञाकी याचना करनेवाली तुम दोनों, रथकी दो घोड़ियोंकी तरह, समुद्रकी ओर वेगसे जा रही हो। एक साथ ही बहती हुई, हे शोभायमान नदियो, तरंगोंसे उछलकर तुम दोनों एक दूसरीको गाढ़ आलिंगन दे रही हो।

[**प्रसवम्**—' अनुज्ञाप्राप्त या उत्तेजित प्रवाह ' । प्रस्तुत तथा चौथी ऋचामें प्रयुक्त किए गए इस शब्दके विवक्षित अर्थमें √सू 'उत्तेजित करना' तथा √सु = 'सोमको निचोड़ना ' इन दोनों धातुओंके अर्थोंको मिलाया गया है; किन्तु छठवी ऋचामें ' उत्तेजना ' का ही अर्थ अभिप्रेत मालूम होता है। इसके विपरीत १·१०२·२ के '**प्रसवे** ' में निचोड़ना ' यही अर्थ विवक्षित है । वहाँ ' **प्रसवे** ' के साथ '**उत्सवे**' का उपयोग ' सु ' = ' निचोड़ने ' के अर्थको स्पष्टतया व्यक्त करता है। **रथ्याऽइव** –' रथकी दो घोड़ियोंकी तरह '। रथ्य = का अर्थ है रथका (रथमें जोड़ा गया) घोड़ा। यही उपमा ७·३९·१ में पाई जाती है । **रथ्या** यह रथी याने ' रथस्वामी ' का अथवा रथ्य याने ' रथका घोड़ा ' का भी द्विवचन हो सकेगा। **रथ्या**

अच्छा सिन्धुं मातृतमामयासं विपाशमुर्वीं सुभगामगन्म ।
वत्समिव मातरा संरिहाणे समानं योनिमनु संचरन्ती ॥ ३ ॥

अच्छ॑ । सिन्धुम् । मातृऽतमाम् । अयासम् । विऽपाशम् । उर्वीम् । सुऽभगाम् । अगन्म ।
वत्सम्ऽइव । मातरा । संरिहाणे इति सम्ऽरिहाणे ।
समानम् । योनिम् । अनु । संचरन्ती इति सम्ऽचरन्ती ॥ ३ ॥

एना वयं पयसा पिन्वमाना अनु योनिं देवकृतं चरन्तीः ।
न वर्तवे प्रसवः सर्गतक्तः किंयुर्विप्रो नद्यो जोहवीति ॥ ४ ॥

एना । वयम् । पयसा । पिन्वमानाः । अनु । योनिम् । देवऽकृतम् । चरन्तीः ।
न । वर्तवे । प्रऽसवः । सर्गऽतक्तः । किम्ऽयुः । विप्रः । नद्यः । जोहवीति ॥ ४ ॥

इव की उपमा वेगको अभिव्यक्त करने के लिए प्रयुक्त है और ऋग्वेदमें छः बार पाई जाती है। (२·३९·२; २·३९·३; ३·३३·२; ३·३६·६; ७·३९·१ और ७·९५·१)। इनमेंसे ३·३६·६ तथा ७·९५·१ को छोड़कर शेष सभी अवसरोंपर उपमेय द्विवचन में है; इस लिए **रथी** अथवा **रथ्य**मेंसे कोई भी शब्द वहाँपर लागू हो सकेगा। किन्तु ३·३६·६ में उपमेय **सिन्धवः** अनेक वचनमें और ७·९५·१ में उपमेय **सरस्वती** एकवचनमें विद्यमान है; अतः इन स्थानोंपर द्विवचनात्मक **रथ्या** स्वतंत्र उपमानके रूपमें विवक्षित मालूम होता है। इस दृष्टिसे **रथ्या** का 'रथमें जोड़ी गई घोड़ोंकी जोड़ी' यही अर्थ समुचित या अधिक युक्तियुक्त मालूम होता है।]

३. विश्वाः—माताओंमें श्रेष्ठ इस नदीके पास मैं आ गया हूँ। विशाल तथा भाग्यवती विपाश् नदीके पास हम (आकर) पहुँचे हैं। (एक ही) वत्सको चाटनेवाली दो गायोंकी तरह ये दो नदियाँ एक ही आश्रयस्थानसे आगे बढ़ रही हैं।

[पहले पादमें शुतुद्रिका उल्लेख है। **संचरन्ती = संचरन्ती वर्तेते**। दे. **चरन्तीः (वर्तामहे)** (ऋ. ४)। **वत्सम्** यह एकवचन उपमेय **योनिम्** के एकवचन के अनुसार प्रयुक्त है।]

४. नदियाँः—इस जलराशिसे उछलती हुई हम, हमारे लिए देवों द्वारा निर्मित (निर्धारित) किये गए आश्रयस्थानको लक्ष्य करके, आगे बढ़ रही हैं। वेगसे आगे बढ़नेवाले (देवोंकी मूर्तिमती आज्ञारूपी) यह हमारा जलप्रवाह निवारण करने योग्य नहीं है। कौनसा प्रयोजन मनमें रखकर यह वक्तृत्वपूर्ण ऋषि हम नदियोंको बारबार पुकार रहा है?

[**देवकृतं योनिम्** — दे. ऋ. ६। **सर्ग** (√सृज्) 'वेग'; दे. ४·५१·८ की टिप्पणी। नदीके प्रसवपर स्पर्धाकी घोड़ीका आरोप किया गया है; दे. **सर्गप्रतक्तः अत्यः** १·६५·६। इस ऋचाके साथ साथ अन्य ऋचामें भी नदियोंके लिए बहुवचन आदरके अर्थमें प्रयुक्त है यह मानना उचित होगा।

रमध्वं मे वचसे सोम्याय ऋतावरीरुप मुहूर्तमेवैः ।
प्र सिन्धुमच्छा बृहती मनीषावस्युरह्वे कुशिकस्य सूनुः ॥ ५ ॥
रमध्वम् । मे । वचसे । सोम्याय । ऋतऽवरीः । उप । मुहूर्तम् । एवैः ।
प्र । सिन्धुम् । अच्छ । बृहती । मनीषा । अवस्युः । अह्वे । कुशिकस्य । सूनुः ॥ ५ ॥
इन्द्रो अस्माँ अरदद्वज्रबाहुरपाहन् वृत्रं परिधिं नदीनाम् ।
देवोऽनयत् सविता सुपाणिस्तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीः ॥ ६ ॥
इन्द्रः । अस्मान् । अरदत् । वज्रऽबाहुः । अप । अहन् । वृत्रम् । परिऽधिम् । नदीनाम् ।
देवः । अनयत् । सविता । सुऽपाणिः । तस्य । वयम् । प्रऽसवे । यामः । उर्वीः ॥ ६ ॥
प्रवाच्यं शश्वधा वीर्यं१ तदिन्द्रस्य कर्म यदहिं विवृश्चत् ।
वि वज्रेण परिषदो जघानायन्नापोऽयनमिच्छमानाः ॥ ७ ॥
प्रऽवाच्यम् । शश्वधा । वीर्यम् । तत् । इन्द्रस्य । कर्म । यत् । अहिम् । विऽवृश्चत् ।
वि । वज्रेण । परिऽसदः । जघान । आयन् । आपः । अयनम् । इच्छमानाः ॥ ७ ॥

---

५. विश्वाः—हे ऋतका पालन करनेवाली नदियो, तुम अपनी इच्छाके अनुसार, (किन्तु) मेरे इस सोमरससे समन्वित (स्तोत्र) को सम्मानित करके क्षणभरके लिए तो रुक जाओ। (मेरी) यह श्रेष्ठ स्तुतिरूपी वाणी सिन्धुकी ओर (जा रही है)। तुम्हारे अनुग्रहकी कामना करनेवाले इस कुशिक ऋषिके पुत्रने (मैंने) तुम्हारा आवाहन किया है।

[**एवैः**—स्वैः एवैः (स्वयंप्रेरणासे, स्वेच्छासे ही)। **सोम्याय वचसे**— 'सोमसंबन्धी स्तोत्रको', दे. **सोमवत्या वचस्यया** १०·१५३·८ । तीसरे चरणमें **प्र** के बाद **एति** का अध्याहार करना उचित है; दे. ६·४९·४; ७·३४·१; १०·२६·१ ।]

६. नदियाँ:—वज्रबाहु इन्द्रने हमें खोदकर मुक्त कर दिया है, तथा उसने नदियोंको अवरुद्ध करनेवाले वृत्रका वध किया है। सुन्दर हाथवाले सविता देवने हमारा मार्गदर्शन किया है और उसीकी आज्ञासे विस्तीर्ण होकर हम अपने मार्गपर बढ़ रही हैं।

[**सुपाणिः**—दे. हिरण्यपाणिः १·३५·३ । **सुपाणि** (कुशल हाथ रखनेवाले) यह हेतुगर्भ विशेषण त्वष्टा (३·५४·१२; ७·३४·२०), अश्विना (१·१०९·४) तथा मित्रावरुणा (१·७१·९) के लिए भी प्रयुक्त हुआ है।]

७. विश्वाः—जिस समय इन्द्रने अहिको काट दिया उस समयका उसका वह वीरसदृश कर्म अनेक प्रकारोंसे विशेष रूपमें प्रशंसनीय है। उसने अपने वज्रकी सहायतासे विरोधियोंको कुचल डाला (और उसके बाद) गमनमार्गकी इच्छा रखनेवाली नदियाँ आगे बढ़ने लगीं।

[**प्रवाच्यम्**—दे. **प्र. वोचम्** १·३२·१; १·१५४·१ । **शश्वधा = शश्वत् + धा** 'अनेक प्रकारोंसे', दे. **विश्वधा** ७·२२·७ । **अयनम्**—'मार्ग' (√इ – 'जाना') दे. **निर् अयनम्** १०·१३५·६; **नि अयनम्** १०·१४२·७ ।]

एतद्वचो जरितर्मापि मृष्ठा आ यत्ते घोषानुत्तरा युगानि ।
उक्थेषु कारो प्रति नो जुषस्व मा नो नि कः पुरुषत्रा नमस्ते ॥ ८ ॥

एतत् । वचः । जरितः । मा । अपि । मृष्ठाः । आ । यत् । ते । घोषान् । उत्ऽतरा । युगानि ।
उक्थेषु । कारो इति । प्रति । नः । जुषस्व । मा । नः । नि । करिति कः । पुरुषऽत्रा । नमः । ते ॥८॥

ओ षु स्वसारः कारवे शृणोत ययौ वो दूरादनसा रथेन ।
नि षू नमध्वं भवता सुपारा अधोअक्षाः सिन्धवः स्रोत्याभिः ॥ ९ ॥

ओ इति । सु । स्वसारः । कारवे । शृणोत । ययौ । वः । दूरात् । अनसा । रथेन ।
नि । सु । नमध्वम् । भवत । सुऽपाराः । अधःऽअक्षाः । सिन्धवः । स्रोत्याभिः ॥ ९ ॥

आ ते कारो शृणवामा वचांसि ययाथ दूरादनसा रथेन ।
नि ते नंसै पीप्यानेव योषा मर्यायेव कन्या शश्वचै ते ॥ १० ॥

आ । ते । कारो इति । शृणवाम । वचांसि । ययाथ । दूरात् । अनसा । रथेन ।
नि । ते । नंसै । पीप्यानाऽइव । योषा । मर्यायऽइव । कन्या । शश्वचै । त इति ते ॥ १० ॥

---

८. नदियाँ:—हे स्तोत्रकर्ता, आगे आनेवाले (तुम्हारे) वंशज जिन वचनोंकी बड़ी उद्घोषणा करेंगे, उन अपने वचनोंका विस्मरण मत होने दो। हे कारो, तुम अपने स्तोत्रोंमें हमें ग्रहण करो, और लोगोंमें हमारी न्यूनता प्रकट मत होने दो। तुम्हें हमारा प्रणाम है।

[**एतद्वचः** वास्तवमें ७ वीं ऋचामें विद्यमान विश्वामित्रकृत स्तुतिवचन है। **आ + घुष्** – ' बड़े जोरसे चिल्लाकर घोषित करना '। **उक्थेषु नः जुषस्व** ' स्तोत्रोंमें हमारा उल्लेख करो '। देवता अथवा राजाकी महिमा कविके वचनोंपर ही निर्भर है। इस लिए नदियाँ भी उसे ' नमस्ते ' कहती हैं। **मा नि कः**– दे. **मा निदे कः** ७.७५.८।]

९. विश्वाः—हे भगिनियो, अपने इस स्तुतिपाठक का वचन ध्यानसे सुन लो। वह आपके पास अपने रथ तथा गाड़ियोंके साथ बहुत दूरसे आया है। अच्छी प्रकार खूब नीचे हो जाओ; तुम्हारे प्रवाहोंमेंसे पार होनेके लिये हमारी सहायता करो, और हे सिन्धुओ, तबतक तुम अपना प्रवाह हमारे (रथचक्रके) अक्षदण्डके नीचेसे बहता रखो।

[**अनस्** बैलगाड़ी – असबाबके लिए; **रथ**–घोड़ोंकी गाड़ी – बैठनेके लिए। दोनोंमें ' जातौ एक वचन ' है। **स्रोत्याभिः अधोअक्षाः** इस तरह अन्वय करना समीचीन। दे. **उपरिमर्त्यं मे वचः कृधि** ८.१९.१२। अर्थ है –अक्षस्य अधः और मर्त्यानाम् उपरि।]

१०. नदियाँ:—हे चारण, हम तुम्हारे स्तुतिवचन (ध्यानसे) सुनेंगी, (क्योंकि) तुम बहुत दूरसे रथ तथा गाड़ियोंके साथ (हमारे पास) आये हो। दुग्धसे भरे हुए (स्तनोंवाली) स्त्रीकी तरह (स्तनपान देती हुई धात्रीकी तरह) मैं तुम्हारे लिये नम्र होऊँगी। युवा प्रियतमके सामने (आत्मसमर्पण करनेवाली कामार्त) कन्याकी तरह मैं तुम्हारे सामने विनम्र रहूँगी।

यदङ्ग त्वा भरताः संतरेयुर्गव्यन् ग्राम इषित इन्द्रजूतः ।
अर्षादह प्रसवः सर्गतक्त आ वो वृणे सुमतिं यज्ञियानाम् ॥ ११ ॥

यत् । अङ्ग । त्वा । भरताः । सम्ऽतरेयुः । गव्यन् । ग्रामः । इषितः । इन्द्रऽजूतः ।
अर्षात् । अह । प्रऽसवः । सर्गऽतक्तः । आ । वः । वृणे । सुऽमतिम् । यज्ञियानाम् ॥ ११ ॥

अतारिषुर्भरता गव्यवः समभक्त विप्रः सुमतिं नदीनाम् ।
प्र पिन्वध्वमिषयन्तीः सुराधा आ वक्षणाः पृणध्वं यात शीभम् ॥ १२ ॥

अतारिषुः । भरताः । गव्यवः । सम् । अभक्त । विप्रः । सुऽमतिम् । नदीनाम् ।
प्र । पिन्वध्वम् । इषयन्तीः । सुऽराधाः । आ । वक्षणाः । पृणध्वम् । यात । शीभम् ॥१२॥

उद्व ऊर्मिः शम्या हन्त्वापो योक्त्राणि मुञ्चत ।
मादुष्कृतौ व्येनसाघ्न्यौ शूनमारताम् ॥ १३ ॥

उत् । वः । ऊर्मिः । शम्याः । हन्तु । आपः । योक्त्राणि । मुञ्चत ।
मा । अदुःऽकृतौ । विऽएनसा । अघ्न्यौ । शूनम् । आ । अरताम् ॥ १३ ॥

[**पीप्याना योषा** ' वह स्त्री जिसके स्तन दूधसे परिपूर्ण हों ' याने धात्री । इस उपवाक्यमें **शिशवे** पदका अध्याहार अपेक्षित है । **शश्वचै** भी **निनंसे** की तरह क्रियाके रूपमें प्रयुक्त है । यहाँ उत्तरार्धके दो पादोंमें दो स्वतंत्र उपमाएं विद्यमान हैं और **ते** पदको दुहराया गया है । उसके आधारपर अनुमान करना संभव है कि कविका अभिप्राय दो पादोंको दो नदियोंद्वारा कहलानेका है ।]

११. विश्वाः—जिस समय सचमुच ये भरतकुलोत्पन्न वीर, इन्द्रद्वारा उत्तेजित तथा (देवों द्वारा) भेजी हुई गायोंकी अभिलाषा करनेवाली यह प्रचण्ड सेना, तैरकर तुम्हारे पार हो जाएगी, उस समय तुम्हारा यह वेगसे दौड़नेवाला मूर्तिमान् अनुज्ञारूपी प्रवाह आगे बढ़े । तुम यज्ञका स्वीकार करने योग्य हो । मैं तुम्हारे अनुग्रहकी याचना करता हूँ ।

[**त्वा** । प्रत्येक नदीको स्वतन्त्र रूपसे प्रार्थना की गई है, इसीलिए एकवचनयुक्त प्रयोग है । **भरताः** तथा **ग्रामः** का सामानाधिकरण्य एवं एकता अभिप्रेत है ।]

१२. विश्वाः—गायोंकी अभिलाषा रखनेवाले ये भरतकुलोत्पन्न वीर (नदियोंको) तैरकर पार चले गए हैं । इसी वक्तृत्वपूर्ण ऋषिने नदियोंके अनुग्रहका पूरा अनुभव कर लिया है । (अब) लोगोंमें नवचैतन्य और धान्यादि की विपुलतारूपी अपना प्रसाद अर्पण करते करते (यथापूर्व) पूर्णतया वृद्धिंगत हो जाओ । (हे नदियो) अपनी जलवाहक शिराएँ जलसे पूर्ण भर लो, और शीघ्र ही आगेके मार्गपर बढ़ो ।

१३. हे नदियो, तुम्हारी तरंगें जूआकी खूँटीको ऊपर ही फेंक दें; (उसी प्रकार गाड़ियोंके) बन्धन भी तुम मुक्त कर दो । जिन्होंने कोई भी दुष्कर्म नहीं किया तथा जो पूर्णतया निरपराध हैं वे बैल शून्यमें विलीन न हो जायँ ।

[**शूनम् मा अरताम्**—दे. २·२८·११ की टिप्पणी, शून = शून्य ।]

२८

३·४२·१–९ विश्वामित्रः ॥ इन्द्रः ॥ गायत्री ॥

उप नः सुतमा गहि सोममिन्द्र गवाशिरम् । हरिभ्यां यस्ते अस्मयुः ॥ १ ॥

उप । नः । सुतम् । आ । गहि । सोमम् । इन्द्र । गोऽआशिरम् । हरिऽभ्याम् । यः । ते । अस्मऽयुः ॥ १ ॥

तमिन्द्र मदमा गहि बर्हिःष्ठां ग्रावभिः सुतम् । कुविन्न्वस्य तृष्णवः ॥ २ ॥

तम् । इन्द्र । मदम् । आ । गहि । बर्हिःऽस्थाम् । ग्रावऽभिः । सुतम् ।
कुवित् । नु । अस्य । तृष्णवः ॥ २ ॥

इन्द्रमित्था गिरो ममाच्छागुरिषिता इतः । आवृते सोमपीतये ॥ ३ ॥

इन्द्रम् । इत्था । गिरः । मम । अच्छ । अगुः । इषिताः । इतः । आऽवृते । सोमऽपीतये ॥ ३ ॥

इन्द्रं सोमस्य पीतये स्तोमैरिह हवामहे । उक्थेभिः कुविदागमत् ॥ ४ ॥

इन्द्रम् । सोमस्य । पीतये । स्तोमैः । इह । हवामहे । उक्थेभिः । कुवित् । आऽगमत् ॥ ४ ॥

इन्द्र सोमाः सुता इमे तान् दधिष्व शतक्रतो । जठरे वाजिनीवसो ॥ ५ ॥

इन्द्र । सोमाः । सुताः । इमे । तान् । दधिष्व । शतक्रतो इति शतऽक्रतो ।
जठरे । वाजिनीवसो इति वाजिनीऽवसो ॥ ५ ॥

---

१. हे इन्द्र, तुम्हें हमारे पास आनेके लिए उत्तेजन देनेवाले, दुग्धमिश्रित, पीसकर निचोड़े हुए सोमरसके पास अपने दो घोड़ोंकी सहायतासे चले आओ।

[**यस्ते अस्मयुः**—सोम **देवयु** है और उसी तरह **अस्मयु** भी। दे. ९·६·१]

२. बट्टेसे पीसकर तथा निचोड़कर कुशोंपर स्थापित किये इस अपने मदप्रद सोमके पास, हे इन्द्र, तुम आओ। इसे प्राशन कर तुम संतुष्ट तो हुए हो न!

[**बर्हिष्ठाम्**—सोम आदि हव्योंको दर्भासनपर समर्पित करना पड़ता है। ऋग्वेदमें यह कल्पना बारबार पाई जाती है।]

३. मेरे द्वारा यहाँसे भेजी हुई मेरी स्तुतिवाणियाँ इस प्रकार, उसे सोमपानके लिए पुनः यहाँ लानेके उद्देश्यसे इन्द्रके पास गई हैं।

४. सोमपानके लिए, हम अपने स्तोम तथा उक्थों से इन्द्रका यहाँ आवाहन कर रहे हैं। क्या वह आएगा?

५. हे शतक्रतो, श्रेष्ठ उपहार वही जिसका धन है ऐसे हे इन्द्र, ये सोमरस पीसकर तैयार हैं। उन्हें तुम अपने उदरमें समा लो।

विद्मा हि त्वा धनंजयं वाजेषु दधृषं कवे। अधा ते सुम्नमीमहे ॥ ६ ॥

विद्म। हि। त्वा। धनम्ऽजयम्। वाजेषु। दधृषम्। कवे। अध। ते। सुम्नम्। ईमहे ॥ ६ ॥

इमामिन्द्र गवाशिरं यवाशिरं च नः पिब। आगत्या वृषभिः सुतम् ॥ ७ ॥

इमम्। इन्द्र। गोऽआशिरम्। यवऽआशिरम्। च। नः। पिब। आऽगत्य। वृषऽभिः। सुतम् ॥७॥

तुभ्येदिन्द्र स्व ओक्ये३ सोमं चोदामि पीतये। एष रारन्तु ते हृदि ॥ ८ ॥

तुभ्य। इत्। इन्द्र। स्वे। ओक्ये। सोमम्। चोदामि। पीतये। एषः। ररन्तु। ते। हृदि ॥ ८ ॥

त्वां सुतस्य पीतये प्रत्नमिन्द्र हवामहे। कुशिकासो अवस्यवः ॥ ९ ॥

त्वाम्। सुतस्य। पीतये। प्रत्नम्। इन्द्र। हवामहे। कुशिकासः। अवस्यवः ॥ ९ ॥

[**वाजिनीवसो** —संबोधन उस देवताको है जिसका धन है ' वाजसहित संपत्ति '। दे. '**वाजिनीवती उषा** ' ७·७५·५ ।]

६. कारण, हे कवे, युद्धमें साहसी विजेताके रूपमें हमें तुम्हारा परिचय है; इस लिए हम तुम्हारे प्रसादकी कामना करते हैं।

७. हे इन्द्र, गायके दूधसे तथा यवके चूर्णसे मिश्रित, और बलशाली बट्टेसे पीसकर निचोड़े हुए हमारे इस सोमरसका यहाँ आकर पान करो।

[**गवाशिरं यवाशिरम्** — दे. ३·३२·९ की टिप्पणी। **आशिर्** (आ + √श्री) ' मिश्रण करनेसे या मेलसे तेजस्वी बनानेवाला द्रव्य ' जैसे दूध, दधि (दे. दध्याशिरः सोमासः १·१३७·२), यवका आटा (यवाशिरम् २·२२·१) आदि। इसके विपरीत है शुचि तीव्र, उग्र अथवा तिग्म। **वृषभिः** (ग्रावभिः) **सुतम्**। दे. ऊपर ऋ. २।]

८. हे इन्द्र, तुम्हारे इस अपने घरमें तुम्हारे लिए ही, तुम पान करो इस लिए, यह सोमरस तुम्हारे पास मैं भेज रहा हूँ। यह तुम्हारे हृदयमें चिरकाल आनन्दसे विराजमान रहे।

[**स्वे ओक्ये**— 'स्वयं सोमके घरमें' याने इन्द्रके हृदय अथवा जठरमें। दे. – ' सोम रारन्धि नो हृदि। मर्य इव स्व ओक्ये ' १·९१·१३ ।]

९. हे इन्द्र, तुम्हारे प्रसादकी आकांक्षा रखनेवाले कुशिक-कुलोत्पन्न हम ऋषिगण, पीसकर निचोड़े हुए सोमरसका पान करनेके लिए सनातन ऐसे तुम्हारा आवाहन कर रहे हैं।

२९

३·४८·१–५ विश्वामित्रः ॥ इन्द्रः ॥ त्रिष्टुप् ॥

सद्यो ह जातो वृषभः कनीनः प्रभर्तुमावदन्धसः सुतस्य ।
साधोः पिब प्रतिकामं यथा ते रसाशिरः प्रथमं सोम्यस्य ॥ १ ॥

सद्यः । ह । जातः । वृषभः । कनीनः । प्रऽभर्तुम् । आवत् । अन्धसः । सुतस्य ।
साधोः । पिब । प्रतिऽकामम् । यथा । ते । रसऽआशिरः । प्रथमम् । सोम्यस्य ॥ १ ॥

यज्जायथास्तदहरस्य कामेंऽशोः पीयूषमपिबो गिरिष्ठाम् ।
तं ते माता परि योषा जनित्री महः पितुर्दम आसिञ्चदग्रे ॥ २ ॥

यत् । जायथाः । तत् । अहः । अस्य । कामे । अंशोः । पीयूषम् । अपिबः । गिरिऽस्थाम् ।
तम् । ते । माता । परि । योषा । जनित्री । महः । पितुः । दमे । आ । असिञ्चत् । अग्रे ॥२॥

१. जन्मग्रहण करते ही इस पराक्रमी तरुण इन्द्रको, ' (ये ऋत्विज मुझे) पीसकर निचोड़ा हुआ मदप्रद सोमरस समर्पित करें ' यह अभिलाषा उत्पन्न हुई। इस सुन्दर मधुर द्रव्यमिश्रित सोमरसका अपनी इच्छाके अनुसार तुम उसी तरह सर्वप्रथम पान करो, जिससे तुम्हें सुख हो।

[**प्रभर्तुम् आवत्** – **जरितॄन्** पदका अध्याहार करना समीचीन । दे. यः (सोमः) **आविथ इन्द्रं वृत्राय हन्तवे** ९·६१·२२. **यथा ते** के बाद **शं हृदे** इन पदोंका अध्याहार करना कविका उद्दिष्ट मालूम होता है। दे. ८-४८·४ । **प्रतिकामम्**–– ' हरेक इच्छाके (उदयके) अवसरपर ', 'अभिलाषाके अनुसार'। दे. **अनुकामम्** ८·४८·८, **प्रतिदोषम्** १·३५·१० । **रसाशिरः** (**रस** जिसका **आशिर्** है उसका) रसका अर्थ है मधुर स्वादिष्ट दूध । **रसवान् मधुमान्** आदि सोमके विशेषण ऋग्वेदमें पाए जाते हैं।]

२. जिस दिन तुम्हारा जन्म हुआ उसी दिन पर्वतोंपर पैदा होनेवाली इस सोमलताका पीयूष तुमने उसकी कामनासे प्राशन किया। तुम्हें जन्म देनेवाली स्त्रीने, तुम्हारी माताने, तुम्हें वह (सोम) तुम्हारे महान् पिताके घरमें, सर्वप्रथम विपुल मात्रामें समर्पित किया।

[**पीयूष** ––प्रसूतिके उपरान्त प्रथम ही दिया जानेवाला सद्यःप्रसूताका दूध । दे. २·३५·५; अर्थ है 'सोमवल्लीका पहला ही निचोड़'। सोमवल्लीपर गोस्तनका आरोप ऋ. ३ में अधिक स्पष्ट है। **गिरिष्ठाम्**–– चूँकि सोमवल्ली पर्वतपर ही विकसित होती है; उसे (९·८५·१०) और लक्षणाकी सहायतासे उस वल्लीके रस या निचोड़को भी **गिरिष्ठा** या **पर्वतावृध्** कहा गया है। प्रस्तुत ऋचामें भी यही बात है, याने वल्लीका विशेषण रसके लिये प्रयुक्त है। **महः पितुः** –'बड़े पिता ' (नाना ?) । ऋ. ४ से स्पष्ट है कि यहाँ अभिप्राय ' त्वष्टा ' से है। इन्द्रके लिए 'पिता' द्वारा वज्रके निर्माणका उल्लेख २·१७·६ में विद्यमान है और १·३२·२; १·८५·९ इत्यादि सभी स्थानोंपर कहा गया है कि ' त्वष्टा ' ही इन्द्रके लिए वज्रका निर्माता है।]

उपस्थाय मातरमन्नमैट्ट तिग्मर्मपश्यदभि सोममूधः।
प्रयावयन्नचरद्गृत्सो अन्यान् महानि चक्रे पुरुधप्रतीकः ॥ ३ ॥
उपऽस्थाय । मातरम् । अन्नम् । ऐट्ट । तिग्मम् । अपश्यत् । अभि । सोमम् । ऊधः ।
प्रऽयवयन् । अचरत् । गृत्सः । अन्यान् । महानि । चक्रे । पुरुधऽप्रतीकः ॥ ३ ॥

उग्रस्तुराषाळभिभूत्योजा यथावशं तन्वं चक्र एषः।
त्वष्टारमिन्द्रो जनुषाभिभूयामुष्या सोममपिबच्चमूषु ॥ ४ ॥
उग्रः । तुराषाट् । अभिभूतिऽओजाः । यथाऽवशम् । तन्वम् । चक्रे । एषः ।
त्वष्टारम् । इन्द्रः । जनुषा । अभिऽभूय । आऽमुष्य । सोमम् । अपिबत् । चमूषु ॥ ४ ॥

शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन् भरे नृतमं वाजसातौ।
शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि संजितं धनानाम् ॥ ५ ॥
शुनम् । हुवेम । मघऽवानम् । इन्द्रम् । अस्मिन् । भरे । नृऽतमम् । वाजऽसातौ ।
शृण्वन्तम् । उग्रम् । ऊतये । समत्ऽसु । घ्नन्तम् । वृत्राणि । सम्ऽजितम् । धनानाम् ॥ ५ ॥

३. माँके पास जाकर (इन्द्रने) अन्नकी याचना की। मातृस्तन्यके स्थानमें उसने तीव्र सोमकी ओर ही अपना दृष्टिपात किया; तथा वह चतुर इन्द्र वहाँसे अन्य सभीको दूर हटाकर स्वयं वहाँ चक्कर काटता रहा। अनेक स्वरूपोंसे दृष्टिगोचर होनेवाले उस इन्द्रने बड़े बड़े कार्य किये हैं।

[**सोमम् ऊधः** (इति) **अभि अपश्यत्** — ऋग्वेद ८·५९·६ में **अभि अपश्यम्** का उपयोग 'कल्पनाकी सहायतासे देखने' के अर्थ में किया गया है। वही अर्थ यहाँ अभिप्रेत है। **ऊधः** –'गोस्तन'। इन्द्रको अन्यत्र **गार्ष्टेय** (१०·१११·२) और उसकी माताको **गृष्टि** ४·१८·१० कहा गया है। निचोड़नेके लिए प्रस्तुत सोमवल्लीके टुकड़ेपर (अंशुपर) गोस्तनका आरोप ९·८५·१० में भी पाया जाता है। **तिग्मं सोमम्** — दे. ३·३२·७ पर टिप्पणी।]

४. उग्र, वीरोंको धराशायी तथा शत्रुओंको पराजित करनेवाले ओजसे संपन्न, यह इन्द्र अपनी इच्छाके अनुसार (नानाविध) रूप धारण करता है। अपनी (साहसी) प्रकृतिसे इन्द्रने त्वष्टाको अभिभूत करके, चमूपात्रोंमें (स्थापित) सोमको ज़बरदस्तीसे छीनकर उसका प्राशन किया।

[**यथावशं तन्वं चक्रे**— इन्द्र कामरूप या इच्छाके अनुसार रूपोंको धारण करनेवाला है। कभी शत्रुको परास्त करने के लिए (१·३२·१२; ३·५३·८; ६·४७·१८) तो कभी यज्ञकर्ताकी अभिलाषाओंको पूर्ण करनेके लिए इन्द्र 'घोड़ेके बाल' से (१·५१·१३; ६·४५·२६) लेकर 'स्त्री, गाय अथवा घोड़े' तक चाहे जो रूप धारण करनेकी क्षमता रखता है। **त्वष्टारमभिभूय** — दे. ४·१८·३ और १२। **आऽमुष्य**– दे. ८·४·४ तथा १०·९९·५। **चमूषु**— दे. ८·८२·७ और ८।]

५. इस युद्धमें धनधान्य (वाज) की प्राप्तिके लिए हम उस इन्द्रका सानन्द आवाहन करें जो उदार नरश्रेष्ठ है, उग्र होते हुए भी पुकारोंका श्रोता, युद्धोंमें शत्रुओंका वधकर्ता एवं नानाविध धनोंका श्रेष्ठ जेता है।

३०

३.५९.१–९ विश्वामित्रः ॥ मित्रः ॥ १–५ त्रिष्टुप् ॥ ६–९ गायत्री ॥

मित्रो जनान् यातयति ब्रुवाणो मित्रो दाधार पृथिवीमुत द्याम् ।
मित्रः कृष्टीरनिमिषाभि चष्टे मित्राय हव्यं घृतवज्जुहोत ॥ १ ॥

मित्रः । जनान् । यातयति । ब्रुवाणः । मित्रः । दाधार । पृथिवीम् । उत । द्याम् ।
मित्रः । कृष्टीः । अनिऽमिषा । अभि । चष्टे । मित्राय । हव्यम् । घृतऽवत् । जुहोत ॥ १ ॥

प्र स मित्र मर्तो अस्तु प्रयस्वान् यस्त आदित्य शिक्षति व्रतेन ।
न हन्यते न जीयते त्वोतो नैनमंहो अश्नोत्यन्तितो न दूरात् ॥ २ ॥

प्र । सः । मित्र । मर्तः । अस्तु । प्रयस्वान् । यः । ते । आदित्य । शिक्षति । व्रतेन ।
न । हन्यते । न । जीयते । त्वाऽऊतः । न । एनम् । अंहः । अश्नोति । अन्तितः । न । दूरात् ॥२॥

अनमीवास इळया मदन्तो मितज्ञवो वरिमन्ना पृथिव्याः ।
आदित्यस्य व्रतमुपक्षियन्तो वयं मित्रस्य सुमतौ स्याम ॥ ३ ॥

अनमीवासः । इळया । मदन्तः । मितऽज्ञवः । वरिमन् । आ । पृथिव्याः ।
आदित्यस्य । व्रतम् । उपऽक्षियन्तः । वयम् । मित्रस्य । सुऽमतौ । स्याम ॥ ३ ॥

---

१. लोगोंको पुकारकर मित्र उन्हें अपने अपने कार्योंमें व्यापृत होनेके लिए उद्युक्त करता है । मित्रने पृथ्वी तथा स्वर्गको आधार दिया है । आँखोंको कभी न मूँदते हुए मित्र अपनी कर्मचारिणी प्रजाका निरीक्षण करता है । उस मित्रको तुम घृतमिश्रित हव्य समर्पित करो ।

[**ब्रुवाणो यातयति**—दे. ७.३६.२; साथ साथ दे. **विश्वस्य शुष्मये बाह्वा प्रसिसर्ति** २.३८.२ और **जामि ब्रुवते** आयुधम् ८.६.३; १०.८.७; अथवा निम्नानुसार अन्वय कीजिए – **ब्रुवाणः** (कर्मणि) **मित्रः** 'अपनेको मित्र कहलानेवाला' ।]

२. तुम्हें रुचिकर हव्य समर्पित करनेवाले तथा तुम्हारे नियमोंका पालन करके तुम्हारी सेवा करनेवाले मर्त्यजनका पूर्ण अभ्युदय हो । तुम्हारे द्वारा संरक्षित पुरुष (किसीसे) कभी मारा या जीता नहीं जाता । उसे समीप या दूरसे भी आपत्ति स्पर्श नहीं कर पाती ।

[**प्र अस्तु**– 'प्रमुख या सुविदित बनो, उत्कर्षको प्राप्त करो' । प्र + अस् का अर्थ है – विख्यात होना । यह धातु इस अर्थ में ऋग्वेदमें कई बार प्रयुक्त हुआ है । **प्रयस्वान्** – 'प्रयस् (√ प्री) को अर्पित करनेवाला' । **प्रयस्** 'प्रीतिदायक हव्य' । **व्रतेन**–दे. व्रतमुपक्षियन्तः (ऋ. ३)]

३. व्याधिविरहित तथा पवित्र अन्नसे आनन्दित होकर, तथा पृथ्वीके विशाल भागपर

अयं मित्रो नमस्यः सुशेवो राजा सुक्षत्रो अजनिष्ट वेधाः ।
तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ ४ ॥

अयम् । मित्रः । नमस्यः । सुऽशेवः । राजा । सुऽक्षत्रः । अजनिष्ट । वेधाः ।
तस्य । वयम् । सुऽमतौ । यज्ञियस्य । अपि । भद्रे । सौमनसे । स्याम ॥ ४ ॥

महाँ आदित्यो नमसोपसद्यो यातयज्जनो गृणते सुशेवः ।
तस्मा एतत् पन्यतमाय जुष्टमग्नौ मित्राय हविरा जुहोत ॥ ५ ॥

महान् । आदित्यः । नमसा । उपऽसद्यः । यातयत्ऽजनः । गृणते । सुऽशेवः ।
तस्मै । एतत् । पन्यऽतमाय । जुष्टम् । अग्नौ । मित्राय । हविः । आ । जुहोत ॥ ५ ॥

मित्रस्य चर्षणीधृतोऽवो देवस्य सानसि । द्युम्नं चित्रश्रवस्तमम् ॥ ६ ॥

मित्रस्य । चर्षणिऽधृतः । अवः । देवस्य । सानसि । द्युम्नम् । चित्रश्रवःऽतमम् ॥ ६ ॥

अभि यो महिना दिवं मित्रो बभूव सप्रथाः । अभि श्रवोभिः पृथिवीम् ॥७॥

अभि । यः । महिना । दिवम् । मित्रः । बभूव । सऽप्रथाः । अभि । श्रवःऽभिः । पृथिवीम् ॥७॥

(यज्ञकर्मके लिये) आसन लगाकर मित्रके, अदितिके इस पुत्रके, नियमोंका पालन करते हुए हम उसके अनुग्रहके भाजन बनें।

[**मितज्ञवः**–'पलथी मारकर बैठे हुए'। दे. **आच्य जानु निषद्य** १०·१५·६ । **पृथिव्या वरिमन्**–दे. ४·५४·४ ।]

४. यह वन्दनीय तथा अत्यन्त दयालु मित्र अतीव उग्र क्षात्र तेजसे युक्त (और) कर्तृत्व-शाली राजाके स्वरूपमें उदित हुआ है। यज्ञका स्वीकार करने योग्य उस देवके अनुग्रहके और उसकी मंगलमय चित्तप्रसन्नताके भी हम आंशिक रूपमें भाजन बनें।

[**अपि स्याम—अपि** उपसर्ग 'गहराई,' 'सान्निध्य' आदिका बोध कराता है—दे. १०·१४·६ ।]

५. विनयसे समीप जाने योग्य, लोगोंको अपने अपने कार्यमें प्रवृत्त करनेवाला यह महान् अदितिका पुत्र स्तोताके प्रति अत्यन्त दयालु है। उस सर्वश्रेष्ठ स्तुतियोग्य मित्रके लिए उसका प्रिय यह हविर्द्रव्य अग्निमें समर्पित करो।

[**नमसा उपसद्यः**— दे. २·२३·१३ । **यातयज्जनः**– दे. ऊपर ऋ. १ ।]

६. लोगोंके विधारक इस मित्रका, इस देवका, अनुग्रह लाभकारी है। उसका ऐश्वर्य अत्यन्त सर्वश्रुत है।

[**सानसि** (विशेषण; $\sqrt{\text{सन्}}$)–दे. **अत्यः सानसिः** ९·८५·५ ।]

७. अपनी महानतासे जिस सुविदित मित्रने स्वर्गलोकको भी नीचा दिखाया, उसने समग्र पृथ्वीपर अपनी बहुविध विशाल कीर्तिसे उत्तम प्रभाव रखा है।

[तीसरे पादमें 'बभूव' का अध्याहार करना उचित होगा।]

मित्राय पञ्च येमिरे जना अभिष्टिशवसे । स देवान् विश्वान् बिभर्ति ॥ ८ ॥

मित्राय । पञ्च । येमिरे । जनाः । अभिष्टिऽशवसे । सः । देवान् । विश्वान् । बिभर्ति ॥ ८ ॥

मित्रो देवेष्वायुषु जनाय वृक्तबर्हिषे । इष इष्टव्रता अकः ॥ ९ ॥

मित्रः । देवेषु । आयुषु । जनाय । वृक्तऽबर्हिषे । इषः । इष्टऽव्रताः । अकरित्यकः ॥ ९ ॥

८. जिसकी सामर्थ्य (दीनोंको) सहायता प्रदान करती है उस मित्रको पञ्चजनोंने आत्मसमर्पण किया है । वह सभी देवोंका पालनपोषण करता है ।

[**पञ्च जनाः**–ऋग्वेदमें त्रि, पञ्च, सप्त तथा दश ये शब्द प्रधान रूपसे संख्याबहुत्वका बोध कराते हैं। **अभिष्टिशवसे** – अभिष्टि (साहाय्यप्रद) शवः (द्युम्नं) यस्य सः । दे. **अभिष्टिमत् वरूथम्** १·११६·११ तथा **अभिष्टिद्युम्नाः उषसः** ४·५१·७ ।]

९. (क्योंकि) देवोंमें तथा मनुष्योंमें (यज्ञकर्मके लिए) कुशासन बिछानेवाले पुरुषको ही मित्र अपने नियमोंका पालन करनेवाले अन्नादि द्रव्य सुलभ कर देता है ।

[**देवेषु – आयुषु**–दे. देवेषु मानुषेषु ४·५४·३ । **इष्टव्रताः इषः**–' वे खाद्यपदार्थ जिन्होंने उसके व्रतोंका स्वीकार किया हो ' । यह साभिप्राय विशेषण है । अन्न आदि उसके वशमें हैं । इस लिये वह इन्हें सुलभ कर देता है । दे. **स्पार्हा भवन्ति रन्तयो जुषन्त यत्** (व्रतम्) ९·१०२·५—'उपभोगके ये साधन अब स्पृहणीय हो उठे है क्योंकि उन्होंने (इस सोमके व्रतका) सानन्द स्वीकार किया है ' ।]

३१

३·६१·१–७ विश्वामित्रः ॥ उषाः ॥ त्रिष्टुप् ॥

उषो वाजेन वाजिनि प्रचेताः स्तोमं जुषस्व गृणतो मघोनि ।
पुराणी देवि युवतिः पुरंधिरनु व्रतं चरसि विश्ववारे ॥ १ ॥

उषः । वाजेन । वाजिनि । प्रऽचेताः । स्तोमम् । जुषस्व । गृणतः । मघोनि ।
पुराणी । देवि । युवतिः । पुरम्ऽधिः । अनु । व्रतम् । चरसि । विश्वऽवारे ॥ १ ॥

उषो देव्यमर्त्या वि भाहि चन्द्ररथा सूनृता ईरयन्ती ।
आ त्वा वहन्तु सुयमासो अश्वा हिरण्यवर्णां पृथुपाजसो ये ॥ २ ॥

उषः । देवि । अमर्त्या । वि । भाहि । चन्द्रऽरथा । सूनृताः । ईरयन्ती ।
आ । त्वा । वहन्तु । सुऽयमासः । अश्वाः । हिरण्यऽवर्णाम् । पृथुऽपाजसः । ये ॥ २ ॥

१. हे वाजोंसे अतीव संपन्न तथा उदार उषा देवि, तुम अत्यन्त गुणज्ञ हो। तुम्हारे इस स्तोताके स्तोमका प्रेमसे स्वीकार करो। हे सर्व प्रकारके स्पृहणीय उपहारोंसे संपन्न देवि, सनातन (किन्तु) नित्य युवती महिला होकर तुम अपने नियमोंके अनुसार ही (इस संसारमें) भ्रमण करती हो।

[**पुराणी युवतिः**—दे. ४·५१·६ । **अनु व्रतम्**–' अपने नियमके अनुसार '। दे. **स्वमनु व्रतम्** १·१२८·१; अथवा **देवानाम्** पदका अध्याहार किया जा सकता है। दे. **दैव्यानि अमिनती व्रतानि**। १·९२·१२; १·१२४·२]

२. हे उषा देवि, रमणीय रथसे (आकर) सद्भावनाओंको जागृत करते करते अमर्त्य ऐसी तुम सर्वत्र प्रकाशित हो जाओ। अतिशय तेजसे उद्दीपित तथा नियमन करनेके लिए सुलभ ऐसे तुम्हारे घोड़े सुवर्णतुल्य कान्तियुक्त तुम्हें (मेरी ओर) ले आएं ।

[**सूनृता** –' दयालुता, भलाई '। दे. **सूनरी** १·४८·५; ४·५२·१ और **सूनरः** ८·२९·१ । **सूनृत** (विशेषण; स्त्रीलिङ्ग–**सूनृता** ' दयालु ' **उषाः** १·१२४·१०) शब्द सू + नृ + ता इस मूल शब्दसे बनाया गया गौण शब्द है ।]

उषः प्रतीची भुवनानि विश्वोर्ध्वा तिष्ठस्यमृतस्य केतुः ।
समानमर्थं चरणीयमाना चक्रमिव नव्यस्या ववृत्स्व ॥ ३ ॥

उषः । प्रतीची । भुवनानि । विश्वा । ऊर्ध्वा । तिष्ठसि । अमृतस्य । केतुः ।
समानम् । अर्थम् । चरणीयमाना । चक्रम्ऽइव । नव्यसि । आ । ववृत्स्व ॥ ३ ॥

अव स्यूमेव चिन्वती मघोन्युषा याति स्वसरस्य पत्नी ।
स्व१र्जनन्ती सुभगा सुदंसा आन्ताद्दिवः पप्रथ आ पृथिव्याः ॥ ४ ॥

अव । स्यूमऽइव । चिन्वती । मघोनी । उषाः । याति । स्वसरस्य । पत्नी ।
स्वः । जनन्ती । सुऽभगा । सुऽदंसाः । आ । अन्तात् । दिवः । पप्रथे । आ । पृथिव्याः ॥ ४ ॥

अच्छा वो देवीमुषसं विभातीं प्र वो भरध्वं नमसा सुवृक्तिम् ।
ऊर्ध्वं मधुधा दिवि पाजो अश्रेत् प्र रोचना रुरुचे रण्वसंदृक् ॥ ५ ॥

अच्छ । वः । देवीम् । उषसम् । विऽभातीम् । प्र । वः । भरध्वम् । नमसा । सुऽवृक्तिम् ।
ऊर्ध्वम् । मधुधा । दिवि । पाजः । अश्रेत् । प्र । रोचना । रुरुचे । रण्वऽसंदृक् ॥ ५ ॥

---

३. हे उषा देवि, सभी प्राणिमात्रोंकी ओर अमर्त्योंकी पताकास्वरूप तुम खड़ी हुई हो। एक ही गन्तव्य स्थानके अनुसार (मार्गपर) चलते चलते, हे नूतन उषे, तुम रथचक्रकी तरह आगे आगे बढ़ो।

[**अमृतस्य केतुः** – अग्निके लिए भी इन्हीं शब्दोंको ६.७.६ में प्रयुक्त किया गया है क्योंकि अग्नि और उषाका आगमन यज्ञके स्थानपर देवोंके आगमनका सूचक शुभचिह्न ही है। **समानम् अर्थम्**– 'वही'; 'वह मार्ग जो समान याने अभिन्न ही हो'। **चक्रमिव आववृत्स्व** 'चक्रकी तरह बार बार आती रहो'। दे. १०.११७.५। चक्रका प्रत्येक अंश जिस तरह बार बार नीचे जाता और ऊपर आता रहता है उसी तरह तुम निरन्तर जाती आती रहो।]

४. किसी बुने हुए (कृष्णवर्ण) पटकी तरह (अन्धकारको) दूर हटाते हुए यह उदारशीला उषा सारे संसारकी महाराज्ञीकी तरह आगे बढ़ रही है। सूर्यको आगे लाते लाते यह भाग्यवती तथा आश्चर्यजनक कर्म करनेवाली उषा स्वर्ग और पृथ्वीकी (एक) छोरसे (दूसरे छोर तक) दूर दूर फैल रही है।

[**स्यूमेव (तमः) अव चिन्वती**–यह अन्वय है। **तमस्** वह वस्त्र है जो रातरूपी जुलाहिन द्वारा बुना गया है (१.११५.४; २.३८.४) और उषा एक परदेकी तरह उसे हटाकर अवतीर्ण होती है। यह कल्पना यहाँ, विद्यमान है। **स्वसर**–' घोंसला, नीड़ ' (स्वः सरः यस्मिन्)। दे. **वयो न स्वसराणि अच्छ** २.१९.२; **हंसासो न स्वसराणि** २.३४.५। **अन्तात् दिवः**–दे. **दिवो अन्तेभ्यः** १.४९.३।]

५. सर्वत्र प्रकाशमान होनेवाली उषादेवीको प्रणामसहित अपना सुन्दर स्तोत्र समर्पित कीजिये। मधुर उपहारोंकी प्रदात्री (इस उषाने) अपना दिव्य तेज सीधे ऊपर आकाशमें प्रसृत कर रखा है। यह रमणीयमुखी तेजस्विनी उषा सर्वत्र चमक दमक रही है।

ऋतावरी दिवो अर्कैरबोध्या रेवती रोदसी चित्रमस्थात्।
आयतीमग्न उषसं विभातीं वाममेषि द्रविणं भिक्षमाणः ॥ ६ ॥

ऋतऽवरी। दिवः। अर्कैः। अबोधि। आ। रेवती। रोदसी इति। चित्रम्। अस्थात्।
आऽयतीम्। अग्ने। उषसम्। विऽभातीम्। वामम्। एषि। द्रविणम्। भिक्षमाणः ॥ ६ ॥

ऋतस्य बुध्न उषसामिषण्यन् वृषा मही रोदसी आ विवेश।
मही मित्रस्य वरुणस्य माया चन्द्रेव भानुं वि दधे पुरुत्रा ॥ ७ ॥

ऋतस्य। बुध्ने। उषसाम्। इषण्यन्। वृषा। मही इति। रोदसी इति। आ। विवेश।
मही। मित्रस्य। वरुणस्य। माया। चन्द्राऽइव। भानुम्। वि। दधे। पुरुऽत्रा ॥ ७ ॥

[**अच्छ प्र भरध्वम्**–इस तरह अन्वय कीजिए; अथवा **अच्छ** के बाद **विवक्मि** इस पदका अध्याहार करना उचित। दूसरे पादके वाक्यका स्वतन्त्र रूपमें अन्वय करना समीचीन। **वः**–यह पद उभयत्र 'अलंकारार्थे' समझना ही ठीक होगा। **रोचना** (विशेषण अथवा संज्ञा) 'तेजोगोल'। अग्निको ऋग्वेद ३·५·१० में **उत्तमो रोचनानाम्** कहा गया है।]

६. ऋतका पालन करनेवाली यह द्युदेवकी (कन्या) (हमारे) स्तोत्रोंसे जागृत हुई है। यह वैभवशालिनी (उषा) पृथिवी तथा स्वर्ग दोनोंको भी सुन्दर रीतिसे व्याप्त कर रही है। हे अग्निदेव, सर्वत्र प्रकाशमान होकर हमारी ओर आनेवाली इस उषाके पास (हमारी ओरसे) सुन्दर द्रव्यकी याचना करनेके लिए तुम जाओ।

[**दिवो ऋतावरी** – दुहिता पदका अध्याहार करना। **द्रविणं भिक्षमाणः** अर्थात् याजकों या यज्ञकर्ताओं के लिए। **चित्रम्** –(अव्यय)–'सुन्दर ढंगसे'। **आयतीम् उषसम्** दे. ५·१·१।]

७. ऋतकी जड़में इन उषाओंका प्रियतम (सूर्य) उन्हें (आगे बढ़नेकी) प्रेरणा देते हुए इन विशाल रोदसियोंमें प्रविष्ट हो रहा है। इस मित्र तथा वरुणकी (सूर्यरूप) विशाल माया-शक्तिने इस रमणी (उषा) की तरह अपना तेज अनेक स्थलोंपर फैला रखा है।

[**ऋतस्य बुध्ने** (बुध्न = मूल, दे. १०·१११·८)– 'क्षितिजके उपर'। **उषसाम्** को **इषण्यन्** (द्वितीयार्थे षष्ठी) तथा **वृषा** दोनों पदोंसे अन्वित करना समीचीन। इस ऋचामें सूर्य प्रस्तुत तथा उषा अप्रस्तुत या उपमानके रूपमें मानी गई है'। अथवा **चन्द्रा** = (**उषा**) को ही प्रस्तुत मानकर **इव** को समुच्चयबोधक मानना भी संभव है 'उषाकी तरह सूर्यने भी अपना प्रकाश फैलाया है।' दे. १·११५·२। **मही मित्रस्य माया** (दे.–५·६३·४) याने सूर्य। ऋ. ७·८७·५ में इसीको वरुणने आकाशमें टँगा हुआ सोनेका झूला भी कहा है। **चन्द्रा** — 'आनन्ददायिनी'–उषाका ही विशेषण है। दे. १·१५७·१।]

३२

४·१८–१–१३ संवाद इन्द्रादितिवामदेवानाम् ॥ त्रिष्टुप् ॥

अयं पन्था अनुवित्तः पुराणो यतो देवा उदजायन्त विश्वे ।
अतश्चिदा जनिषीष्ट प्रवृद्धो मा मातरममुया पत्तवे कः ॥ १ ॥

अयम् । पन्थाः । अनुऽवित्तः । पुराणः । यतः । देवाः । उत्ऽअजायन्त । विश्वे ।
अतः । चित् । आ । जनिषीष्ट । प्रऽवृद्धः । मा । मातरम् । अमुया । पत्तवे । करिति कः ॥१॥

नाहमतो निरया दुर्गहैतत्तिरश्चता पार्श्वान्निर्गमाणि ।
बहूनि मे अकृता कर्त्वानि युध्यै त्वेन सं त्वेन पृच्छै ॥ २ ॥

न । अहम् । अतः । निः । अय । दुःऽगहा । एतत् । तिरश्चता । पार्श्वात् । निः । गमानि ।
बहूनि । मे । अकृता । कर्त्वानि । युध्यै । त्वेन । सम् । त्वेन । पृच्छै ॥ २ ॥

१. वामः—यह मार्ग (योनिरूप मार्ग) वह है जो अत्यन्त पुरातन और परंपरासे चला आ रहा है और जहाँसे सभी देवोंका जन्म हुआ है। इसी मार्गसे ही पूर्ण रूपसे वृद्धिंगत इन्द्र भी जन्म ग्रहण करे। उस (अन्य) मार्गसे (जन्म लेकर) वह (इन्द्र) अपनी माताके पतनमें कारणीभूत न हो।

[**अयं पन्थाः** याने योनिमार्ग। **अमुया**–अमू से बनाया गया स्त्रीलिङ्गी तृतीयान्त अव्यय। अर्थ है 'इस ढंगसे'। दे. **धृष्णुया** (४·३०·१३) की टिप्पणी। उत्तरार्धमें **इन्द्रः** पदका अध्याहार करना योग्य है। ये वामदेवके उस इन्द्रसे कहे गए शब्द हैं जब वह हमेशाकी तरह संकरे रास्तेसे माताके योनिमार्गसे बाहर आना पसन्द न करते हुए (दे. ऋ. २) उदरको चीरकर आनेपर तुला हुआ था।]

२. इन्द्रः–मैं इस मार्गसे बाहर नहीं आऊँगा; यह दुष्प्रवेश्य है। मैं तिर्यक् होकर पार्श्वसे बाहर आऊँगा। बहुतसे कार्य मुझे करने हैं जो (अबतक नहीं) किये गये। किसीके साथ युद्ध करूँगा, तो किसीके साथ सौहृदकी बातचीत करूँगा।

[**दुर्गहा** = दुर्गहाणि (√गाह्)। यह शब्द इसी रूपमें (नपुंसकलिङ्गी बहुवचनमें) 'कठिनाइयाँ; संकट' के अर्थमें अन्यत्र भी प्रयुक्त हुआ है। **संपृच्छै**–√पृच्छ् का 'लेट्' उत्तम पुरुष एकवचन। **सं पृच्छा** प्रायः **बन्धुपृच्छा** (३·५४·१६) का पर्यायवाची है। अर्थ है 'स्निग्ध जनोंके विषयमें पूछताछ'। **सं पृच्छ्** का उपयोग ऋग्वेदमें अन्यत्र भी पाया जाता है।]

परायतीं मातरमन्वचष्ट न नानु गान्यनु नू गमानि ।
त्वष्टुर्गृहे अपिबत् सोममिन्द्रः शतधन्यं चम्वोः सुतस्य ॥ ३ ॥

पराऽयतीम् । मातरम् । अनु । अचष्ट । न । न । अनु । गानि । अनु । नु । गमानि ।
त्वष्टुः । गृहे । अपिबत् । सोमम् । इन्द्रः । शतऽधन्यम् । चम्वोः । सुतस्य ॥ ३ ॥

किं स ऋधक्कृणवद्यं सहस्रं मासो जभार शरदश्च पूर्वीः ।
नही न्वस्य प्रतिमानमस्त्यन्तर्जातेषूत ये जनित्वाः ॥ ४ ॥

किम् । सः । ऋधक् । कृणवत् । यम् । सहस्रम् । मासः । जभार । शरदः । च । पूर्वीः ।
नहि । नु । अस्य । प्रतिऽमानम् । अस्ति । अन्तः । जातेषु । उत । ये । जनिऽत्वाः ॥ ४ ॥

३. वापस लौटती हुई माताकी ओर उस (इन्द्र) ने ध्यानसे देखा (और सोचने लगा) मैं इसके पीछे पीछे न जाऊँ ऐसा नहीं, सचमुच पीछे पीछे मैं ज़रूर जाऊँ। (ऐसा सोचकर और पीछे जाकर) इन्द्रने त्वष्टाके गृहमें दो चमू-पात्रोंमें पीसकर रखे हुए रसोंमेंसे सैंकडों (गो) धनके मूल्यका सोमरस प्राशन किया।

[**परायतीम्** –' जनमे हुए इन्द्रको छोड़कर घर लौटती हुई '।]

४. वामः—जिस इन्द्रको एक सहस्र मास तथा अनेक संवत्सरपर्यंत (मातानें अपने गर्भमें) धारण किया, उस इन्द्रने अपनी इस माताको अकस्मात् क्यों दूर छोड़ दिया ? इन्द्रः–आजतक जन्मग्रहण किये तथा आगे भी जन्मग्रहण करनेवाले सभी वीरोंमें इससे तुल्यबल ऐसा सचमुच कोई भी नहीं है, न होगा।

[साधारणतया सन्धिको '**सा ऋधक् कृणवत्**' यों ही विशद किया जाता है किन्तु पदपाठ है– 'सः ऋधक् कृणवत्'। पदपाठके अनुसार **सः** याने इन्द्र कर्ता है। इसीके अनुसार पूर्वार्धका अनुवाद किया गया है। उत्तरार्ध एवं ऋ. ५ में विवक्षित प्रश्नका इन्द्रद्वारा दिया गया उत्तर विद्यमान है। 'दुर्बल समझकर (**अवद्यमिव मन्यमाना**) माताने इसे बाहर आने नहीं दिया; गर्भके भीतर ही छिपाकर रखा था। किन्तु स्वयंसिद्ध अनुपम योद्धा होनेके कारण बड़ी देरतक प्रतीक्षा करके यह (आकारमें) बहुत ही बढ़ा और कुक्षिको चीरकर बाहर आया'। इस अनुवादमें **सः** और **यम्** स्वाभाविक रूपसे अन्वित होते हैं और साथ साथ पाँचवीं ऋचाके **गुहा कः** के सीधे एवं सरल अर्थ ('छिपाकर रखा') को स्वीकृत करना भी आसान होता है। इन्द्रमाताकी दो अलग अलग क्रियाएँ हैं–एक **गुहा कः** इन्द्रके गर्भस्थ होनेसे सम्बन्ध रखती है और दूसरी **परास** इन्द्रके जन्मके बादकी अवस्थासे संबद्ध है। चौथी ऋचामें **सः** के स्थानपर **सा** को कर्ता मान लेनेसे इन दोनों क्रियाओंको अभिन्न मानना पड़ता है–दे. ओल्डनबर्ग, नोटेन; भाग १; पृ. २८१। किन्तु असलमें ये दोनों क्रियाएँ भिन्न हैं और **गुहा कः** का संकेत **सहस्रं मासो जभार** की ओर और **परास** का **परायतीम्** की ओर है ऐसा माननेमें कोई भी कठिनाई पैदा नहीं होती और सब बातें साफ़ माळूम होती हैं। उत्तरार्धमें अभिव्यक्त विचारकी समताके लिए दे. १·१०२·६; ६·१८·१२।]

अवद्यमिव मन्यमाना गुहाकरिन्द्रं माता वीर्येणा न्यृष्टम् ।
अथोदस्थात् स्वयमत्कं वसान आ रोदसी अपृणाज्जायमानः ॥ ५ ॥

अवद्यम्ऽइव । मन्यमाना । गुहा । अकः । इन्द्रम् । माता । वीर्येण । निऽऋष्टम् ।
अथ । उत् । अस्थात् । स्वयम् । अत्कम् । वसानः । आ । रोदसी इति । अपृणात् । जायमानः ॥५॥

एता अर्षन्त्यललाभवन्तीर्ऋतावरीरिव संक्रोशमानाः ।
एता वि पृच्छ किमिदं भनन्ति कमापो अद्रिं परिधिं रुजन्ति ॥ ६ ॥

एताः । अर्षन्ति । अललाऽभवन्तीः । ऋतवरीःऽइव । सम्ऽक्रोशमानाः ।
एताः । वि । पृच्छ । किम् । इदम् । भनन्ति । कम् । आपः । अद्रिम् । परिऽधिम् । रुजन्ति ॥६॥

५. इन्द्रः—वीर्यसे सर्वतः परिपूर्ण इन्द्रको उसकी माताने एक निन्दनीय बात समझकर, छिपाकर (एक तरफ़) रख दिया, किंतु शीघ्र ही वह इन्द्र स्वयं ही (स्वाभाविक तेजोमय) वस्त्र परिधान करके सीधे खड़ा रहा । तथा जन्म ग्रहण करते ही स्वर्ग और पृथिवी दो लोकोंको उसने संपूर्णतया व्याप्त कर दिया ।

[**न्यृष्टम्** 'ठूंसकर भरा हुआ'—दे. १०·१०८·७। **स्वयमत्कं वसानः**—'स्वयं ही स्वाभाविक वस्त्र पहनकर'। अर्थ है— किसी दूसरेपर निर्भर न रहकर स्वयं अपनेको सुसज्ज करके। दे. २·३५·१४; ६·२९·३; १०·१२३·७ इत्यादि ।]

६. इन्द्रः—ये (मुक्त की गयी) नदियाँ आनंदसे उछलती हुई निर्दोष प्रमदाओंकी तरह ज़ोर-ज़ोरसे आपसमें अठखेलियाँ करती आगे बढ़ रही हैं । ये क्या कहती हैं और किन किन रोकनेवाले पत्थरोंको तोड़कर बाहर निकलती हैं, यह उन्हींसे पूछो ।

[**अललाभवन्तीः** नादानुकारी शब्द मालूम होता है । **अलर्ति** (√ऋ धातुके पौनःपुन्यवाचक रूप ८·४८·८) से तुलना करनेसे इस शब्दका यह 'बार बार आनन्दके साथ आगे बढ़नेवाली' अर्थ स्पष्ट होगा । **संक्रोशमानाः**—**सं क्रन्द्** (२·११·८; ९·९०·४) की ही तरह **सं क्रुश्** को भी आनन्दनिदर्शक ध्वनिका वाचक मानना चाहिए । **ऋतावरी** इस उपमानसे भी यह स्पष्ट होता है। ऋतावरी याने ऋतके अनुसार आचरण रखनेवाली स्त्री याने विवाहित, सभ्य महिला । ऋग्वेद ४·१९·७ में इसी अर्थमें **ऋतज्ञा** शब्द प्रयुक्त है और इसके विपरीत अर्थमें अग्रू याने अविवाहित स्त्री इस शब्दका प्रयोग भी किया गया है। कविका आशय यों है— वृत्रद्वारा रोकी गई नदियोंको इन्द्रने उसकी दासतासे मुक्त किया और उन्हें अपने अपेक्षित ध्येयकी, समुद्रकी, ओर जानेका सुअवसर प्रदान किया । इस अवसरपर वे बन्धमुक्त नदियाँ पतिके पास पहुँचनेके लिए आतुर बनी हुई विवाहित नारीकी तरह अत्यंत प्रमुदित होकर अपने मुक्तिदाताको कृतज्ञतापूर्वक धन्यवाद प्रदान करके उसका गुणगान कर रही हैं । **एताः विपृच्छ**—' इन नदियोंसे पूछो ' वे किसका और क्यों स्तवन कर रही हैं? तब यह बालक याने इन्द्र 'अवद्य' (याने नगण्य) है या महापराक्रमी है यह मालूम होगा यह भावार्थ ।]

किमु ष्विदस्मै निविदो भनन्तेन्द्रस्यावद्यं दिधिषन्त आपः ।
ममैतान् पुत्रो महता वधेन वृत्रं जघन्वाँ असृजद्वि सिन्धून् ॥ ७ ॥

किम् । ऊँ इति । स्वित् । अस्मै । निऽविदः । भनन्त । इन्द्रस्य । अवद्यम् । दिधिषन्ते । आपः ।
मम । एतान् । पुत्रः । महता । वधेन । वृत्रम् । जघन्वान् । असृजत् । वि । सिन्धून् ॥ ७ ॥

ममच्चन त्वा युवतिः परास ममच्चन त्वा कुषवा जगार ।
ममच्चिदापः शिशवे ममृड्युर्ममच्चिदिन्द्रः सहसोदतिष्ठत् ॥ ८ ॥

ममत् । चन । त्वा । युवतिः । पराऽआस । ममत् । चन । त्वा । कुषवा । जगार ।
ममत् । चित् । आपः । शिशवे । ममृड्युः । ममत् । चित् । इन्द्रः । सहसा । उत् । अतिष्ठत् ॥ ८ ॥

---

७. इन्द्रः—ये नदियाँ इस इन्द्रके लिए निविदोंका पाठ क्यों कर रही है ? वे इन्द्रके दोषके समर्थनका प्रयत्न कर रही हैं । क्योंकि मेरे पुत्रने अपने प्रचंड शस्त्रसे वृत्रको काटकर इन सिंधुओंको पूर्णरूपसे खोल दिया है ।

[**निविदो भनन्त** में पिछली ऋचाके **किमिदं भनन्ति** को ही स्पष्ट किया गया है। अतः **एताः विपृच्छ** को यहाँ भी ले लेना समीचीन सिद्ध होगा। इन्द्रको उसकी माताने 'अवद्य' याने 'तुच्छ, नगण्य' समझा और उसे बाहर आने नहीं दिया; लेकिन इस 'अवद्य' का ही ये नदियाँ समर्थन कर रही हैं । **इन्द्रस्य अवद्यम्** का अभिप्राय यहाँ 'इन्द्ररूप अवद्य' से है। **निविदो भनन्त**—नदियोंकी कलकल ध्वनिपर आधारित कविकी कल्पना है । इसी तरह **सोमसुत् अद्रि** अश्विनोंका आवाहन कर रहा है यह कल्पना ऋग्वेद ७.६८.४ में पाई जाती है । यहाँतक इन्द्रने उत्तरके रूपमें अपनी सामर्थ्यकी दुहाई उपस्थित की है और सातवीं ऋचाके उत्तरार्धमें माताने उसे स्वीकृत किया। अब आठवीं और नववीं ऋचामें वामदेव ऋषि उस इन्द्रको समझा रहे हैं जो माताद्वारा परित्यक्त किए जानेसे कुछ अंशोंमें रुष्ट हुआ है।]

८. वामः—तुम्हारी युवती माताने तुम्हें सुखसे ही नहीं फेंक दिया । कुषवा राक्षसी तुम्हें खा गयी यह भी कोई ठीक बात नहीं है; किंतु नदियोंने शिशुरूप तुम्हें जो दया दिखायी, तथा पुनः शीघ्र इन्द्र भी एक साथ खडा हो गया, ये (दोनों) केवल आनन्द की बातें हैं ।

[**ममद्**—यह क्रियाविशेषण **मन्द्** धातुके द्वितीय भूतकालवाचक धातुसाधितसे बनाया गया है सही; तथापि स्पष्ट है कि प्रत्ययके लोपसे यह रूप सिद्ध हुआ है। 'आनन्दपूर्ण ढंगसे' यही इसका अर्थ दिखाई देता है। यह भी स्पष्ट है कि यहाँ **चन** और **चित्** ये निपात पूर्वार्ध एवं उत्तरार्धमें क्रमशः 'निषेध' एवं 'संमति' के अर्थमें प्रयुक्त हुए हैं। **युवतिः परास**। हमेशाकी तरह सीधे रास्तेसे बाहर आनेके बदले कुक्षिको, (कोखको) चीरकर निकले हुए इन्द्रको वहीं छोड़कर (ऋ. १०) क्रोधके साथ लौटती हुई (ऋ. ३) इन्द्रमाताका उल्लेख इन शब्दोंमें विद्यमान है। दूसरे पादके **कुषवा जगार** और तीसरे पादके **शिशवे ममृड्युः** ये शब्द क्रमशः इन्द्रके त्याग एवं पुनः उत्थानके बीच घटित घटनाओंकी ओर संकेत करते हैं। **कुषवा**—वह राक्षसी जो अनुचित रास्तेसे (कु + सव) उत्पन्न बालकको दबोच लेती है। इसके आतङ्कसे इस तरहका बालक बेहोश होता है और उचित उपचारोंके अभावमें प्राणोंसे हाथ धो बैठता है। ऐसे अवसरोंपर शीतल

ममच्चन ते मघवन् व्यंसो निविविध्वाँ अप हनू जघान ।
अधा निविद्ध उत्तरो बभूवाञ्छिरो दासस्य सं पिणग्वधेन ॥ ९ ॥

ममत् । चन । ते । मघऽवन् । विऽअंसः । निऽविविध्वान् । अप । हनू इति । जघान ।
अध । निऽविद्धः । उत्ऽतरः । बभूवान् । शिरः । दासस्य । सम् । पिणक् । वधेन ॥ ९ ॥

गृष्टिः ससूव स्थविरं तवागामनाधृष्यं वृषभं तुम्रमिन्द्रम् ।
अरीळ्हं वत्सं चरथाय माता स्वयं गातुं तन्व इच्छमानम् ॥ १० ॥

गृष्टिः । ससूव । स्थविरम् । तवागाम् । अनाधृष्यम् । वृषभम् । तुम्रम् । इन्द्रम् ।
अरीळ्हम् । वत्सम् । चरथाय । माता । स्वयम् । गातुम् । तन्वे । इच्छमानम् ॥ १० ॥

जलका सिञ्चन करना बालकको जिलानेका एक प्रभावी उपाय है । यद्यपि इस समय नदियाँ बन्धमुक्त नहीं बनी थीं; फिर भी उन्होंने उक्त उपायपर अमल किया। फलस्वरूपी इन्द्ररूप बालक अपनी संपूर्ण शक्तिके साथ उठकर खड़ा हुआ। तात्पर्य इन (८ और ९) दो ऋचाओंमें पूर्वार्धमें साक्षात् संबोधनके द्वारा (दे. **त्वा** अथवा **ते**) और उत्तरार्धमें अप्रत्यक्ष वर्णनकी सहायतासे (दे. **इन्द्रः**) ऋषि वामदेव इन्द्रको यही कथा बतला रहे हैं । संभवतः दसवीं ऋचाके उत्तरार्धमें भी **त्वाम्** का अध्याहार किया जा सकता है और वहाँ भी प्रत्यक्ष संबोधनको मान लेना ठीक होगा ।]

९. वामः—तुम्हारे ऊपर कठोर प्रहार करके व्यंस राक्षसने तुम्हारे चिबुकपर कठोर आघात किया यह भी खुशीकी बात नहीं, किंतु प्रहार होनेपर भी तुमने उससे भी बढ़कर उस दासका सिर अपने शस्त्रसे चकनाचूर कर दिया (यह आनंदकी ही बात है) ।

[**व्यंस**– याने स्कन्धहीन अहि, अर्थात् वृत्र । यहाँ कल्पना यह है कि वृत्रके अहिरूपधारी होनेसे उसके मानव जैसे हाथ, पैर, कंधे आदि अवयव नहीं होते । **अप हनू जघान**–इन्द्रवृत्रके युद्धके इस विशिष्ट प्रसंगका उल्लेख ऋग्वेदमें अन्यत्र स्पष्ट रूपमें नहीं पाया जाता; फिर भी यह मानना संभव है कि १.५२.६ और १५ के **निजघन्थ हन्वा** एवं **प्रति आनं जघन्थ** तथा १०.१५३.३ के **वि वृत्रस्य हनू रुज** ये शब्द इसी प्रसंगकी ओर अस्पष्ट संकेत करते हैं । **शिरः सं पिणक्** । दे. – १.५२.१०; ८.६.६; ८.७६.२ । दास का अभिप्राय अर्थात् वृत्रसे ही है (ऋ. ७ और ११) ।]

१०. इस जवान गायने इस मजबूत, आक्रामक, बलवान् तथा हमला करनेमें असंभव ऐसे वृषभको जन्म दिया है । इस माताने अपने लिये स्वयं ही अपना मार्ग चुननेवाले इस अपने बछड़ेको चाटकर साफ ही नहीं किया तो चाहे जहाँ घूमनेके लिए छोड़ भी दिया ।

[इसमें इन्द्रमाता तथा इन्द्रपर क्रमशः धेनु और वत्सका आरोप किया गया है । **गृष्टि** ' वह गाय जिसने एक बार ही बच्चेको जना हो ' । इन्द्रको १०.१११.२ में भी गार्ष्टेय कहा गया है । **तन्वे गातुं स्वयं इच्छमानम्** इस तरह अन्वय करना योग्य । अर्थ होगा –' अपनी देहके लिए स्वयं ही मार्गका अन्वेषण करनेवाला ' यानी ' स्वतंत्र प्रवृत्तिवाला । ']

उत माता महिषमन्ववेनदमी त्वा जहति पुत्र देवाः ।
अथाब्रवीद्वृत्रमिन्द्रो हनिष्यन्त्सखे विष्णो वितरं वि क्रमस्व ॥ ११ ॥
उत । माता । महिषम् । अनु । अवेनत् । अमी इति । त्वा । जहति । पुत्र । देवाः ।
अथ । अब्रवीत् । वृत्रम् । इन्द्रः । हनिष्यन् । सखे । विष्णो इति । विऽतरम् । वि । क्रमस्व ॥ ११ ॥

कस्ते मातरं विधवामचक्रच्छयुं कस्त्वामजिघांसच्चरन्तम् ।
कस्ते देवो अधि मार्डीक आसीद्यत्प्राक्षिणाः पितरं पादगृह्य ॥ १२ ॥
कः । ते । मातरम् । विधवाम् । अचक्रत् । शयुम् । कः । त्वाम् । अजिघांसत् । चरन्तम् ।
कः । ते । देवः । अधि । मार्डीके । आसीत् । यत् । प्र । अक्षिणाः । पितरम् । पादऽगृह्य ॥ १२ ॥

११. और फिर उस माताके हृदयमें अपने पराक्रमी पुत्रके प्रति वात्सल्यका उदय हुआ; (और उसने उससे कहा) 'हे पुत्र, ये देव तुम्हें छोड़कर जा रहे हैं'। फिर वृत्रको मारनेका इरादा करके इन्द्र विष्णुसे कहने लगा; "मित्र विष्णु, (जहाँतक हो सके वहाँतक इस वृत्रको घेरनेके लिए) तुम दूर दूर अपना पदन्यास करो।"

[इन्द्रमाता और इन्द्रके बीच उत्पन्न भ्रान्त धारणाओंके इस तरह निर्मूल सिद्ध होनेके बादकी कहानी इस ऋचामें कविद्वारा कथित है। वृत्रवधके अवसरपर अन्य देवोंने इन्द्रकी मदद नहीं की (दे. ८.९६.७); सिर्फ विष्णुने ही उसकी सहायता करना स्वीकृत किया। इस सम्बन्धमें उनका जो वादा तय हुआ उसे ८.१००.१–२ में पाया जाता है।]

१२. वामः—तुम्हारी माताको विधवा किसने बनाया? सोते हुए या जागते-घूमते तुम्हें मारनेकी किसने कामना की! जिस समय तुमने अपने पिताको टाँग पकड़कर नीचे फेंक दिया उस समय किस देवताने तुमपर कृपा की?

[ऋ. १२ तथा १३ में इन्द्रद्वारा अपने पिताको उसके पैर खींचकर नीचे गिराना एवं अपने पिताकी मृत्युका कारण बननेकी कथा है। लेकिन असलमें अपने पिताकी मृत्युके लिए याने अपनी माताको वैधव्यका दान करनेके लिए इन्द्रको पूर्णतया उत्तरदायी नहीं माना जा सकता। इसके दो कारण हैं—पहला तो यह है कि इन्द्रका पिता भी उसे (याने इन्द्रको) मारनेकी ताकमें ही था; अनुकूल अवसरकी प्रतीक्षा कर रहा था। और दूसरा कारण वृत्रवधके अवसरपर अन्य देवताओंमेंसे कोई भी इन्द्रकी मददके लिए अग्रसर नहीं हुआ। अतः यथेष्ट सोमपानसे अपने बलकी वृद्धि करनेपर इन्द्र बाध्य हुआ था। परन्तु सोम तो उसके उस पिताके अधीन था, जो उसे उसके पास फटकने तक नहीं देता था। अतः सोमकी प्राप्तिके लिए पितासे लोहा लेनेके सिवा दूसरा उपाय नहीं रहा और इस अवसरकी हाथापाईमें इन्द्रके पिताके प्राणपखेरू उड़ गए। कथाका यह अंश यहाँ सूचित है। बारहवीं ऋचामें जो पहला प्रश्न पूछा गया है, वह सरल ही है, किन्तु दूसरे और तीसरे पादमें उसका उत्तरदायित्व इन्द्रपर कैसे नहीं डाला जा सकता इसे सूचित किया गया है। इन्हीं दो प्रश्नोंके अपेक्षित उत्तरोंके सन्दर्भमें तेरहवीं ऋचामें इन्द्रके उत्तरको ग्रथित किया गया है। इन्द्रके उत्तरका आशय यों है। 'कुत्तेकी आँतोंको सेंकना' नृशंस कृत्यकी ओर संकेत करता है। अपने

अव॑र्त्या॒ शुन॒ आन्त्रा॑णि पेचे॒ न दे॒वेषु॑ विविदे मर्डि॒तार॑म्।
अप॑श्यं जा॒याममही॑यमाना॒मधा॑ मे श्ये॒नो मध्वा ज॑भार ॥ १३ ॥

अव॑र्त्या । शुन॑ः । आ॒न्त्राणि॑ । पे॒चे॒ । न । दे॒वेषु॑ । वि॒वि॒दे॒ । म॒र्डि॒तार॑म् ।
अप॑श्यम् । जा॒याम् । अम॑हीयमानाम् । अध॑ । मे॒ । श्ये॒नः । मधु॑ । आ । ज॒भा॒र॒ ॥ १३ ॥

पिताकी मृत्युका कारण बननेमें मैं इसीके समान दुष्कृत्यका भागी बना। क्योंकि देवोंसे मुझे सहायता मिलनेकी संभावना नहीं रही; सामर्थ्यकी वृद्धिके लिए सोमपान नितान्त आवश्यक था; अतः उत्पात मचाकर भी उसे प्राप्त करनेपर मैं बाध्य हुआ (३·४८·४)। फलस्वरूप पितासे मेरी जो भिड़न्त हुई उसमें उसकी मौत हो गई। साथ साथ उसकी पत्नीने अर्थात् मेरी माताने सिवा उसकी अनुमतिके मुझे सोमपान कराया (३·४८·२)। अतएव उसने मेरे सामने ही मेरी माताका अपमान किया था। यह भी उस समयके मेरे अविचारी क्रोधका एक कारण बना।]

[दूसरे पादकी घटनाका उल्लेख अन्यत्र नहीं पाया जाता। 'ते' चतुर्थी है 'तेरे लिए'। (इसे षष्ठयन्त समझकर **मार्डीके** पदसे इसका अन्वय करना अनुचित होगा)। **मार्डीके** √अस् अथवा √भू का अर्थ है 'दया दिखाना', 'कृपा करना'। दे. '**भवा मृळीक उत नो अभिष्टौ** ६·३३·५–४। 'हमपर दया करो और हमारी रक्षा करो' (यहाँ भी **नः** 'ते' की तरह चतुर्थी ही है)। इसके विपरीत दया करनेवालेके सम्बन्धमें षष्ठीका प्रयोग होनेपर **मृळीके अस्** का अर्थ होता है – 'दयाका अनुभव करना'। दे. **अस्य** (सोमस्य) **मृळीके सुमतौ स्याम** ८·४८·१२; साथ साथ **या** (धेनुः) **मृळीके मरुतां तुराणाम्** (अस्ति) ६·४८·१२; **पादगृह्य**-दे **हस्तगृह्य परा नय**—अथर्ववेद ५·१४·४

१३. इन्द्रः—आपत्तियोंकी विपुलताके कारण मैंने कुत्तेकी आँतोंको पचाया। देवोंमें मेरे ऊपर कृपा करनेवाला मुझे कोई दिखाई नही पड़ा। अपनी जायाका (मेरी माताका) अपमान करते हुए मैंने अपने (पिताको) देखा, उसीसे क्रुद्ध होकर (मैंने) पिताको पटक दिया; और इतनेमें ही श्येन पक्षी मेरे लिये (स्वर्गसे) सोम नीचे ले आया।

[**अवर्त्या** (**अव + ऋति**, √ऋ – जाना) 'अवनतिके कारण,' 'संकटोंकी वजहसे'। जैसे कि ऊपर बतलाया गया है। 'कुत्तेकी आँतोंको सेंकना' में लक्षणा है। अर्थ होता है 'नीच नृशंस या निंद्य कृत्य करना'। **जायाममहीयमानाम्**। **स्वभर्त्रा** याने **मे पित्रा** यह अध्याहार करना समीचीन होगा। सिवा मेरी अनुमतिके इन्द्रको सोमका दान करनेके कारण मेरे पिताने अपनी पत्नीकी याने मेरी माताकी जो निर्भर्त्सना की उसे मैंने देखा। इससे भी मैं अतितीव्र क्रोधके वशमें आया। इसके उपरान्त स्वर्गके उसके स्थानसे श्येन मेरे लिए सोमको पृथ्वीपर लाये। दे. ४·२६· और ४·२७।]

३३

४·३०·१–२४ वामदेवः ॥ १–८·१२–२४ इन्द्रः ॥ ९–११ इन्द्र उषाश्च ॥
१–७·९–२३ गायत्री ॥ ८·२४ अनुष्टुप् ॥

नकिरिन्द्र त्वदुत्तरो न ज्यायाँ अस्ति वृत्रहन् । नकिरेवा यथा त्वम् ॥ १ ॥

नकिः । इन्द्र । त्वत् । उत्ऽतरः । न । ज्यायान् । अस्ति । वृत्रऽहन् ।
नकिः । एव । यथा । त्वम् ॥ १ ॥

सत्रा ते अनु कृष्टयो विश्वा चक्रेव वावृतुः । सत्रा महाँ असि श्रुतः ॥ २ ॥

सत्रा । ते । अनु । कृष्टयः । विश्वाः । चक्राऽइव । ववृतुः । सत्रा । महान् । असि । श्रुतः ॥ २ ॥

विश्वे चनेदना त्वा देवास इन्द्र युयुधुः । यदहा नक्तमातिरः ॥ ३ ॥

विश्वे । चन । इत् । अना । त्वा । देवासः । इन्द्र । युयुधुः । यत् । अहा । नक्तम् । आ । अतिरः ॥ ३ ॥

१. हे इन्द्र, तुमसे बढ़कर अथवा अधिक बलशाली (वीर) कोई भी नही है । हे वृत्रके हन्ता, अन्य कोई वीर तुम्हारे सदृश भी नहीं है ।

[**नकिः नकीम्** तथा **माकिः माकीम्** नञ्-सहित-सर्वनामोंके रूप है । ये प्रायः प्रथमा विभक्तिमें विद्यमान नामोंसे संबद्ध होते है; किन्तु कभी कभी शुद्ध निषेधात्मक अव्ययके रूपमें इन्हें अन्य विभक्तियोंसे भी जोड़ा जाता है ।]

२. जिस प्रकार सभी चक्र (रथका वहन करनेवाले अश्वोंका अनुसरण करते हैं) उसी प्रकार (सभी) लोग तुम्हारा पूर्णतया अनुसरण करते हैं । सचमुच तुम विशाल रूपसे सर्वत्र विश्रुत हो ।

[**ते** इस षष्ठ्यन्त पदको **कृष्टयः** से अन्वित करके **अनुवावृतुः** के कर्मके रूपमें **त्वाम्** पदका अध्याहार करना समुचित सिद्ध होगा । क्योंकि यह पद (याने **ते**) चतुर्थ्यन्त अथवा षष्ठ्यन्त पदके रूपसे वेदमें प्रयुक्त होता है, द्वितीयान्त पदके रूपसे नहीं । उपमानवाक्यमें भी आशुम् अथवा अश्वम् का अध्याहार आवश्यक है ।]

३. जिस समय रातमें तुमने वासरोंको (इसीसे) संकुचित किया, उस समय सब देवता भी तुम्हारे साथ युद्ध न कर सके ।

[**अना** =अनया (रीत्या) 'इस रीतिसे' (अव्यय) । **युयुधुः** √युध् का अर्थ है 'युद्धकी सहायतासे शत्रुको परास्त करना' । **अहा (=अहानि) आतिरः**–' दिवसोंको सीमित किया ' याने 'दिवसको समाप्त किया ' । **नक्तम्** (अव्यय) ' रातके समय ' । आशय है ' दो दिवसोंके बीच प्राणिमात्रकी विश्रांतिके लिए रात्रिका निर्माण करके ' । देवोंने सम्मिलित होकर इन्द्रके इस कार्यका तीव्र विरोध किया; क्योंकि रातका समय देवोंके लिए अनुकूल नहीं पड़ता । फिर भी इन्द्र अपनी इच्छाको पूर्ण करके ही रहे । यही अर्थ बादमें आनेवाली पांचवीं ऋचामें व्यक्त किया गया है । समान कल्पनाके लिए दे. **अहा मिमानो अक्तुभिः अक्तुना अहा वयुनानि साधन्** २·१९·३ ।]

यत्रोत बाधितेभ्यश्चक्रं कुत्साय युध्यते। मुषाय इन्द्र सूर्यम् ॥ ४ ॥

यत्र। उत। बाधितेभ्यः। चक्रम्। कुत्साय। युध्यते। मुषायः। इन्द्र। सूर्यम् ॥ ४ ॥

यत्र देवाँ ऋघायतो विश्वाँ अयुध्य एक इत्। त्वमिन्द्र वनूँरहन् ॥ ५ ॥

यत्र। देवान्। ऋघायतः। विश्वान्। अयुध्यः। एकः। इत्। त्वम्। इन्द्र। वनून्। अहन् ॥ ५ ॥

यत्रोत मर्त्याय कमरिणा इन्द्र सूर्यम्। प्रावः शचीभिरेतशम् ॥ ६ ॥

यत्र। उत। मर्त्याय। कम्। अरिणाः। इन्द्र। सूर्यम्। प्र। आवः। शचीभिः। एतशम् ॥ ६ ॥

४. और फिर जिस समय (अपने शत्रुओंसे) युद्ध करनेवाले कुत्सके लिए तथा उनके संत्रस्त अनुयायियोंके लिए तुमने सूर्यसे उसका बिम्बचक्र बलात् खींच लिया;

[**ऋ.** ४, ५ तथा ६ का पूर्वार्ध ये उपवाक्य हैं और ६ का उत्तरार्ध मुख्य वाक्य इसी तरह अन्वय करना योग्य। **आवः** क्रियाका निघात स्वर इसीकी ओर संकेत करता है। इन तीनों वाक्योंका सामान्य विषय है 'आकाशसे सूर्यका उच्चाटन'। साथ साथ इनमें तीन विभिन्न कथाओंका उल्लेख है। ऋ. ४ में कुत्स-शुष्णोंकी कथाका; ऋ. ५ में ऋचा ३ की कथाका (इसीसे अन्य दो सदृश कथाओंकी कवि को याद आई होगी) और ऋ. ६ में सादृश्यके कारण कविने एतश नामके मानवकी कथाका उल्लेख किया है।]

[**बाधितेभ्यः** याने **नरेभ्यः**-दे. १०·८०·५, मुख्य वाक्यमें **एतशम्** शब्द पहली कथामें कुत्सकी ओर और दूसरी कथामें विश्रान्तिके लिए रात्रिकी अपेक्षा रखनेवाले प्राणिमात्रकी ओर संकेत करता है। **मुषायः** के कर्म दो हैं-**सूर्यम्** और **चक्रम्** दे. १०·६८·१० की टिप्पणी। कुत्सकी कथाके लिए दे. १·१७५·४, ६·३१·३ (और सूर्य)]

५. और फिर जिस समय संतप्त हुए सभी देवताओंको तुमने अकेले ही परास्त किया, तथा अपने (ऊपर) प्रहार करनेवाले शत्रुओंका वध किया;

[**ऋघायतः**—देवोंके क्रोधका कारण यह है कि रात उनके लिए प्रतिकूल और शत्रुओंके लिए अनुकूल है इसे तो पहले ही ऊपर सूचित किया गया है।]

६. और पुनः उस मर्त्य (एतश) के लिए जब तुमने (आकाशसे) सूर्यको भी भगा दिया, तब तुमने अपने पराक्रमोंसे एतश की रक्षा की।

[**एतश** वह ऋषि है जिसके लिए भी इन्द्रने आकाशसे सूर्यका उच्चाटन किया। यह कथा २·१९·५ में भी पाई जाती है। वहाँ की तरह यहाँ भी एतशको मर्त्य कहा गया है। अन्यत्र **एतश** शब्दसे सूर्यके घोड़े या घोड़ों का उल्लेख किया गया है। **एतशम्** शब्दमें लक्षणाकी सहायतासे कुत्स तथा अन्य मर्त्योंका समावेश करना उचित है। यह भी ऊपर बतलाया गया है।]

किमादुतासि वृत्रहन् मघवन् मन्युमत्तमः । अत्राह दानुमातिरः ॥ ७॥

किम् । आत् । उत । असि । वृत्रऽहन् । मघऽवन् । मन्युमत्ऽतमः ।

अत्र । अह । दानुम् । आ । अतिरः ॥ ७ ॥

एतद्घेदुत वीर्य१मिन्द्र चकर्थ पौंस्यम् । स्त्रियं यद्दुर्हणायुवं वधीर्दुहितरं दिवः ॥८॥

एतत् । घ । इत् । उत । वीर्यम् । इन्द्र । चकर्थ । पौंस्यम् ।

स्त्रियम् । यत् । दुःऽहनायुवम् । वधीः । दुहितरम् । दिवः ॥ ८ ॥

दिवश्चिद्घा दुहितरं महान् महीयमानाम् । उषासमिन्द्र सं पिणक् ॥ ९ ॥

दिवः । चित् । घ । दुहितरम् । महान् । महीयमानाम् । उषसम् । इन्द्र । सम् । पिणक् ॥ ९ ॥

अपोषा अनसः सरत् संपिष्टादह बिभ्युषी । नि यत् सीं शिश्नथद्वृषा ॥ १० ॥

अप । उषाः । अनसः । सरत् । सम्ऽपिष्टात् । अह । बिभ्युषी ।

नि । यत् । सीम् । शिश्नथत् । वृषा ॥ १० ॥

---

७. और, हे उदार वृत्रहन्ता, क्या तुम अब भी (यथा पूर्व ही) अत्यन्त संक्रुद्ध हो रहे हो? क्यों कि इसी स्थानपर तुमने दानुका वध किया है।

[यहाँ प्रश्न है क्या पहलेकी तरह अब भी इन्द्र अत्यन्त क्रुद्ध हो सकता है? कविका आशय है यदि ऐसा हो सके तो ही इन्द्र उसकी सहायता करनेमें समर्थ सिद्ध होगा। **दानु** शब्द ऋग्वेदमें सिर्फ दो स्थानोंपर (१·३२·९ और ३·३०·८) 'वृत्रकी माता' के अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। अन्यत्र उसका अभिप्राय साधारण दानव या राक्षस से ही है।]

८. और हे इन्द्र, जिस समय तुमने उस दुष्ट हिंसक स्त्रीको, उस द्युदेवकी कन्याको, मार डाला, उस समय तुमने सचमुच पौरुषयुक्त वीर कर्म ही किया।

[ऋ. ४ तथा ६ में सूर्यबिम्बका उल्लेख है। मालूम होता है कि इसीसे कविको उषाकी याद आई। सभी देवोंके जो पिता माने गए हैं उन द्युदेव की कन्या उषाको भी दण्ड देकर इन्द्रने उसे भागनेपर विवश किया। यही इन्द्रका पराक्रम एवं पौरुष है। इसका आशय यों है—यद्यपि उषा एक स्त्री थी, फिर भी दुष्ट एवं बहुत घमंडी होनेके कारण दण्डनीय थी। तथापि किस उद्देश्यसे कविने यहाँके विशेषणोंको उषाके लिए प्रयुक्त किया है इसे समझना मुश्किल है।]

९. हे इन्द्र, महान् ऐसे तुमने अपनेको बहुत बड़ी माननेवाली द्युदेवकी कन्याकी, उषाकी, मार मारकर हड्डी पीस दी।

१०. जिस समय उस पराक्रमी वीरने उसकी गाड़ी तोड़ दी उस समय वह भयग्रस्त उषा अपनी उस चकनाचूर गाड़ीके पास से दूर भाग गई।

एतदस्या अनः शये सुसंपिष्टं विपाश्या। ससार सीं परावतः ॥ ११ ॥

एतत्। अस्याः। अनः। शये। सुऽसंपिष्टम्। विऽपाशि। आ। ससार। सीम्। पराऽवतः॥११॥

उत सिन्धुं विबाल्यं वितस्थानामधि क्षमि। परि ष्ठा इन्द्र मायया ॥ १२ ॥

उत। सिन्धुम्। विऽबाल्यम्। विऽतस्थानाम्। अधि। क्षमि। परि। स्थाः। इन्द्र। मायया॥१२॥

उत शुष्णस्य धृष्णुया प्र मृक्षो अभि वेदनम्। पुरो यदस्य संपिणक् ॥ १३॥

उत। शुष्णस्य। धृष्णुऽया। प्र। मृक्षः। अभि। वेदनम्। पुरः। यत्। अस्य। सम्ऽपिणक् ॥१३॥

उत दासं कौलितरं बृहतः पर्वतादधि। अवाहन्निन्द्र शम्बरम् ॥ १४ ॥

उत। दासम्। कौलिऽतरम्। बृहतः। पर्वतात्। अधि। अव। अहन्। इन्द्र। शम्बरम् ॥१४॥

११. वह अत्यन्त मरोड़ी हुई गाड़ी इस विपाश नदीके किनारेपर (भग्नावस्थामें) पड़ी हुई है, और वह स्वयं दूर प्रदेशोंकी ओर भाग गयी है।

[**परावतः** (देशान्) यह द्वितीयाका बहुवचन है।]

१२. और, हे इन्द्र, धरतीपर सर्वत्र फैली हुई विबाली नदीको भी तुमने अपने दैवी सामर्थ्यसे रोक रखा है।

[यहाँसे १८ तककी ऋचाओंमें इन्द्रकृत अन्य पराक्रमोंका निवेदन है और प्रत्येक ऋचाका प्रारंभ 'उत' शब्दसे किया गया है।]

१३. और जिस समय तुमने बड़े साहससे शुष्णके दुर्गका संपूर्ण नाश कर दिया, उस समय तुमने उसका सारा धन भी बलात् छीन लिया।

[**धृष्णुया-धृष्णू** इस स्त्रीलिङ्गी विशेषणका तृतीयान्त रूप अव्ययके रूपमें प्रयुक्त हुआ है। अर्थ है 'धृष्टतासे'। ऋग्वेदमें इसी तरहके अन्य शब्द हैं **रघुया** (रघु), **आशुया** (आशु), **उर्विया** (उरु), **साधुया** (साधु)। साथ साथ **ऋतया** (ऋत), **नक्तया** (नक्त) तथा **अमुया** (अमू-अयम्) ये रूप भी पाए जाते हैं। फिर भी, कुल मिलाकर यह मानना अधिक युक्तियुक्त होगा कि विशेषणों, संज्ञाओं तथा सर्वनामों के बाद 'या' प्रत्यय लगाकर ये रीतिवाचक क्रियाविशेषण बनाए गये हैं।]

१४. और उस दास जातिके कुलितर पुत्र शम्बरको तुमने उस विशाल पर्वतसे नीचे फेंक कर नामशेष किया।

[**ऋ.** १३ में शुष्णके पुरोंका जो उल्लेख है उसीसे कविको शम्बरकी और उसके १०० पुरोंकी याद आई; किन्तु यहाँ (प्रस्तुत ऋचामें केवल शम्बरके पर्वतीय निवासस्थानसे (४·२६·३, ७·१९·५) ढकेले जानेका ही उल्लेख है। **ऋ.** २० में दिवोदासको दी गई पनाहके संदर्भमें शम्बरके १०० गिरि-दुर्गोंके निर्दालनकी कथा गौण रूपमें दी जाती है।]

उत दासस्य वर्चिनः सहस्राणि शतावधीः । अधि पञ्च प्रधीँरिव ॥ १५ ॥

उत । दासस्य । वर्चिनः । सहस्राणि । शता । अवधीः । अधि । पञ्च । प्रधीन्ऽइव ॥ १५ ॥

उत त्यं पुत्रमग्रुवः परावृक्तं शतक्रतुः । उक्थेष्विन्द्र आभजत् ॥ १६ ॥

उत । त्यम् । पुत्रम् । अग्रुवः । पराऽवृक्तम् । शतऽक्रतुः । उक्थेषु । इन्द्रः । आ । अभजत् ॥ १६ ॥

उत त्या तुर्वशायदू अस्नातारा शचीपतिः । इन्द्रो विद्वाँ अपारयत् ॥ १७ ॥

उत । त्या । तुर्वशायदू इति । अस्नातारा । शचीऽपतिः । इन्द्रः । विद्वान् । अपारयत् ॥ १७ ॥

उत त्या सद्य आर्या सरयोरिन्द्र पारतः । अर्णाचित्ररथावधीः ॥ १८ ॥

उत । त्या । सद्यः । आर्या । सरयोः । इन्द्र । पारतः । अर्णाचित्ररथा । अवधीः ॥ १८ ॥

१५. और दास जातिके उस वर्चिन् नामक शत्रुके सौ सहस्र तथा पाँच अधिक इतने वीरोंको तुमने (रथचक्रके) दण्डकी तरह ठोंक दिया।

[**वर्चिन्** शम्बरका सखा है । दे. २·१४·६; ६·४७·२१ । **प्रधीन् इव**–दे. **विवव्हे रथाँ इव** (२·२३·१३) की टिप्पणी ।]

१६. और कुमारी (माता) द्वारा परित्यक्त हुए उसके पुत्रको शतक्रतु इन्द्रने अपने लिए विरचित सूक्तोंमें स्थान दिया है।

[**परावृक्तम्**—इसका दूसरा नाम परावृज् भी है और १·११२·८ में कहा गया है कि अश्विना इसके मददगार हुए। इसकी माताने कौमार्यावस्थामें इसके उत्पन्न होनेके कारण लज्जावश इसे एक छोटेसे घड़ेमें रखकर बमीठेके (वल्मीक) गढ़ेमें फेंक दिया था। इसकी वजहसे इसके हाथपैर टूट गए; आँखें फूट गईं और चींटियोंने इसे अपना भक्ष्य बनाना शुरु किया। इस अवसरपर अश्विना और इन्द्रके मनमें करुणा उत्पन्न हुई और उन्होंने इसे बचाया। इन की कृपासे इसके सभी अवयव पूर्ववत् स्थिर हुए और उसी बमीठेके सर्पकी सहायतासे यह परावृक्त ऊपरभी आया। यह कथा ४·१९·९ में दी गई है। दूसरे मण्डलके २·१३·१२ तथा २।१५।७ इन दो ऋचाओंके साथ साथ प्रस्तुत सूक्तकी १९ वीं ऋचाके **जहिता** शब्दके आधारपर वहाँके **अन्ध** तथा **श्रोण** दोनों परावृज् के ही विशेषण दिखाई देते हैं; ये दो भिन्न व्यक्ति नहीं मालूम होते। १९ वीं ऋचाका **द्वा** शब्द भी दो पूर्ववर्तिनी ऋचाओंके द्वन्द्वोंके सन्दर्भमें आया हुआ मालूम होता है। फिर भी **दे. ऋ.** १९ की टिप्पणी। **उक्थेषु आभजत्** इन्द्र के पराक्रमोंके वर्णनमें उन व्यक्तियोंके नाम तो आते हैं, जिन्हें उसकी सुरक्षाका लाभ प्राप्त हुआ। इस विषयमें यह एक कविकृत कल्पना है। इस तरहके वर्णन अन्यत्र भी (२·१३·१२; ३·३३·८ और १०·४९·८) पाए जाते हैं।]

१७. और इस अनुभवी इन्द्रने, इस शक्तिके स्वामीने, तुर्वश तथा यदु इन दो राजाओंको उनके शरीरपर जलका स्पर्श न होते हुए नदीके पार पहुँचाया।

[**अस्नातारा** दे. **अस्नातृनपारयत् स्वस्ति** २·१५·५। अर्थ है–'बिना देह को भिगोए उन्हें नदीके पार पहुँचाया'।]

१८. और हे इन्द्र, (हमारे) आर्य वर्णीय (शत्रु) अर्ण तथा चित्ररथ इन दोनोंको भी तुमने शरयुके उस पार (किनारेपर) पीटकर उनकी हड्डी पसली ठीक कर दी।

अनु॒ द्वा ज॑हि॒ता न॑यो॒ऽन्धं श्रो॒णं च॑ वृत्रहन्। न तत्ते॑ सु॒म्नमष्ट॑वे ॥ १९ ॥

अनु॑। द्वा। ज॒हि॒ता। न॒यः॒। अ॒न्धम्। श्रो॒णम्। च॒। वृ॒त्र॒ऽह॒न्। न। तत्। ते॒। सु॒म्नम्। अष्ट॑वे ॥ १९॥

श॒तम॑श्म॒न्मयी॑नां पु॒रामिन्द्रो॒ व्यास्य॑त्। दिवो॑दासाय दा॒शुषे॑ ॥ २० ॥

श॒तम्। अ॒श्म॒न्ऽमयी॑नाम्। पु॒राम्। इन्द्रः॑। वि। आ॒स्य॒त्। दिवः॑ऽदासाय। दा॒शुषे॑ ॥२०॥

अस्वा॑पयद्द॒भीत॑ये स॒हस्रा॑ त्रिं॒शतं॑ ह॒थैः। दा॒साना॒मिन्द्रो॑ मा॒यया॑ ॥ २१ ॥

अस्वा॑पयत्। द॒भीत॑ये। स॒हस्रा॑। त्रिं॒शत॑म्। ह॒थैः॑। दा॒साना॑म्। इन्द्रः॑। मा॒यया॑ ॥ २१ ॥

स घेदु॒तासि॑ वृत्रहन्त्समा॒न इ॑न्द्र॒ गोप॑तिः। यस्ता विश्वा॑नि चिच्यु॒षे ॥ २२ ॥

सः। घ॒। इत्। उ॒त। अ॒सि॒। वृ॒त्र॒ऽह॒न्। स॒मा॒नः। इ॒न्द्र॒। गोऽप॑तिः।
यः। ता। विश्वा॑नि। चि॒च्यु॒षे ॥ २२ ॥

[**आर्या—अर्ण** और **चित्ररथ** आर्य थे; किन्तु उन्होंने अनार्योंके साथ मित्रताकी स्थापना की। इसलिये इन्द्रने उनका वध किया। इस तरहके लोगोंका उल्लेख ५·१२·५ में भी पाया जाता है।]

१९. हे वृत्रहन्ता (इन्द्र), उन परित्यक्त अन्धे तथा लूले दो पुरुषोंको तुम मार्गदर्शन करके ले गये। तुम्हारे इस अनुग्रहका अनुकरण करना अन्य देवोंके लिए असंभव है।

[**द्वा……अन्धं श्रोणं च**–दे. ऋ. १६ की टिप्पणी। फिर भी ८·७९·२ तथा १०·२५·११ के आधारपर **अन्ध** तथा **श्रोण** दो भिन्न व्यक्ति मालूम होते हैं। उक्त **दोनों** स्थानोंपर उनके शारीरिक व्यंगको दूर करके उन्हें सहायता देनेवाला देव है सोम। प्रस्तुत ऋचाके **अनु नयः** के आधारपर यह संभव है कि कविका अभिप्राय यह भी हो कि इन्द्रने उनकी प्रत्यक्ष रूपमें सहायता नहीं की, सिर्फ़ पारस्परिक सहायताके लिए प्रेरित करके उनका मार्गदर्शन किया। यदि यह सच है तो इसे सांख्योंके सुविदित अन्ध–पङ्गु न्यायका मूल स्रोत मानना पड़ेगा।]

२०. दानवीर दिवोदासके लिए इन्द्रने सैंकड़ों शिलामय दुर्गोंका विध्वंस किया।

२१. दभीतिके लिए अपनी मायाशक्तिसे तथा शस्त्रोंसे इन्द्रने तीस सहस्र वीरोंको युद्ध-भूमिपर सुला दिया।

[धुनि और चुमुरि दो दासोंके नेता दभीति नामक ऋषिके शत्रु थे। इनका उल्लेख ऋग्वेदके दूसरे, छठवें सातवें और दसवें मण्डलमें पाया जाता है। तीस हजार दास इनके अनुयायी थे। इनका वध करके इन्द्रने अपनी मायासे इनके नेताओंको दीर्घ निद्रा लेनेपर विवश किया। यह दीर्घ निद्रा वास्तवमें मृत्यु ही है; किन्तु **मायया** शब्दसे यह मोहनिद्रा ही मालूम होती है। इस विषयमें ७·१९·४ में प्रयुक्त **सुहन्तु** पदसे दिखाई देता है कि इन्द्रकी मायासे मूर्च्छित योद्धाओंका काम तमाम करना दभीति ऋषिके वीरोंके लिए आसान ही सिद्ध हुआ होगा। दे. भ. गी. ११·३३–३४·।]

२२. और, हे वृत्रहन्ता, सभी (अति स्थिर वस्तुओं) में भी कम्पन पैदा कर देनेवाले तुम सर्वत्र (लोगोंके) अनन्यसाधारण गोस्वामी हो।

उत नूनं यदिन्द्रियं करिष्या इन्द्र पौंस्यम् । अद्या नकिष्टदा मिनत् ॥ २३ ॥
उत । नूनम् । यत् । इन्द्रियम् । करिष्याः । इन्द्र । पौंस्यम् ।
अद्य । नकिः । तत् । आ । मिनत् ॥ २३ ॥

वामंवामं त आदुरे देवो ददात्वर्यमा ।
वामं पूषा वामं भगो वामं देवः करूळती ॥ २४ ॥
वामम्ऽवामम् । ते । आऽदुरे । देवः । ददातु । अर्यमा ।
वामम् । पूषा । वामम् । भगः । वामम् । देवः । करूळती ॥ २४ ॥

---

२३. और आज भी जो जो तुम्हारे पौरुषके, तथा इन्द्रके योग्य कर्म तुम करोगे, उनमें रुकावट डालनेकी किसी की हिम्मत नहीं है ।

२४. हे शत्रुओंके विदारणकर्ता (इन्द्र), अर्यमा, पूषा, भग तथा करूळती ये देव अपने अपने अधिकारमें रहा हुआ हर एक प्रकारका धन तुम्हें (हमें देनेके लिए) समर्पित करें ।

[**आदुरे** (आ + √दृ – दर्ति) 'हे संहारक' दे. **आ पृत्सु दर्षि** वृत्राणि ६·३३·३ तथा **आ दर्षते सप्त दानून्** १०·१२०·६ । **करूळती**-सामान्य रुपसे इसे पूषाका विशेषण माना जाता है। किन्तु पादभेदके तथा **वामं** शब्दके दुहराए जानेके आधारपर यह कोई अलग ही देवता मालूम होता है। 'टूटे दातों-वाला या भग्नदन्त, दन्तहीन' (**अदत्**) यह विशेषण अग्निके लिए भी १०·७९·६ में दिया गया है। इसके आधारपर यह कहना संभव है कि यह करूळती देवता अग्नि ही हो ।]

३४

४·३३·१–११ वामदेवः ॥ ऋभवः ॥ त्रिष्टुप् ॥

प्र ऋभुभ्यो दूतमिव वाचमिष्य उपस्तिरे श्वैतरीं धेनुमीळे ।
ये वातजूतास्तरणिभिरेवैः परि द्यां सद्यो अपसो बभूवुः ॥ १ ॥

प्र । ऋभुऽभ्यः । दूतम्ऽइव । वाचम् । इष्ये । उपऽस्तिरे । श्वैतरीम् । धेनुम् । ईळे ।
ये । वातऽजूताः । तरणिऽभिः । एवैः । परि । द्याम् । सद्यः । अपसः । बभूवुः ॥ १ ॥

यदारमक्रन्नृभवः पितृभ्यां परिविष्टी वेषणा दंसनाभिः ।
आदिद्देवानामुप सख्यमायन् धीरासः पुष्टिमवहन् मनायै ॥ २ ॥

यदा । अरम् । अक्रन् । ऋभवः । पितृऽभ्याम् । परिऽविष्टी । वेषणा । दंसनाभिः ।
आत् । इत् । देवानाम् । उप । सख्यम् । आयन् । धीरासः । पुष्टिम् । अवहन् । मनायै ॥२॥

१. वायुके समान वेगवाले जिन कारीगरोंने अपनी कर्तृत्वशील प्रवृत्तियोंके द्वारा शीघ्र ही स्वर्गकी प्राप्ति कर ली उन ऋभुओंकी ओर मैं अपना दूत-सदृश स्तुतिवचन भेज देता हूँ। (तथा सोमरसमें) मिलानेके लिए अत्यन्त धवलवर्ण धेनुकी भी मैं प्रार्थना करता हूँ।

[**श्वैतरीं धेनुम्** शुभ्रवर्ण दुधारु गाय याने गायका शुभ्र दूध। **उपस्तिरे** (चतुर्थी तुमन्त)। दूधको ९·६२·२८ में **शुक्राम् उपस्तिरम्** कहा गया है; किन्तु ९·६९·५ में सोमरसमें मिलाए जानेवाले जलको ही **उपस्तरण** कहा गया है। सोमरसके लिए शय्याके रूपमें उसमें दूध तथा पानी मिलानेकी कल्पना है। **वातजूताः** (वात इव जूताः–दे. ४·१७·१२; ९·९७·५२)-अर्थ है 'वायुकी तरह वेगवान्'। **अपसः** हेतुगर्भ विशेषण है। अपने उच्च कोटिके कौशलके सहारे उन्होंने (ऋभुओंने) देवत्व तथा देवोंकी मित्रता को प्राप्त किया।]

२. जिस समय ऋभुओंने अपनी अनुवृत्ति, शुश्रूषा और अद्भुत सामर्थ्य से अपने माता-पिताओंको सुख प्रदान किया उस समय शीघ्र ही उन्हें देवोंका मित्रत्व प्राप्त हो गया। इन प्रतिभाशाली देवोंने हमारे इस स्तोत्रको विशिष्ट ऐश्वर्यका लाभ करा दिया है।

[**परिविष्टी** तथा **वेषणा** दोनों तृतीयान्त शब्द हैं; ये √विष्, 'काम करना' इस धातुसे बनाए गये हैं। प्रस्तुत ऋचाके साथ तीसरी ऋचामें ऋभुओंद्वारा अपनी माता एवं पिताको पुनः यौवन प्रदान करने तथा उसीके कारण देवोंके साथ गहरी मित्रताको प्राप्त करनेका उल्लेख है। **मना** (√मन्)–'प्रार्थनात्मक स्तुति' **दे. मनायु** 'स्तोता' १·९२·९, ४·२७·७ (नामधातुसे बनाया गया विशेषण)। यह शब्द 'संताप-युक्त विचार' के अर्थमें २·३३·५ में प्रयुक्त हुआ है।]

पुनर्ये चक्रुः पितरा युवाना सना यूपेव जरणा शयाना ।
ते वाजो विभ्वाँ ऋभुरिन्द्रवन्तो मधुप्सरसो नोऽवन्तु यज्ञम् ॥ ३ ॥

पुनः । ये । चक्रुः । पितरा । युवाना । सना । यूपाऽइव । जरणा । शयाना ।
ते । वाजः । विऽभ्वा । ऋभुः । इन्द्रऽवन्तः । मधुऽप्सरसः । नः । अवन्तु । यज्ञम् ॥ ३ ॥

यत् संवत्समृभवो गामरक्षन् यत् संवत्समृभवो मा अपिंशन् ।
यत् संवत्समभरन् भासो अस्यास्ताभिः शमीभिरमृतत्वमाशुः ॥ ४ ॥

यत् । सम्ऽवत्सम् । ऋभवः । गाम् । अरक्षन् । यत् । सम्ऽवत्सम् । ऋभवः । माः । अपिंशन् ।
यत् । सम्ऽवत्सम् । अभरन् । भासः । अस्याः । ताभिः । शमीभिः । अमृतऽत्वम् । आशुः ॥४॥

ज्येष्ठ आह चमसा द्वा करेति कनीयान् त्रीन् कृणवामेत्याह ।
कनिष्ठ आह चतुरस्करेति त्वष्ट ऋभवस्तत् पनयद्वचो वः ॥ ५ ॥

ज्येष्ठः । आह । चमसा । द्वा । कर । इति । कनीयान् । त्रीन् । कृणवाम । इति । आह ।
कनिष्ठः । आह । चतुरः । कर । इति । त्वष्टा । ऋभवः । तत् । पनयत् । वचः । वः ॥५॥

३. अपने जराजीर्ण, अतिवृद्ध, (तोड़कर सुखानेके लिए रखे हुए) यूपकी तरह (भूमिपर) पड़े हुए पिता एवं माताको जिन्होंने पुनः यौवन प्रदान किया, वे इन्द्रके साथी, मधुर अन्नके भोक्ता, वाज, विभ्वन् और ऋभु हमारे यज्ञपर अनुग्रह करें ।

[**सना–जरणा** इन विशेषणोंको सिर्फ़ उपमानसे, 'पितरा' से संबद्ध मानना समीचीन होगा । **यूपा** 'हाल ही में काटकर सुखानेके लिए ज़मीनपर रखे गए लकड़ियोंके कुन्दे' । **शयाना** साधारण धर्म है दे.३·८·७। **प्सरस्** (√प्सा–खाना) याने 'अन्न' । सोमको ऋग्वेद ९·२·२ तथा ९·७४·३ में **महि प्सरः** कहा गया है। साथ साथ ऋ. १·४१·७ में लक्षणाकी सहायतासे स्तोमको वरुणका **महि प्सरः** माना गया है।]

४. जिस समय एक वर्षतक ऋभुओंने उस गायकी रक्षा की, सालभर (उसकी हड्डियोंपर मांस बढ़ाया और सालभर) उसमें जीवन-ज्योति भरी, उस समय उन्होंने अपनी कर्तृत्वशक्तियोंसे स्वयं अमृतत्व प्राप्त कर लिया ।

[**मास्** (नपुं.) **अपिंशन्**–'मांससे लीप लिया' [शोभाके लिए; शक्तिके संचारके लिए] । **भासस्** (नपुं.) (धातु **भास्**) – 'तेज', यहाँ 'प्राणरुपी तेज' । **शमी**– 'कर्तृत्व, कार्य', । **अमृतत्वमाशुः** 'मूलतः ये मर्त्य थे; अपने कर्तृत्वके कारण उन्होंने देवत्व प्राप्त किया'। दे.–**मर्तासः सन्तो अमृतत्वमानशुः** १·११०·४; ३·६०·३ ऋग्वेद १·११०·८ तथा १·१६१·६ और ७ के आधारपर कहा जा सकता है कि प्रस्तुत ऋचामें जिस गायका उल्लेख है उसका निर्माण ऋभुओंने सिर्फ़ सूखे चमड़ेसे किया और वह भी बृहस्पतिके लिए । दे. ऋचा ८ ।]

५. (तुम्हारे) सबसे बड़े भाईने कहा—मैं (इस एक पानपात्रसे) दो पानपात्र बनाऊँगा । उससे छोटे भाईने कहा–मैं तीन करूँगा । सबसे छोटे भाईने कहा–मैं चार करूँगा । हे ऋभुओ, त्वष्टाने तुम्हारे इस बातका कौतुकसे स्वागत किया ।

सत्यमूचुर्नर एवा हि चक्रुरनु स्वधामृभवो जग्मुरेताम् ।
विभ्राजमानांश्चमसाँ अहेवावेनत्त्वष्टा चतुरो ददृश्वान् ॥ ६ ॥

सत्यम् । ऊचुः । नरः । एव । हि । चक्रुः । अनु । स्वधाम् । ऋभवः । जग्मुः । एताम् ।
विऽभ्राजमानान् । चमसान् । अहाऽइव । अवेनत् । त्वष्टा । चतुरः । ददृश्वान् ॥ ६ ॥

द्वादश द्यून् यदगोह्यस्यातिथ्ये रणन्नृभवः ससन्तः ।
सुक्षेत्राकृण्वन्ननयन्त सिन्धून् धन्वातिष्ठन्नोषधीर्निम्नमापः ॥ ७ ॥

द्वादश । द्यून् । यत् । अगोह्यस्य । आतिथ्ये । रणन् । ऋभवः । ससन्तः ।
सुऽक्षेत्रा । अकृण्वन् । अनयन्त । सिन्धून् । धन्व । आ । अतिष्ठन् । ओषधीः । निम्नम् । आपः ॥ ७ ॥

[इन दो ऋचाओंकी कथाको १·१६१·१–५ में विस्तारसे कहा गया है । ऋभुओंने अग्निके मुखसे सुन लिया कि एक प्यालेसे चार प्यालोंका निर्माण करनेके उपरान्त देव उन्हें यज्ञके हविर्भागका अधिकारी बनाएंगे । ऋभुओंने इसे मंजूर कर लिया । देवोंके शिल्पकार त्वष्टा इसमें विश्वास नहीं रख पाए । जब ऋभुओंने इस अद्भुत कार्यको यथार्थमें संपन्न किया तब पहले पहल तो उसे उनपर ईर्ष्या हुई और वह उन्हें मारनेके लिए प्रस्तुत हुआ; परन्तु बादमें उनकी कलाके अनुपम कौशलको देखकर वह उनपर बहुत ही प्रसन्न हुआ ।]

६. इन पुरुषोंने अमोघ वचनका उच्चारण किया तथा उसी प्रकारसे अपना कहना सिद्ध करके दिखाया । (इस समय)–ऋभुओंने स्वयं अपनी स्वतन्त्र बुद्धिकाही अनुसरण किया । (फिर तो) दिनोंके समान तेजस्वी (एक पानपात्रसे ही) चार पानपात्र (बनाये गये)। इसे देखकर त्वष्टा सन्तुष्ट हो गया ।

[**सत्यमूचुः** का कारणसहित विवरण **एवा हि चक्रुः** में विद्यमान है। भाव है–वही व्यक्ति यथार्थमें सत्यवादी है जिसकी करनी कथनीके समान हो । **एतां स्वधाम् अनु जग्मुः** इस तरहका अन्वय कर लेना उचित।]

७. अगोह्यका आतिथ्य स्वीकार करके उसके घरमें बारह दिन तक ये ऋभु आनन्दसे सो गये । (अनन्तर) इन्होंने (उसकी भूमिको) फसल पैदा करनेवाले खेतमें परिवर्तित किया। और उनमें नदियोंकी नहर भी छोड़ दी । उससे ऊँची जगहपर पेड़ बड़े हो गये और गहरे स्थान पानीसे भर गये ।

[अगोह्यकी कथा विस्तारके साथ ऋग्वेदमें १·११०·२,३ तथा १·१६१·११–१३ में आयी है। इन दोनोंमेंसे पहले प्रसङ्गकी ओर ध्यान देनेसे अगोह्य और सवितृ एक दिखाई देते हैं।]

रथं ये चक्रुः सुवृतं नरेष्ठां ये धेनुं विश्वजुवं विश्वरूपाम् ।
त आ तक्षन्त्वृभवो रयिं नः स्ववसः स्वपसः सुहस्ताः ॥ ८ ॥
रथम् । ये । चक्रुः । सुऽवृतम् । नरेऽस्थाम् । ये । धेनुम् । विश्वऽजुवम् । विश्वऽरूपाम् ।
ते । आ । तक्षन्तु । ऋभवः । रयिम् । नः । सुऽअवसः । सुऽअपसः । सुऽहस्ताः ॥ ८ ॥
अपो ह्येषामजुषन्त देवा अभि क्रत्वा मनसा दीध्यानाः ।
वाजो देवानामभवत् सुकर्मेन्द्रस्य ऋभुक्षा वरुणस्य विभ्वा ॥ ९ ॥
अपः । हि । एषाम् । अजुषन्त । देवाः । अभि । क्रत्वा । मनसा । दीध्यानाः ।
वाजः । देवानाम् । अभवत् । सुऽकर्मा । इन्द्रस्य । ऋभुक्षाः । वरुणस्य । विऽभ्वा ॥ ९ ॥
ये हरी मेधयोक्था मदन्त इन्द्राय चक्रुः सुयुजा ये अश्वा ।
ते रायस्पोषं द्रविणान्यस्मे धत्त ऋभवः क्षेमयन्तो न मित्रम् ॥ १० ॥
ये । हरी इति । मेधया । उक्था । मदन्तः । इन्द्राय । चक्रुः । सुऽयुजा । ये । अश्वा ।
ते । रायः । पोषम् । द्रविणानि । अस्मे इति । धत्त । ऋभवः । क्षेमऽयन्तः । न । मित्रम् ॥ १० ॥

८. जिन ऋभुओंने वीरोंकी (अश्विनोंकी) सेवामें उपस्थित रहनेवाला तथा सुखसे चलनेवाला रथ निर्माण किया, जिन्होंने सर्व रूपोंसे युक्त तथा सभीको उत्साह देनेवाली गायका (बृहस्पतिके लिए) निर्माण किया, वे उत्तम साहाय्य देनेवाले, उत्तम कारीगर कुशल हाथवाले ऋभु हमारे लिए संपत्तिका निर्माण करें ।

[**नरेष्ठाम्**—' वीरके पास (नरे–सप्तमी) रहनेवाला ' । यहाँ वीर हैं अश्विना । **विश्वजुवं धेनुम्**—यही बृहस्पतिकी गाय ऊपर ऋ. ४ में वर्णित है ।]

९. क्योंकि मनमें विचार करनेपर तथा स्वबुद्धिसामर्थ्यसे देवोंको इनका कार्य अत्यन्त पसन्द आया । वाजने देवोंके लिए, ऋभुक्षाने इन्द्रके लिए तथा विभ्वाने वरुणके लिए उत्तम कार्य किये ।

[**क्रत्वा मनसा** ' बुद्धि और विचारके सहारे ' याने केवल बुद्धिकी ही नहीं; अपि तु विचारकी कसौटीपर कसकर । उत्तरार्धमें तीन ऋभुओंका अलग अलग तीन देवोंसे संबन्ध बतलाया गया है । इसका कोई विशेष प्रयोजन नहीं है; इसे कविका कथनकौशल ही मानना उचित होगा ।]

१०. जिन्होंने अपनी बुद्धिसे तथा हमारे स्तोत्रोंसे प्रसन्न होकर इन्द्रके लिए सुखसे जोते जानेवाले तथा सुवर्णवर्णके दो अश्व निर्माण किये, वे तुम हो । हे ऋभुओ, जिस प्रकार सुखसे निवास चाहनेवाले पुरुष (अपने पड़ोसियोंको) सौहृद समर्पित करते हैं, उसी प्रकार तुम हमें प्रभूत संपत्ति तथा नाना प्रकारके द्रव्य प्रदान करो ।

[इन्द्रके लिए ऋभुओंने घोड़ोंका निर्माण किया । **मित्रं धत्त** दे. १०·१०८·३ । मित्र याने मित्रत्व अथवा सखा । **क्षेमयन्तः** दे. **क्षेष्यन्तो न मित्रम्** २·४·३ । **उक्था मदन्तः** मद् धातुके संबन्धमें कर्म द्वितीया तथा तृतीया के साथ साथ सप्तमीमें भी रखा जा सकता है ।]

इदाह्नः पीतिमुत वो मदं धुर्न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः ।
ते नूनमस्मे ऋभवो वसूनि तृतीये अस्मिन्त्सवने दधात ॥ ११ ॥

इदा । अह्नः । पीतिम् । उत । वः । मदम् । धुः । न । ऋते । श्रान्तस्य । सख्याय । देवाः ।
ते । नूनम् । अस्मे इति । ऋभवः । वसूनि । तृतीये । अस्मिन् । सवने । दधात ॥ ११ ॥

११. देवोंने दिनके इस मुहूर्तपर तुम्हारा सोमपान तथा (तज्जन्य) आनन्द निर्धारित किया है । परिश्रम करनेवाले पुरुषोंको छोड़कर अन्यत्र देव सौहृद नहीं रखते । हे ऋभुओ, ऐसे तुम इस तृतीय सवन के समय हमें सम्पत्ति प्रदान करो ।

[**इदा** (=इदानीं) अह्नः दे. ४·५४·१ । दूसरे पादका अन्वय यों करें–**श्रान्तस्य (सख्यात्)** **ऋते** (अन्यस्मै) **सख्याय देवाः न** (तिष्ठन्ति) । इसी अर्थको व्यक्त करनेवाले वचन हैं **न मृषा श्रान्तं यदवन्ति देवाः** १·१७९·३ तथा **यद्वः श्रान्ताय सुन्वते वरूथमस्ति** ८·६७·६ । इन तीनों स्थानोंपर **श्रम्** धातुका अर्थ है ' अच्छे कार्यके लिए श्रम करना ' । परन्तु कभी कभी इस धातुको ' नाहक श्रम करने ' के अर्थमें भी प्रयुक्त किया गया है–दे. २·२९·४; ८·४·७ ।]

३५

४·४६·१–७ वामदेवः ॥ १ वायुः । २–७ इन्द्रवायू ॥ गायत्री ॥

अग्रं पिबा मधूनां सुतं वायो दिविष्टिषु । त्वं हि पूर्वपा असि ॥ १ ॥

अग्रम् । पिब । मधूनाम् । सुतम् । वायो इति । दिविष्टिषु । त्वम् । हि । पूर्वऽपाः । असि ॥१॥

शतेना नो अभिष्टिभिर्नियुत्वाँ इन्द्रसारथिः । वायो सुतस्य तृम्पतम् ॥ २ ॥

शतेन । नः । अभिष्टिऽभिः । नियुत्वान् । इन्द्रऽसारथिः । वायो इति । सुतस्य । तृम्पतम् ॥२॥

आ वां सहस्रं हरय इन्द्रवायू अभि प्रयः । वहन्तु सोमपीतये ॥ ३ ॥

आ । वाम् । सहस्रम् । हरयः । इन्द्रवायू इति । अभि । प्रयः । वहन्तु । सोमऽपीतये ॥ ३ ॥

रथं हिरण्यवन्धुरमिन्द्रवायू स्वध्वरम् । आ हि स्थाथो दिविस्पृशम् ॥ ४ ॥

रथम् । हिरण्यऽवन्धुरम् । इन्द्रवायू इति । सुऽअध्वरम् । आ । हि । स्थाथः । दिविऽस्पृशम् ॥४॥

१. यज्ञोंके समय पीसकर निचोड़े हुए इस सोमरसका मधुर पेयोंमें सर्वश्रेष्ठ इस पेयका, हे वायो, तुम पान करो । कारण तुम ही इसका प्रथम पान करनेवाले हो ।

[पहली ऋचामें केवल वायु ही देवता है, किन्तु दूसरी ऋचामें वायु प्रमुख और इन्द्र गौण देवता है । **अग्रम्** में श्लेष अभिप्रेत है । एक बार संज्ञाके रूपमें तो दूसरी बार उसे क्रियाविशेषणके रूपमें मानना उचित होगा । (अन्वय–मधूनाम् अग्रम् अग्रं पिब) ।]

२. हे वायो, अपनी घोड़ियोंको जोतकर इन्द्रके साथ एक ही रथमें सैकड़ों प्रकारोंका साहाय्य साथ लेकर यहाँ आओ; तथा पीसकर निचोड़े हुए इस सोमरसका तुम दोनों तबतक पान करो जबतक तुम तृप्त हो जाओ ।

[**सारथि**—'समान रथपर स्थित योद्धा' । **नियुत्वान्**–ऋग्वेदमें प्रायः सर्वत्र **नियुत्** (नि+ √युं) शब्द श्लेषके साथ प्रयुक्त हुआ है; एक अर्थ है 'घोड़ोंका मालिक; दूसरा है 'स्तुतियोंका स्वामी' । **तृम्पतम्**–इस द्विवचनसे 'इन्द्र' पदका अध्याहार सूचित है ।]

३. हे इन्द्र और वायो, सोमपान करनेके लिए तुम्हें तुम्हारे सहस्र अश्व इस प्रीतिप्रद हव्यके पास लेकर आयें ।

४. कारण, हे इन्द्र और वायो, सुवर्णमय आसनवाले, यज्ञोंके अनुकूल, तथा स्वर्गलोकमें भ्रमण करनेवाले अपने रथपर तुम आरोहण करते हो ।

रथेन पृथुपाजसा दाश्वांसमुप गच्छतम् । इन्द्रवायू इहा गतम् ॥ ५ ॥

रथेन । पृथुऽपाजसा । दाश्वांसम् । उप । गच्छतम् । इन्द्रवायू इति । इह । आ । गतम् ॥ ५ ॥

इन्द्रवायू अयं सुतस्तं देवेभिः सजोषसा । पिबतं दाशुषो गृहे ॥ ६ ॥

इन्द्रवायू इति । अयम् । सुतः । तम् । देवेभिः । सऽजोषसा । पिबतम् । दाशुषः । गृहे ॥६॥

इह प्रयाणमस्तु वामिन्द्रवायू विमोचनम् । इह वां सोमपीतये ॥ ७ ॥

इह । प्रऽयानम् । अस्तु । वाम् । इन्द्रवायू इति । विऽमोचनम् । इह । वाम् । सोमऽपीतये ॥७॥

५. हे इन्द्र और वायो, अपने विपुल तेजसे संयुक्त रथके साथ हमारे दानशील यजमानके पास उपस्थित रहो । तथा हमारे यहाँ भी आओ ।

६. हे इन्द्र और वायो यह सोमरस निचोड़कर तैयार रक्खा है । समस्त देवोंको साथ लेकर हमारे दानशील यजमानके गृहमें (प्रविष्ट होकर) इसका प्राशन करो ।

७. हे इन्द्र और वायो, सोमपान के लिए तुम दोनोंका प्रयाण, तथा घोड़ोंको (विश्राम के लिए) बन्धमुक्त करना ये सभी इसी स्थानपर हो जायँ ।

[**विमोचनम्**—वि+√मुच्- ' घोड़ोंको मुक्त करना' । यह दीर्घ विरामका, विश्रान्तिका द्योतक है] ऋग्वेदमें प्रायः **तिष्ठ, वि+मुच्, नि+विश्** ये धातु क्रमशः अल्प, दीर्घ एवं रातभरकी विश्रान्तिके द्योतक हैं ।

३६

४·५०·१–११ वामदेवः ॥ १-९ बृहस्पतिः । १०·११ इन्द्राबृहस्पती ॥
१–९·११ त्रिष्टुप् ॥ १० जगती ॥

साधारणतया इस सूक्तके तीन विभाग माने जा सकते है । पहले विभागमें (ऋचा १ से ६ तक) बृहस्पतिके उस पराक्रमका ही वर्णन है जिससे वे वलके कारागारसे देवोंकी गायोंको मुक्त कर पाए। इसमें असलमें युद्ध करनेवाले वीर थे इन्द्र; किन्तु इनके नामका भी इन ऋचाओंमें उल्लेख नहीं है। दूसरे विभागमें इहलोकके युद्धोंमें तथा और अवसरोंपर बृहस्पतिके पार्थिव प्रतिनिधिकी, राजपुरोहितकी, महिमाको राजाओंके हृदयोंपर अङ्कित करनेका प्रयत्न है। तीसरे विभागमें याग या यज्ञ के स्थलपर सोमपानके लिए प्रधान रूपसे बृहस्पतिको और उसके साथ इन्द्रको निमंत्रित किया गया है।

यस्तुस्तम्भ सहसा वि ज्मो अन्तान् बृहस्पतिस्त्रिषधस्थो रवेण ।
तं प्रत्नास ऋषयो दीध्यानाः पुरो विप्रा दधिरे मन्द्रजिह्वम् ॥ १ ॥

यः । तस्तम्भ । सहसा । वि । ज्मः । अन्तान् । बृहस्पतिः । त्रिऽसधस्थः । रवेण ।
तम् । प्रत्नासः । ऋषयः । दीध्यानाः । पुरः । विप्राः । दधिरे । मन्द्रऽजिह्वम् ॥ १ ॥

धुनेतयः सुप्रकेतं मदन्तो बृहस्पते अभि ये नस्ततस्रे ।
पृषन्तं सृप्रमदब्धमूर्वं बृहस्पते रक्षतादस्य योनिम् ॥ २ ॥

धुनऽइतयः । सुऽप्रकेतम् । मदन्तः । बृहस्पते । अभि । ये । नः । ततस्रे ।
पृषन्तम् । सृप्रम् । अदब्धम् । ऊर्वम् । बृहस्पते । रक्षतात् । अस्य । योनिम् ॥ २ ॥

---

१. तीन ही लोकमें निवास करनेवाले जिस बृहस्पतिने अपनी सामर्थ्य तथा सिंहगर्जना से पृथिवीके अन्तोंको एक दूसरेसे पृथक् कर रखा, उस सरस रसनावाले बृहस्पतिको उन पुरातन ऋषियोंने तथा कवियोंने अपने सभी लोगोंका नेता निश्चित रूपसे मान लिया।

[**वि-तस्तम्भ** ' भिन्न भिन्न स्थानोंपर रोक कर रखा '। **त्रिषधस्थः** – वह जिसके आश्रयस्थान तीन (स्वर्ग, अन्तरिक्ष, तथा पृथिवी) हों। इस उद्देश्यसे अग्नि, सोम, विष्णु, तथा सरस्वती इन सभीको **ऋग्वेदमें त्रिषधस्थ** कहा गया है। **रवेण-रव** अथवा **विरव** शब्दका अभिप्राय प्रायः ' मन्त्रके उच्चारणके ध्वनि ' से होता है। बृहस्पतिके शस्त्रागारका यह एक प्रमुख शस्त्र है। दे. ऋचा ४ तथा ५ और साथ साथ १०·६८·८। **प्रत्नासः ऋषयः विप्राः** याने अङ्गिरस ऋषि; बृहस्पति इनके नेता हैं।]

२. हे बृहस्पते, जिन्होंने हमारे चित्रविचित्र वर्ण, चञ्चल तथा अजेय (धेनुओंके) झुण्डके लिये अपने ध्वज खड़े किये, वे (पुरातन अङ्गिरस ऋषि) अपनी दौड़से (आकाशको)

बृहस्पते या परमा परावदत आ ते ऋतस्पृशो नि षेदुः।
तुभ्यं खाता अवता अद्रिदुग्धा मध्वः श्चोतन्त्यभितो विरप्शम् ॥ ३ ॥

बृहस्पते। या। परमा। पराऽवत्। अतः। आ। ते। ऋतऽस्पृशः। नि। सेदुः।
तुभ्यम्। खाताः। अवताः। अद्रिऽदुग्धाः। मध्वः। श्चोतन्ति। अभितः। विऽरप्शम् ॥ ३ ॥

निनादित कर रहे हैं तथा (कैदमें रखी गायें) सहज रीतिसे पहचानी जायँ, इस लिये अपना उन्माद प्रकट कर रहे हैं। हे बृहस्पते, इस (गायोंके झुंण्डके) मूल स्थान की ध्यान से रक्षा करो।

[**धुना** = ध्वनन युक्त + **इतिः** = गमन है जिनका वे **धुनेतयः**। **धुनेतयः मदन्तः** (सन्ति) इसे मुख्य मानकर पहले दो या तीन पादोंका अन्वय एक साथ ही करें। अथवा पहले तीन पादोंसे एक उपवाक्य बना है यह मानकर ऋ. १ के **पुरो दधिरे** (ते त्वां पुरो दधिरे) से इसे सम्बद्ध करें। किन्तु प्रस्तुत ऋचामें कविने बृहस्पति तथा उसके अनुयायियों को याने अङ्गिरस ऋषियों को अपने मनकी आँखोंके सामने प्रत्यक्ष खड़ा किया है, इसकी ओर ध्यान देकर इस ऋचामें विद्यमान वाक्यको वर्तमान कालकी वाचक क्रिया (प्रत्यक्ष अथवा अध्याहृत) से जोड़ना अधिक युक्तियुक्त होगा। इसी पुरातन वलकी गुहामें (निरुद्ध) गायोंके समूहको कविने **अस्य** याने स्वयं उसके वर्तमानकालीन गायोंके समूहकी उत्पत्तिका स्रोत माना और बृहस्पतिके सामने प्रत्यक्ष प्रार्थना की कि वह उनकी सुरक्षा करे। **अभि नः ऊर्वं च ततस्रे** – ' हमारी और हमारी (गायोंके) समूहको तरफसे अपने ध्वजोंको फहराया '। **नः** में कवि पूर्वजोंके साथ अपनी एकताकी कल्पना कर रहा है। **अस्य** का सम्बन्ध कविके वर्तमानकालीन गायोंके समूहसे है। **योनिम्** – उत्पत्ति स्थान, यहाँ अभिप्राय वलके कारागारमें निरुद्ध गायोंका समूहमें। बृहस्पतिको मनकी आँखोंके सामने रखकर कवि प्रार्थना कर रहा है –" वलकी गुहामें निरुद्ध गौएं भविष्यमें सभी गायोंकी उत्पत्तिका स्रोत है, अतः उनकी सुरक्षा करो"। तीसरे पादको **अभिततस्रे** के स्थानपर **रक्षतात्** से भी अन्वित करना संभव है। ऐसा करनेसे पूर्वार्धमें एक वाक्य होगा–' **धुनेतयः सन्ति** ' और उत्तरार्धमें दूसरा वाक्य होगा–'**अस्य योनिं ऊर्वं रक्षतात्**'। **अभि + तंस्** का अर्थ है ' श्रेष्ठताके भावसे ध्वजको ऊपर उठाना, फहराना '। यहाँ **नः** का अभिप्राय होगा, 'हमारी ओरसे '। इसके विपरीत १०.८९.१५ के ' **शत्रूयन्तो अभि ये नस्ततस्रे** ' में, जैसा कि **शत्रूयन्तः** विशेषणसे स्पष्ट है, **नः** का अर्थ है ' हमारे विरुद्ध '। **अभि** उपसर्गसे प्रायः श्रेष्ठताका भाव सूचित होता है।]

३. हे बृहस्पते, अत्यन्त दूर बसे हुए अति दूर स्थानसे (यहाँ आकर) ये यज्ञ सम्पादन करनेवाले (अङ्गिरस ऋषि) तुम्हारे लिये (यज्ञ करनेके उद्देश्यसे) आसनोंपर विराजमान हुए हैं। खोदकर (सोमरससे) भरी ये खाइयाँ, पत्थरोंसे रगड़कर दोहित हुई हैं। इस लिये, मधुर सोमरसकी वर्षा चारों ओरसे गिरा हो है।

[इस ऋचामें भी कवि मनसे वलकालीन अतीतमें ही घूम रहा है। **ऋतस्पृशः** ' ऋतको याने यज्ञको स्पर्श करनेवाले' याने 'यज्ञको संपन्न करनेवाले'। **खाताः अवताः** ' खोद हुई रससे पूर्ण खाइयाँ '। सोमवल्लीपर यह एक रूपक है। इसीलिए इन्हें **अद्रिदुग्धाः** ' पाषाणोंकी सहायतासे दुहे गए ' कहा गया है। यहाँ **दुग्धाः** पदसे स्पष्ट है कि सोमवल्लीके टुकडोंपर गायके स्तनका आरोप भी कविके लिए अभिप्रेत है। अङ्गिरसोंके इस यज्ञका वर्णन ऋग्वेदमें अन्यत्र भी पाया जाता है।]

बृहस्पतिः प्रथमं जायमानो महो ज्योतिषः परमे व्योमन् ।
सप्तास्यस्तुविजातो रवेण वि सप्तरश्मिरधमत्तमांसि ॥ ४ ॥

बृहस्पतिः । प्रथमम् । जायमानः । महः । ज्योतिषः । परमे । विऽओमन् ।
सप्तऽआस्यः । तुविऽजातः । रवेण । वि । सप्तऽरश्मिः । अधमत् । तमांसि ॥ ४ ॥

स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन वलं रुरोज फलिगं रवेण ।
बृहस्पतिरुस्रिया हव्यसूदः कनिक्रदद्वावशतीरुदाजत् ॥ ५ ॥

सः । सुऽस्तुभा । सः । ऋक्वता । गणेन । वलम् । रुरोज । फलिऽगम् । रवेण ।
बृहस्पतिः । उस्रियाः । हव्यऽसूदः । कनिक्रदत् । वावशतीः । उत् । आजत् ॥ ५ ॥

एवा पित्रे विश्वदेवाय वृष्णे यज्ञैर्विधेम नमसा हविर्भिः ।
बृहस्पते सुप्रजा वीरवन्तो वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ६ ॥

एव । पित्रे । विश्वऽदेवाय । वृष्णे । यज्ञैः । विधेम । नमसा । हविःऽभिः ।
बृहस्पते । सुऽप्रजाः । वीरऽवन्तः । वयम् । स्याम । पतयः । रयीणाम् ॥ ६ ॥

~~~~~~

४. अत्युच्च स्वर्गलोकमें महान् तेजोवलयसे सर्व प्रथम जन्म ग्रहण करनेवाले सात मुखोंसे विराजित तथा सात रज्जुखण्डोंसे रोका जाय, इतने जन्मसे ही बलशाली बृहस्पतिने अपनी सिंहगर्जनासे अन्धकारोंको दूर भगा दिया।

[**सप्तास्यः** ' सात मुखोंवाला ' याने ' सातगुनी वक्तृता देनेवाले मुखवाला '। अर्थ है ' अत्यन्त कुशल या प्रभावी वक्ता '। **रवेण**– दे. ऋ. १ की टिप्पणी। **सप्तरश्मिः** वह जिसके लिए सात रस्सियाँ या सात लगाम आवश्यक हों ' याने अत्यन्त शक्तिमान्, ताक़तवर (वृषभ या बैल)। दे. २·१२·१२ जहाँ इन्द्रको **सप्तरश्मिः वृषभः** कहा गया है। **अधमत् तमांसि**–क्योंकि वह स्वयं ही एक बड़े तेजोगोलसे उत्पन्न हुआ है।]

५. उस बृहस्पतिने ऋचामें तथा स्तोत्रोंमें प्रवीण–(आङ्गिरस ऋषियोंके) गणकी सहायतासे तथा अपनी सिंहगर्जनासे शिलामय प्राकाररूपी वल नामके असुरका भेदन किया। और पुनः पुनः गर्जना करके, (सोमरूपी) हव्यको अपने दूधसे स्वादुता अर्पित करनेवालीं तथा बार बार रम्भानेवालीं गायोंको बाहर निकाला।

[**हव्यसूदः** – दे. **शुक्रमन्धो देववातं स्वदन्ति गावः पयोभिः** ९·६२·५। **वावशतीः** धातु है वाश्–'रँभाना'। यहाँ अर्थ होगा ' बृहस्पतिकी सिंह जैसी गर्जनाको प्रतिध्वनित करनेवाली ' दे.१·६२·३।]

६. इस प्रकार हम अपने सभी देवोंके इस प्रतिनिधि एवं पराक्रमी पिताका, यज्ञ, प्रणाम तथा हविर्द्रव्यों से पूजन करें। हे बृहस्पते, अच्छी सन्तान तथा वीर्यशाली अनुयायियों सहित हमें बहुविध संपदाके स्वामी होने दो।
~~~~~~

स इद्राजा प्रतिजन्यानि विश्वा शुष्मेण तस्थावभि वीर्येण ।
बृहस्पतिं यः सुभृतं बिभर्ति वल्गूयति वन्दते पूर्वभाजम् ॥ ७ ॥
सः । इत् । राजा । प्रतिऽजन्यानि । विश्वा । शुष्मेण । तस्थौ । अभि । वीर्येण ।
बृहस्पतिम् । यः । सुऽभृतम् । बिभर्ति । वल्गुऽयति । वन्दते । पूर्वऽभाजम् ॥ ७ ॥

स इत् क्षेति सुधित ओकसि स्वे तस्मा इळा पिन्वते विश्वदानीम् ।
तस्मै विशः स्वयमेवा नमन्ते यस्मिन् ब्रह्मा राजनि पूर्व एति ॥ ८ ॥
सः । इत् । क्षेति । सुऽधितः । ओकसि । स्वे । तस्मै । इळा । पिन्वते । विश्वऽदानीम् ।
तस्मै । विशः । स्वयम् । एव । नमन्ते । यस्मिन् । ब्रह्मा । राजनि । पूर्वः । एति ॥ ८ ॥

अप्रतीतो जयति सं धनानि प्रतिजन्यान्युत या सजन्या ।
अवस्यवे यो वरिवः कृणोति ब्रह्मणे राजा तमवन्ति देवाः ॥ ९ ॥
अप्रतिऽइतः । जयति । सम् । धनानि । प्रतिऽजन्यानि । उत । या । सऽजन्या ।
अवस्यवे । यः । वरिवः । कृणोति । ब्रह्मणे । राजा । तम् । अवन्ति । देवाः ॥ ९ ॥

[**विश्वदेव** यह बहुव्रीहि समास है – 'वह जिसके वशमें सभी देव हों'। ऋग्वेद ३·६२·४ में इस देवताको (बृहस्पतिको) 'विश्वदेव्य' कहा गया है; वहाँ इसके माने हैं 'वह जिससे सभी देव संबद्ध हों'। प्रस्तुत ऋचाका चौथा पाद ही ऋग्वेदके अन्य तीन (५·५५, ८·४०, १०·१२१) सूक्तोंकी अन्तिम ऋचाके अन्तिम पादके रूपमें आया है, परन्तु प्रस्तुत सूक्तके साथ साथ केवल ८·४८ में अन्तिम ऋचाके अन्तमें की गई प्रार्थनाके रूपमें आनेके स्थानपर मध्यवर्तिनी प्रार्थनाके रूपमें दिखाई देता है। प्रस्तुत सूक्तमें इस स्थानपर पादके समावेशका कारण संभवतः यह है कि सिर्फ बृहस्पतिकी स्तुति एवं प्रार्थना यहींपर समाप्त हुई है।]

७. सर्व प्रथम (गौरव) संपादन करनेवाले, तथा उत्तम (हविर्भागोंसे) सन्तुष्ट किए गए बृहस्पतिको जो राजा हविर्द्रव्य समर्पण करता है तथा उसका स्तवन और वन्दन करता है, वह शारीरिक बल तथा वीर्य से अपने सभी प्रकारके विरोधियोंकी (सामर्थ्यों) पर विजय प्राप्त कर लेता है।

[**विश्वा प्रतिजन्यानि** इसके बाद **धनानि** (दे॰ ऋ. ९) अथवा **महांसि** (दे. ५·२८·३) का अध्याहार करें। **सुभृतं** के माने हैं 'अन्यैः विप्रैः सुभृतम्'। **पूर्वभाजम्** –दे. **पूर्व एति** (ऋ. ८)– **पूर्वं (भागं) भजति**।]

८. जिस राजाकी राजसभामें उसका पुरोहित प्रथम सम्मानका भाजन होता है वही राजा अपने प्रासादमें सुस्थिर होकर चिरकाल तक निवास करता रहता है। केवल उसीके लिये ही सर्वकाल धन धान्य विपुलमात्रामें हो जाता है, तथा उसीके सामने उसके प्रजाजन स्वयं ही विनम्र हो जाते हैं।

९. किसी प्रकारके विरोधका अनुभव न करते हुए वह राजा स्वपक्षीय तथा प्रतिपक्षीय राजाओंकी सभी प्रकारकी संपत्ति जीतनेमें शक्तिशाली होता है। साहाय्यकी याचना करनेवाले अपने पुरोहितको जो राजा सन्तुष्ट करता है उसकी सुरक्षा देवता ही करते रहते हैं।

इन्द्रश्च सोमं पिबतं बृहस्पतेऽस्मिन् यज्ञे मन्दसाना वृषण्वसू।
आ वां विशन्त्विन्दवः स्वाभुवोऽस्मे रयिं सर्ववीरं नि यच्छतम् ॥ १० ॥

इन्द्रः। च। सोमम्। पिबतम्। बृहस्पते।
अस्मिन्। यज्ञे। मन्दसाना। वृषण्वसू इति वृषण्ऽवसू।
आ। वाम्। विशन्तु। इन्दवः। सुऽआभुवः।
अस्मे इति। रयिम्। सर्वऽवीरम्। नि। यच्छतम् ॥ १० ॥

बृहस्पत इन्द्र वर्धतं नः सचा सा वां सुमतिर्भूत्वस्मे।
अविष्टं धियो जिगृतं पुरंधीर्जजस्तमर्यो वनुषामरातीः ॥ ११ ॥

बृहस्पते। इन्द्र। वर्धतम्। नः। सचा। सा। वाम्। सुऽमतिः। भूतु। अस्मे इति।
अविष्टम्। धियः। जिगृतम्। पुरम्ऽधीः। जजस्तम्। अर्यः। वनुषाम्। अरातीः ॥ ११ ॥

---

१०. हे बृहस्पते, तुम और इन्द्र दोनों ही प्रसन्न होकर हमारे इस यज्ञमें सोमपान करो। हे विपुलताकी वृष्टि करनेवाले धनके स्वामी, उत्तम परिचर्या करनेवाले हमारे ये सोमबिन्दु आपके उदरमें प्रविष्ट हो जाएँ। अनन्तर आप हमें वीर्यशाली अनुयायियोंसे समन्वित सभी प्रकारकी संपत्ति समर्पित कीजिए।

[**स्वाभुवः** – (**सु** + **आभू**)–' उत्कृष्ट रीतिसे परिचर्या (सेवा) करनेवाले अथवा सहायता देनेवाले'। **आभू** – ' सब प्रकारोंसे पास रहनेवाला, परिचारक, विश्वासपात्र सेवक '। दे. **आभूमिरिन्द्रः श्रथयन्ननाभुवः** १·५१·९; तथा **स्वाभुवो जरणामश्नवन्त** (**सूरयः**) ७·३०·४।]

११. हे बृहस्पते, हे इन्द्र, हमें समृद्ध बनाइए। आपकी वह कृपा हमारे ऊपर नित्य रहने दीजिए। हमारी स्तुतियोंकी रक्षा कीजिए। (हमारे यजमानोंके मनमें) दानबुद्धियोंको जागृत कीजिए। हमारे शत्रु और विरोधकों की दुष्ट प्रवृत्तियाँ नष्ट कीजिए।

३७

४·५१·१–११ वामदेवः ॥ उषाः ॥ त्रिष्टुप् ॥

इदमु त्यत् पुरुतमं पुरस्ताज्ज्योतिस्तमसो वयुनावदस्थात् ।
नूनं दिवो दुहितरो विभातीर्गातुं कृणवन्नुषसो जनाय ॥ १ ॥

इदम् । ऊँ इति । त्यत् । पुरुऽतमम् । पुरस्तात् । ज्योतिः । तमसः । वयुनऽवत् । अस्थात् ।
नूनम् । दिवः । दुहितरः । विऽभातीः । गातुम् । कृणवन् । उषसः । जनाय ॥ १ ॥

अस्थुरु चित्रा उषसः पुरस्तान्मिताइव स्वरवोऽध्वरेषु ।
व्यू व्रजस्य तमसो द्वारोच्छन्तीरव्रञ्छुचयः पावकाः ॥ २ ॥

अस्थुः । ऊँ इति । चित्राः । उषसः । पुरस्तात् । मिताःऽइव । स्वरवः । अध्वरेषु ।
वि । ऊँ इति । व्रजस्य । तमसः । द्वारा । उच्छन्तीः । अव्रन् । शुचयः । पावकाः॥२॥

१. अनेक स्थानोंपर प्रादुर्भूत होनेवाला तथा संकेतोंका पालन करनेवाला यह उषारूपी तेज (पूर्व दिशाकी ओर) अन्धकारमेंसे हमारे संमुख उदित हुआ है। इस समय द्युदेवकी कन्या उषाने प्रकाशमान होकर सभी लोगोंके लिये उनके स्वीकृत मार्ग संचारयोग्य कर दिये हैं ।

[**वयुनवत्** ' संकेतोंका पालन करनेवाला ', **वयुन** (√वे–गूँथना) ' प्राचीन कालसे प्रचलित संकेत' इन वयुनोंकी शिक्षा मानवोंको अग्नि स्वयं देते रहते हैं (१·१४५·५) और मानव इनका पालन कैसे करते हैं इसका निरीक्षण करते हुए उषा पृथ्वीपर अवतीर्ण होती है (७·७५·४) । तम या अन्धकार अपनी ओरसे वयुनोंका पालन नहीं करता, याने समयपर दूर हटकर प्रकाशको फैलने नहीं देता, अतः सूर्यके द्वारा इन्द्र उसे **वयुनवत्** बनाता है याने वयुनोंका पालन करनेके लिए उसे बाध्य करता है । दे. स इत्तमोऽवयुनं सूर्येण वयुनवच्चकार ६·२१·३ । **पुरुतमम्** –' कई बार आनेवाला ' ।]

२. सचमुच ये सौन्दर्यवती उषाएँ हमारे संमुख (पूर्व दिशामें), यज्ञोंमें उत्थापित यूपोंकी तरह खड़ी हो रही हैं । इन स्वयं पवित्र तथा पावन करनेवालीं उषाओंने प्रकाशमान होकर इस अन्धकारके गोष्ठके किवाड़ोंको पूर्णतया खोल दिया है ।

[**मिता इव स्वरवः**– दे. ३·८·६–७ । **तमसो व्रजस्य द्वारा वि अव्रन्** – ' तम के बाड़ेके द्वार खोल दिए ' याने तमकी अंधकाररूपी गौएं भाग उठीं और तम दुर्बल एवं अकिञ्चन बना । ऋ. ३·५·१ में अग्निद्वारा इसी कार्यके संपन्न होनेका वर्णन पाया जाता है।]

उच्छन्तीरद्य चितयन्त भोजान् राधोदेयायोषसो मघोनीः ।
अचित्रे अन्तः पणयः ससन्त्वबुध्यमानास्तमसो विमध्ये ॥ ३ ॥

उच्छन्तीः । अद्य । चितयन्त । भोजान् । राधःऽदेयाय । उषसः । मघोनीः ।
अचित्रे । अन्तरिति । पणयः । ससन्तु । अबुध्यमानाः । तमसः । विऽमध्ये ॥ ३ ॥

कुवित् स देवीः सनयो नवो वा यामो बभूयादुषसो वो अद्य ।
येना नवग्वे अङ्गिरे दशग्वे सप्तास्ये रेवती रेवदूष ॥ ४ ॥

कुवित् । सः । देवीः । सनयः । नवः । वा । यामः । बभूयात् । उषसः । वः । अद्य ।
येन । नवऽग्वे । अङ्गिरे । दशऽग्वे । सप्तऽआस्ये । रेवतीः । रेवत् । ऊष ॥ ४ ॥

यूयं हि देवीर्ऋतयुग्भिरश्वैः परिप्रयाथ भुवनानि सद्यः ।
प्रबोधयन्तीरुषसः ससन्तं द्विपाच्चतुष्पाच्चरथाय जीवम् ॥ ५ ॥

यूयम् । हि । देवीः । ऋतयुक्ऽभिः । अश्वैः । परिऽप्रयाथ । भुवनानि । सद्यः ।
प्रऽबोधयन्तीः । उषसः । ससन्तम् । द्विऽपात् । चतुःऽपात् । चरथाय । जीवम् ॥ ५ ॥

---

३. आज प्रकाशमान होकर ये उदार उषाएँ हमारे दानवीर यजमानोंको उपहारोंका दान देनेके लिए प्रवृत्त करें । किन्तु (वे) कदर्यु पणी सौन्दर्यहीन अन्धकारके मध्यमें जागृत भी न होकर चिर निद्रामें विलीन हों ।

[हमारे दानी यजमानोंको उषाएँ चैतन्य एवं स्फूर्ति प्रदान अवश्य करें; किन्तु कदर्योंको भीषण एवं गहरे अँधेरेमें आरामसे सोने दे ताकि वे कभी न जाग उठें । ऋ. १·१२४·१० में भी यही कल्पना पाई जाती है– '**प्रबोधयोषः पृणतो मघोनि अबुध्यमानाः पणयः ससन्तु**' ।

४. हे श्रीमती उषा देवियो, जिसके द्वारा अतीतमें **नवग्व**, अङ्गिरस, सप्तास्य तथा दशग्व ऋषियोंके सान्निध्यमें तुम बड़े वैभवसे खड़ी रहीं हो वह तुम्हारा पुरातन या अभिनव संचार (हमारी ओर) क्या आज होनेवाला है ?

[**सनयः** ' प्राचीन ' = **सनः** । **यामः** (√या) ' गमन ', ' भेंट ' । **सप्तास्ये–** दे. ४·५०·४ की टिप्पणी ।

५ क्योंकि हे उषादेवि, ऋतसे जोते जानेवाले अश्वोंकी सहायतासे तुम निद्रित जीवोंको तथा सभी द्विपाद और चतुष्पाद प्राणियोंको भ्रमण करनेके लिये प्रबोधित करके एक साथ सभी भुवनोंको भेंट देती रहती हो ।

[**परिप्रयाथ** दे. ७·७५·४ । **द्विपात्–चतुष्पात्** (न. पुं.) **ससन्तं जीवं** च इस तरह अन्वय करें । यहाँ की तरह १०·२७·१० में भी ये शब्द नपुंसकलिङ्गमें प्रयुक्त हैं; सिर्फ़ १०·११७·८ में ये पुल्लिंगमें प्रयुक्त हुए हैं । ऋग्वेदमें अन्यत्र इनके **द्विपद्–चतुष्पद्** ये नपुंसकलिङ्गी रूप ही पाए जाते हैं ।]

क्वं स्विदासां कतमा पुराणी यया विधाना विदधुर्ऋभूणाम् ।
शुभं यच्छुभ्रा उषसश्चरन्ति न विज्ञायन्ते सदृशीरजुर्याः ॥ ६ ॥

क्व । स्वित् । आसाम् । कतमा । पुराणी । यया । विऽधाना । विऽदधुः । ऋभूणाम् ।
शुभम् । यत् । शुभ्राः । उषसः । चरन्ति । न । वि । ज्ञायन्ते । सऽदृशीः । अजुर्याः ॥६॥

ता घा ता भद्रा उषसः पुरासुरभिष्टिद्युम्ना ऋतजातसत्याः ।
यास्वीजानः शशमान उक्थैः स्तुवञ्छंसन् द्रविणं सद्य आप ॥ ७ ॥

ताः । घ । ताः । भद्राः । उषसः । पुरा । आसुः । अभिष्टिऽद्युम्नाः । ऋतजातऽसत्याः ।
यासु । ईजानः । शशमानः । उक्थैः । स्तुवन् । शंसन् । द्रविणम् । सद्यः । आप ॥ ७ ॥

ता आ चरन्ति समना पुरस्तात् समानतः समना पप्रथानाः ।
ऋतस्य देवीः सदसो बुधाना गवां न सर्गा उषसो जरन्ते ॥ ८ ॥

ताः । आ । चरन्ति । समना । पुरस्तात् । समानतः । समना । पप्रथानाः ।
ऋतस्य । देवीः । सदसः । बुधानाः । गवाम् । न । सर्गाः । उषसः । जरन्ते ॥ ८ ॥

६. इन उषाओंमेंसे वह पुरातन उषा कौनसी है जिसमें (देवोंने) ऋभुओंके लिये उनके विशिष्ट कार्य निर्धारित कर दिये । और अब वह कहाँ है ?

[**विधाना**–एक चमससे चारोंका निर्माण करना जैसे कार्य। **विदधुः** का कर्ता है **देवाः**। दे. १·१६१·२]

७. साहाय्य करना यही जिनका वैभव है, और जो ऋतसे जन्म ग्रहण करके विश्वसनीय रहती हैं, जिनके उदित होनेपर याग और परिश्रम करके, स्तोत्रोंसे, तथा स्तवन और प्रशंसा करके ऋषियोंने शीघ्र ही धन प्राप्त किया इस प्रकारकी मङ्गलमय उषाएँ सचमुच प्राचीन समयमें ही हो गई हैं ।

[**अभिष्टिरेव द्युम्नं** यासाम् । दे. **अभिष्टिशवसे मित्राय** ३·५९·८ । **ऋतजाताः** अत एव **सत्याः** (अपेक्षाओंकी पूर्ति करनेवाले, उन्हें सफल बनानेवाले, विश्वासयोग्य ।]

८. वे (उषा देवियाँ) एक निश्चित स्थानसे निकलकर पूर्वदिशामें समान रीतिसे उपस्थित रहती हैं, और वहाँसे समान रीतिसे ही सर्वत्र फैल जाती हैं । ये उषा देवियाँ ऋतके सदनसे जागृत होकर गायोंके झुण्डकी तरह स्वकार्यप्रवृत्त होती हैं ।

[**आ चरन्ति** ' निष्ठाके साथ बर्ताव रखतीं हैं याने प्राप्त होतीं हैं । दे. **अस्याः आचरणेषु** १·४८·३ साथ साथ **जार इवाचरन्ती न पुनर्यतीव** ७·७६·३ । **समना** [समन–(स्त्री०) समना (तृतीया)] तृतीयान्त क्रियाविशेषण –' एक ही अवसरपर ', ' समान रीतिसे ' । **ऋतस्य सदसः** –दे. ऋतस्य बुध्ने ३·६१·७ । **गवां न सर्गाः**–सुबह होते ही गौएं जाग पड़तीं हैं और कार्यप्रवण होतीं हैं । **'सर्ग'** –(√सृज्)– ' उन गौओंके समूह, जो बन्धनोंसे मुक्त की गई हों ' ।

ता इत्वे॒३॒॑व स॒मना॑ समा॒नीरमी॑तवर्णा उ॒षस॑श्चरन्ति ।
गूह॑न्ती॒रभ्व॒मसि॑तं॒ रुश॑द्भिः शु॒क्रास्त॒नूभि॒: शुच॑यो रु॒चा॒नाः ॥ ९ ॥
ताः । इत् । नु । ए॒व । स॒मना॑ । स॒मानीः । अमी॑तऽवर्णाः । उ॒षसः॑ । च॒र॒न्ति॒ ।
गूह॑न्तीः । अभ्व॑म् । असि॑तम् । रुश॑त्ऽभिः । शु॒क्राः । त॒नूभिः॑ । शुच॑यः । रु॒चा॒नाः ॥९॥
र॒यिं दि॑वो दुहितरो विभा॒तीः प्र॒जाव॑न्तं यच्छता॒स्मासु॑ देवीः ।
स्यो॒नादा व॑: प्रति॒बुध्य॑मानाः सु॒वीर्य॑स्य॒ पत॑यः स्याम ॥ १० ॥
र॒यिम् । दि॒वः॒ । दु॒हि॒त॒रः॒ । वि॒ऽभा॒तीः । प्र॒जाऽव॑न्तम् । य॒च्छ॒त॒ । अ॒स्मासु॑ । दे॒वीः॒ ।
स्यो॒नात् । आ । वः॒ । प्र॒ति॒ऽबुध्य॑मानाः । सु॒ऽवीर्य॑स्य । पत॑यः । स्या॒म॒ ॥ १० ॥
तद्वो॑ दिवो दुहितरो विभा॒तीरुप॑ ब्रुव उषसो य॒ज्ञके॑तुः ।
व॒यं स्या॑म य॒शसो॒ जने॑षु॒ तद्द्यौश्च॑ ध॒त्तां पृ॑थि॒वी च॑ दे॒वी ॥ ११ ॥
तत् । वः॒ । दि॒वः॒ । दु॒हि॒त॒रः॒ । वि॒ऽभा॒तीः । उप॑ । ब्रु॒वे॒ । उ॒ष॒सः॒ । य॒ज्ञऽके॑तुः ।
व॒यम् । स्या॒म॒ । य॒शसः॑ । जने॑षु । तत् । द्यौः । च॒ । ध॒त्ताम् । पृ॒थि॒वी । च॒ । दे॒वी ॥११॥

---

९. अपने तेजस्वी रूपोंसे दीपित, पवित्र और शोभायमान, कृष्णवर्ण मायाको आच्छादन करनेवालीं, एक सदृश अन्य दीखनेवालीं, कभी न्यून न होनेवाले वर्णसे युक्त ऐसी ये वे (प्राचीन) उषाएँ समान रीतिसे आज ही संचरण करती रहती हैं ।

[**अमीतवर्णाः** (मीत√मि नष्ट करना), दे. **अनभिम्लातवर्णः** अपां नपात् २·३५·१३ । **गूहन्तीः अभ्वमसितम्**–' कृष्णवर्ण माया ' याने विश्वव्यापी अन्धकार; उसे छिपानेवाली याने हटनेके लिए विवश करनेवाली । **अभ्वम्**–दे. २·३३·१० की टिप्पणी ।

१०. हे द्युदेवकी कन्याओ, हे देवियो, अपनी सुखशय्यासे जागृत होकर सर्वत्र प्रकाशमान होनेवाली तुम हमें संतानसहित संपत्ति प्रदान करो । हमें अमोघ वीर्यके स्वामी होने दो ।

[**स्योनाद् आ** । यहाँ **सदसः** पदका अध्याहार उचित (दे. ऋचा ८) । पहले तीन चरणोंका एक साथ अन्वय करना समीचीन । **स्योन** यह **आसनका** विशेषण प्रायः देवोंके विषयमें ही प्रयुक्त दिखाई देता है; ७·४२·४ में अग्निको **स्योनशीः** अतिथि कहा गया है । इस लिए सायण, गेल्डनर तथा मैक्डोनलके मतानुसार **स्योनात् प्रतिबुध्यमानाः** का अन्वय (वयं) के साथ करना समीचीन नहीं माना जा सकता ।]

११. हे द्युदेव की कन्याओ, हे उषादेवियो, यज्ञरूपी ध्वज खड़ा करके मैं प्रकाशमान होते हुए तुम्हारी इस प्रकार प्रार्थना करता हूँ । हम इन सभी लोकोंमें कीर्तिशाली बनें और इस बातको द्युदेव तथा पृथिवी स्वीकृति दें ।

[**यज्ञकेतुः** बहुव्रीहि समास–वह जिसका केतु यज्ञ है याने मैं । दे. यज्ञमन्मा ७·६१·४ ।

३८

४·५४.१–६ वामदेवः ॥ सविता ॥ १-५ । ६ त्रिष्टुप् ॥

अभू॑द्दे॒वः स॑वि॒ता वन्द्यो॒ नु न॑ इ॒दानी॒मह्न॑ उप॒वाच्यो॒ नृभिः॑ ।

वि यो रत्ना॒ भज॑ति मान॒वेभ्यः॒ श्रेष्ठं॑ नो॒ अत्र॒ द्रवि॑णं॒ यथा॒ दध॑त् ॥ १ ॥

अभू॑त् । दे॒वः । स॒वि॒ता । वन्द्यः॑ । नु । नः॒ । इ॒दानी॑म् । अह्नः॑ । उ॒प॒ऽवाच्यः॑ । नृऽभिः॑ ।

वि । यः । रत्ना॑ । भज॑ति । मा॒न॒वेभ्यः॑ । श्रेष्ठ॑म् । नः॒ । अत्र॑ । द्रवि॑णम् । यथा॑ । दध॑त् ॥ १ ॥

दे॒वेभ्यो॒ हि प्र॑थ॒मं य॒ज्ञियेभ्यो॒ऽमृत॒त्वं सु॒वसि॑ भा॒गमु॑त्त॒मम् ।

आदिद्दा॒मानं॑ सवित॒र्व्यू॑र्णुषेऽनू॒चीना॑ जीवि॒ता मानु॑षेभ्यः ॥ २ ॥

दे॒वेभ्यः॑ । हि । प्र॒थ॒मम् । य॒ज्ञिये॑भ्यः । अ॒मृ॒त॒ऽत्वम् । सु॒वसि॑ । भा॒गम् । उ॒त्ऽत॒मम् ।

आत् । इत् । दा॒मान॑म् । स॒वि॒त॒रिति॑ । वि । ऊ॒र्णु॒षे॒ । अ॒नू॒चीना॑ । जी॒वि॒ता । मानु॑षेभ्यः ॥ २ ॥

१. जो मनुष्योंको बहुमूल्य उपहार वितरण कर देता है वह सविता देव दिनके इस समय हमारे लिए वन्दनीय हुआ है तथा वह हम सभीको श्रेष्ठ धन दे इस लिये हमारे अनुयायियोंके द्वारा भी वह अब स्तवनीय हुआ है ।

[**इदानीमह्नः** ' दिवसके इस समयपर ' । दे. **इदाह्नः** ४·३३·११.]

२. हे सविता, यज्ञार्ह देवोंको उनका श्रेष्ठ अमृतत्वरूपी अंश सर्वप्रथम तुम देते हो । अनन्तर शीघ्र ही मनुष्योंको भी, तुम अनुक्रमसे व्यतीत होनेवाले जीवनक्रमको, उनके इस अंशको, उनके सामने खोलकर रखते हो ।

[**उत्तमं भागममृतत्वम्** अथवा **भागम्–उत्तमम् अमृतत्वम्** याने स्वर्गीय अमृतत्व अथवा स्वयम् अमृतत्व । इसके विरुद्ध मानवोंके लिए तुम बतलाते हो कि कनिष्ठ अमृतत्व याने संततिद्वारा अमृतत्व यह उनका हिस्सा है । दे.–**प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम्** ५·४·१० अथवा **आ वो यक्षि अमृतत्वं सुवीरम्** १०·५२·५ । इसीको प्रस्तुत ऋचामें **अनूचीना जीविता** की संज्ञा दी गई है । मतलब है ' क्रमके अनुसार चली आई हुई जीवनधारा ' याने जीवनके क्रमकी वह शृंखला जो पुत्रपौत्रादिके द्वारा अविच्छिन्न रूपसे चली आ रही हो । समान कल्पनाके लिए दे. १०·१८·६ ।]

अचित्ती यच्चकृमा दैव्ये जने दीनैर्दक्षैः प्रभूती पूरुषत्वता।
देवेषु च सवितर्मानुषेषु च त्वं नो अत्र सुवतादनागसः ॥ ३ ॥
अचित्ती। यत्। चकृम। दैव्ये। जने। दीनैः। दक्षैः। प्रऽभूती। पुरुषत्वता।
देवेषु। च। सवितः। मानुषेषु। च। त्वम्। नः। अत्र। सुवतात्। अनागसः ॥ ३ ॥

न प्रमिये सवितुर्दैव्यस्य तद्यथा विश्वं भुवनं धारयिष्यति।
यत् पृथिव्या वरिमन्ना स्वङ्गुरिर्वर्ष्मन् दिवः सुवति सत्यमस्य तत् ॥ ४ ॥
न। प्रऽमिये। सवितुः। दैव्यस्य। तत्। यथा। विश्वम्। भुवनम्। धारयिष्यति।
यत्। पृथिव्याः। वरिमन्। आ। सुऽअङ्गुरिः। वर्ष्मन्। दिवः। सुवति। सत्यम्। अस्य। तत् ॥ ४ ॥

इन्द्रज्येष्ठान् बृहद्भ्यः पर्वतेभ्यः क्षयाँ एभ्यः सुवसि पस्त्यावतः।
यथायथा पतयन्तो वियेमिर एवैव तस्थुः सवितः सवाय ते ॥ ५ ॥
इन्द्रऽज्येष्ठान्। बृहत्ऽभ्यः। पर्वतेभ्यः। क्षयान्। एभ्यः। सुवसि। पस्त्यऽवतः।
यथाऽयथा। पतयन्तः। विऽयेमिरे। एव। एव। तस्थुः। सवितरिति। सवाय। ते ॥ ५ ॥

३. अज्ञान, मतिमान्द्य, प्रभुत्वका दर्प, तथा मानवकी प्राकृतिक दुर्बलता इनसे यद्यपि हमने दैवी प्रजाके विरुद्ध कोई भी आचरण किया हो तो भी हे सविता, तुम देवों और मनुष्यों के सम्मुख अपनी अधिकार–वाणीसे घोषित करो कि ये निरपराध हैं।

[पहले पादमें ('**अनागसः**' पदके द्वारा '**चकृम**' के कर्मके रूपमें **आगः** पदका अध्याहार सूचित है–दे. ४·१२·४। **दीनैः दक्षैः** दे. **क्रत्वः दीनता** ७·८९·३। **प्रभूती** (प्र + √भू) = प्रभुत्वेन; '**प्रभूति**' शब्दका तृतीयान्त एक वचन 'वैभवके कारण'। दे. **रायो नूतमस्य प्रभूतौ भूयाम** ३·१९·३। **पूरुषत्वता** (तृतीयान्त एकवचन)—हम मानव हैं, देव नहीं; अतएव संभव है कि हमसे कोई अपराध हुआ हो। इस शब्दमें भाववाचक संज्ञाका प्रत्यय दुहरे रूपमें उपस्थित है। पुरुषता (तृ. एकवचन) का भी अर्थ यही है–दे. **यद्ध आगः पुरुषता कराम** १०·१५·६ और साथ साथ ७·७५·८।]

४. जिसके संयोगसे वह इस सम्पूर्ण भुवनका विधारण करेगा उस सविताका कर्म कोई भी विफल नहीं कर सकेगा। इस पृथ्वीके विस्तीर्ण अहातेमें और स्वर्गके उत्तुंग अवकाशमें यह सुन्दर अङ्गुलियोंवाला देव जो कहता है वह निश्चित रूपसे पूर्ण होता है।

[उत्तरार्धमें पहले पादके तत् शब्दका ही विवरण किया गया है। **पृथिव्याः वरिमन् वर्ष्मन् दिवः**–दे. ३·५·९; १०·२८·२ तथा १०·७०·१।]

५. जहाँ इन्द्रको सर्वश्रेष्ठ देव माना जाता है ऐसे अत्यन्त विशाल निवासस्थान तुमने (इस भूतलपर) इन बड़े बड़े पर्वतों के लिए निर्धारित कर दिये हैं। आकाशमें ऊँची उड़ान लेनेके लिये जब जब ये पर्वत अपने पंख फैलाने लगे, तब तब वे तुम्हारी ही आज्ञाका पालन करने लगे।

ये ते त्रिरहन्त्सवितः सवासो दिवेदिवे सौभगमा सुवन्ति ।
इन्द्रो द्यावापृथिवी सिन्धुरद्भिरादित्यैर्नो अदितिः शर्म यंसत् ॥ ६ ॥

ये । ते । त्रिः । अहन् । सवितरिति । सवासः । दिवेऽदिवे । सौभगम् । आऽसुवन्ति ।
इन्द्रः । द्यावापृथिवी इति । सिन्धुः । अत्ऽभिः । आदित्यैः । नः । अदितिः । शर्म । यंसत् ॥ ६ ॥

[इस ऋचामें इन्द्रद्वारा पर्वतोंके पंखोंके काटे जाने तथा उन्हें पृथ्वीपर स्थिर किए जानेकी कथाका उल्लेख है । '**इन्द्रज्येष्ठान्**' में हेतु निहित है । इन्द्रने जब पर्वतोंके पंख काट लिए तब सविताने (पृथ्वीके वक्षपर) उनके लिए विस्तीर्ण निवासस्थानोंको निर्धारित किया, शर्त सिर्फ़ यह थी की इन आवासोंमें वे इन्द्रकी आज्ञाका उल्लंघन कदापि न करें । इन्द्र तथा सविताका यह पारस्परिक साहाय्य नदियोंके विषयमें भी पाया जाता है– दे. ऋ. ३·३३·६ । उड़नेवाले पर्वतोंका उल्लेख तो २·१२·२, २·१५·३ तथा २·१७·५ में पाया जाता है; किन्तु इस विषयमें पूरी कथाका रूप मैत्रायणी संहिता (१·१०·१३) में मिलता है । वह कथा निम्नानुसार है:—" प्रजापतेर्वा एतज्ज्येष्ठं तोकं यत्पर्वताः । ते पक्षिण आसन् । ते परापातमासत यत्र यत्राकामयन्त । अथ वा इयं तर्हि शिथिरासीत् । तेषामिन्द्रः पक्षानच्छिनत् । तैरिमामदृंहत् । ये पक्षा आसंस्ते जीमूता अभवन् । तस्मादेते सदा पर्वतमुपप्लवन्ते । योनिर्ह्येषामेषः " । **वियेमिरे** के कर्मके रूपमें **पक्षान्** पदका अध्याहार करें—दे. ८·४७·३ (**वि अस्मे अधि शर्म तत् पक्षा वयो न यन्तन**) । **पस्त्यावतः क्षयान्**–'निवासके वे स्थान जो बहुत विस्तीर्ण हों, जिनमें कई घर (या घोंसले) हों । **पस्त्य** (नपुं.) –' घर ' 'या घोंसला' । पर्वतोंको ३·५४·२० में **ध्रुवक्षेमासः** भी कहा गया है । एभ्यः पर्वतेभ्यः चतुर्थीके रूप हैं ।]

६. प्रतिदिन दिनमें तीन बार जो तुम्हारे आदेशवचन (मनुष्योंके लिये) उत्तम भाग्यकी प्रेरणा देते हैं (उन्हींके अनुसार) इन्द्र, द्यावापृथिवी, आपोदेवियो, तथा आदित्यों के साथ सिन्धु और अदिति ये सभी हमें सुरक्षा प्रदान करें ।

[**त्रिः अहन्** दे. १·१४२·३; **त्रिः अह्नः** १·११६·१९.]

३९

५·१·१–१२ बुधगविष्ठिरावात्रेयौ ॥ अग्निः ॥ त्रिष्टुप् ॥

अबोध्यग्निः समिधा जनानां प्रति धेनुमिवायतीमुषासम् ।
यह्वाइव प्र वयामुज्जिहानाः प्र भानवः सिस्रते नाकमच्छ ॥ १ ॥

अबोधि । अग्निः । सम्ऽइधा । जनानाम् । प्रति । धेनुम्ऽइव । आऽयतीम् । उषसम् ।
यह्वाःऽइव । प्र । वयाम् । उत्ऽजिहानाः । प्र । भानवः । सिस्रते । नाकम् । अच्छ ॥ १ ॥

अबोधि होता यजथाय देवानूर्ध्वो अग्निः सुमनाः प्रातरस्थात् ।
समिद्धस्य रुशदर्दशि पाजो महान् देवस्तमसो निरमोचि ॥ २ ॥

अबोधि । होता । यजथाय । देवान् । ऊर्ध्वः । अग्निः । सुऽमनाः । प्रातः । अस्थात् ।
सम्ऽइद्धस्य । रुशत् । अदर्शि । पाजः । महान् । देवः । तमसः । निः । अमोचि ॥ २ ॥

---

१. (बछड़ेको पिलाने के लिए) आनेवाली गाय की तरह (पृथ्वीपर) आगमन करनेवाली उषासे मिलने के लिये लोगोंकी समिधासे अग्निदेव जागृत हो रहा है । वृक्षशाखाकी ओर ऊपर उड़नेवाले बाल पक्षियोंकी तरह उसकी ज्वालाएँ स्वर्गको अनुलक्षित करके ऊपर जा रही हैं ।

[**प्रति अबोधि** ' मिलनके लिए जिसे जगाया गया है ' । उषाकी धेनुके साथ और अग्निकी वत्सके साथ तुलना की गई है । दे. २·२·२ और साथ साथ ३·५·१ तथा ३·६१·६ । **यह्वाः**–'तरुण पंछी या पँखेरू'। **प्रोज्जिहानाः**– 'उड़कर ऊपर जानेवाले ' । साथ मिलकर दाने चुगनेके लिए ज़मीनपर उतरे हुए पंछी जिस तरह तनिक भयके निर्माण होते ही सहसा पेड़की उंची टहनीतक उड़ जाते हैं उसी तरह प्रज्वलित अग्निकी ज्वालाएं स्वर्लोककी दिशामें दौड़ रही हैं ।]

२ देवोंका यजन करनेके लिए यह होता (अग्निदेव) जागृत हुआ है । प्रसन्नचित्त अग्निदेव प्रातःकालमें स्वकार्यप्रवृत्त हो गया है । प्रज्वलित होनेसे इसका देदीप्यमान तेज दृष्टिगोचर हो रहा है । यह महान् देव अन्धकारसे पूर्णतया मुक्त हो गया है ।

[**यजथाय देवान्**– यजध्यै के स्थानपर **यजथाय** यह तुमर्थक चतुर्थी है । इसको ऋग्वेदमें अन्य दो स्थलोंपर भी प्रयुक्त किया गया है; दे. ३·१७·१; ७·१०·५ । इसी तरह **पातवे** के बदले तुमर्थवाची **पीतये (मधु अंधांसि)** भी तीन स्थानोंपर (७·५९·५; ८·३३·१३ तथा ८·९७·८) प्रयुक्त हुआ है । **तमसो निरमोचि**–दे. **विश्वं जीवं** (नपुं· कर्तृ.) **तमसो निरमोचि** १०·१०७·१ । दक्षिणारूपी ज्योतिके आगमनसे पूरा विश्व दरिद्रतारूपी तम याने अंधकार से मुक्त हो उठा !]

यदीं गणस्य रशनामजीगः शुचिरङ्क्ते शुचिभिर्गोभिरग्निः ।
आद्दक्षिणा युज्यते वाजयन्त्युत्तानामूर्ध्वो अधयज्जुहूभिः ॥ ३ ॥

यत् । ईम् । गणस्य । रशनाम् । अजीगः । शुचिः । अङ्क्ते । शुचिऽभिः । गोभिः । अग्निः ।
आत् । दक्षिणा । युज्यते । वाजऽयन्ती । उत्तानाम् । ऊर्ध्वः । अधयत् । जुहूभिः ॥ ३ ॥

अग्निमच्छा देवयतां मनांसि चक्षूंषीव सूर्ये सं चरन्ति ।
यदीं सुवाते उषसा विरूपे श्वेतो वाजी जायते अग्रे अह्नाम् ॥ ४ ॥

अग्निम् । अच्छ । देवऽयताम् । मनांसि । चक्षूंषिऽइव । सूर्ये । सम् । चरन्ति ।
यत् । ईम् । सुवाते इति । उषसा । विरूपे इति विऽरूपे ।
श्वेतः । वाजी । जायते । अग्रे । अह्नाम् ॥ ४ ॥

---

३. जिस समय उसने अपने स्तोतागणोंकी रशना (याने स्तोत्र) को जागृत किया उसी समय यह पवित्र अग्निदेव पवित्र घृतधाराओंसे स्नापित किया गया है । अनन्तर शीघ्र ही उसे उसका बल वृद्धिंगत करनेवाली दक्षिणा समर्पित की गई है । खडे होकर उसने अपने सम्मुख स्थापित इस दक्षिणाका आस्वाद भी रसनाओंसे ग्रहण किया है ।

[**गण** याने याजकोंका समूह–दे. ६·४०·१; ६·५६·५ आदि । साथ साथ ऋ. ८·२३·४ में अग्निके लिए **गणश्री** यह विशेषण प्रयुक्त हुआ है। उसकी (याने **गणकी**) **रशना** याने उसकेद्वारा धारण की गई स्तोत्ररूपी रशना (कर्तरि षष्ठी) । इसकी सहायतासे विप्र उसका (अग्निरूपी अश्वका दे. – ऋ. ४·७·८) प्रणयन करते रहते हैं (४·१·९) एक स्थानपर (२·२८·५) ऋग्वेदीय कवि वरुणकी प्रार्थना करता है:—" मेरी धी याने स्तोत्र कई तंतुओंसे मिलकर बनाई गई रशना है और कृपया देखो कि इन तंतुओंसे एक भी टूटने न पाएं "। ऋ. १·१०९·३ के **मा छेद्म रश्मीन्** में भी रश्मिसे कविका अभिप्राय स्तोत्ररूपी रशनासे है। **रशनामजीगः** दे. **धियो अजीगः** ७·१०·१। **गोभिः गोघृतैः। दक्षिणा** याने अग्निको दी गई दक्षिणा, मतलब घृतकी धाराएं। **उत्तानाम्** ज्वालाओंपर बिखरी हुई, अध्याहृत **दक्षिणाम्** का विशेषण। दे. ४·५८·८ **युज्यते**– 'दी जा रही है'। इस अर्थमें युज् धातु ऋग्वेदमें अन्यत्र (१·१६९·२; १०·१३·१) पाया जाता है। **जुहूभिः** में श्लेष है, '(**जुहूभिः**) कड़छियोंकी सहायतासे; साथ साथ (**जुहूभिः**) जिह्वाओंकी सहायतासे आस्वाद लिया है'।]

४. जिस प्रकार देवोंका पूजन करनेवाले मानवोंके नयन उदित सूर्यकी ओर केन्द्रित होते हैं, उसी प्रकार उनके मन भी अग्निदेवकी ओर केन्द्रित हो गए हैं । जिस समय भिन्न वर्णकी रात्रि और उषा ये दो बहनें उसे जन्म देती है, उस समय यह धवलवर्ण अश्व दिनके प्रारम्भमें ही प्रादुर्भूत होता है ।

[पूर्वार्धमें उपमान भी प्रस्तुत है, इस लिए **इव** को समुच्चयबोधक ही मानना उचित होगा । **विरूपे उषसा** (द्विवचन) ' नक्तोषासा जिनके रंग भिन्न हों'। **श्वेतो वाजी** याने अग्नि और श्लेषके बलपर सूर्य भी। दे. ७·७७·३ । प्रस्तुत ऋचाकी तरह अन्यत्र भी अग्नि तथा सूर्य की वास्तविक एकता वर्णित है; दे. ६·५५·५ की टिप्पणी ।]

जनि॑ष्ट॒ हि जेन्यो॒ अग्रे॒ अह्नां॑ हि॒तो हि॒तेष्व॑रु॒षो वने॑षु ।
दमे॑दमे स॒प्त रत्ना॒ दधा॑नो॒ऽग्निर्होता॒ नि ष॑सादा॒ यजी॑यान् ॥ ५ ॥

जनि॑ष्ट । हि । जेन्यः॑ । अग्रे॑ । अह्ना॑म् । हि॒तः । हि॒तेषु॑ । अ॒रु॒षः । वने॑षु ।
दमे॑ऽदमे । स॒प्त । रत्ना॑ । दधा॑नः । अ॒ग्निः । होता॑ । नि । स॒सा॒द॒ । यजी॑यान् ॥ ५ ॥

अ॒ग्निर्होता॒ न्य॑सीद॒द्यजी॑यानु॒पस्थे॑ मा॒तुः सु॑र॒भा उ॑ लो॒के ।
युवा॑ क॒विः पु॑रुनि॒ःष्ठ ऋ॒तावा॑ ध॒र्ता कृ॑ष्टी॒नामु॒त मध्य॑ इ॒द्धः ॥ ६ ॥

अ॒ग्निः । होता॑ । नि । अ॒सी॒द॒त् । यजी॑यान् । उ॒पऽस्थे॑ । मा॒तुः । सु॒र॒भौ । ऊँ॒ इति॑ । लो॒के ।
युवा॑ । क॒विः । पु॒रु॒निः॒ऽस्थः । ऋ॒तऽवा॑ । ध॒र्ता । कृ॒ष्टी॒नाम् । उ॒त । मध्ये॑ । इ॒द्धः ॥ ६ ॥

प्र णु त्यं विप्र॑मध्व॒रेषु॑ सा॒धुम॒ग्निं होता॑रमीळते॒ नमो॑भिः ।
आ यस्त॒तान॒ रोद॑सी ऋ॒तेन॒ नित्यं॑ मृजन्ति वा॒जिनं॑ घृ॒तेन॑ ॥ ७ ॥

प्र । नु । त्यम् । विप्र॑म् । अ॒ध्व॒रेषु॑ । सा॒धुम् । अ॒ग्निम् । होता॑रम् । ई॒ळ॒ते॒ । नमः॑ऽभिः ।
आ । यः । त॒तान॑ । रोद॑सी॒ इति॑ । ऋ॒तेन॑ । नित्य॑म् । मृ॒जन्ति॑ । वा॒जिन॑म् । घृ॒तेन॑ ॥ ७ ॥

---

५. कारण, यह कुलीन ताम्रवर्ण (अग्निरूपी) अश्व दिनके प्रारम्भमें ही आविर्भूत हो गया और सुरचित इन्धनोंमें अच्छी प्रकार स्थापित किया गया है । घर घरमें अपने सुन्दर सप्त उपहार समर्पित करके यह अग्निदेव अधिक सुशोभन विधिसे (देवोंका) यजन करनेवाले होताके रूपमें आसनपर अधिष्ठित हो गया है ।

[स्पष्ट है कि ऋ. ४ तथा ५ एवं ५ तथा ६ शृंखलायमक के द्वारा परस्पर संबद्ध हैं । **हितो हितेषु**- उभयत्र '**हित**' शब्द ' अनुकूल ' तथा 'स्थापित' इन दोनों अर्थोंमें प्रयुक्त है । **वनेषु** ' समिधाओंमें ' । **सप्त रत्ना** ' कई प्रकारोंके सुन्दर पारितोषिक '–दे. ६·७४·१]

६. यह अग्निदेव अपनी माताके उत्संगमें स्पर्शमें सुखद स्थानपर, अत्यंत विधिपूर्वक (देवोंका) यजन करनेवाले होताके रूपमें अधिष्ठित हो गया है । तथा अनेकानेक स्थानोंपर चिर निवास करनेवाला यह युवा, ऋतका पालक, कवि, लोगोंका विधारणकर्ता उनके मध्यमें प्रज्वलित हो रहा है ।

[**मातुः उपस्थ**-पृथ्वीकी कोख या गोद; अर्थात् वेदि और **सुरभिलोक** याने उसके ऊपर स्थित अग्निकुण्ड । **सुरभि** (सु+√रभ्) 'स्पर्शके लिए सुखद'। **कृष्टीनाम्** का अन्वय **धर्ता** एवं **मध्ये** दोनोंसे करें।]

७. उस वक्तृत्वपूर्ण यज्ञमें कुशल होताकी, अग्निदेवकी, (सभी ऋषि) अपने अपने स्तोत्रोंसे प्रार्थना करते हैं । ऋतके अनुसार जिसने आकाश और पृथिवी दोनों ही व्याप्त कर दिये हैं उस पराक्रमी अश्व को, इस विश्वासभाजन अग्निदेव को, वे (ऋषि) घृतधाराओंसे सुशोभित करते हैं ।

मार्जाल्यो मृज्यते स्वे दमूनाः कविप्रशस्तो अतिथिः शिवो नः ।
सहस्रशृङ्गो वृषभस्तदोजा विश्वाँ अग्ने सहसा प्रास्यन्यान् ॥ ८ ॥

मार्जाल्यः । मृज्यते । स्वे । दमूनाः । कविऽप्रशस्तः । अतिथिः । शिवः । नः ।
सहस्रऽशृङ्गः । वृषभः । तत्ऽओजाः । विश्वान् । अग्ने । सहसा । प्र । असि । अन्यान् ॥ ८ ॥

प्र सद्यो अग्ने अत्येष्यन्यानाविर्यस्मै चारुतमो बभूथ ।
ईळेन्यो वपुष्यो विभावा प्रियो विशामतिथिर्मानुषीणाम् ॥ ९ ॥

प्र । सद्यः । अग्ने । अति । एषि । अन्यान् । आविः । यस्मै । चारुऽतमः । बभूथ ।
ईळेन्यः । वपुष्यः । विभाऽवा । प्रियः । विशाम् । अतिथिः । मानुषीणाम् ॥ ९ ॥

[तीसरे चरणमें **भासा** अथवा **भानुना** पदका अध्याहार; दे. ६·१·११; ६·४·६; १०·८८·३। **ऋतेन** 'ऋतके अनुसार' दे. ५·६३·७; १०·१०८·११ आदि।]

८. हमारे कवियोंके द्वारा संस्तुत, मङ्गलमय, हमारे गृहोंमें प्ररोचना रखनेवाला तथा अलंकरणीय यह अतिथि अपने स्वीय (गृह) में अलंकृत किया जाता है। हे अग्निदेव, तुम सहस्र शृङ्गके वृषभ होकर अपनी सामर्थ्यसे अन्य सभीसे अत्यधिक प्रभावी हो, और इसीमें ही तुम्हारा ओज स्पष्ट रूपसे प्रतीत होता है।

[**मार्जाल्यः मृज्यते। मार्जाल्य**–' मृजा याने धोकर स्वच्छ करने योग्य';–दे. **घृतेन मृजन्ति** (ऋ. ७)। इस शब्दका अर्थ स्पष्ट है। निर्वचन शायद यों है **मृजा+आल**=मृजाल 'मृजायुक्त' + य = **मार्जाल्य** 'मृजायुक्त याने धोकर स्वच्छ किए जाने योग्य'। **मार्जालीय** (वेदिके पासका मिट्टीका वह टीला जिसपर यज्ञके बर्तन धोकर स्वच्छ किए जाते हैं) शब्दको भी इसी तरह बना हुआ समझें। **स्वे** याने **स्वे दमे**; बादके **दमूना** शब्दसे कविद्वारा सूचित **दमे** पदका अध्याहार – दे. १·१·८; १·१४३·४; ३·३५·७ आदि। **सहस्रशृङ्गः वृषभः**। अग्निको तीक्ष्ण नोंकदार सींगोंवाला बैल या वृषभ माना गया है; उसके सींग याने उसकी ज्वालाएं– दे. ५·२·९; ८·६०·१३; फिर भी ७·५५·७ का 'सहस्रशृङ्गोंवाला वृषभ' तो चन्द्र ही मालूम होता है। **तदोजाः** (बहुव्रीहि समास) तत् याने चौथे चरणमें कथित वस्तुसे संबद्ध– दे. **तदपाः** २·३८·१। **प्र असि अन्यान्** (अग्नीन्)। यहाँ **प्र** उपसर्गको ऋ. ९ के **प्र+अति** के बदले प्रयुक्त किया गया है। अतः इसका अन्वय द्वितीयाके साथ करें। ऋ. ८ अन्त तथा ९ आदिका स्पष्ट सादृश्य तथा दिखाई देनेवाली शृङ्खला ऋ. ४ तथा ५ के अनुसार ही समझ लें। अन्यत्र **प्र + अस्** धातुका अर्थ होता है 'पीछे छोड़ना; की अपेक्षा श्रेष्ठ होना' और इस अर्थमें यह धातु पञ्चमीसे अन्वित होता है। दे. १·१७३·६; ४·२६·४.]

९. हे अग्निदेव, अत्यन्त सुन्दर, संस्तवनीय, कौतुकभाजन, तेजस्वी, मानुषी प्रजाओंके प्रिय अतिथिके रूपमें तुम जिस पुरुषके लिए प्रकट होते हो, उसके (मंगलके लिए) आधे क्षणमें तुम अन्य सभीसे प्रभावी होते हो।

[**प्र+अति+एषि = प्रासि** (ऋचा ८); अन्यान् = **अग्नीन्** (७·१·४ तथा १४)। **मानुषीणां विशाम्**–मानवी प्रजा। दैवी, दासी एवं मानवी इन तीन प्रकारोंकी प्रजाओंका उल्लेख ऋग्वेदमें कई बार आता है–दे. ३.३४·२; ४.२८·४; ६·२५·२ आदि। **आरीः** अथवा **आर्याः विशः** का निर्देश भी १·९६·३; १०·११·४ में पाया जाता है।]

तुभ्यं भरन्ति क्षितयो यविष्ठ बलिमग्ने अन्तित ओत दूरात्।
आ भन्दिष्ठस्य सुमतिं चिकिद्धि बृहत्ते अग्ने महि शर्म भद्रम्॥ १०॥

तुभ्यम्। भरन्ति। क्षितयः। यविष्ठ। बलिम्। अग्ने। अन्तितः। आ। उत। दूरात्।
आ भन्दिष्ठस्य। सुऽमतिम्। चिकिद्धि। बृहत्। ते। अग्ने। महि। शर्म। भद्रम्॥१०॥

आद्य रथं भानुमो भानुमन्तमग्ने तिष्ठ यजतेभिः समन्तम्।
विद्वान् पथीनामुर्व१न्तरिक्षमेह देवान् हविरद्याय वक्षि॥ ११॥

आ। अद्य। रथम्। भानुऽमः। भानुऽमन्तम्। अग्ने। तिष्ठ। यजतेभिः। सम्ऽअन्तम्।
विद्वान्। पथीनाम्। उरु। अन्तरिक्षम्। आ। इह। देवान्। हविःऽअद्याय। वक्षि॥ ११॥

१०. हे अत्यन्त युवा अग्निदेव, सभी प्रजाजन समीप तथा दूर के प्रदेशोंसे भी (आकर) तुम्हें बलिनमर्पित करते हैं। हमारे अत्यंत सत्त्वशील (ऋत्विज) की इस सुन्दर संस्तुतिका प्रसन्नचित्त स्वीकार करो। हे अग्निदेव, तुम्हारी यह सुरक्षा विशाल तथा मङ्गल-प्रदायिनी है।

[**बलिंभरन्ति** राजा कहकर उपहार समर्पित करते हैं। दे. ७.६.५; ८.१००.९ तथा १०.१७३.६। **भन्दिष्ठ** ($\sqrt{}$ दृ-**भन्द्** 'प्रकाशित होना', दे. **भद्र**) इस शब्दमें कविका ही उल्लेख है। दे. १.९७.३। **सुमतिं चिकिद्धि**- दे. २.४३.३; साथ साथ **वचसः चिकिद्धि** ४.४.११; **वचः चिकिद्धि** ५.२२.४ **इदं मे आचिकिद्धि** १०.२८.४ जैसे प्रयोग भी द्रष्टव्य है। **सुमति** शब्द कविकृत सुष्टुति याने उत्तम स्तुतिका बोध करानेके लिए ऋग्वेदमें कई बार आता है। गेल्डनर जैसे आलोचकोंने **भन्दिष्ठ** को अग्निका विशेषण माना है; अतएव **सुमति** शब्दको 'कृपा' का वाचक माननेपर वे बाध्य हुए हैं। साथ साथ उन्हें मानना पड़ा कि स्वयं अपनेको या अपने अनुयायीको मनमें रखकर कविने तीसरे चरणको बीचमें ही डाल दिया। यह सब यहाँ आवश्यक नहीं है; दे- सायणभाष्य।]

११. हे तेजःपुञ्ज अग्निदेव, यज्ञार्ह देवताओंके साथ आज अपने तेजस्वी रथपर आरूढ हो जाओ। तथा इस विशाल अन्तरिक्षका (और उसमें भूलोकको जानेवाले) सभी मार्गोंका जानकार होनेके कारण हमारे यहाँ हविष्यान्न भक्षण करनेके लिये सभी देवोंको साथ लेकर आओ।

[**यजतेभिः** (**भिः** दे.-२.५.८; ६.५०.२ **समन्तम्** (क्रियाविशेषण) 'साथ साथ'; अथवा इसे **रथम्** का विशेषण मान लें। **विद्वान्** का **पथीनाम्** के साथ साथ **अन्तरिक्षम्** के साथ अन्वय करें।]

अवो॑चाम क॒वये॒ मेध्या॑य॒ वचो॑ व॒न्दारु॑ वृष॒भाय॒ वृष्णे॑।
गवि॑ष्ठिरो॒ नम॑सा॒ स्तोम॑म॒ग्नौ दि॒वी॑व रु॒क्मम्मु॑रु॒व्यञ्च॑मश्रेत् ॥ १२ ॥

अवो॑चाम। क॒वये॑। मेध्या॑य। वचः॑। व॒न्दारु॑। वृ॒ष॒भाय॑। वृष्णे॑।
गवि॑ष्ठिरः। नम॑सा। स्तोम॑म्। अ॒ग्नौ। दि॒विऽइ॑व। रु॒क्मम्। उ॒रु॒ऽव्यञ्च॑म्। अ॒श्रे॒त् ॥ १२ ॥

१२. इस यज्ञार्ह कविको, इस पराक्रमी वृषभको, हमने वन्दनशील स्तुतिवचनका पाठ समर्पित किया है। आकाशमें (प्रस्थापित), दीर्घगामी, सुवर्णगोलके (याने सूर्यके) सदृश अपना (अत्यन्त तेजस्वी) स्तोत्र इस गविष्ठिर ऋषिने अग्निदेव को नमनपूर्वक समर्पित किया है।

[दूसरे चरणमें अनुप्रास स्पष्ट है। **वन्दारु वचः** – दे. **वन्दते गीः** १·१७३·१२; **वन्दरे वाक्** १०·११५·८। **वन्दारु** शब्द 'वन्दनशील स्तोत्र' के अर्थमें भी प्रयुक्त हुआ है–दे.४·४३·१ तथा ८·४·२। उत्तरार्धमें **तेजस्विता** के विषयमें स्तोत्रकी 'दिव्य रुक्म' याने सूर्य (दे. ७·६३·४; ६·५१·१) के साथ तुलना की गई है। (**शुक्रं** पदका अभ्याहार करें। सूर्य भी शुक्र है और साथ साथ स्तोम भी। दे. **शुक्रः सूर्यः** १·४३·५; ६·४·३; **शुक्रा मनीषा** ७·३४·१ तथा **शुक्रवर्णां धियम्** १·१४३·७]

४०

५·११·१–६ सुतंभर आत्रेयः ॥ अग्निः ॥ जगती ॥

जनस्य गोपा अजनिष्ट जागृविरग्निः सुदक्षः सुविताय नव्यसे ।
घृतप्रतीको बृहता दिविस्पृशा द्युमद्वि भाति भरतेभ्यः शुचिः ॥ १ ॥

जनस्य । गोपाः । अजनिष्ट । जागृविः । अग्निः । सुऽदक्षः । सुविताय । नव्यसे ।
घृतऽप्रतीकः । बृहता । दिविऽस्पृशा । द्युऽमत् । वि । भाति । भरतेभ्यः । शुचिः ॥ १ ॥

यज्ञस्य केतुं प्रथमं पुरोहितमग्निं नरस्त्रिषधस्थे समीधिरे ।
इन्द्रेण देवैः सरथं स बर्हिषि सीदन्नि होता यजथाय सुक्रतुः ॥ २ ॥

यज्ञस्य । केतुम् । प्रथमम् । पुरःऽहितम् । अग्निम् । नरः । त्रिऽसधस्थे । सम् । ईधिरे ।
इन्द्रेण । देवैः । सऽरथम् । सः । बर्हिषि । सीदत् । नि । होता । यजथाय । सुऽक्रतुः ॥२॥

१. लोगोंके नित्यनूतन मंगलके लिए, उनके अत्यन्त कुशल तथा जागरूक रक्षणकर्ताके रुपमें यह अग्निदेव उत्पन्न हुआ है । घृतकी तरह पवित्र दिखाई देनेवाला यह अग्निदेव अपने महान् गगनचुम्बी (रश्मिसमूह) से भरत–कुलोत्पन्न वीरोंके लिए अपने वैभवसे विशेष प्रज्वलित होता है ।

[**बृहता** के बाद **भानुना** पदका अध्याहार करें;–दे. ३·२१·४; १·३६·३ । **भरतेभ्यः** दे. **भरतस्य अग्निः** ७·८·४ । ऋग्वेदके विख्यात व्यक्तियोंमें भरतकुलमें उत्पन्न वीरोंकी तथा उनके राजा सुदासकी गणना की जाती है । उनके द्वारा आराधित अग्निको भी कुछ अवसरोंपर **भारतः** [१·२५·४; ६।१६।१९] अथवा **भरतः** [१·९६·३] कहा गया है ।]

२. हमारे ऋत्विजोंने, इस यज्ञके ध्वजस्थानीय श्रेष्ठ पुरोहित अग्निदेव को, उसके तीन निवासकुण्डोंसे युक्त स्थानपर (याने वेदिपर) प्रज्वलित किया है । वह उत्तम प्रतिभाशाली अग्निदेव, इन्द्र तथा अन्य देवोंको अपने साथ रथमें (यहाँ ले आकर), उनका पूजन करनेके लिये होता बनकर, हमारे इस कुशासनपर विराजमान हो जायँ ।

[**त्रिषधस्थे** के बाद **स्थाने** पदका अध्याहार करें । यहाँ अभिप्राय उस वेदिसे है जिसमें यज्ञकुण्ड हो । दे. **त्रिषधस्थे बर्हिषि** (१·४७·४) जहाँ **बर्हिः** शब्द लक्षणाकी सहायतासे वेदिका बोध कराता है । कभी कभी अन्य देवोंकी तरह अग्निको भी **त्रिषधस्थ** कहा गया है; ऐसे अवसरोंपर उसके तीन सधस्थोंसे तीन लोकोंका बोध होता है यह समझना चाहिए–दे. ४·५०·१ की टिप्पणी ।]

असंमृष्टो जायसे मात्रोः शुचिर्मन्द्रः कविरुदतिष्ठो विवस्वतः ।
घृतेन त्वावर्धयन्नग्न आहुत धूमस्ते केतुरभवद्दिवि श्रितः ॥ ३ ॥
असम्ऽमृष्टः । जायसे । मात्रोः । शुचिः । मन्द्रः । कविः । उत् । अतिष्ठः । विवस्वतः ।
घृतेन । त्वा । अवर्धयन् । अग्ने । आऽहुत । धूमः । ते । केतुः । अभवत् । दिवि । श्रितः ॥३॥
अग्निर्नो यज्ञमुप वेतु साधुयाग्निं नरो वि भरन्ते गृहेगृहे ।
अग्निर्दूतो अभवद्धव्यवाहनोऽग्निं वृणाना वृणते कविक्रतुम् ॥ ४ ॥
अग्निः । नः । यज्ञम् । उप । वेतु । साधुऽया । अग्निम् । नरः । वि । भरन्ते । गृहेऽगृहे ।
अग्निः । दूतः । अभवत् । हव्यऽवाहनः । अग्निम् । वृणानाः । वृणते । कविऽक्रतुम् ॥ ४ ॥
तुभ्येदमग्ने मधुमत्तमं वचस्तुभ्यं मनीषा इयमस्तु शं हृदे ।
त्वां गिरः सिन्धुमिवावनीर्महीरा पृणन्ति शवसा वर्धयन्ति च ॥ ५ ॥
तुभ्यं । इदम् । अग्ने । मधुमत्ऽतमम् । वचः । तुभ्यम् । मनीषा । इयम् । अस्तु । शम् । हृदे ।
त्वाम् । गिरः । सिन्धुम्ऽइव । अवनीः । महीः । आ । पृणन्ति । शवसा । वर्धयन्ति । च ॥५॥

३. प्रक्षालन किये बिना सहज निर्मल, रमणीय ऐसे तुम अपनी दो माताओं से जन्म ग्रहण करते हो। (आज) अपने तेजस्वी (यजमान) का मधुरवाक कवि बनकर तुम (हमारे इस यज्ञस्थानमें) उपस्थित हो रहे हो। हे आहुतिप्राप्त अग्निदेव, (ऋत्विजोंने) घृतसे तुम्हारा संवर्धन किया, (और उससे) धूम, जो तुम्हारा ध्वज है, आकाशमें फैल गया है।

[**असंमृष्ट** फिर भी **शुचिः** याने उत्पन्न होते ही हरेक प्राणीको नहलाकर, धोंकर या चाटकर स्वच्छ करना पड़ता है; किन्तु अग्नि इसके लिए अपवाद है। **मात्रोः**–दो अरणियोंको ऋग्वेदके कवियोंने कहीं कहीं अग्निकी माताएं [७.३.९; ८.६०.१५] तो किन्हीं अवसरोंपर उसके माता एवं पिता [१.३१.४; ३.२९.१, १४ भी माना है। **विवस्वतः**–विवस्वान् शब्द ऋग्वेदमें कई बार यज्ञकर्ता यजमानोंके मूल पुरुषके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। **धूमस्ते केतुः**–धूम या धुआँ अग्निकी ध्वजाके रूपमें आकाशमें फहराता रहता है– दे. ७.१६.३ ।]

४. यह अग्निदेव हमारे यज्ञका अच्छी तरहसे स्वीकार करे। सभी लोग अपने-अपने घरमें इस अग्निको अलग-अलग रूपसे लाते रहते हैं। वह अग्नि भी देवोंके पास उनके हव्य पहुँचानेवाला दूत बन गया है। अग्निको (दूत) निर्वाचित करनेवाले (ऋत्विज) उनके द्वारा कविकी प्रतिभा धारण करनेवाले (दूत) का ही निर्वाचन करते हैं (इसमें सन्देह नहीं)।

[**साधुया**–दे. ४.३०.१३ में **धृष्णुया** की टिप्पणी।]

५. हे अग्निदेव, मेरा यह अत्यन्त मधुर स्तोत्र तुम्हारे लिये है। यह मेरी प्रार्थना तुम्हारे हृदयको सुखदायिनी हो। ये हमारी स्तुतिवाणियाँ, समुद्रमें प्रवेश करनेवाली विशाल नदियोंकी तरह तुम्हारे हृदयमें ओतप्रोत रहती हैं और तुम्हें बल प्रदान करके शक्तिशाली बनाती हैं।

त्वाम॑ग्ने अङ्गि॑रसो गुहा॑ हि॒तमन्व॑विन्दञ्छिश्रिया॒णं वने॑वने ।
स जा॑यसे म॒थ्यमा॑नः सहो॑ म॒हत्त्वामा॑हुः सह॑सस्पु॒त्रम॑ङ्गिरः ॥ ६ ॥

त्वाम् । अ॒ग्ने॒ । अङ्गि॑रसः । गुहा॑ । हि॒तम् । अनु॑ । अ॒वि॒न्द॒न् । शि॒श्रि॒या॒णम् । वने॑ऽवने ।
सः । जा॒य॒से॒ । म॒थ्यमा॑नः । सहः॑ । म॒हत् । त्वाम् । आ॒हुः॒ । सह॑सः । पु॒त्रम् । अ॒ङ्गि॒रः॒ ॥६॥

[**मधुमत्तमं वचः-मधुमत्** या **मधुमत्तमम्** कई बार **वचः** अथवा **स्तोमासः** के विशेषणके रूपमें प्रयुक्त हुआ है । **शं हृदे** दे. १·७३·१० । उत्तरार्धकी उपमाके लिए दे. ८·६·३५ तथा ८·४४·२५ ।]

६. हे अग्निदेव, हर एक वृक्षमें आश्रय लेकर रहनेवाले और (उधर) प्रच्छन्न रीतिसे रक्खे हुए तुम्हें आङ्गिरस ऋषियोंने खोज निकाला । वह तुम मन्थन किये जाने पर, मूर्तिमान् विशाल सामर्थ्यके रूपमें, प्रकट होते हो । इसी लिये, हे आङ्गिरःकुलोत्पन्न अग्निदेव, तुम्हें शक्तिका पुत्र कहते हैं ।

[**शिश्रियाणं वने वने** दे. १०·९१·२ । **सहो (महत्)** अग्निको ही **सहः (महत्)** कहा गया है, इतना ही नहीं; ऋ. ७·८·४ में तो उसे **बृहत् भाः** 'बड़ा तेज' भी कहा गया है । साथ साथ ५·३२·७ में इन्द्रके शस्त्रको **सहो अप्रतीतम्** तथा ८·९६·१७ में लक्षणाकी सहायतासे वृत्रको भी **अप्रतिमानं ओजः** कहा गया है । **अङ्गिरसो अन्वविन्दन्**-ऋग्वेदमें अन्यत्र यह कथन है कि भृगुओंने अग्निका अन्वेषण किया और बादमें उसे मानवोंको सौंपा, दे. मैक्डोनलरचित 'वेदिक मायथॉलॉजी' पृ. १४० ।]



४१

५·२६.१–९ वसूयव आत्रेयाः ॥ अग्निः ॥ ९ विश्वे देवाः ॥ गायत्री ॥

अग्ने॑ पावक रो॒चिषा॑ म॒न्द्रया॑ देव जि॒ह्वया॑ । आ दे॒वान् व॑क्षि॒ यक्षि॑ च ॥ १ ॥

अग्ने॑ । पा॒व॒क॒ । रो॒चिषा॑ । म॒न्द्रया॑ । दे॒व॒ । जि॒ह्वया॑ । आ । दे॒वान् । व॒क्षि॒ । यक्षि॑ । च॒ ॥१॥

तं त्वा॑ घृतस्नवीमहे॒ चित्र॑भानो स्व॒र्दृश॑म् । दे॒वाँ आ वी॒तये॑ वह ॥ २ ॥

तम् । त्वा॒ । घृ॒त॒स्नो॒ इति॑ घृतऽस्नो । ई॒म॒हे॒ । चित्र॑भानो॒ इति॒ चित्र॑ऽभानो । स्वः॒ऽदृश॑म् । दे॒वान् । आ । वी॒तये॑ । व॒ह॒ ॥ २ ॥

वी॒तिहो॑त्रं त्वा कवे द्यु॒मन्तं॒ समि॑धीमहि । अग्ने॑ बृ॒हन्त॑मध्व॒रे ॥ ३ ॥

वी॒ति॒ऽहो॑त्रम् । त्वा॒ । क॒वे॒ । द्यु॒ऽमन्त॑म् । सम् । इ॒धी॒म॒हि॒ । अग्ने॑ । बृ॒हन्त॑म् । अ॒ध्व॒रे ॥ ३ ॥

१. हे पावित्र्यके निर्माता अग्निदेव, अपनी दीप्तिस्वरूप, आनन्दप्रदायिनी रसनासे देवोंको यहाँ आवाहित करो तथा उनका पूजन करो ।

[**वक्षि यक्षि च** वर्तमानकाल द्वितीय पुरुष एकवचन । ' सि ' यह प्रत्यय ऋग्वेदमें कभी कभी सीधे धातुसे ही जोड़ा जाता है और उसका अर्थ होता है आज्ञा या विज्ञप्ति । दे. व्हिटनेका व्याकरण पृ. ६२४ तथा मैक्डोनलकृत वेदिक ग्रामर फॉर स्टुडंटस् पृ. १४० ।

२. हे घृतसे स्नपित पृष्ठवाले, तथा मनोहर दीप्ति धारण करनेवाले अग्निदेव, तुम सूर्यके समान दीखनेवाले हो । तुम्हारी हम प्रार्थना करते हैं । हविष्योंका उपभोग लेनेके लिए देवोंको लेकर यहाँ आओ ।

[**घृतस्नो**–ऋग्वेदके इस शब्द में कभी पूर्वपदपर उदात्त स्वर दिखाई देता है तो कभी उत्तरपदपर । यदि पूर्वपद उदात्त हो तो उसे बहुव्रीहि समास समझकर स्नु शब्दको सानुके अर्थमें मान लें (घृतं स्नु = सानु यस्य) और यदि उत्तरपद उदात्त हो तो स्नु को √स्ना धातुसे बनाया गया विशेषण मानना (घृतेन स्नाति सः) समीचीन होगा । प्रस्तुत स्थानपर यह शब्द संबोधनात्मक है, इसलिए इसपर निघात स्वर है । फलतः उपर्युक्त दो शब्दोंमेंसे यह किसका रूप है यह निर्धारित करना कठिन है । **स्वर्दृशम्** (तत्पु.) ' सूर्यके सदृश दिखाई देनेवाला ' अथवा ' सूर्यके दर्शन करनेवाला ' । यह शब्द जब देवताके विशेषणके रूपमें प्रयुक्त हो तब इसका पहला अर्थ ही ठीक समझ लें और अन्योंके विशेषणके रूपमें प्रयुक्त होनेपर दूसरा । सूर्यदर्शनका अनुभव करना ऋग्वेदमें दीर्घायुष्य एवं सुस्थिर आरोग्यका सूचक या द्योतक माना गया है। दे. ७·६६·१६ के साथ साथ ४·२५·४, ६·५२·५, ९·४·६; १०·३७·७,८; १०·५९·४, ६ ।]

३. हे कवे, हे अग्निदेव, भोजनके लिए निमंत्रकका कर्म करनेवाले तुम महान् और दीप्तिशाली हो । तुम्हें हम इस यज्ञमें प्रदीप्त करें ।

अग्ने विश्वेभिरा गहि देवेभिर्हव्यदातये। होतारं त्वा वृणीमहे ॥ ४ ॥

अग्ने। विश्वेभिः। आ। गहि। देवेभिः। हव्यऽदातये। होतारम्। त्वा। वृणीमहे ॥ ४ ॥

यजमानाय सुन्वत आग्ने सुवीर्यं वह। देवैरा सत्सि बर्हिषि ॥ ५ ॥

यजमानाय। सुन्वते। आ। अग्ने। सुवीऽर्यम्। वह। देवैः। आ। सत्सि। बर्हिषि ॥ ५ ॥

समिधानः सहस्रजिदग्ने धर्माणि पुष्यसि। देवानां दूत उक्थ्यः ॥ ६ ॥

सम्ऽइधानः। सहस्रऽजित्। अग्ने। धर्माणि। पुष्यसि। देवानाम्। दूतः। उक्थ्यः ॥ ६ ॥

न्य१ग्निं जातवेदसं होत्रवाहं यविष्ठ्यम्। दधाता देवमृत्विजम् ॥ ७ ॥

नि। अग्निम्। जातऽवेदसम्। होत्रऽवाहम्। यविष्ठ्यम्। दधात। देवम्। ऋत्विजम् ॥ ७ ॥

प्र यज्ञ एत्वानुषगद्या देवव्यचस्तमः। स्तृणीत बर्हिरासदे ॥ ८ ॥

प्र। यज्ञः। एतु। आनुषक्। अद्य। देवव्यचःऽतमः। स्तृणीत। बर्हिः। आऽसदे ॥ ८ ॥

[**वीतिहोत्रम्** (बहुव्रीहि समास, वीतौ होत्रं यस्य)। **होत्रम्** = होतृकर्म दे. १.७६.४, २.१.२ आदि। साथ साथ दे. **होत्राय वृतः** १०.९८.७।

४. हमारे इस हव्यदानके लिए, हे अग्निदेव, तुम सभी देवोंके साथ उपस्थित रहो। हम तुम्हें अपना होता मान कर निर्वाचित करते हैं।

५. हे अग्निदेव, (देवोंके लिए) सोम पीस कर निचोड़नेवाले यजमानके लिए उत्तम वीर्य प्राप्त करा दो। सभी देवोंके साथ हमारे इस कुशासनपर तुम प्रतिष्ठित हो जाओ।

६. हे सहस्रों उपहारोंके विजेता अग्निदेव, प्रदीप्त किए गए तुम देवोंके प्रशंसापात्र दूत बनकर धार्मिक कृत्योंकी रक्षा करते हो।

७. अग्निदेव सभी जातमात्रोंका ज्ञानी, हव्यवाहक, अत्यन्त युवक एवं दैवी ऋत्विज् है। उसे (कुण्डमें) प्रस्थापित करो।

[**होत्रवाहम्** यहाँ होत्रका अर्थ है वह द्रव्य जिसका हवन किया गया हो; हव्य। दे. **मम होत्रं जुषध्वम्–जुषन्ताम्** १०.५३.४,५ साथ साथ **आ नो होत्राय पृथिवी ववृत्याः** ६.११.१। **यविष्ठ्यम्**– आठ या बारह अक्षरोंवाले चरणके अन्तमें **यविष्ठ** का रूप **यविष्ठ्य** होता है और अन्तिम चार अक्षरोंके स्थानपर होनेसे उच्चारणके समयपर इसे **यविष्ठिअ** करना पड़ता है।]

८. जिसमें देवोंको अधिकसे अधिक स्थान प्राप्त हो सकता है ऐसे हमारे यज्ञकी निर्बाध रूपसे प्रगति हो। (उन देवोंको) अपने अपने स्थानपर विराजमान होनेके लिए अपना कुशासन फैल दीजिये।

[**देवव्यचस्तमः** दे, १.१४२.५ की टिप्पणी।]

एदं मरुतो अश्विना मित्रः सीदन्तु वरुणः देवासः सर्वया विशा ॥ ९ ॥
आ । इदम् । मरुतः । अश्विना । मित्रः । सीदन्तु । वरुणः । देवासः । सर्वया । विशा ॥ ९ ॥

९. हमारे इस (कुशासन) पर मरुद्गण, अश्विनीकुमार, मित्र वरुण; तथा अन्य सभी देव अपने अपने सभी अनुयायियों के साथ विराजमान हो जायँ ।

[**सर्वया विशा**-वह दैवी प्रजा जो देवोंकी अनुयायिनी हो । दे. **देवानां विशः** १·५०·५ तथा ५·१·९ की टिप्पणी ।]

४२

५·५७.१–८ श्यावाश्व आत्रेयः ॥ मरुतः ॥ १–६ जगती । ७·८ त्रिष्टुप् ॥

आ रुद्रास इन्द्रवन्तः सजोषसो हिरण्यरथाः सुविताय गन्तन ।
इयं वो अस्मत् प्रति हर्यते मतिस्तृष्णजे न दिव उत्सा उदन्यवे ॥ १ ॥

आ । रुद्रासः । इन्द्रऽवन्तः । सऽजोषसः । हिरण्यऽरथाः । सुविताय । गन्तन ।
इयम् । वः । अस्मत् । प्रति । हर्यते । मतिः । तृष्णऽजे । न । दिवः । उत्साः । उदन्यवे ॥ १ ॥

वाशीमन्त ऋष्टिमन्तो मनीषिणः सुधन्वान इषुमन्तो निषङ्गिणः ।
स्वश्वाः स्थ सुरथाः पृश्निमातरः स्वायुधा मरुतो याथना शुभम् ॥ २ ॥

वाशीऽमन्तः । ऋष्टिऽमन्तः । मनीषिणः । सुऽधन्वानः । इषुऽमन्तः । निषङ्गिणः ।
सुऽअश्वाः । स्थ । सुऽरथाः । पृश्निऽमातरः । सुऽआयुधाः । मरुतः । याथन । शुभम् ॥ २ ॥

१. हे रुद्रो, जिनके सुवर्णमय रथ हैं तथा जिनका नेता इन्द्र है, ऐसे तुम सभी सुसंतुष्ट होकर हमारे मङ्गलके लिए यहाँ आओ । पिपासाकुल अत एव जलकी अभिलाषा करनेवाले मनुष्यके समीप जिस प्रकार स्वर्गीय स्रोत प्रसन्नतासे पहुँचते हैं उसी प्रकार यह स्तुति हमारी ओरसे तुम्हें प्रेमसे मिलने आ रही है ।

[**रुद्रासः**–दे. १·८५·२ की टिप्पणी । **इन्द्रवन्तः**–दे. **इन्द्रज्येष्ठाः मरुतः** ६·५१·१५ । इन्द्र सभी योद्धाओंका नायक है, अतएव १·११६·२१ में अश्विनोंको तथा ४·३३·३ में ऋभुओंको भी **इन्द्रवन्तः** कहा गया है । मरुद्गण तो उसके परम सखा एवं उसके स्तोत्रोंका गान करनेवाले कवि भी हैं; दे. १·८५·२,९ आदि । **वः** चतुर्थी है । **तृष्णजे**–दे. ७·३३·५ (**उद् द्यामिवेत् तृष्णजो नाथितासः अदीधयुः**) ।]

२. हे पृश्निपुत्रो, तुम्हारे पास कुठार, भाला, बड़े बड़े धनुष, सभी प्रकारके बाण, तूणीर, उत्तम अश्व तथा उत्तम रथ भी हैं, साथ ही तुम प्रतिभाशाली हो । हे मरुद्गणो, अपने सभी प्रकारके आयुधोंसे सुसज्ज होकर तुम बड़ी शानसे आगे बढ़ते जाते हो ।

[**शुभम्** द्वितीयान्त क्रियाविशेषण है; दे. **शुभे** चतुर्थ्यन्त क्रियाविशेषण ऋ. ३ ।]

धूनुथ द्यां पर्वतान् दाशुषे वसु नि वो वना जिहते यामनो भिया।
कोपयथ पृथिवीं पृश्निमातरः शुभे यदुग्राः पृषतीरयुग्ध्वम् ॥ ३ ॥
धूनुथ। द्याम्। पर्वतान्। दाशुषे। वसु। नि। वः। वना। जिहते। यामनः। भिया।
कोपयथ। पृथिवीम्। पृश्निऽमातरः। शुभे। यत्। उग्राः। पृषतीः। अयुग्ध्वम् ॥ ३ ॥
वातत्विषो मरुतो वर्षनिर्णिजो यमाइव सुसदृशः सुपेशसः।
पिशङ्गाश्वा अरुणाश्वा अरेपसः प्रत्वक्षसो महिना द्यौरिवोरवः ॥ ४ ॥
वातऽत्विषः। मरुतः। वर्षऽनिर्निजः। यमाःऽइव। सुऽसदृशः। सुऽपेशसः।
पिशङ्गऽअश्वाः। अरुणऽअश्वाः। अरेपसः। प्रऽत्वक्षसः। महिना। द्यौःऽइव। उरवः ॥ ४ ॥
पुरुद्रप्सा अञ्जिमन्तः सुदानवस्त्वेषसंदृशो अनवभ्रराधसः।
सुजातासो जनुषा रुक्मवक्षसो दिवो अर्का अमृतं नाम भेजिरे ॥ ५ ॥
पुरुऽद्रप्साः। अञ्जिऽमन्तः। सुऽदानवः। त्वेषऽसंदृशः। अनवभ्रऽराधसः।
सुऽजातासः। जनुषा। रुक्मऽवक्षसः। दिवः। अर्काः। अमृतम्। नाम। भेजिरे ॥ ५ ॥

३. स्वर्ग और पर्वतों को हिलाकर उनपरसे दानवीर यजमानके लिए तुम द्रव्यकी वर्षा करते हो। तुम्हारी दौड़के भयसे विशाल वृक्ष भी नीचे झुककर विनम्र हो जाते हैं। हे उग्र पृश्निपुत्रो, जिस समय विशाल ऐश्वर्यसे तुम अपनी विचित्रवर्ण घोड़ियोंको (रथमें) जोतते हो, उस समय तुम समूची धरतीको हिला देते हो।

[**धूनुथ द्यां वसु** = √धू धातु का दो कर्मोंके साथ अन्वय करें। **नि जिहते वना** दे. ५·६०·२। **पृषतीः**–दे. १·८५·४ की टिप्पणी।

४. ये मरुद्गण वायुसदृश सुलभकोप हैं, और वृष्टिस्वरूप धौतवस्त्रसे वे अपनी देह आवृत कर देते हैं। जुड़वा शिशुओंकी तरह ये अत्यन्त परस्पर मिलते-जुलते और उत्तम सौन्दर्यशाली प्रतीत होते हैं। इनके घोड़े सुवर्णसदृश और ताम्रवर्णके हैं। ये कलङ्कविहीन और अत्यन्त बलशाली होकर, विस्तारसे द्युदेवतुल्य एवं अत्यन्त विशाल हैं।

[**वर्षनिर्णिजः**–दे. १·१९ की टिप्पणी। **पिशङ्गाश्वाः अरुणाश्वाः**–चित्रमृगियोंके (**पृषतीः**) स्थानपर कभी कभी मरुद्गण घोड़ोंको भी जोतते है।]

५. ये मरुद्गण विपुल वृष्टिके प्रदाता, आभूषणोंसे मण्डित, अत्यन्त दानवीर, दीखनेमें क्रोधी किन्तु बड़े बड़े उपहारोंके प्रदाता हैं। अभिजात कुलमें समुत्पन्न, जन्मसे ही वक्षःस्थलपर सुवर्णालंकारसे भूषित इन स्वर्गीय गायकोंने अमर कीर्ति प्राप्त कर ली है।

ऋष्टयो वो मरुतो अंसयोरधि सह ओजो बाह्वोर्वो बलं हितम् ।
नृम्णा शीर्षस्वायुधा रथेषु वो विश्वा वः श्रीरधि तनूषु पिपिशे ॥ ६ ॥

ऋष्टयः । वः । मरुतः । अंसयोः । अधि । सहः । ओजः । बाह्वोः । वः । बलम् । हितम् ।
नृम्णा । शीर्षऽसु । आयुधा । रथेषु । वः । विश्वा । वः । श्रीः । अधि । तनूषु । पिपिशे ॥ ६ ॥

गोमदश्वावद्रथवत् सुवीरं चन्द्रवद्राधो मरुतो ददा नः ।
प्रशस्तिं नः कृणुत रुद्रियासो भक्षीय वोऽवसो दैव्यस्य ॥ ७ ॥

गोऽमत् । अश्वऽवत् । रथऽवत् । सुऽवीरम् । चन्द्रऽवत् । राधः । मरुतः । दद । नः ।
प्रऽशस्तिम् । नः । कृणुत । रुद्रियासः । भक्षीय । वः । अवसः । दैव्यस्य ॥ ७ ॥

[**पुरुद्रप्साः** (बहुव्रीहि) **द्रप्स** ' पावसकी बूँदें ' दे. ५.६३.४ । **अञ्जि** -' सुन्दर आभूषण ', ' गहने ' । शस्त्रास्त्रोंके साथ मरुद्गणोंको सुन्दर आभूषण पहननेका भी बड़ा शौक है; दे. १.८५.३ । **दिवो अर्काः** ' स्वर्गीय गायक ' । **अमृतं नाम**-अमर कीर्ति । दे. **यदीमिन्द्रं शमी ऋक्वाण आशत आदिन्नामानि यज्ञियानि दधिरे** १.८७.५ ' जब ये स्वर्गीय गायक अपने विक्रमके साथ इन्द्रके पक्षमें सम्मिलित हुए; उसी समय उन्होंने यज्ञमें अपने लिए सराहनीय यश अर्जित किया ।']

६. हे मरुद्गणो, तुम्हारे कन्धोंपर भाले और भुजाओंमें (शत्रुओंको परास्त करनेकी) सामर्थ्य, ओज तथा बल (देवोंने) स्थापित किया है । तुम्हारे दिमागमें पराक्रम (के विचार) तथा रथोंमें सभी प्रकारके आयुध रक्खे हैं । सभी प्रकारकी सौभाग्यलक्ष्मी तुम्हारे शरीरोंपर चित्रित हो रही है ।

[**नृम्णा शीर्षसु**-इसके स्थानपर ऋ ५.५४.११ में वर्णन है-**शिप्राः शीर्षसु वितता हिरण्ययीः।** इसी तरहका वर्णन ८।७।२५ में भी विद्यमान है । इन्द्रके विषयमें भी इसी तरहका वर्णन ऋ. २.१६.२ तथा ८.६.३ में पाया जाता है; वहाँ कहा गया है कि उसके मस्तकमें क्रतु याने ' बुद्धिमत्ता ' है। **विश्वा श्रीः**- दे. १०.१२७.१ तथा १.१३९.३ ।

७. हे मरुद्गणो, गायों, घोडों, रथों, वीरों, अनुयायियों तथा सुवर्ण से परिपूर्ण उपहार हमें दो । हे रुद्रपुत्रो, (अन्य देवोंके पास) हमारी संस्तुति करो और तुम्हारे दैवी प्रसादका उपभोग मुझे प्राप्त होने दो ।

[**प्रशस्तिं कृणुत**—२.४१.१६ में सरस्वतीकी इसी तरह प्रार्थना की गई है । वहाँ तो प्रार्थनाके साथ यह भी कहा गया है कि **अप्रशस्ता इव स्मसि** याने ' हमारी ओर कोई ध्यान ही नहीं देता ' । **भक्षीय वोऽवसो**- दे. ८.४८.७ ।

ह्ये नरो मरुतो मृळता नस्तुवीमघासो अमृता ऋतज्ञाः ।
सत्यश्रुतः कवयो युवानो बृहद्गिरयो बृहदुक्षमाणाः ॥ ८ ॥

ह्ये । नरः । मरुतः । मृळत । नः । तुविऽमघासः । अमृताः । ऋतऽज्ञाः ।
सत्यऽश्रुतः । कवयः । युवानः । बृहत्ऽगिरयः । बृहत् । उक्षमाणाः ॥ ८ ॥

८. हे वीर मरुद्गणो, हे समर्थ उपहारोंके प्रदाताओ, हे अमर्त्य ऋतके ज्ञाताओ, हे स्तुतिके अमोघ श्रोताओ, हे युवा कवियो, हे विशाल पर्वतोंके निवासियो, अधिक समृद्ध होकर तुम हमारे ऊपर कृपादृष्टि रखो ।

[**ह्ये** संबोधनार्थक अव्यय है । ऋग्वेदमें इसके सिवाय केवल दो स्थानोंपर यह प्रयुक्त हुआ है:- **ह्ये देवाः** २.२९.४ और **ह्ये जाये** १०.९५.१ । **उक्षमाणाः** को छोड़कर प्रस्तुत ऋचाके सभी विशेषण संबोधनात्मक हैं और स्वतंत्र रूपसे उद्दिष्ट होनेके कारण इनमेंसे प्रत्येकके पहले अक्षरपर उदात्त स्वर दिया गया है । तीसरे चरणकी रचना ध्यान देने योग्य है । इसमें अक्षर तो सिर्फ़ दस ही हैं; किन्तु स्पष्ट है कि यहाँ **सत्य** का **सतिअ** के रूपमें उच्चारण करके एक अक्षरको बढ़ाना असमीचीन होगा, क्योंकि ६।४९।६ के ' सत्यश्रुतः कवयो ' में सात ही अक्षर गिने गए हैं । सच बात तो यह दिखाई देती है कि इस चरणके आरम्भका अंश पाँचके बदले चार ही अक्षरोंका है और बादके दो अंश सिर्फ़ तीन तीन अक्षरोंके ही हैं । स्पष्ट है कि मूलमें एक अक्षर तो कम ही है । **बृहद्गिरयः** ' ऊँचे ऊँचे पहाड़ों या पर्वतों पर रहनेवाले ' (बहुव्रीहि) । दे. **गिरिष्ठां मारुतं गणम्** ८.९४.१२ । गिरि अथवा पर्वत शब्दका अभिप्राय प्रायः वर्षकालीन मेघसे होगा; दे. १.१९.७ ।]

४३

५.६३.१–७ अर्चनाना आत्रेयः ॥ मित्रावरुणौ ॥ जगती ॥

ऋतस्य गोपावधि तिष्ठथो रथं सत्यधर्माणा परमे व्योमनि ।
यमत्र मित्रावरुणावथो युवं तस्मै वृष्टिर्मधुमत् पिन्वते दिवः ॥ १ ॥
ऋतस्य । गोपौ । अधि । तिष्ठथः । रथम् । सत्यऽधर्माणा । परमे । विऽओमनि ।
यम् । अत्र । मित्रावरुणा । अवथः । युवम् । तस्मै । वृष्टिः । मधुऽमत् । पिन्वते । दिवः ॥ १ ॥
सम्राजावस्य भुवनस्य राजथो मित्रावरुणा विदथे स्वर्दृशा ।
वृष्टिं वां राधो अमृतत्वमीमहे द्यावापृथिवी वि चरन्ति तन्यवः ॥ २ ॥
सम्ऽराजौ । अस्य । भुवनस्य । राजथः । मित्रावरुणा । विदथे । स्वःऽदृशा ।
वृष्टिम् । वाम् । राधः । अमृतऽत्वम् । ईमहे । द्यावापृथिवी इति । वि । चरन्ति । तन्यवः ॥२॥
सम्राजा उग्रा वृषभा दिवस्पती पृथिव्या मित्रावरुणा विचर्षणी ।
चित्रेभिरभ्रैरुप तिष्ठथो रवं द्यां वर्षयथो असुरस्य मायया ॥ ३ ॥
सम्ऽराजौ । उग्रा । वृषभा । दिवः । पती इति । पृथिव्याः । मित्रावरुणा । विचर्षणी इति विऽचर्षणी ।
चित्रेभिः । अभ्रैः । उप । तिष्ठथः । रवम् । द्याम् । वर्षयथः । असुरस्य । मायया ॥ ३ ॥

---

१. ऋतके अभिभावक, अपने अमोघ नियमोंके पालनकर्ता, तुम अत्युच्च स्वर्गलोकमें अपने रथपर आरूढ़ होते हो । हे मित्र, हे वरुण, जिस पुरुषपर तुम अनुग्रह करते हो, उसके लिए स्वर्गसे विपुल मात्रामें मधुररसयुक्त पर्जन्यवृष्टि होती है ।

[**दिवः वृष्टि** :- दे. **दानुरस्मा उपरा पिन्वते दिवः** १.५४.७ और साथ साथ दे. ५.८३.६ । इस सूक्तमें मित्रावरुणोंका संबन्ध पर्जन्यवृष्टिसे जोड़ा गया है और पर्जन्यकी धाराओंको भेजनेके लिए उनकी प्रार्थना की गई है । इसी वजहसे ऋ. ४ में पर्जन्यका और ऋ. ५–६ में मरुद्गणोंका भी उल्लेख हुआ है ।]

२. (इस) यज्ञमें सूर्यसदृश तेजस्वी दिखाई देनेवाले तुम, हे मित्रावरुणा, सम्राट् होकर इस समग्र भुवनपर आधिपत्य करते हो । तुम्हारे उपहाररूपी पर्जन्यवृष्टिकी, तथा (अखण्ड सन्तान द्वारा) अमृतत्वकी, हम तुम्हारे पास याचना करते हैं । गर्जना करनेवाले मेघ स्वर्ग और पृथिवी के मध्यमें संचरण कर रहे हैं ।

[**स्वर्दृशा**–दे. ५.२६.२ की टिप्पणी । **अमृतत्वम्**– दे. ४.५४.२ की टिप्पणी । **तन्यु = तन्यतु** (१.११६.१२) । (मेघ) गर्जना । √तन् = स्तन् । ऋचा ३ का **रव** शब्द भी इसी अर्थका बोधक है ।]

३. ये मित्रावरुणा पृथिवी और स्वर्ग के स्वामी तथा (सारे विश्वके) क्रियाशील, उग्र और

माया वां मित्रावरुणा दिवि श्रिता सूर्यो ज्योतिश्चरति चित्रमायुधम्।
तमभ्रेण वृष्ट्या गूहथो दिवि पर्जन्य द्रप्सा मधुमन्त ईरते ॥ ४ ॥

माया। वाम्। मित्रावरुणा। दिवि। श्रिता। सूर्यः। ज्योतिः। चरति। चित्रम्। आयुधम्।
तम्। अभ्रेण। वृष्ट्या। गूहथः। दिवि। पर्जन्य। द्रप्साः। मधुऽमन्तः। ईरते ॥ ४ ॥

रथं युञ्जते मरुतः शुभे सुखं शूरो न मित्रावरुणा गविष्टिषु।
रजांसि चित्रा वि चरन्ति तन्यवो दिवः सम्राजा पयसा न उक्षतम् ॥ ५ ॥

रथम्। युञ्जते। मरुतः। शुभे। सुऽखम्। शूरः। न। मित्रावरुणा। गोऽइष्टिषु।
रजांसि। चित्रा। वि। चरन्ति। तन्यवः। दिवः। सम्ऽराजा। पयसा। नः। उक्षतम् ॥५॥

पराक्रमी सम्राट् हैं। हे देवो, सुन्दर अभ्रोंसे मिलकर तुम मेघगर्जनाको साहाय्य देते हो तथा अपनी आसुरी मायाके द्वारा तुम स्वर्गसे पर्जन्यवृष्टि कराते हो।

[**अभ्रैः रवमुपतिष्ठथः** ‘मेघ गर्जनाओंके बाद तुरन्त ही वृष्टि करनेवाले मेघोंके साथ तुम उपस्थित होते हो’ याने सिर्फ खोखली मेघगर्जनाओं (गड़गड़ाहट) को न भेजते हुए उनके साथ पर्जन्यकी वृष्टिको भेज देते हो। **अभ्र** का अर्थ है वृष्टि करनेवाले मेघ। **असुरस्य मायया**–यहाँकी और ऋ. ७ की ‘आसुरी माया’ एक स्वतन्त्र कल्पना ही दिखाई देती है; किसी विशिष्ट देवतासे वह संबद्ध नहीं मालूम होती। १०·१७७·१ का भी यही हाल है और वहाँ मायाका अर्थ केवल ‘अतीव श्रेष्ठ दैवी शक्ति’ है।

४. हे मित्रावरुणा, आकाशमें स्थापित यह तुम्हारी माया, यह तुम्हारा चित्रविचित्र आयुध, सूर्यरूपी तेजोगोल, (आकाशमार्गसे) परिभ्रमण करता रहता है। उसे ही तुम आकाशमें अभ्रसे तथा पर्जन्यवृष्टिसे ओझल कर देते हो। हे पर्जन्य, (ऐसे इस समयपर) तुम्हारी मधुर रसयुक्त वर्षाकी बूँदें (पृथ्वीपर) गिरतीं हैं।

[यहाँ सूर्यको ही मित्रावरुणोंकी माया एवं आयुध कहा गया है। ऋचा ७ में कविने उसीको उनका रथ कहा है। **पर्जन्य** संबोधन है; दे. ऋ १ की टिप्पणी। **द्रप्साः** का अर्थ स्पष्ट है ‘पर्जन्यकी, वर्षाकी बूँदें’।]

५. हे मित्रावरुणा, जिस प्रकार कोई शूरवीर युद्धोंमें कूद पड़नेके लिए (अपना रथ जोतता है) उसी प्रकार ये मरुद्गण सुखसे भ्रमण करनेवाला अपना रथ बड़ी शानसे जोतते हैं। (उस समय पर) मेघोंकी गर्जनाएँ (पृथ्वी और आकाश के मध्यमें) सुन्दर प्रदेशोंपर भ्रमण करती रहती हैं। हे सम्राटो, इस स्वर्गीय जलसे हमारे ऊपर वृष्टि करो।

[**मरुतः**–वृष्टिके कारण इनका इस सूक्तमें उल्लेख हुआ है। वृष्टिके साथ मरुद्गणोंके संबन्धके लिए दे. १·१९ के प्रारम्भकी टिप्पणी। **चित्रा रजांसि**–अन्तरिक्षके वे प्रदेश जो मेघों तथा सूर्यकी किरणों के सम्मिश्रणसे सुन्दर एवं रमणीय दिखाई देते हों। इसके लिए दे. १·१६६·३ तथा ३·६२·१६। **दिवः पयसा** यही अन्वय है किन्तु व्यञ्जनाकी सहायतासे **दिवः** को **सम्राजा** के साथ भी अन्वित करें; दे. **दिवस्पती** (ऋचा ३)। यदि **दिवः सम्राजा** यह सीधा (एवं साक्षात्) अन्वय कविको अभिप्रेत होता तो **दिवः** शब्द आद्युदात्त दिखाई देता।]

वाचं सु मित्रावरुणाविरावतीं पर्जन्यश्चित्रां वदति त्विषीमतीम् ।
अभ्रा वसत मरुतः सु मायया द्यां वर्षयतमरुणामरेपसम् ॥ ६ ॥

वाचम् । सु । मित्रावरुणौ । इराऽवतीम् । पर्जन्यः । चित्राम् । वदति । त्विषिऽमतीम् ।
अभ्रा । वसत । मरुतः । सु । मायया । द्याम् । वर्षयतम् । अरुणाम् । अरेपसम् ॥ ६ ॥

धर्मणा मित्रावरुणा विपश्चिता व्रता रक्षेथे असुरस्य मायया ।
ऋतेन विश्वं भुवनं वि राजथः सूर्यमा धत्थो दिवि चित्र्यं रथम् ॥ ७ ॥

धर्मणा । मित्रावरुणा । विपःऽचिता । व्रता । रक्षेथे इति । असुरस्य । मायया ।
ऋतेन । विश्वम् । भुवनम् । वि । राजथः । सूर्यम् । आ । धत्थः । दिवि । चित्र्यम् । रथम् ॥ ७ ॥

६. हे मित्रावरुणा, यह पर्जन्यदेव सुन्दर ओजस्वी और बलप्रद अन्नोंसे समन्वित अपनी वाणीका उच्चारण कर रहा है । अपनी अद्भुत शक्तिके द्वारा मरुद्गणोंने अभ्रोंसे अपनेको सुन्दर रीतिसे आवृत कर लिया है । हे मित्रावरुणा, इस निर्मल और (बिजलीसे) आरक्त वर्णके आकाशको (पर्जन्यकी) वृष्टि करनेमें प्रवृत्त करो ।

[**त्विषीमतीं वाचम्**–याने विद्युतके साथ मेघोंकी गर्जना । **वाचम्**–दे. **अभ्रियां वाचम्** १·१६८·८ तथा (पर्जन्यकी) **तिस्रो वाचः** ७·१०१·१ । **इरावतीम्**–दे. ५।८३।४ । **अभ्रा** (= अभ्राणि–द्वितीया) **वसत**–√वस्–' परिधान करना ', ' पहनना ' । दे. **युवं वस्त्राणि पीवसा वसाथे** १·१५२·१ । किन्तु कभी कभी द्वितीयाके स्थानपर तृतीया भी प्रयुक्त होती है जैसे **समभ्रेण वसत पर्वतासः** ५·८५·४, (यहाँ भी वृष्टिवर्णन किया गया है ।]

७. हे सुज्ञ मित्रावरुणा, अपने धर्मका अनुसरण करते हुए तुम अपनी आसुरी मायाशक्तिसे (हम मानवोंके लिए निर्धारित किए हुए) अपने नियमोंकी रक्षा करते हो । ऋतकी सहायतासे सारे भुवनपर अधिराज्य करते हो तथा अपने सूर्यरूपी सुन्दर रथकी आकाशमें स्थापना करते हो ।

[**धर्मणा व्रता** रक्षेथे **ऋतेन** भुवनं विराजथः । प्रस्तुत ऋचामें धर्मन्, व्रत तथा ऋत ये तीनों शब्द प्रयुक्त हुए हैं । ऋत वह अनादि नियम है जो तीनों कालोंमें पूर्णतया निर्बाध रहता है । धर्म वह नियम है जिसका अङ्गीकार देवोंने विश्वकी धारणाके लिए किया है और व्रतका अभिप्राय उन नियमोंसे है जो मानवोंके अनुसरणार्थ देवों द्वारा विहित हुए हैं । मानवोंद्वारा इन व्रतोंका पालन करानेपर वे बाध्य होते हैं यही ऋतका प्रभाव है । **चित्र्यं रथम्**– दे. ऋ. ४ की टिप्पणी ।]

४४

५·७३·१–१० पौर आत्रेयः ॥ अश्विनौ ॥ अनुष्टुप् ॥

यदुद्य स्थः पंरावति यदंर्वावत्यंश्विना ।
यद्वां पुरू पुंरुभुजा यदुन्तरिंक्ष आ गंतम् ॥ १ ॥

यत् । अद्य । स्थः । पराऽवति । यत् । अर्वाऽवति । अश्विना ।
यत् । वा । पुरु । पुरुऽभुजा । यत् । अन्तरिंक्षे । आ । गतम् ॥ १ ॥

इह त्या पुंरुभूतंमा पुरू दंसांसि बिभ्रंता ।
वरस्या याम्यध्रिंगू हुवे तुविष्टंमा भुजे ॥ २ ॥

इह । त्या । पुरुऽभूतंमा । पुरु । दंसांसि । बिभ्रंता ।
वरस्या । यामि । अध्रिंगू इत्यध्रिंऽगू । हुवे । तुविःऽतंमा । भुजे ॥ २ ॥

---

१. हे अश्विनादेवो, आज तुम सुदूर प्रदेशोंमें या समीपके प्रदेशोंमें रहे हो, अथवा अन्तरिक्षमें भिन्न भिन्न स्थानोंमें विहार करते रहे हो, तो भी, हे अनेकोंके पोषको, हमारे पास आओ।

[**परावति–अर्वावति** ' दूरवर्ती स्थानपर, समीपवर्ती स्थानपर '; ' उस ओर इस ओर ' याने अर्थ है ' कहीं भी ' । इसी तरहकी प्रार्थना इन्द्रसे ८·१३·१५ तथा ८·९७·४–५ में की गई है । **पुरु** (अव्यय) ' अनेक स्थानोंपर ' । दे. **पुरु पुरुहूतः इन्द्रः** ८·२·३२ । प्रस्तुत ऋचाके प्रत्येक चरणका प्रारम्भ यत् शब्दसे हुआ है । **आ गतम्** यह मुख्य वाक्य । **पुरुभुजा** दे. १·११६·१३ ' कई लोगोंके, अनेकोंके पालनकर्ता ', ' अन्नदाता ' ।]

२. यहाँ (इस यज्ञमें) उन अनेक स्थानोंको भेंट देनेवाले, अनेक आश्चर्यजनक कर्म करनेवाले तथा अप्रतिहत संचारी (अश्विनों) की मैं वरप्राप्तिकी अभिलाषासे प्रार्थना करता हूँ । अत्यन्त सामर्थ्यशाली उन देवोंका मैं आवाहन करता हूँ ताकि (मर्त्योंके योग्य द्रव्योंका) उपभोग मुझे प्राप्त हो ।

[**वरस्या । वरस्यति**– इस नामधातुसे **वरस्या** संज्ञा बनाई गई और यह उस संज्ञाकी तृतीया है (**वरस्**—√वृ धातुसे बनी संज्ञा) । अर्थ होगा– ' वरप्राप्तिकी अभिलाषासे ' । दे. **मरुतो गन्त गृणतो वरस्याम्** । ६·४९·११ । **अध्रिगू** (बहुव्रीहि) अध्रिः गौः ययोः । यह शब्द प्रायः देवोंके विशेषणके रूपमें प्रयुक्त होता है और **पृश्निगु** (१·११२·७); **शाचिगु** (८·१७·१२), **भूरिगु** (८·६२·१०) तथा **सप्तगु** (१०·४७·६) इन शब्दोंकी तरह इसका दूसरा अंश संभवतः **गो** का रूप मालूम होता है (**गु** को प्रायः √गा धातुसे बना हुआ विशेषण माना जाता है) । **अध्रिगुः** शब्दका जनः तथा देवः दोनोंके साथ अन्वय ८·९३·११ में पाया जाता है; साथ साथ ८·२२·११ में कविका कथन है–**अध्रिगावः हम अध्रिगु** (ऐसे) तुम्हें बुलाते हैं । कमसे कम इस स्थानपर तो **गु** शब्दके दो अर्थ मानकर उसपर श्लेष किया गया है । और इसे **गो** शब्दका रूप मान लेनेसे श्लेष भी खूब फबता है । **गौ** याने वाक्-रूपी धेनु

ई॒र्मान्यद्व॑पु॑षे॒ वपु॑श्च॒क्रं रथ॑स्य येमथुः ।
पर्य॒न्या नाहु॑षा यु॒गा म॒ह्ना रजां॑सि दीयथः ॥ ३ ॥

ई॒र्मा । अ॒न्यत् । वपु॑षे । वपुः॑ । च॒क्रम् । रथ॑स्य । ये॒म॒थुः॒ ।
परि॑ । अ॒न्या । नाहु॑षा । यु॒गा । म॒ह्ना । रजां॑सि । दी॒य॒थः॒ ॥ ३ ॥

तदू॒ षु वा॑मे॒ना कृ॒तं विश्वा॒ यद्वा॒मनु॒ ष्टवे॑ ।
नाना॑ जा॒ताव॑रे॒पसा॒ सम॒स्मे बन्धु॒मेय॑थुः ॥ ४ ॥

तत् । ऊँ॒ इति॑ । सु । वा॒म् । ए॒ना । कृ॒तम् । विश्वा॑ । यत् । वा॒म् । अनु॑ । स्तवे॑ ।
नाना॑ । जा॒तौ । अ॒रे॒पसा॑ । सम् । अ॒स्मे इति॑ । बन्धु॑म् । आ । ई॒य॒थुः॒ ॥ ४ ॥

(कविके विषयमें—दे. ४·४१·५; १०·७१·५ आदि) और दक्षिणारूपी धेनु (देवताके विषयमें-दे. २·३२·३ और ८·१४·३)। यहाँ आशय निम्नानुसार है:—ये दोनों हमेशा परिपूर्ण हैं और इनके विषयमें किसी भी तरहका प्रतिबन्ध पैदा नहीं होता; अतएव तुम्हें बुलानेका हमें अधिकार प्राप्त है। **भुजे**-कारण तुम **पुरुभुजा** हो।]

३. अपने रथका एक आश्चर्यजनक चक्र तुमने अद्भुत रीतिसे यहीं रोक कर रक्खा है। और दूसरे चक्रके द्वारा अपने प्रभावसे अन्य मानवीय कुलोंको भेंट देनेके लिए तुम अन्यान्य प्रदेशोंमें उड़कर जाते हो।

[**वपुषे** यह शब्द **श्रिये** एवं **शुभे** इन दोनों अर्थोंमें प्रयुक्त है। उत्तरार्धमें **अन्या** का **युगा** एवं **रजांसि,** दोनोंके साथ अन्वय करें और तीनोंमें द्वितीयाको स्थलवाचक समझ लें। **अन्या** शब्दसे सूचित होनेके कारण **अन्येन चक्रेण** का अध्याहार करें; अन्य स्थानोंपर अश्विनोंके रथके तीन चक्रों एवं तीन आसनोंका उल्लेख है सही; किन्तु प्रस्तुत ऋचाके साथ साथ १·३०·१९ तथा ८·२४·४ में इनके रथके दो चक्रोंका ही निर्देश पाया जाता है। उपर्युक्त तीनों स्थानोंपर इनके प्रभावका वर्णन करते हुए कहा गया है कि इन दो चक्रोंमेंसे एकको, जहाँ वे उस समय हों, वहीं धँसाकर दूसरेकी सहायतासे देखते देखते वे अन्यत्र भी पहुँचते हैं। फिर भी इन स्थलोंपर कविका मुख्य उद्देश्य तो उनके विषयमें यही कहना है कि ये देवता सहायताके लिए सुदूर स्थानोंपर भी एक क्षणमें पहुँचनेकी क्षमता रखते हैं। और इस दृष्टिसे यही मानना उचित होगा कि चक्रोंकी संख्याका निर्देश यहाँ अविवक्षित एवं गौण है।]

४. हे विश्वव्यापी (अश्विनो), जो तुम्हारा यह कार्य (हमारे द्वारा) प्रशंसित होता है वह इसी प्रकार उत्तम रूपसे संपन्न किया गया है। तुम भिन्न भिन्न स्थानोंमें आविर्भूत होनेवाले तथा संपूर्ण दोषरहित हो। तुमने हमारे साथ अपना परिचय (पुनः) प्रस्थापित किया है।

[**विश्वा**-'व्यापक' देवो,-दे. ७·६१·५। अथवा **विश्वा** के बाद **दंसांसि** का अध्याहार (दे.-ऋ. २ तथा ७)। अन्वय यों करें-यद्वां विश्वा दंसांसि अनुष्टवे तदेना वां सु कृतम्। यहाँ **यत्-तत्** तथा **कृतम्** इन तीनों एकवचनान्त शब्दोंका **विश्वा दंसांसि** के साथ सामानाधिकरण्य [एक विभक्ति] मानकर अर्थ समझ लें। 'यह कार्य (याने सब तरहके अद्भुत कार्य) जो लोगोंकी स्तुतिका विषय बनता है; इस रथकी इसी सहायतासे उत्तम रीतिसे पूर्ण किया गया'। इस तरहका सामानाधिकरण्य (समान विभक्तिका उपयोग) **ता ते विश्वा** (धामानि) **परिभूरस्तु यज्ञम्** (१·९१·१९) में भी पाया जाता है। **एना**-

आ यद्वां सूर्या रथं तिष्ठद्रघुष्यदं सदा ।
परि वामरुषा वयो घृणा वरन्त आतपः ॥ ५ ॥

आ । यत् । वाम् । सूर्या । रथम् । तिष्ठत् । रघुऽस्यदम् । सदा ।
परि । वाम् । अरुषाः । वयः । घृणा । वरन्ते । आऽतपः ॥ ५ ॥

युवोरत्रिश्चिकेतति नरा सुम्नेन चेतसा ।
घर्मं यद्वामरेपसं नासत्यास्ना भुरण्यति ॥ ६ ॥

युवोः । अत्रिः । चिकेतति । नरा । सुम्नेन । चेतसा ।
घर्मम् । यत् । वाम् । अरेपसम् । नासत्या । आस्ना । भुरण्यति ॥ ६ ॥

यह तृतीयान्त अव्यय ' इस तरह ' के अर्थमें प्रयुक्त है । संज्ञाके स्थानपर सर्वनामोंका यदि उपयोग हुआ हो तो उनपर निघात स्वर आता । इसलिए पूर्ववर्तिनी ऋचाके **रथ** के साथ **एना** का संबन्ध जोड़ना असमीचीन होगा । **ईयथुः** के निघात स्वरसे स्पष्ट है कि उत्तरार्धका वाक्य स्वतंत्र है । **बन्धुम्**–' निकटका रिश्ता ', ' संबन्ध ' । देवोंके साथ निकटवर्ती संबन्ध रखनेका दावा ऋग्वेदीय कवि अन्यत्र भी करते हुए पाए जाते हैं । अश्विनोंके साथ संबन्धके लिए दे. ३·५४·१६; ७·७२·२; ८·७३·१२ । इसी तरह कविका आदित्योंके साथ संबन्ध ८·१८·१९ ८·२७·१०, मरुद्गणोंके साथ संबन्ध ८·२०·२२; १०·६४·१३, ऋभुओंके साथ संबन्ध ३·६०·१ और इन्द्रके साथ संबन्ध १०·१४४·५ में पाया जाता है ।]

५. जिस समय तुम्हारे नित्य वेगसे दौड़नेवाले रथपर सूर्या आरूढ़ हो गयी उस समय (शत्रुओंको) सभी प्रकारसे पीड़ा देनेवाले तुम्हारे आरक्तवर्ण (रथवाहक) पक्षिराजोंने (उस रथको) अपने प्रज्वलित तेजसे संवेष्टित कर लिया ।

[**परिवरन्ते– रथम्** यह कर्म यहाँ अध्याहृत है । **घृणा** करणे तृतीया है और **आतपः वयः** का विशेषण । दे. **घृणा वयोऽरुषासः परिग्मन् तदू षु वां यानम्** ४·४३·६ **आतप्**—' शत्रुको जलानेवाला ' । ' **वरेथे अग्निमातपः** ' (८·७३·८) में इस शब्दकी षष्ठी अभिप्रेत है । **घृणा** यह तृतीया **घृणा तपन्तमति सूर्यं परः शकुनाइव पप्तिम** (९·१०७·२०) में भी पाई जाती है । इसके अनुसार प्रस्तुत ऋचामें भी शायद **घृणा आतपः** ' अपने तेजसे जलानेवाले ' इस तरहका अन्वय करना ठीक होगा; किन्तु ४·४३·६ का प्रयोग इससे समान अर्थ रखता है और उसकी ओर ध्यान देनेसे मालूम होता है कि कविका अभिप्राय **घृणा परिवरन्ते** से है; **घृणा आतपः** से नहीं ।]

६. हे वीर नासत्यो, जिस समय अत्रिऋषि तुम्हारे द्वारा प्रदत्त एवं तुम्हारे (प्रिय) घर्म नामक निर्दोष पेयकी ओर अपना मुँह खोलकर बड़ी उत्सुकतासे चला गया, उस समय (तुम्हारे उस अनुग्रहसे) उसने तुम्हें कृतज्ञतापूर्ण हृदयसे पहचान लिया ।

[**घर्मम् अरेपसम्** दोषरहित घर्म । तपे हुए दूधका नाम घर्म है; यह पेय अश्विनोंका बहुत ही प्यारा है । **आस्ना भुरण्यति** ' मुँहको आगे बढ़ाकर उत्सुकताके साथ गया ' । मतलब है– ' घर्म पेयको हाथमें न लेकर सीधे मुँहको ही आगे बढ़ाया ' । **सुम्नेन = सुमत्या** (प्रसादेन—हेत्वर्थे तृतीया; अथवा सुम्न याने सूक्त; सुम्नेन करणेन चेतसा चिकेतति । दे. **सुम्नमर्चन्** ३·१४·४; **सुम्नेभिस्ता गृणीहि** ६·६८·३ तथा **यः सुम्नैरा विवासति** १०·९३·२ ।]

उग्रो वां ककुहो ययिः शृण्वे यामेषु संतनिः ।
यद्वां दंसोभिरश्विनात्रिर्नरावर्वर्तति ॥ ७ ॥

उग्रः । वाम् । ककुहः । ययिः । शृण्वे । यामेषु । सम्ऽतनिः ।
यत् । वाम् । दंसःऽभिः । अश्विना । अत्रिः । नरा । आऽववर्तति ॥ ७ ॥

मध्व ऊ षु मधूयुवा रुद्रा सिषक्ति पिप्युषी ।
यत् समुद्राति पर्षथः पक्वाः पृक्षो भरन्त वाम् ॥ ८ ॥

मध्वः । ऊँ इति । सु । मधुऽयुवा । रुद्रा । सिसक्ति । पिप्युषी ।
यत् । समुद्रा । अति । पर्षथः । पक्वाः । पृक्षः । भरन्त । वाम् ॥ ८ ॥

सत्यमिद्वा उ अश्विना युवामाहुर्मयोभुवा ।
ता यामन् यामहूतमा यामन्ना मृळयत्तमा ॥ ९ ॥

सत्यम् । इत् । वै । ऊँ इति । अश्विना । युवाम् । आहुः । मयःऽभुवा ।
ता । यामन् । यामऽहूतमा । यामन् । आ । मृळयत्ऽतमा ॥ ९ ॥

---

७. तुम्हारा वह महान् उग्र अश्व नित्य यात्रा करनेवाला है । जिस समय अत्रिकुलोत्पन्न कवि तुम्हें अपनी आश्चर्यजनक सामर्थ्यके साथ (अपने यज्ञमें) ले आता है उस समय हे पराक्रमी अश्विनो, तुम्हारे संचरणोंमें उस अश्वके हिनहिनानेकी बड़ी ध्वनि सुनाई पड़ती है ।

[**ककुहः**– एक विशालकाय प्राणी जो अश्विनोंके रथमें जोता जाता है–दे. १.१८१.५; १.१८४.३; ४.४४.२; ५.७५.४ आदि । (महिष शब्दकी तरह) यह शब्द भी लक्षणाकी सहायतासे यजमान (८.६.४८), इन्द्र (८.४५.१४), विष्णु (३.५४.१४) तथा मरुद्गणों (२.३४.११) के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। **संतनिः**–' लगातार रणगर्जना '। इस शब्दके अर्थमें √तन्–' विस्तार करना ' और √स्तन्–' गर्जना करना ' इन दोनों धातुओंके अर्थोंको मिलाया गया है। बहकर द्रोणमें गिरते हुए सोमकी अथवा उसके पीसे जानेके समयपर निकलनेवाली ध्वनिके लिए यह शब्द ९.६९.२ तथा ९.९७.१४ में प्रयुक्त हुआ है ।]

८. यह हमारी मधुर रससे संपृक्त (संस्तुति), हे मधुर रसके अभिलाषी, हे रुद्रपुत्रो, तुम्हें प्रेमसे आलिंगन दे रही है । जिस समय तुम सभी समुद्रोंको पार कर (हमारी ओर) पहुँच गए उसी समय पकाकर तैयार रखे गए ये हविर्द्रव्य तुम्हें समर्पित किए गए हैं ।

[**मध्वः पिप्युषी**—यह अन्वय और **धीः** का अध्याहार । दे. **धियं मधोर्घृतस्य पिप्युषीम्** ८.६.४३ । **रुद्राः**–मरुद्गणोंके साथ साथ यह शब्द लक्षणाकी सहायतासे अग्नि (१.२७.१०), इन्द्र (८.१३.२०) तथा मित्रावरुणा (५.७०.२) के लिए भी प्रयुक्त हुआ है । **समुद्रा**—(नपुं. बहुवचन) याने **समुद्रा अर्णांसि** दे. ६.७२.३ । **पक्वाः पृक्षः**—(स्त्री. बहुवचन) घर्म नामक तप्त दुग्धरूपी हवि । **पक्व**– ' पके हुए अन्न ' के अर्थमें गायके दूधके लिए इस शब्दका उपयोग कई बार किया गया है। दे. ४.४५.५ के साथ साथ १.६२.९; १.१८०.३ तथा ८.८९.७ ।]

९. हे अश्विनो, तुम्हें (ऋषिलोग) सुखका आगार कहते हैं वह बिलकुल यथार्थ है ।

इमा ब्रह्माणि वर्धनाश्विभ्यां सन्तु शंतमा ।
या तक्षाम रथाँइवावोचाम बृहन्नमः ॥ १० ॥
इमा । ब्रह्माणि । वर्धना । अश्विऽभ्याम् । सन्तु । शम्ऽतमा ।
या । तक्षाम । रथान्ऽइव । अवोचाम । बृहत् । नमः ॥ १० ॥

(स्तोताओंके लिए किए गए) संचरणमें तुम्हें सबसे अधिक स्थलोंपर बुलाया जाता है। और इस संचरणमें तुम भी सबसे अधिक अनुग्रह दिखाते हो।

[**सत्यमित्**–कवि अपने अनुभवका कथन कर रहा है। इन्द्रके संबन्धमें इसी तरहके कथनके लिए दे. १·५२·३ और ८·३३·१०। इसके विपरीत दूसरोंको अनुभवके कथनके लिए दे. १·११८·३ की टिप्पणी। **यामन्**–' प्रवास ', ' अभिगमन '। **यामहू**–' प्रवासके अवसरपर बुलाया जानेवाला '; **यामहूति** ' प्रवासके समयकी पुकार, प्रार्थना या गुहार '; दे. **श्रोतारो यामहूतिषु** ५·६१·१५ और साथ साथ ८·८·१८; १०·११७·३, **यामहूतमा**–दे. ८·७३·६ (हू = हूयते इति)। अश्विनोंके यामके लिए दे. ३·२९·६; ८·२२·१४। असलमें यह अश्विनोंकी हमेशाकी मर्त्यलोककी [या इस भूलोककी] सैर है, इसके लिए रूढ नाम है **वर्तिस्**।]

१०. जो ये स्तोत्र हमने रथोंकी तरह भली भाँति पोंछकर बनाये हैं वे इन अश्विनी-कुमारोंको अत्यन्त सुखप्रद और अभिवृद्धिकारक हों। हमने अपने इस महान् स्तोत्रका पाठ उनके लिए ही किया है।

[**तक्षाम रथानिव**–आशय निम्नानुसार है:—रथको बनानेमें जिस तरह कौशलकी आवश्यकता होती है उसी तरह स्तोत्रकी रचनामें भी पटुता अपेक्षित है। यही उपमा १·१३०·६; ५·२·११; ५·२९·१५ आदि स्थानोंपर पाई जाती है।]

४५

५·८०·१–६ सत्यश्रवा आत्रेयः ॥ उषाः ॥त्रिष्टुप् ॥

द्युतद्यामानं बृहतीमृतेन ऋतावरीमरुणप्सुं विभातीम् ।
देवीमुषसं स्वरावहन्तीं प्रति विप्रासो मतिभिर्जरन्ते ॥ १ ॥

द्युतत्ऽयामानम् । बृहतीम् । ऋतेन । ऋतऽवरीम् । अरुणऽप्सुम् । विऽभातीम् ।
देवीम् । उषसम् । स्वः । आऽवहन्तीम् । प्रति । विप्रासः । मतिऽभिः । जरन्ते ॥ १ ॥

एषा जनं दर्शता बोधयन्ती सुगान् पथः कृण्वती यात्यग्रे ।
बृहद्रथा बृहती विश्वमिन्वोषा ज्योतिर्यच्छत्यग्रे अह्नाम् ॥ २ ॥

एषा । जनम् । दर्शता । बोधयन्ती । सुऽगान् । पथः । कृण्वती । याति । अग्रे ।
बृहत्ऽरथा । बृहती । विश्वम्ऽइन्वा । उषाः । ज्योतिः । यच्छति । अग्रे । अह्नाम् ॥ २ ॥

एषा गोभिररुणेभिर्युजानास्रेधन्ती रयिमप्रायु चक्रे ।
पथो रदन्ती सुविताय देवी पुरुष्टुता विश्ववारा वि भाति ॥ ३ ॥

एषा । गोभिः । अरुणेभिः । युजाना । अस्रेधन्ती । रयिम् । अप्रऽआयु । चक्रे ।
पथः । रदन्ती । सुविताय । देवी । पुरुऽस्तुता । विश्वऽवारा । वि । भाति ॥ ३ ॥

१. तेजस्वी मार्गसे भ्रमण करनेवाली, ऋतके योगसे महान्, ऋतकी स्वामिनी, आरक्तवर्णरूपा, प्रकाशमान होनेवाली, तथा अपने पीछे सूर्यको ले आनेवाली इस उषा देवीका हमारे प्रतिभावान् कवि अपनी अपनी स्तुतिवाणियोंसे स्वागत कर रहे हैं।

[**द्युतद् – यामानं** ‘(वह) जिसका याम याने प्रवासमार्ग चमकता रहता है’। उषाका **याम** (**= यामन्**) का उल्लेख ऊपर ४·५१·४ में आया है। **अरुणप्सुम्**–ऊपर १·४९·१ में उषाके घोड़ोंको **अरुणप्सु** कहा गया है। **स्वर्** याने सूर्य; अपने आगमनके बाद तुरन्त ही ले आनेवाली (स्वरावहन्ती) उषा; दे. ७·७७·३ ।]

२. यह दर्शनीय उषा लोगोंको जगाती तथा उनके मार्ग सुगम करती करती आगे बढ़ रही है। सारे संसारको चैतन्य प्रदान करनेवाली तथा अपने विशाल रथपर आरूढ़ होकर आनेवाली यह विशाल उषा दिनके प्रारम्भमें ही अपना सुन्दर तेज प्रकट करती रहती है।

३. यह उषा देवी अपने आरक्तवर्ण वृषभोंको (रथमें) जोतकर मार्गको कभी न भूलते हुए अविनाशी संपत्ति प्राप्त करा देती है। (लोगोंके सामने) उनके कल्याणके मार्ग प्रकट

एषा व्येनी भवति द्विबर्हा आविष्कृण्वाना तन्वं पुरस्तात् ।
ऋतस्य पन्थामन्वेति साधु प्रजानतीव न दिशो मिनाति ॥ ४ ॥

एषा । विऽएनी । भवति । द्विऽबर्हाः । आविःऽकृण्वाना । तन्वम् । पुरस्तात् ।
ऋतस्य । पन्थाम् । अनु । एति । साधु । प्रजानतीऽइव । न । दिशः । मिनाति ॥ ४ ॥

एषा शुभ्रा न तन्वो विदानोर्ध्वेव स्नाती दृशये नो अस्थात् ।
अप द्वेषो बाधमाना तमांस्युषा दिवो दुहिता ज्योतिषागात् ॥ ५ ॥

एषा । शुभ्रा । न । तन्वः । विदाना । ऊर्ध्वाऽइव । स्नाती । दृशये । नः । अस्थात् ।
अप । द्वेषः । बाधमाना । तमांसि । उषाः । दिवः । दुहिता । ज्योतिषा । आ । अगात् ॥५॥

करते हुए अनेकों द्वारा संस्तुत तथा सभी प्रकारके स्पृहणीय उपहार ले आनेवाली यह देवी जहाँ तहाँ विविध प्रकारसे प्रकाशित हो रही है ।

[**युजाना** का कर्म है **रथम्** (अध्याहृत); दे. **युजे रथं हरिभ्याम्** (तृतीया) ७·२३·३ । **अप्रायु** —' उस ढंगसे जिससे वह जाएगा नहीं ' । यह शब्द अन्यत्र विशेषणके रूपमें और ' चिरस्थायी ' के अर्थमें प्रयुक्त हुआ है; दे. **अप्रायवो देवाः** १·८९·१ और **अप्रायुभिर्यज्ञेभिः** ८·२४·१८]

४. यह तेजस्विनी उषा हमारे संमुख (पूर्व दिशामें) अपना स्वरूप प्रकट करके दुगुने रूपमें बलवती होती रहती है । ऋतके मार्गका यह भली भाँति अनुसरण करती है तथा किसी ज्ञानी अनुभवप्राप्त स्त्रीकी तरह दिशाओंके विषयमें अपना प्रमाद कभी नहीं होने देती ।

[**व्येनी** वि + एत का स्त्रीलिङ्गी रूप, ' फुर्तीली, अतीव चपल ' । ऋ. ८·६९·१० में **एनी** शब्दका अभिप्राय मृगीसे है । **प्रजानती** ' अनुभवी, बड़ी आदी बनी हुई नारी ' । प्रस्तुत ऋचाका उत्तरार्ध और १·१२४·३ का उत्तरार्ध एक ही है । दे. ३·२९·१६ में **प्रजानन्** की टिप्पणी । **न दिशो मिनाति** ' दिशाओंके विषयमें इसे भ्रम नहीं होता ' । दे. **दिशः सूर्यो न मिनाति** ३·३०·१२ ।]

५. यह उषा किसी रूपगर्विता लावण्यमयी नारीकी तरह, खड़ी होकर स्नान करनेवाली किसी युवतीकी तरह, इसलिए खड़ी रहती है कि हम दर्शन कर सकें । अन्धकार और शत्रु को दूर हटाती हुई द्युदेवकी यह कन्या उषा अपने मनोहर तेजके साथ आ पहुँची है ।

[**तन्वो विदाना**–' अपनी कमनीय देहका भान रखनेवाली ' । अतः लोगोंकी सराहनाको प्राप्त करनेके उद्देश्यसे अपनी देहकी कमनीयता या सौष्ठवको उनकी आँखोंके सामने रखते हुए (ऋचा ४) वह हमारे संमुख उपस्थित हुई है । प्रस्तुत ऋचाके पूर्वार्धमें दो उपमाएं विद्यमान हैं; एक रूपगर्विता युवतीसे और दूसरी खड़े खड़े स्नान करनेवाली युवतीसे संबद्ध है; दे. १·१२३·१० (**कन्येव तन्वा शाशदाना एषि देवि**) और ८·७५·८ (**प्रस्नातीरिवोस्राः**) ।]

एषा प्रतीची दुहिता दिवो नॄन् योषेव भद्रा नि रिणीते अप्सः।
व्यूर्ण्वती दाशुषे वार्याणि पुनर्ज्योतिर्युवतिः पूर्वथाकः ॥ ६ ॥

एषा । प्रतीची । दुहिता । दिवः । नॄन् । योषाऽइव । भद्रा । नि । रिणीते । अप्सः ।
विऽऊर्ण्वती । दाशुषे । वार्याणि । पुनः । ज्योतिः । युवतिः । पूर्वऽथा । अकरित्यकः॥६॥

६. द्युदेवकी यह कन्या उषा पुरुषोंके सामने खड़ी होकर किसी सुस्वभावी प्रियाके सदृश अपना तेजोमय वस्त्र मुक्त कर रही है। दानशील यजमानको अपने प्रिय उपहार प्रदर्शित करते हुए इस युवतीने अपना तेज यथापूर्व ही पुनः धारण किया है।

[**नि रिणीते अप्सः**-अप्सः याने वस्त्र, उत्तरीय या अंचल। अपने उत्तरीयको गिराते हुए उषादेवी अपने उरोजोंको तनिक, दृग्गोचर होने देती है। यह कल्पना ऋग्वेदमें कई बार देखी गई है। दे. **स्मयमाना युवतिः पुरस्तात् आविर्वक्षांसि कृणुते विभाती** १·१२३·१०·३–४ और साथ साथ **जायेव पत्ये उशती सुवासा उषा हस्रेव नि रिणीते अप्सः** १·१२४·७·३–४; **आविर्वक्षः कृणुषे शुम्भमाना** ६·६४·२·६·५०·८·३–४। **व्यूर्ण्वती वार्याणि**- दे. **व्यूर्णुते वार्याणि** ६·५०·८।]

४६

५-८३·१-१० भौमोऽत्रिः ॥ पर्जन्यः ॥ १·५-८·१० त्रिष्टुप् ॥
२-४ जगती । ९ अनुष्टुप् ॥

यह पर्जन्य-सूक्त बड़ा सुन्दर है । साधारणतया इसे चार भागोंमें बाँटा जा सकता है। ऋचा १ प्रास्ताविक है; ऋचा २ से ४ तक तूफ़ानी वर्षाका यथार्थ वर्णन जगती छन्दमें किया गया है । इनमेंसे प्रत्येक ऋचाके चौथे चरणका प्रारम्भ '**यत्पर्जन्यः**' से हुआ है । ऋचा ५ से ८ तक सर्वत्र अनाज, धान्य एवं जल की पर्याप्त समृद्धि करनेके लिए पर्जन्य देवसे प्रार्थना की गई है और अन्तिम दो ऋचाओंमें जो वृष्टि हुई उसके लिए संतोष व्यक्त करके पर्जन्य देवसे अतिवृष्टिको रोकनेकी विनम्र प्रार्थना व्यक्त की गयी है।

अच्छा वद तवसं गीर्भिराभिः स्तुहि पर्जन्यं नमसा विवास ।
कनिक्रदद्वृषभो जीरदानू रेतो दधात्योषधीषु गर्भम् ॥ १ ॥

अच्छ । वद । तवसम् । गीःऽभिः । आभिः । स्तुहि । पर्जन्यम् । नमसा । आ । विवास ।
कनिक्रदत् । वृषभः । जीरऽदानुः । रेतः । दधाति । ओषधीषु । गर्भम् ॥ १ ॥

वि वृक्षान् हन्त्युत हन्ति रक्षसो विश्वं बिभाय भुवनं महावधात् ।
उतानागा ईषते वृष्ण्यावतो यत् पर्जन्यः स्तनयन् हन्ति दुष्कृतः ॥ २ ॥

वि । वृक्षान् । हन्ति । उत । हन्ति । रक्षसः । विश्वम् । बिभाय । भुवनम् । महाऽवधात् ।
उत । अनागाः । ईषते । वृष्ण्यऽवतः । यत् । पर्जन्यः । स्तनयन् । हन्ति । दुःऽकृतः ॥ २ ॥

---

१. इन स्तुतिवचनोंसे उस सामर्थ्यशाली देवका आवाहन करो । इस पर्जन्यकी प्रणाम-पूर्वक स्तुति करो । बार बार गर्जना करनेवाला, उपहारोंका शीघ्र प्रदाता एवं पराक्रमी पर्जन्य ओषधियोंमें अपने रेतकी (वृष्टिकी) उनके गर्भके रूपमें स्थापना कर देता है ।

[**रेतो दधाति गर्भम्** ' पृथ्वीके ज़रिये ओषधियोंमें वृष्टिरूपी रेतकी उनके गर्भके रूपमें स्थापना कर रहा है '। इसी गर्भसे बादमें फूलों एवं फलों का निर्माण होता है; दे. ७·१०२·२]

२. बड़े बड़े वृक्षोंको यह धराशायी करता है तथा राक्षसोंका भी विनाश कर देता है । सारा संसार इस महान् शस्त्र धारण करनेवाले (पर्जन्य) से भयभीत हो रहा है । जिस समय गर्जना करता हुआ पर्जन्य दुष्ट कर्म करनेवाले पुरुषोंको दण्ड देता है उस समय कोई निरपराध पुरुष भी इस अत्यन्त शक्तिशाली (पर्जन्य) से (भयभीत होकर) दूर भाग जाता है ।

[**ईषते** ' डरकर भागता है, ' दे. १·१४१·८; बुरेके साथ साथ कभी कभी भलेके भी मारे जानेका भय रहता है; अतः वह भी भाग उठता है ।]

रथीव कशयाश्वाँ अभिक्षिपन्नाविर्दूतान् कृणुते वर्ष्याँ३ अह ।
दूरात् सिंहस्य स्तनथा उदीरते यत् पर्जन्यः कृणुते वर्ष्यं१ नभः ॥ ३ ॥

रथीऽइव । कशया । अश्वान् । अभिऽक्षिपन् । आविः । दूतान् । कृणुते । वर्ष्यान् । अह ।
दूरात् । सिंहस्य । स्तनथाः । उत् । ईरते । यत् । पर्जन्यः । कृणुते । वर्ष्यम् । नभः ॥ ३ ॥

प्र वाता वान्ति पतयन्ति विद्युत उदोषधीर्जिहते पिन्वते स्वः ।
इरा विश्वस्मै भुवनाय जायते यत् पर्जन्यः पृथिवीं रेतसावति ॥ ४ ॥

प्र । वाताः । वान्ति । पतयन्ति । विऽद्युतः । उत् । ओषधीः । जिहते । पिन्वते । स्व१रिति स्वः ।
इरा । विश्वस्मै । भुवनाय । जायते । यत् । पर्जन्यः । पृथिवीम् । रेतसा । अवति ॥ ४ ॥

३. यह पर्जन्य, अपने चाबुकसे घोड़े हाँकनेवाले रथस्वामीकी तरह, अपनी वृष्टिके वाहक दूतोंको आगे बढ़ाकर प्रकट करता है; जिस समय पर्जन्यदेव वर्षाकालीन बादलोंका निर्माण करता है उस समय अति सुदूर (क्षेत्रोंमें) सिंहगर्जनाएँ उद्भूत होतीं हैं ।

[पहले चरणमें पर्जन्यकी रथके स्वामीके साथ, बिजली या विद्युत् की कोड़ेके साथ और वर्षाकालीन मेघोंकी घोड़ोंके साथ तुलना की गई है, जो बड़ी रोचक है । वर्ष्य दूत याने वर्षाकालीन मेघ । तीसरे चरणमें कविने चमत्कृतिजनक अतिशयोक्तिका उपयोग किया है । मेघपर सिंहका आरोप करके उसकी दहाड़ किसी सुदूर स्थानसे सुनाई दे रही है यही उसकी कल्पना है । गर्जना या दहाड़के विषयमें सिंहके साथ मरुद्गणोंकी (१।६४।८), अग्निकी (३।२।११) तथा बृहस्पतिकी (१०।६७।९) भी तुलना ऋग्वेदमें अन्यत्र विद्यमान है । **वर्ष्यं नभः** ‘ वृष्टिप्रद मेघ ’ । ऋग्वेदमें **नभः** आकाशके अर्थमें कहीं भी प्रयुक्त नहीं हुआ, निघण्टु कोशमें (१।१२) भी ‘ नभ इति उदकनाम’ यही अर्थ दिया गया है । इसलिए सायणभाष्यका **नभोऽन्तरिक्षम्** तथा वेदिक रीडरका Sky यह स्पष्टीकरण उचित नहीं मालूम होता]

४. हवा ज़ोरसे बह रही है; बिजलियाँ (ज़मीनपर) गिरती हैं । ओषधियाँ (नूतन वृष्टिके कारण) अङ्कुरित होकर भूमिसे ऊपर आ रही हैं । तथा स्वर्ग भी (जलसे) पूर्णतया भर गया है । जिस समय यह पर्जन्य पृथ्वीको अपने रेतसे (वृष्टिसे) संतर्पित करता है उस समय (उसीसे) सभी प्राणियोंको (जीवन देनेवाला) अन्न पैदा होता है ।

[**उज्जिहते**–‘ ज़मीनसे ऊपर आतीं हैं, ऊपर आई हुईं अधिक फूलती या विकसित होतीं हैं, ऊँचाईको प्राप्त करतीं हैं । उत्तरार्धका आशय निम्नानुसार है–पर्जन्यने अपने रेत याने वृष्टिके जल को पृथ्वीके गर्भमें रखा, बादमें उसके द्वारा वह वनस्पतियोंको और उनके द्वारा प्राणियों तथा मानवों को भी प्राप्त हुआ जिससे ये सब अपनी अपनी योग्यताके अनुसार उस अन्नको पैदा करते हैं जो सभी प्रजाओंके लिए आवश्यक है ।

यस्य॑ व्र॒ते पृ॑थि॒वी नन्न॑मीति॒ यस्य॑ व्र॒ते श॒फव॒ज्जर्भु॑रीति ।
यस्य॑ व्र॒त ओष॑धीर्वि॒श्वरू॑पाः स नः॑ पर्जन्य॒ महि॒ शर्म॑ यच्छ ॥ ५ ॥

यस्य॑ । व्र॒ते । पृ॒थि॒वी । नन्न॑मीति । यस्य॑ । व्र॒ते । श॒फऽव॑त् । जर्भु॑रीति ।
यस्य॑ । व्र॒ते । ओष॑धीः । वि॒श्वऽरू॑पाः । सः । नः॒ । प॒र्ज॒न्य॒ । महि॑ । शर्म॑ । य॒च्छ॒ ॥ ५ ॥

दि॒वो नो॑ वृ॒ष्टिं म॑रुतो ररीध्वं॒ प्र पि॑न्वत॒ वृष्णो॒ अश्व॑स्य॒ धाराः॑ ।
अ॒र्वाङे॒तेन॑ स्तनयि॒त्नुनेह्य॒पो नि॑षि॒ञ्चन्नसु॑रः पि॒ता नः॑ ॥ ६ ॥

दि॒वः । नः॒ । वृ॒ष्टिम् । म॒रु॒तः॒ । र॒री॒ध्व॒म् । प्र । पि॒न्व॒त॒ । वृष्णः॑ । अश्व॑स्य । धाराः॑ ।
अ॒र्वाङ् । ए॒तेन॑ । स्त॒न॒यि॒त्नुना॑ । आ । इ॒हि॒ । अ॒पः । नि॒ऽसि॒ञ्चन् । असु॑रः । पि॒ता । नः॒ ॥ ६ ॥

अ॒भि क्र॑न्द स्त॒नय॒ गर्भ॒मा धा॑ उद॒न्वता॒ परि॑ दीया॒ रथे॑न ।
दृतिं॒ सु क॑र्ष॒ विषि॑तं॒ न्य॑ञ्चं स॒मा भ॑वन्तू॒द्वतो॑ निपा॒दाः ॥ ७ ॥

अ॒भि । क्र॒न्द॒ । स्त॒नय॑ । गर्भ॑म् । आ । धा॒ः । उ॒द॒न्ऽवता॑ । परि॑ । दी॒य॒ । रथे॑न ।
दृति॑म् । सु । क॒र्ष॒ । विऽसि॑तम् । न्य॑ञ्चम् । स॒माः । भ॒व॒न्तु॒ । उ॒त्ऽवतः॑ । नि॒ऽपा॒दाः ॥ ७ ॥

---

५. हे पर्जन्य, तुम ऐसे हो जिसके नियमके पालनमें पृथ्वी अनेक बार नम्र होती है, जिसके नियमके पालनमें खुरवाले चौपाये इधर-उधर भ्रमण करते हैं, जिसके नियमके पालनमें ओषधियाँ नानाविध रूप धारण करतीं हैं। तुम हमें विशाल संरक्षण दो।

[**जर्भुरीति** दे. **जर्भुराणः** २·३८·८]

६. हे मरुद्गणो, यह द्युलोककी वृष्टि हमें प्राप्त करा दो। इस पराक्रमी घोड़ेकी (रेतकी याने वृष्टिकी) धाराओंको वृद्धिंगत करो। हे पर्जन्य, गर्जना करनेवाले बादलके साथ जलकी वृष्टि करते करते तुम – जो हमारे पराक्रमी पिता हो-इस ओर हमारे पास आ जाओ।

[**दिवो वृष्टिम्** दे. ५·६३·१४। वृष्टिके साथ मरुद्गणोंका निकटवर्ती संबन्ध है। दे. १·१९ के प्रारम्भकी टिप्पणी। **वृषा अश्व** याने पर्जन्य; उसकी धाराएं असलमें ऊपर ऋचा १ तथा ४ में कथित रेतकी धाराएं। उत्तरार्ध पर्जन्यके संबोधनके रूपमें है।

७. हे पर्जन्य, आक्रन्दनसहित बड़ी गर्जना करो। एवं (ओषधियोंमें) गर्भका आधान करो। जलसे भरे इस रथमें (बैठकर) ऊपर (आकाशमें) सर्वत्र उड़ जाओ। खुले मुँहकी इस अधोमुखी चर्ममयी पखालको अच्छी तरहसे ऊपर खींच लो; (उससे) उन्नत और निम्न प्रदेश (जलसे भर जानेके कारण) एक सतहपर आ जायँ।

महान्तं कोशमुदचा नि षिञ्च स्यन्दन्तां कुल्या विषिताः पुरस्तात् ।

घृतेन द्यावापृथिवी व्युन्धि सुप्रपाणं भवत्वघ्न्याभ्यः ॥ ८ ॥

महान्तम् । कोशम् । उत् । अच । नि । सिञ्च । स्यन्दन्ताम् । कुल्याः । विऽसिताः । पुरस्तात् ।

घृतेन । द्यावापृथिवी इति । वि । उन्धि । सुऽप्रपानम् । भवतु । अघ्न्याभ्यः ॥ ८ ॥

यत् पर्जन्य कनिक्रदत् स्तनयन् हंसि दुष्कृतः ।

प्रतीदं विश्वं मोदते यत् किं च पृथिव्यामधि ॥ ९ ॥

यत् । पर्जन्य । कनिक्रदत् । स्तनयन् । हंसि । दुःऽकृतः ।

प्रति । इदम् । विश्वम् । मोदते । यत् । किम् । च । पृथिव्याम् । अधि ॥ ९ ॥

गर्भमा धाः दे. ऋचा १ की टिप्पणी । **उदन्वान् रथ** याने मेघ । तीसरी ऋचामें मेघकी तुलना रथके घोड़ोंसे की गई है; तो प्रस्तुत ऋचाके तीसरे चरणमें उसपर मशक या पखालका और पर्जन्यपर पखाली या भिश्तीका आरोप किया गया है । **समा भवन्तु**–'(उन्हें) एक सतहपर आने दो ' अथवा (उन्हें) समान दिखाई देने दो याने ' उनकी विभिन्नता नष्ट होने दो ' ।

८. इस विशाल घड़ेको ऊपर खींच लो, और नीचे पानीको गिरा दो । मुक्त हुई इन (पानीकी) धाराओंको आगे बहने दो । स्वर्ग तथा पृथ्वी दोनोंको भी घृतसे अत्यन्त आर्द्र करो (जिससे) गायोंको पीनेका पानी विपुल मात्रामें मिले ।

महान्तं कोशम् यह भी मेघ ही है । पूर्वार्धमें कुओंसे पानी निकालकर नहरोंको खुदवाकर ' अत्र तत्र सर्वत्र ' जलको ले जानेकी कल्पनाका उल्लेख है । **सुप्रपाणं** (बहुव्रीहि समास) ' वह स्थान जहाँ पर्याप्त जल पाया जाता हो'; दे. ६·२८·७; साथ साथ १०·४०·१३ भी देखने योग्य है, जहाँ अश्विनोंसे प्रार्थना की गई है ' **कृतं तीर्थं सुप्रपाणम्** '। इसके आधारपर कहा जा सकता है कि यह गायोंके लिए पानी पीनेका वह स्थल याने बहती हुई नदी अथवा बहते हुए स्रोत या तालाब हों जहाँ गायें स्वयं ही उतरकर पानी पी सकें । यहाँ कविका अभिप्राय गायोंके लिए खास तौरपर पत्थरों या लकड़ियोंसे बनाए गए हौजोंसे नहीं मालूम होता । जलहीन प्रदेशोंमें विद्यमान प्रपा (**धन्वन्निव प्रपा असि त्वमग्ने** १०·४·१) भी इसी तरह पानी पीनेका कुदरती स्थान रहा होगा]

९. हे पर्जन्य, जिस समय तुम गर्जना करके दुष्ट जीवोंका वध करते हो, उस समय जो जो प्राणिजात पृथ्वीपर विद्यमान हैं, वे सभी तुम्हारे दर्शनसे प्रसन्न होते हैं ।

[**प्रतिमोदते** –दे. १०·९७·३]

अवर्षीर्वर्षमुदु षू गृभायाकर्धन्वान्यत्येतवा उ ।
अजीजन ओषधीर्भोजनाय कमुत प्रजाभ्योऽविदो मनीषाम् ॥ १० ॥

अवर्षीः । वर्षम् । उत् । ऊँ इति । सु । गृभाय । अकः । धन्वानि । अतिऽएतवै । ऊँ इति ।
अजीजनः । ओषधीः । भोजनाय । कम् । उत । प्रऽजाभ्यः । अविदः । मनीषाम् ॥ १० ॥

१०. विपुल मात्रामें तुमने वृष्टिकी धाराएँ बरसाई हैं। अब उन्हें ध्यानसे ऊपर रोक दो। (जलके स्रोत निर्माण करके) निर्जल अरण्योंको तुमने उनके पार पहुँचने योग्य बनाया है। मनुष्योंको अन्नप्राप्ति हो इस लिए तुमने ओषधियाँ निर्माण की हैं (और इस लिए) मनुष्यादि प्रजाओंकी ओरसे तुम्हें यह स्तुतिवाणी प्राप्त हो गई है।

[**धन्वानि अत्येतवै अकः**–'तुमने जलहीन प्रदेशोंको पार पहुँचने लायक बनाया' अर्थात् वहाँके सूखे हुए पानीके स्रोतोंको पुनः जिलाकर उन्हें जीवन प्रदान किया। यदि जल न हो याने प्रपा एवं प्रपाण विद्यमान न हों, तो इन (जलहीन) प्रदेशोंके बीचके रास्तोंसे प्रवास करना असंभव सिद्ध होगा। दे. **धन्वन्न तृष्णा समरीत तानभि** ९·७९·३ और साथ साथ **जनं न धन्वन्नभि सं यदापः इन्द्रं ववृधुर्हवनानि** ६·३४·४ (यहाँ **आपः** का अर्थ है प्रपा या जलके वे स्रोत जिन्हें बरसातने फिरसे जिलाया या जगाया) और १०·४·१। इसी वजहसे याने इस जलहीनताके ही कारण धन्वोंके पार पहुँचना (**अति एतवै**) दुश्वार मालूम होता था; दे. ३·४५·१; १०·९३·६ (**धन्वेव दुरिता**)। पीटर्सनने सूचित किया है कि **धन्व** का अर्थ है 'नदियोंके सूखे हुए तल'। यह युक्तियुक्त नहीं है। **प्रजाभ्यः** (पञ्चमी)– दे. **विश्वस्य वाचमविदन्मनायोः** १·९२·९]

४७

६·२८·१–८ भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ १·३–७ गावः । २·८ गाव इन्द्रो वा ॥
१·५–७ त्रिष्टुप् । २–४ जगती । ८ अनुष्टुप् ॥

यज्ञमें इन्द्रके लिए अतीव प्रिय सोमरूपी हव्यके साथ साथ मानवके व्यावहारिक कल्याणके लिए गौएं बड़ी ही उपयोगी सिद्ध होतीं थीं । इसी उपयुक्तताके आधारपर प्रस्तुत सूक्तमें गायोंकी महत्ता वर्णित है । इन्द्रके पेयसे संबद्ध होनेके कारण इन्द्रसूक्तोंमें प्रस्तुत सूक्तका अन्तर्भाव हुआ है और स्वयं इन्द्रके साथ उनके याने गायोंके ऐक्यकी स्थापना कविने की है । कौशिक गृह्यसूत्र १९·१-२ में बाँझ या बीमार गायोंको दवाके रूपमें नमकमिला पानी पिलानेके अवसरपर प्रस्तुत सूक्तके विनियोगका कथन किया गया है । गायोंकी अतीव महिमा ८·१०१·१५–१६ में भी वर्णित है।

आ गावो॑ अग्मन्नु॒त भ॒द्रम॑क्र॒न्त्सीद॑न्तु गो॒ष्ठे र॒णय॑न्त्व॒स्मे ।
प्र॒जाव॑तीः पुरु॒रूपा॑ इ॒ह स्यु॒रिन्द्रा॑य पू॒र्वीरु॒षसो॒ दुहा॑नाः ॥ १ ॥

आ । गावः॑ । अ॒ग्म॒न् । उ॒त । भ॒द्रम् । अ॒क्र॒न् । सीद॑न्तु । गो॒ऽस्थे । र॒णय॑न्तु । अ॒स्मे इति॑ ।
प्र॒जाऽव॑तीः । पु॒रु॒ऽरूपाः॑ । इ॒ह । स्युः॒ । इन्द्रा॑य । पू॒र्वीः । उ॒षसः॑ । दुहा॑नाः ॥ १ ॥

इन्द्रो॒ यज्व॑ने पृण॒ते च॑ शिक्ष॒त्युपेद्द॑दाति॒ न स्वं मु॑षायति ।
भूयो॑भूयो र॒यिमिद॑स्य व॒र्धय॒न्नभि॑न्ने खि॒ल्ये नि द॑धाति देव॒युम् ॥ २ ॥

इन्द्रः॑ । यज्व॑ने । पृ॒ण॒ते । च॒ । शि॒क्ष॒ति । उप॑ । इत् । द॒दा॒ति॒ । न । स्वम् । मु॒षा॒य॒ति॒ ।
भूयः॑ऽभूयः । र॒यिम् । इत् । अ॒स्य॒ । व॒र्धय॑न् । अभि॑न्ने । खि॒ल्ये॑ । नि । द॒धा॒ति॒ । दे॒व॒ऽयुम् ॥ २ ॥

---

१. ये गायें (हमारे यहाँ) आ गई हैं और हमारा कल्याण कर रहीं हैं । हमारे गोष्ठमें ये रहें और हमारे सांनिध्यसे इन्हें आनन्द होने दो । अनेकानेक उषःकालपर्यन्त इन्द्रके लिए दूध समर्पित करती हुई (हमारे यहाँ) ये अपनी संतान के साथ अनेक वर्ण धारण करती हुई रहें ।

[**पूर्वीरुषसः** कालवाचक द्वितीया है]

२. देवोंके लिए याग तथा दान करनेवाले पुरुषको इन्द्र साहाय्य देता है । उसे (बिना परिश्रमके) धन देता है तथा उसकी संपत्तिका हरण नहीं करता । । अनेक बार उसकी संपत्तिको वृद्धिंगत करके देवोंपर श्रद्धा रखनेवाले पुरुषकी (बीचमें क्षेत्र न होनेसे) एकाकार विशाल तृणक्षेत्रमें (उनके स्वामीके रूपमें) इन्द्रने स्थापना की है ।

[**अभिन्ने खिल्ये**–खिल=खिल्य के माने हैं दो कृषिक्षेत्रोंके बीचकी वह ज़मीन जो जोती न गई हो; घासके चरागाहकी ज़मीन। **अभिन्ने** याने **उर्वराभिः अभिन्ने** ' वह घासभरी ज़मीन जो कृषिक्षेत्रोंसे सीमित न

न ता नंशन्ति न दंभाति तस्करो नासांमामित्रो व्यथिरा दंधर्षति ।
देवाँश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योगित्ताभिः सचते गोपतिः सह ॥ ३ ॥

न । ताः । नशन्ति । न । दभाति । तस्करः । न । आसाम् । आमित्रः । व्यथिः । आ । दधर्षति ।
देवान् । च । याभिः । यजते । ददाति । च । ज्योक् । इत् । ताभिः । सचते । गोऽपतिः । सह ॥३॥

हो' अर्थात् अतीव विस्तीर्ण, कहीं भी अखण्डित घासभरी ज़मीन। **उप ददाति। गाः** अध्याहृत। तीसरे चरणकी **रयि** का अर्थ गोधन ही है; इसे इन्द्र हमेशा वृद्धिंगत करता है और बादमें इन बहुसंख्यक गायोंके चरनेके लिए एक अतीव विस्तीर्ण चरागाहको प्राप्त करा देता है। कृषिक्षेत्र (उर्वरा) तथा घासभरी ज़मीन (खिल्य) की तुलना एक ऋग्वेदीय कविने (१०·१४२·३) अरण्यके उन दो भागोंसे की है जिनमें पहला भक्ष्य याने अग्निद्वारा यथेष्ट जलाकर खतम किया गया हो और दूसरा अभक्ष्य याने अनुग्रहके कारण अग्निद्वारा तनिक भी पीड़ित न होकर सावधानीसे रक्षित हो। इस तरहकी घासभरी ज़मीन प्रायः कृषिक्षेत्रोंसे बिलकुल सटी हुई होती है और हरेक स्वामीकी ज़मीन अलग अलग होती है, ताकि उसका कृषिक्षेत्र एवं उसकी घासभरी (अनुपजाऊ) ज़मीन दूसरोंके कृषिक्षेत्र या घासभरी ज़मीनसे सीमित (भिन्न) होती रहती है। किन्तु यदि समूचे क्षेत्रका स्वामी एक ही हो तो दूसरेके क्षेत्रसे या चरागाहसे न उसका कृषिक्षेत्र सीमित हो सकता है, न उसकी वह घासभरी ज़मीन। इन्द्र याजकको इस तरहका असीम क्षेत्र एवं चरागाह प्रदान करता है। कौषीतकि ब्राह्मणमें खिल या खिल्यकी परिभाषा निम्नानुसार दी गई है 'यद्वा उर्वरयोः असंभिन्नं भवति खिलमिति वै तदाचक्षते।' शायद प्रस्तुत ऋचामें भी **अभिन्न** का अभिप्राय **असंभिन्न** याने 'अमिश्रित' से होगा। अथर्ववेद ७·११५·४ में भी पापिनी लक्ष्मियोंके लिए उपमा दी गई है-**एता एना व्याकरं खिले गाः विष्ठिता इव**। इसका आशय यों है:—जिस तरह घासभरी ज़मीनपर बिखरी हुई गायोंको कृषिक्षेत्रोंसे दूर रखा जाता है उसी तरह मैं इन पापिनी लक्ष्मियोंको मेरी इस पुण्यवती लक्ष्मीसे दूर भगा देता हूँ। यहाँ कवि स्वयं अपनी कृषिक्षेत्रके साथ, शत्रुकी खिलके साथ; और पापिनी लक्ष्मियोंकी गायोंके साथ तुलना कर रहा है।]

३. उन गायोंका विनाश नहीं होता, उन्हें डाकू कष्ट नहीं दे सकते (और) इनके स्वैर गमनोंपर कोई भी दुष्ट शत्रु हमला भी नहीं कर सकेगा। जो अनेक गायोंका स्वामी उनकी सहायतासे देवोंका यजन करता है तथा (विप्रोंको) उपहार प्रदान करता है वह उन्हीं (गायों) की संगतिमें ही आनन्दसे चिरकालतक विहार करते रहते हैं।

[पहले चरणका अन्वय यों करें-ताः (कर्ता) न नशन्ति, ताः (कर्म) तस्करो न दभाति; मतलब 'ताः' पद दुबारा लें। **व्यथिस्** भ्रमपूर्ण संचार' (नपुं); दे. **अग्ने नकिष्टे व्यथिरा दधर्षीत्** ४·४·३ √व्यथ्-कम्पित होना। यहाँ आशय है-कोई भी दुष्ट शत्रु अग्नि अथवा गायोंके भ्रमपूर्ण संचारपर भी आक्रमण नहीं कर सकता। भ्रमपूर्ण अथवा ग़लत संचारसे लाभ उठाकर शत्रु प्रायः आक्रमण करते हैं, किन्तु वह भी यहाँ (अग्नि तथा गायोंके विषयमें) असंभव है।]

न ता अर्वा रेणुकंकाटो अश्नुते न संस्कृतत्रमुप यन्ति ता अभि ।
उरुगायमभयं तस्य ता अनु गावो मर्तस्य वि चरन्ति यज्वनः ॥ ४ ॥

न । ताः । अर्वा । रेणुऽकंकाटः । अश्नुते । न । संस्कृतऽत्रम् । उप । यन्ति । ताः । अभि ।
उरुऽगायम् । अभयम् । तस्य । ताः । अनु । गावः । मर्तस्य । वि । चरन्ति । यज्वनः ॥ ४ ॥

गावो भगो गाव इन्द्रो मे अच्छान् गावः सोमस्य प्रथमस्य भक्षः ।
इमा या गावः स जनास इन्द्र इच्छामीद्धृदा मनसा चिदिन्द्रम् ॥ ५ ॥

गावः । भगः । गावः । इन्द्रः । मे । अच्छान् । गावः । सोमस्य । प्रथमस्य । भक्षः ।
इमाः । याः । गावः । सः । जनासः । इन्द्रः । इच्छामि । इत् । हृदा । मनसा । चित् । इन्द्रम् ॥५॥

४. (युद्धभूमिमें) धूलिसे भरा हुआ, लड़नेवाला घोड़ा उनके पास पहुँच ही नहीं सकता, पशुमारण स्थानके पास वे (कभी) नही जातीं । (देवोंके लिए) याग करनेवाले उस मनुष्यकी गायें विशाल संचरणयोग्य तथा भयरहित (तृणक्षेत्रोंपर) अनेक प्रकारसे संचरण करती रहती हैं ।

[**रेणुककाटः अर्वा**–'वह घोड़ा जिसकी गर्दन धूलसे लिपटी हुई हो'। **ककाट=कृकाटिका**। धूल याने रणभूमिको मस्तीसे खुरोंद्वारा कुरेदकर उठाई गई धूल। दे. **शफच्युतो रेणुर्नक्षत द्यामुच्छ्वैत्रेयो नृषाह्याय तस्थौ** १·३३·१४ साथ साथ दे. **इयर्ति रेणुं** ४·१७·१३२; **इयर्मि रेणुं** ४·४२·५४ तथा **अरेणु पौंस्ये** १·५६·३ और **अरेणुश्च्यवनः** (बिना युद्धका पैतरा लिए पौरुषको प्रकट करनेवाला और शत्रुओंको परास्त करनेवाला) ६·१८·२। **संस्कृतत्रम्** (कृतत्र√कृत् = कृन्त्) ' पशुको :[न्योछावर करने या] बलि देनेका स्थान'। इसीको १०·८९·१४३ में **शसन** कहा गया है । यज्ञमें वशा (बाँझ गाय) तथा उक्षा (बैल) को बलि दिया जाता था अवश्य [८·४३·११; १०·९१·१४]; किन्तु दुधारु गायको कभी नहीं। **उरुगायमभयम्**–स्थानम् पदका यहाँ अध्याहार करें।]

५. गायें ही साक्षात् (भाग्यकी देवता अर्थात्) भग ही हैं, गायें ही मेरे दृष्टिसे साक्षात् इन्द्र भी हैं । गायें (पीस कर निचोड़े हुए) विशुद्ध सोमका पानयोग्य रस ही हैं; हे लोगो, ये गायें जो अपने संमुख हैं–वे साक्षात् इन्द्र ही हैं (और) मै इसी इन्द्रकी मनसे, हृदयसे अभिलाषा रखता हूँ ।

[**सोमस्य भक्षः**—याने सोमरूपी भक्ष । इसी तरह १०·३४·१ में विभीदककी मौजवत सोमके भक्षके साथ तुलना की गई है । **भक्ष** शब्द सोमके साथ ऋग्वेदमें और दो बार (८·९२·२३; १०·१४८·३ **सोमैः भक्षैः**) तथा मधुके साथ भी अन्यत्र दो बार (८·१००·२, ९·८३·४ मधुनो भक्षम्) आया है । इन ऋचाओंसे यह स्पष्ट है कि **सोमस्य भक्षः** का अर्थ है सोमरूपी भक्ष, सोमकर्तृक दूधका भक्ष (जैसा कि सायणाचार्यने माना है) नहीं । **स जनास इन्द्रः** । २·१२ के इस ध्रुपदको लेकर यहाँ कवि शंकालु व्यक्तियोंको उत्तर देनेमें यत्नशील है । **हृदा मनसा**–अन्तःकरण विकारोंका स्थान है, तो मन विचारोंका । अतः इन दोनोंके संयुक्त उपयोगका अर्थ करना चाहिए ' पूर्ण विचारके उपरान्त और अन्तःकरणके साथ '। ये दोनों शब्द ऋग्वेदमें कई बार एकत्र प्रयुक्त हुए हैं ।]

यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित् कृणुथा सुप्रतीकम्।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद्वो वय उच्यते सभासु ॥ ६ ॥
यूयम्। गावः। मेदयथ। कृशम्। चित्। अश्रीरम्। चित्। कृणुथ। सुऽप्रतीकम्।
भद्रम्। गृहम्। कृणुथ। भद्रऽवाचः। बृहत्। वः। वयः। उच्यते। सभासु ॥ ६ ॥

प्रजाऽवतीः सूयवसं रिशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः।
मा वः स्तेन ईशत माघशंसः परि वो हेती रुद्रस्य वृज्याः ॥ ७ ॥
प्रजाऽवतीः। सुऽयवसम्। रिशन्तीः। शुद्धाः। अपः। सुऽप्रपाने। पिबन्तीः।
मा। वः। स्तेनः। ईशत। मा। अघऽशंसः। परि। वः। हेतिः। रुद्रस्य। वृज्याः ॥ ७ ॥

उपेदमुपपर्चनमासु गोषूप पृच्यताम्।
उप ऋषभस्य रेतस्युपेन्द्र तव वीर्ये ॥ ८ ॥
उप। इदम्। उपऽपर्चनम्। आसु। गोषु। उप। पृच्यताम्।
उप। ऋषभस्य। रेतसि। उप। इन्द्र। तव। वीर्ये ॥ ८ ॥

६. हे गायो, तुम कृश पुरुषको हृष्ट पुष्ट कर देतीं हो; पीले पड़े हुए मनुष्यका चेहरा लाल बना देती हो। हे मङ्गलमय रम्भानेवालीं गायो, तुम हमारा गृह मङ्गलमय बना देतीं हो; तुम्हारे विशाल सामर्थ्यकी प्रशंसा विद्वानोंकी सभामें होती रहती है।

[**वयः**–' सामर्थ्य '(पूर्वार्धमें वर्णित)। **सभासु**–अर्थात् विद्वान् लोगोंकी सभाओंमें; दे. ८·४·९ के साथ साथ **सभेयं वीरं** १·९१·१० और **सभेयो विप्रः** २·२४·१३। इस तरहकी सभाओमें सम्मान प्राप्त करना उस कालकी महत्त्वाकांक्षाका विषय था। इसके विपरीत १०·३४·६ में जिस सभाका उल्लेख किया गया है वह द्यूतसभा है।]

७. हे गायो, तुम अपने बछड़ोंके साथ उत्तम तृण भक्षण करतीं, तथा सुन्दर जलपानके योग्य स्थानमें विशुद्ध निर्मल जलका पान करती रहतीं हो। कोई चोर तथा दुष्ट वाणीका पुरुष तुम्हारे ऊपर प्रभुता कभी न जमाये, रुद्रका (विद्युत्-रुपी) शस्त्र तुम्हें छोड़कर दूरसे ही चला जाय।

[**सुप्रपाणे**–दे. ५·८३·८ की टिप्पणी। **रुद्रस्य हेतिः**– दे. २·३३·१४]

८. उदरमें दूरतक पहुँचनेवाली यह ओषधि, इन गायोंके शरीरमें पहुँचकर सर्वत्र प्रसृत हो जाय। यह ओषधि वृषभके रेतमें (अर्थात् गायके गर्भास्थित वत्सपर्यन्त) तथा हे इन्द्र, तुम्हारे वीर्यमें (वीर्यके साधनरूपी आँचलके दूधपर्यन्त) ही जाकर पहुँचे।

[**उपपर्चनम्** (√पृच् स्पर्श करना, पास पहुँचना)। दे. ९·६९·२ और प्रारम्भकी टिप्पणी। असलमें यह खानेके लिए बनाई गई दवा है। **ऋषभस्य रेतस्** याने गायके गर्भमें विद्यमान वत्स। इन्द्रका वीर्य है सोम, यहाँ लक्षणाकी सहायतासे अभिप्राय उसमें मिलाए जानेवाले दूधसे है। अभिलाषा है कि इन दोनोंपर भी इस मिश्रणका प्रभाव दिखाई दे।]

४८

६·५३.१—१० भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ पूषा ॥ १—७·९·१० गायत्री । ८ अनुष्टुप् ॥

वयमु त्वा पथस्पते रथं न वाजसातये । धिये पूषन्नयुज्महि ॥ १ ॥

वयम् । ऊँ इति । त्वा । पथः । पते । रथम् । न । वाजऽसातये । धिये । पूषन् । अयुज्महि ॥ १ ॥

अभि नो नर्यं वसु वीरं प्रयतदक्षिणम् । वामं गृहपतिं नय ॥ २ ॥

अभि । नः । नर्यम् । वसु । वीरम् । प्रयतऽदक्षिणम् । वामम् । गृहऽपतिम् । नय ॥ २ ॥

अदित्सन्तं चिदाघृणे पूषन् दानाय चोदय । पणेश्चिद्वि म्रदा मनः ॥ ३ ॥

अदित्सन्तम् । चित् । आघृणे । पूषन् । दानाय । चोदय । पणेः । चित् । वि । म्रद । मनः ॥३॥

वि पथो वाजसातये चिनुहि वि मृधो जहि । साधन्तामुग्र नो धियः ॥ ४॥

वि । पथः । वाजऽसातये । चिनुहि । वि । मृधः । जहि । साधन्ताम् । उग्र । नः । धियः ॥४॥

---

१. हे मार्गाधिपते पूषन्, रथ सज्जित किये जानेकी तरह हमने तुम्हारी योजना की है ताकि हमें प्रतिभा प्राप्त हो और अन्न मिले ।

[यहाँ पूषाको रथकी उपमा दी गई है और **वाजसाति** तथा **धी** ये दोनों उसे जोतनेके प्रयोजन हैं । **धी** यह प्रयोजन अन्यत्र भी दिखाई देता है । दे. १·२७·११; १·१११·४]

२. पुरुषोंको उपभोग्य धन की ओर, तथा नित्य दक्षिणा देनेवाले, सदाचारी, वीर्यवान् गृहस्थाश्रमी यजमानके पास हमें लेकर चलो ।

['**नः वामं गृहपतिं (प्रति) नय** यह अन्वय । **प्रयतदक्षिणम्**–' अविरत या निरन्तर दक्षिणा देनेवाला ' ।]

३. हे (शत्रुओंको) ताप देनेवाले पूषन्,दान देनेकी अभिलाषा न रखनेवाले (कृपण) को भी दान देनेके लिए विवश करो । (एवं) ऐसा करो जिससे पणिका भी मन मृदु (अनुकम्पा-युक्त) हो जाय ।

[**आघृणि**–पूषाका खास (विशिष्ट) विशेषण है; (आ समन्तात् घृणिः यस्य) । चारों ओरसे (शत्रुके लिए) तापदायक ।]

४. वाज (अन्न) की प्राप्ति हो इस लिए हमारे मार्ग विशेष प्रकारसे तैयार करो । (मार्गमें) रुकावट डालनेवालोंकी पूरी हत्या करो । हमारी प्रार्थनाएँ सफल होने दो ।

[**साधन्ताम्** (√साधू–अकर्मक धातु–सिद्धि या सफलता पाना) दे. **मन्म साधय** (प्रयोजक) ६·५६·४ ।]

परि॑ तृन्धि प॒णी॒नामार॑या॒ हृद॑या कवे । अथे॑म॒स्मभ्यं॑ रन्धय ॥ ५॥

परि॑ । तृ॒न्धि॒ । प॒णी॒नाम् । आर॑या । हृद॑या । क॒वे॒ । अथ॑ । ई॒म् । अ॒स्मभ्य॑म् । र॒न्ध॒य॒ ॥ ५ ॥

वि पू॑षन्नार॑या तुद प॒णेरि॑च्छ हृ॒दि प्रि॒यम् । अथे॑म॒स्मभ्यं॑ रन्धय ॥ ६ ॥

वि । पू॒ष॒न् । आर॑या । तु॒द॒ । प॒णेः । इ॒च्छ॒ । हृ॒दि । प्रि॒यम् । अथ॑ । ई॒म् । अ॒स्मभ्य॑म् । र॒न्ध॒य॒ ॥६॥

आ रि॑ख किकि॒रा कृ॑णु प॒णी॒नां हृद॑या कवे । अथे॑म॒स्मभ्यं॑ रन्धय ॥ ७ ॥

आ । रि॒ख॒ । कि॒कि॒रा । कृ॒णु॒ । प॒णी॒नाम् । हृद॑या । क॒वे॒ । अथ॑ । ई॒म् । अ॒स्मभ्य॑म् । र॒न्ध॒य॒ ॥ ७ ॥

यां पू॑षन् ब्रह्म॒चोद॑नी॒मारां॒ बिभ॑र्ष्याघृणे ।
तया॑ सम॒स्य हृद॑य॒मा रि॑ख किकि॒रा कृ॑णु ॥ ८ ॥

याम् । पू॒ष॒न् । ब्र॒ह्म॒ऽचोद॑नीम् । आरा॑म् । बिभ॑र्षि । आ॒घृ॒णे॒ ।
तया॑ । स॒म॒स्य॒ । हृद॑यम् । आ । रि॒ख॒ । कि॒कि॒रा । कृ॒णु॒ ॥ ८ ॥

५. अपने आरा नामक शस्त्रसे पणियोंके हृदयके टुकड़े टुकड़े करो। अनन्तर उन्हें हमारे सामने विनम्र होनेके लिए विवश करो।

[**आरा** पूषाका वह शस्त्र है जिससे वह मानवोंको दण्ड देता है और **अष्ट्रा** वह हथियार मालूम होता है जो जानवरों या चौपायों को (योग्य दिशामें) घुमाने या अपने अनुकूल बनानेका साधन मालूम होता है; दे. ऋचा ९, ४.५७.४; ६.५८.२; १०.१०२.८ आदि। **ईम्–सीम्** की तरह यह भी सर्वनामका अव्ययात्मक रूप है और इसे किसी भी वचन एवं लिङ्गकी संज्ञाके साथ प्रयुक्त किया जाता है। ऋचा ५ से लेकर ७ तक जो कल्पना प्रस्तुत है वह यों स्पष्ट की जा सकती है :–पणियोंके हृदयोंको नोंचकर टुकड़े करनेकी सिद्धता दिखानेपर ही वे अपने हृदयके लिए प्रिय धनका त्याग करेंगे। **किकिरा कृणु**–' बिलकुल टुकड़े करो '। **किकिर**— √कृ–किर् धातुसे उत्पन्न विशेषण है। ऋचा ७ में वह **हृदया** शब्दका विशेषण है। ऋचा ८ का **किकिरा √कृ स्वध्वरा √कृ** की तरह एक स्थिरपद मुहावरा मालूम होता है।]

६. हे पूषन्, अपने आरासे (पणीके हृदयके) टुकड़े करो। पणीके हृदयकी प्रिय वस्तुकी उसके पास माँग करो। अनन्तर उन्हें हमारे सामने विनम्र होनेके लिए विवश करो।

७. हे कवे, सभी ओरसे काट काट कर पणियोंके हृदयके टुकड़े टुकड़े करो। अनन्तर उन्हें हमारे सामने विनम्र होनेके लिए विवश करो।

८. हे शत्रुओंको ताप देनेवाले पूषन्, हमारे स्तोत्रोंको उत्तेजित करनेवाले जिस आराको तुम अपने (हाथमें) धारण करते हो उस आरासे सभी पणियोंके हृदयोंको छील–छील कर छिन्न-भिन्न कर दो।

या ते अष्ट्रा गोओपशाघृणे पशुसाधनी । तस्यास्ते सुम्नमीमहे ॥ ९ ॥

या । ते । अष्ट्रा । गोऽओपशा । आघृणे । पशुऽसाधनी । तस्याः । ते । सुम्नम् । ईमहे ॥ ९ ॥

उत नो गोषणिं धियमश्वसां वाजसामुत । नृवत् कृणुहि वीतये ॥ १० ॥

उत । नः । गोऽसनिम् । धियम् । अश्वऽसाम् । वाजऽसाम् । उत ।

नृऽवत् । कृणुहि । वीतये ॥ १० ॥

९. हे शत्रुओंको ताप देनेवाले पूषन्, तुम्हारी जो अष्ट्रा गायके चर्मके पुच्छसे सुशोभित की गई है, और पशुओंको घुमाकर लानेवाली है उसके प्रसादकी हम याचना करते हैं ।

[**गोओपशा**–' **गो**' याने गायका चमड़ा, **ओपश** याने तुरा (गुच्छ)। वह अष्ट्रा जिसके पीछे गायके चमड़ेका गुच्छा लगा हुआ हो । **ओपश** यह **अवपश** (√ पश्–बाँधना, दे. पाश) का विकृत–संप्रसारित–रूप मालूम होता है । यह शब्द इस अर्थमें ९·७१·१ में आता है ।]

१०. और शूर वीरोंकी तरह हम उपभोग ले सकें, इस लिए हमारी इस संस्तुतिकी द्वारा हमें गायें, घोड़े तथा अन्न भी प्राप्त हो, ऐसा करो ।

[**नृवत्**–(अव्यय), **कृणुहि** का क्रियाविशेषण ।]

४९

६·५४.१–१० भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ पूषा ॥ गायत्री ॥

सं पूषन् विदुषा नय यो अञ्जसानुशासति । य एवेदमिति ब्रवत् ॥ १ ॥

सम् । पूषन् । विदुषा । नय । यः । अञ्जसा । अनुऽशासति । यः । एव । इदम् । इति । ब्रवत् ॥१॥

समु पूष्णा गमेमहि यो गृहाँ अभिशासति । इम एवेति च ब्रवत् ॥ २ ॥

सम् । ऊँ इति । पूष्णा । गमेमहि । यः । गृहान् । अभिऽशासति ।
इमे । एव । इति । च । ब्रवत् ॥ २ ॥

पूष्णश्चक्रं न रिष्यति न कोशोऽव पद्यते । नो अस्य व्यथते पविः ॥ ३ ॥

पूष्णः । चक्रम् । न । रिष्यति । न । कोशः । अव । पद्यते । नो इति । अस्य । व्यथते । पविः ॥३॥

यो अस्मै हविषाविधन्न तं पूषापि मृष्यते । प्रथमो विन्दते वसु ॥ ४ ॥

यः । अस्मै । हविषा । अविधत् । न । तम् । पूषा । अपि । मृष्यते । प्रथमः । विन्दते । वसु ॥ ४ ॥

पूषा गा अन्वेतु नः पूषा रक्षत्वर्वतः । पूषा वाजं सनोतु नः ॥ ५ ॥

पूषा । गाः । अनु । एतु । नः । पूषा । रक्षतु । अर्वतः । पूषा । वाजम् । सनोतु । नः ॥ ५ ॥

---

१. हे पूषन्, ऐसे ज्ञानी पुरुषसे हमें मिला दो जो हमें सरलतासे मार्ग दिखाएगा, जो केवल ' यही वह ' इस प्रकार निश्चयसे (किसी खोई गई वस्तुके विषयमें) कह सकेगा।

[**सं नय-नः** यह कर्म अध्याहृत है । दे. **समिन्द्र णो मनसा नेषि गोभिः सं सूरिभिर्हरिवः सं स्वस्ति** ५·४२·४ । **इदम्** याने खोई हुई वस्तु ।]

२. ऐसे पूषा देवसे हमारी भेंट हो जायँ जो हमें (धनी यजमानोंके) घर सीधे बता देता है तथा ' वे ही ये हैं 'ऐसा कह सके।

[**गृहान्**–उदार धनिकोंके बड़े बड़े निवासस्थान। पुल्लिंगमें बहुवचनान्त गृह शब्द विस्तीर्ण एवं प्रासाद-तुल्य गृहोंकी ओर संकेत करता है। **इम एव**–एव शब्दसे जानकारीके सन्देहसे परे, निश्चित होनेका बोध होता है।]

३. पूषा देवका (रथका) चक्र कभी टूटता नहीं; उसका आसन कभी नीचे गिरता ही नहीं। उसके पहियेकी हाल फिसल कर गिरती नहीं।

[पूषाके रथके ये तीनों अवयव–चक्र, कोश (आसनकी जगह) और पवि याने हाल–कभी बिगड़नेका नाम नहीं लेते।]

४. जो मनुष्य इस देवको हविर्भाग देकर उसकी सेवा करता है उसे पूषा कभी भूलता नहीं। सभीके अग्रेसर होकर वह धन प्राप्त कर लेता है।

५. हमारी गायोंके पीछे-पीछे यह पूषा चले। (उनकी तथा) हमारे अश्वोंकी भी यह पूषा रक्षा करे। यह पूषा हमें वाज प्राप्त करा दे।

पूषन्ननु प्र गा इ॑हि यज॑मानस्य सुन्वतः । अस्माकं॑ स्तुवतामुत ॥ ६ ॥

पूष॑न् । अनु॑ । प्र । गाः । इहि । यज॑मानस्य । सुन्वतः । अस्माक॑म् । स्तुवताम् । उत ॥ ६ ॥

माकि॑र्नेशन्माकीं॑ रिषन्माकीं॒ सं शा॑रि केव॑टे । अथारि॑ष्टाभिरा ग॑हि ॥ ७ ॥

माकिः । नेशत् । माकी॑म् । रिषत् । माकी॑म् । सम् । शारि । केव॑टे ।

अथ॑ । अरि॑ष्टाभिः । आ । गहि ॥ ७ ॥

शृण्वन्तं॑ पूषणं॑ वयमिर्य॑मनंष्टवेदसम् । ईशा॑नं राय ई॑महे ॥ ८ ॥

शृण्वन्त॑म् । पूषण॑म् । वयम् । इर्य॑म् । अन॑ष्टऽवेदसम् । ईशा॑नम् । रायः । ई॑महे ॥ ८ ॥

पूषन् तव॑ व्रते व॒यं न रि॑ष्येम कदा॑ चन । स्तोतार॑स्त इह स्म॑सि ॥ ९ ॥

पूष॑न् । तव॑ । व्रते । वयम् । न । रिष्येम । कदा॑ । चन ।

स्तोतार॑ः । ते । इह । स्मसि ॥ ९ ॥

परि॑ पूषा परस्ताद्धस्तं॑ दधातु दक्षि॑णम् । पुन॑र्नो नष्टमाज॑तु ॥ १० ॥

परि॑ । पूषा । परस्ता॑त् । हस्त॑म् । दधातु । दक्षिणम् । पुन॑ः । नः । नष्टम् । आ । अजतु ॥ १० ॥

६. हे पूषन्, (तुम्हारे लिए) सोम पीस कर याग करनेवाले दाताकी गायोंके पीछे-पीछे जाओ (और उनकी रक्षा करो) । और हम तुम्हारे स्तोता हैं इसलिए साथ साथ हमारी (गायोंकी) भी रक्षा करो ।

[यहाँ कवि पूषन्से अपने यजमानके साथ साथ अपनी गायोंकी भी सुरक्षा करनेकी प्रार्थना कर रहा है ।]

७. (हमारी गायोंमेंसे) किसी (गाय) का भी विनाश न हो, किसीका भी अपकार न हो तथा कोई भी गढ्ढेमें न गिरे । हानि न होनेसे (उन सभी) सकुशल (गायोंको) साथ लेकर तुम यहाँ लौट आओ ।

[**माकिः माकीम्**--दे. ४·३०·१ में ' नकिः ' की टिप्पणी ।]

८. प्रार्थनाके (एकाग्र चित्तसे) श्रवणकर्ता, क्रियाशील, एवं जिसका धन कभी खोया नहीं जाता, ऐसे संपत्तिके स्वामी पूषाकी हम संपत्तिके लिए प्रार्थना करते हैं ।

[**रायः** पदका **ईशानाम्** तथा **ईमहे** इन दोनोंके साथ अन्वय करें; दे. ६·५५·२, ३ ।]

९. हे पूषन्, तुम्हारे नियमोंका पालन करते हुए हमारी कभी हानि न हो । (कारण) हम तुम्हारे स्तुतिपाठक होकर इस स्थानपर निवास करते रहते हैं ।

१०. यह पूषा अपना दाहिना हाथ चारों ओरसे उस पार रखे । और हमारा विनष्ट (गोधन) हमारी ओर घुमाकर फिर लौट आने दे ।

[**नष्टं-वेदः** (नपुं.) का अध्याहार करें; दे. **अनष्टवेदसम्** (ऋ. ८) के साथ साथ **यत् पूर्व्यं नष्टम्** ८·७९·६ ।]

५०

६·५५.१–६ भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ पूषा ॥ गायत्री ॥

एहि वां विमुचो नपादाघृणे सं सचावहै । रथीर्ऋतस्य नो भव ॥ १ ॥

आ । इहि । वाम् । विऽमुचः । नपात् । आघृणे । सम् । सचावहै ।
रथीः । ऋतस्य । नः । भव ॥ १ ॥

रथीतमं कपर्दिनमीशानं राधसो महः । रायः सखायमीमहे ॥ २ ॥

रथिऽतमम् । कपर्दिनम् । ईशानम् । राधसः । महः । रायः । सखायम् । ईमहे ॥ २ ॥

रायो धारास्याघृणे वसो राशिरजाश्व । धीवतोधीवतः सखा ॥ ३ ॥

रायः । धारा । असि । आघृणे । वसोः । राशिः । अजऽअश्व । धीवतःऽधीवतः । सखा ॥३॥

१. हे विमोकी (रात्री) के पुत्र, तुम हमारी ओर आओ । हे शत्रुओंको ताप देनेवाले (पूषन्), हम दोनों साथ रहें । तुम (यहाँ आकर) हमारे इस यज्ञके नेता बनो ।

[**वाम् आवाम्** का संक्षिप्त या लघु रुप मालूम होता है । **विमुचो नपात्–विमुच्** अधिकतर रात्रिकी बोधक संज्ञा मालूम होती है । इसीको २·३८·३ में **मोकी** कहा गया है और बादमें ऋचा ५ में पूषाकी माताके रूपमें रात्रिका उल्लेख मिलता है । फिर भी यह अधिक संभव है कि **विमुच्** 'साक्षात् संकटविमोचन' का नाम हो और पूषाको उसीका पुत्र कहा गया हो । अथर्ववेद ६·११२·६ मे देवोंको (इनमें पूषा भी है) **विमुच्** यह सार्थ संज्ञा दी गई है (**वि ते मुचयन्तां** (पाशाः) **विमुचो हि सन्ति (देवाः) भ्रूणघ्नि पूषन् दुरितानि मृक्ष्व**)। **विमुच्** याने अंहस् अथवा संकट से मुक्ति; दे. **एवो ष्वस्मन्मुञ्चता व्यंहः** ४·१२·६ । ऋ. १·४२·१ में तो **विमुचो नपात्** यह विशेषण हेतुगर्भ ही मालूम होता है; दे. **सं पूषन्नध्वनस्तिर व्यंहो विमुचो नपात्** (**वि अंहो मुञ्च** किंवा **तिर**)। इन्द्रको भी १०·६३·९ में **अंहोमुच्** कहा गया है । इसी दृष्टिसे पूषा अथवा इन्द्र को ८·४·१५–१६ में **विमोचन** कहा होगा । **सहसो–शवसो नपात्** (इन्द्र तथा अग्नि), **ऊर्जो नपात्** (अग्नि), **मिहो नपात्** (वृत्र) ये भी इसी तरहके शब्द हैं ।]

२. यह पूषा अत्यन्त श्रेष्ठ रथी, जटाजूटसे सुशोभित, विपुल उपहारोंका स्वामी तथा संपत्तिका सुहृद् है । ऐसे पूषाकी हम प्रार्थना करते हैं ।

[**कपर्दिनम्**– रुद्रको १·११४·१,५ में और ७·३३·१ तथा ७·८३·८ में वसिष्ठोंको (तृत्सुओंको) **कपर्दी** कहा गया है । **रायः सखायम् ईमहे–रायः** का उभयत्र अन्वय करें; दे. ६·५४·८ ।]

३. अपने रथमें घोड़ोंके स्थानपर बकरोंको जोतनेवाले, तथा (शत्रुओंको) ताप देनेवाले हे पूषन्, तुम संपदाकी धारा तथा धनकी प्रत्यक्ष राशि हो । एवं स्तोत्रोंके हरएक निर्माताके सखा भी तुम हो ।

[**रायो धारा** याने बहती हुई नदी; १·४·१० में इन्द्रको भी **रायः अवनिः** कहा गया है ।]

पूषणं न्व१जाश्वमुप स्तोषाम वाजिनम् । स्वसुर्यो जार उच्यते ॥ ४ ॥

पूषणम् । नु । अजऽअश्वम् । उप । स्तोषाम । वाजिनम् । स्वसुः । यः । जारः । उच्यते ॥४॥

मातुर्दिधिषुमब्रवं स्वसुर्जारः शृणोतु नः । भ्रातेन्द्रस्य सखा मम ॥ ५ ॥

मातुः । दिधिषुम् । अब्रवम् । स्वसुः । जारः । शृणोतु । नः । भ्राता । इन्द्रस्य । सखा । मम ॥ ५ ॥

आजासः पूषणं रथे निशृम्भास्ते जनश्रियम् । देवं वहन्तु बिभ्रतः ॥ ६ ॥

आ । अजासः । पूषणम् । रथे । निऽशृम्भाः । ते । जनऽश्रियम् ।
देवम् । वहन्तु । बिभ्रतः ॥ ६ ॥

४. अपने रथमें घोड़ोंके स्थानपर बकरोंको जोतनेवाले, बलसंपन्न, तथा अपनी भगिनी उषाका जिसे प्रियतम माना जाता है उस पूषाकी हम आज संस्तुति करें ।

५. अपनी माताकी ही माँग करनेवाले इस देवका मैंने स्तवन किया है । अपनी भगिनीका यह प्रियतम हमारी प्रार्थना श्रवण करे । इन्द्रका यह भ्राता मेरा सखा है ।

[**मातुः दिधिषुम्–स्वसुः जारः**–माता याने रात और स्वसा याने उषा । **दिधिषु**–' पालन करनेकी अभिलाषा रखनेवाला, ' वर (भर्ता) बननेका इच्छुक ' (१०·१८·८) और **जार** का अर्थ है ' प्रेमी ', ' यौवन (या कौमार्य) का विनाश करनेवाला ' । यहाँ इन दोनों शब्दोंको लक्षणाके आधारपर प्रयुक्त समझें । अतः अर्थ है–रात और उषा दोनोंको दूर हटाकर प्रभुत्व दिखानेवाला पूषा । कुछ लोगोंका मत है कि माता शब्दका यहाँ अभिप्राय सूर्यकी कन्या **सूर्या** से, अश्विनों द्वारा स्वयंवरमें प्राप्त भार्यासे, है । स्वयंवरके अवसरपर अन्य देवोंकी तरह पूषा भी उपस्थित था अतः उसे सूर्याका दिधिषु कहा गया है । लेकिन ६·५८·४ के कथनानुसार देवोंने पूषाको सूर्याके हाथ पुत्रके रूपमें सौंपा; इसलिए वह उसकी माता भी है । और एक बात यह भी है कि स्वयंवरके अवसरपर स्वयं पूषाने अश्विनोंको अपना पिता मान लिया है (**पुत्रः पितरावबृणीत पूषा** १०·८५·१४); फलस्वरूप उनकी भार्या उसकी माता ही बनती है। **स्वसुः जारः** –पूषा सूर्यका एक रूप है और १·६९·१ तथा ७·१०·१ में सूर्यको ' **उषो जारः** ' कहकर उसकी अग्निके साथ तुलना की गई है । इसी तरह चूँकि सूर्य और अग्नि एकरूप हैं और जैसा कि ३·३१·२ में सूचित हुआ है, उषा अग्निकी बहन है; वह पूषाकी भी बहन होती है । संक्षेपमें [कल्पना यह है कि] पूषा अग्निके रूपमें उषाका भाई और सूर्यके रूपमें उसका जार या प्रेमी है । उसी तरह अग्निके रूपमें [दे ५·१·४ तथा उसकी टिप्पणी] रातको भी पूषाकी माता मानकर उसे उसका दिधिषु कहा गया है । अथवा यह कहना भी संभव है कि उषा स्वयं ही माता और स्वसा है क्योंकि ७·७८·३ में उल्लेख है कि उषाने सूर्य, यज्ञ तथा अग्निको जन्म दिया (**अजीजनन्**) ।]

६. इसके स्थिर गमन करनेवाले ये बकरे इन लोगोंके भूषणभूत पूषा देवको उसके रथ पर वहन कर ले आएं ।

[**जनश्रियम् जनश्री**–' लोगोंको गौरव प्रदान करनेवाला '; दे. **क्षत्रश्रियं वरुणम्** १·२५·५ और **अध्वरश्रियः मरुतः** १०·७८·७ ।]

५१

६.५६.१–६ भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ पूषा ॥ १–५ गायत्री । ६ अनुष्टुप् ॥

य एनमादिदेशति करम्भादिति पूषणम् । न तेन देव आदिशे ॥ १ ॥

यः । एनम् । आऽदिदेशति । करम्भऽअत् । इति । पूषणम् ।
न । तेन । देवः । आऽदिशे ॥ १ ॥

उत घा स रथीतमः सख्या सत्पतिर्युजा । इन्द्रो वृत्राणि जिघ्नते ॥ २ ॥

उत । घ । सः । रथिऽतमः । सख्या । सत्ऽपतिः । युजा । इन्द्रः । वृत्राणि । जिघ्नते ॥२॥

उतादः परुषे गवि सूरश्चक्रं हिरण्ययम् । न्यैरयद्रथीतमः ॥ ३ ॥

उत । अदः । परुषे । गवि । सूरः । चक्रम् । हिरण्ययम् । नि । ऐरयत् । रथिऽतमः ॥३॥

---

१. जो पुरुष इस पूषाका 'माँड़ खानेवाला' ऐसा निन्दापूर्वक निर्देश करता है उससे उस देवकी वस्तुतः निन्दा नहीं हो सकती।

[आ √**दिश्**–'निन्दापूर्वक निर्देश करना'। यह धातु इस अर्थमें अन्यत्र भी प्रयुक्त हुआ है। इससे **आदिशः** संज्ञा बनती है जिसका एक अर्थ है 'निन्दापूर्वक उल्लेख या निर्देश'; दे. ८.९२.३१ और दूसरा है 'निन्दक'; दे. ६.४.५; ८.६०.१२। 'माँड़ खानेवाले देवता' [करम्भाद्] कहकर पूषाकी कोई उपहासपूर्वक निन्दा भले ही करे; वह वास्तवमें सराहना ही हो जाती है; निन्दा नहीं। इसका कारण आगामी ऋचामें दिया गया है।]

२. और सचमुच, वह अत्यन्त श्रेष्ठ रथी तथा उत्तम (सेना)नायक इन्द्र अपने इस मित्र तथा साथी पूषा की सहायतासे शत्रुओंका वध करता है।

[यहाँ कविका अभिप्राय स्पष्ट है कि पूषा 'माँड़ खानेवाला' भले ही हो; फिर भी महापराक्रमी इन्द्र इसीकी सहायतासे शत्रुओंका विध्वंस करता है। ऐसी अवस्थामें 'माँड़ खानेवाला' निन्दाका बोध कैसे करा सकता है?]

३. और उस अत्यन्त श्रेष्ठ रथी (इन्द्र) ने (इसीकी सहायतासे ही) सूर्यके (बिम्बरूपी) सौवर्ण चक्रको उस चित्राङ्ग वृषभके चर्मपर ढकेल दिया।

[**रथीतमः** इन्द्रका विशेषण है। सूर्यके चक्रका अर्थ है सूर्यबिम्ब। **परुषे गवि** का अभिप्राय सायंकालीन क्षितिजसे मालूम होता है। यदि यह सच हो तो यहाँ कविद्वारा सूर्यास्तका उल्लेख हुआ होगा। इसी तरहका उल्लेख ऋ. ४.२८.२ में भी पाया जाता है सही; किन्तु वहाँ इन्द्रकृत पराक्रममें सोमके सहायक होनेकी बात कही गई है। इसके विपरीत ऋग्वेद ८.८९.७ में इन्द्रद्वारा ही सूर्यके आकाशमें भेजे जानेका उल्लेख है। प्रस्तुत ऋचामें 'सख्या युजा' इन पदोंका अध्याहार करें। यहाँ प्रारम्भमें 'उत' शब्दका प्रयोग दूसरी ऋचाके विषयको ही आगे बढ़ानेका सूचक है।]

यद्द्य त्वा पुरुष्टुत ब्रवाम दस्र मन्तुमः । तत् सु नो मन्म साधय ॥ ४ ॥

यत् । अद्य । त्वा । पुरुऽस्तुत । ब्रवाम । दस्र । मन्तुऽमः ।

तत् । सु । नः । मन्म । साधय ॥ ४ ॥

इमं च नो गवेषणं सातये सीषधो गणम् । आरात् पूषन्नसि श्रुतः ॥ ५ ॥

इमम् । च । नः । गोऽएषणम् । सातये । सीसधः । गणम् ।

आरात् । पूषन् । असि । श्रुतः ॥ ५ ॥

आ ते स्वस्तिमीमह आरेअघामुपावसुम् । अद्या च सर्वतातये श्वश्च सर्वतातये ॥६॥

आ । ते । स्वस्तिम् । ईमहे । आरेऽअघाम् । उपऽवसुम् ।

अद्य । च । सर्वऽतातये । श्वः । च । सर्वऽतातये ॥ ६ ॥

---

४. हे अनेक (ऋषियों) से संस्तुत, आश्चर्यजनक कर्मोंके कर्ता, प्रतिभाशाली देव, जब हम आज तुम्हारी प्रार्थना करें तब तुम हमारी (प्रार्थनाको) अच्छी तरह सफल करो ।

[**यत्-तत्** को '**मन्म**' शब्दके निश्चयवाचक सर्वनामोंके रूपमें समझ लें; अथवा उन्हें समुच्चयबोधक अव्यय मान लें । इस दशामें इनका अर्थ होगा 'चूँकि इसलिए'। पहले अर्थको मानना ही हो, तो √ब्रू धातुको द्विकर्मक समझ लें । ' मन्म ' का अर्थ है-' मनकी अभिलाषाको प्रदर्शित करनेवाला प्रार्थनात्मक स्तोत्र ' ।]

५. और गायोंकी अभिलाषा रखनेवाले हमारे इस अनुयायी गणको ईप्सित लाभके लिये क्रियासिद्धि प्राप्त करा दो । हे पूषन्, चारों ओरसे तुम (इस बातमें) बड़े प्रसिद्ध हो ।

[**गणम्** का अर्थ है ' स्तोताओंका समूह ' । दे. ५.१.२ की टिप्पणी ।]

६. जिससे आपत्तियाँ दूर भाग जातीं हैं और संपत्ति समीप आती है ऐसी तुम्हारी उस मङ्गलमय सुरक्षाकी आज तथा कल भी (सभी समय) संपूर्ण कल्याणके लिये हम याचना करते हैं ।

[**सर्वताति**-' पूर्णता ' । **तात्-ताति** प्रत्यय ' **ता** ' इस विशिष्ट स्वभावके परिचायक प्रत्ययका ही वर्धमान (या विकसित) रूप है ।]

५२

६·५७·१–६ भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ इन्द्रापूषणौ ॥ गायत्री ॥

इन्द्रा नु पूषणा वयं सख्याय स्वस्तये। हुवेम वाजसातये ॥ १ ॥

इन्द्रा। नु। पूषणा। वयम्। सख्याय। स्वस्तये। हुवेम। वाजऽसातये ॥ १ ॥

सोममन्य उपासदत् पातवे चम्वोः सुतम्। करम्भमन्य इच्छति ॥ २ ॥

सोमम्। अन्यः। उप। असदत्। पातवे। चम्वोः। सुतम्। करम्भम्। अन्यः। इच्छति ॥२॥

अजा अन्यस्य वह्नयो हरी अन्यस्य संभृता। ताभ्यां वृत्राणि जिघ्नते ॥ ३ ॥

अजाः। अन्यस्य। वह्नयः। हरी इति। अन्यस्य। सम्ऽभृता।
ताभ्याम्। वृत्राणि। जिघ्नते ॥ ३ ॥

यदिन्द्रो अनयद्रितो महीरपो वृषन्तमः। तत्र पूषाभवत् सचा ॥ ४ ॥

यत्। इन्द्रः। अनयत्। रितः। महीः। अपः। वृषन्ऽतमः। तत्र। पूषा। अभवत्। सचा ॥४॥

---

१. उनकी मित्रता प्राप्त हो जायँ तथा अपने कल्याण और वाज की प्राप्ति भी हो इस उद्देश्यसे हम अब इन्द्र और पूषा को आवाहित करें।

२. दो चमूपात्रोंमें पीसकर निचोड़े हुए सोमरसका पान करनेके लिये इन दोनोंमेंसे एक (इन्द्र) उसके पास उपस्थित हो गया और दूसरा (पूषा) माँड़की अपेक्षा कर रहा है।

[**चमू** वह पात्र है जिसमें सोमरस रखा जाता था। इसे प्रायः द्विवचनमें किन्तु कभी कभी बहुवचनमें प्रयुक्त किया गया है।]

३. (इनमेंसे) एकके बकरे रथवाहक होते हैं तो दूसरेके उत्तम गठनवाले अश्व वह कार्य करते हैं। उनकी सहायतासे ही वह शत्रुओंका वध करता है।

[**वह्नि**–'वहनकर्ता' या 'वाहक' (√वह्)। **अजाः वह्नयः**–दे. **अजाश्वं पूषणम्** ६·५५·४। **संभृता**–'पूर्ण रूपसे विकसित'; 'सामर्थ्यसे परिपूर्ण'। दे. **अस्मिन्न् (इन्द्रे) संभृताधि वीर्या** २·१६·२। साथ साथ दे. ऋ. ८·३४·१२ जहाँ इन्द्रको **संभृताश्वः** कहा गया है।]

४. जिस समय महान् पराक्रमी इन्द्रने वेगसे बहनेवाली विशाल नदियोंका मार्गदर्शन किया उस समय पूषा ही उसका साथी था।

[**रितः**–(**रित्**–√**रि**–**री** = 'मुक्त करना'); दे. **रिणन्** **अपः** ८·७·२८।]

तां पूष्णः सुमतिं वयं वृक्षस्य प्र वयामिव। इन्द्रस्य चा रभामहे॥ ५॥

ताम्। पूष्णः। सुऽमतिम्। वयम्। वृक्षस्य। प्र। वयाम्ऽइव।
इन्द्रस्य। च। आ। रभामहे॥ ५॥

उत् पूषणं युवामहेऽभीशूँरिव सारथिः। मह्या इन्द्रं स्वस्तये॥ ६॥

उत्। पूषणम्। युवामहे। अभीशून्ऽइव। सारथिः। मह्यै। इन्द्रम्। स्वस्तये॥ ६॥

---

५. इस प्रकार उस पूषाकी और इन्द्रकी पूर्ण कृपाका वृक्षकी शाखाकी तरह हम आश्रय लेते हैं।

[**वृक्षस्य वयामिव**—दे. ७.९५.५।]

६. जिस प्रकार सारथी (अपने घोड़ोंकी) लगाम (अपनी इच्छाके अनुसार घोड़ोंको घुमानेके लिये) जोरसे खींच लेता है उसी प्रकार हम अपने बड़े मङ्गलके लिये पूषाको तथा इन्द्रको भी अपनी ओर खींच लेते हैं।

[**उद्युवामहे** (उद् + √यु—'ऊपर जोड़ना', 'कार्यप्रवृत्त करना'। उपमाके लिए अर्थ होगा—'ऊपर उठाना', शिथिल करना'।]

५३

६·७४·१–४ भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ सोमारुद्रौ ॥ त्रिष्टुप् ॥

सोमारुद्रा धारयेथामसुर्यं१ प्र वामिष्टयोऽरमश्नुवन्तु ।
दमेदमे सप्त रत्ना दधाना शं नो भूतं द्विपदे शं चतुष्पदे ॥ १ ॥

सोमारुद्रा । धारयेथाम् । असुर्यम् । प्र । वाम् । इष्टयः । अरम् । अश्नुवन्तु ।
दमेऽदमे । सप्त । रत्ना । दधाना । शम् । नः । भूतम् । द्विऽपदे । शम् । चतुःऽपदे ॥ १ ॥

सोमारुद्रा वि वृहतं विषूचीममीवा या नो गयमाविवेश ।
आरे बाधेथां निर्ऋतिं पराचैरस्मे भद्रा सौश्रवसानि सन्तु ॥ २ ॥

सोमारुद्रा । वि । वृहतम् । विषूचीम् । अमीवा । या । नः । गयम् । आऽविवेश ।
आरे । बाधेथाम् । निःऽऋतिम् । पराचैः । अस्मे इति । भद्रा । सौश्रवसानि । सन्तु ॥ २ ॥

१. हे सोम और रुद्र, तुम अपनी सार्वभौम सामर्थ्य धारण करो । हमारी प्रार्थनाएँ तुम्हारे पास सुखसे जाकर पहुँचें । (अपने याजकोंके) घर-घरमें सात रमणीय उपहार देकर, हमारे द्विपाद तथा चतुष्पाद अनुयायियोंके लिए तुम मङ्गलप्रद बनो ।

[**इष्टयः** (√इष् –' इच्छा रखना')–' प्रार्थना ', ' इच्छा '। **सप्त रत्ना**–सप्त शब्दको सिर्फ बहुवाची समझ लें; दे. ५·१·५ । अतः ' सप्त रत्ना ' का अर्थ होगा ' अनेक सुन्दर दान '। चौथा चरण **जगती** छन्दमें रखा गया है क्योंकि इसके अन्तमें ' चतुष्पदे ' यह विशिष्ट पद आया है । यही बात ७·५४·१ के साथ साथ १०·८५·४४ तथा १०·१६५·१ में भी विद्यमान है । याने इन चारों स्थानोंपर पहले तीन चरण ' त्रिष्टुप् ' में हैं और चौथा ' जगती ' में है । ऋग्वेदमें अन्यत्र इस तरहका चरण **जगती** छन्दमें प्रणीत ऋचाओंमें ही पाया जाता है–दे. ९·६९·७, १०·८५·४३ ।]

२. हमारे गृहपरिवारमें जो व्याधि प्रविष्ट हुई है उसे, हे सोम और रुद्र, चारों ओरसे बाहर खींचकर निकालो । निर्ऋति नामक क्षुद्र देवताको बहुत दूर तक भगा दो और उत्तम मङ्गलमय कीर्तियाँ हमें प्राप्त होने दो ।

[**विषूचीं वि वृहतम्**—दे. **विषूचीः चातयस्व** २·३३·२ । **गयम्**–दे. **गयस्फानः** ७·५४·२। **आरे पराचैः**– दे. **दूरे पराचैः** १०·१०८·१ । **निर्ऋति** (निस् + ऋ) ' विनाशकी अधिष्ठात्री एवं क्षुद्र देवी है; दे. १०·१८·१० ।]

सोमारुद्रा युवमेतान्यस्मे विश्वा तनूषु भेषजानि धत्तम् ।
अव स्यतं मुञ्चतं यन्नो अस्ति तनूषु बद्धं कृतमेनो अस्मत् ॥ ३ ॥

सोमारुद्रा । युवम् । एतानि । अस्मे इति । विश्वा । तनूषु । भेषजानि । धत्तम् ।
अव । स्यतम् । मुञ्चतम् । यत् । नः । अस्ति । तनूषु । बद्धम् । कृतम् । एनः । अस्मत् ॥३॥

तिग्मायुधौ तिग्महेती सुशेवौ सोमारुद्राविह सु मृळतं नः ।
प्र नो मुञ्चतं वरुणस्य पाशाद्गोपायतं नः सुमनस्यमाना ॥ ४ ॥

तिग्मऽआयुधौ । तिग्महेती इति तिग्मऽहेती । सुऽशेवौ । सोमारुद्रौ । इह । सु । मृळतम् । नः ।
प्र । नः । मुञ्चतम् । वरुणस्य । पाशात् । गोपायतम् । नः । सुऽमनस्यमाना ॥ ४ ॥

३. हे सोम और रुद्र, हमारे इन शरीरोंपर तुम अपनी इन सभी ओषधियोंका प्रयोग करो। हमारे किए जो जो दुष्कर्म हमारे शरीरोंपर दृढमूल हो रहे हैं उन्हें वहाँसे शिथिल करके निकाल दो।

[**विश्वा भेषजानि**-भिषग् या वैद्य के रूपमें रुद्र तो सुविदित ही है। दे. २.३३.४ तथा १३ की टिप्पणी। **तनूषु बद्धम् एनः**-यहाँ कल्पना यह है कि किया जानेवाला दुष्कर्म शरीरसे लिपटकर बैठता है; दे. ७.८६.५ की टिप्पणी।]

४. हे सोम और रुद्र, तुम्हारे शस्त्र और अस्त्र बहुत तीक्ष्ण हैं; तो भी तुम अत्यन्त कृपालु हो। इस (यज्ञके) स्थलमें तुम हमारे ऊपर बड़ी कृपा करो। हमें वरुणके पाशसे मुक्त करो और मनमें सुप्रसन्न होकर हमारी सुरक्षा करो।

[**वरुणस्य पाशात्**-वरुणके पाश अपराधी व्यक्तिको जकड़ लेते है; यह विचार ऋग्वेदमें कई स्थानोंपर पाया जाता है दे. १.२५.२१; ७.८८.७; १०.८५.२४ आदि। यहाँ यह प्रार्थना की गई है कि सोम एवं रुद्र मध्यस्थ बनकर हमें उन पाशोंसे मुक्त करें।]

५४

७·२८·१–५ वसिष्ठः ॥ इन्द्रः ॥ त्रिष्टुप् ॥

ब्रह्मा ण इन्द्रोप याहि विद्वानर्वाञ्चस्ते हरयः सन्तु युक्ताः ।
विश्वे चिद्धि त्वा विहवन्त मर्ता अस्माकमिच्छृणुहि विश्वमिन्व ॥ १ ॥

ब्रह्म । नः । इन्द्र । उप । याहि । विद्वान् । अर्वाञ्चः । ते । हरयः । सन्तु । युक्ताः ।
विश्वे । चित् । हि । त्वा । विऽहवन्त । मर्ताः । अस्माकम् । इत् । शृणुहि । विश्वम्ऽइन्व ॥ १ ॥

हवं त इन्द्र महिमा व्यानड्ब्रह्म यत् पासि शवसिन्नृषीणाम् ।
आ यद्वज्रं दधिषे हस्त उग्र घोरः सन् क्रत्वा जनिष्ठा अषाळ्हः ॥ २ ॥

हवम् । ते । इन्द्र । महिमा । वि । आनट् । ब्रह्म । यत् । पासि । शवसिन् । ऋषीणाम् ।
आ । यत् । वज्रम् । दधिषे । हस्ते । उग्र । घोरः । सन् । क्रत्वा । जनिष्ठाः । अषाळ्हः ॥ २ ॥

तव प्रणीतीन्द्र जोहुवानान्त्सं यन्नॄन्न रोदसी निनेथ ।
महे क्षत्राय शवसे हि जज्ञेऽतूतुजिं चित्तूतुजिरशिश्नत् ॥ ३ ॥

तव । प्रऽनीती । इन्द्र । जोहुवानान् । सम् । यत् । नॄन् । न । रोदसी इति । निनेथ ।
महे । क्षत्राय । शवसे । हि । जज्ञे । अतूतुजिम् । चित् । तूतुजिः । अशिश्नत् ॥ ३ ॥

१. हे इन्द्र, तुम हमारे पास आकर हमारे स्तोत्रोंको भेंट दो। तुम्हारे घोड़े जोते जानेपर हमारी ओर आएं। सभी मर्त्य लोग तुम्हें विविध प्रकारसे पुकारते रहते हैं, तो भी हे सर्व-प्रेरक देव, तुम हमारे ही स्तोत्रका श्रवण करो।

[**विहवन्त**—दे. विह्वयेते २·१२·८ । **शृणुहि** के बाद **हवम्** पदका अध्याहार करें; दे. ऋचा २ तथा ७·६८·२ ।]

२. हे पराक्रमी इन्द्र, तुम ऋषियोंके स्तोत्रकी सुरक्षा करते हो इसीलिये तुम्हारे स्तोत्रको महानताने चारों ओरसे व्याप्त कर दिया है। हे उग्र वीर, जिस समय तुमने अपने हाथमें वज्र धारण कर लिया, उस समयसे ही तुम प्रकृतिसे भीमस्वरूप होनेके कारण अपनी बुद्धिसामर्थ्यसे अजेय बने हो।

[**ते हवं महिमा व्यानट्**–दे. **उग्रं चित्त्वा महिमा सक्षदवसे** १·१२९·१०। यहाँ कविका अभिप्राय यों है:–ऋषियोंकी पुकार सुनकर दौड़ते हुए वहाँ पहुँचकर इन्द्र उनके स्तोत्रकी रक्षा करते हैं यह तो जानी–पहचानी बात है; इसलिए उन्हींके आवाहनको बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता है।]

३. हे इन्द्र, जिस समय तुम, अपने नेतृत्वकी छत्रछायामें साहाय्यके लिये बार बार तुम्हें पुकारनेवाले दोनों पक्षोंके शूर वीरोंकी तरह, पृथ्वी और आकाशको एक ही स्थानपर ले आये,

एभिर्नं इन्द्राहंभिर्दशस्य दुर्मित्रासो हि क्षितयः पवन्ते ।
प्रति यच्चष्टे अनृतमनेना अवं द्विता वरुणो मायी नः सात्॥ ४ ॥

एभिः । नः । इन्द्र । अहंऽभिः । दशस्य । दुःऽमित्रासः । हि । क्षितयः । पवन्ते ।
प्रति । यत् । चष्टे । अनृतम् । अनेनाः । अवं । द्विता । वरुणः । मायी । नः । सात् ॥४॥

वोचेमेदिन्द्रं मघवानमेनं महो रायो राधसो यद्ददंन्नः ।
यो अर्चतो ब्रह्मकृतिमविष्ठो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ५ ॥

वोचेम । इत् । इन्द्रम् । मघऽवानम् । एनम् । महः । रायः । राधसः । यत् । ददत् । नः ।
यः । अर्चतः । ब्रह्मऽकृतिम् । अविष्ठः । यूयम् । पात । स्वस्तिऽभिः । सदा । नः ॥ ५ ॥

उस समय कार्यशकुल वीर (इन्द्र) ने शिथिलकर्मी वृत्रका पटककर वध किया; क्योंकि वह (इन्द्र) क्षात्र तेज और शरीरसामर्थ्यके आविष्कारके लिये ही निर्माण हुआ था ।

[**जोहुवानान् नॄन्**–यह उपमान है । इन पदोंसे यहाँ अभिप्राय उन आर्य योद्धाओंसे है (दे. ऋचा १ तथा २·१२·८) जो आपसमें लड़ते हुए इन्द्रकी सहायताकी याचना कर रहे थे । **रोदसी** यह उपमेय है । **सं निनेथ**–इस तरहके संघर्ष इन्द्रकी प्रेरणासे ही निर्माण होते हैं–दे. १·१३१·३; १·१७४·३; ५·३४·८; ६·३५·२; १०·२७·२ । उपमेयभूत रोदसीमें संघर्षके निर्माणका अर्थ है तूफ़ान तथा वर्षा की सहायतासे उनके बीचके व्यवधानको नष्ट करना; दे. **ओजस्तदस्य तित्विषे उभे यत्समवर्तयत् । इन्द्रश्चर्मेव रोदसी** ८·६·५ । ऋचाके उत्तरार्धके **तृतुजि** का अभिप्राय इन्द्रसे और **अतृतुजि** का वृत्रसे है । ' जज्ञे ' इस क्रियाका कर्ता है इन्द्र; दे. **उग्रो जज्ञे वीर्याय स्वधावान्** ७·२०·१ ।]

४. हे इन्द्र, शीघ्र ही आनेवाले इन दिनोंमें तुम हमपर कृपादृष्टि रखो । क्योंकि इस समय हमारे मित्रोंकी तरह व्यवहार करनेवाले दुष्ट लोग आत्मशुद्धि कर रहे हैं । इसलिये असत्यका तिरस्कार करनेवाला अद्भुत सामर्थ्यशाली यह वरुण हममें जो जो असत्य देखेगा उसे हमसे एकदम अलग करके दूर रखे ।

[**एभिः अहभिः** का अभिप्राय उस कालसे है जिसमें परस्पर संघर्ष होगा । **दुर्मित्रासः**— ' विश्वासघाती मित्र '; आर्य होते हुए भी अनार्योंकी तरह हमसे बैर रखनेवाले । **पवन्ते**– आत्माको पावन करते हैं; देवोंके विरोधमें किए गए अपराधोंका यज्ञयागादिसे क्षालन करते है और इस ढंगसे देवोंकी सहायताके योग्य बनते हैं । ऐसे अवसरपर उनके पहले यदि हम अपनी आत्माको पावन कर लेनेमें समर्थ हों तो देवोंकी–खासकर इन्द्रकी–कृपाका प्रवाह हमारी ओर बहेगा । इस उद्देश्यसे प्रेरित होकर पापके प्रायश्चित्तके लिए उत्तरार्धमें वरुणकी प्रार्थना की गई है । पापोंके प्रायश्चित्तका जहाँतक प्रश्न है वहाँ वरुण ही सर्वोपरि सम्राट् है; इसलिए इस सन्दर्भमें, इन्द्रसूक्तमें भी वरुण की याद की गई है । **पव्** धातु अन्यत्र प्रायः सोमरस अथवा घृत के और क्वचित् वात (वायु) के विषयमें भी प्रयुक्त हुआ है ।]

५. अपनी विशाल संपत्ति तथा उपहारों में से वह हमें कुछ दे इस लिये, जो अपने स्तोताके काव्यनिर्माण का सर्वश्रेष्ठ अभिभावक है ऐसे दानवीर इन्द्रका हम अवश्य ही स्तवन करें । हे देवो, तुम अपने मङ्गलमय आशीर्वचनोंसे हमारी सुरक्षा करो ।

[**ब्रह्मकृतिमविष्ठः** दे. ऋचा २ । इस ऋचाका चौथा चरण वासिष्ठ-मण्डलके अनेक सूक्तोंके अन्तमें टेककी तरह प्रयुक्त हुआ है । दे. ऊपर २·२३·१९ की टिप्पणी ।]

५५

७·४६·१–४ वसिष्ठः ।। रुद्रः ।। १–३ जगती । ४ त्रिष्टुप् ।।

इमा रुद्राय स्थिरधन्वने गिरः क्षिप्रेषवे देवाय स्वधाव्ने ।
अषाळ्हाय सहमानाय वेधसे तिग्मायुधाय भरता शृणोतु नः ॥ १ ॥

इमाः । रुद्राय । स्थिरऽधन्वने । गिरः । क्षिप्रऽइषवे । देवाय । स्वधाऽव्ने ।
अषाळ्हाय । सहमानाय । वेधसे । तिग्मऽआयुधाय । भरत । शृणोतु । नः ॥ १ ॥

स हि क्षयेण क्षम्यस्य जन्मनः साम्राज्येन दिव्यस्य चेतति ।
अवन्नवन्तीरुप नो दुरश्चरानमीवो रुद्र जासु नो भव ॥ २ ॥

सः । हि । क्षयेण । क्षम्यस्य । जन्मनः । साम्ऽराज्येन । दिव्यस्य । चेतति ।
अवन् । अवन्तीः । उप । नः । दुरः । चर । अनमीवः । रुद्र । जासु । नः । भव ॥ २ ॥

या ते दिद्युदवसृष्टा दिवस्परि क्ष्मया चरति परि सा वृणक्तु नः ।
सहस्रं ते स्वपिवात भेषजा मा नस्तोकेषु तनयेषु रीरिषः ॥ ३ ॥

या । ते । दिद्युत् । अवऽसृष्टा । दिवः । परि । क्ष्मया । चरति । परि । सा । वृणक्तु । नः ।
सहस्रम् । ते । सुऽअपिवात । भेषजा । मा । नः । तोकेषु । तनयेषु । रिरिषः ॥ ३ ॥

१. स्थिर धनुष्य एवं क्षिप्रगामी बाण रखनेवाले, तीक्ष्ण शस्त्रोंके अविजेय विजेता एवं स्वावलम्बी विधाता के, इस रुद्रदेवके लिए इन स्तोत्रोंको ले आओ। वह हमारी (प्रार्थनाएं) सुने।

[**अषाळ्हाय सहमानाय वेधसे**–ऋ. २·२१·२ के दूसरे पादमें इन्द्रके लिए ये ही शब्द प्रयुक्त हुए हैं। चौथे पादमें **शृणोतु नः** एक स्वतन्त्र वाक्य है।]

२. स्वामित्वके कारण वह पृथिवीसे उत्पन्न जीवोंको (उनके कार्योंको) और अपनी सार्वभौम शक्तिसे स्वर्गस्थ देवोंको (उनके कार्योंको) भी जानता है। हमपर कृपा करते हुए हमारे आतिथ्यशील द्वारोंपर पधारो। हे रुद्र, व्याधियोंको दूर रखते हुए हमारे लोगोंमें रहो।

[**क्षयेण**–√क्षि–शासन करना। ऋ. १·११४·१-३ तथा १०·९२·९ में रुद्रको **क्षयद्वीर** कहा गया है। **क्षम्य-क्षम्** (पृथिवी) से बना है। दे. **अधि क्षमि** १·२५·१८। **चेतति**–√चित् कियाके कर्मके रूपमें **मन्युम्** ७·६१·१ अथवा **निण्यानि** ७·६१·५ का अध्याहार करें। चौथे पादका मन्तव्य है– दण्डके रूपमें व्याधियोंको हमारे पास मत ले आओ।

३. स्वर्गसे प्रेरित होकर पृथिवीपर संचरण करनेवाला वह तुम्हारा चमकीला शस्त्र हमें (अपनी परिधिसे) पूर्णतया दूर रखे। हे अत्यन्त प्यारे देवता, सचमुच तुम्हारी दवाएं सहस्रों हैं। हमारे पुत्रों एवं पौत्रों को किसी भी तरहकी पीड़ा मत पहुँचाओ।

मा नो॑ वधी रुद्र मा परा॑ दा मा ते॑ भूम प्रसि॑तौ ही॒ळितस्य॑ ।
आ नो॑ भज ब॒र्हिषि॑ जीवशं॒से यू॒यं पा॑त स्व॒स्तिभिः॒ सदा॑ नः ॥ ४ ॥

मा । न॒: । व॒धीः । रु॒द्र । मा । परा॑ । दा॒: । मा । ते॒ । भू॒म । प्रऽसि॑तौ । ही॒ळितस्य॑ ।
आ । न॒: । भ॒ज । ब॒र्हिषि॑ । जी॒वऽशं॒से । यू॒यम् । पा॒त । स्व॒स्तिऽभिः॑ । सदा॑ । न॒: ॥ ४ ॥

[**दिद्युत्—**दे. हेति २·३३·१४ । **भेषजा—**दे. २·३३·२, १३ ।]

४. हे रुद्रदेव, हमारा वध मत करो; हमारा त्याग (भी) मत करो । जब तुम क्रुद्ध होते हो तब तुम्हारे पाशमें हम (कभी) आबद्ध न हों । यज्ञमें (यज्ञके फलमें) तथा तनुधारियोंकी सराहनामें हमें अपना हिस्सा दो । हे देवो, तुम अपनी शुभ कामनाओंसे हमारी सदैव रक्षा करते रहो ।

[**प्रसिति**-($\sqrt{\text{प्र + सि}}$–बाँधना)-पाश । इसका संबन्ध ऋग्वेदमें प्रायः किसी देवतासे होता है । दे. ऋ. ७·३·४, तथा ७·१०४·१३ । **हीळितस्य** हीड् धातुका कर्तरि भूतकालवाचक धातुसाधित विशेषण । यह विशेषण इन्द्रके लिए भी ऋ. १·८०·५ में प्रयुक्त हुआ है । **आ भज जीवशंसे—**दे. ऋ. १·१०४·६ तथा नृणां शंसे ३·१६·४ । **बर्हिषि—** प्रायः ऐसे स्थानोंपर लक्षणाकी सहायतासे **बर्हिस्** का अर्थ होता है 'यज्ञ' । दे. ऋ. ७·७५·८ तथा ५·६२·५, ८·१३·४;८·१५·५ । **बर्हिषि आ भज—**हमें उस यज्ञके फलमें हिस्सा दो जो देवों तथा मानवों के लिए समान रूपमें फलदायी है ।]

५६

७·४९·१–४ वसिष्ठः ॥ आपः ॥ त्रिष्टुप् ॥

समुद्रज्येष्ठाः सलिलस्य मध्यात् पुनाना यन्त्यनिविशमानाः ।
इन्द्रो या वज्री वृषभो रराद ता आपो देवीरिह मामवन्तु ॥ १ ॥

समुद्रऽज्येष्ठाः । सलिलस्य । मध्यात् । पुनानाः । यन्ति । अनिऽविशमानाः ।
इन्द्रः । याः । वज्री । वृषभः । ररादं । ताः । आपः । देवीः । इह । माम् । अवन्तु ॥ १ ॥

या आपो दिव्या उत वा स्रवन्ति खनित्रिमा उत वा याः स्वयंजाः ।
समुद्रार्था याः शुचयः पावकास्ता आपो देवीरिह मामवन्तु ॥ २ ॥

याः । आपः । दिव्याः । उत । वा । स्रवन्ति । खनित्रिमाः। उत । वा । याः । स्वयम्ऽजाः।
समुद्रऽअर्थाः । याः । शुचयः । पावकाः । ताः । आपः । देवीः । इह । माम् । अवन्तु ॥२॥

यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यञ्जनानाम् ।
मधुश्चुतः शुचयो याः पावकास्ता आपो देवीरिह मामवन्तु ॥ ३ ॥

यासाम् । राजा । वरुणः । याति । मध्ये । सत्यानृते इति । अवऽपश्यन् । जनानाम् ।
मधुऽश्चुतः । शुचयः । याः । पावकाः । ताः । आपः । देवीः । इह । माम् । अवन्तु ॥ ३ ॥

---

१. अन्तरिक्षगत समुद्रसे निकलकर, जिनमें (पार्थिव) समुद्र सर्वश्रेष्ठ है ऐसी ये नदियाँ सभीको पावन करते-करते मार्गमें कहीं भी दीर्घ विश्रामके लिये विना रुके बहती हुई चली जा रहीं हैं। जिन्हे वज्रधारी, पराक्रमी इन्द्रने खोदकर बाहर निकाला वे जलरूप देवियाँ इस स्थलपर मेरी रक्षा करें।

[**समुद्र**– अवर अथवा पार्थिव समुद्र; **सलिल** का अभिप्राय उत्तर अथवा दिव्य समुद्रसे है। दे. ऋ. १०·९८·५,६ तथा १२ के साथ साथ नीचे ऋ. १०·७२·६ तथा १०·१२९·३। **अनिविशमानाः**— दे. **अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानाम्** १·३२·१० । **इन्द्रो रराद**–दे. ऋ. ३·३३·६ ।]

२. जो स्वर्गसे नीचे गिरती रहतीं हैं, जो (निर्झर रूपमें) पृथ्वीपर बहतीं हैं, खोदकर बाहर निकालनेसे जिनका निर्माण होता है तथा जो स्वयं ही प्रादुर्भूत होतीं हैं और स्वयं पावन होकर अन्य प्राणियोंको पावन करते–करते सागरसे मिलनेके लिये संचरण करतीं हैं वे सभी जलरूप देवियाँ इस स्थलपर मेरी रक्षा करें।

[प्रस्तुत ऋचामें क्रमशः वर्षा, निर्झरों, कुओं, तालाबों तथा बड़ी नदियों का उल्लेख पाया जाता है।]

३. लोगोंके सत्यासत्यका प्रत्यक्ष निरीक्षण करते-करते जिनमेंसे वरुण राजा संचरण करता है, जो स्वयं पावन होकर अन्य प्राणियोंको भी पावन करतीं हैं तथा जिनमेंसे मधुर रस स्रवित होता है वे जलरूप देवियाँ इस स्थलपर मेरी रक्षा करें।

यासु राजा वरुणो यासु सोमो विश्वे देवा यासूर्जं मदन्ति।
वैश्वानरो यास्वग्निः प्रविष्टस्ता आपो देवीरिह मामवन्तु ॥ ४ ॥

यासु। राजा। वरुणः। यासु। सोमः। विश्वे। देवाः। यासु। ऊर्जम्। मदन्ति।
वैश्वानरः। यासु। अग्निः। प्रऽविष्टः। ताः। आपः। देवीः। इह। माम्। अवन्तु ॥ ४ ॥

[**वरुणो राजा**—दे. १·२५·१० तथा १·१६१·१४। **सत्यानृते-सत्यासत्ये** अथवा **ऋतानृते** के स्थानपर यहाँ **सत्यानृते** यह समास प्रयुक्त हुआ है; जो ध्यान देने योग्य है। वास्तविक रूपमें **ऋत** शब्द अनादि कालसे प्रचलित पदार्थके लिए प्रयुक्त किया जाता है और **सत्य** शब्दसे उस वस्तु या किया का बोध होता है जो अपने अस्तित्वको भविष्यमें प्रकट करती है। अतः ऋतके अनुकरणका अर्थ है विद्यमान वस्तुके साथ अपने आचरणके संघर्षको पैदा होनेका अवसर न देना और सत्यके अनुसार चलनेका साधारण तौरपर अर्थ होता है आगामी कालमें अपने शब्द या कर्म के व्यर्थ या असफल न होनेके संबन्धमें सावधानी रखना। अनृत तथा असत्य इसके ठीक विपरीत हैं। अतः अनृतका अभिप्राय उस आचरणसे है जिसका विद्यमान वस्तुसे संघर्ष पैदा हो, और असत्यका मतलब अपने शब्द या कर्म के आगामी कालमें व्यर्थ या असफल होनेसे है। फिर भी कुछ कालके बीत जानेके बाद इन शब्दोंके अर्थोंमें जो भेद था वह ओझल हुआ और ये दोनों शब्द पर्यायवाची माने गए। **सत्यानृते** शब्दको इसी कालका परिचायक समझ लें। देवता अनृत एवम् असत्य भाषण करनेवाले मानवोंका तिरस्कार करते हैं; दे. ७·६१·५ तथा ७·१०४·१२–१३।]

४. जहाँसे राजा वरुण, सोम और सभी देव अपना ऊर्जस्वल पेय (सोमरस) बड़े प्रेमसे प्राप्त कर लेते हैं, जहाँ अग्नि वैश्वानर प्रविष्ट हो गया है, ऐसी ये जलरूप देवियाँ इस स्थलपर मेरी रक्षा करें।

[**ऊर्जं मदन्ति**— ऊर्ज् शब्दका अभिप्राय सोमसे समझ लें। सोमरसके निर्माणके लिए पानीकी आवश्यकता तो होती ही है। मद् धातुका कर्म कभी द्वितीया विभक्तिमें तो कभी तृतीयामें; कभी षष्ठीमें तो कभी सप्तमीमें भी पाया जाता है।]

५७

७·५०-१–४ वसिष्ठः ॥ १ मित्रावरुणौ ॥ २ अग्निः । ३ विश्वेदेवाः । नद्यः ॥
१–३ जगती । ४ अतिजगती शक्वरी वा ॥

ऋग्वेदमें रोगमुक्त करनेवालीं रहस्यपूर्ण शक्तियोंका वर्णन करनेवाले सूक्त बहुत ही कम हैं। प्रस्तुत सूक्त उन्हींमेंसे एक है। कहा जाता है कि यह सूक्त सांप जैसे ज़मीनपर रेंगनेवाले प्राणियोंके विषसे बचानेकी क्षमता रखता है। हां, ये रहस्यपूर्ण शक्तियाँ मित्र, वरुण, अग्नि तथा आपः जैसे वैदिक देवताओंकी कृपासे ही पाई जातीं हैं। अन्तिम ऋचाके ही कारण प्रस्तुत सूक्तका समावेश 'आपः' के सम्मानमें कहे गए सूक्तोंमें हुआ है। यहां बतलाए गए विभिन्न विष ध्यान देने योग्य है।

आ मां मित्रावरुणेह रक्षतं कुलाययद्विश्वयन्मा न आ गन् ।
अजकावं दुर्दशीकं तिरो दधे मा मां पद्येन रपसा विदत्त्सरुः ॥ १ ॥

आ । माम् । मित्रावरुणा । इह । रक्षतम् । कुलाययत् । विऽश्वयत् । मा । नः । आ । गन् ।
अजकाऽवम् । दुःदशीकम् । तिरः । दधे । मा । माम् । पद्येन । रपसा । विदत् । त्सरुः ॥१॥

यद्विजामन्परुषि वन्दनं भुवदष्ठीवन्तौ परि कुल्फौ च देहत् ।
अग्निष्टच्छोचन्नप बाधतामितो मा मां पद्येन रपसा विदत्त्सरुः ॥ २ ॥

यत् । विऽजामन् । परुषि । वन्दनम् । भुवत् । अष्ठीवन्तौ । परि । कुल्फौ । च । देहत् ।
अग्निः । तत् । शोचन् । अप । बाधताम् । इतः । मा । माम् । पद्येन । रपसा । विदत् । त्सरुः ॥२॥

---

१. हे मित्रावरुणा, यहां मेरी चहुंओरसे रक्षा करो। अपना अड्डा जमानेवाला या चारों ओर फैलनेवाला यह (विष) हमारी ओर न आ पाए। भद्दे अजकावको मैं आंखोंसे दूर हटाता हूँ। वह रेंगनेवाला कीड़ा मेरे पैरके घावसे मुझपर हावी न हो।

[**कुलाययत्**–' कुलाय ' (घोंसला) से निर्मित नामधातुसे यह वर्तमानकालवाचक धातुसाधित विशेषण बना है। **विश्वयत्**–√वि+श्वि का अर्थ होता है–' बढ़ना ', ' उमड़ना ', ' चारों ओर फैलना '। **अजकावम्**–(**अजकावत्** के लिए अनियमित रूप)–अजकासे, एक तरहके विषसे युक्त। **दुर्दशीकम्**–' दशीका ' याने रूप, स्वरूप, आकृति; दे. ऋ. १०·१०८·३ तथा **सुदशीकं** ७·७७·३। **रपस्**–(रप्–रपः) ' क्षत ', ' घाव '। **त्सरुः**–√त्सर्–' रेंगना '।]

२. प्रज्वलित अग्नि उस वन्दन विषको यहाँसे दूर भगा दे जो घुटने सन्धिपर अवतीर्ण होकर (मेरे) घुटनों एवं गुल्फों पर आरूढ हुआ है। वह रेंगनेवाला कीड़ा मेरे पैरके घावसे मुझपर हावी न हो।

[**विजामन् परुषि**–गांठकी तरहका अवयव जहाँ दो अवयव जोड़े गए हों। दे. दूसरा पाद। **अष्ठीवन्तौ**–अष्ठिका अर्थ है (दे. १०·१६३·४) घुटनोंकी सन्धियाँ। **परिदेहत्**–(√दिह्– पोतना,

यच्छल्मलौ भवति यन्नदीषु यदोषधीभ्यः परि जायते विषम् ।
विश्वे देवा निरितस्तत् सुवन्तु मा मां पद्येन रपसा विदत्त्सरुः ॥ ३ ॥
यत् । शल्मलौ । भवति । यत् । नदीषु । यत् । ओषधीभ्यः । परि । जायते । विषम् ।
विश्वे । देवाः । निः । इतः । तत् । सुवन्तु । मा । माम् । पद्येन । रपसा । विदत् । त्सरुः ॥ ३ ॥

याः प्रवतो निवत उद्वत उदन्वतीरनुदकाश्च याः ।
ता अस्मभ्यं पयसा पिन्वमानाः शिवा देवीरशिपदा भवन्तु
सर्वा नद्यो अशिमिदा भवन्तु ॥ ४ ॥
याः । प्रऽवतः । निऽवतः । उत्ऽवतः । उदन्ऽवतीः । अनुदकाः । च । याः ।
ताः । अस्मभ्यम् । पयसा । पिन्वमानाः । शिवाः । देवीः । अशिपदाः । भवन्तु ।
सर्वाः । नद्यः । अशिमिदाः । भवन्तु ॥ ४ ॥

ऊपर छा जाना; दे. **देही**–दीवार ऋ. ७.६.५)–' ऊपर चढ़कर (उसने ढँक लिया)। **वन्दन**–कोई विष नहीं दिखाई देता; असलमें यह कोई सन्धिवातीय वेदना मालूम होती है जो मनुष्यको बरबस झुका देती है; उसे सीधे चलने नहीं देती । इसके इलाजके रूपमें अग्निका उल्लेख गरम दवासे सेंकनेकी ओर संकेत करता है ।]

३. सेंमरके वृक्षपर अथवा नदियोंमें दिखाई देनेवाले या वनस्पतियोंसे पैदा होनेवाले उस विषको सभी देवता यहाँसे दूर हटा दें। वह रेंगनेवाला कीड़ा मेरे पैरके घावसे मुझपर हावी न हो।

[जलों, वृक्षों तथा वनस्पतियों में पाए जानेवाले विभिन्न विषोंका उल्लेख इस ऋचामें किया गया है ।]

४. ढलानों, निम्न अथवा उन्नत प्रदेशोंसे बहनेवाली, विपुल जलसे पूर्ण अथवा जलहीन ये सभी नदियाँ, ये सौजन्यपूर्ण देवियाँ, जब हमारे लिए जलसे उमड़ती हुई दिखाई दें तब ये शिपदा तथा शिमदा इन व्याधियोंसे पूर्णतया मुक्त हों ।

[**प्रवतः**—ढलानोंपर वेगके साथ बहनेवाली नदियोंकी ओर संकेत है । दे. **आपो न प्रवता यतीः** ८.६.३४ । **निवतः** में अगर गड्ढों एवं तालाबों जैसे निचले स्थानोंमें संचित जलकी ओर इशारा है, तो **उद्वतः** में पर्वतोंके तटोंपर स्थित पथरीले पोखरोंमें संचित जलकी ओर । **उदन्वतीः**–सभी ऋतुओंमें पानीसे भरी हुई । **अनुदकाः**—' गरमीके दिनोंमें जलसे हीन ' । अन्तिम पादोंका आशय यों हैः—ये सभी जब पानीसे भरकर उमड़ने लगेंगी तब ये मानवोंको ' शिपदा ' तथा ' शिमदा ' इन व्याधियोंसे मुक्त करें। इन व्याधियोंके लिए दे. अथर्ववेद ४.२५.४ ।]

५८

७·५४·१–३ वसिष्ठः ॥ वास्तोष्पतिः ॥ त्रिष्टुप् ॥

वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान्त्स्वावेशो अनमीवो भवा नः ।
यत्त्वेमहे प्रति तन्नो जुषस्व शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥ १ ॥

वास्तोः । पते । प्रति । जानीहि । अस्मान् । सुऽआवेशः । अनमीवः । भव । नः ।
यत् । त्वा । ईमहे । प्रति । तत् । नः । जुषस्व । शम् । नः । भव । द्विऽपदे । शम् । चतुःऽपदे ॥ १ ॥

वास्तोष्पते प्रतरणो न एधि गयस्फानो गोभिरश्वेभिरिन्दो ।
अजरासस्ते सख्ये स्याम पितेव पुत्रान् प्रति नो जुषस्व ॥ २ ॥

वास्तोः । पते । प्रऽतरणः । नः । एधि । गयऽस्फानः । गोभिः । अश्वेभिः । इन्दो इति ।
अजरासः । ते । सख्ये । स्याम । पिताऽइव । पुत्रान् । प्रति । नः । जुषस्व ॥ २ ॥

१. हे वास्तोष्पते, हमारे साथ आत्मीयतासे व्यवहार करो तथा तुम हमारे लिए प्रवेशके लिये सुलभ और व्याधियोंसे मुक्त करनेवाले हो जाओ । चूँकि हम तुम्हारी प्रार्थना कर रहे हैं; तुम आत्मीयतासे हमारा स्वीकार करो । हमारे द्विपाद् तथा चतुष्पाद् प्राणियोंके लिए सुखकारक हो जाओ ।

[**प्रतिजुषस्व—**; दे. ऋचा २ का चौथा चरण । 'हमें आत्मीय समझ लो' । चौथा चरण जगती छन्दमें लिखा गया है । दे. ऊपर ६·७४·१ की टिप्पणी । **सखा सुशेव एधि नः**–दे. (सोम) १·९१·१५ तथा ऋचा २ की टिप्पणी ।]

२. हे वास्तोष्पते, तुम हमारे पुरस्कर्ता हो जाओ, और हे इन्दो, गायें तथा अश्व हमें प्रदान करके हमारी गृहसंपदाको वृद्धिंगत करो । तुम्हारे सौहृदका उपभोग करते हुए हमें वृद्धत्व की पीडा न होने दो । जिस प्रकार पिता अपने पुत्रका प्रेमसे स्वागत करता है उसी प्रकार तुम हमारा अंगीकार करो ।

[**प्रतरणः**—' बढानेवाला, वृद्धिप्रद ' खासकर हमारी आयुके लिए । दे. **प्र ण आयूंषि तारिषत्** १·२५·१२; ऐसे प्र+तृ से संबद्ध प्रयोग ऋग्वेदमें अन्य स्थानोंपर भी देखे जाते हैं । **इन्दोः**–साधारणतया यह सोमकी संज्ञा है । यहाँ वास्तोष्पतिको सोमसे अभिन्न माना गया है, इसका कारण यह है कि दोनोंके लिए **अमीवहा, प्रतरणः** तथा **गयस्फानः** जैसे समान विशेषण प्रयुक्त हुए हैं— दे. [सोम] १·९१·१२,१९। **पितेव पुत्रान्**—दे. ८·४८·४ (सोमसूक्त) तथा १·१·९ (अग्निसूक्त) । अजरासः–' जरासे याने जराजनित कुपरिणामोंसे मुक्त; दे. १·११६·३५ के साथ साथ नीचे १०·१८·६ की टिप्पणी ।]

वास्तोष्पते शग्मया संसदा ते सक्षीमहि रण्वया गातुमत्या।
पाहि क्षेम उत योगे वरं नो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ ३॥

वास्तोः। पते। शग्मया। सम्ऽसदा। ते। सक्षीमहि। रण्वया। गातुऽमत्या।
पाहि। क्षेमे। उत। योगे। वरम्। नः। यूयम्। पात। स्वस्तिभिः। सदा। नः॥ ३॥

३. हे वास्तोष्पते, तुम्हारी शक्तिप्रद, सुखदायक और (आपत्तियोंमें) मार्गदर्शन करनेवाली संगतिकी हमें प्राप्ति हो। काम तथा विश्राम के अवसरोंपर हमारा अच्छी तरह पालन करो। हे देवो, तुम अपने आशीर्वचनोंसे हमारी रक्षा करो।

[**गातुमत्या संसदा**–' तुम्हारे उस साहचर्यके साथ जो संकटोंसे मुक्त करनेके विविध उपायोंसे परिपूर्ण है।' **गातु** (√गा=जाना)– 'मार्ग' या ' उपाय '। **क्षेमे–योगे**–दे. ७·८६·८। **नः वरं–वरं** का अर्थ है ' उत्तम (उत्कृष्ट) धन ';। दे. **उषो वरं वहसि जोषमनु** ६·६४·५।]



५९

७·५५·१–८ वसिष्ठः ॥ १ वास्तोष्पतिः । २–८ इन्द्रः ॥
१ गायत्री । २–४ उपरिष्टाद्बृहती । ५–८ अनुष्टुप् ॥

इस सूक्तको सर्वानुक्रममें ' प्रस्वापिन्यः उपनिषद् ' की संज्ञा दी गई है, और मूलमें ' प्रस्वापन ' या ' सुलानेवाले ' सूक्तके रूपमें ही इसकी रचना हुई है, इसमें सन्देह नहीं है । इस सूक्तमें जिस घरका उल्लेख हुआ है वह किसी श्रीमान् व्यक्तिका प्रासाद ही मालूम होता है । यहाँके वर्णनके एवं वाक्योंके आधारपर यह अनुमान करना स्पष्टतया संभव है कि इस प्रासादके निवासी निद्रानाशके रोगसे ग्रस्त हुए हों और इसीलिए प्रासादके स्वामीने विज्ञ मान्त्रिकको बुलाकर घरके सभी लोगोंपर उसकी मन्त्रविद्याका प्रयोग करना उचित समझा हो । इस सूक्तमें वर्णित विषय एवं विचारधारा निम्नानुसार विशद की जा सकती है:—

आरम्भमें ही प्रयोग–विषय घरमें प्रवेश करनेके पूर्व यह मान्त्रिक घरके वास्तु–देवताको वशमें कर लेता है (ऋचा १)। इस ऋचामें प्रयुक्त ' अमीवहा ' याने रोगनाशक इस हेतुगर्भ पदसे वास्तोष्पतिको [याने वास्तु-देवताको] यह सूचित किया जाता है कि ' वह (मान्त्रिक) उन्हींकी सहायतासे घरमें घुसे हुए निद्रानाश-रूपी रोगका निर्मूलन करनेमें सफल हो जायँ' । घरके अहातेमें प्रवेश करते ही कुत्ता, जो उसका प्रहरी है, सामने आकर भौंकता है । उसे अपने मन्त्रकी सामर्थ्यसे केवल तीन ऋचाओंमें सुलाकर मान्त्रिक आगे बढ़ता है । इसके बाद घरके अगले अंशमें अधेड़ अवस्थाके माता एवं पिता (उनके बालक स्वाभाविक रूपसे निद्रानाशसे पीडित नहीं थे; उन्हींके संबन्धके आधारपर उन्हें माता तथा पिता कहा गया है), घरके स्वामी याने वृद्ध पितामह; दरवाजेके सामने पहरा देनेवाला छोटा कुत्ता इनके साथ और अन्य सभी संबन्धियोंको सुलाकर चहुँओर घूमनेवाले नौकरोंको भी वह अपने मन्त्रबलसे आँखें मूंदनेपर बाध्य करता है, और उनकी अन्य इन्द्रियोंको क्रियाहीन बनाकर सुला देता है । इनमेंसे कुछ नौकर बैठे हुए थे; कुछ ' अत्र तत्र-सर्वत्र ' घूम रहे थे और अन्य कुतूहलके साथ उस मान्त्रिककी ओर ही देख रहे थे । इन सभीको निद्राके वशमें पहुँचाकर वह बीचके बड़े चौकको पार करके अन्तःपुरकी ओर अग्रसर होता है । ऋचा ७ में वह स्पष्ट रूपसे उस चन्द्रके भी सहायक होनेका उल्लेख करता है जो अनावृत चौकके ऊपर आकाशमें प्रकाशित हो रहा था । इसके उपरान्त अन्तःपुरमें अपने अपने स्थानके अनुसार कुछ रानियाँ [घरके मालिककी औरतें] ज़मीनपर ही लेटी हुई थीं कुछ झूलेपर झूलती हुई नज़र आईं । इनमें कुछ पर्यङ्कपर आरामसे करवटें बदल रही थीं; तो अन्य सुगन्धसे युक्त वस्त्र पहनी हुई या पुष्पादिसे बनाई गई शय्यापर लेटी हुई थीं । मान्त्रिकने अपने मन्त्रके बलपर सभीको निद्रित होनेपर बाध्य कर दिया और यहीं सूक्त भी समाप्त होता है ।

प्राचीन संस्कृत परम्पराके अनुसार इस सूक्तमें वरुणका घर वर्णित हुआ है और इसमें भूखसे व्याकुल होकर अन्नप्राप्तिके लिए वरुणपुत्र वसिष्ठके प्रवेश करने तथा अपने इस कार्यको गुप्त रखनेके लिए घरके सभी लोगोंको मोहनिद्राके आतङ्कमें पहुँचानेकी कथा यहाँ कही गई है । इसके विपरीत पश्चिमीय अनुसन्धान-कर्ताओंके मतमें अपनी प्रियाको भगाकर ले जानेके उद्देश्यसे किसी प्रियतमके उसके घरमें प्रवेश करने तथा घरके सभी व्यक्तियोंको अपने मन्त्रकी सामर्थ्यसे सुलानेकी कथा वर्णित है । किन्तु प्रयोगका विषय बने हुए घरके

आधारपर यह स्पष्टतया प्रतीत होता है कि वह किसी श्रीमान् या धनवान् मानवका है, वरुणका नहीं। साथ साथ यह ध्यानमें रखना चाहिए कि घरमें प्रवेश करनेवाला मान्त्रिक स्पष्टताके साथ अहातेके कुत्तेसे कहता है कि वह एक सभ्य व्यक्ति है; कोई चोर नहीं हैं। घरमें प्रवेश करनेके बाद भी वह छठवीं ऋचामें कहता है कि वहाँके नौकर सिर्फ जागृत ही नहीं हैं, उनमेंसे कोई उसीकी ओर देख भी रहे । अतः यह तय है कि गृहस्वामीकी अनुमतिसे ही मान्त्रिकने घरमें प्रवेश किया। आगे चलकर वह न अपने प्रयोगसे अन्तःपुरकी किसी भी नारीको अछूता रखता है; न अपनी प्रियाके रूपमें किसीका उल्लेख करता है। इन सभी बातोंके आधारपर यह अनुमान करना असंभव है कि उस मान्त्रिकने अपनी प्रियाके अपहरणके लिए घरमें चुपके चुपके प्रवेश किया हो।

मूल ऋग्वेदमें इस सूक्तकी रचना यद्यपि इस प्रकार हुई है; तो भी अथर्ववेदके चौथे खण्डके पाँचवें सूक्तके द्रष्टाने इस सूक्तकी पाँचवीं ऋचासे लेकर आठवीं ऋचातकका अंश अपने सूक्तमें उद्धृत किया है। अथर्ववेदके इस सूक्तका उद्देश्य तो स्पष्ट रूपसे किसी एक स्त्रीको स्वजनोंसे अलग करने के लिए उनपर निद्राकी मोहिनीका प्रयोग करना ही है और इसी सन्दर्भमें उद्धृत ऋचाओंके मूलतः विरोधी शब्दोंको हटाकर अनुकूल शब्दोंको प्रयुक्त किया गया है। छठवीं ऋग्वेदीय ऋचाके 'पश्यति नो जनः' के बदले 'यश्च तिष्ठन् विपश्यति' जैसे साधारण शब्दोंके साथ साथ पाँचवीं ऋचाके 'ससन्तु सर्वे ज्ञातयः' के स्थानपर स्पष्ट रूपसे '**स्वपन्त्वस्यै** ज्ञातयः' जैसे शब्द जान-बूझकर रखे गये हैं। अन्तमें 'जागृतादहमिन्द्र **इवारिष्टो अक्षतः**' कहकर सूक्तके द्रष्टाने बड़ी सूचक प्रार्थना भी की है। उक्त चरणके अन्तिम दो विशेषणोंद्वारा कविने इस कार्यके ज़रिए स्वयं आहत हो जानेकी संभावना भी व्यक्त की है।

अमीवहा वास्तोष्पते विश्वा रूपाण्याविशन् ।
सखा सुशेव एधि नः ॥ १ ॥

अमीवऽहा । वास्तोः । पते । विश्वा । रूपाणि । आऽविशन् ।
सखा । सुशेवः । एधि । नः ॥ १ ॥

यदर्जुन सारमेय दतः पिशङ्ग यच्छसे ।
वीव भ्राजन्त ऋष्टय उप स्रक्वेषु बप्सतो नि षु स्वप ॥ २ ॥

यत् । अर्जुन । सारमेय । दतः । पिशङ्ग । यच्छसे ।
विऽइव । भ्राजन्ते । ऋष्टयः । उप । स्रक्वेषु । बप्सतः । नि । सु । स्वप ॥ २ ॥

१. हे वास्तोष्पते, (हमारी इस वास्तुके) सभी रूपोंमें प्रविष्ट होकर (याने उन्हें अपनी छत्रछायामें लाकर) और उनकी व्याधियोंका विनाश करके तुम हमारे अत्यन्त दयालु मित्र बन जाओ।

[**विश्वा रूपाणि आविशन्**— इस चरणके साथ तीसरे चरणके आधारपर कवि वास्तोष्पति तथा सोम को अभिन्न मानते हुए प्रतीत होते हैं। दे. ७.५४.२ की टिप्पणी। **अमीवहा**—यह साभिप्राय विशेषण; इसे तो ऊपर बतलाया भी गया है।]

२. हे शुभ्र पीतवर्ण सरमाके वंशज, जिस समय तुम (घरमें आगे घुसनेवाले चोरको) काटनेका अवसर देखते-देखते अपने दांत प्रकट करते हो, उस समय तुम्हारे प्रचण्ड जबड़ेमें

स्तेनं राय सारमेय तस्करं वा पुनःसर ।
स्तोतॄनिन्द्रस्य रायसि किमस्मान् दुच्छुनायसे नि षु स्वप ॥ ३ ॥

स्तेनम् । राय । सारमेय । तस्करम् । वा । पुनःऽसर ।
स्तोतॄन् । इन्द्रस्य । रायसि । किम् । अस्मान् । दुच्छुनऽयसे । नि । सु । स्वप ॥ ३ ॥

त्वं सूकरस्य दर्दृहि तव दर्दर्तु सूकरः ।
स्तोतॄनिन्द्रस्य रायसि किमस्मान् दुच्छुनायसे नि षु स्वप ॥ ४ ॥

त्वम् । सूकरस्य । दर्दृहि । तव । दर्दर्तु । सूकरः ।
स्तोतॄन् । इन्द्रस्य । रायसि । किम् । अस्मान् । दुच्छुनऽयसे । नि । सु । स्वप ॥ ४ ॥

मानों सभी भाले चमक-दमक रहे हैं ऐसा प्रतीत होता है । (किंतु आज) तुम चुपचाप नीचे सो जाओ ।

[**वीव भ्राजन्ते** में उत्प्रेक्षा है; यहाँ कुत्तेके दांतोंकी भालोंके साथ समता की गई है । **बप्स्** (भस् धातुका पौनःपुन्यार्थक रूप) ' काटने के लिए; बोटी काटनेके लिए दौड़ना ' । दे. ऋ. ४ ।]

३. हे अग्रेसर होकर बढ़नेवाले सरमाके वंशज, किसी चोर अथवा डाकू पर हमला करो। हम इन्द्रके स्तोता हैं, हमारे ऊपर क्यों आक्रमण करते हो, क्यों दुरात्मा बनते हो? तुम चुपचाप नीचे सो जाओ ।

[प्रस्तुत ऋचाके साथ बादकी सभी ऋचाओंमें [इसमें ऋचा १ का भी अन्तर्भाव है ।] यह देखने योग्य है कि सर्वत्र वक्ता एक सन्मान्य नागरिक होनेकी वजहसे अपनी महत्ताका प्रतिपादन करनेकी अभिलाषासे अपने लिए आदरार्थी बहुवचनको प्रयुक्त करता हुआ पाया जाता है । साथ साथ अपनेको इन्द्रका स्तोता कहकर वह सूचित करता है कि उसने खुलकर याने निधरक रूपसे घरमें प्रवेश किया है; चोरकी तरह चुपके चुपके नहीं। **पुनःसर**-' टूट पड़नेके लिए बार बार कूदनेवाला ' ।]

४. हे सरमाके वंशज, तुम सूअरको फाड़कर खाओ या सूअर तुम्हें फाड़कर खाये । तुम हमपर, इन्द्रके स्तोताओंपर, क्यों आक्रमण करते हो, क्यों दुरात्मा बनते हो? तुम चुपचाप नीचे सो जाओ ।

[**नि षु स्वप**- ये शब्द तीनों ऋचाओंके [दूसरीसे लेकर प्रस्तुत ऋचातक] अन्तमें प्रहरी बने हुए श्वानको निद्राके वशमें करनेके लिए तीन बार प्रयुक्त करने पड़े हैं, जिससे यह प्रतीत होता है कि इस श्वानपर अपने मन्त्रकी सामर्थ्यको प्रयुक्त करनेमें मान्त्रिकको कुछ कठिनाई मालूम हुई हो । संभवतः प्रस्तुत चरणार्धके उच्चारणके साथ साथ उस कुत्तेकी देहपर कुछ अभिमन्त्रित वस्तु [अक्षत आदि] भी फेंकी गई हो जो उसकी देहसे मन्त्रका साक्षात् संबन्ध उपस्थित करनेमें सहायक हुई ।]

सस्तु माता सस्तु पिता सस्तु श्वा सस्तु विश्पतिः ।
ससन्तु सर्वे ज्ञातयः सस्त्वयमभितो जनः ॥ ५ ॥
सस्तु । माता । सस्तु । पिता । सस्तु । श्वा । सस्तु । विश्पतिः ।
ससन्तु । सर्वे । ज्ञातयः । सस्तु । अयम् । अभितः । जनः ॥ ५ ॥

य आस्ते यश्च चरति यश्च पश्यति नो जनः ।
तेषां सं हन्मो अक्षाणि यथेदं हर्म्यं तथा ॥ ६ ॥
यः । आस्ते । यः । च । चरति । यः । च । पश्यति । नः । जनः ।
तेषाम् । सम् । हन्मः । अक्षाणि । यथा । इदम् । हर्म्यम् । तथा ॥ ६ ॥

सहस्रशृङ्गो वृषभो यः समुद्रादुदाचरत् ।
तेना सहस्येना वयं नि जनान्त्स्वापयामसि ॥ ७ ॥
सहस्रऽशृङ्गः । वृषभः । यः । समुद्रात् । उत्ऽआचरत् ।
तेन । सहस्येन । वयम् । नि । जनान् । स्वापयामसि ॥ ७ ॥

---

५. माता सो जाय, पिता सो जाय, श्वान सो जाय तथा गृहका वृद्ध स्वामी भी सो जाय । ज्ञातिके सभी लोग सो जायँ तथा सभी ओर (खड़े रहनेवाले) ये लोग भी सो जायँ ।

[**श्वा** –यह दूसरा छोटा कुत्ता है जो भीतरी दरवाज़ेका प्रहरी मालूम होता है । **विश्पति**—' घरका मालिक ', ' गृहस्वामी ' । ' अभितो जनः ' इन्हीं पदोंका विवरण ऋचा ६ में किया गया है ।]

६. जो-जो (सेवक) बैठे हैं, जो घूम रहा है, जो हमारी ओर देख रहा है उन सभीकी ज्ञानेन्द्रियाँ बंद कर देता हूँ, और यह जो घर (बन्द) है उसीकी तरह (उनको निष्क्रिय कर देता हूँ) ।

[ये सभी नौकर सो जानेके पहले अपने अपने कामके लिए बैठे हैं या घूम रहे हैं । परन्तु उनमेंसे कोई कुतूहलके साथ या सतर्कतासे मान्त्रिककी ही ओर देख रहे हैं । **सं हन्** – ' एक जगह ठोंकना ' इस शब्दमें मानवोंकी इच्छाके विरुद्ध उनकी इन्द्रियोंके केन्द्रित किये जानेकी सूचना है । **अक्षाणि**–यह पद जागृत अवस्थामें अपने अपने व्यापारमें निरत सभी ज्ञानेन्द्रियोंकी ओर संकेत करता है । **यथेदं हर्म्यं तथा**– यहाँ प्रयोगका विषय बना हुआ घर याने **इदं हर्म्यम्** ही उपमान है । इस समय उसकी ज्ञानेन्द्रियोंके रूप धारण करनेवाले दरवाज़े एवं खिड़कियाँ रातको सोते वक्त बंद की गई हैं ।]

७. यह सहस्रशृङ्गोंका जो वृषभ समुद्रमेंसे ऊपर आ गया है उस पराक्रमी देवकी सहायतासे हम इन सभी लोगोंको नीचे सो जानेके लिये विवश कर देते हैं ।

[**सहस्रशृङ्ग वृषभ** से प्रायः संकेत उस चन्द्रकी ओर होगा जो उदित होकर आकाशमें बहुत ही उंचाईपर दिखाई दे रहा है । मनुष्योंको निद्राके वशमें पहुँचानेके लिए मान्त्रिक उसकी शीतल किरनोंकी मदद ले रहा है । **समुद्रात्**–यह कौनसा समुद्र है ? क्या यह पूर्वसमुद्र होगा जिससे सूर्य तथा चन्द्र का उदय

प्रोष्ठेशया वह्येशया नारीर्यास्तल्पशीवरीः।
स्त्रियो याः पुण्यगन्धास्ताः सर्वाः स्वापयामसि ॥ ८ ॥

प्रोष्ठेऽशयाः। वह्येऽशयाः। नारीः। याः। तल्पऽशीवरीः।
स्त्रियः। याः। पुण्यऽगन्धाः। ताः। सर्वाः। स्वापयामसि ॥ ८ ॥

होता है। संभव है कि यह अन्तरिक्षस्थ अथवा ' उत्तर ' समुद्र भी हो। दे. ७·४९·१ की ऊपरकी टिप्पणी। अथवा चन्द्रकी अत्यन्त शीतल किरनोंको देखकर कवि यह अनुमान भी कर रहा हो, कि इसका उद्गमस्थान वही समुद्र हो सकता है जो शीतल जलका संचय होता है। संभव है कि चन्द्रमाको समुद्रके मन्थनसे उत्पन्न चौदह रत्नोंमेंसे एक रत्न माननेवाली पौराणिक कथाका यह मूल स्रोत है।]

८. घरके बाहरी भागमें, पालकी तथा पर्यङ्क पर सोनेवालीं, उसी प्रकार रमणीय सुगन्धित द्रव्यमें लेटनेवाली संपन्न महिलाओंको; सभीको हम सो जानेके लिये विवश करते हैं।

[**प्रोष्ठ** (प्र + अव = उ + स्था) – ' सामनेका निचला अंश ', ' घरका आँगन ' या ' ओसारा '। **प्रोष्ठेशयाः**–नीचे जमीनपर सोनेवालीं दासियाँ। **वह्येशयाः –वह्य**–' वहन करने योग्य शय्यास्थान ' याने छोटी-सी खटिया या झूला; उसपर सोनेवाला उच्चस्तरका नारीवर्ग याने सखियाँ, सहेलियाँ आदि और **तल्प**– याने बड़े बड़े पर्यङ्क, उनपर सोनेवालीं महिलाएं याने घरकी रानियाँ। 'पुण्यगन्धाः' को इन्हींका विशेषण समझ लें अथवा इसमें उनकी ओर संकेत मान लें जो इन रानियोंमें भी प्रधान हों। तीसरे चरणमें एक अक्षर कम तो पहलेसे ही है–जिसे कविकी निरङ्कुशताका परिचायक मानना होगा। अथर्ववेदके सूक्तमें इस ऋचाको उद्धृत करनेवाले द्रष्टाने ' पुण्यगन्धासः ' को प्रयुक्त करके इस दोषका निवारण कर दिया है।]

६०

७·६१·१–७ वसिष्ठः ॥ मित्रावरुणौ ॥ त्रिष्टुप् ॥

उद्वां चक्षुर्वरुण सुप्रतीकं देवयोरेति सूर्यस्ततन्वान् ।
अभि यो विश्वा भुवनानि चष्टे स मन्युं मर्त्येष्वा चिकेत ॥ १ ॥

उत् । वाम् । चक्षुः । वरुणा । सुऽप्रतीकम् । देवयोः । एति । सूर्यः । ततन्वान् ।
अभि । यः । विश्वा । भुवनानि । चष्टे । सः । मन्युम् । मर्त्येषु । आ । चिकेत ॥ १ ॥

प्र वां स मित्रावरुणावृतावा विप्रो मन्मानि दीर्घश्रुदियर्ति ।
यस्य ब्रह्माणि सुक्रतू अवाथ आ यत् क्रत्वा न शरदः पृणैथे ॥ २ ॥

प्र । वाम् । सः । मित्रावरुणौ । ऋतऽवा । विप्रः । मन्मानि । दीर्घऽश्रुत् । इयर्ति ।
यस्य । ब्रह्माणि । सुक्रतू इति सुऽक्रतू । अवाथः । आ । यत् । क्रत्वा । न । शरदः । पृणैथे इति ॥२॥

१. हे वरुण (हे मित्र), तुम देवोंका यह दर्शनीय सूर्यरूपी नेत्र (अपना तेज) प्रसृत करके उदित हो रहा है । सभी प्राणिमात्रोंका ध्यानसे निरीक्षण करनेवाला यह (सूर्य) मर्त्य जनोंका (सुविचार अथवा) कुविचार अवश्य जान लेता है ।

[**वां चक्षुः**–दे. १·११५·१ । **ततन्वान्**–√तन् , यह क्रिया अकर्मक है–दे. **ततनन्** ७·८८·४ । **मन्युम्**–√मन् ' मनमें उदित विचार ' खासकर 'कुटिल विचार'। दे. **सः मन्युं. मर्त्यानामदब्धो नि चिकीषते** ८·७८·६ । साथ साथ दे. १·२५·४ में **विमन्यवः** की टिप्पणी ।]

२. हे मित्र, हे वरुण, हे प्रतिभाशाली देवो, अपने स्तोत्रोंपर अनुग्रह करके अपने जीवनका आगामी संवत्सर, (शरीरसामर्थ्य) एवं बुद्धिवैभवसे पूर्ण करोगे इस उद्देश्यसे हमारा यह पवित्र तथा बहुश्रुत कवि अपने स्तोत्र तुम्हारे पास भेज रहा है ।

[**दीर्घश्रुत् विप्रः**–दे. **सुश्रवसं जनम्** १·४९·२ । **क्रत्वा न शरदः पृणैथे** में कविने विप्रकी शरदोंमें याने उसकी आयुमें मशक की और ऋतुमें (क्रत्वा) उसमें भरे जानेवाले द्रव्यकी कल्पना की है । इसी तरहकी कल्पना कविकी कामना (**ऊर्व**) तथा (इन्द्रद्वारा प्रदत्त) दानोंके विषयमें ३·३०·१९ में की गई है; दे. **ऊर्व इव कामः पप्रथे तमा पृण (वसुभिः)**। यहाँ उपमेयरूपी ' वयसा ' का अध्याहार करें । वयस् = शरीरसामर्थ्य ।]

प्रोरोर्मित्रावरुणा पृथिव्याः प्र दिव ऋष्वाद्बृहतः सुदानू ।
स्पशो दधाथे ओषधीषु विक्ष्वृधग्यतो अनिमिषं रक्षमाणा ॥ ३ ॥
प्र । उरोः । मित्रावरुणा । पृथिव्याः । प्र । दिवः । ऋष्वात् । बृहतः । सुदानू इति सुऽदानू ।
स्पशः । दधाथे इति । ओषधीषु । विक्षु । ऋधक् । यतः । अनिऽमिषम् । रक्षमाणा ॥ ३ ॥
शंसा मित्रस्य वरुणस्य धाम शुष्मो रोदसी बद्बधे महित्वा ।
अयन् मासा अयज्वनामवीराः प्र यज्ञमन्मा वृजनं तिराते ॥ ४ ॥
शंस । मित्रस्य । वरुणस्य । धाम । शुष्मः । रोदसी इति । बद्बधे । महिऽत्वा ।
अयन् । मासाः । अयज्वनाम् । अवीराः । प्र । यज्ञऽमन्मा । वृजनम् । तिराते ॥ ४ ॥

३. हे अत्यंत उदार मित्र और वरुण, विस्तीर्ण पृथिवी तथा उच्च स्वर्गलोक से तुम औषधियोंमें और मानवी प्रजाओंमें, भिन्न भिन्न स्थलोंमें संचरण करनेवाले अपने निरीक्षकोंको प्राणिमात्रोंकी निरन्तर रक्षा करनेके लिये स्थापित करते हो ।

[**प्र दधाथे**- (प्र + √धा) ' प्रधान रूपसे (आप) रखते हैं । ' ऋ. १·१५१·२ में यही धातु प्रयुक्त है । वरुणके चारोंके संचारके लिए दे. ६·६७·५ । **पृथिव्याः** तथा **दिवः** के विशेषण बड़े साभिप्राय हैं; इसलिए अर्थ होगा 'इतनी विशाल एवं इतने बड़े होनेके बावजूद ' । सायणाचार्य तथा उन्हींके अनुगामी गेल्ड्नरकी रायमें यहाँ **प्र** उपसर्ग के बाद **रिरिचाथे** का अध्याहार करके उत्तरार्धको स्वतन्त्र वाक्य मानना उचित होगा । किन्तु इस सूक्तकी प्रमुख कल्पना तो यह है कि ' अदितिके ये पुत्र मानवोंमें बुरे लोगोंको भलोंसे अलग करके बुरोंको दण्ड एवं भलोंको पारितोषिक प्रदान करते हैं; दे. ऋचा १ तथा ५ । इस दृष्टिसे **प्ररिरिचाथे** द्वारा सूचित अपने ही शरीरकी विशालता यहाँ असमीचीन मालूम होती है । साथ साथ यह भी ध्यानमें रखना आवश्यक है कि आगामी ऋचाके पूर्वार्धमें उनकी सामर्थ्यकी महिमा भी वर्णित है । **ऋधग् यतः** विभिन्न रास्तोंसे (मार्गोंसे) आगे बढ़नेवाले । इसे या तो ' स्पशः ' का विशेषण मान लें अथवा **जनान्** का अध्याहार करके उस पदका विशेषण समझें । **रक्षमाणाः** के कर्मके रूपमें **जनान्** का अध्याहार करें ।]

४. (हे ऋत्विज), इस मित्र तथा वरुण के सामर्थ्यकी प्रशंसा करो । इनकी इस शारीरिक सामर्थ्यने अपनी विशालतासे स्वर्ग तथा पृथिवी दोनोंको भी ओत-प्रोत कर दिया है । देवोंके लिये याग न करनेवाले पुरुषोंके कई महीने पुत्रसन्तानके बिना व्यर्थ ही चले जायँ । किन्तु यज्ञोंमें स्तोत्र समर्पण करनेवाले ऋषि अपने अनुयायियोंका समुदाय वृद्धिंगत करते रहें ।

[**रोदसी बद्बधे महित्वा**-यहाँ आशय है कि इनका ' शुष्म ' इतना बड़ा एवं विशाल है कि समूची पृथ्वी एवं स्वर्ग में भी वह समा नहीं सकता; दे. (इन्द्रः) **वरीयो द्यावापृथिवी अबाधत** १०·११३·५ । इस तरहकी कल्पना ऋग्वेदमें अन्यत्र भी प्रयुक्त हुई है । **वृजनं**- (ज्ञातिवर्ग या बिरादरीके लोग) **तिराते**-दे. **प्र ये बन्धुं सूनृताभिस्तिरन्ते** (मघवानः) ७·६७·९ ।]

अमूरा विश्वा वृषणाविमा वां न यासु चित्रं ददृशे न यक्षम्।
द्रुहः सचन्ते अनृता जनानां न वां निण्यान्यचिते अभूवन् ॥ ५ ॥
अमूरा। विश्वा। वृषणौ। इमाः। वाम्। न। यासु। चित्रम्। ददृशे। न। यक्षम्।
द्रुहः। सचन्ते। अनृता। जनानाम्। न। वाम्। निण्यानि। अचिते। अभुवन् ॥ ५ ॥

सम् उ वां यज्ञं महयं नमोभिर्हुवे वां मित्रावरुणा सबाधः।
प्र वां मन्मान्यृचसे नवानि कृतानि ब्रह्म जुजुषन्निमानि ॥ ६ ॥
सम्। ऊँ इति। वाम्। यज्ञम्। महयम्। नमःऽभिः। हुवे। वाम्। मित्रावरुणा। सऽबाधः।
प्र। वाम्। मन्मानि। ऋचसे। नवानि। कृतानि। ब्रह्म। जुजुषन्। इमानि ॥ ६ ॥

५. हे पराक्रमी देवो, तुम दोनों पूर्ण ज्ञानी हो। जिनमें कुछ भी विचित्र और मोह उत्पन्न करनेवाले (शब्दार्थ) नहीं, ऐसे ये स्तुतिवचन तुम्हारे लिये ही हैं। द्रुह नामके नीच देवता लोगोंके असत्य वचन (और कर्म) के पीछे पड़ते हैं। इस संसारमें ऐसे कोई भी रहस्य नहीं है जो तुम्हें ज्ञात न हो सकें।

[**अमूरा विश्वा** –दोनों विशेषणोंको कर्ता कारकमें प्रयुक्त मानना अधिक युक्तियुक्त है। **विश्वा** का अर्थ है सभी; यहाँ 'दोनों'; दे. उरूची विश्वे यजते (द्यावापृथिवी) ४·५६·४; **इमा** के बाद गिरः शब्द का अध्याहार करना समीचीन है; दे. २·२७·१; ७·४५·४ आदि। **चित्रम्** का अभिप्राय अगर कृत्रिम सौष्ठवसे है तो **यक्षम्** का 'अद्भुत' से। कविका कथन है–मेरी सराहनामयी वाणीका संबन्ध न 'चित्रम्' से है; न 'यक्षम्' से; हाँ, उसमें भोलापन एवं स्वाभाविक पद-रचना ज़रूर है। '**इमाः**' का 'द्रुहः' से संबन्ध जोड़कर **द्रुहः** का स्वामित्व मित्रावरुणोंको अर्पित करनेकी कल्पना अत्यन्त असमीचीन सिद्ध होगी। असलमें 'द्रुहः' का अभिप्राय क्षुद्र देवियोंसे है; मित्रावरुणा आदिका उनसे तनिक भी संबन्ध नहीं। ये उन्हीं मनुष्योंपर अपना आतङ्क जमातीं हैं, उन्हींपर अपने पाश डालतीं है, जो मित्रावरुणा आदि द्वारा परित्यक्त होते हैं; दे. ७·५९·८ तथा २·३०·९। इन्हें **अनिन्द्राः** (१·१३३·१ ; ४·२३·७) तथा **अदेवीः** (३·३१·१९) कहा गया है और देवोंसे इन्हें मारनेकी प्रार्थना की गई है (७·१०४·७ साथ साथ २·२३·१७)। **द्रुहः** का अभिप्राय वरुणके पाशोंसे मानना भी अनुचित है। उषा भी इन्हें दूर हटाकर ही अवतीर्ण होती है, दे. ७·७५·१। वास्तवमें द्रुह् राक्षसीसे समता रखनेवाली क्षुद्र देवी है और अनार्य एवं दुष्ट व्यक्ति ही इसके अनुयायी होते है; दे. २·२३·१६; ७·१०४·७ और १७। **न अचित्ते अभूवन्**–दे. **स मन्युं मर्त्येष्वा चिकेत** (ऋचा १)।]

६. मैं अपने प्रणामोंसे तुम्हारे लिये किये गये यज्ञका पुरस्कार करता हूँ। अन्तः-स्फूर्तिसे युक्त होकर, हे मित्र और वरुण, मैं तुम्हारा आवाहन करता हूँ। पठनके उद्देश्यसे तुम्हारे लिये ये नये-नये स्तोत्र (बनाये) हैं। मेरे ही बनाये ये स्तोत्र तुम्हें प्रिय हो जायँ।

[**सं महयम्**–दे. **समु वां यज्ञं महयन् नमोभिः देवाः** ७·४२·३। **प्र** का अन्वय **कृतानि** से करें; दे. **प्रचेतसे प्र सुमतिं कृणुध्वम्** ७·३१·१०। अथवा 'इयर्मि' पदका अध्याहार कर लें; दे. ऋचा २। **जुजुषन्**–यहाँ **जुष्** इस अकर्मक क्रियाको प्रयुक्त मान लें। इस तरहके प्रयोगके लिए दे. 'नाब्रह्मा

इयं देव पुरोहितिर्युवभ्यां यज्ञेषु मित्रावरुणावकारि।
विश्वानि दुर्गा पिपृतं तिरो नो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ७ ॥

इयम्। देवा। पुरःऽहितिः। युवऽभ्याम्। यज्ञेषु। मित्रावरुणौ। अकारि।
विश्वानि। दुःऽगा। पिपृतम्। तिरः। नः। यूयम्। पात। स्वस्तिऽभिः। सदा। नः ॥७॥

यज्ञः जोषति त्वे ' १०·१०५·८। कृतानि पदको दुहराकर ब्रह्म (बहुवचन) के साथ उसका अन्वय करें और चौथे चरणको स्वतन्त्र वाक्यके रूपमें मान लें। सच बात तो यह है कि ऋग्वेदमें जुष् धातुके साथ प्र उपसर्ग प्रायः नहीं पाया जाता। इसीलिए यह सब कष्ट उठाना पड़ा; नहीं तो उत्तरार्धमें प्रजुजुषन् क्रियाकी सहायतासे एक ही वाक्य मान लेना आसान हो उठता।]

७. हे देवो, हे मित्रावरुणा, मैंने तुम्हारे लिये ही इन यज्ञोंमें पौरोहित्य किया है। सभी प्रकारोंकी आपत्तियोंके पार हमें ले चलो। (हे देवो), तुम अपने मङ्गलमय आशीर्वादोंसे हमारी रक्षा करो।

[**पुरोहितिः**– ' पुरोहितका कार्य, पौरोहित्य '; दे. ७·८३·४। **विश्वानि दुर्गा पिपृतं तिरो नः**- **दे. स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा १·९९·१**।]

६१

७·६३·१–६ वसिष्ठः ॥ १–४ सूर्यः । ५ सूर्य-मित्रावरुणाः ।
६ मित्रावरुणौ ॥ त्रिष्टुप् ॥

उद्वेति सुभगो विश्वचक्षाः साधारणः सूर्यो मानुषाणाम् ।
चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्य देवश्चर्मेव यः समविव्यक् तमांसि ॥ १ ॥

उत् । ऊँ इति । एति । सुऽभगः । विश्वऽचक्षाः । साधारणः । सूर्यः । मानुषाणाम् ।
चक्षुः । मित्रस्य । वरुणस्य । देवः । चर्मऽइव । यः । सम्ऽअविव्यक् । तमांसि ॥ १ ॥

उद्वेति प्रसवीता जनानां महान् केतुरर्णवः सूर्यस्य ।
समानं चक्रं पर्याविवृत्सन् यदेतशो वहति धूर्षु युक्तः ॥ २ ॥

उत् । ऊँ इति । एति । प्रऽसविता । जनानाम् । महान् । केतुः । अर्णवः । सूर्यस्य ।
समानम् । चक्रम् । परिऽआविवृत्सन् । यत् । एतशः । वहति । धूःऽसु । युक्तः ॥ २ ॥

---

१. सभी मानवोंको समान रुपमें ही प्राप्त होनेवाला, विश्वद्रष्टा, यह सुन्दर (भाग्यवान्) सूर्य देव उदित हो रहा है, जो मित्र और वरुण का नेत्र है, और जिसने समूचे अन्धकारको मृगचर्मकी तरह लपेट दिया है।

[**साधारणः मानुषाणाम्**—दे. ऋ. ८·६५·७ (इन्द्र) तथा ९·४८·४ (सोम)। **उ** यह भूषणात्मक अव्यय इस ऋचाके साथ आगामी ऋचामें भी प्रयुक्त हुआ है। **चक्षुः**—दे. ऋ. १·११५·१; ७·६१·१। आगे चलकर ऋ. ७·७७·३ में भी सूर्यको **देवानां चक्षुः** कहा गया है। **चर्मेव तमांसि**-चर्म याने चमड़ीका टुकड़ा। इस उपमानकी क्षुद्रतः उपमेय 'तमांसि' की क्षुद्रताकी ओर भी संकेत करती है। दे. ऊपर ऋ. १·८५·५ तथा **रश्मयः सूर्यस्य चर्मेवाधुस्तमो अप्स्वन्तः** ४·१३·४।]

२ लोगोंको अपने-अपने कार्योंमें प्रवृत्त करानेवाला यह सूर्यका चमकनेवाला (प्रकाशरूपी) ध्वज, जिसे रथकी धुराओंमें जोता हुआ एतश (नामक सूर्यका प्रधान अश्व) खींचकर ला रहा है उसी बिम्बरूपी चक्रको, सभी स्थानों पर आगे बढ़ानेके उद्देश्यसे आकाशमें उपर आ रहा है।

[**अर्णवः केतुः**-' लहरानेवाला, लहरियोंसे संयुक्त ध्वज '; दे. (अग्निका) **अर्णवो भानुः** ऋ. ३·२२·२। आकाशमें ऊँचाईतक फैली हुई उदयोन्मुख सूर्यकी किरनोंपर ध्वजका यह आरोप किया गया है; दे. १·५०·१ तथा ३। **समानं चक्रम्** का अभिप्राय उस उदयकालीन सूर्यबिम्बसे है जो चक्राकार दिखाई देता है। **एतश**-वह अश्व है जो सूर्यके सात अश्वोंमेंसे (दे. ऋ. १·५०·८–९) प्रमुख माना गया है। दे. ऋ. ७·६६·१४ (साथ साथ ऋ. ७·८८·२ में **वपुः** की टिप्पणी)।]

विभ्राजमान उपसामुपस्थाद्रेभैरुदेत्यनुमद्यमानः ।

एष मे देवः सविता चच्छन्द यः समानं न प्रमिनाति धाम ॥ ३ ॥

विऽभ्राजमानः । उपसाम् । उपऽस्थात् । रेभैः । उत् । एति । अनुऽमद्यमानः ।

एषः । मे । देवः । सविता । चच्छन्द । यः । समानम् । न । प्रऽमिनाति । धाम ॥ ३ ॥

दिवो रुक्म उरुचक्षा उदेति दूरेअर्थस्तरणिर्भ्राजमानः ।

नूनं जनाः सूर्येण प्रसूता अयन्नर्थानि कृणवन्नपांसि ॥ ४ ॥

दिवः । रुक्मः । उरुऽचक्षाः । उत् । एति । दूरेऽअर्थः । तरणिः । भ्राजमानः ।

नूनम् । जनाः । सूर्येण । प्रऽसूताः । अयन् । अर्थानि । कृणवन् । अपांसि ॥ ४ ॥

यत्रा चक्रुरमृता गातुमस्मै श्येनो न दीयन्नन्वेति पाथः ।

प्रति वां सूर उदिते विधेम नमोभिर्मित्रावरुणोत हव्यैः ॥ ५ ॥

यत्र । चक्रुः । अमृताः । गातुम् । अस्मै । श्येनः । न । दीयन् । अनु । एति । पाथः ।

प्रति । वाम् । सूरे । उत्ऽइते । विधेम । नमःऽभिः । मित्रावरुणा । उत । हव्यैः ॥ ५ ॥

---

३. अपने स्तोताओं द्वारा जिसका प्रसन्नतासे स्वागत किया गया है वह तेजस्वी सूर्य उषादेवियोंकी गोदसे उठकर आ रहा है । जो सूर्य अपने एकरूप नियमका कभी उल्लङ्घन नहीं करता वह सविता देव ही है ऐसा मुझे प्रतीत होता है ।

[**उषसामुपस्थात्**–'उषादेवीकी गोदसे' । मालूम होता है कि यहाँ उषाको सूर्यकी माता माना गया है; दे. ऋ. ७·७८·३; ७·८०·२ तथा १०·११·३ । लेकिन ऊपर ऋ. १·११५·२ में तथा ऋ. ७·७५·५ में भी उसे सूर्यकी प्रेमिका कहा गया है । **रेभैः** –यहाँ रेभ साधारण रूपसे स्तोताकी ओर संकेत करनेवाली संज्ञा है सही; किन्तु ऊपर ऋ. १·११६·२४ तथा १·११८·६ में वह एक व्यक्तिविशेषकी परिचायक है । √रिभ् का अर्थ है ' स्तुति या सराहना करना '; दे. ' उषा उच्छन्ती रिभ्यते वसिष्ठैः ' ७·७६·७ । सविता सत्यधर्मा (ऋ. १०·३४·८; १०·१३९·३) है और सूर्य भी अपने हमेशाके नियत स्थानको न भूलते हुए लोगोंको कार्योंमें प्रवृत्त करता है (**प्रसवीता जनानां** तथा **जनाः सूर्येण प्रसूताः** (ऋचा ४) । इसीलिए कविका कथन है कि ' मुझे सूर्य सविता मालूम होता है '। **समानं धाम**–दे. ऊपर (उषाका) **समानमर्थम्** ऋ. ३·६१·३ ।]

४. दूरदर्शी, बहुत दूरके उद्दिष्ट स्थानपर जानेके लिये निकला हुआ, क्रियाप्रवण और तेजस्वी, स्वर्गका यह सुवर्णकुम्भ (सूर्य) उदित हो रहा है । इस समय सूर्यसे प्रेरणा प्राप्त होनेके उपरान्त लोग अपने अपने उद्दिष्टकी ओर गमन करेंगे तथा अङ्गीकृत कार्य पूर्ण करेंगे ।

[**दिवो रुक्मः**–दे. ऊपर **दिवि रुक्ममुरुव्यञ्चम्** ५·१·१२ । **अर्थानि**—उद्दिष्ट स्थान, वस्तु आदि । ऋ. १०·१८·४ में यही शब्द पुल्लिंगमें प्रयुक्त हुआ है ।]

५. जहाँ पर देवोंने इसके लिये मार्ग निश्चित कर दिया है उस अपने क्षेत्रमें (अन्तरिक्षमें)

नू मित्रो वरुणो अर्यमा नस्त्मने तोकाय वरिवो दधन्तु।
सुगा नो विश्वा सुपथानि सन्तु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ६ ॥

नु। मित्रः। वरुणः। अर्यमा। नः। त्मने। तोकाय। वरिवः। दधन्तु।
सुऽगा। नः। विश्वा। सुऽपथानि। सन्तु। यूयम्। पात। स्वस्तिऽभिः। सदा। नः ॥६॥

यह सूर्य श्येनकी तरह ऊँची उड़ान लेकर आगे बढ़ रहा है। हे मित्रावरुणा, सूर्य उदित होनेपर, हम अपने प्रणामों और हव्यों से तुम्हारी सेवा करें।

[**अमृता गातुं चक्रुः**–दे. 'आ सूर्यो अरुहच्छुक्रमर्णः। यस्मा आदित्या अध्वनो रदन्ति', ७·६०·४ के साथ साथ 'उरुं हि राजा वरुणश्चकार सूर्याय पन्थामन्वेतवा उ' १·२४·८।]

६. इस समय मित्र, वरुण तथा अर्यमा हमें तथा हमारी संतानको सुख दें। सभी स्थान हमारे लिये सुगम और उत्तम मार्गों से युक्त हो जायँ। हे देवो, तुम अपने आशीर्वचनोंसे हमारी रक्षा करो।

[**त्मने तोकाय**—इसी अर्थमें **तन्वे तने च** (६·४६·१२) तथा **तनयाय त्मने च** [१·१८४·५] ये शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। **तोकाय तनयाय च** [२·३३·४] में मानना होगा कि **तोक** का अभिप्राय साक्षात् पुत्र आदिसे और **तनय** का आगे आनेवाली पीढ़िके वंशजोंसे है। **सुगा सुपथानि** में विशिष्ट संज्ञाओंके स्थानपर विशेषणोंका ही उपयोग किया गया है। दे. ऊपर **नः सुगं कृधि** २·२३·७; **नः सुपथा करत्** १·२५·१२ आदि। किन्तु **सुगेभिः पथिभिः** १·३५·११; **सुगेभिः रजोभिः** १·११६·२० तथा **सुगान् पथः** ५·८०·२ में **सुग** एक विशेषणके रूपमें प्रयुक्त है।]

६२

७·६८·१–९ वसिष्ठ ॥ अश्विनौ ॥ १–७ विराट् । ८–९ त्रिष्टुप् ॥

आ शुभ्रा यातमश्विना स्वश्वा गिरो दस्रा जुजुषाणा युवाकोः ।
हव्यानि च प्रतिभृता वीतं नः ॥ १ ॥

आ । शुभ्रा । यातम् । अश्विना । सुऽअश्वा । गिरः । दस्रा । जुजुषाणा । युवाकोः ।
हव्यानि । च । प्रतिऽभृता । वीतम् । नः ॥ १ ॥

प्र वामन्धांसि मद्यान्यस्थुररं गन्तं हविषो वीतये मे ।
तिरो अर्यो हवनानि श्रुतं नः ॥ २ ॥

प्र । वाम् । अन्धांसि । मद्यानि । अस्थुः । अरम् । गन्तम् । हविषः । वीतये । मे ।
तिरः । अर्यः । हवनानि । श्रुतम् । नः ॥ २ ॥

---

१. हे अद्भुत कर्मोंके कर्ता और शोभायमान अश्विनो, सुन्दर अश्वोंके स्वामी तुम अपने इस याजककी स्तुतिवाणियोंका स्वीकार करके इधर आओ और हमारे द्वारा समर्पित किये हुए हव्योंका प्रेमसे स्वीकार करो ।

[**युवाकु**–' तुम दोनोंका ' (युवयोः अयम्); दे. ऋ. ७; युवयु [७·७१·६] का पर्यायवाची । **वीतम्** का स्वाभाविक अन्वय तो ' **हव्यानि** ' के साथ ही हो सकता है; दे. **हविषो वीतये** (ऋचा २) तथा ऋ. ३·५३·१; ६·६०·१५ आदि । रही निघाताभावकी बात; उसे अन्य नियमके आधारपर सिद्ध करना चाहिए । दे. मैकडोनलकृत वेदिक ग्रामर पृ. ४६८ ।]

२. ये मद प्राप्त करानेवाले सोमरस तुम्हारे (पास आनेके) लिये खड़े रहे हैं । हमारे हविष्यान्नका उपभोग लेनेके उद्देश्यसे शीघ्र ही निकल (कर यहाँ आ) जाओ । प्रतिस्पर्धीके निमन्त्रणोंकी उपेक्षा करके हमारे निमन्त्रण ही सुनो ।

[**हवनानि** शब्दसे स्पष्ट है कि कवि **तिरः** को **श्रुतम्** से संबद्ध करना चाहता है । दे. **तिरो विश्वाँ अर्चतो याह्यर्वाङ्** १०·८९·१६ के साथ साथ ऊपर ७·२८·१ । इस पक्षमें **श्रुतम्** के निघाताभावको ऋ. १ के **वीतम्** की ही तरह समझ लेना ठीक होगा । फिर भी **तिरः** पद अन्य स्थानोंपर प्रायः गमनार्थक क्रियासे संबद्ध पाया जाता है; इसलिए यहाँ भी **तिरो अर्यो हवनानि** को **गन्तम्** के साथ अन्वित करके **श्रुतं नः** को स्वतन्त्र वाक्यके रूपमें मानकर कर्मका (हवनानि) अध्याहार करें; दे. **त इह श्रुवन्तु** १०·१५·५। इस अवस्थामें निघाताभाव वाक्यारम्भके कारण सिद्ध होगा ।]

प्र वां रथो मनोजवा इयर्ति तिरो रजांस्यश्विना शतोतिः।
अस्मभ्यं सूर्यावसू इयानः ॥ ३ ॥

प्र। वाम्। रथः। मनःऽजवाः। इयर्ति। तिरः। रजांसि। अश्विना। शतऽऊतिः।
अस्मभ्यम्। सूर्यावसू इति। इयानः ॥ ३ ॥

अयं ह यद्वां देवया उ अद्रिरूर्ध्वो विवक्ति सोमसुद्युवभ्याम्।
आ वल्गू विप्रो ववृतीत हव्यैः ॥ ४ ॥

अयम्। ह। यत्। वाम्। देवऽयाः। ऊँ इति। अद्रिः। ऊर्ध्वः। विवक्ति। सोमऽसुत्। युवऽभ्याम्।
आ। वल्गू इति। विप्रः। ववृतीत। हव्यैः ॥ ४ ॥

चित्रं ह यद्वां भोजनं न्वस्ति न्यत्रये महिष्वन्तं युयोतम्।
यो वामोमानं दधते प्रियः सन् ॥ ५ ॥

चित्रम्। ह। यत्। वाम्। भोजनम्। नु। अस्ति। नि। अत्रये। महिष्वन्तम्। युयोतम्।
यः। वाम्। ओमानम्। दधते। प्रियः। सन् ॥ ५ ॥

---

३. सूर्यादेवी जिनका धन है ऐसे हे अश्विनो, मनकी तरह वेगवान् यह तुम्हारा रथ (हमारे लिये) शताधिक अनुग्रह लेकर हमारी ओर आते हुए अनेक प्रदेशोंमेंसे आगे बढ़ता है।

[**मनोजवाः**-दे. **मनसो जवीयान्** ऋ. १·११८·१। **प्र इयर्ति**-√प्र. + ऋ अकर्मक धातु। दे. **वयः प्र आरन्** १।४९।३। **सूर्यावसू**-दे. ऋ. १·११६·१७ तथा १·११८·५; सूर्या उनकी प्रेमिका है।]

४. जब देवोंका यह अनुयायी, हमारा सोम पीसनेवाला अद्रि खड़ा होकर तुम दोनोंको पुकारता रहता है, उस समय हमारा वक्तृत्वपूर्ण विप्र, सुन्दर ऐसे तुम्हें अपने हव्योंके द्वारा लौटा ले आये।

[**महिष्वन्तं** के बाद **घर्मम्** का अध्याहार कर लें; इसीको १·११६·८ में **पितुमती ऊर्ज्**; १·११८·७ में **तप्त ऊर्ज्**, १·११२·७ में **तप्त घर्म**, १·११९·६ में **परितप्त घर्म**, १·१८०·४ में **मधुमान् घर्म**, ५·७३·६ में **अरेपस् घर्म**, ७·६९·४ में **वयः** और ८·७३·३ में **घर्म** कहा गया है। प्रस्तुत ऋचामें वह स्वयं अश्विनोंके **चित्र भोजन** के रूपमें वर्णित है और इसीसे (अध्याहृत) **घर्मम्** के **महिष्वन्तम्** इस विशेषणको पुष्टि मिलती है। धधकती हुई खाईमें गिरे हुए अत्रि ऋषिकी सुरक्षा करते समय अश्विनोंने पहले हिमवृष्टि करके अग्निकी उष्णता (ग्रंस) नष्ट की, बादमें उसे होशमें लानेके उद्देश्यसे उन्होंने करुणापूर्ण ढंगसे उसे अपना पेय याने घर्म पिलाया और तदुपरान्त उसे ऊपर उठाकर चिरकालतक उसकी सुरक्षाका (**ओमन्**) आश्वासन भी दे डाला।]

५. तुम्हें प्रिय होकर तुम्हारी विशिष्ट सुरक्षाका उपभोग जिसने लिया है उस अत्रि ऋषिको, अपनी महान् सुरक्षाके साथ अपना जो मधुर भोजन है (घर्मसंज्ञक दूध) वह भी तुम्हें समर्पित किया।

उत त्यद्वां जुरते अश्विना भूच्च्यवानाय प्रतीत्यं हविर्दे ।
अधि यद्वर्प इतऊति धत्थः ॥ ६ ॥

उत । त्यत् । वाम् । जुरते । अश्विना । भूत् । च्यवानाय । प्रतीत्यम् । हविःऽदे ।
अधि । यत् । वर्पः । इतःऽऊति । धत्थः ॥ ६ ॥

उत त्यं भुज्युमश्विना सखायो मध्ये जहुर्दुरेवासः समुद्रे ।
निरीं पर्षदरावा यो युवाकुः ॥ ७ ॥

उत । त्यम् । भुज्युम् । अश्विना । सखायः । मध्ये । जहुः । दुःऽएवासः । समुद्रे ।
निः । ईम् । पर्षत् । अरावा । यः । युवाकुः ॥ ७ ॥

वृकाय चिज्जसमानाय शक्तमुत श्रुतं शयवे हूयमाना ।
यावघ्न्यामपिन्वतमपो न स्तर्यं चिच्छक्त्यश्विना शचीभिः ॥ ८ ॥

वृकाय । चित् । जसमानाय । शक्तम् । उत । श्रुतम् । शयवे । हूयमाना ।
यौ । अघ्न्याम् । अपिन्वतम् । अपः । न । स्तर्यम् । चित् । शक्ती । अश्विना । शचीभिः ॥८॥

---

६. जिससे तुमने, तुम्हारी सुरक्षाका भविष्यमें नित्य अनुभव लेनेवाला (तरुण और सुन्दर) शरीर उसे प्रदान किया वह तुम्हारा अद्भुत कर्म, तुम्हें हविर्भाग समर्पित करनेवाले वृद्ध च्यवान ऋषिको सुतरां वन्दनीय हुआ है ।

[**त्यत्** शब्द **वर्पः** की ओर निर्देश करता है । **प्रतीत्यम्**–(√प्रति+इ) 'आदरके साथ अगवानी करने या स्वागत करने योग्य' । **वन्** या **वी** धातुकी तरह '**प्रति+इ**' भी दो विरोधी अर्थोंका बोध कराता है; अतः **प्रतीति** शब्द 'विरोध' के अर्थमें १·३६·२० में तथा **प्रतीत्यम्** शब्द 'विरोध करने योग्य' के अर्थमें ४·५·१४ में भी प्रयुक्त हुआ है। इन दोनों स्थानोंपर छन्दकी दृष्टिसे **प्रतीत्यं** शब्दका उच्चारण **प्रतीतिअं** के रूपमें याने चार अक्षरोंसे युक्त करना पड़ता है; इसलिए इसे विशेषण मानना ही युक्तियुक्त होगा । **इतःऊति** 'इसके बाद जिसे सुरक्षा प्राप्त हो चुकी है वह'; यह **वर्पः** का विशेषण है । यह शब्द ऋग्वेद १·१५१·९ में **वयः** के, १·१४६·२ में (अग्निरूपी) **उक्षा** के तथा १०·३१·७ में **द्यावापृथिवी** के १ रूपमें प्रयुक्त है और इसका अर्थ भी यही है ।]

७. और हे अश्विनो, उस बेचारे भुज्युको उसके कुविचारी मित्रोंने समुद्रके मध्यमें ही छोड़ दिया । (तथापि) तुम्हारे अनुयायी उस कृपण पुरुषने उसे (समुद्रमेंसे) बाहर निकाला ।

[कविका यहाँ अभिप्राय यों है:—सखा या सुहृद् कहलानेवालोंने तो त्याग दिया; किन्तु अरावा कहलानेवाला या शत्रुपक्षका आदमी ही भुज्युका तारनहार सिद्ध हुआ । दे. ऊपर १·११६·३–४ की टिप्पणी । यह अरावा शत्रु पक्षका आदमी भले ही क्यों न हो; अश्विनोंका उपासक अवश्य था; उसीने डूबनेवाले भुज्युको पहले ऊपर उठाया और बादमें अश्विना उसे ज़मीनपर सुयोग्य स्थलपर ले आए ।]

८. हे अश्विनो, तुमने अपनी सामर्थ्य और शक्तियों से, (जिस प्रकार इन्द्रने वृत्रवधके उपरान्त) नदियाँ पानीसे भर दीं, उस प्रकार उसकी (शयुकी) वह वन्ध्या गाय दूधसे भर दी।

एष स्य कारुर्जरते सूक्तैरग्रे बुधान उषसां सुमन्मा।
इषा तं वर्धदघ्न्या पयोभिर्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ९ ॥

एषः । स्यः । कारुः । जरते । सुऽउक्तैः । अग्रे । बुधानः । उषसाम् । सुऽमन्मा ।
इषा । तम् । वर्धत् । अघ्न्या । पयःऽभिः । यूयम् । पात । स्वस्तिऽभिः । सदा । नः ॥ ९ ॥

तुम्हींने भेड़ियेकी तरह क्षुधार्त शयुको सहायता देकर, उसके बुलाये जानेपर उसकी प्रार्थना भी सुन ली।

[**चिद्** उपमावाचक अव्यय है; दे. निरुक्त १.४.१३ 'भेड़ियेकी तरह भूखसे हमेशा व्याकुल' **जसमान**—√जस्–इसी धातुसे जसुरि विशेषण बना है; उसका भी यही अर्थ है। दे. **जसुरये शयवे** १.११६.२२। साथ साथ **वृकाय अरये जसुरये** ६.१३.५ तथा **जहि पणिं वृको हि षः** ६.५१.१४ में क्रमशः अरि एवं पणि को वृक कहा गया है। ऊपर २.२३.७ में शत्रु बने हुए मानव या मर्त्य को पेटू भेड़िया कहा गया है। **उत** यह पद पांचवीं तथा छठवीं एवं छठवीं तथा सातवीं ऋचाकी तरह सातवीं एवं आठवीं के अन्वयका परिचायक है। **स्तर्यम्**–(**स्तरी** का द्वितीयान्त एकवचन)। **अघ्न्याम्**–दे. ऊपर १.११६.२२; १.११८.८। **अपो न**–दे. ७.२३.४ (**आपश्चित् पिप्युः स्तर्यो न गावः**) यहाँ कविकी उपमाका आशय निम्नानुसार है–इन्द्रने वृत्रका काम तमाम करके नदियोंको जिस तरह पर्याप्त जलसे संयुक्त कर दिया उसी तरह अश्विनोंने शयुकी बांझ गायको पर्याप्त दूधसे भर दिया। यहाँ उपमेय है **स्तरी गौ** और उपमान है **आपः**। ऋ. ७.२३.४ में बात बिल्कुल उल्टी है; वहाँ उपमान है **स्तरी गौ** और उपमेय **आपः** की ओर देखते हुए उसका बहुवचनमें उपयोग किया गया है।]

९. उषादेवियोंके आगमनके पूर्व यह तुम्हारा, उत्तम स्तोत्रोंका विरचयिता स्तोता जागृत होकर अपने सुन्दर स्तोत्रोंसे तुम्हारा स्तवन कर रहा है। उसकी गाय अपने दुग्धरूपी अन्नसे उसे संपन्न करे। हे देवो, अपने आशीर्वचनोंसे तुम हमारी सुरक्षा करो।

[**अघ्न्या**—गाय ही वैदिक ऋषियोंका प्रमुख धन था।]

६३

७·७१·१–६ वसिष्ठः ॥ अश्विनौ । त्रिष्टुप् ॥

अप स्वसुरुषसो नग्जिहीते रिणक्ति कृष्णीररुषाय पन्थाम् ।
अश्वामघा गोमघा वां हुवेम दिवा नक्तं शरुमस्मद्युयोतम् ॥ १ ॥

अप । स्वसुः । उषसः । नक् । जिहीते । रिणक्ति । कृष्णीः । अरुषाय । पन्थाम् ।
अश्वऽमघा । गोऽमघा । वाम् । हुवेम । दिवा । नक्तम् । शरुम् । अस्मत् । युयोतम् ॥ १ ॥

उपायातं दाशुषे मर्त्याय रथेन वाममश्विना वहन्ता ।
युयुतमस्मदनिराममीवां दिवा नक्तं माध्वी त्रासीथां नः ॥ २ ॥

उपऽआयातम् । दाशुषे । मर्त्याय । रथेन । वामम् । अश्विना । वहन्ता ।
युयुतम् । अस्मत् । अनिराम् । अमीवाम् । दिवा । नक्तम् । माध्वी इति । त्रासीथाम् । नः ॥ २ ॥

---

१. यह रात्रि अपनी भगिनी उषासे दूर जाती है। यह कृष्णवर्णा रात्रि आरक्तवर्ण सूर्यके लिये (आकाश–) मार्ग खाली कर रही है। अश्व और गायों के उपहार देनेवाले तुम्हें हम आवाहित करते हैं (और प्रार्थना करते हैं कि) दिन या रात्रि में अपना शस्त्र हमसे दूर रखो।

[**स्वसुः**—उषा एवं रात्रि दोनों विरुद्ध रूप धारण करनेवाली बहनें अवश्य हैं, किन्तु वे एक साथ रहने के बजाय क्रमसे एक के बाद एक आया करतीं हैं। दे. **स्वसा स्वस्रे ज्यायस्यै योनिमारैक्** १·१२४·८ तथा **एवा रात्र्युषसे योनिमारैक्** १·११३·१। साथ साथ दे. **अरुषस्य दुहितरा विरूपे स्तृभिरन्या पिपिशे सूरो अन्या। मिथुस्तुरा विचरन्ती पावके** ऋ. ६·४९·३। **अरुष**– ' ताम्रवर्ण ' याने उदीयमान सूर्य; दे. **अप प्रागात् तम आ ज्योतिरेति। आरैक् पन्थां यातवे सूर्याय** १·११३·१६। **शरुम्**–देवोंका वह शस्त्र जिससे वे मनुष्योंको दण्ड देते थे; दे. ऋ. ८·१८·११।]

२. हे अश्विनो, अपने रथमेंसे उत्तम संपदा लाकर हमारे इस दानवीर पुरुषके पास आओ। अकाल और व्याधियों को हमसे दूर रखो, और हे मधुर रसके भोक्ता, दिन या रात्रि के किसी भी समय हमारी सुरक्षा करो।

[**अनिरा**—(इरा का अर्थ है अन्न; अर्थात् अनिरा के माने है अकाल)। **त्रासीथाम्** में निघात का जो अभाव है उसे ऋ. ७·६८·१२ के **वीतम्** एवं **श्रुतम्** की तरह मान लें।]

आ वां रथमवमस्यां व्युष्टौ सुम्नायवो वृषणो वर्तयन्तु ।
स्यूमंगभस्तिमृतयुग्भिरश्वैराश्विना वसुमन्तं वहेथाम् ॥ ३ ॥

आ । वाम् । रथम् । अवमस्याम् । विऽउष्टौ । सुम्नऽयवः । वृषणः । वर्तयन्तु ।
स्यूमऽगभस्तिम् । ऋतयुक्ऽभिः । अश्वैः । आ । अश्विना । वसुऽमन्तम् । वहेथाम् ॥ ३ ॥

यो वां रथो नृपती अस्ति वोळ्हा त्रिवन्धुरो वसुमाँ उस्रयामा ।
आ न एना नासत्योप यातमभि यद्वां विश्वप्स्न्यो जिगाति ॥ ४ ॥

यः । वाम् । रथः । नृपती इति नृऽपती । अस्ति । वोळ्हा । त्रिऽवन्धुरः । वसुऽमान् । उस्रऽयामा ।
आ । नः । एना । नासत्या । उप । यातम् । अभि । यत् । वाम् । विश्वऽप्स्न्यः । जिगाति ॥ ४ ॥

युवं च्यवानं जरसोऽमुमुक्तं नि पेदव ऊहथुराशुमश्वम् ।
निरंहसस्तमसः स्पर्तमत्रिं नि जाहुषं शिथिरे धातमन्तः ॥ ५ ॥

युवम् । च्यवानम् । जरसः । अमुमुक्तम् । नि । पेदवे । ऊहथुः । आशुम् । अश्वम् ।
निः । अंहसः । तमसः । स्पर्तम् । अत्रिम् । नि । जाहुषम् । शिथिरे । धातम् । अन्तरिति ॥ ५ ॥

---

३. इस उषःकालके अन्तिम भागमें तुम्हारे प्रसादोन्मुख, सामर्थ्यशाली (अश्व) तुम्हारा रथ इस ओर घुमाकर ले आयें। हे अश्विनो, ऋतके लिये जोते गये अपने अश्वोंकी सहायतासे तुम अपने धनसे परिपूर्ण तथा बुने गये लगामरूपी हाथसे युक्त यह रथ इधर घुमाकर ले आओ।

[**स्यूम**–(√सीव्) ' चमड़ेकी बुनी हुई बागडोर '। ' स्यूमगभस्ति ' रथका विशेषण है। अतः इसका अर्थ है वह रथ जिसका ' गभस्ति ' याने नियन्त्रण रखनेवाला ' हाथ ' असलमें वही 'चमड़ेकी बागडोर' हो। दे. ऋ. ६·७५·६ **अभीशूनां महिमानं पनायत मनः पश्चादनु यच्छन्ति रश्मयः** और साथ साथ ऋ. ६·४६·१४ **(अर्वन्तः) आ ये वयो न वर्वृतत्यामिषि गृभीता बाह्वोर्गवि**।]

४. हे वीरोंके अधिपति नासत्यो, तुम्हें वहनकर ले आनेवाला तीन आसनोंसे युक्त, संपदासे भरा हुआ, उषःकालमें संचरण करनेवाला और सभी प्रकारके अन्नोंसे परिपूर्ण तुम्हारा रथ जिस समय तुम्हारे पास उपस्थित होगा, उस समय तुम उसमेंसे हमारे पास आओ।

[**त्रिवन्धुरः**–दे. ऋ. १·११८·१। **उस्रयामा**–दे. ऋ. ४·३२·४; जहाँ कवि यह कहता है कि स्वयं **उस्रयामा** या **अनुस्रयामा** होते हुए भी उसे भेंटके रूपमें प्राप्त अश्व बहुत ही सुख प्रदान करते हैं। **उस्रयामा**–याने मुँह अंधेरे समय संचार करनेवाला और **अनुस्रयामा** का अर्थ है अंधेरेमें भी संचार करनेवाला। **एना** –'इस ढंगसे '। **विश्वप्स्न्य** (विश्व + प्स्न्यः)–प्स्न्य याने ' भक्षणीय अन्न '। यह भी रथका विशेषण है। ऋ. ७·४२·६ तथा ८·९७·१५ में वह ' रायः ' के विशेषणके रूपमें प्रयुक्त है।]

५. तुमने च्यवान ऋषिको वार्धक्यसे मुक्त किया, पेदुको वेगवान् अश्व लाकर दिया। अत्रि ऋषिको अन्धकार और संकट से उपर निकाला (और) जाहुष (नामक राजपुत्र) को (चारों ओरसे घेरे जानेपर) भीतिरहित एवं खुले स्थानमें लाकर छोड़ा।

इयं मनीषा इयमश्विना गीरिमां सुवृक्तिम् वृषणा जुषेथाम् ।
इमा ब्रह्माणि युवयून्यग्मन् यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ६ ॥

इयम् । मनीषा । इयम् । अश्विना । गीः । इमाम् । सुऽवृक्तिम् । वृषणा । जुषेथाम् ।
इमा । ब्रह्माणि । युवऽयूनि । अग्मन् । यूयम् । पात । स्वस्तिऽभिः । सदा । नः ॥ ६ ॥

[**अंहसः तमसः**–यह भूगर्भमें धधकती हुई खाईका वर्णन है । **जाहुषम्**–दे. ऋ. १·११६·२० । **शिथिरे** (स्थाने)–' निर्बन्धहीन, खुली ' जगह; ' वह प्रदेश जो भयहीन एवं संकटोंसे मुक्त हो '।]

६. हे अश्विनो, हमारी यह प्रार्थना, यह हमारी स्तुतिवाणी (तुम्हें समर्पित है)। हे पराक्रमी वीरो, (हमारी) इस उत्तम स्तुतिका प्रेमसे स्वीकार करो। ये स्तोत्र तुम्हारी ओर आकृष्ट होकर (तुम्हारे समीप) गए हैं। हे देवो, अपने आशीर्वचनोंसे नित्य हमारी सुरक्षा करो।

[**युवयूनि** (**युवाम् + यु**) तुम्हारी अभिलाषा रखनेवाले, तुम्हें चाहनेवाले (स्तोत्र), दे. **अस्मयुः** ऋ. १·१४२·१० ।]

६४

७·७५·१–८ वसिष्ठः ॥ उषाः ॥ त्रिष्टुप् ॥

व्युषा आवो दिविजा ऋतेनाविष्कृण्वाना महिमानमागात् ।
अप द्रुहस्तम आवरजुष्टमङ्गिरस्तमा पथ्या अजीगः ॥ १ ॥

वि । उषाः । आवः । दिविऽजाः । ऋतेन । आविःऽकृण्वाना । महिमानम् । आ । अगात् ।
अप । द्रुहः । तमः । आवः । अजुष्टम् । अङ्गिरःऽतमा । पथ्याः । अजीगरिति ॥ १ ॥

महे नो अद्य सुविताय बोध्युषो महे सौभगाय प्र यन्धि ।
चित्रं रयिं यशसं धेह्यस्मे देवि मर्तेषु मानुषि श्रवस्युम् ॥ २ ॥

महे । नः । अद्य । सुविताय । बोधि । उषः । महे । सौभगाय । प्र । यन्धि ।
चित्रम् । रयिम् । यशसम् । धेहि । अस्मे इति । देवि । मर्तेषु । मानुषि । श्रवस्युम् ॥ २ ॥

---

१. यह स्वर्गमें उत्पन्न उषा ऋतका अनुसरण करके विशेष रूपमें प्रकाशित हुई है। अपनी महानता प्रकट करते करते वह यहाँ उपस्थित हुई है। द्रुह नामक क्षुद्र देवियोंको तथा (सभीको) अप्रिय अन्धकारको भी उसने खोलकर छोड़ दिया। अङ्गिरसकुलकी इस सर्वश्रेष्ठ देवीने (सभी छोटे-बड़े) मार्ग जागृत किए हैं।

[**वि आवः**—(√वस्–' प्रकाशित होना '); अप आवः—(√अप + वृ) ' अनावृत करना ', ' प्रकट करना '। यहाँ कविका अभिप्राय है– अंधकारके साथ साथ द्रुहोंको उनके उस स्थानसे हटाकर दूर भगा दिया जहाँ वे छिपे हुए थे।]

२. आज तुम हमें (अपने संनिधानसे) श्रेष्ठ सुख प्राप्त करा दो। उसी प्रकार हे उषा देवि, हमें श्रेष्ठ भाग्यकी ओर पहुँचा दो। हे मानवोंके लिए अनुकूल देवि, हमें मनोहर, सर्वश्रुत तथा मर्त्यलोकमें कीर्ति प्राप्त करा देनेवाली संपदा भी दे दो।

[**नः सुविताय बोधि**—(नः षष्ठी); दूसरे पादमें **नः** (द्वितीया) का अध्याहार अथवा विभक्ति-व्यत्ययके आधारपर उसका पुनः उच्चारण कर लेना समीचीन होगा। **श्रवस्युम्**–'कीर्तिकी अभिलाषा रखनेवाला', यह रयिम् (पुल्लिंगी) का विशेषण। इसीसे मालूम होता है कि यहाँ **रयि** से कवि पुत्ररूपी धनकी ओर संकेत करना चाहता है। इस तरहके पुत्ररूपी ' चित्र रयि ' की प्राप्तिके लिए ऋ. १०·४७ में इन्द्रकी प्रार्थना की गई है। दिखाई देता है कि 'चित्र' शब्द ऋ. ५·६३ के रचयिताको ही तरह प्रस्तुत सूक्तकर्ताको भी बहुत पसन्द है।]

एते त्ये भानवो दर्शतायाश्चित्रा उषसो अमृतास आगुः ।
जनयन्तो दैव्यानि व्रतान्यापृणन्तो अन्तरिक्षा व्यस्थुः ॥ ३ ॥

एते । त्ये । भानवः । दर्शतायाः । चित्राः । उषसः । अमृतासः । आ । अगुः ।
जनयन्तः । दैव्यानि । व्रतानि । आऽपृणन्तः । अन्तरिक्षा । वि । अस्थुः ॥ ३ ॥

एषा स्या युजाना पराकात् पञ्च क्षितीः परि सद्यो जिगाति ।
अभिपश्यन्ती वयुना जनानां दिवो दुहिता भुवनस्य पत्नी ॥ ४ ॥

एषा । स्या । युजाना । पराकात् । पञ्च । क्षितीः । परि । सद्यः । जिगाति ।
अभिऽपश्यन्ती । वयुना । जनानाम् । दिवः । दुहिता । भुवनस्य । पत्नी ॥ ४ ॥

वाजिनीवती सूर्यस्य योषा चित्रामघा राय ईशे वसूनाम् ।
ऋषिष्टुता जरयन्ती मघोन्युषा उच्छति वह्निभिर्गृणाना ॥ ५ ॥

वाजिनीऽवती । सूर्यस्य । योषा । चित्रऽमघा । रायः । ईशे । वसूनाम् ।
ऋषिऽस्तुता । जरयन्ती । मघोनी । उषाः । उच्छति । वह्निऽभिः । गृणाना ॥ ५ ॥

---

३. दर्शनीय उषाकी वे रमणीय एवं मरणधर्मरहित, किरनें चारों ओरसे यहाँ आ गई हैं। देवों द्वारा मनुष्योंके लिये निर्मित नियमोंका पुनरुज्जीवन करते-करते अन्तरिक्षके सभी प्रदेशोंको व्याप्त करके ये किरनें विभिन्न स्थलोंमें फैल रही हैं।

[**जनयन्तो दैव्यानि व्रतानि** – 'देवोंके नियमोंका पुनरुज्जीवन करते हुए' याने उन्हें लाँघने या तोड़ने का अवसर न देते हुए; दे. **अमिनती** दैव्यानि व्रतानि... ऋ. १·९२·१२। देवोंके इन व्रतोंके माने हैं उन्हींके बनाए हुए नियम जिन्हें कोई भी नहीं तोड़ सकता। दे. ऋ. ३·५६·१ तथा १०·३३·९।]

४. बहुत दूर प्रदेशोंसे (अपने घोड़े रथमें) जोतकर क्षणमात्रमें एक साथ ही पाँचों निवासस्थानोंके चारों ओर लोगोंके धर्मकृत्योंका निरीक्षण करते-करते, यह द्युदेवकी वही कन्या, समस्त संसारकी सम्राज्ञी, उषा संचरण करती है।

[**पराक**–(परा + √अच्)– 'दूरस्थित देश'; इसके विरोधमें **उपाक** का अर्थ है 'पासमें स्थित देश'। **पञ्च क्षितीः, पञ्च कृष्टीः, पञ्च चर्षणीः, पञ्च जनाः** आदिमें **पञ्च** शब्दको अनिर्धारित बहुवचनका परिचायक समझ लें; **त्रि, सप्त** तथा **दश** ये तीनों शब्द भी इसी तरह कई स्थानोंपर प्रयुक्त हुए हैं। **वयुन** (√वे–बुनना)। **वयुना जनानाम्** परंपरासे चले आनेवाले वे धार्मिक कार्य जिनका अनुकरण लोगोंने किया हो। ऋग्वेद १·७२·७ तथा १·१४५·५ में कहा गया है कि अग्नि उपर्युक्त वयुनोंको जानता है और वह उन्हें लोगोंको सिखाता है।]

५. रमणीय उपहार देनेवाली, वाजोंसे परिपूर्ण सूर्यदेवकी (यह) प्रिया, संपदा और बहुविध धनों की स्वामिनी है। ऋषियोंसे संस्तुत, मनुष्योंको वृद्धत्वकी ओर ले जानेवाली यह उदार उषा ऋत्विजों द्वारा प्रकाशित हो रही है।

[**सूर्यस्य योषा** –दे. ऋ. १·११५·२। **जरयन्ती**– 'स्वाभाविक जरा प्राप्त करानेवाली'। दे, **मर्तस्य देवी जरयन्त्यायुः** ऋ. १·९२·१०।]

प्रति घृतानामरुषासो अश्वाश्चित्रा अदृश्रन्नुषसं वहन्तः ।
याति शुभ्रा विश्वपिशा रथेन दधाति रत्नं विधते जनाय ॥ ६ ॥
प्रति । घृतानाम् । अरुषासः । अश्वाः । चित्राः । अदृश्रन् । उषसम् । वहन्तः ।
याति । शुभ्रा । विश्वऽपिशा । रथेन । दधाति । रत्नम् । विधते । जनाय ॥ ६ ॥
सत्या सत्येभिर्महती महद्भिर्देवी देवेभिर्यजता यजत्रैः ।
रुजद्दृळ्हानि दददुस्रियाणां प्रति गाव उषसं वावशन्त ॥ ७ ॥
सत्या । सत्येभिः । महती । महत्ऽभिः । देवी । देवेभिः । यजता । यजत्रैः ।
रुजत् । दृळ्हानि । ददत् । उस्रियाणाम् । प्रति । गावः । उषसम् । वावशन्त ॥ ७ ॥
नू नो गोमद्वीरवद्धेहि रत्नमुषो अश्वावत् पुरुभोजो अस्मे ।
मा नो बर्हिः पुरुषता निदे कर्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ८ ॥
नु । नः । गोऽमत् । वीरऽवत् । धेहि । रत्नम् । उषः । अश्वऽवत् । पुरुऽभोजः । अस्मे इति ।
मा । नः । बर्हिः । पुरुषता । निदे । कः । यूयम् । पात । स्वस्तिऽभिः । सदा । नः ॥ ८ ॥

६. इसके आरक्तवर्ण और सुन्दर अश्व, इस तेजस्विनी उषाको वहन कर ले जाते हुए, स्पष्ट दिखाई पड़ रहे हैं। यह रमणीय उषा अपने सर्वाङ्गसुन्दर रथसे आगे बढ़ रही है। अपनी सेवा करनेवाले मनुष्यको वह उत्तम उपहार देती है।

७. इस पावन, श्रेष्ठ, तथा सत्यवचना उषा देवीने पावन, श्रेष्ठ, सत्यवचन देवोंकी सहायतासे (बलासुरके) दृढ स्थान पूर्णतया तोड़ डाले हैं और (उनके बन्धनसे मुक्त की गईं) गायें (अपने स्तोताओंको) प्रदान की हैं। (उस समय) वे गायें उषाको देखकर रँभाने लगीं।

[**यजत्रैः देवेभिः**– सहार्थे तृतीया। **देव** के माने हैं इन्द्र तथा बृहस्पतिप्रमुख आङ्गिरस ऋषि। **रुजत् दृढानि** (स्थानानि)– बलकी दृढ गुहा। सच बात तो यह है कि ऋग्वेदमें अन्यत्र इस गुहाको तोड़कर इन्द्र आङ्गिरस ऋषि द्वारा **उषाके साथ** देवोंकी गौओंको मुक्त करनेकी कथा वर्णित है; किन्तु यहाँ लक्षणाकी सहायतासे उषाको गौओंकी रिहाईका कर्तृत्व अर्पित है क्योंकि गुहाके भीतरसे उषाने जो प्रोत्साहन एवं सहायता दी उसीकी वजहसे सब मुक्त हुए। इसी तरहकी लक्षणा 'वि दृळहस्य दुरो अद्रेरौर्णोः' (ऋ. ७.७९.४) में भी पाई जाती है। **गावः प्रति वावशन्त**—गुहासे मुक्त करनेके लिये उषा भी यत्नशील है इसे देखकर गौओंने भी रँभाकर अपने आनन्दको अभिव्यक्त किया; अपनी कृतज्ञता प्रदर्शित की।]

८. हे उषा देवि, इस समय गायें, वीर पुत्र, अश्व इनसे परिपूर्ण और हमारे अनेक अनुयायियोंका पोषण कर सके ऐसा उपहार हमें दो। हम (मर्त्य) पुरुष हैं: केवल इसीलिए हमारे यज्ञकी निन्दा न होने दो। हे देवो, अपने आशीर्वचनोंसे तुम हमारी सर्वकाल रक्षा करो।

[**पुरुषता** –(तृतीया)–' पुरुष है इसलिए '; दे. **पुरुषत्वता** (ऋ. ४.५४.३) की टिप्पणी। **बर्हिः**–यहाँ यह शब्द लक्षणाकी सहायतासे यज्ञके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। इसी अर्थमें यह शब्द ऋग्वेद २.३.८, ५.६२.५, ८.१३.४ तथा ८.१५.५ में प्रयुक्त किया गया है।].

६५

७·७७·१–६ वसिष्ठः ॥ उषाः ॥ त्रिष्टुप् ॥

उपो रुरुचे युवतिर्न योषा विश्वं जीवं प्रसुवन्ती चरायै ।
अभूदग्निः समिधे मानुषाणामकर्ज्योतिर्बाधमाना तमांसि ॥ १ ॥

उपो इति । रुरुचे । युवतिः । न । योषा । विश्वम् । जीवम् । प्रऽसुवन्ती । चरायै ।
अभूत् । अग्निः । सम्ऽइधे । मानुषाणाम् । अकः । ज्योतिः । बाधमाना । तमांसि ॥ १ ॥

विश्वं प्रतीची सप्रथा उदस्थाद्रुशद्वासो बिभ्रती शुक्रमश्वैत् ।
हिरण्यवर्णा सुदृशीकसंदृग्गवां माता नेत्र्यह्नामरोचि ॥ २ ॥

विश्वम् । प्रतीची । सऽप्रथाः । उत् । अस्थात् । रुशत् । वासः । बिभ्रती । शुक्रम् । अश्वैत् ।
हिरण्यऽवर्णा । सुदृशीकऽसंदृक् । गवाम् । माता । नेत्री । अह्नाम् । अरोचि ॥ २ ॥

देवानां चक्षुः सुभगा वहन्ती श्वेतं नयन्ती सुदृशीकमश्वम् ।
उषा अदर्शि रश्मिभिर्व्यक्ता चित्रामघा विश्वमनु प्रभूता ॥ ३ ॥

देवानाम् । चक्षुः । सुऽभगा । वहन्ती । श्वेतम् । नयन्ती । सुऽदृशीकम् । अश्वम् ।
उषाः । अदर्शि । रश्मिऽभिः । विऽअक्ता । चित्रऽमघा । विश्वम् । अनु । प्रऽभूता ॥ ३ ॥

---

१. सभी प्राणिमात्रोंको संचार करनेकी प्रेरणा देती हुई यह उषा किसी सुन्दर युवतीकी तरह हमारे संमुख उदित हो रही है। मानवोंके अग्निको (समिधासे) प्रज्वलित करनेका यही समय है। क्योंकि उस (उषा)ने अन्धकारको दूर हटाकर अपना तेज प्रकट किया है।

[**उपो रुरुचे**–प्रस्तुत उपमामें यही साधारण धर्म है। दे. **रोचमानां** ऋ. १·११५·२ । **चरायै**– दे. ऋ. १·९२·९ । **समिधे अभूत्**—दे. उषो यदग्निं समिधे चकर्थ १·११३·९ ।]

२. यह विशाल कीर्ति रखनेवाली उषा विश्वके संमुख खड़ी हुई है। तेजस्वी तथा चमकीला वस्त्र परिधान करके यह प्रकाशित हुई है। सुन्दरमुखी तथा सुवर्णवर्णा गायोंकी यह माता तथा दिनोंकी पथप्रदर्शिनी तेजःपूर्ण हो गयी है।

[**रुशद्वासः शुक्रम्**–यहाँ उषाके तेजोवलयपर वस्त्रका आरोप किया गया है। आगे चलकर ऋ. ९·६९·५ में सोमरसमें मिलाए जानेवाले दूधपर इसी तरह शुभ्र वस्त्र आरोपित हुआ है। **गवां माता**– यहाँ यह समझ लें कि लक्षणाकी सहायतासे **गो** शब्दका अभिप्राय उषाकी रक्तवर्ण किरनोंसे है। उषाके रथमें जोड़े गए बैल भी ये ही हैं; दे. ऋ. ५·८०·३ तथा १·९२·१–२ ।]

३. देवोंके नेत्र (याने सूर्य)को अपने साथ लेकर, तथा सुन्दर दिखाई देनेवाले श्वेतवर्णके उस अश्वको (सूर्यको) अपने पीछे लानेवाली, यह भाग्यवती तथा मनोहर उपहारोंकी प्रदात्री उषा अपनी सुन्दर किरनोंसे सुशोभित तथा सभी भूतलको व्याप्त करके रहनेवाली दिखाई पड़ती है।

अन्तिवामा दूरे अमित्रमुच्छोर्वीं गव्यूतिमभयं कृधी नः।
यावय द्वेष आ भरा वसूनि चोदय राधो गृणते मघोनि ॥ ४ ॥
अन्तिऽवामा । दूरे । अमित्रम् । उच्छ । उर्वीम् । गव्यूतिम् । अभयम् । कृधि । नः ।
यवय । द्वेषः । आ । भर । वसूनि । चोदय । राधः । गृणते । मघोनि ॥ ४ ॥

अस्मे श्रेष्ठेभिर्भानुभिर्वि भाह्युषो देवि प्रतिरन्ती न आयुः।
इषं च नो दधती विश्ववारे गोमदश्वावद्रथवच्च राधः ॥ ५ ॥
अस्मे इति । श्रेष्ठेभिः । भानुऽभिः । वि । भाहि । उषः । देवि । प्रऽतिरन्ती । नः। आयुः ।
इषम् । च । नः । दधती । विश्वऽवारे । गोऽमत् । अश्वऽवत् । रथऽवत् । च । राधः ॥५॥

यां त्वा दिवो दुहितर्वर्धयन्त्युषः सुजाते मतिभिर्वसिष्ठाः।
सास्मासु धा रयिमृष्वं बृहन्तं यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ६ ॥
याम् । त्वा । दिवः । दुहितः । वर्धयन्ति । उषः । सुऽजाते । मतिऽभिः । वसिष्ठाः ।
सा। अस्मासु। धाः । रयिम् । ऋष्वम् । बृहन्तम् । यूयम् । पात । स्वस्तिऽभिः। सदा । नः ॥६॥

[**देवानां चक्षुः**—दे. ऋ. १.११५.१; **श्वेतमश्वम्** के माने है सूर्य। **व्यक्ताः**—' सुशोभित ' (**वि+अञ्ज्**); दे. ऋ. १०.१४.९ । **विश्वमनु प्रभूता**—दे. एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः। एकैवोषाः सर्वमिदं वि भाति एकं वेदं वि बभूव सर्वम् ८.५८.२ ।]

४. संपदाको समीप लाकर अपने प्रकाशसे शत्रुओंको दूर हटा दो। हमें विशाल चरागाह तथा निर्भय (निवासस्थान) प्राप्त करा दो। द्वेष करनेवाले (शत्रु) को हमसे अलग करो और (हमारे लिये) बहुविध धन ले आओ। हे उदार देवि, अपने स्तोताके लिये उपहार भेज दो।

[**अन्तिवामा** –दे. **उपावसुं स्वस्तिम्** ६.५६.६।]

५. सभी प्रकारके विलोभनीय उपहार देनेवाली हे उषा देवि, हमारी आयुको वृद्धिंगत करती हुई और हमें पुष्टिदायक अन्न, गायों, अश्वों तथा रथ के सहित उपहार अर्पण करती हुई तुम हमारे ऊपर अपनी श्रेष्ठ किरनोंसे प्रकाशित हो जाओ।

[**आयुः प्र तिरन्ती**– ' आयुको बढ़ाते हुए ' लेकिन स्वाभाविक जराकी ओर ले जाते हुए; दे. ऊपर ७.७५.५ में **जरयन्ती** की टिप्पणी। वैदिक ऋषियोंके लिए रोगजनित जरा भले ही अनिष्ट मालूम होती हो; स्वाभाविक जरासे उन्हें कोई शिकायत नहीं थी। दे. १०.१८.६ की टिप्पणी। दीर्घ आयुकी प्राप्तिके लिए प्रार्थना तो ऋग्वेदमें कई स्थानोंपर पाई जाती है; दे. १.२५.१२ । **राधः**– दे. ५.५७.७ ।]

६. हे अभिजात कुलमें उत्पन्न द्युदेव-कन्ये उषा देवि, ये वसिष्ठ कुलोत्पन्न ऋषि अपनी संस्तुतियोंसे तुम्हारा गौरव (गान) कर रहे हैं। वह तुम हमें विशाल और ऊँची संपदा प्रदान करो। हे देवो, तुम अपने शुभ आशीर्वचनोंसे सर्वदा हमारी रक्षा करो।

६६

७·८३·१–१० वसिष्ठः ॥ इन्द्रावरुणौ ॥ जगती ॥

भरतकुलके योद्धाओंके नेता सुदासके विरोधमें कई राजा एकत्रित हुए और उन्होंने युद्ध करनेकी ठान ली। इन राजाओंमें कुछ दासवंशोंसे संबद्ध थे और जैसा कि इस युद्धके दाशराज्ञ नामसे मालूम होता है, इनकी संख्या दस या उससे भी अधिक होगी। यह युद्ध मुख्यतया ऋग्वेद ७·१८ में वर्णित है; लेकिन उसमें इसे 'दाशराज्ञ' यह संज्ञा नहीं दी गई। उस दाशराज्ञ युद्धका उल्लेख करनेवाला और एक सूक्त है ७·३३। उक्त दोनों सूक्तोंमें 'दस' की संख्या भी नहीं पाई जाती। प्रस्तुत सूक्तका क्रम इस संबन्धमें तीसरा है। इसकी छठवीं एवं सातवीं ऋचामें दस राजाओंका उल्लेख स्पष्ट है। इन दसों या उससे भी अधिक संख्यावाले राजाओंने सुदासको तीनों ओरसे घेर लिया और उसे पीछे हटाते हटाते वे परुष्णी नदीके तीरतक ले गए। तब नदीके उस पार पहुँचनेके लिए सुदास एवं उसके अनुयायियोंको नदीकी धारामें प्रवेश करनेके सिवा चारा ही क्या था? इस समय इन्द्रकी अनमोल सहायताके ही कारण वे सुखपूर्वक नदीके उस पार पहुँचे। इसी बीच पीछा करनेवाले प्रतिद्वन्द्वी राजा नदीके तीरपर आ पहुँचे और विजयके उन्मादमें जलकी गहराई; नदीकी तेज़ एवं पैनी धारा आदि की ओर तनिक भी ध्यान न देते हुए उन्होंने तुरन्त नदीकी धारामें विभिन्न स्थानोंपर उतरकर पार पहुँचनेकी कोशिश की। नतीजा यह हुआ कि राजा तुर्वश बह गए और रणयज्ञके पुरोडाशके रूपमें प्रतिद्वन्द्वियोंके नेता ही प्रथम आहुति सिद्ध हुए। अन्य राजाओंके साथ सैनिकोंकी भी पर्याप्त दुर्दशा हुई। कोई अचरज नहीं कि इनका पौरोहित्य करनेके लिए साथमें आए हुए एक महान् ऋषि भी इस यज्ञमें पशु बनकर अपने प्राणोंसे हाथ धो बैठे। कुछ योद्धा नदीके उस पार अवश्य पहुँचे; लेकिन पूरी सेनाके तितर–बितर होनेके कारण उन्हें तुरन्त मौतके घाट उतारनेमें सुदासके सुसज्ज अनुयायियोंको कोई कठिनाई महसूस नहीं हुई। मतलब लूटनेके लिए निकले हुए वीर स्वयं ही लुट गए। यह विजय सौ फ़ी सदी अद्भुत थी; अकल्पनीय थी। बकरीने सिंहोंको मार गिराया था। तृत्सुओंपर, राजा सुदासके पुरोहितोंपर इन्द्रकी जो अपार कृपा थी वही कविकी रायमें इसका एकमात्र कारण रही।

इसी तरहकी और एक विजय ऋग्वेदमें वर्णित है जहाँ सुदासने इन्द्रको वश करनेवाले अपने पुरोहितोंके बलपर यमुनाके तीरपर रहनेवाले भेद नामके राजाके झुकनेपर बाध्य किया था। ऋग्वेदमें इसके जो उल्लेख पाए जाते हैं उनके आधारपर यह प्रतीत होता है उक्त युद्ध दाशराज्ञ युद्धके पहले हुआ होगा। प्रस्तुत सूक्तकी चौथी ऋचामें इसका उल्लेख किया गया है और ऋ. ७·१८·१९ तथा ७·३३·३ भी इसीकी ओर संकेत करते हैं।

ऋचा ४, ६, तथा ८ में वर्णित तृत्सु ही वे ऋषि हैं जो सुदासका पौरोहित्य करते थे। ये तृत्सु अपने यजमान याने भरतकुलके व्यक्ति एवं उनके राजा सुदासके साथ रणभूमिपर उपस्थित होकर उनका समर्थन करते थे। दाशराज्ञ युद्धके अवसरपर इन तृत्सुओंके नेता थे वसिष्ठ। ये स्वयं इन्द्रके प्यारे थे और इसीसे कारण उन्होंने अपने कुलको बड़ी प्रतिष्ठाका भाजन बनाया। इसीसे आगे चलकर तृत्सुकुल 'वसिष्ठकुल' के नामसे विख्यात हुआ।

युवां नरा पश्यमानास आप्यं प्राचा गव्यन्तः पृथुपर्शवो ययुः ।
दासा च वृत्रा हतमार्याणि च सुदासमिन्द्रावरुणावसावतम् ॥ १ ॥

युवाम् । नरा । पश्यमानासः । आप्यम् । प्राचा । गव्यन्तः । पृथुऽपर्शवः । ययुः ।
दासा । च । वृत्रा । हतम् । आर्याणि । च । सुऽदासम् । इन्द्रावरुणा । अवसा । अवतम् ॥ १ ॥

यत्रा नरः समयन्ते कृतध्वजो यस्मिन्नाजा भवति किं चन प्रियम् ।
यत्रा भयन्ते भुवना स्वर्दृशस्तत्रा न इन्द्रावरुणाधि वोचतम् ॥ २ ॥

यत्र । नरः । सम्ऽअयन्ते । कृतऽध्वजः । यस्मिन् । आजा । भवति । किम् । चन । प्रियम् ।
यत्र । भयन्ते । भुवना । स्वःऽदृशः । तत्र । नः । इन्द्रावरुणा । अधि । वोचतम् ॥ २ ॥

---

१. हे वीर मित्रावरुणा, तुम दोनोंको अपने निकट संबन्धी मानकर तथा गोधनकी अभिलाषासे प्रेरित होकर (ये सुदासके अनुयायी) स्वाभिमानसे प्रफुल्लित हृदयोंके साथ (रणभूमिकी ओर) आगे बढ़ें। (उन्होंने प्रार्थना की कि) हमारे दास तथा आर्य दोनों शत्रुओंका संहार करके अपनी कृपासे सुदासकी सुरक्षा करो।

[**आप्यं पश्यमानासः**–दे. ७·३२·१९, ७·८२·८। **पर्शु**–तैत्तिरीय ब्राह्मण (३·२·२·१) तथा अथर्ववेद (१०·९·२०) के आधारपर यह शब्द **पार्श्व** का पर्यायवाची प्रतीत होता है। यदि यह सही हो तो **पृथुपर्शवः** का अर्थ होगा 'विशाल पार्श्वास्थि रखनेवाले' वीर याने वे वीर योद्धा 'जिनका सीना उत्साहसे लबालब भरा हुआ हो'। इसका पर्यायवाची शब्दसमूह है **तन्वा शूशुजानः** (१०·३४·६) जिसका अर्थ है 'शरीरसे फैला हुआ, बढ़ा हुआ'। ऋग्वेदमें एक क्षुधार्त व्यक्तिके मुखसे कहलाया गया है– **सं मा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः** (१·१०५·८ तथा १०·३३·२) जिसका अर्थ है–ये पार्श्वास्थियाँ मुझे सौतोंकी तरह चारों ओरसे सता रही हैं; मुझे भीतरकी ओर खींच रही हैं। इसके विपरीत '**पर्शु**' को 'परशु' का पर्यायवाची शब्द यदि मान लें तो उसका अर्थ होगा वे वीर जो बड़े बड़े परशु धारण किए हुए हों। दे. **प्र यच्छ पर्शुं त्वरया हरौषमहिंसन्त ओषधीर्दान्तु पर्वन्**—अथर्ववेद १२·३·३१।]

२. अपने ध्वज ऊँचे खड़े करके जहाँ वीर लोग परस्पर आक्रमण करने दौड़ते हैं, जिस युद्धमें साक्षात् (मानवोंके लिए) प्रिय कोई भी बात होती ही नही, जहाँ सभी प्राणिमात्र और सूर्य प्रकाशका उपभोग लेनेवाले (सभी जीवजात) भयसे काँपते रहते हैं, उस स्थानपर (रणक्षेत्रमें) हे इन्द्रावरुणा, हमारा पक्ष लेकर बात कहो।

[**भुवना** (नपुं.) तथा **स्वर्दृशः** (पुं.) दोनोंको '**भयन्ते**' क्रियासे अन्वित कर लें। **स्वर्दृशः**–दे. ५·२६·२ की टिप्पणी।]

सं भूम्या अन्ता ध्वसिरा अदृक्षतेन्द्रावरुणा दिवि घोष आरुहत्।
अस्थुर्जनानामुप मामरातयोऽर्वागवसा हवनश्रुता गतम् ॥ ३ ॥

सम्। भूम्याः। अन्ताः। ध्वसिराः। अदृक्षत। इन्द्रावरुणा। दिवि। घोषः। आ। अरुहत्।
अस्थुः। जनानाम्। उप। माम्। अरातयः। अर्वाक्। अवसा। हवनऽश्रुता। आ। गतम्॥ ३ ॥

इन्द्रावरुणा वधनाभिरप्रति भेदं वन्वन्ता प्र सुदासमावतम्।
ब्रह्माण्येषां शृणुतं हवीमनि सत्या तृत्सूनामभवत् पुरोहितिः ॥ ४ ॥

इन्द्रावरुणा। वधनाभिः। अप्रति। भेदम्। वन्वन्ता। प्र। सुऽदासम्। आवतम्।
ब्रह्माणि। एषाम्। शृणुतम्। हवीमनि। सत्या। तृत्सूनाम्। अभवत्। पुरःऽहितिः ॥ ४ ॥

३. हे इन्द्रावरुणा, भूमिके अन्तिम भाग (क्षितिज) भग्न होकर धुंधले दीख रहे हैं। सैनिकोंकी चिल्लाहाट स्वर्गमें पहुँच गयी है। (शत्रु) जनोंकी द्वेषबुद्धियां यहाँ मेरे पास आ रहीं हैं। इसलिये हमारी प्रार्थना श्रवण करनेवाले देवो, अपने अनुग्रहके साथ तुम हमारे पास घूमकर आओ।

[**ध्वसिरा**—(√ध्वस्–फटना या दरकना) 'दरके हुए, वे जो चूर चूर हो रहे हों'। **घोषः**—'सैनिकोंके उद्घोष'; दे. वि रोदसी अतपद्घोष एषां ३·३१·१०। **जनानाम् अरातयः**—दे. सेधा जनानां पूर्वीररातीः ६·४४·९। **अवसा आगतम्** – दे. **अवसा चक्रे** ३·३२·१३। यहाँ सहार्थे तृतीया फलकी दृष्टिसे **अवसे** में विद्यमान चतुर्थीके अर्थमें प्रयुक्त है। गमनका बोध करानेवाले धातुके साथ **अवसा** यह तृतीया तथा निमन्त्रणका बोध करानेवाले धातुके साथ **अवसे** यह चतुर्थी प्रायः प्रयुक्त होती है। दोनोंका अर्थ एक ही होता है; वह है 'सुरक्षा के लिए'।]

४. हे इन्द्रावरुणा, भेदनामक दस्युको अपने शस्त्रोंसे अनुपम ढंगसे जीतकर तुमने सुदासकी रक्षा की। इनसे आवाहन प्राप्त होते ही इनकी प्रार्थनाएँ तुमने सुनीं। तृत्सुओंद्वारा किया हुआ इनका पौरोहित्य अमोघ हो चुका है।

[**अप्रति** अव्यय है; अर्थ है–'निर्बाध ढंगसे' 'उस ढंगसे जिससे प्रतिकार करना असंभव हो उठे'। **भेदम्** के लिए दे. प्रस्तावात्मक टिप्पणी। **तृत्सूनां** – 'तृत्सुकर्तृक'। **तृत्सु**–वसिष्ठकुलका पहला नाम। ऋचा ८ में किए गए तृत्सुके वर्णनसे ७·३३·१ के वसिष्ठोंके वर्णनको मिलानेसे स्पष्ट होता है कि दोनों एक ही हैं। **एषां** के निघातसे मालूम होता है कि कवि तीसरे और चौथे चरणका अन्वय स्वतन्त्र रूपसे करना चाहता है। सातवीं ऋचाके उत्तरार्धमें भी कविका अभिप्राय इसी तरहके अन्वयसे है। मतलब, यदि कवि 'एषां तृत्सूनाम्' या 'एषां नृणाम्' की तरह अन्वय करना चाहता तो **एषाम्** यह पद अनुदात्त कभी न रहता।]

इन्द्रावरुणावभ्या तपन्ति माघान्यर्यो वनुषामरातयः ।
युवं हि वस्व उभयस्य राजथोऽध स्मा नोऽवतं पार्ये दिवि ॥ ५ ॥
इन्द्रावरुणौ । अभि । आ । तपन्ति । मा । अघानि । अर्यः । वनुषाम् । अरातयः ।
युवम् । हि । वस्वः । उभयस्य । राजथः । अध । स्म । नः । अवतम् । पार्ये । दिवि ॥५॥
युवां हवन्त उभयास आजिष्विन्द्रं च वस्वो वरुणं च सातये ।
यत्र राजभिर्दशभिर्निबाधितं प्र सुदासमावतं तृत्सुभिः सह ॥ ६ ॥
युवाम् । हवन्ते । उभयासः । आजिषु । इन्द्रम् । च । वस्वः । वरुणम् । च । सातये ।
यत्र । राजऽभिः । दशऽभिः । निऽबाधितम् । प्र । सुऽदासम् । आवतम् । तृत्सुऽभिः । सह ॥६॥
दश राजानः समिता अयज्यवः सुदासमिन्द्रावरुणा न युयुधुः ।
सत्या नृणामद्मसदामुपस्तुतिर्देवा एषामभवन् देवहूतिषु ॥ ७ ॥
दश । राजानः । सम्ऽइताः । अयज्यवः । सुऽदासम् । इन्द्रावरुणा । न । युयुधुः ।
सत्या । नृणाम् । अद्मऽसदाम् । उपऽस्तुतिः । देवाः । एषाम् । अभवन् । देवऽहूतिषु ॥ ७ ॥

५. हे इन्द्रावरुणा, शत्रुके दुष्कृत्य और प्रतिस्पर्धियोंकी दुष्टबुद्धियाँ मुझे चारों ओरसे सता रही हैं। तुम दोनों प्रकारोंकी संपदाके स्वामी हो, (इस लिये) परे पहुँचनेके लिए आवश्यक इस दिनमें तुम हमारी सुरक्षा करो।

[**वनुषाम् अरातयः**–दे. जनानाम् अरातयः (ऋचा ३)। **पार्ये दिवि**–'उस दिवसपर जहाँ तैरकर पार पहुँचना ईप्सित हो,' मतलब, युद्धके निर्णायक दिवसपर। दे. ऊपर पार्यादह्नः ३·३२·१४।]

६. जिन (युद्धों)में दस राजाओंसे घिरे हुए सुदासकी उसके अनुयायी तृत्सुओंके सहित तुमने सुरक्षा की, उन युद्धोंमें दोनों पक्षोंके वीर योद्धा तुम दोनों (इन्द्रावरुणा) को, पुकारते रहते हैं ताकि उन्हें संपत्तिकी प्राप्ति हो जाय।

[**हवन्त उभयासः**–दे. ऊपर ऋ. ३·३२·४। प्रस्तुत ऋचामें 'उभयासः' का अभिप्राय सुदासके शत्रुओं याने दसों राजाओं से है। वे भी आर्य थे और इसीलिए सहायताके लिए इन्द्रका आवाहन भी कर रहे थे। फिर भी वसिष्ठोंसे प्यार होनेकी वजहसे इन्द्र उन्हींकी ओर हो गए।]

७. हे इन्द्रावरुणा, ये यज्ञयागादि न करनेवाले एक साथ मिले हुए दसों राजा अकेले सुदाससे युद्ध न कर सके। अन्तमें हव्योंके पास (तैयार करनेके लिए) बैठनेवाले ऋत्विजोंकी भावपूर्ण स्तुति ही सफल हो गयी। इनके द्वारा किए गए देवोंके आवाहनके समय शीघ्र ही सभी देव उनके पास उपस्थित हो गए।

[**अयज्यवः**–दस राजाओंमेंसे कोई अनार्य थे; अतः छत्रिन्यायके अनुसार सभीको **अयज्यवः** कहा गया है। अथवा 'अयज्यु' को 'उचित ढंगसे यज्ञ न करनेवाले व्यक्ति' के रूपमें मान लें। **न युयुधुः**–

दाशराज्ञे परियत्ताय विश्वतः सुदासं इन्द्रावरुणावशिक्षतम् ।
श्वित्यञ्चो यत्र नमसा कपर्दिनो धिया धीवन्तो असपन्त तृत्सवः ॥ ८ ॥
दाशऽराज्ञे । परिऽयत्ताय । विश्वतः । सुऽदासम् । इन्द्रावरुणौ । अशिक्षतम् ।
श्वित्यञ्चः । यत्र । नमसा । कपर्दिनः । धिया । धीऽवन्तः । असपन्त । तृत्सवः ॥ ८ ॥

वृत्राण्यन्यः समिथेषु जिघ्नते व्रतान्यन्यो अभि रक्षते सदा ।
हवामहे वां वृषणा सुवृक्तिभिरस्मे इन्द्रावरुणा शर्म यच्छतम् ॥ ९ ॥
वृत्राणि । अन्यः । सम्ऽइथेषु । जिघ्नते । व्रतानि । अन्यः । अभि । रक्षते । सदा ।
हवामहे । वाम् । वृषणा । सुवृक्तिऽभिः । अस्मे इति । इन्द्रावरुणा । शर्म । यच्छतम् ॥ ९ ॥

दे. ऊपर ऋ. ४·३०·३ । **नृणामद्मसदाम्**- (अद्म =खाद्य +√सद्)-' खाद्य वस्तुओंके पास बैठनेवाले ', पास बैठकर खाद्य तथा पेय हविर्द्रव्योंको प्रस्तुत करनेवाले ऋत्विज् । इन्हें अन्य व्यक्तियोंके पहले ही ऊठकर सावधान रहना पड़ता है। दे. अद्मसद् विप्रो न जागृविः ८·४४·२, इसी को ऋ. ६·४·४ में 'अद्मसद्वान्' और इसके कर्तव्यको ऋ. ८·४३·१९ में अद्मसद्य कहा गया है। इसी अंशसे पता चलता है कि अन्य ऋत्विजोंकी तरह इसका कार्य भी अग्नि ही संपन्न करता है। 'अद्मसद्' के इस अर्थकी ओर यदि हम ध्यान दें, तो 'अद्मसदाम्' द्वारा सूचित अर्थ स्पष्ट होगा। रणमें जूझनेवाले वीरोंकी अपेक्षा 'खाद्यप्रिय' विप्रोंके आवाहनपर ही इन्द्र सहायताके लिए दौड़ता है। और ब्राह्मणोंको 'भोजनप्रिय' कहकर उनकी हंसी उड़ानेवालोंको यही करारा जवाब है। आगे चलकर ऋ. १०·५·९ में पाए जानेवाले **घर्मसद्** के अर्थको भी **'अद्मसद्'** की तरह समझ लें। चौथी ऋचाके अन्तिम चरणके साथ प्रस्तुत ऋचाके तीसरे चरणकी तुलना करनेपर तृत्सु ही **अद्मसद् नर** हैं इसमें कोई सन्देह नहीं रहेगा। **करम्भाद्**-यह पूषा देवताका विशेषण भी इसी तरहका है; किन्तु निन्दकों द्वारा प्रदत्त इस उपनामसे वास्तवमें निन्दा नहीं होती; उल्टे उस देवताका बड़प्पन ही साबित होता है। दे. ऊपर ऋ. ६·५६·१-२ की टिप्पणी।

८. जिसमें शुभ्र वस्त्र परिधान किये हुए, जटाजूटसे सुशोभित, अनेक स्तोत्रोंके ज्ञाता तृत्सुओंने प्रार्थना और प्रणाम दोनोंसे तुम्हारी सेवा करके तुम्हें प्रसन्न किया, उस दाशराज्ञ युद्धमें चारों ओरसे घिरे हुए सुदासकी, हे इन्द्रावरुणा, तुमने सहायता की।

[**विश्वतः परियत्ताय**— (परि + यत्) 'चारों ओरसे घेरे हुए'- दे. प्रास्ताविक टिप्पणी। **श्वित्यञ्चः कपर्दिनः** –शुभ्र वस्त्रोंसे आवृत एवं जटाजूट धारण करनेवाले'। ऋ. ७·३३·१ में 'वसिष्ठ' नामसे इन्हींका उल्लेख हुआ है। और उन्हें 'श्वित्यञ्चः' तथा 'दक्षिणतस्कपर्दाः' कहा गया है। **श्वित्यच्** –(श्विति + अच्)– 'शुभ्रता धारण करनेवाले'। ऋ. १·१२३·९ में उषाको **श्वितीची** तथा २·३३·८ में रुद्रको **श्वितीचे वृषभाय** कहा गया है। **धीवन्तः**–दे. **धीवतो धीवतः सखा** ६·५५·३ ।]

९. तुम दोनोंमेंसे एक युद्धमें शत्रुओंका वध करता है; तो दूसरा नित्य ही अपने नियमोंका (पालन करके) रक्षण करता है। हे पराक्रमी देवो, हम अपने सुविरचित स्तोत्रोंसे तुम्हारा आवाहन करते हैं। हे इन्द्रावरुणा, अपनी छत्रछाया हमें समर्पित करो।

अस्मे इन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा द्युम्नं यच्छन्तु महि शर्म सप्रथः ।
अवध्रं ज्योतिरदितेर्ऋतावृधो देवस्य श्लोकं सवितुर्मनामहे ॥ १० ॥

अस्मे इति । इन्द्रः । वरुणः । मित्रः । अर्यमा । द्युम्नम् । यच्छन्तु । महि । शर्म । सऽप्रथः ।
अवध्रम् । ज्योतिः । अदितेः । ऋतऽवृधः । देवस्य । श्लोकम् । सवितुः । मनामहे ॥ १० ॥

[पहले तथा दूसरे पादमें क्रमशः इन्द्र एवं वरुण का उल्लेख बड़ा ही स्पष्ट है।]

१०. इन्द्र, वरुण तथा अर्यमा ये सभी हमें श्रेष्ठ वैभव तथा अपना विशाल छत्रछाया समर्पित करें। ऋतको समृद्ध करनेवाली अदितिकी कृपा-परिपूर्ण (अहिंसाशील) ज्योतिका हम स्तवन करते हैं तथा सविता देवके स्तोत्रका भी हम चिन्तन करते हैं।

[**अवध्रं ज्योतिः अदितेः** को इन्द्र, वरुण आदि अन्य देवताओंकी ही तरह **यच्छन्तु** के कर्ताके रूपमें अथवा **मनामहे** के कर्मके रूपमें अन्वित करें। अथवा ऋ. १·१८५·३ (जो अर्थमें प्रस्तुत ऋचासे समता रखती है) **अदितेरनर्वं हुवे स्वर्वद् अवधं नमस्वद्** के हुवे पदका तीसरे पादमें अध्याहार करके इन्हें स्वतन्त्र रूपमें अन्वित करना भी संभव है।]

६७

७·८६·१–८ वसिष्ठः ॥ वरुणः ॥ त्रिष्टुप् ॥

धीरा त्वस्य महिना जनूंषि वि यस्तस्तम्भ रोदसी चिदुर्वी ।
प्र नाकमृष्वं नुनुदे बृहन्तं द्विता नक्षत्रं पप्रथच्च भूम ॥ १ ॥

धीरा । तु । अस्य । महिना । जनूंषि । वि । यः । तस्तम्भ । रोदसी इति । चित् । उर्वी इति ।
प्र । नाकम् । ऋष्वम् । नुनुदे । बृहन्तम् । द्विता । नक्षत्रम् । पप्रथत् । च । भूम ॥ १ ॥

उत स्वया तन्वा३ सं वदे तत् कदा न्व१न्तर्वरुणे भुवानि ।
किं मे हव्यमहृणानो जुषेत कदा मृळीकं सुमना अभि ख्यम् ॥ २ ॥

उत । स्वया । तन्वा । सम् । वदे । तत् । कदा । नु । अन्तः । वरुणे । भुवानि ।
किम् । मे । हव्यम् । अहृणानः । जुषेत । कदा । मृळीकम् । सुऽमनाः । अभि । ख्यम् ॥२॥

---

१. जिसने इस विशाल पृथ्वी तथा स्वर्ग इन दोनों को पृथक् कर रखा है उसकी महानतासे ही बुद्धिजीवी प्राणी चतुर हो गए हैं । विशाल तथा उन्नत आकाशको ऊपर ढकेल कर उसने एक ओरसे सूर्यको ऊपर भेज कर दूसरी ओरसे नीचे पृथ्वीको सभी ओरसे विस्तीर्ण कर रखा है ।

[**जनूंषि धीरा** (भवन्ति)–दे. ऋचा ७ का उत्तरार्ध । **वि तस्तम्भ** दोनों ओर दोनोंको अलग अलग रोककर रखा; दे. ऊपर ४·५०·१ और साथ साथ यः स्कम्भेन वि रोदसी अधारयत् ८·४१·१० । **नक्षत्र** शब्द यदि एकवचनमें हो तो सूर्यके अर्थमें और अगर बहुवचनमें हो तो तारोंके समूहके अर्थमें प्रयुक्त किया गया है । दे. '**उदुस्त्रियः सृजते सूर्यः सचा उद्यन्नक्षत्रमार्चिवत्**' ७·८१·२ तथा तारोंके समूहके अर्थमें दे. १·५०·२ तथा १०·६८·११ ।]

२. और मैं वरुणके सामने कब जाकर खड़ा रहूँगा? वह क्रोधयुक्त न होकर मेरा कौनसा हव्य स्वीकार करेगा? सुप्रसन्न चित्तसे मैं उसकी कृपा कब संपादन करूँगा? इस प्रकारसे मैं अपने मनमें स्वयं विचार करता रहता हूँ ।

[**स्वया तन्वा**—' मन–ही–मन ' । ऋचा २ से ४ तक संदेहोंसे आकुल व्यक्ति किस तरहका बर्ताव करे इसको बड़े ही अच्छे ढंगसे बतलाया गया है । पहले वह मन ही मन सोच ले । इससे लाभ न होनेपर अन्य विद्वानोंसे पूछ ले और अगर इससे भी समाधान न हो तो जिस व्यक्तिके विषयमें सन्देह हो उसीसे सविनय निडर होकर हित पूछ ले ताकि वह सभी संदेहोंको दूर करके भ्रान्त धारणाओंको नष्ट कर सके । सन्देहका स्वरूप दूसरे तीसरे तथा चौथे चरणमें स्पष्ट किया गया है ।]

पृच्छे तदेनो वरुण दिदृक्षूपो एमि चिकितुषो विपृच्छम्।
समानमिन्मे कवयश्चिदाहुरयं ह तुभ्यं वरुणो हृणीते ॥ ३ ॥

पृच्छे। तत्। एनः। वरुण। दिदृक्षु। उपो इति। एमि। चिकितुषः। विऽपृच्छम्।
समानम्। इत्। मे। कवयः। चित्। आहुः। अयम्। ह। तुभ्यम्। वरुणः। हृणीते ॥ ३ ॥

किमाग आस वरुण ज्येष्ठं यत् स्तोतारं जिघांससि सखायम्।
प्र तन्मे वोचो दूळभ स्वधावोऽव त्वानेना नमसा तुर इयाम् ॥ ४ ॥

किम्। आगः। आस। वरुण। ज्येष्ठम्। यत्। स्तोतारम्। जिघांससि। सखायम्।
प्र। तत्। मे। वोचः। दुःऽदभ। स्वधाऽवः। अव। त्वा। अनेनाः। नमसा। तुरः। इयाम् ॥४॥

३. हे वरुण, जिज्ञासापूर्ण होकर मैं दो चार जानकार आदमियोंसे उस अपराधके विषयमें पूछ रहा हूँ तथा सूक्ष्मदर्शी विद्वान् लोगोंके पास भी उस विषयमें खास पूछताछ करनेके लिये चक्कर लगाता हूँ। किंतु कवि लोग भी मुझसे यह एक ही बात कहते आये हैं कि यह वरुण तुम्हारे ऊपर क्रुद्ध हुआ है।

[**तद् एनः**- वह अपराध जिसके कारण मैं वरुणके पास पहुँचनेका साहस नहीं करता, जिसकी वजहसे वरुण मेरा दिया हुआ हव्य स्वीकार नहीं करता और मैं उसकी कृपाका पात्र नहीं बन पाता। **दिदृक्षु-दृश्** धातुसे द्वित्वयुक्त विशेषण (**दिदृश्**) का सप्तम्यन्त बहुवचन; **चिकित्वस्** तथा **कवि** से समानार्थक। **दिदृश्** शब्द **दृश्** धातुसे उसी तरह बनता है जिस तरह **द्युत्** से **दिद्युत्** (दे. १·६६·७)। ऋ. १०·३·१ में **चिकित्** शब्द भी इसी तरह कित् धातुसे बना है। मालूम होता है की, **पृच्छे, विपृच्छम् एमि** तथा **आहुः** तीन क्रियाओंसे कविका अभिप्राय तीन प्रकारोंके चिन्तकोंसे है। 'ये सभी विचारवान् व्यक्ति न मेरे अपराधका स्वरूप बतला सकते हैं; न उसका कारण। ये सिर्फ़ यही कह सकते हैं कि वरुण मुझपर बहुत नाराज़ है और यह तो मुझे भी दिखाई देता है। लेकिन विना अपराधके स्वरूपको समझे उसका निरसन भला कैसे संभव है? अतः उपर्युक्त लोगोंसे पूछना बेकार है'। यही उत्तरार्धका, खासकर चौथे चरणका अभिप्राय है।]

४. अब, हे वरुण, (तुम भी कहो) वह ऐसा कौनसा महान् अपराध है जिससे तुम अपने सखा स्तोताका भी विनाश करना चाहते हो। जिसकी प्रतारणा असंभव है ऐसे हे स्वतंत्रप्रज्ञ देव, वह अपराध तुम ही मुझसे कहो। (क्योंकि) (प्रायश्चित्तसे तुम्हारी क्षमा प्राप्त होनेके बाद) अपराधोंसे मुक्त होकर मैं तुम्हारे पास विनम्र भावसे शीघ्र ही आ सकूँगा।

[**अव इयाम्**-' तुम्हारे चरण चूमकर क्षमा माँगूंगा।' **अनेनाः**-अपराधरहित; अपराधसे मुक्त; अर्थात् समुचित प्रायश्चित करके। आशय यों है-' तुम निरपराध व्यक्तिको ही पनाह देते हो। अतः मेरे अपराधके स्वरूपको तुमसे समझ लेनेके बाद मैं तुरन्त योग्य प्रायश्चित्त करके उस अपराधसे मुक्त हो जाऊँगा और बादमें तुम्हारी ओर उसी तरह दौड़ता हुआ आऊंगा जैसे वत्स अपनी माकी ओर। त्रिष्टुप्के चौथे चरणमें १२ अक्षर हैं। इसके दसवें तथा ग्यारहवें अक्षरों (**र** तथा **इ**) का उच्चारण दीर्घ (**रे**) के उच्चारण-कालमें करना है। असलमें त्रिष्टुप्-चरणका दसवां अक्षर दीर्घ ही होता है। उसके स्थानपर यहां कविने दो लघु अक्षर प्रयुक्त किए हैं।]

अवं द्रुग्धानि पित्र्या सृजा नोऽव या वयं चकृमा तनूभिः ।
अव राजन् पशुतृपं न तायुं सृजा वत्सं न दाम्नो वसिष्ठम् ॥ ५ ॥

अव । द्रुग्धानि । पित्र्या । सृज । नः । अव । या । वयम् । चकृम । तनूभिः ।
अव । राजन् । पशुऽतृपम् । न । तायुम् । सृज । वत्सम् । न । दाम्नः । वसिष्ठम् ॥ ५ ॥

न स स्वो दक्षो वरुण ध्रुतिः सा सुरा मन्युर्विभीदको अचित्तिः ।
अस्ति ज्यायान् कनीयस उपारे स्वप्नश्चनेदनृतस्य प्रयोता ॥ ६ ॥

न । सः । स्वः । दक्षः । वरुण । ध्रुतिः । सा । सुरा । मन्युः । विऽभीदकः । अचित्तिः ।
अस्ति । ज्यायान् । कनीयसः । उपऽअरे । स्वप्नः । चन । इत् । अनृतस्य । प्रऽयोता ॥ ६ ॥

५. हमारे पूर्वजोंके द्वारा किये गए तथा हमारे द्वारा स्वयं किये सभी अपराधोंसे तुम हमें (उनके लिए क्षमा करके) मुक्त करो । हे राजन्, (तृणमुष्टिके दानसे) पशु (गाय) का संतर्पण करनेवाले चोरकी तरह, तथा वत्सको दामन् से जिस तरह छुड़ाते हैं उसी प्रकार, उन अपराधोंसे हमें मुक्त करो ।

[**पशुतृपं न तायुं**—' गायको सन्तुष्ट करनेवाले चोर की तरह ' । प्रायश्चित्त करके पावन होनेका प्रमाण उन दिनों गायसे प्राप्त करना पड़ता था । मनुस्मृति ११·१९६ में स्पष्ट किया गया है कि प्रमाणका इच्छुक व्यक्ति गायको घास अर्पण करनेपर बाध्य किया जाता था और यदि गाय उसका स्वीकार करे तो प्रायश्चित्त भली भाँति संपन्न मानकर उस व्यक्तिको समाज द्वारा स्वीकृति मिलती थी । **पशुतृपम्** को **तायुम्** का वह हेतुगर्भ विशेषण समझ लें जो **अव-सृज्** क्रियाके हेतुका भी प्रतिपादक हो । कतिपय आलोचक अनिश्चित प्रमाणोंके आधारपर ' पशुतृतम् ' को ' पशुको चुरानेवाले ' के अर्थमें मानते हैं सही; लेकिन उस अवस्थामें यह विशेषण अत्यन्त अर्थहीन सिद्ध होगा । इन आलोचकोंके मतमें **पशुतृप्** तथा **असुतृप्** (१०·१४·१२) शब्दोंमें **तृप्** धातु अवेस्ताके तृफ् (चुराना) धातुसे संबद्ध है । अतः ऋग्वेदमें भी **तृप्** को कहीं कहीं ' चुराना ' के अर्थ में लेना युक्तियुक्त होगा । चौथे चरणकी उपमा ऋ. २·२८·६ की, ' **दामेव वत्साद् वि मुमुग्ध्यंहो** ' से समानार्थक है अवश्य; किन्तु इन दो स्थानोंपर प्रयुक्त साङ्ग उपमा-ओंके मुख्य एवं गौण उपमानोंके अङ्गाङ्गिभावमें कविके अभिप्रायके अनुसार परिवर्तन हुआ है । अतः दोनों उपमाओंका रूप भिन्न मालूम होता है । ' दामेव वत्साद्...' में ' अंहः ' याने अपराध को प्रधानता है और वक्ता वसिष्ठको गौणत्व । इसी लिए **दाम** तथा **वत्स** को क्रमशः कर्म तथा अपादान कारकोंमें रखा गया है । इसके विपरीत प्रस्तुत ऋचामें वसिष्ठ को प्रधानता है और द्रुग्धा को गौणत्व । इसलिए उनके संकल्पित उपमानोंको, **वत्स** तथा **दाम** को क्रमशः कर्म एवं अपादान कारक में रखा गया है । संक्षेपमें, कविकी आंखोंमें प्रधान उपमानके लिए कर्मकारक तथा गौण उपमान के लिए अपादानकारक प्रयुक्त करनेका जो संकेत है उसी के अनुसार इन दो वाक्योंकी रचना की गई है । साथ साथ इन दो वाक्योंमें प्रयुक्त धातु (**वि + मुच्** तथा **अव + सृज्**) भी अङ्गाङ्गिभावके उपर्युक्त परिवर्तनके कारणकी ओर संकेत करते हैं ।]

६. (जिस के संयोगसे वे अपराध हो चुके हैं) वह मेरी अपनी बुद्धि नहीं, परंतु वह (किसी दूसरेसे की गई) वञ्चना अथवा मद्यपान, क्रोधविवशता, द्यूत खेलनेके पासा तथा अज्ञान इनमेंसे कोई भी (एक अथवा अनेक बातें) होगा । (फिर भी) छोटे (बच्चे) के अपराधमें

अरं दासो न मीळ्हुषे कराण्यहं देवाय भूर्णयेऽनागाः ।
अचेतयदचितो देवो अर्यो गृत्सं राये कवितरो जुनाति ॥ ७ ॥

अरम् । दासः । न । मीळ्हुषे । कराणि । अहम् । देवाय । भूर्णये । अनागाः ।
अचेतयत् । अचितः । देवः । अर्यः । गृत्सम् । राये । कविऽतरः । जुनाति ॥ ७ ॥

अयं सु तुभ्यं वरुण स्वधावो हृदि स्तोम उपश्रितश्चिदस्तु ।
शं नः क्षेमे शमु योगे नो अस्तु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ८ ॥

अयम् । सु । तुभ्यम् । वरुण । स्वधाऽवः । हृदि । स्तोमः । उपऽश्रितः । चित् । अस्तु ।
शम् । नः । क्षेमे । शम् । ऊँ इति । योगे । नः । अस्तु । यूयम् । पात । स्वस्तिभिः । सदा । नः ॥ ८ ॥

बड़े को हिस्सेदार माना ही जाता है; क्योंकि निद्रा भी (मनुष्यको दुष्ट शत्रुके) मिथ्यात्वसे दूर नहीं कर सकती ।

[**ध्रुति**-(√**ध्वृ**-सताना, तकलीफ़ पहुँचाना)—' छलना ', ' वञ्चना '; दे. **वरुणध्रुत्** ७.६०.९ । **ज्यायान्** तथा **कनीयान्** क्रमशः वरुण तथा कविके लिए प्रयुक्त हुए हैं; दे. ७.२०.७ । **उपार**- (उप + ऋ- ' अपराध करना ') – ' अपराध '; दे. **उपारण** ८.३२.२१; **उपारिम जाग्रतो यत्स्वपन्तः** १०.१६४.३ के साथ साथ अथर्ववेद ७.१०६.१ । **स्वप्नश्चनेद्** – दे. ऊपर २.२८.१० ।]

७. मैं अपराधोंसे मुक्त होकर, इस सुलभ कोप करनेवाले परंतु औदार्यपूर्ण देवकी, दासकी तरह सेवा करूँगा । यह उदारहृदय देव अज्ञानी पुरुषोंको ज्ञानपूर्ण करता है और ज्ञानी पुरुषको भी, उससे अधिक ज्ञानवान् यह वरुण शीघ्र ही संपदाकी ओर आगे बढ़ाता है ।

[**दासो न**–इस उपमाके आधारपर यह कहा जा सकता है कि ऋग्वेदकालमें विजित दासोंको परिचर्याके लिए सेवकोंके रूपमें रखा जाता था । पुरोहितको प्राप्त दक्षिणामें कभी कभी दासोंका भी अन्तर्भाव होता था; दे. ८.५६.३ तथा १०.६२.१० । साथ साथ चूंकि कवि अपनी तुलना यहां दासके साथ कर रहा है; यह स्पष्ट है कि दासोंके विषयमें तिरस्कारकी धारणा भी धीरेधीरे कम होती गई होगी ।]

८. हे स्वतन्त्रप्रज्ञ वरुण, यह हमारा स्तोत्र तुम्हारे हृदयमें ठोस आश्रय लेकर रहे । श्रम तथा विश्राम के समय हमें सुख प्राप्त हो । हे देवो, अपने आशीर्वादोंसे नित्य हमारी सुरक्षा करो ।

[**हृदि उपश्रितः अस्तु**—' अतीव प्यारा सिद्ध हो '; दे. ऊपर ६.२८.५ की टिप्पणी । **क्षेमे योगे**–दे. ७.५४.३ की टिप्पणी ।]

६८

७·८८·१–७ वसिष्ठः ॥ वरुणः ॥ त्रिष्टुप् ॥

प्र शुन्ध्युवं वरुणाय प्रेष्ठां मतिं वसिष्ठ मीळ्हुषे भरस्व ।
य ईमर्वाञ्चं करते यजत्रं सहस्रामघं वृषणं बृहन्तम् ॥ १ ॥

प्र । शुन्ध्युवम् । वरुणाय । प्रेष्ठाम् । मतिम् । वसिष्ठ । मीळ्हुषे । भरस्व ।
यः । ईम् । अर्वाञ्चम् । करते । यजत्रम् । सहस्रऽमघम् । वृषणम् । बृहन्तम् ॥ १ ॥

अधा न्वस्य संदृशं जगन्वानग्नेरनीकं वरुणस्य मंसि ।
स्वर्यदश्मन्नधिपा उ अन्धोऽभि मा वपुर्दृशये निनीयात् ॥ २ ॥

अध । नु । अस्य । सम्ऽदृशम् । जगन्वान् । अग्नेः । अनीकम् । वरुणस्य । मंसि ।
स्वः । यत् । अश्मन् । अधिऽपाः । ऊँ इति । अन्धः । अभि । मा । वपुः । दृशये । निनीयात् ॥२॥

१. हे वसिष्ठ, जो इस पावन, सहस्रों उपहार देनेवाले, पराक्रमी तथा महान् (सूर्य) को हमारी ओर घुमाता है उस उदार वरुण को विशुद्ध और उसे अत्यन्त प्रिय संस्तुति समर्पित करो।

[**बृहन्तं वृषणम्** के बाद **सूर्यम्** का अध्याहार करें; दे. ऋ. ९·७५·१ तथा १०·२७·२१ । फिर भी ये सभी द्वितीयान्त विशेषण वरुणपर ही अधिक लागू होते हैं; इसलिए **यः** को **मतिम्** (अथवा स्तोम) से अन्वित करना शायद अधिक युक्तियुक्त होगा । स्त्रीलिङ्गी **मति** शब्दको **स्तोम** से (दे. ७·८६·८) अभिन्न मानकर संभवतः कविने वाक्यकी रचना की है । इसी तरहकी रचना ऋ. ५·३३·२ में भी पाई जाती है । इसपर सायणाचार्यका भाष्य भी देखें । अथवा **यः** सर्वनामको वरुणसे ही संबद्ध मानकर **ईम्** को **आत्मानम्** के अर्थ में लेना भी संभव है । **स्तुति** देवताको आकृष्ट करके उसे विप्रोंकी ओर ले जाती है । इसका उल्लेख ऋग्वेदमें अन्यत्र भी पाया जाता है; दे. ४·२४·१; ८·८८·४;]

२. और सचमुच जब मैं उसके दर्शनपथमें पहुँच गया तब उस (वरुण) का मुख मुझे अग्निके मुख सदृश (आरक्त) प्रतीत हुआ । अपनी पाषाणमय गुहामें सूर्यका प्रकाश तथा अन्धकार किस प्रकार एकत्र निवास करते हैं यह अद्भुत दृश्य देखनेके लिये उन दोनोंका (प्रकाश और अन्धकार का) अधिपति यह वरुण मुझे वहाँ ले जाय ।

[**अग्नेरनीकं वरुणस्य**–क्रोधसे रक्तवर्ण चेहरेकी तुलना अग्निके साथ ऋ. १०·८४·१ में भी की गई है; दे. **तिग्मेषव आयुधा संशिशाना अभि प्र यन्तु नरो अग्निरूपाः। अश्मन्** (अधिकरण कारक) याने वलकी गुहामें । वसिष्ठकी प्रार्थना है कि मुक्तताके पहले सूर्य तथा अन्धकार दोनों वलकी गुहा में साथ ही रहते थे; इस अद्भुत दृश्यको उसे दिखानेकी कृपा वरुण करें । **अधिक्षित्, अधिपति, अधिराज** जैसे

आ यद्रुहाव वरुणश्च नावं प्र यत् समुद्रमीरयाव मध्यम्।
अधि यदपां स्नुभिश्चराव प्र प्रेङ्ख ईङ्खयावहै शुभे कम्॥ ३॥

आ। यत्। रुहाव। वरुणः। च। नावम्। प्र। यत्। समुद्रम्। ईरयाव। मध्यम्।
अधि। यत्। अपाम्। स्नुऽभिः। चराव। प्र। प्रऽईङ्खे। ईङ्खयावहै। शुभे। कम्॥ ३॥

वसिष्ठं ह वरुणो नाव्याधादृषिं चकार स्वपा महोभिः।
स्तोतारं विप्रः सुदिनत्वे अह्नां यान्नु द्यावस्ततनन्यादुषासः॥ ४॥

वसिष्ठम्। ह। वरुणः। नावि। आ। अधात्। ऋषिम्। चकार। सुऽअपाः। महःऽभिः।
स्तोतारम्। विप्रः। सुदिनऽत्वे। अह्नाम्। यात्। नु। द्यावः। ततनन्। यात्। उषसः॥४॥

शब्दोंके आधारपर स्पष्ट है कि अधिपाः (१०.८४.५) में **पा** इस अवयवको **पा** 'पीना, पान करना' के बदले **पा** 'सुरक्षा करना' से ही उत्पन्न मानना समीचीन होगा। इस ऋचाके पूर्वार्धमें प्रस्तुत समयकी क्रोधित वृत्तिका उल्लेख करके उत्तरार्धमें तथा बादकी तीनों ऋचाओंमे उसके पहले विद्यमान वात्सल्यपूर्ण वृत्तिपर प्रकाश डाला गया है। इनमेंसे ऋचा २ के उत्तरार्ध एवं ऋचा ३ में वरुणकी स्मृतिको जागृत करनेके लिए कवि उस समयकी अपनी मनुहारभरी प्रार्थनाको ही दुहरा रहा है; अतः विध्यर्थका प्रयोग किया गया। बादकी दो ऋचाओंमें वरुणकी कृपासे प्राप्त वस्तुओंके उल्लेखके कारण भूतकालका प्रयोग हुआ है। **वपुर्दृशये निनीयात्**; दे. **वपुर्दृशये वेन्यो** (सोम) **श्यावः** ६.४४.८। सूर्यको **दर्शतं वपुः** ऋ. ७.६६.१४ में भी कहा गया है; दे. **उदु त्यद्दर्शतं वपुर्दिव एति प्रतिह्वरे। यदीमाशुर्वहति देव एतशो विश्वस्मै चक्षसे अरम्।**]

३. जिस समय मैं और वरुण दोनों उसकी नौकापर आरुढ होकर समुद्रके मध्यभागमें उसे ले जायेंगे और जलतरङ्गोंपर इधर-ऊधर झूमते रहेंगे उस समय हमें सचमुच प्रतीत होगा कि हम किसी झूले पर बैठकर मानो बड़ी शानसे झूल रहे हैं!

[**रुहाव** (द्विवचन)-अन्वय है- **वरुणश्च** (अहं च)। **समुद्रं मध्यम्**; दे. ऊपर **मध्ये समुद्रे** ७.६८.७। **स्नुभिः-स्नु** का अर्थ है **सानु**-जलकी सतहपर दिखाई देनेवालीं लहरोंका 'शिखर'।]

४. जिस समय उसके दिन अच्छे थे उस समय वरुणने वसिष्ठको अपनी नौकामें बिठा लिया। उस उत्तम तथा बुद्धिमान् कारीगरने अपनी सामर्थ्योंसे जबतक दिन और उषाएँ फैलती रहेंगी तबतक उसे अपना स्तुतिपाठक ऋषि भी बना लिया।

[**स्तोतारं ऋषिं चकार** इस तरह अन्वय करें। **स्वपाः** (सु अपाः) बहुव्रीहि 'कौशलसे कर्म करनेवाला'। **अपः** का अर्थ है कर्म; दे. ऊपर २.३८.६। यहाँ सायणाचार्यने **सुऽअपाः महःऽभिः** के पदपाठ के विरुद्ध **स्वपाम् अहोभिः** इस अन्य शाखान्तर्गत पाठका स्वीकार किया है। **स्वपाम्** को

क्व१ त्यानि नौ सुख्या बभूवुः सचावहे यदवृकं पुरा चित् ।
बृहन्तं मानं वरुण स्वधावः सहस्रद्वारं जगमा गृहं ते ॥ ५ ॥

क्व । त्यानि । नौ । सुख्या । बभूवुः । सचावहे इति । यत् । अवृकम् । पुरा । चित् ।
बृहन्तम् । मानम् । वरुण । स्वधाऽवः । सहस्रऽद्वारम् । जगम । गृहम् । ते ॥ ५ ॥

य आपिर्नित्यो वरुण प्रियः सन्त्वामागांसि कृणवत् सखा ते ।
मा त एनस्वन्तो यक्षिन् भुजेम युन्धि ष्मा विप्रः स्तुवते वरूथम् ॥ ६ ॥

यः । आपिः । नित्यः । वरुण । प्रियः । सन् । त्वाम् । आगांसि । कृणवत् । सखा । ते ।
मा । ते । एनस्वन्तः । यक्षिन् । भुजेम । यन्धि । स्म । विप्रः । स्तुवते । वरूथम् ॥ ६ ॥

स्वपस् शब्दका द्वितीयान्त छान्दस रूप समझ लें। **सुदिनत्वे अह्नाम्**- 'जब दिन अच्छे मालूम होते थे तब'। देवोंकी कृपाको प्राप्त करनेपर याजकके लिए सभी दिन सुदिन ही होते हैं। दे. **अह्नान्यस्मै सुदिना भवन्ति** ७·११·२। **यात्-तात्** ये पञ्चम्यन्त रूप यहाँ कालदर्शी अव्ययोंके रूपमें प्रयुक्त हुए हैं; दे. १०·६८·१०। इन्हें अन्यत्र प्रमाणदर्शकके रूपमें भी प्रयुक्त किया गया है। दे. **अर्चामसि वीर ब्रह्मवाहो यादेव विद्म तात् त्वा महान्तम्** ६·२१·६।]

५ जिसमें कटुताका लेश नहीं था ऐसी तुम्हारी जिस मित्रताका हम पहले अनुभव कर चुके हैं वह मित्रता अब कहाँ गई है? हे स्वतन्त्रप्रज्ञ वरुण, उस समय तुम्हारे उस विशाल, सहस्र प्रवेशद्वारोंसे युक्त (प्रासादसदृश) गृहमें कई बार गया हूँ।

[**पुरा सचावहे-पुरा** शब्दके साथ वर्तमानकालवाचक रूप भूतकालका बोध कराते हैं; दे. **या वः पुरा शस्यन्ते** ७·५६·२३। **अवृकं** के बाद (प्रथम चरणके **सख्या** पदसे सूचित) **सख्यं** का अध्याहार करें; दे. ऋ. ६·४८·१८।]

६. हे अद्भुत सामर्थ्यशाली वरुण, अपने जिस प्रिय स्वजनने तथा विश्वासपात्र सुहृद्ने तुम्हारे अपराध किये हैं उसे, और अपराध किये हुए हमको भी, (अपराधोंका फल) भुगतनेके लिये विवश मत करो। अपने इस स्तुतिपाठकको सुरक्षा दो।

[**त्वामागांसि कृणवत्**। √कृ को द्विकर्मक धातुकी तरह प्रयुक्त किया गया है; दे. **देवान् वा तच्चकृम कच्चिदागः** १·१८५·८। तीसरे चरणमें **भुजेम** के कर्मके रूपमें **एनः** (**एनस्वन्तः** पदसे सूचित) का अध्याहार करें; दे. **मा च एनो अन्यकृतं भुजेम** ६·५१·७। पूर्वार्धके उपवाक्यको (**यः ते सखा आगांसि कृणवत्**) उत्तरार्धके मुख्य वाक्यसे अन्वित करनेके लिए **स च वयं च** का अध्याहार अभिप्रेत है। **नित्यः आपिः, प्रियः** तथा **सखा** ये सभी विशेषण समान रूपसे हेतुगर्भ हैं और यह सूचित करते हैं कि किया गया अपराध क्षमाका पात्र है। इसी लिए केवल **सखा ते** इसी अंशको मुख्य वाक्य मानकर सायणाचार्यकी तरह अन्वय करना उतना युक्तियुक्त नहीं जँचता।]

ध्रुवासु त्वासु क्षितिषु क्षियन्तो व्यस्मत् पाशं वरुणो मुमोचत्।
अवो वन्वाना अदितेरुपस्थाद्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ ७॥

ध्रुवासु। त्वा। आसु। क्षितिषु। क्षियन्तः। वि। अस्मत्। पाशम्। वरुणः। मुमोचत्।
अवः। वन्वानाः। अदितेः। उपस्थात्। यूयम्। पात। स्वस्तिऽभिः। सदा। नः॥ ७॥

७. हे वरुण, चिरकाल टिकनेवाले इन गृहोंमें रहकर हम (तुम्हारी स्तुति करें)। यह वरुण हमसे अपना पाश छुड़ा ले। हम माता अदितिके उत्सङ्गसे उस प्रसादकी अपेक्षा कर रहे हैं। हे देवो, तुम अपने आशीर्वचनोंसे नित्य हमारी सुरक्षा करो।

[प्रथम चरणमें पदपाठ है **त्वा आसु**; अतः **स्तुमः** का अध्याहार करना अनिवार्य है। दूसरे चरणका अन्वय भी स्वतंत्र रूपसे कर लें। तीसरे चरणका अन्वय करते हुए या तो वयं स्याम का अध्याहार करें अथवा उसे पहले चरणसे ही अन्वित करें (क्षियन्तः ...वन्वानाश्च त्वा स्तुमः)।]

६९

७·८९·१–५ वसिष्ठः ॥ वरुणः ॥ १–४ गायत्री । ५ जगती ॥

वासिष्ठ कुलका एक ऋषि अपने अपराधके लिए वरुण द्वारा प्रेषित जलोदर रोगसे त्रस्त हो चुका था। प्रस्तुत सूक्तमें वही ऋषि करुणापूर्ण ढंगसे क्षमायाचना कर रहा है। इस सूक्तकी दूसरी एवं चौथी ऋचाओंमें जलोदर जैसे रोगसे पीड़ित व्यक्तिकी दीनता का हूबहू चित्र खींचा गया है।

मो षु वरुण मृन्मयं गृहं राजन्नहं गमम्। मृळा सुक्षत्र मृळय ॥ १ ॥

मो इति। सु। वरुण। मृत्ऽमयम्। गृहम्। राजन्। अहम्। गमम्।
मृळ। सुऽक्षत्र। मृळय ॥ १ ॥

यदेमि प्रस्फुरन्निव दृतिर्न ध्मातो अद्रिवः। मृळा सुक्षत्र मृळय ॥ २ ॥

यत्। एमि। प्रस्फुरन्ऽइव। दृतिः। न। ध्मातः। अद्रिऽवः।
मृळ। सुऽक्षत्र। मृळय ॥ २ ॥

क्रत्वः समह दीनता प्रतीपं जगमा शुचे। मृळा सुक्षत्र मृळय ॥ ३ ॥

क्रत्वः। सम्ऽअह। दीनता। प्रतिऽईपम्। जगम। शुचे।
मृळ। सुऽक्षत्र। मृळय ॥ ३ ॥

---

१. हे वरुणराज, मुझे इस (पृथ्वीके उदरमें) मिट्टीके घरमें मत जाने दो। हे अत्यन्त पराक्रमी देव, मेरे ऊपर कृपा करो! दया करो!

[**मृन्मयं गृहम्**—दे. बादमें १०·१८·१०–१३। संचित अस्थियोंको मिट्टीके बरतनमें रखकर उन्हें गाड़ना पड़ता है। इन अस्थियोंके रूपमें मृत व्यक्तिकी आत्मा वही निवास करती है। इस ऋचाकी तहमें यही कल्पना है। **मृळा-मृळय** की दुहरावट नितान्त आर्तताकी ओर संकेत करती है।]

२. हे वज्रधारी वरुण, जिस समय हवासे परिपूर्ण होनेके कारण एकदम फट जानेकी आशङ्का करनेवाले किसी चर्ममय झोलेकी तरह जब मैं चलने लगता हूँ उस समय, हे अत्यन्त पराक्रमी देव, मेरे ऊपर दया करो, कृपा करो।

[**प्रस्फुरन्**—सकर्मक (दे. २·१२·१२) अथवा अकर्मक क्रिया। यहाँ अकर्मक; अर्थ है 'टूटनेपर उतारू', 'फुरफुरानेवाली'; दे. **उपरि स्फुरन्ति** १०·३४·९ ('स्फुर्' धातुसे समानार्थक)। **अद्रिवः**-अद्रि याने वज्र; इन्द्रका यह विशेषण यहाँ वरुणके लिए प्रयुक्त हुआ है। शायद कवि वरुणसे यह कहना चाहता है कि 'तुम इन्द्रकी ही तरह पराक्रमी हो'।]

३. हे पवित्र वरुण, मतिमन्दताके कारण मैं सर्वदा ही तुम्हारी इच्छाके विरुद्ध जा रहा हूँ तो भी, हे अत्यन्त पराक्रमी देव, मेरे ऊपर दया करो, कृपा करो।

अपां मध्ये तस्थिवांसं तृष्णाविदज्जरितारम् । मूळा सुक्षत्र मूळय ॥ ४ ॥

अपाम् । मध्ये । तस्थिऽवांसम् । तृष्णा । अविदत् । जरितारम् ।
मूळ । सुऽक्षत्र । मूळय ॥ ४ ॥

यत् किं चेदं वरुण दैव्ये जनेऽभिद्रोहं मनुष्याश्चरामसि ।
अचित्ती यत्तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः ॥ ५ ॥

यत् । किम् । च । इदम् । वरुण । दैव्ये । जने । अभिऽद्रोहम् । मनुष्याः । चरामसि ।
अचित्ती । यत् । तव । धर्म । युयोपिम । मा । नः । तस्मात् । एनसः । देव । रिरिषः ॥५॥

[**समह**-(सम + ह) अव्यय है । इसका अर्थ है 'एक ही ढंगसे', 'समान रूपसे'। सायणाचार्य इसे 'पूजनीय' के पर्यायवाची विशेषणका संबोधन मानते हैं । **क्रत्वः दीनता**— दे. ऊपर **दीनैः दक्षैः** ४·५४·३; **दीनदक्षाः मर्त्यासः** १०·२·५ ।]

४. चारों ओरसे जलके मध्यमें खड़े होनेपर भी पिपासाने तुम्हारे इस स्तोताको व्याकुल किया है । हे अत्यन्त पराक्रमी देव, मेरे ऊपर दया करो, कृपा करो ।

[**अपां मध्ये**-- पेटमें अत्यधिक पानी जमा होनेके बावजूद जलोदरमें रोगी प्यासा ही रहा जाता है । √विद् का अर्थ है 'पकड़ना' 'पछाड़ना', 'गिराना'; दे. **मा ते भयं जरितारं यविष्ठ नूनं विदत्** १·१८९·४ ।]

५. और यद्यपि हम मानव, दैवी प्रजाके विरुद्ध कुछ भी प्रतिकूल आचरण करते हैं तथा अज्ञानसे तुम्हारे नियमोंका अतिक्रमण भी कभी हमने किया होगा फिर भी उन सभी अपराधों के कारण, हे देव, हमारी हानि मत करो ।

[**इदम्**—(अव्यय) 'सचमुच' 'निश्चित रूपसे'। **दैव्ये जने**; दे. ऊपर ४·५४·३ । **अचित्ती**-(तृतीया एकवचन); दे. ७·८६·६ । **युयोपिम**-दे. **योपयन्तः** १०·१८·२ । **एनसः** में हेत्वर्थे पञ्चमी है । **मा रीरिषः**-दे. आगे चलकर १०·१८·१ ।]

७०

७.९५.१–६ वसिष्ठः ॥ १–२ सरस्वती । ३ सरस्वान् । ४–६ सरस्वती ॥

प्र क्षोदसा धायसा सस्र एषा सरस्वती धरुणमायसी पूः ।
प्रबाबधाना रथ्येव याति विश्वा अपो महिना सिन्धुरन्याः ॥ १ ॥

प्र । क्षोदसा । धायसा । सस्रे । एषा । सरस्वती । धरुणम् । आयसी । पूः ।
प्रऽबाबधाना । रथ्याऽइव । याति । विश्वाः । अपः । महिना । सिन्धुः । अन्याः ॥ १ ॥

एकाचेतत् सरस्वती नदीनां शुचिर्यती गिरिभ्य आ समुद्रात् ।
रायश्चेतन्ती भुवनस्य भूरेर्घृतं पयो दुदुहे नाहुषाय ॥ २ ॥

एका । अचेतत् । सरस्वती । नदीनाम् । शुचिः । यती । गिरिऽभ्यः । आ । समुद्रात् ।
रायः । चेतन्ती । भुवनस्य । भूरेः । घृतम् । पयः । दुदुहे । नाहुषाय ॥ २ ॥

१. किसी लोहमय प्राकारकी तरह हमें आश्रय देनेवाली यह सरस्वती अपने पुष्टिदायक वेगवान् प्रवाहसे आगे बढ़ रही है । यह सिन्धु अन्य सभी नदियोंको अपनी महानतासे पीछे छोड़कर (रथके दौड़नेवाले) अश्वों की जोड़ी की तरह दौड़ती हुई, सबसे आगे बढ़ रही है ।

[**धरुणम्**–' दृढ आधार '; ऋग्वेद ९.७४.२ में सोमको ' **दिवः धरुणः स्कम्भः** ' कहा गया है । **आयसी पूः**—' लोहेका बनाया हुआ दुर्ग या किला याने वह आश्रयस्थान जो पूरी तौरसे भयहीन हो । ऋ. ७.१५.१४ में अग्निके लिए तथा ऋ. ८.६९.८ में इन्द्रके लिए भी ' **आयसी पूः** ' को प्रयुक्त किया गया है । **रथ्या इव**-' रथके घोड़ोंकी जोड़ीकी तरह '; दे. ३.३३.२ की टिप्पणी ।]

२. पर्वतोंसे निकलकर समुद्रतक संचरण करनेवाली, सभी नदियोंमें यह पवित्र सरस्वती अकेली ही सुप्रथित है । इस विशाल भुवनकी सभी संपदा उसे ज्ञात है । अतएव वह सरस्वती मनुष्योंको दूध और घृत प्राप्त करा देती है ।

[**आ समुद्रात्**–**आ** यह उपसर्ग पञ्चमीके साथ प्रायः ' से ' या ' से लेकर ' के अर्थमें प्रयुक्त होता है; लेकिन् कभी कभी उसका अर्थ ' चारों ओर ' या ' तक ' भी होता है; दे. **अस्मद् आ** १.९२.१६ तथा ५.५६.३ । प्रस्तुत ऋचाके साथ साथ पांचवीं ऋचामें (**युष्मद् आ**) भी कविने उसे इसी अर्थमें प्रयुक्त किया है । ' समुद्र ' का अभिप्राय यहाँ स्पष्ट रूपमें पार्थिव समुद्रसे है । **घृतं पयः**–पौष्टिक अन्नका प्रतीक है । **नाहुष**–याने नहुषकी प्रजा; साधारण मानव ।]

स वावृधे नर्यो योषणासु वृषा शिशुर्वृषभो यज्ञियासु ।
स वाजिनं मघवद्भ्यो दधाति वि सातये तन्वं मामृजीत ॥ ३ ॥

सः । ववृधे । नर्यः । योषणासु । वृषा । शिशुः । वृषभः । यज्ञियासु ।
सः । वाजिनम् । मघवत्ऽभ्यः । दधाति । वि । सातये । तन्वम् । ममृजीत ॥ ३ ॥

उत स्या नः सरस्वती जुषाणोप श्रवत् सुभगा यज्ञे अस्मिन् ।
मितज्ञुभिर्नमस्यैरियाना राया युजा चिदुत्तरा सखिभ्यः ॥ ४ ॥

उत । स्या । नः । सरस्वती । जुषाणा । उप । श्रवत् । सुऽभगा । यज्ञे । अस्मिन् ।
मितज्ञुऽभिः । नमस्यैः । इयाना । राया । युजा । चित् । उत्ऽतरा । सखिऽभ्यः ॥ ४ ॥

---

३. इन यज्ञार्ह, नदीरूपी प्रमदाओंके मध्यमें मानवोंके लिए अनुकूल महापराक्रमी यह शिशुस्वरूप देव (सरस्वान्) वृद्धिंगत हुआ है। यह हमारे दानवीर यजमानोंको सामर्थ्यशाली अश्व प्राप्त करा देता है। यह अपनी देहको सुशोभित बना दे, जिससे अब हमें धनलाभ हो जाय।

[**सः- सरस्वान्**—सरस्वतीके अधिष्ठाता देवता। **वाजिनं ददाति**–'अश्व प्रदान करता है'। यहाँ शायद सरस्वतीकी उपत्यकामें पैदा होनेवाले उत्तम घोड़ोंकी ओर संकेत है। **तन्वम्**–अपने आपको अथवा घोड़ेकी देहको। मृज् धातुके कर्मके रूपमें अश्वका उल्लेख ऋग्वेदमें कई बार आता है; किन्तु ऐसे अवसरोंपर **तनू** शब्द शायद ही प्रयुक्त होता है। फिर भी '**मर्मृज्मा** ते तन्वं भूरि कृत्वः ३.१८.४ का उदाहरण द्रष्टव्य है।]

४. और यह भाग्यवती सरस्वती हमारे इस यज्ञमें (हमारे उपहारका) स्वीकार करके हमारी प्रार्थना श्रवण करे। पैरके ऊपर पैर रखकर बैठे हुए हमारे प्रणामशील (ऋत्विजोंके द्वारा) प्रार्थना की जानेपर यह सरस्वती संपदाको अपनी सहचारिणी समझकर उसे अपने साथ ले आती है इस हेतु से भी अपनी सखियों (याने अन्य नदियों) की अपेक्षा यह अपना श्रेष्ठत्व सिद्ध करती है।

[**मितज्ञुभिः**—'पलथी मारकर बैठे हुए'; दे. ऊपर ३.५९.३ की टिप्पणी। **अभिज्ञु** का अर्थ थोड़ा अलग मालूम होता है। इसमें भी पैर और जांघें पास आतीं हैं; लेकिन घुटने ऊपर याने सीनेके पास आते हैं और शरीर का भार नितंबके बदले तलुओंपर रखा जाता है। इसे 'उकडूं बैठना' कहा जाता है। **अभिज्ञु** के लिए दे. ऋ. १.३७.१०, ३.३९.५ तथा ७.२.४। इसका संबन्ध प्रायः गतिवाचक क्रियासे होता है। **नमस्य** का अर्थ यहाँ है 'नमस्कार सहित' (ऋ. ६.६८.३ 'नमस्येभिः शूषैः गृणीहि' में भी यही अर्थ है); लेकिन अन्यत्र इसके माने हैं 'नमन के योग्य'। दोनोंमें नमनसे संबन्ध तो है ही; फर्क तो इतना ही है कि एकमें वह कर्ताके रूपमें है तो दूसरेमें कर्मके। **सखिभ्यः**—'साथकी नदियोंसे'। **उत्तरा**—'अधिक श्रेष्ठ'।]

इमा जुह्वाना युष्मदा नमोभिः प्रति स्तोमं सरस्वति जुषस्व ।
तव शर्मन् प्रियतमे दधाना उप स्थेयाम शरणं न वृक्षम् ॥ ५ ॥
इमा । जुह्वानाः । युष्मत् । आ । नमःऽभिः । प्रति । स्तोमम् । सरस्वति । जुषस्व ।
तव । शर्मन् । प्रियऽतमे । दधानाः । उप । स्थेयाम । शरणम् । न । वृक्षम् ॥ ५ ॥

अयमु ते सरस्वति वसिष्ठो द्वारावृतस्य सुभगे व्यावः ।
वर्ध शुभ्रे स्तुवते रासि वाजान् यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ६ ॥
अयम् । ऊँ इति । ते । सरस्वति । वसिष्ठः । द्वारौ । ऋतस्य । सुऽभगे । वि । आवरित्यावः ।
वर्ध । शुभ्रे । स्तुवते । रासि । वाजान् । यूयम् । पात । स्वस्तिऽभिः । सदा । नः ॥ ६ ॥

५. अपने प्रणामोंके साथ तुम्हारे पास पहुँच जाय इस लिये हम ये हविर्द्रव्य (अग्निमें) हवन कर रहे हैं । हे सरस्वति, हमारे इस स्तोत्रको तुम प्रेमसे ग्रहण करो । तुम्हारी अत्यन्त प्रिय कृपाकी छत्रछायामें, हमें सुरक्षा देनेवाले वृक्षकी तरह अपनी रक्षामें रहने दो ।

[**इमा** के बाद **हवींषि** का अध्याहार करें; दे. ऋ. ८·२७·२२ । **जुह्वानाः** (वयम्) । पहले पादको स्वाभाविक रूपसे उत्तरार्धसे अन्वित करके दूसरे पादको कुण्डलीकृत वाक्यके रूपमें मान लें । **युष्मद् आ** 'तुमतक', 'तुम्हारे चारों ओर'; दे. ऊपर ऋचा २ में **आ समुद्रात्** की टिप्पणी । **दधानाः** (आत्मानम्)। **शरणं वृक्षम्**–'सुरक्षा करनेवाला वृक्ष'; दे. ऊपर ६·५७·५ तथा आगे चलकर **गृहासः शरणाः सन्तु** १०·१८·१२ ।]

६. हे भाग्यवति सरस्वति, इस वसिष्ठने तुम्हारे लिये अपने यज्ञके द्वार खोल रखे हैं । हे शोभायमान देवि, ऐश्वर्यसे वृद्धिंगत होकर तुम अपने स्तोताको अन्नादि उपहार प्राप्त करा दो । हे देवो, अपने आशीर्वचनोंसे तुम नित्य हमारी सुरक्षा करो ।

[**ऋतस्य द्वारा**—'उस यज्ञके द्वार जो ऋतका प्रतीक है । **रासि** – दे. ५·२६·१ में 'वक्षि' की टिप्पणी ।]

७१

७·१०२·१–३ वसिष्ठः, कुमार आग्नेयो वा ॥ पर्जन्यः ॥ १,३ गायत्री, २ पादनिचृत् ॥

पर्जन्याय प्र गायत दिवस्पुत्राय मीळ्हुषे । स नो यवसमिच्छतु ॥ १ ॥

पर्जन्याय । प्र । गायत । दिवः । पुत्राय । मीळ्हुषे । सः । नः । यवसम् । इच्छतु ॥ १ ॥

यो गर्भमोषधीनां गवां कृणोत्यर्वताम् । पर्जन्यः पुरुषीणाम् ॥ २ ॥

यः । गर्भम् । ओषधीनाम् । गवाम् । कृणोति । अर्वताम् । पर्जन्यः । पुरुषीणाम् ॥ २ ॥

तस्मा इदास्ये हविर्जुहोता मधुमत्तमम् । इळां नः संयतं करत् ॥ ३ ॥

तस्मै । इत् । आस्ये । हविः । जुहोत । मधुमत्ऽतमम् । इळाम् । नः । सम्ऽयतम् । करत् ॥ ३ ॥

---

१. द्युदेवके उदार पुत्र पर्जन्यके लिए ऊँचे स्वरसे (स्तोत्रका) गान करो। वह हमारे लिए (अर्थात् हमारे प्राणियोंके लिए) तृणादि प्राप्त करा दे।

[**यवसम्**—'घास' अर्थात् हमारी गायों एवं घोड़ोंके लिए।]

२. जो पर्जन्य देव औषधियाँ, गायों, अश्वों के साथ मनुष्यों एवं नारियों के लिए (अपनी वृष्टिद्वारा) संतान निर्माण होने देता है।

[**गर्भं कृणोति**– दे. ५·८३·१; वर्षाके द्वारा चौपायों तथा मनुष्यों के लिए पुष्टिप्रद अन्न पैदा होता है और वे प्रजोत्पत्तिमें अधिकाधिक सक्षम होते हैं। इसी लिए परंपराके अनुसार पर्जन्यको ही गर्भाधान–कर्ता कहा गया है। **पुरुषी** शब्द ऋग्वेदमें अन्यत्र नहीं पाया जाता।]

३. उसीको, उसके इस अग्निरूपी मुखमें यह अत्यन्त मधुर हव्य समर्पित करो। वह हमें कभी खण्डित न होनेवाला अन्नधान्य प्रदान करे।

[**आस्ये** याने अग्निरूपी मुंहमें। दे. **त्वामग्न आदित्यास आस्यं त्वां जिह्वां शुचयश्चक्रिरे कवे** २·१·१३। **संयत्** (सम् + $\sqrt{\text{यम्}}$)–'अटूट'; 'अखण्ड'; 'निर्बाध'। **संयतम् इळाम्**—दे. ऋ. ९·६२·३ तथा **संयतम् इषम्** ९·८६·१८।]

७२

७·१०३·१–१० वसिष्ठः ॥ मण्डूकाः (पर्जन्यः) ॥ १ अनुष्टुप् । २–१० त्रिष्टुप् ॥

ऋग्वेदके पश्चिमीय पण्डितोंमेंसे कई पुराने एवं व्यासङ्गी विद्वान् प्रस्तुत सूक्तको काव्यपूर्ण उपहाससे युक्त मानते हैं । इनके मतानुसार इसमें वेदघोष करके सोमपान करनेवाले ऋत्विजोंकी, खासकर विश्वामित्रकुलके ऋषियोंकी गूढ आलोचना सूचित की गई है । लेकिन यह मत युक्तियुक्त नहीं जँचता । संस्कृतकी प्राचीन परंपराके अनुसार यह वह पर्जन्य-सूक्त है जिसमें मण्डूक ही देवता है । वृष्टि या वर्षाकी अभिलाषा रखनेवाले व्यक्तिके लिए इसका जप करना लाभदायी है । सातवें मण्डलमें इस सूक्तका क्रम भी दो पर्जन्यसूक्तोंके [१०१ तथा १०२] बाद ही रखा गया है इसे भी ध्यानमें रखना चाहिए । साथ साथ प्रस्तुत सूक्तकी पहली ऋचामें प्रत्यक्ष रूपसे और बादकी कई ऋचाओंमें (ऋ. २-४, ७ तथा ९) अप्रत्यक्ष रूपसे पर्जन्यका ही उल्लेख किया गया है । मण्डूक [मेंढ़क] वास्तवमें वृष्टिदायक पर्जन्यके अग्रदूत एवं चारण हैं (ऋ. १ तथा ८) । उन्हें संतुष्ट करनेसे पर्जन्य देवता द्वारा मानवोंको ईप्सित वस्तुएं प्रदान करानेमें उनकी अनमोल सहायता मिलती है । देवों द्वारा निर्धारित समयपर सानन्द एवं सोत्साह उपस्थित होकर ये मेंढ़क अपने कर्तव्यका भली भाँति पालन करते हैं और उसी वजहसे अपनी आयु बढ़ा लेते हैं, यही इस सूक्तका सार मालूम होता है । सूक्ष्मताके साथ साथ निष्पक्ष भावसे इस सूक्तका अध्ययन करनेपर कहीं भी मण्डूकों अथवा ब्राह्मणोंके प्रति प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष उपहासका भाव नहीं पाया जाता । किसी भी स्थानपर उपालम्भ या उपहास की बू आती है यह मानकर चलना भी संभव नहीं है क्यों कि विश्वामित्र जैसे कुलविशेषके उल्लेखके अभावमें समूची ब्राह्मण जाति एक ब्राह्मण कवि द्वारा इस तरहके उपहासका विषय नहीं बन सकती । अन्तिम ऋचामें उपहास सीमापर पहुंचता है और उसमें तीसरे मण्डलके तिरपनवें सूक्तकी सातवीं ऋचाका ही उल्लेख किया गया है, इसे सही भी मान लें तो भी बात बनती नहीं । इस ऋचाकी ओर गौरसे देखनेपर स्पष्ट होगा कि इस उपहासके लक्ष्य आङ्गिरस ऋषि ही होते हैं; विश्वामित्र नहीं । उपर्युक्त विश्वामित्र सूक्तकी ऋचामें स्वयं आङ्गिरस ऋषि ही विश्वामित्रके लिए दानी हैं; सुदास अथवा उसके अनुयायी भरतकुलोत्पन्न वीर नहीं । ऐसी अवस्थामें कविका अभिप्राय उपहास-युक्त मण्डूकान्योक्तिसे है इसका स्वीकार भला कैसे किया जा सकता है ? खैर ! इधर विचारवान् पश्चिमीय पण्डित भी आजकल इस मतको उपादेय नहीं मानते; इनमें प्रधान रूपसे ओल्डेनबर्ग (नोटेन भाग २–पृ. ६७–६८), मैक्डोनेल (वेदिक रीडर पृ. १४१) तथा पाल थीम (झेड्. डी. एम्. जी. व्हॉल्यूम १०२ पृ.१०६–१०७) का उल्लेख करना आवश्यक है । फिर भी गेल्ड्नर अबतक पुराने मतका पूर्णतया त्याग करनेके लिए तैयार नहीं मालूम होते; उन्हें अभी इस सूक्तमें उपहाससमन्वित काव्यकी बू आती ही है । माना कि वे अन्तमें 'स्वाभाविक रूपसे अभीतक यह अनिर्धारित अनुमान ही है ' जैसी दुहाई तो देते हैं लेकिन फिर भी प्रस्तुत सूक्तकी पहली ऋचाकी ओर निर्देश करना नहीं भूलते । दे. गेल्डनरकृत ऋग्वेद-अनुवाद भाग २ पृ. २७१–२७२ ।

संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः।

वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः ॥ १ ॥

संवत्सरम्। शशयानाः। ब्राह्मणाः। व्रतऽचारिणः।

वाचम्। पर्जन्यऽजिन्विताम्। प्र। मण्डूकाः। अवादिषुः ॥ १ ॥

दिव्या आपो अभि यदेनमायन् दृतिं न शुष्कं सरसी शयानम्।

गवामह न मायुर्वत्सिनीनां मण्डूकानां वग्नुरत्रा समेति ॥ २ ॥

दिव्याः। आपः। अभि। यत्। एनम्। आयन्। दृतिम्। न। शुष्कम्। सरसी इति। शयानम्।

गवाम्। अह। न। मायुः। वत्सिनीनाम्। मण्डूकानाम्। वग्नुः। अत्र। सम्। एति ॥ २ ॥

१. एक संवत्सरतक सोकर रहनेवाले तथा (मौन) व्रत पालन करनेवाले ये ब्राह्मण (याने ये मण्डूक), पर्जन्यदेव द्वारा उनमें जागृत की गई वाणीका ऊँचे स्वरसे उच्चारण कर रहे हैं।

[**मण्डूकाः–ब्राह्मणाः** यही इस सूक्तका वह प्रधान रूपक है जिससे इसका प्रारम्भ हुआ है और वह तीनों आखिरी ऋचाओंमें भी स्पष्ट है। दसवीं याने अन्तिम ऋचामें तो मण्डूकोंपर आङ्गिरस ऋषियों एवं प्राचीन ब्राह्मणों का ही आरोप किया गया है जैसा कि ऋ. ३·५७·७ के साथ इसकी तुलना करनेसे (दे. प्रास्ताविक टिप्पणी) स्पष्ट होता है। वर्षाऋतुके आरम्भमें मण्डूकोंका (मेंढकोंका) बर्ताव वास्तवमें उनके लिए देवों द्वारा निर्धारित (ऋचा ९) यज्ञकर्म ही है यही इस रूपकका आशय है।]

२. जिस समय तालाबकी तहमें खाली चर्मकी थैलीकी तरह पेट-पीठ चिपककर रहे हुए इस मण्डूकके पास द्युलोकको जलधाराएं आकर धमक गईं उस समय सवत्स गायोंके रंभानेके समान प्रतीत होनेवाली इन सभी मण्डूकोंकी यह (मधुर) ध्वनि यहाँ (उस तालाबमें) एक साथ संमिलित हो गई हैं।

[**शुष्कं दृतिम्**–'चमड़ेकी वह सूखी थैली जो द्रव पदार्थके अभावमें चिमट गई हो'। इस थैलीकी तरह वे चित पड़े हुए थे। **शयानम्**–यही साधारण धर्म है। **वत्सिनीनाम्**–साभिप्राय विशेषण है। (चरागाहसे लौटकर) अपने बछड़ेसे मिलनेके बादका गायोंके रंभानेका स्वर यही उपमान यहाँ अभिप्रेत है; दे. २·२·२; ३·५७·३; ९·१३·७ आदि। **वग्नु** वह संज्ञा है जो √**वच्** को **नु** प्रत्यय जोड़नेसे बनी है। √**भा** से **भानु** तथा √**री** से **रेणु** इसी तरह बने है। √**मन्** से **मन्यु** तथा √**वा** से **वायु** की तरह √**मा** — 'रंभाना' धातुको **यु** प्रत्यय जोड़नेसे **मायु** यह संज्ञा बनी है।]

यदीमेनाँ उशतो अभ्यवर्षीत्तृष्यावतः प्रावृष्यागतायाम्।
अख्खलीकृत्या पितरं न पुत्रो अन्यो अन्यमुप वदन्तमेति ॥ ३ ॥

यत्। ईम्। एनान्। उशतः। अभि। अवर्षीत्। तृष्याऽवतः। प्रावृषि। आऽगतायाम्।
अख्खलीकृत्य। पितरम्। न। पुत्रः। अन्यः। अन्यम्। उप। वदन्तम्। एति ॥ ३ ॥

अन्यो अन्यमनु गृभ्णात्येनोरपां प्रसर्गे यदमन्दिषाताम्।
मण्डूको यदभिवृष्टः कनिष्कन्पृश्निः संपृङ्क्ते हरितेन वाचम् ॥ ४ ॥

अन्यः। अन्यम्। अनु। गृभ्णाति। एनोः। अपाम्। प्रऽसर्गे। यत्। अमन्दिषाताम्।
मण्डूकः। यत्। अभिऽवृष्टः। कनिस्कन्। पृश्निः। सम्ऽपृङ्क्ते। हरितेन। वाचम् ॥ ४ ॥

---

३. वर्षाऋतु आनेके बाद (जलके लिये) लोलुप, पिपासासे व्याकुल इन मण्डूकोंपर (पर्जन्यदेवने) जिस समय वर्षा की उस समय पुत्र जिस प्रकार (अभिवादनके लिये) पिताके समीप जाता है उसी प्रकार उनमेंसे एक, आनन्दसूचक ध्वनि करके (वैसी ही) ध्वनि करनेवाले दूसरेके समीप (अभिवादनके लिए) गया है।

[**अभ्यवर्षीत्** के कर्ता **पर्जन्यः** को अर्थात् अध्याहृत समझें; दे. ५·८३·१०। (संहिताकी ही तरह) पदपाठमें **अभि** के निघात एवं **अवर्षीत्** को सोदात्त दिखाकर दोनोंकी अवग्रह-युक्त सामासिकता दिखाना अपेक्षित था; क्योंकि यह क्रिया उस उपवाक्यसे संबद्ध है जो '**यत्**' से आरम्भ हुआ है। फिर भी पदपाठमें इस तरहका आर्षत्व अन्यत्र भी पाया जाता है; दे. ऊपर **नि। असीदत्** १·१४३·१; **प्र। असृजः** ३·३२·६। आगे चलकर **प्र। अगाः** ८·४८·२; **नि। अधायि** ८·४८·१०; **वि। अदधुः** १०·९०·११; **अभि। पेक्षेताम्** १०·१२१·६ तथा **प्र + अवर्तयः** १०·१३५·४ आदि स्थानोंपर भी इसी तरह आर्षत्व समझ लें। **अख्खलीकृत्य-अख्खल** शब्दानुकारी ध्वनि करके। **पितरं न पुत्रः**—यही उपमा २·३३·१२ में भी पाई जाती है।]

४. जिस समय जलधाराओंका बड़ा प्रवाह समीप आनेपर दोनों भी हर्षविभोर हो गए, जिस समय वर्षासे भीग कर गीला हुआ मण्डूक हर्षसे बार बार कूदने लगा तथा जिस समय चित्रवर्ण मण्डूक पीतवर्ण मण्डूकके साथ अपनी ध्वनि मिलाने लगा उस समय (रेला लगता है) मानों एक दूसरेको बधाई दे रहे है।

[उत्तरार्धके एक अथवा दो उपवाक्यों को साथ पूर्वार्धके दूसरे चरणके उपवाक्यका भी अन्वय पहले चरणके मुख्य वाक्यके साथ कर लें। सायणाचार्यने **कनिष्कन्** को वर्तमानकालवाचक धातुसाधित मानकर उत्तरार्धमें एक ही वाक्य समझ लिया। उत्तरार्धमें **यत्** पदकी आवृत्तिके अभावको देखते हुए यही अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है।]

यदे॑षाम॒न्यो अ॒न्यस्य॒ वाचं॑ शा॒क्तस्ये॑व॒ वद॑ति॒ शिक्ष॑माणः ।
सर्वं॒ तदे॑षां स॒मृधे॑व॒ पर्व॒ यत् सु॒वाचो॒ वद॑थ॒नाध्य॒प्सु ॥ ५ ॥

यत् । ए॒षाम् । अ॒न्यः । अ॒न्यस्य॑ । वाच॑म् । शा॒क्तस्य॑ऽइव । वद॑ति । शिक्ष॑माणः ।
सर्व॑म् । तत् । ए॒षाम् । स॒मृधा॑ऽइव । पर्व॑ । यत् । सु॒ऽवाच॑ः । वद॑थन । अधि॑ । अ॒प्ऽसु ॥५॥

५. जिस समय उनमेंसे एक, वेदपाठक गुरुके छात्रकी तरह, दूसरेकी वाणीको दोहराने लगा उस समय, उनका वह सभी कृत्य, उसी प्रकार (अति रमणीय) प्रतीत हुआ जैसे सभी ओरसे समृद्ध होनेके कारण कोई यज्ञकर्म। क्योंकि, (हे मण्डूको), उस (तालाबकी) जल-राशिमें मधुर ध्वनिवाले तुम (निरन्तर) बोलते रहे हो।

[**शाक्त** तथा **शिक्षमाण** दोनों √शक् धातुके रूप हैं जिनका क्रमशः अर्थ है शिक्षक तथा शिष्य। **तत् सर्वं (कर्म) समृधा पर्व इव** (समृधा अस्ति)—उन मण्डूकोंका वह समूचा बर्ताव सभी अङ्गोंसे युक्त पर्वकी (लक्षणांकी सहायतासे पर्वकालीन यज्ञकर्मकी) तरह समृद्धिसे संयुक्त दिखाई देता है। 'यज्ञकर्मके इष्ट काल' के अर्थमें '**पर्व**' शब्द १·९४·४ में भी प्रयुक्त हुआ है (**भरामेध्मं कृणवामा हवींषि ते चितयन्तः पर्वणा पर्वणा वयम्**)। फिर भी इस शब्दको 'शरीरके अवयव' के अर्थमें प्रयुक्त करना ऋग्वेदमें अधिक प्रचलित मालूम होता है; दे. **निर्भृदुखच्छित् समरन्त पर्व** ४·१९·९ और **समानुधे पर्वभिर्वावृधानः** १०·७९·७। (सायणाचार्य तथा ओल्डेनबर्ग के मतानुसार) प्रस्तुत ऋचामें '**पर्व**' का यही अर्थ यदि मान लें तो अनुवाद निम्नानुसार होगा—'उनके शरीरोंके समृद्धिसे युक्त अवयवोंकी तरह उनका समूचा, (ऋचा दोनसे पांचतक वर्णित) बर्ताव समृद्धिसे संयुक्त दिखाई देता है'। इसका अभिप्राय यों होगा– पूर्ण विकसित होनेके कारण उनका शरीर (जो पहले 'शुष्क दृति' की तरह था और अब भरी हुई या ठोस दृतिकी तरह है) जिस तरह शोभायमान दिखाई देता है उसी तरह कहीं किसी भी तरहकी कमीके अभावमें उनका बर्ताव भी शोभासे संयुक्त प्रतीत होता है। **समृधा**—यह पद स्वाभाविक रूपसे **पर्व** के साथ अन्वित होकर **समृधा** (युक्तम्) **पर्व** यह संयुक्त उपमान सिद्ध होता है। **समृधा** के बाद आनेवाले उपमावाचक शब्द **इव** से स्पष्ट है कि वह उपमानका ही अंश है। फिर भी साधारण धर्मके रूपमें **समृधा** (युक्तं) पदको प्रयुक्त करना ही कविके लिए अनुकूल है, इसलिए उसे दुहरा लें। गेल्डनर (दे. जर्मनभाषानुवाद भाग २ पृ. २७२) तथा मैक्डोनेल (दे. वेदिक रीडर पृ. १४४) **पर्व** शब्दको 'पाठ्य भागके एक अंश' के अर्थमें प्रयुक्त मानकर प्रस्तुत ऋचाको प्रतिदिन किए जानेवाले स्वाध्याय-पाठकी कल्पनापर आधारित बतलाते हैं। 'पर्व' शब्दके इस अर्थकी पुष्टिमें गेल्डनर शतपथ १३·४·३·७ तथा पारस्कर गृह्यसूत्र २·१०·२० को उद्धृत भी करते हैं सही; लेकिन ऋग्वेदकालमें इस अर्थको प्रचलित माननेके लिए कोई भी प्रमाण नहीं पाया जाता।

मण्डूकोंके बर्तावपर यज्ञकर्मका आरोप ही प्रस्तुत सूक्तमें प्रधान है (दे. ऋचा १ की टिप्पणी)। इसलिए उनका समूचा कार्य सर्वाङ्गसुन्दर यज्ञकर्मकी तरह शोभायमान है इसीको कविका अभिप्राय मानना अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है। अतएव **पर्व** शब्दके मुख्य अर्थको याने 'विशिष्ट यज्ञकाल' को यहाँ बाधित मानकर लक्षणाकी सहायतासे उसे 'पर्वकालीन यज्ञकर्म' के अर्थमें मान लिया और उसीके अनुसार अनुवाद किया गया है।]

गोमा॑युरेको॑ अ॒जमा॑युरेकः॒ पृश्नि॒रेको॒ हरि॑त॒ एक॑ एषाम् ।
स॒मा॒नं नाम॒ बिभ्र॑तो॒ विरू॑पाः पुरु॒त्रा वाचं॑ पिपिशु॒र्वद॑न्तः ॥ ६ ॥

गोऽमा॑युः । एकः॑ । अ॒जऽमा॑युः । एकः॑ । पृश्निः॑ । एकः॑ । हरि॑तः । एकः॑ । ए॒षा॒म् ।
स॒मा॒नम् । नाम॑ । बिभ्र॑तः । विऽरू॑पाः । पु॒रु॒ऽत्रा । वाच॑म् । पि॒पि॒शुः॒ । वद॑न्तः ॥ ६ ॥

ब्रा॒ह्म॒णासो॑ अतिरा॒त्रे न सोमे॒ सरो॒ न पू॒र्णम॒भितो॒ वद॑न्तः ।
सं॒व॒त्स॒रस्य॒ तदहः॒ परि॑ ष्ठ॒ यन्म॑ण्डूकाः प्रावृ॒षीणं॑ ब॒भूव॑ ॥ ७ ॥

ब्रा॒ह्म॒णासः॑ । अ॒ति॒ऽरा॒त्रे । न । सोमे॑ । सरः॑ । न । पू॒र्णम् । अ॒भितः॑ । वद॑न्तः ।
सं॒व॒त्स॒रस्य॑ । तत् । अ॒हरिति॑ । परि॑ । स्थ॒ । यत् । म॒ण्डू॒काः॒ । प्रा॒वृ॒षीण॑म् । ब॒भूव॑ ॥ ७ ॥

६. इनमेंसे एककी ध्वनि गायके रंभानेकी तरह तो दूसरेकी बकरेकी आवाज़के समान है । इनमेंसे एक हरे रंगका है तो दुसरा विविध रंगोंसे विभूषित है । एक ही नाम धारण करनेवाले परन्तु स्वरूपसे परस्पर भिन्न होनेवाले ये मण्डूक अपनी वाणीका उच्चारण कर उसीको अनेक स्थलोंपर रमणीयता ला रहे हैं ।

[**विरूपाः**– ' असमान '; वर्ण और ध्वनि दोनोंमें । **वाचं पिपिशुः**—वाणीको अलंकृत करते हैं । यहाँ ' अलंकार ' का अभिप्राय (मण्डूकोंकी) विभिन्न ध्वनियोंसे है ।]

७. अतिरात्र नामक सोमयागमें पूर्ण भरे हुए सोमपात्रके चारों ओर मन्त्रपाठ करनेवाले ब्राह्मणोंकी तरह इस जलसे परिपूर्ण तालाबके चारों ओर अपनी वाणीका उच्चारण करते रहनेवाले हे मण्डूको, तुम वर्षाऋतुके प्रारम्भके दिनमें यहाँ ठीक उपस्थित होते हो ।

[अतिरात्र वह सोमयज्ञ है जो एक दिन एवं रात भर चलता रहता है । उपमाका यहाँ अभिप्राय यों है– जिस प्रकार रातके समय भी उस यज्ञमें बाधा नहीं पैदा होती उसी तरह मेंढ़कोंकी डरांव डरांव ध्वनि रातमें भी निर्बाध रूपसे चलती है । प्रस्तुत साङ्ग उपमाके मुख्य (**ब्राह्मणासः**) तथा गौण (**सरः**) दोनों उपमानोंका स्पष्टतया निर्देश करनेके लिए उनके बाद उपमावाचक ' **न** ' का उपयोग किया गया है; दे. ऊपर १.८५.८की टिप्पणी । सोमसे भरे हुए पात्रके चारों ओर बैठकर दिन-रात वेदघोष करनेवाले ब्राह्मणोंके साथ यहाँ उन मण्डूकोंकी तुलना की गई है जो वर्षाके जलसे भरे हुए तालाबके पास ही रहकर दिनरात डरांव डरांव ध्वनि करते रहते हैं । **सरः** शब्द अर्थात् श्लिष्ट है; उसका ' सोमसे भरा हुआ पात्र ' यह अर्थ ऋग्वेदमें सुविदित ही है; दे. **मांश्चत्व इन्दो सरसि प्र धन्व,** ९.९७.५२ के साथ साथ **अयं सरांसि धावति** ९.५४.२ आदि । दूसरा अर्थ है ' मण्डूकोंसे युक्त तालाब ' । **संवत्सरस्य प्रावृषीणम् अहर्**—' वह दिन जब वर्षा ऋतु आरम्भ होती है ' । दे. ऋचा ३ तथा ९ –**संवत्सरे प्रावृष्यागतायाम्** ।]

ब्राह्मणासः सोमिनो वाचमक्रत ब्रह्म कृण्वन्तः परिवत्सरीणम् ।
अध्वर्यवो घर्मिणः सिष्विदाना आविर्भवन्ति गुह्या न के चित् ॥ ८ ॥

ब्राह्मणासः । सोमिनः । वाचम् । अक्रत । ब्रह्म । कृण्वन्तः । परिवत्सरीणम् ।
अध्वर्यवः । घर्मिणः । सिष्विदानाः । आविः । भवन्ति । गुह्याः । न । के । चित् ॥ ८ ॥

देवहितिं जुगुपुर्द्वादशस्य ऋतुं नरो न प्र मिनन्त्येते ।
संवत्सरे प्रावृष्यागतायां तप्ता घर्मा अश्नुवते विसर्गम् ॥ ९ ॥

देवऽहितिम् । जुगुपुः । द्वादशस्य । ऋतुम् । नरः । न । प्र । मिनन्ति । एते ।
संवत्सरे । प्रावृषि । आऽगतायाम् । तप्ताः । घर्माः । अश्नुवते । विऽसर्गम् ॥ ९ ॥

८. अपना प्रतिवार्षिक स्तोत्रपाठ करनेवाले इन सोमयाजी ब्राह्मणोंने अपने स्तोत्रका उच्चारण किया है । (अग्निके पास बैठकर) संतप्त और पसीनेसे भींगे हुए ये सभी अध्वर्यु बाहर निकल गये हैं । अब कोई भी अंदर छिपे नहीं हैं ।

[सातवीं ऋचाकी उपमाको ही यहाँ श्लिष्ट रूपकका रूप प्रदान किया गया है । **परिवत्सरीणं ब्रह्म** – ' वह स्तोत्र जिसकी रचना प्रतिवर्ष वर्षाके प्रारम्भमें की जाती हो '। **परिवत्सरीणं ब्रह्म कृण्वन्तः** में सातवीं ऋचाके **वदन्तः तदहः परि ष्ठ** का ही विवेचन किया गया है । **घर्मिणः** तथा **सिष्विदानाः** दोनों शब्द श्लिष्ट हैं । मण्डूकोंके साथ **घर्मिणः** का अर्थ है ' धूपसे संतप्त ' और अध्वर्युओंके साथ है ' अग्निकी उष्णतासे संतप्त एवं घर्म नामके हव्यको अपने पास रखनेवाले ' । इसीतरह मण्डूकोंके साथ **सिष्विदानाः** का अर्थ है ' वर्षाके पानीसे तर ' (दे. **वर्ष स्वेदं चक्रिरे रुद्रियासः** ५·५८·७) और अध्वर्युओंके साथ है ' पसीनेसे तर '। अध्वर्युओंके साथ **घर्मिणः** के दोनों उक्त अर्थ अभिप्रेत हैं यह बात बादमें आनेवाले **सिष्विदानाः** इस विशेषणसे स्पष्ट है; दे. **यस्त इध्मं जभरत् सिष्विदानो मूर्धानं वा ततपते त्वाया** ४·२·६ के साथ साथ **घर्मस्वेदेभिः** (अङ्गिरोभिः) १०·६७·७ । प्रस्तुत ऋचाका पहला चरण जगती छन्दमें परिवर्तित हुआ है; दे. १०·३४·५ । दोनों स्थलोंमें इसका कारण है ' वाचमक्रत ' यह वाचोयुक्ति ।]

९. इस (संवत्सरमें) बारहवे (मास) के बारेमें देवों द्वारा निर्धारित नियमका उन्होंने पूरा पालन किया है । ये (मण्डूकरूपी) पुरुष इस निश्चित समयका अतिक्रमण नहीं करते । वर्षके (निश्चित समयमें) वर्षाकालके प्रारम्भ होनेपर ये (मण्डूकरूपी) संतप्त घर्म (ताप) मुक्त होनेका अनुभव लेते हैं ।

[**द्वादश** शब्द अन्तोदात्त है । इसके दो अर्थ हो सकते हैं; एक है ' बारहवाँ (महीना) ' और दूसरा ' बारह महीनोंवाला (वर्ष या संवत्सर)'; दे. सायणाचार्य । प्रस्तुत स्थानपर उक्त दोनोंमेंसे कोई भी समीचीन होगा । बारहवाँ महीना याने ' बरसभर पड़े रहे ' मण्डूकोंके वर्षका ' बारहवाँ याने अन्तिम महिना '। **संवत्सरे** याने संवत्सरके अन्तमें (संवत्सरे पूर्णे–सायण)' । **द्वादशस्य** के बाद **संवत्सरस्य** का अध्याहार करनेके बजाय ऋचामें विद्यमान **संवत्सरे** पदको ही उद्धृत करके पूर्वार्धका अन्वय करना अधिक युक्तियुक्त मालूम हुआ । इसीलिए अनुवादमें ' बारहवाँ ' यही अर्थ स्वीकृत किया गया है । **तप्ता घर्माः**–आठवीं ऋचाके श्लेषपर आधारित रूपकको प्रस्तुत ऋचामें भी विकसित किया गया है । अतः पूर्वार्धके ' नरः ' पदके साथ साथ

गोमा॑युरदादजमा॑युरदात् पृश्नि॑रदाद्धरि॑तो नो॒ वसू॑नि ।
गवां॑ मण्डू॒का दद॑तः श॒तानि॑ सहस्रसा॒वे प्र ति॑रन्त॒ आयु॑ः ॥१०॥

गोऽमा॑युः । अदा॑त् । अजऽमा॑युः । अदा॑त् । पृश्नि॑ः । अदा॑त् । हरि॑तः । नः॒ । वसू॑नि ।
गवा॑म् । मण्डू॒काः॑ । दद॑तः । श॒तानि॑ । स॒ह॒स्र॒ऽसा॒वे । प्र । ति॒र॒न्ते॒ । आयु॑ः ॥ १० ॥

उत्तरार्धका घर्माः यह पद भी मण्डूकों एवं ब्राह्मणों पर लागू है। लक्षणाके सहारे **घर्माः** का अर्थ **घर्मिणः** कर लें और **विसर्गम् अश्नुवते** को **आविर्भवन्ति** का पर्यायवाची मान लें (दे. ऋचा ८) । अथवा यहां 'घर्म नामके गरम हव्य' तथा '(धूपसे) संतप्त मण्डूक' दोनों अपने अपने स्थानसे 'विसर्जित' होते हैं याने मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं यह अर्थ मान लेना भी संभव है।]

१०. गायकी तरह ध्वनि करनेवालेने (धन) दिया है। बकरीकी तरह आवाज़ करनेवालेने भी दिया है । एवं चित्रवर्ण और पीतवर्ण (मण्डूको) ने भी हमें धनराशि दी है। सैंकड़ो गायें देनेवाले इन मण्डूकोंने इस सहस्र-सवनवाले यज्ञमें अपनी आयु वृद्धिंगत की है।

[**गोमायुः**—दे. ऊपर ऋचा २ । **सहस्रसाव**–वह सत्र जो सहस्रसवनोंसे युक्त याने एक बरसतक चलता रहे। पहली **ऋचा** के रूपकका ही यह अंश है । एक बरसतक किया गया व्रतका पालन सहस्रसवनोंसे युक्त सत्रका ही अङ्ग है । **प्र तिरन्ते आयुः**–' अपने लिए दीर्घ आयु प्राप्त करते हैं '; मतलब, बरसातके बाद इसी तरह भूमिगत होकर कई बरसोंतक बरसातके आरम्भमें फिर तरोताज़ा होते हैं । हमें अनुदान देनेके इस सत्कार्यसे वे भी अपने लिए मङ्गलकी प्राप्ति करा लेते हैं । **प्र तिरन्ते** आत्मनेपदी है; अतः **प्रतरण** (वितरण) की क्रिया आत्मनिष्ठ है यह बात अन्य उदाहरणोंसे भी स्पष्ट हो सकती है । दे. **दक्षिणावन्तो अमृतं भजन्ते दक्षिणावन्तः प्र तिरन्त आयुः** १·१२५·६; **भागं देवेभ्यो विदधात्यायन् प्र चन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः** १०·८५·१९; **हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्ते वासोदाः सोम प्र तिरन्त आयुः** १०·१०७·२ तथा **अगन्म यत्र प्र तिरन्त आयुः** १·११३·१६, ८·४८·११ । यही धातु यदि परस्मैपदमें प्रयुक्त हो तो **आयु** का बढ़ाना अन्यनिष्ठ होता है और उसके साथ प्रायः **नः, अस्माकं** जैसे षष्ठयन्त शब्द प्रयुक्त किये जाते हैं; दे. १·२५·१२, १·११६·१०, ७·७७·५, ८·४८·४, ७, १० आदि। अतः 'हमारी आयु बढ़ाते है' यह अनुवाद यहां असमीचीन सिद्ध होगा ।]

७३

८.२९.१–१० मनुर्वैवस्वतः, कश्यपो वा मारीचः ॥ विश्वे देवाः ॥ द्विपदा विराट् ॥

[यह एक तरहका कूट सूक्त है । इसकी प्रत्येक ऋचामें अलग अलग देवताका वर्णन है अवश्य; लेकिन प्रत्यक्ष रूपसे उसका नाम उस ऋचामें नहीं पाया जाता । यह सूक्त द्विपदा विराज् नामके छन्दमें लिखा गया है । इस छन्दके पहले पादमें १२ तथा दूसरेमें ८ अक्षर आते हैं ।

बभ्रुरेको विषुणः सूनरो युवाञ्ज्यङ्क्ते हिरण्ययम् ॥ १ ॥

बभ्रुः । एकः । विषुणः । सूनरः । युवा । अञ्जि । अङ्क्ते । हिरण्ययम् ॥ १ ॥

योनिमेक आ ससाद द्योतनोऽन्तर्देवेषु मेधिरः ॥ २ ॥

योनिम् । एकः । आ । ससाद । द्योतनः । अन्तः । देवेषु । मेधिरः ॥ २ ॥

वाशीमेको बिभर्ति हस्त आयसीमन्तर्देवेषु निध्रुविः ॥ ३ ॥

वाशीम् । एकः । बिभर्ति । हस्ते । आयसीम् । अन्तः । देवेषु । निऽध्रुविः ॥ ३ ॥

वज्रमेको बिभर्ति हस्त आहितं तेन वृत्राणि जिघ्नते ॥ ४ ॥

वज्रम् । एकः । बिभर्ति । हस्ते । आऽहितम् । तेन । वृत्राणि । जिघ्नते ॥ ४ ॥

---

१. इनमेंसे एक पीतवर्ण, अनेक रूप धारण करनेवाला कृपालु युवा है और उसने सुवर्णका आभूषण धारण किया है ।

[**बभ्रु**–यह विशेषण प्रायः सोमके लिए प्रयुक्त होता है । साथ साथ कभी रुद्रके लिए तो कभी अक्षोंके लिए इसे प्रयुक्त किया गया है; दे. ऊपर २.३३.५ तथा ८.९.१५ एवं १०.३४.५,१४ । **अञ्जि हिरण्ययम्** भी रुद्रपर लागू होता है; दे. २.३३.९ । **विषुणः**–' अनेक रूप धारण करनेवाला ' । सायणाचार्यके मतमें इस ऋचाका अभिप्रेत देवता है सोम । यद्यपि इसके प्रायः सभी विशेषण रुद्रपर भी लागू होते हैं; तो भी ऋचा ५ में रुद्रके विशेषण बिल्कुल स्पष्ट हैं । अतः यहाँ देवताके रूपमें ' **सोम** ' को मानना ही अधिक समीचीन होगा । सोमके संबन्धमें **हिरण्ययम्** अञ्जि का अर्थ होगा ' सोनेकी तरह पीतवर्ण ' ।]

२. एक तेजस्वी होकर सभी देवोंमें उत्तम प्रतिभावान् है, और वह (वेदीके ऊपर) अपने स्थानपर विराजमान हुआ है ।

[यह अग्नि है । **योनिमाससाद** उसीकी ओर संकेत करता है ।]

३. सभी देवोंसे अधिक स्थिर रहनेवाला एक अपने हाथमें लोहेका फरसा धारण करता है ।

[यह त्वष्टा है; दे. **त्वष्टा......शिशीते नूनं परशुं स्वायसम्** १०.५३.९ ।]

४. हाथमें स्थापित किये वज्रको एक (देवता) धारण करता है और उससे शत्रुओंका वध करता है ।

[यह तो इन्द्र है जैसा कि वज्र एवं वृत्रहनन से स्पष्ट है ।]

तिग्ममेको बिभर्ति हस्त आयुधं शुचिरुग्रो जलाषभेषजः ॥ ५ ॥

तिग्मम् । एकः । बिभर्ति । हस्ते । आयुधम् । शुचिः । उग्रः । जलाषऽभेषजः ॥ ५ ॥

पथ एकः पीपाय तस्करो यथाँ एष वेद निधीनाम् ॥ ६ ॥

पथः । एकः । पीपाय । तस्करः । यथा । एषः । वेद । निऽधीनाम् ॥ ६ ॥

त्रीण्येक उरुगायो वि चक्रमे यत्र देवासो मदन्ति ॥ ७ ॥

त्रीणि । एकः । उरुऽगायः । वि । चक्रमे । यत्र । देवासः । मदन्ति ॥ ७ ॥

विभिर्द्वा चरत एकया सह प्र प्रवासेव वसतः ॥ ८ ॥

विऽभिः । द्वा । चरतः । एकया । सह । प्र । प्रवासाऽइव । वसतः । ॥ ८ ॥

५. पावन, उग्र तथा शीतल औषधियाँ पासमें रखनेवाला एक देव अपने हाथमें तीक्ष्ण आयुध धारण करता है ।

[**जलाषभेषजः** रुद्रकी ओर स्पष्टतया संकेत करता है; दे. २.३३.७ । इस अनिवार्य विशेषणके अन्तर्भावके कारण दूसरे पादमें ८ के बदले १० अक्षर आए हैं ।]

६. एकने संचरण-मार्ग (मनुष्योंसे) भर दिये हैं। किसी चोरकी तरह इसे गुप्त निधियोंका ठीक-ठीक पता है ।

[पूषा ही पथस्पति है; दे. ऊपर ६.५३.१ । **पथः पीपाय**-दे. ऊपर **पथ्या अजीगः** ७.७५.१ । यहाँ अभिप्राय है-'प्रातःकालमें ही अपने अपने कार्यमें प्रवृत्त होनेवाले प्राणियोंकी गतिविधियोंसे सभी दिशाओंके मार्ग आप्लावित कर दिए' । **पथः एकः पीपाय** स्वतन्त्र वाक्य है, उसका प्रस्तुत ऋचाकी उपमासे कोई संबन्ध नहीं है । वह उपमा बादमें आरम्भ होती है और उसमें साधारण धर्म दूसरे पादमें दिया गया है । **निधीनां वेद**-दे. ६.५४.१० । यहाँ चोरकी उपमा चरितार्थ सिद्ध होती हैं । किसके पास क्या एवं कितना धन है और वह कहाँ है सभी बातें पूषाको (चोरकी ही तरह) भली भाँति मालूम होती हैं । इसीलिए याजकोंके सभी प्रकारोंके धन-जो नष्ट हुआ हो-की तलाश वे त्वरित कर देते हैं। इसी तरह अपने मार्ग या नामोनिशाँ को छिपाए रखने (५.१५.५) तथा तेज़ीसे दूर कहीं भाग जाने (६.१२.५) की कलामें अग्निकी तुलना भी चोरके साथ की गई है । साथ साथ दे. ऊपर १.५०.२ तथा आगे चलकर १०.९७.१० ।]

७. दूर दूर चरणनिक्षेप करनेवाले एकने जिस स्थानमें देव आनन्दसे रहते हैं उसपर तीन चरण निक्षेप करके प्रयाण किया है ।

[**उरुगायः**-विष्णुका लक्षण है । **यत्र देवासो मदन्ति** दे. ऊपर १.१५४.५ ।]

८. एक युवतीको साथ लेकर, दो देव अपने पक्षियोंसे (याने उस रथसे जिसमें ये पक्षी जोते गए हो) घूमते रहते हैं । दो यात्रिकोंकी तरह वे सर्वदा ही यात्रा करते रहते हैं ।

[**द्वा-एकया** क्रमशः अश्विना एवं सूर्या हैं । **प्रवास**-प्रवास करनेवाला; हमेशा सफ़रमें रहनेवाला ।]

सदो द्वा चक्राते उपमा दिवि सम्राजा सर्पिरासुती ॥ ९ ॥

सर्दः । द्वा । चक्राते इति । उपऽमा । दिवि । सम्ऽराजा । सर्पिरासुती इति सर्पिःऽआसुती ॥९॥

अर्चन्त एके महि साम मन्वत तेन सूर्यमरोचयन् ॥ १० ॥

अर्चन्तः । एके । महि । साम । मन्वत । तेन । सूर्यम् । अरोचयन् ॥ १० ॥

९. दो सर्वश्रेष्ठ सम्राट् स्वर्गलोकमें आसन जमाकर बैठे हैं । इनके पानके लिये घृतरूपी हवि निश्चित किया गया है ।

[ये दोनों सम्राट् हैं मित्रावरुणा । इन्हींको १·१३६·१ तथा २·४१·६ में **घृतासुती सम्राजा** कहा गया है ।]

१०. ऋचाओंका गान करनेवाले किसीने एक महान् साम खोज कर निकाला है । उसकी सहायतासे उसने सूर्यको भी तेजःपूर्ण किया है ।

[**अर्चन्तः महि साम** अङ्गिरसोंकी ओर संकेत करता है; दे. १०·७८·५ । **सूर्यमरोचयन्**–ये शब्द वलकी गुहासे सूर्यकी मुक्तिका उल्लेख करते हैं; दे. १·६२·३ । सायणाचार्यके मतमें प्रस्तुत ऋचा अत्रिका उल्लेख करती है; इसके प्रमाणके रूपमें ५·४०·८,९ को उपस्थित किया जा सकता है ।]

७४

८·३०·१–४ मनुर्वैवस्वतः ॥ विश्वे देवाः ॥ १ गायत्री ।
२ पुरउष्णिक् । ३ बृहती । ४ अनुष्टुप् ॥

नहि वो अस्त्यर्भको देवासो न कुमारकः ।
विश्वे सतोमहान्त इत् ॥ १ ॥

नहि । वः । अस्ति । अर्भकः । देवासः । न । कुमारकः ।
विश्वे । सतःऽमहान्तः । इत् ॥ १ ॥

इति स्तुतासो असथा रिशादसो ये स्थ त्रयश्च त्रिंशच्च ।
मनोर्देवा यज्ञियासः ॥ २ ॥

इति । स्तुतासः । असथ । रिशादसः । ये । स्थ । त्रयः । च । त्रिंशत् । च ।
मनोः । देवाः । यज्ञियासः ॥ २ ॥

ते नस्त्राध्वं तेऽवत त उ नो अधि वोचत ।
मा नः पथः पित्र्यान्मानवादधि दूरं नैष्ट परावतः ॥ ३ ॥

ते । नः । त्राध्वम् । ते । अवत । ते । ऊँ इति । नः । अधि । वोचत ।
मा । नः । पथः । पित्र्यात् । मानवात् । अधि । दूरम् । नैष्ट । पराऽवतः ॥ ३ ॥

---

१. हे देवो, तुममेंसे कोई भी (शिशुकी तरह) छोटे अथवा (बच्चोंकी तरह) छोटी उमरके भी नहीं हैं । तुम सभी समान रूपसे ही महान् हो ।

[**सतः**—यह अव्यय समासमें ‘ समान रीतिसे, परस्पर–सदृश ’ के अर्थमें प्रयुक्त होता है; दे. **सतोवीराः पितरः** ६·७५·९ ।]

२. हे शत्रुओंके विनाशक और मनुके लिये यज्ञका स्वीकार करने योग्य देवो, तुम तीन और तीस इस संख्यामें प्रथित हो, और हमने तुम्हारा इस प्रकार स्तवन किया है ।

[**त्रयश्च त्रिंशत् च**—अथर्ववेदमें इन्हें द्युलोक, पृथिवी एवं अन्तरिक्षमेंसे हरेकमें ११ के रूपमें विभाजित माना गया है; दे. अथर्ववेद १९·२७·११–१३ । ऊपर ३·९·९ में इन देवोंकी संख्या ३३३३ बतलाई भी गई है । **मनोः यज्ञियाः**-(वे देवता) जो मनु एवं उनके वंशजों याने मानवों के लिए यज्ञार्ह हों ।]

३. ऐसे तुम हमारी सुरक्षा करो, हमारे ऊपर कृपा करो और हमारा पक्ष लेकर समर्थन करो । हमारे पिता जो मनु उसके द्वारा स्थापित किये गए चिरन्तन कालसे प्रवृत्त मार्गसे हमें दूर मत ले जाओ ।

ये देवास इह स्थन विश्वे वैश्वानरा उत ।
अस्मभ्यं शर्म सप्रथो गवेऽश्वाय यच्छत ॥ ४ ॥
ये । देवासः । इह । स्थन । विश्वे । वैश्वानराः । उत ।
अस्मभ्यम् । शर्म । सऽप्रथः । गवे । अश्वाय । यच्छत ॥ ४ ॥

[**नः अधिवोचत**—दे. ऊपर **अधिवक्तारमस्मयुम्** २·३३·८ । **परावतः** (प्रदेशान्)— यह द्वितीया बहुवचन है; दे. ऊपर-४·३०·११ ।]

४. हे देवो, समूचे लोगोंके लिए अनुकूल ऐसे तुम सभी यहाँ उपस्थित हो जाओ। हमें और हमारी गायोंको तथा अश्वोंको अपनी पूरी सुरक्षा दो ।

[**वैश्वानराः**—'सभी मानवोंके प्यारे'। यह विशेषण प्रायः अग्निके लिए प्रयुक्त होता है। यहाँ संभवतः सभी देवोंके साथ अग्नि वैश्वानरकी अभिन्नता कल्पित है और उसीके आधारपर उनके लिए उक्त विशेषणका उपयोग किया गया है; दे. ८·५८·२ के साथ साथ ६·९·५ ।]

७५

८·४८·१–१५ प्रगाथो घौरः काण्वः ॥ सोमः ॥
१–४; ६–१५ त्रिष्टुप् । ५ जगती ॥

स्वादोरभक्षि वयसः सुमेधाः स्वाध्यो वरिवोवित्तरस्य ।
विश्वे यं देवा उत मर्त्यासो मधु ब्रुवन्तो अभि संचरन्ति ॥ १ ॥

स्वादोः । अभक्षि । वयसः । सुऽमेधाः । सुऽआध्यः । वरिवोवित्ऽतरस्य ।
विश्वे । यम् । देवाः । उत । मर्त्यासः । मधु । ब्रुवन्तः । अभि । सम्ऽचरन्ति ॥ १ ॥

अन्तश्च प्रागा अदितिर्भवास्यवयाता हरसो दैव्यस्य ।
इन्दविन्द्रस्य सख्यं जुषाणः श्रौष्टीव धुरमनु राय ऋध्याः ॥ २ ॥

अन्तरिति । च । प्र । अगाः । अदितिः । भवासि । अवऽयाता । हरसः । दैव्यस्य ।
इन्दो इति । इन्द्रस्य । सख्यम् । जुषाणः । श्रौष्टीऽइव । धुरम् । अनु । राये । ऋध्याः ॥ २ ॥

१. सभी देव तथा मर्त्यलोग ' मधु ' कहकर जिसकी आराधना करते हैं, उस स्वादिष्ट, सुविचारोंके प्रवर्तक और (अन्य किसी भी वस्तुसे) अधिक सुखप्रद, ऐसे शक्तिवर्धक अन्नका (सोमरसका), मैं बुद्धिमान् हूँ इस लिये, मैंने पान किया है ।

[**वयसः**—द्वितीयार्थे षष्ठी । **वयः** (नपुंसकलिङ्ग) एवं **सोमः** (पुंलिङ्ग) में अभेद मानकर उत्तरार्धमें **यम्** (पुंलिङ्ग) सर्वनाम प्रयुक्त किया गया है । **सुमेधाः** (अहम्) **अभक्षि**– दे. कवीन् इच्छामि **संदृशे सुमेधाः** ३·३८·१ ।]

२. (हे सोम), तुम मेरे अन्तरङ्गमें प्रविष्ट हुए हो इस लिए अदितिस्वरुप होकर देवोंका क्रोध शान्त करनेका कार्य तुम अवश्य करो ! हे इन्दो, इन्द्रके साथ मित्रता जोड़कर, जिस प्रकार शिक्षा देकर तैयार की हुइ घोड़ी रथकी धुरीके अनुकूल होती है उसी प्रकार हमें संपदा प्राप्त करानेके लिये तुम अनुकूल हो जाओ ।

[**प्र अगाः** (पदपाठ)–दे. ऊपर ७·१०३·३ में **अभि अचर्षीः** की टिप्पणी । **अदितिः**– देवमाता अदितिके साथ सोमकी एकता कल्पित है । अदिति एवं आदित्य अपराधोंके लिए क्षमा करके देवों का क्रोध दूर करनेके लिए विख्यात हैं । **श्रौष्टी**–(**श्रुष्टि**–' आज्ञाकारिता '–धातु है √श्रु)–' आज्ञाकारिणी घोड़ी '। यह शब्द केवल यहीं पाया जाता है । सायणाचार्यने ' श्रुष्टीति क्षिप्रनाम ' कहकर श्रौष्टीको तत्संबद्ध मानकर ' क्षिप्रगामी अश्वः ' यह अर्थ बतलाया है । **अनु ऋध्याः**–अनु + √ऋध् –' अनुकूलताके साथ उत्कर्षको प्राप्त कराना '; दे. **अनुव्रतान्यदितेर्ऋधन्तः** ७·८७·७ । यहाँ ऋचा ३ के **अस्मान्** का कर्मके रूपमें अध्याहार करें । **श्रौष्टीव धुरम्** की उपमाके लिए दे. **पवित्रमक्रमीत् वाजी धुरं न यामनि** ९·४५·४ के साथ साथ ७·२४·५ ।]

अपाम सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान्।
किं नूनमस्मान् कृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृत मर्त्यस्य ॥ ३ ॥
अपाम। सोमम्। अमृताः। अभूम। अगन्म। ज्योतिः। अविदाम। देवान्।
किम्। नूनम्। अस्मान्। कृणवत्। अरातिः। किम्। ऊँ इति। धूर्तिः। अमृत। मर्त्यस्य ॥३ ॥
शं नो भव हृद आ पीत इन्दो पितेव सोम सूनवे सुशेवः।
सखेव सख्य उरुशंस धीरः प्र ण आयुर्जीवसे सोम तारीः ॥ ४ ॥
शम्। नः। भव। हृदे। आ। पीतः। इन्दो इति। पिताऽइव। सोम। सूनवे। सुऽशेवः।
सखाऽइव। सख्ये। उरुऽशंस। धीरः। प्र। नः। आयुः। जीवसे। सोम। तारीः ॥ ४ ॥
इमे मा पीता यशस उरुष्यवो रथं न गावः समनाह पर्वसु।
ते मा रक्षन्तु विस्रसश्चरित्रादुत मा स्रामाद्यवयन्त्विन्दवः ॥ ५ ॥
इमे। मा। पीताः। यशसः। उरुष्यवः। रथम्। न। गावः। सम्। अनाह। पर्वऽसु।
ते। मा। रक्षन्तु। विऽस्रसः। चरित्रात्। उत। मा। स्रामात्। यवयन्तु। इन्दवः ॥ ५ ॥

३. हम सोमपान करके मृत्युरहित हो गए हैं। दिव्य तेजके पास पहुँच कर हमने देवोंकी प्राप्ति कर ली है। हे मरणधर्मरहित सोम, मनुष्यकी कपटबुद्धि या द्वेषबुद्धि अब हमारा क्या अपकार कर सकेगी?

[पूर्वार्धमें सोमपानसे प्राप्त मानसिक उन्नतिका वर्णन है; दे. **घृणा तपन्तमति सूर्यं परः शकुना इव पतिम** ९.१०७.२०। सोमरसके पानसे सोम देवतासे एकरूप होकर देवोंके ज्योतिर्मय निवासस्थानमें पहुँचनेका भाव यहाँ कविने व्यक्त किया है। शत्रुओंके षड्यन्त्रोंके कारण (ऋचा ८) तन तथा मन दोनोंसे संत्रस्त कविके संभवतः सोमपानके उपरान्त बड़े आत्मविश्वासके साथ ये शब्द कहे हैं। अकालमें ही काल-कवलित होकर पितृलोक भेजे जानेकी आशङ्कासे कविने यह सोमपान किया है। अतएव वह बार बार अपनी त्रुटियों (ऋचा ५, ११ तथा १४) तथा अपने ऊपर बरसे हुए दैवी कोप (ऋचा २, १४) के साथ अपने ऊपर बारबार आक्रमण करनेकी घातमें रहनेवाले शत्रुओं (ऋचा ८) का उल्लेख करता है इस तरह कवि अपनी आयुको बढ़ाने (ऋचा ४.७.१०-११) और इस कार्यमें अपने पितरोंकी मदद लेने (ऋचा १२, १३) के साथ साथ सभी प्रकारोंसे अपनी सुरक्षा करनेके लिए भी सोम-देवताकी प्रार्थनाकर रहा है (ऋचा १५)। पापके प्रायश्चित्त तथा रोगके निवारणके लिए किए जानेवाले सोमपानका उल्लेख १.१७९.५ तथा ८.७९.२ में स्पष्ट रूपसे पाया जाता है।]

४. हे इन्दो, पान किये जानेपर तुम हमारे हृदयको सुखप्रद हो जाओ। हे विशाल कीर्ति रखनेवाले सोम, उसी प्रकार तुम हमारे लिए कृपापूर्ण बनो जिस प्रकार पिता अपने पुत्रको अथवा प्रतिभाशाली सखा अपने सखाको। हे सोम, हम जीवित रहें इसलिये तुम हमारी आयुको वृद्धिंगत करो।

[**पितेव सूनवे**—दे. १.१.९। **आयुः प्र तारीः**- दे. ऊपर ७.१०३.१० की टिप्पणी।]

५. मेरे पिये हुए, यशोदायी, तथा सुरक्षा देनेवाले इन सोमशीकरोंने, मेरे सन्धिस्थानोंमें अवयवोंकी उसी तरह मज़बूत बना दिया है जिस प्रकार गायें (याने उनके चर्मनिर्मित बन्ध)

अग्निं न मा मथितं सं दिदीपः प्र चक्षय कृणुहि वस्यसो नः।
अथा हि ते मद आ सोम मन्ये रेवाँइव प्र चरा पुष्टिमच्छ ॥ ६ ॥
अग्निम्। न। मा। मथितम्। सम्। दिदीपः। प्र। चक्षय। कृणुहि। वस्यसः। नः।
अथ। हि। ते। मदे। आ। सोम। मन्ये। रेवान्ऽइव। प्र। चर। पुष्टिम्। अच्छ ॥ ६ ॥

इषिरेण ते मनसा सुतस्य भक्षीमहि पित्र्यस्येव रायः।
सोम राजन् प्र ण आयूंषि तारीरहानीव सूर्यो वासराणि ॥ ७ ॥
इषिरेण। ते। मनसा। सुतस्य। भक्षीमहि। पित्र्यस्यऽइव। रायः।
सोम। राजन्। प्र। नः। आयूंषि। तारीः। अहानिऽइव। सूर्यः। वासराणि ॥ ७ ॥

रथको। हे इन्दो, फिसलकर गिरनेसे और भूलनेवाले चरणोंसे वे मेरी रक्षा करें तथा शारीरिक कष्टसे मुझे दूर रखें।

[**गावः**—लक्षणाकी सहायतासे इसका अर्थ होगा गायके चमड़ेसे बनाए गए बन्द, डोरे या रस्से। **समनाह** सम् + √नह् धातुका द्वितीयभूत अन्यपुरुष एकवचन। **रथं न गावः समनाह**—दे. **गोभिः सन्नद्धः** (रथः) ६.४७.२६ के साथ साथ **गोभिः सन्नद्धा** (इषुः) ६.७५.११। **इमे इन्दवः**–अन्य सभी ऋचाओंमें एकवचनमें प्रयुक्त सोमके साथ इनकी बूंदोंके अभेदकी कल्पना करके यहाँ **समनाह** यह एकवचन प्रयुक्त किया गया है। **चरित्रात् विस्रसः** याने **चरित्रस्य विस्रसः** 'पैरोंके फिसलनेसे'। संबन्ध-कारकके स्थानपर (**चरित्रात्** यह) अपादानकारक **विस्रसः** के आकर्षणसे प्रयुक्त दिखाई देता है। **स्राम** की व्युत्पत्ति निश्चित एवं स्पष्ट नहीं।]

६. मन्थन किए गए अग्निकी तरह तुम मुझे उद्दीपित करो। हमें दूरदर्शिता दो और (दूसरोंकी अपेक्षा) अधिक वैभवशाली करो। अब तुम्हारे द्वारा प्राप्त हुए मदसे, हे सोम, मुझे प्रतीत हो रहा है कि मैं धनवान् हूँ। हमें पुष्टि प्राप्त हो इसलिए तुम (हमारी देहमें) सर्वत्र संचार करो।

[**नः** यह सर्वनाम (बहुवचन) बीच में ही 'स्वयं एवं सगे-संबन्धी' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। सभीने मिलकर सोमपान किया है सही, लेकिन वक्ता उनका सिर्फ नेतृत्व कर रहा है (दे. ऋचा ३–४; ७–९; ११–१५)। अथवा यह संभव है कि यहाँ कवि इस सर्वनामको प्रयुक्त करके सोमपानसे प्राप्त अपनी महिमाकी ओर संकेत कर रहा हो। **रेवानिव मन्ये**–'मैं अपने को श्रीमान् ही मानता हूं'। मतलब, यह सब सोमपानसे उत्पन्न उत्साहकी चरम सीमाके कारण ही संपन्न हो सका है। **पुष्टिमच्छ**–दे. आगे चलकर **सातिमच्छ** ९.६९.९।]

७. हे सोमराज, पिताकी संपदाकी तरह, पीस कर निकाले हुए तुम्हारे रसका उत्साहपूर्ण चित्तसे हमें आस्वाद लेने दो। जिस प्रकार सूर्य (ग्रीष्ममें) प्रकाशयुक्त दिनोंको बढ़ाता है उसी प्रकार तुम हमारी आयु वृद्धिंगत करो।

[**पित्र्यस्येव रायः**–दे. **तस्यास्ते रत्नभाज ईमहे वयं स्याम मातुर्न सूनवः** ७.८१.४ के साथ साथ **पितुर्वित्तो रयिः** १.७३.१.९ और **पितुर्न जिव्रेर्वि वेदो भरन्त** १.७०.१०। **वासराणि**

सोम॑ राजन् मृ॒ळया॑ नः स्व॒स्ति तव॑ स्मसि व्र॒त्या॒३॑स्तस्य॑ विद्धि ।
अल॑र्ति॒ दक्ष॑ उ॒त म॒न्युरि॑न्दो॒ मा नो॑ अ॒र्यो अ॑नुका॒मं परा॑ दाः ॥ ८ ॥

सोम॑ । रा॒ज॒न् । मृ॒ळय॑ । न॒: । स्व॒स्ति । तव॑ । स्म॒सि॒ । व्र॒त्या॑: । तस्य॑ । वि॒द्धि॒ ।
अल॑र्ति । दक्ष॑: । उ॒त । म॒न्युः । इ॒न्दो॒ इति॑ । मा । न॒: । अ॒र्यः । अ॒नु॒ऽका॒मम् । परा॑ । दा॒: ॥ ८ ॥

त्वं हि न॑स्त॒न्व॑: सोम गो॒पा गात्रे॑गात्रे निष॒सत्था॑ नृ॒चक्षा॑: ।
यत्ते॑ व॒यं प्र॑मि॒नाम॑ व्र॒तानि॒ स नो॑ मृळ सुष॒खा दे॑व॒ वस्य॑: ॥ ९ ॥

त्वम् । हि । न॒: । त॒न्व॑: । सो॒म॒ । गो॒पाः । गात्रे॑ऽगात्रे । नि॒ऽस॒सत्थ॑ । नृ॒ऽचक्षा॑: ।
यत् । ते॒ । व॒यम् । प्र॒ऽमि॒नाम॑ । व्र॒तानि॑ । सः । न॒: । मृ॒ळ॒ । सु॒ऽस॒खा । दे॒व॒ । वस्य॑: ॥ ९ ॥

ऋ॒दू॒दरे॑ण॒ सख्या॑ सचेय॒ यो मा॒ न रिष्ये॑द्धर्यश्व पी॒तः ।
अ॒यं यः सोमो॒ न्यधा॑य्य॒स्मे तस्मा॒ इन्द्रं॑ प्र॒तिर॑मे॒म्यायु॑: ॥ १० ॥

ऋ॒दू॒दरे॑ण । सख्या॑ । स॒चे॒य॒ । यः । मा॒ । न । रिष्ये॑त् । ह॒रि॒ऽअ॒श्व॒ । पी॒तः ।
अ॒यम् । यः । सोम॑: । नि । अधा॑यि । अ॒स्मे इति॑ । तस्मै॑ । इन्द्र॑म् । प्र॒ऽति॒र॑म् । ए॒मि॒ । आयु॑: ॥ १० ॥

अहानि याने ' तेजस्वी दिवस '; दे. **अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च** ६.९.१ । **प्रतारीः**-' प्रदीर्घ करो ', ' बढ़ाओ ' । प्रस्तुत उपमाके ' दिवस ' संभवतः ग्रीष्मऋतुके लम्बे दिन होंगे अथवा ' सुबहसे शामतक ' यह अर्थ मान लें । उषाको ८.६.३० में **वासरं ज्योतिः** कहा गया है ।]

८. हे सोमराज, कल्याणके लिए हमारे ऊपर कृपा करो । हम तुम्हारे व्रतोंका पालन करते हैं इसका ध्यान रखो । हे इन्दो, (हमारे शत्रुओंकी) कुशलता और क्रोध सामनेसे (हमारी ओर) आक्रमण करते आ रहे हैं; तो भी शत्रुकी इच्छाके अनुसार हमारा त्याग मत करो ।

[**स्वस्ति**—यह क्रियाविशेषण है । **व्रत्याः** ' व्रतका पालन करनेवाले ' । **दक्ष** तथा **मन्यु** दोनों अरिके याने शत्रुके ही हैं; दे. ४.३.१३ । **अलर्ति**-√ऋ धातुका पौनःपुन्यार्थक रूप ।]

९. हे सोम, तुम्हें वीरकी दृष्टि प्राप्त है । अतएव तुम हमारे शरीरोंका अभिभावक बनकर हमारे प्रत्येक गात्रमें जमकर बैठे हो । जिस समय हम तुम्हारे नियमोंका अतिक्रमण करेंगे उस समय, हे देव, उदारतासे हमारा उत्तम सखा बनकर हमारे ऊपर दया करो ।

[**सुऽसखा** (तत्पुरुष)-' अच्छा मित्र '; दे. **विभुर्विभावा सुसखा सखीयते** १०.९१.१ । **वस्यः**-(क्रियाविशेषण) ' भलाईके साथ ' अथवा इसे **मृळ** के दूसरे कर्मके रूपमें मान लें (**नः वस्यः मृळ**) ' अपनी कृपासे हमें उत्तम भाग्य अर्पित करो ' ।]

१० हे हर्यश्व, प्राशन किये जानेपर, जो मेरे लिए हानिकर नहीं होगा उस कोमलहृदय सोमरूपी सखासे मेरा मिलन होने दो । जो यह सोम हमारे शरीरमें रखा हुआ है उसके द्वारा मैं अपनी आयु दीर्घ करनेके (याने बढ़ानेके) उद्देश्यसे इन्द्रकी प्रार्थना करता हूँ ।

अप त्या अस्थुरनिरा अमीवा निरत्रसन् तमिषीचीरभैषुः ।
आ सोमो अस्माँ अरुहद्विहाया अगन्म यत्र प्रतिरन्त आयुः ॥ ११ ॥

अप । त्याः । अस्थुः । अनिराः । अमीवाः । निः । अत्रसन् । तमिषीचीः । अभैषुः ।
आ । सोमः । अस्मान् । अरुहत् । विऽहायाः । अगन्म । यत्र । प्रऽतिरन्त । आयुः ॥११॥

यो न इन्दुः पितरो हृत्सु पीतोऽमर्त्यो मर्त्याँ आविवेश ।
तस्मै सोमाय हविषा विधेम मृळीके अस्य सुमतौ स्याम ॥ १२ ॥

यः । नः । इन्दुः । पितरः । हृत्ऽसु । पीतः । अमर्त्यः । मर्त्यान् । आऽविवेश ।
तस्मै । सोमाय । हविषा । विधेम । मृळीके । अस्य । सुऽमतौ । स्याम ॥ १२ ॥

[**ऋदूदरेण**—दे. २·३३·५ (रुद्र)। **हर्यश्व** (संबोधन)—मालूम होता है कि यहाँ कविको सोमके बड़े (रसिक) भोक्ताके रूपमें इन्द्रका स्मरण हुआ है। इसलिए ऋचाके उत्तरार्धमें कवि तुरन्त इन्द्रसे सोमके प्रेमके लिए अपनी आयु बढ़ानेकी प्रार्थना कर रहा है। **तस्मै**- ' उसके लिए ', ' उसके प्रेमकी खातिर '। यहाँ अन्वय है- **तस्मै** (सोमस्यार्थे) **आयुः प्रतिरम् इन्द्रमेमि** ।]

११. वे दुर्भिक्ष और व्याधियाँ भी भाग गई हैं। (आंखोंके) अन्धेरे संत्रस्त होकर बाहर निकल पड़े, (क्योंकि) वे बहुत ही डर गए हैं। सर्वत्र प्रसरणशील यह सोम हमारे शरीरमें पूर्ण रूपसे आरूढ हुआ है। हम अब ऐसी स्थितिपर पहुँच गये हैं जिसमें मनुष्य अपनी आयु वृद्धिंगत कर सकते हैं।

[**तमिषीचीः**-**तमिस्रा** का पर्यायवाची शब्द है, अर्थ है ' अंधेरी रात '। लक्षणाके सहारे अंधेरा मस्तिष्क या हृदय से संबद्ध होगा; जिससे अर्थ होगा ' हृदयका भ्रम ', ' अज्ञान ' आदि। दे. **मघोनो हृदो वरथस्तमांसि** ५·३१·९। **अभैषुः** के निघाताभावसे स्पष्ट है कि, कवि **तमिषीचीः** संज्ञाको **निरत्रसन्** तथा **अभैषुः** दोनों क्रियाओंके साथ अन्वित करना चाहता है। सायणाचार्य भी यही अन्वय करते हैं। **अगन्म**-दे. ऊपर ऋचा ३। **यत्र** का अर्थ है ' देवलोकमें '। संभव है कि ' सुखपूर्ण दिवस ' यह अर्थ भी कविके लिए अभिप्रेत हो। दे. १·११३·१६ के साथ साथ अथर्ववेद १४·२·३६।]

१२. हे पितरो; प्राशित हो जानेपर जो मरणधर्मरहित इन्दु हमारे हृदयोंमें अधिष्ठित हुआ है और हम मर्त्योंके शरीरोंमें प्रविष्ट हुआ है उस सोमकी हम हविर्भाग समर्पित करके सेवा करें तथा उसकी छत्रछायामें उसके प्रसादका अनुभव करते रहें।

[**पितरः**-यहाँ और बादकी ऋचामें पितरोंके स्मरणका कारण ऊपर ऋचा ३ की टिप्पणीमें स्पष्ट किया गया है। **हृत्सु पीतः**—' सीधे अन्तरङ्गमें पहुँचा हुआ '; दे. ' **हृत्सु पीतमुप ब्रुवे** ' (सोमम्) १·१७९·५ तथा **हृत्सु पीतासः** १·१६८·३; ८·२·१२। प्रस्तुत ऋचाके उत्तरार्धके साथ साथ बादकी प्रत्येक ऋचाका उत्तरार्ध अथवा अन्तिम चरण सूक्तके अन्तिम चरणकी तरह प्रतीत होता है; दे. १०·१६८·४; ५·५१·१०; २·१२·१५; ७·७२·५। आरोग्य, संपत्ति, दीर्घायुष्य एवं चहुंओरसे सुरक्षा मेंसे प्रायः हरेक माँगके लिए एक स्वतन्त्र ऋचाको प्रयुक्त करना कविका संकल्प रहा होगा।]

त्वं सोम पितृभिः संविदानोऽनु द्यावापृथिवी आ ततन्थ ।
तस्मै त इन्दो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ १३ ॥
त्वम् । सोम । पितृऽभिः । सम्ऽविदानः । अनु । द्यावापृथिवी इति । आ । ततन्थ ।
तस्मै । ते । इन्दो इति । हविषा । विधेम । वयम् । स्याम । पतयः । रयीणाम् ॥ १३ ॥
त्रातारो देवा अधि वोचता नो मा नो निद्रा ईशत मोत जल्पिः ।
वयं सोमस्य विश्वह प्रियासः सुवीरासो विदथमा वदेम ॥ १४ ॥
त्रातारः । देवाः । अधि । वोचत । नः । मा । नः । निऽद्रा । ईशत । मा । उत । जल्पिः ।
वयम् । सोमस्य । विश्वह । प्रियासः । सुऽवीरासः । विदथम् । आ । वदेम ॥ १४ ॥
त्वं नः सोम विश्वतो वयोधास्त्वं स्वर्विदा विशा नृचक्षाः ।
त्वं न इन्द ऊतिभिः सजोषाः पाहि पश्चातादुत वा पुरस्तात् ॥ १५ ॥
त्वम् । नः । सोम । विश्वतः । वयःऽधाः । त्वम् । स्वःऽवित् । आ । विश । नृऽचक्षाः ।
त्वम् । नः । इन्दो इति । ऊतिऽभिः । सऽजोषाः । पाहि । पश्चातात् । उत । वा । पुरस्तात् ॥ १५ ॥

---

१३. हे सोम, हमारे पितरोंसे सहमत होकर तुम इस पृथ्वी तथा स्वर्ग पर पूर्णतया अधिष्ठित हो गये हो । हे इन्दो, इस तरहके तुम्हें हम हविर्भाग समर्पित करें और तुम्हारी सेवा करें । हमें संपदाओंको स्वामी होने दो ।

१४. हमारी सुरक्षा करनेवाले हे देवो, तुम हमारा पक्ष लेकर बोलो । निद्रा अथवा प्रजल्पना का प्रभाव हमारे ऊपर मत होने दो । सोमके नित्य प्रिय होकर तथा वीर पुत्रोंसे परिवेष्टित हम पण्डित सभामें ऊँचे स्वरसे प्रवचन करें ।

[**अधिवोचत**-दे. ऊपर ८·३०·३ । **विदथमावदेम**-दे. ऊपर २·१२·१५ की टिप्पणी ।]

१५. हे सोम, तुम हमें सभी ओरसे सामर्थ्य देनेवाले हो । सूर्यप्रकाश प्राप्त करा देनेवाले तथा वीरकी दृष्टि रखनेवाले ऐसे तुम हमारे शरीरमें प्रवेश करो । हे इन्दो, तुम अपने अनुग्रहसहित पृष्ठसे तथा अग्रभागसे भी हमारी सुरक्षा करो ।

[**वयोधाः**-' सामर्थ्य प्रदान करनेवाला '; दे. ९·११०·११ के साथ साथ **यजमाने वयो धाः** ३·२९·८ तथा **वयो धात्** १०·६८·१२ ।]

७६

८·८३·१–९ कुसीदी काण्वः ॥ विश्वेदेवाः ॥ गायत्री ॥

देवानामिदवो महत्तदा वृणीमहे वयम् । वृष्णामस्मभ्यमूतये ॥ १ ॥

देवानाम् । इत् । अवः । महत् । तत् । आ । वृणीमहे । वयम् । वृष्णाम् । अस्मभ्यम् । ऊतये ॥१॥

ते नः सन्तु युजः सदा वरुणो मित्रो अर्यमा । वृधासश्च प्रचेतसः ॥ २ ॥

ते । नः । सन्तु । युजः । सदा । वरुणः । मित्रः । अर्यमा । वृधासः । च । प्रऽचेतसः ॥२॥

अति नो विष्पिता पुरु नौभिरपो न पर्षथ । यूयमृतस्य रथ्यः ॥ ३ ॥

अति । नः । विष्पिता । पुरु । नौभिः । अपः । न । पर्षथ । यूयम् । ऋतस्य । रथ्यः ॥३॥

वामं नो अस्त्वर्यमन् वामं वरुण शंस्यम् । वामं ह्यावृणीमहे ॥ ४ ॥

वामम् । नः । अस्तु । अर्यमन् । वामम् । वरुण । शंस्यम् । वामम् । हि । आऽवृणीमहे ॥४॥

वामस्य हि प्रचेतस ईशानासो रिशादसः । नेमादित्या अघस्य यत् ॥५॥

वामस्य । हि । प्रऽचेतसः । ईशानासः । रिशादसः । न । ईम् । आदित्याः । अघस्य । यत् ॥५॥

---

१. सामर्थ्यशाली देवोंकी उस महिमामयी सुरक्षाको हम अपने लिए चुन लेते हैं ताकि वे (देव) हमारा संरक्षण करें ।

२. वे प्रज्ञाशाली देवता–मित्र, वरुण एवं अर्यमा–सदैव हमारे सहचर हों और हमें आगे बढ़ाते रहें ।

३. नौकाओंसे (अथाह) जलकी तरह सावधानीसे हमें अनेक आपत्तियोंके पार पहुँचाओ । हे (यज्ञके) नेताओ, तुम (ही) हमारे यज्ञके (नेता) हो ।

विष्पिता—' आपत्तियाँ ', ' कठिनाइयाँ '; दे. ७·६०·७। इस शब्दकी व्युत्पत्तिमें संदेह है । **नौभिः**– केवल उपमान वाक्यसे संबद्ध है; उपमेय–वाक्यमें तत्स्थानीय कोई शब्द नहीं है। **ऋतस्य रथ्यः** की आवृत्तिके लिए दे. 'ऋग्वेद विवरणमें शब्द–संक्षेपकी कला' एनल्स ऑफ भांडारकर रिसर्च इन्स्टिटयूट १९६४।]

४. हे अर्यमन्, वह भाग्य, वह सराहनीय भाग्य हमें प्राप्त हो। हे वरुण, हम सचमुच भाग्यको पसन्द करते हैं ।

५. क्योंकि हे शत्रुओंको निगलनेवाले, प्रज्ञावान् (देवता), तुम भाग्यके ईश्वर हो। हे आदित्यो, जो कुछ दुष्टतासे संबद्ध हो वह हमारे निकट कभी न आ पाए।

[**ईम्**–यह **नः** के लिए प्रयुक्त है । तीसरे चरणके वाक्यकी पूर्तिके लिए **नशात्** का अध्याहार करें; दे. ८·४७·१ ।]

वयमिद्वः सुदानवः क्षियन्तो यान्तो अध्वन्ना । देवा वृधाय हूमहे ॥ ६ ॥

वयम् । इत् । वः । सुऽदानवः । क्षियन्तः । यान्तः । अध्वन् । आ । देवाः । वृधाय । हूमहे ॥६॥

अधि न इन्द्रैषां विष्णो सजात्यानाम् । इता मरुतो अश्विना ॥७ ॥

अधि । नः । इन्द्र । एषाम् । विष्णो इति । सऽजात्यानाम् । इत । मरुतः । अश्विना ॥ ७ ॥

प्र भ्रातृत्वं सुदानवोऽध द्विता समान्या । मातुर्गर्भे भरामहे ॥ ८ ॥

प्र । भ्रातृऽत्वम् । सुऽदानवः । अध । द्विता । समान्या । मातुः । गर्भे । भरामहे ॥ ८ ॥

यूयं हि ष्ठा सुदानव इन्द्रज्येष्ठा अभिद्यवः । अधा चिद्व उत ब्रुवे ॥ ९ ॥

यूयम् । हि । स्थ । सुऽदानवः । इन्द्रऽज्येष्ठाः । अभिऽद्यवः । अध । चित् । वः । उत । ब्रुवे ॥९॥

६. हे अतीव वदान्य देवो, हम चाहे अपने निवास-स्थानोंमें हों, चाहे रास्तोंपर प्रवास करते हों, अपनी संमृद्धिके लिए निश्चय ही तुम्हारा आवाहन करते हैं।

[**वृधाय-वृध्** क्रियासे बनाई गई संज्ञा है जिसका अर्थ है-' उन्नति,' ' उत्कर्ष ', या ' प्रवर्धन ' ।]

७. हे इन्द्र, विष्णु, मरुतो एवं अश्विनो, तुम्हारे साथ (हमारी) इन बन्धुताओंकी ओर ध्यान दो।

[**एषां सजात्यानाम्**-देवोंके साथ ऋग्वेदके कवि कई प्रकारोंकी बन्धुताओंका दावा करते हुए पाए जाते हैं जैसे **आप्यम्, बन्धु, सजात्यम्** आदि; दे. ३·५४·१६; ८·१८·१९; ८·२०·२२; ८·२७·१०; ८·७३·२; १०·६४·१३ ।]

८. हे अत्यन्त उदार देवो, समान रूपसे (अदिति) माताकी कोखमेंसे ही हम सचमुच (तुम्हारे साथ) अपना (यह) बन्धुत्व प्रकट कर रहे हैं।

[**समान्या** याने **दिशा**; दे. १·१२२·४ । **मातुः गर्भे**-कविका अभिप्राय शायद उस अदितिसे है जो सभी देवों एवं देवतुल्य ऋषियों की माता है ।]

९. क्योंकि हे इन्द्रप्रधान एवं अत्यन्त दानशील देवो, तुम सचमुच स्वर्गसे संबद्ध तथा वदान्य हो और अब भी मैं तुम्हारा आवाहन कर रहा हूँ ।

[**सुदानवः**-संबोधनके साथ साथ प्रथमा (कर्ता-कारक) बहुवचन भी कविका अभिप्रेत है । (दे. 'ऋग्वेद-विवरणमें शब्द-संक्षेपकी कला')। **अभिद्यु (अभि + द्यु)**-'स्वर्गसे संबद्ध' याने 'स्वर्गके रहनेवाले'।]

७७

८·९१·१–७ अपाला आत्रेयी ॥ इन्द्रः ॥ १–२ पङ्क्तिः ॥ ३–७ अनुष्टुप् ॥

प्रस्तुत सूक्तके दर्शन करनेवाली अपाला एक भाग्यहीन कन्या है जो त्वचाके रोगसे पीड़ित रही थी। सायणाचार्यद्वारा प्रदत्त इतिहासके अनुसार वह पतिद्वारा परित्यक्त महिला थी और अपने पिताके पास ही रहती थी; तथापि दे. ऋचा ४ में 'पतिद्विषः' की टिप्पणी। व्याधिके कारण उसके पिताके सिरपर एक भी बाल बचा नहीं था और बेचारेके पास जो अनुपजाऊ ज़मीन थी उससे अनाज आदि पाना असंभव था। उसकी वह कन्या अपाला इन्द्रमें बड़ी श्रद्धा रखती थी। उसने सुना था कि इन्द्र सोमरसके बड़े शौकीन हैं और सोमरस प्रदान करनेवाले याजकोंपर अनुग्रह करनेके लिए एक युवा पुरुषका रूप धारण करके उनके घर बिना बुलाए भी पहुँचते हैं। एक दिन पानी लानेके लिए नदीकी ओर बढ़ते हुए इस कन्याको संयोगसे सोमवल्लीका एक टुकड़ा मिला; उसे वह तुरन्त घर लाई। इन्द्रको अर्पण करनेके लिए उसने उसे निचोड़ लिया (ऋचा १)। यज्ञके योग्य साधन उस अकिञ्चन कन्याके पास भला कहाँसे आते? इसलिए उसने अपनी दाढ़ोंसे ही उसका रस निकाला और धाना, करम्भ, अपूप आदिको तैयार रखकर एक छोटेसे स्तोत्रकी रचना करके उस रसका पान करनेके लिए इन्द्रका आवाहन किया (ऋचा २)। वह स्तोत्र सुनकर इन्द्र एक युवक वीरके रूपमें आ भी पहुँचे; लेकिन अपाला उन्हें पहचान न पाई और 'क्या ये सचमुच इन्द्र है? क्या मेरे लिए ये वरद सिद्ध होंगे? इसी पसोपेशमें पड़ी रही (ऋचा ३–४)। अन्तमें वह इन्द्रको पहचाननेमें समर्थ हुई और उसने उनसे वर माँगा कि उसके पिताके गंजे सिरके साथ साथ त्वचाके रोगके कारण लोमहीन बने हुए उसके अपने गोपनीय अवयवपर भी बाल पैदा हों और उनकी अनुर्वरा भूमि भी उर्वरा बने (ऋचा ५–६)। इसके बाद इन्द्रने उस लड़कीको क्रमशः छोटे छोटे छिद्रोंसे तीन बार खींच निकाला और त्वचाके रोगसे मुक्त करके उसे सूर्यकी तरह दीप्तिमती त्वचा प्रदान की। अर्थात् शेष दो वर भी इन्द्रने दे डाले (ऋचा ७)।

कन्या॒ वा॒र॑वाय॒ती सोम॒मपि॑ स्रु॒ताऽवि॑दत्।
अस्तं॒ भर॑न्त्यब्रवी॒दिन्द्रा॑य सुनवै त्वा श॒क्राय॑ सुनवै त्वा ॥ १ ॥

क॒न्या॑। वाः। अ॒व॒ऽय॒ती। सोम॑म्। अपि॑। स्रु॒ता। अ॒वि॒द॒त्।
अस्त॑म्। भर॑न्ती। अ॒ब्र॒वी॒त्। इन्द्रा॑य। सु॒न॒वै॒। त्वा॒। श॒क्राय॑। सु॒न॒वै॒। त्वा॒ ॥ १ ॥

१. पानीकी ओर (पानी लाने) निम्न भागमें जाती हुई किसी कन्याको मार्गमें ही सोमवल्लीका टुकड़ा मिल गया। उसे घर ले जाकर वह उससे कहने लगी; मैं तुझे इन्द्रके लिए पीसूँगी, मैं तुझे बलशाली वीरके लिए पीसूँगी।

[**वार्**–'पानी'; **अव यती**–'नीचे जानेवाली' (अव + √इ)। पनघट उतारपर था; इसलिए– **अव** यह उपसर्ग प्रयुक्त किया गया है। **स्रुति** (√स्रु–बहना)–मार्ग; दे. **पूर्वीर्हि ते स्रुतयः सन्ति यातवे** ९·७८·२। **कन्या**–दे. ऋचा ४ की टिप्पणी।]

असौ य एषि वीरको गृहंगृहं विचाकशत्।
इमं जम्भसुतं पिब धानावन्तं करम्भिणमपूपवन्तमुक्थिनम् ॥ २ ॥

असौ। यः। एषि। वीरकः। गृहम्ऽगृहम्। विऽचाकशत्।
इमम्। जम्भऽसुतम्। पिब। धानाऽवन्तम्। करम्भिणम्। अपूपऽवन्तम्। उक्थिनम्॥ २ ॥

आ चन त्वा चिकित्सामोऽधि चन त्वा नेमसि।
शनैरिव शनकैरिवेन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ ३ ॥

आ। चन। त्वा। चिकित्सामः। अधि। चन। त्वा। न। इमसि।
शनैःऽइव। शनकैःऽइव। इन्द्राय। इन्दो इति। परि। स्रव॥ ३ ॥

२. हे इन्द्र, जो तुम सुन्दर तरुण वीर होकर अपने अनुभावसे चमकते हुए घर-घर भ्रमण करते रहते हो, वह तुम मेरी दाढ़ोंसे पीसे हुए लाजा, सत्तूका आटा तथा पुरोडाश मिलाकर तैयार किए गए तथा स्तोत्रोंसे युक्त इस सोमरसका पान करो।

[**वीरकः**–' सुन्दर दिखाई देनेवाला युवा वीर '। **विचाकशत्**– ' शोभायमान होते हुए '; दे. **विचाकशत् चन्द्रमा नक्तमेति** १·२४·१०। **जम्भ**–' बड़ा दांत '। यही शब्द १·३७·५ में भी आया है जिससे मालूम होता है कि 'जम्भ' लकड़ीसे बनाई गई बट्टे जैसी चीज़ होगी जो ऊपर तथा नीचे भी खुरदुरी हो। **धानावन्तम्**–आदिके दे. ३·५२·१;७। इस तरह इन्द्रके अनुयायी मरुद्गणोंके लिए अपूप, पूषाके लिए करम्भ, इन्द्रके घोड़ोंके लिए धाना याने लाजाएं और सभी को मिलकर सोम एवं पुरोडाश अर्पण करनेका प्रबन्ध रहा होगा। प्रस्तुत ऋचामें अपाला इन्द्रको अपने घर पधारकर सोमका स्वीकार करनेकी प्रार्थना कर रही है। पूर्वार्धमें उन दिनों लोगोंमें प्रचलित उस श्रद्धाका उल्लेख दिखाई देता है जिसके बलपर माना जाता था कि इन्द्र एक युवक वीरके रूपमें घर–घर घूमता रहता है। आजकल याने बीसवीं सदीमें भी कई लोगोंकी श्रद्धा है कि माध्याह्नके समय भगवान् श्री दत्त भिक्षुके रूपमें कहीं कहीं अवतीर्ण होते हैं।]

३. (इस प्रार्थनाके अनन्तर इन्द्र एक युवाके रूपमें प्रत्यक्ष प्रकट हो गया, उसीको लक्ष्य करके अपाला कहती है) हम सचमुच तुम्हें पहचाननेका प्रयत्न कर रही हैं। तथापि हम तुम्हें (इन्द्रके रूपमें) सचमुच पहचान नहीं सकतीं। (पुनः वह सोमको लक्ष्य करके कहती है) हे इन्दो, धीरे-धीरे, क्रमसे तुम इन्द्रके लिये बहने लगो।

[ऋचाका पूर्वार्ध वास्तवमें सीधे उस इन्द्रसे कहा गया है जो युवा वीरके रूपमें आ पहुँचा है। **चन**–अव्यय अवधारणके लिए प्रयुक्त है। **अधि** + √**इ**–' जानना ', ' पहचानना ' = अधि√गम्। ऋचाका उत्तरार्ध तैयार किए जानेवाले सोमरससे कहा गया है। चौथा पाद वास्तवमें नवमें मण्डलके अन्तिम तीनों सूक्तों (११२–११४) की टेक है।]

कुविच्छकत् कुवित् करत् कुविन्नो वस्यसस्करत् ।
कुवित् पतिद्विषो यतीरिन्द्रेण संगमामहै ॥ ४ ॥

कुवित् । शकत् । कुवित् । करत् । कुवित् । नः । वस्यसः । करत् ।
कुवित् । पतिऽद्विषः । यतीः । इन्द्रेण । सम्ऽगमामहै ॥ ४ ॥

इमानि त्रीणि विष्टपा तानीन्द्र वि रोहय ।
शिरस्ततस्योर्वरामादिदं म उपोदरे ॥ ५ ॥

इमानि । त्रीणि । विष्टपा । तानि । इन्द्र । वि । रोहय ।
शिरः । ततस्य । उर्वराम् । आत् । इदम् । मे । उप । उदरे ॥ ५ ॥

४. क्या यह (युवा वीर) हमारी सहायता कर सकेगा? क्या (हमारी इष्ट बातें) वह करेगा और तथा पतिका द्वेष करनेवाली, (अतएव कुमारी होकर) भ्रमण करनेवाली मैं क्या इन्द्रसे संबन्ध स्थापित करूँगी ?

[अपाला मन-ही-मन विचार कर रही है — क्या यह युवक सचमुच इन्द्र है ? क्या यह मेरी सहायता करेगा ? **नः**-अपाला अपने लिए बहुवचन प्रयुक्त कर रही है; या तो वह अपने पिताका भी अन्तर्भाव कर रही होगी अथवा सोमरसके स्वामित्वसे उत्पन्न संमानकी भावनाको अभिव्यक्त कर रही होगी । **पतिद्विषः यतीः**- 'पतिका याने पतिके रूपमें पुरुषका द्वेष करनेवाली; मतलब, वह कुमारी जो अपनी कमीके कारण किसी भी पुरुषकी ओर पतिके रूपमें देखनेमें असमर्थ रही हो । व्यक्तिगत त्रुटि या दोष के कारण प्रयत्नोंके बावजूद जो वस्तु अप्राप्य रहेगी; इतना ही नहीं, जिसकी प्राप्तिके प्रयत्न भी उपहासके पात्र होनेकी आशङ्का रहती है उस वस्तुके प्रति मानवके मनमें इसी तरहके द्वेष अथवा तिरस्कार की भावना प्रायः घर किए हुए प्रतीत होती है । 'पतिद्विषः' के अर्थको स्पष्ट करते हुए सायणाचार्यने लिखा है, "पतिभिः बहुवारं द्विष्टा अत एव 'यतीः' पतिभ्यः सकाशादितो गच्छन्त्यः वयं कैश्चिदपि अनूह्यमानाः सत्यः" (सर्वत्र पूजार्थे बहुवचनम्)। यह स्पष्ट है कि उक्त अर्थ उनके द्वारा उद्धृत इतिहासके 'भर्त्रा परित्यक्ता' के अनुसार ही है । लेकिन यहाँ **पतिंवरा** (रघु० ६·१०) शब्दकी ही तरह 'पति' शब्दको भावी पतित्वका परिचायक मानना अधिक समीचीन होगा । सायणाचार्यका अर्थ (गेल्डनरने उन्हींका अनुकरण किया है) पहली ऋचाके 'कन्या' शब्दसे मेल नहीं खाता । साथ साथ सायणाचार्यके 'कैश्चिदपि अनूह्यमानाः सत्यः' इन शब्दोंका अर्थ भी भली भाँति स्पष्ट नहीं होता । 'पतिद्वारा परित्यक्त महिलाका विवाह नहीं हो रहा था' यह कहना वदतो व्याघात जैसा मालूम होता है । अतः सायणभाष्यके **पतिभिः भर्तृभिः** को मेरी रायमें 'मँगेतर पति' के अर्थमें ही मान लेना युक्तियुक्त होगा । मँगनीके बाद मँगेतरको कन्याके दोषका पता चला और उसने सगाईको रद कर दिया । बादमें इस कन्याके त्वचा-रोगकी बात फैल पड़ी जिससे उसके साथ शादी करनेके लिए कोई भी तैयार नहीं हुआ । यही सायण-भाष्यका अभिप्राय मान लें । जिन सामासिक शब्दोंके अन्तमें **द्विष्** शब्द हो, उनपर सरसरी निगाह डालनेसे (दे. **अनृतद्विषः, ब्रह्मद्विषः, ऋषिद्विषः** आदि और इसके विपरीत **इन्द्रद्विष्टां** त्वचमसिक्नीम् ९·७३·५), स्पष्ट होगा कि **द्विष्** को 'द्विष्ट' के बदले 'द्वेष करनेवाले' के अर्थमें मान लेना ही समीचीन है । **संगमामहै**—दे. **समु पूष्णा गमेमहि** ६·५४·२; **सं गच्छस्व पितृभिः** १०·१४·८ तथा **सं गच्छध्वम् सं वदध्वम्** १०·१९१·२ ।]

५. (फिर उससे वह कहती है) यह मेरे पिता का सिर, यह क्षारयुक्त भूमि, यह मेरा

असौ च या न उर्वरादिमां तन्वं मम।
अथो ततस्य यच्छिरः सर्वा ता रोमशा कृधि ॥ ६ ॥
असौ। च। या। नः। उर्वरा। आत्। इमाम्। तन्वम्। मम।
अथो इति। ततस्य। यत्। शिरः। सर्वा। ता। रोमशा। कृधि ॥ ६ ॥
खे रथस्य खेऽनसः खे युगस्य शतक्रतो।
अपालामिन्द्र त्रिष्पूत्व्यकृणोः सूर्यत्वचम् ॥ ७ ॥
खे। रथस्य। खे। अनसः। खे। युगस्य। शतक्रतो इति शतऽक्रतो।
अपालाम्। इन्द्र। त्रिः। पूत्वी। अकृणोः। सूर्यऽत्वचम् ॥ ७ ॥

उदरके समीपका स्थान (जघन)। इन तीन प्रदेशोंको (देखो), इनपर यथायोग्य और आवश्यक वस्तुएं बढ़े ऐसा करो !

[**विष्टप**–' स्थान '। **विरोहय**–' बढ़ने दे.' ' बढ़नेपर बाध्य करे '; दे. **सहस्रवल्शा वि वयं रुहेम** ३.८.११। **उर्वरा**–' अनाजका खेत '।]

६. यही वह हमारी क्षारयुक्त भूमि, और शीघ्र ही इस मेरे शरीरकी ओर ध्यान दो। अनन्तर जो मेरे पिताका (साफ़ केशविरहित सिर) है वही यह सिर। इन सभी स्थानोंमें बालोंकी वृद्धि होने दो।

[दूसरे पादमें तनू शब्दमें कर्ताकारक अपेक्षित है; फिर भी पहले पादके **या** के साथ साथ तीसरे पादके **यत्** को भी **सर्वा ता** से अन्वित करके उनका तथा दूसरे पादके **तन्वं मम** का संबन्ध सीधे **रोमशा कृधि** के साथ जोड़ लें। अथवा दूसरे पादमें **पश्य** का अध्याहार करें; दे. आगे चलकर ८.१००.४।]

७. हे इन्द्र, रथ (चक्र) के छिद्रमें, अनन्तर गाडीके (चक्रके) छिद्रमें, तदनन्तर धुराके छिद्रमें (क्रमसे) अपालाको डालकर तीन बार उसे शुद्ध करके तुमने उसे सूर्यकी तरह तेजस्वी त्वचासे युक्त स्त्री बनाया।

[क्रमशः छोटे होनेवाले तीन छिद्रोंसे इन्द्रने अपालाको खींच निकालकर विशुद्ध किया और उसकी त्वचाको सूर्यकी तरह दीप्तिमान् कर डाला। त्वचाके रोगके निवारणसे अर्थात् वहाँ बाल भी बढ़ने लगे।]

७८

८·१००·१–१२; १–३, ६–१२ नेमो भार्गवः। ४–५ इन्द्रः। ८ सुपर्णः।
९ वज्रः। १०–११ वाक्॥ १–५; १०–१२ त्रिष्टुप्। ६ जगती। ७–९ अनुष्टुप्॥

यह एक संवादसूक्त है और इसकी रचना ऊपरके ४–१८ की ही तरह की गई है। इसमें प्रधान वस्तुका उल्लेख ऋचा १२ में मिलता है। वृत्रके हननमें इन्द्रने विष्णुकी सहायता प्राप्त करना आवश्यक समझा और उसके साथ इस बारेमें आदान–प्रदानकी शर्त तय की (ऋचा १ तथा २)। इसके अनुसार इन्द्रने सोमपानमें विष्णुको समान हिस्सा देना निर्धारित किया। लेकिन विष्णुके साथ साथ कविके स्तोमकी सहायता भी इन्द्रके लिए आवश्यक थी। सोमकी तरह स्तोम भी इन्द्रकी सामर्थ्यको बढ़ानेमें सहायक है, यह ऋग्वेदमें कई बार प्रतिपादित हुआ है (दे. २·१२·१४; ६·२३·५ आदि)। अतः उपर्युक्त वार्तालापको सुननेवाला कवि इन्द्रको अर्पण करनेके लिए स्तोम तैयार रखनेकी सूचना अपने अनुयायियोंको देता है लेकिन प्रत्यक्ष रूपमें इन्द्रको बिना देखे स्तोम किसे अर्पित करे यही सन्देह अपने अनुयायियोंके मनमें है इसे इन्द्रके सामने स्पष्ट करता है (ऋचा ३)। यह सुनकर इन्द्र स्वयं कवि तथा उसके अनुयायियोंके सामने उपस्थित होकर अपने पराक्रमका वर्णन करता है (ऋचा ४) और कवियोंका स्तोम–जो उसके लिए बड़ा ही प्यारा है- सोमपान करते समय उसके साथ किस तरह बड़े लाड़–प्यारसे पेश आता है यह भी बतलाया है (ऋचा ५)। इससे संतुष्ट होकर इन्द्र अपने याजककी संपूर्ण सहायता करता है इसे शरभके उदाहरण द्वारा कवि प्रतिपादित करता है (ऋचा ६) और ऋचा ७ से ९ तक प्रत्यक्ष रूपमें स्तोमका आविष्कार करता है। यह स्तोम गायत्री छन्दमें लिखित वह तृच है जिसमें निर्धारित एवं अपेक्षित बातोंकी तरह पहले ही उन नदियोंको धाराओंका वर्णन किया गया है जिन्हें वृत्रवधके उपरान्त इन्द्रने अपने वज्रकी सहायतासे मुक्त किया था। इन्द्रको अर्पित यह स्तोम वास्तवमें दैवी वाणीका ही वह अवतार है जो मानवोंके बीच प्रकट हुआ हो और कामधेनुकी तरह यही मानवोंके लिए फलदायी होता है यह बात भी जाते जाते कवि कह देता है (ऋचा १०–११)। इस प्रकार विष्णुकी सहायताके साथ साथ कविके स्तोमका भी पूरा प्रबन्ध होते ही स्वाभाविक रूपसे इन्द्र विष्णुकी ओर मुड़कर नदियोंके मार्गोंको मुक्त करने एवं वृत्रका वध करनेमें उसकी सहायताकी प्रार्थना करता है और यहीं प्रस्तुत संवाद–सूक्तका विराम होता है।

अयं त एमि तन्वा पुरस्ताद्विश्वे देवा अभि मा यन्ति पश्चात्।
यदा मह्यं दीधरो भागमिन्द्रादिन्मया कृणवो वीर्याणि॥ १॥

अयम्। ते। एमि। तन्वा। पुरस्तात्। विश्वे। देवाः। अभि। मा। यन्ति। पश्चात्।
यदा। मह्यम्। दीधरः। भागम्। इन्द्र। आत्। इत्। मया। कृणवः। वीर्याणि॥ १॥

---

१. विष्णुः—(देखो), मैं स्वयं ही तुम्हारे आगे चलने लगता हूँ; अन्य सभी देव मेरे पीछे आ रहे हैं। जिस समय तुम मेरे यज्ञिय हविका भाग मान लोगे उसी क्षण, हे इन्द्र, तुम मेरी सहायतासे वीरकर्म कर सकोगे।

दधा॑मि ते॒ मधु॑नो भ॒क्षमग्रे॑ हि॒तस्ते॑ भा॒गः सु॒तो अ॑स्तु॒ सोमः॑ ।
अस॑श्च॒ त्वं द॑क्षिण॒तः सखा॒ मेऽधा॑ वृ॒त्राणि॑ जङ्घनाव॒ भूरि॑ ॥ २ ॥

दधा॑मि । ते॒ । मधु॑नः । भ॒क्षम् । अग्रे॑ । हि॒तः । ते॒ । भा॒गः । सु॒तः । अ॒स्तु॒ । सोमः॑ ।
अस॑ः । च॒ । त्वम् । द॒क्षि॒ण॒तः । सखा॑ । मे॒ । अध॑ । वृ॒त्राणि॑ । ज॒ङ्घ॒ना॒व॒ । भूरि॑ ॥ २ ॥

प्र सु स्तोमं॑ भरत वाज॒यन्त॒ इन्द्रा॑य स॒त्यं यदि॑ स॒त्यमस्ति॑ ।
नेन्द्रो॑ अ॒स्तीति॒ नेम॑ उ त्व आह॒ क ईं॑ ददर्श॒ कम॒भि ष्टवाम ॥ ३ ॥

प्र । सु । स्तोम॑म् । भ॒र॒त॒ । वा॒ज॒ऽयन्तः॑ । इन्द्रा॑य । स॒त्यम् । यदि॑ । स॒त्यम् । अस्ति॑ ।
न । इन्द्रः॑ । अ॒स्ति॒ । इति॑ । नेमः॑ । ऊँ इति॑ । त्वः॒ । आ॒ह॒ ।
कः । ईम् । द॒दर्श॒ । कम् । अ॒भि । स्त॒वा॒म॒ ॥ ३ ॥

[प्रस्तुत ऋचाका वक्ता विष्णु ही है; वायु अग्नि अथवा अन्य कोई देवता नहीं यह अन्तिम ऋचाके साथ साथ ४·१८·११ एवं अन्य कई स्थानोंके आधारपर स्पष्ट होगा । बड़े आत्मविश्वासके साथ विष्णु इन्द्रसे कहता है– " अन्य देवता भले ही पीछे हट गए हों (४·१८·११) फिर भी नेतृताका उत्तरदायित्व जब मैं स्वीकार करता हूँ तब सभी मेरे अनुगामी जरूर बनेंगे; इसीलिए मेरे साथ ही आदान-प्रदानकी शर्तें तय करो "। वेदोंके परवर्ती कालमें विष्णुने सभी देवोंका नेतृत्व किया है इसे तो सभी जानते हैं; ऋग्वेदके प्रस्तुत सूक्तमें शायद इसीका श्रीगणेश हुआ है ।]

२. इन्द्रः—(हे विष्णो), मैं सर्वप्रथम ही इस मधुर रसका प्राशन (तुम्हारे भागके रूपमें) तुम्हारे सामने रख देता हूँ । निचोड़कर निकाले हुए सोमरसको तुम्हारे भागके रूपमें अलग ही रखा रहने दो । और जब मेरे सखा होकर तुम मेरे दक्षिण पार्श्वमें खड़े होंगे तब क्षणार्धमें ही हम दोनों मिलकर अनेकानेक शत्रुओंका विध्वंस करेंगे ।

[अग्रे—' सब देवोंके पहले अर्थात् अपने साथ ' । अग्रे में अग्रम् (**मधुनो अग्रम्**) का भी अन्तर्भाव मान लें । मतलब, सोमका श्रेष्ठ सर्वोपरि अंश और वह भी अन्य सभी देवोंके **पहले** । गेल्डनरने ठीक ही बतलाया कि इन्द्र तथा विष्णु को ६·६९·६ में **अग्र-अह्ना** कहा गया है । साथ साथ १०·८३·७ में भी **मध्वो अग्रं ते जुहोमि** यह प्रतिपादन किया गया है । माना कि वहाँ विष्णुके स्थानपर श्रोताके रूपमें मन्युकी कल्पना है; लेकिन अन्य सभी आदेश प्रस्तुत ऋचासे ही समानता रखते हैं । **दक्षिणतः सखा मे**– ' मेरी दाहिनी ओर ' याने मेरे दाहिने हाथ याने महत्त्वपूर्ण सहयोगीके रूपमें । दाहिनी ओरका स्थान संमानपूर्ण एवं बायीं ओरका संमानहीन माना जाता है; दे. **नि सव्यतः सादि दस्युरिन्द्र** २·११·१८ ।]

३. हे ऋषियो, यदि सचमुच यह इन्द्र हो, तो वाजकी अभिलाषा करके उसे अच्छी प्रकारसे अपना स्तोम समर्पित करो । कुछ लोग ' इन्द्र है ही नहीं,' ऐसी बात करते हैं (और यह भी पूछते) ' किसने इसे देखा है ! ' (प्रत्यक्ष देखे विना) ' हम किसकी स्तुति करें ' ?

[कवि यह मानकर चलता है कि इन्द्र उसकी ओर मुड़कर उसे स्तोमके विषयमें निश्चय ही पूछेगा । अतः पहले ही इन्द्रके सामने अपने अनुयायियोंके संदेहको स्पष्ट करके वह उसे अपने संमुख प्रत्यक्ष रूपमें प्रकट होनेकी सूचना बड़े कौशलसे कर रहा है । पहले **सत्यं** शब्द को **स्तोमं** का विशेषण मानकर दूसरेको **अस्ति**

अयमस्मि जरितः पश्य मेह विश्वा जातान्यभ्यस्मि मह्ना ।
ऋतस्य मा प्रदिशो वर्धयन्त्यादर्दिरो भुवना दर्दरीमि ॥ ४ ॥

अयम् । अस्मि । जरितरिति । पश्य । मा । इह । विश्वा । जातानि । अभि । अस्मि । मह्ना ।
ऋतस्य । मा । प्रऽदिशः । वर्धयन्ति । आऽदर्दिरः । भुवना । दर्दरीमि ॥ ४ ॥

आ यन्मा वेना अरुहन्नृतस्यँ एकमासीनं हर्यतस्य पृष्ठे ।
मनश्चिन्मे हृद आ प्रत्यवोचदचिक्रदञ्छिशुमन्तः सखायः ॥ ५ ॥

आ । यत् । मा । वेनाः । अरुहन् । ऋतस्य । एकम् । आसीनम् । हर्यतस्य । पृष्ठे ।
मनः । चित् । मे । हृदे । आ । प्रति । अवोचत् । अचिक्रदन् । शिशुऽमन्तः । सखायः ॥ ५ ॥

क्रियासे समन्वित करना । इन्द्रके अस्तित्वके विषयमें इसी तरहके सन्देहके लिए दे. ऊपर २·१२·५ तथा ५·३०·२,३ ।]

४. इन्द्रः—हे स्तोता, मैं तो यहीं खड़ा हूँ । मेरी ओर ध्यानसे निहारो । अपनी महानतासे सभी प्राणिमात्रोंपर मैंने अधिकार जमा लिया है । ऋतके पथप्रदर्शक मेरी ही महानताके गीत गाते रहते हैं । (शत्रुओंके भंडागार) तोड़नेवाला मैं (विरुद्ध जाने वाले) प्राणियोंको अनेक बार कुचल डालता हूँ ।

[**ऋतस्य प्रदिशः**—ऋत याने ऋतका प्रधान प्रतीक यज्ञ; उसका मार्गदर्शन करनेवाले (याने सोम तथा स्तोम) दोनों मेरी महिमाको बढ़ाते रहते है । मतलब, इसीलिए यज्ञमें सोम तथा स्तोम दोनोंको मैं बहुत चाहता हूँ; दोनोंकी मुझे आवश्यकता भी है ।]

५. जिस समय अपने विलोभनीय (सोम) की पीठपर अकेले ही बैठे हुए मेरे शरीरपर ये यज्ञको प्रिय माननेवाले (ऋषियोंके स्तोम) चढ़कर बैठ गये, उस समय मेरे मनने मेरे हृदयको प्रत्युत्तर दिया कि ये अपने बालबच्चोंके साथ आक्रन्दन करके तुम्हारा आवाहन करते हैं ।

[**वेनाः**– ऊपरकी चौथी ऋचाके **ऋतस्य प्रदिशः** के ही एक अंशको, यज्ञसे संबद्ध स्तोमोंको ही यहाँ ' लाड़ले एवं प्यार करनेवाले सहचर ' कहा गया है । चौथे पादके **शिशु** भी ये स्तोम ही हैं । अतः **शिशुमन्तः सखायः** का अर्थ होगा इन स्तोमोंके जन्मदाता सखा याने कवि । यहाँ अभिप्राय है:– सोमपानमें आसक्त इन्द्रके पास इन्होंने अपने **शिशु** भेजे और वे भी इन्द्रके साथ उसी लाड़–प्यारसे पेश आने लगे जैसे पोते अपने दादाके साथ । ऋ. ६·३४·३ में भी इसी तरहकी कल्पना की गई है (दे. **न यं हिंसन्ति धीतयो न वाणीरिन्द्रं नक्षन्तीदभि वर्धयन्तीः । यदि स्तोतारः शतं यत् सहस्रं गृणन्ति गिर्वणसं शं तदस्मै** ॥)। **एकमासीनम्**–दे. **अथाभवत् केवलः सोमो अस्य** ७·९८·५ । **हर्यत** याने प्रिय सोम; दे. ३·४४·१; ९·४३·३ आदि । **शिशुमन्तः सखायः** के **शिशु** का अर्थ है कविकी सन्तान; ऋग्वेदीय कवि अपनी कविताओंको कई बार अपनी पुत्रियाँ मानते हुए पाए जाते हैं; दे. ३·३९·१–२; ८·२·१९,२० आदि । **मनश्चित् हृदे प्रत्यवोचत्**–' हृदयने पूछा और मनने उत्तर दिया'। हृदयको भाई हुई वस्तुओंकी भलाई अथवा बुराई का निर्णय उन्हें मन या बुद्धि की कसौटीपर रखकर ही किया जाना चाहिए ।]

विश्वेत्ता ते सवनेषु प्रवाच्या या चकर्थ मघवन्निन्द्र सुन्वते।
पारावतं यत् पुरुसंभृतं वस्वपावृणोः शरभाय ऋषिबन्धवे ॥ ६ ॥

विश्वा। इत्। ता। ते। सवनेषु। प्रऽवाच्या। या। चकर्थ। मघऽवन्। इन्द्र। सुन्वते।
पारावतम्। यत्। पुरुऽसंभृतम्। वसु। अपऽअवृणोः। शरभाय। ऋषिऽबन्धवे ॥ ६ ॥

प्र नूनं धावता पृथङ्नेह यो वो अवावरीत्।
नि षीं वृत्रस्य मर्मणि वज्रमिन्द्रो अपीपतत् ॥ ७ ॥

प्र। नूनम्। धावत। पृथक्। न। इह। यः। वः। अवावरीत्।
नि। सीम्। वृत्रस्य। मर्मणि। वज्रम्। इन्द्रः। अपीपतत् ॥ ७ ॥

मनोजवा अयमान आयसीमतरत् पुरम्।
दिवं सुपर्णो गत्वाय सोमं वज्रिण आभरत् ॥ ८ ॥

मनःऽजवाः। अयमानः। आयसीम्। अतरत्। पुरम्।
दिवम्। सुऽपर्णः। गत्वाय। सोमम्। वज्रिणे। आ। अभरत् ॥ ८ ॥

---

६. हे उदार इन्द्र, तुम्हारे लिए सोम पीसनेवाले यजमानके लिए जो (अनेक वीरकर्म) तुमने किये हैं वे सभी यज्ञिय सवनोंके समय ऊँचे स्वरसे प्रशंसा करने योग्य हैं। कारण, अनेक ऋषियोंको बन्धुतुल्य माननेवाले शरभ (नामक राजा) को, बहुत दूरके प्रदेशोंमें तथा अनेक लोगोंके द्वारा सुसंचित धन तुमने खोलकर लूटने दिया।

[**विश्वा ता** याने वीर्याणि; दे. ३·३३·७ तथा १·५१·८,१३। **पारावतम्**–(**परावतः** इदम्)– 'सुदूर देशोंमें विद्यमान'। **शरभ**–कोई दानी यजमान प्रतीत होता है।]

७. (हे नदियो,) जिसने तुम्हें रोक रखा था वह (वृत्र) आज यहाँ नहीं है, इस लिए अपने अपने भिन्न मार्गोंसे अब तुम वेगसे बहने लगो। इन्द्रने अपना वह वज्र इस वृत्रके मर्मस्थानपर फेंक दिया है।

[यह उन नदियोंसे कहा गया है जो मुक्त की गई थी।]

८. मनके वेगसे दौड़नेवाला सुपर्ण लोहमय प्राकारके उस पार उड़ान लेकर और स्वर्गलोकमें पहुँचकर वज्रधारी इन्द्रके लिये सोमको ले आया।

[यह उस श्येनका वर्णन है जो स्वर्गलोकमें संपूर्ण नियन्त्रणमें एवं कृशानु नामके योद्धाकी निगरानीमें रखे हुए सोमका अपहरण करके इन्द्रके लिए उसे भूतलपर ले आया था। इसका इससे भी अधिक विस्तृत वर्णन, ४·२६ तथा ४·२७ इन सूक्तोंमें पाया जाता है। **आयसीं पुरम्**–दे. **शतं मा पुर आयसीररक्षन्**– ४·२७·१। **वज्रिणे आभरत्**–दे. ४·१८·१३; ४·२७·५।]

समुद्रे अन्तः शयत उद्ना वज्रो अभीवृतः।
भरन्त्यस्मै संयतः पुरःप्रस्रवणा बलिम् ॥ ९ ॥

समुद्रे। अन्तरिति। शयते। उद्ना। वज्रः। अभिऽवृतः।
भरन्ति। अस्मै। सम्ऽयतः। पुरःऽप्रस्रवणाः। बलिम् ॥ ९ ॥

यद्वाग्वदन्त्यविचेतनानि राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा।
चतस्र ऊर्जं दुदुहे पयांसि क्व स्विदस्याः परमं जगाम ॥ १० ॥

यत्। वाक्। वदन्ती। अविऽचेतनानि। राष्ट्री। देवानाम्। निऽससाद। मन्द्रा।
चतस्रः। उर्जम्। दुदुहे। पयांसि। क्व। स्वित्। अस्याः। परमम्। जगाम ॥ १० ॥

देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु ॥ ११ ॥

देवीम्। वाचम्। अजनयन्त। देवाः। ताम्। विश्वऽरूपाः। पशवः। वदन्ति।
सा। नः। मन्द्रा। इषम्। ऊर्जम्। दुहाना। धेनुः। वाक्। अस्मान्। उप। सुऽस्तुता। आ। एतु ॥ ११ ॥

---

९. यह वज्र सभी ओरसे पानीसे घिरा हुआ होकर समुद्रके मध्यमें शयन कर रहा है। निरन्तर एवं लगातार बहनेवाली और धाराओंसे आगे बढ़नेवाली ये नदियाँ अपना जलरूपी बलि उस वज्रको समर्पित कर रही हैं।

[**समुद्रे अन्तः**—समुद्र शब्दका अभिप्राय यहाँ दिव्य समुद्रसे समझ लें। **पुरःप्रस्रवणाः**—'जिनके प्रवाह आगे बढ़ रहे है' और **संयतः** (**संयत्** का बहुवचन) याने जो निरन्तर आगे बढ़ रही हैं ऐसी नदियाँ।]

१०. जिस समय यह वाग्देवी दुर्बोध शब्दोंका उच्चारण करनेवाले देवोंकी मधुरवचना रानी बनकर (अपने सिंहासनपर) अधिष्ठित हो गई उस समय उसने अपने दूध तथा पुष्टिप्रद अन्नके स्थानमें चार द्रव्योंका निर्माण किया। (किन्तु इन चारोंमेंसे) उसका सर्वश्रेष्ठ (वाणीरूपी) द्रव्य किधर गया होगा?

[**चतस्रः** के बाद **वाचः** का अध्याहार करें। चार वाणियोंके रूपमें अन्न तथा दूध को जन्म दिया याने परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी ये चारों रूप प्रकट किए; दे. १.१६४.४५।]

११. देवोंने इस वाग्देवीको उत्पन्न किया। भिन्न-भिन्न रूप धारण करनेवाले प्राणी उसका उच्चारण करते हैं। यह आनन्ददायक धेनु-(रुपी वाक्) हमारे द्वारा संस्तुत हो गई है; इसलिये पुष्टिप्रद अन्न तथा ओज हमें देकर वह हमारे पास आ जाय।

[**देवीं वाचम्**—ऊपर दसवीं ऋचाके उत्तरार्धमें वर्णित चतूरूपा वाणी। **सा धेनुर्वाक्** याने कविकी वाणीरूपी कामधेनु।]

सखे॑ विष्णो॒ वित॒रं वि क्र॑मस्व॒ द्यौर्दे॒हि लो॒कं वज्रा॑य वि॒ष्कभे॑ ।
हना॑व वृ॒त्रं रि॒णचा॑व॒ सिन्धू॒निन्द्र॑स्य यन्तु प्रस॒वे विसृ॑ष्टाः ॥ १२ ॥

सखे॑ । वि॒ष्णो॒ इति॑ । वि॒ऽत॒रम् । वि । क्र॒म॒स्व॒ । द्यौः । दे॒हि । लो॒कम् । वज्रा॑य । वि॒ऽस्क॒भे॑ ।
हना॑व । वृ॒त्रम् । रि॒णचा॑व । सिन्धू॑न् । इन्द्र॑स्य । य॒न्तु॒ । प्र॒ऽस॒वे । वि॒ऽसृ॑ष्टाः ॥ १२ ॥

१२. इन्द्रः—हे सखा विष्णो, जहाँतक हो सके उतने दूर अन्तरपर अपना चरणनिक्षेप करो। हे द्युदेव, वह तुम्हें आधार दे इस लिये इस वज्रको तुम पूरा अवकाश दो। अब हम दोनों इस वृत्रका वध करें और नदियोंको मुक्त कर दें। मुक्त होनेके बाद इन्द्रकी आज्ञाके अनुसार वे अपने मार्गपर आगे बढ़ें।

[इस प्रकार चारों तरफ़से तैयारियाँ हो जानेके बाद इन्द्र विष्णुको सहायता देनेके लिए बुला रहा है। **विष्कभे** याने 'ख़ुदको सहारा या आधार प्राप्त हो इसलिए'। अथवा **वज्राय विष्कभे**-वज्रको इधर उधर संचरण करनेके लिए आधार प्राप्त हो इसलिए'।]

७९

९·६०·१–४ अवत्सारः काश्यपः॥ पवमानः सोमः ॥ १, २, ४ गायत्री । ३ पुरउष्णिक्॥

प्र गा॑यत्रेण॑ गायत पव॑मानं॒ विच॑र्षणिम् । इन्दुं॑ स॒हस्र॑चक्षसम् ॥ १ ॥

प्र । गा॒य॒त्रेण॑ । गा॒य॒त । पव॑मानम् । वि॒ऽच॑र्षणिम् । इन्दु॑म् । स॒हस्र॑ऽचक्षसम् ॥ १ ॥

तं त्वा॑ स॒हस्र॑चक्षस॒मथो॑ स॒हस्र॑भर्णसम् । अति॒ वार॑मपाविषुः ॥ २ ॥

तम् । त्वा॒ । स॒हस्र॑ऽचक्षसम् । अथो॒ इति॑ । स॒हस्र॑ऽभर्णसम् । अति॑ । वार॑म् । अ॒पा॒वि॒षुः ॥ २ ॥

अति॒ वारा॒न् पव॑मानो असिष्यदत् क॒लशाँ॑ अ॒भि धा॑वति ।
इन्द्र॑स्य॒ हार्द्या॑वि॒शन् ॥ ३ ॥

अति॑ । वारा॑न् । पव॑मानः । अ॒सि॒ष्य॒द॒त् । क॒ल॒शा॑न् । अ॒भि । धा॒व॒ति ।
इन्द्र॑स्य । हार्दि॑ । आ॒ऽवि॒शन् ॥ ३ ॥

---

१. (हे ऋत्विजो), सहस्रनेत्रवाले, क्रियाशील, पवमान सोमके सम्मानके लिये ऊँचे स्वरसे गायत्र सामका गान कीजिये ।

[**प्र गायत**—इस क्रियासे संबद्ध देवोंको प्रायः संप्रदान कारकमें और (यदि निर्दिष्ट हो तो) स्तोत्रको कर्मकारकमें रखा जाता है; दे. ७·१०२·१; ८·३२·२७ । देवोंके लिए अगर कर्मकारक प्रयुक्त हुआ हो, तो स्तोत्रके लिए करण कारक (प्रस्तुत ऋचाकी तरह) अथवा अधिकरण कारक (दे. १·२१·२) प्रयुक्त होता है। प्रस्तुत स्तोत्रमें प्रयुक्त शृङ्खला यमक द्रष्टव्य है । **गायत्रेण** का अभिप्राय ' गायत्री छन्दसे ' अथवा ' गायत्री छन्दमें विरचित स्तोत्रसे ' है ।]

२. (हे सोम), सहस्र नेत्रवाले तथा सहस्रों ठोस उपहार देनेवाले तुम्हें ऋत्विजोंने ऊर्णाकी छलनीसे छानकर शुद्ध किया है ।

[**अपाविषुः** के कर्ताके रूपमें **विप्राः** का अध्याहार आवश्यक है । **सहस्रभर्णस्** (भर्णस् √भृ + नस्; दे. अर्णस्, अप्नस्, रेक्णस् आदि) ' सहस्र उपहार देनेवाला ' ।]

३. ऊर्णाकी छलनीसे शुद्ध होकर यह सोमरस नीचेकी ओर खिसक गया है, तथा इन्द्रके हृदयमें प्रवेश करते हुए कलशोंकी ओर दौड़ रहा है ।

[प्रथम पादके ' असिष्यदत् ' पदके कारण ' गायत्र ' के स्थानपर ' जागत ' पाद आया है जिससे छन्द पुरउष्णिह हो गया । **हार्दि**–हृद् शब्दका ही दूसरा रूप है सही, लेकिन यहाँ ' अत्यन्त आन्तरिक (भीतरी) अंशके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है । इन्द्र द्वारा पिए गए सोमके इन्द्र–शरीरमें स्थित अन्तिम निवास–स्थानके रूपमें इस **हार्दि** का निर्देश नववें मण्डलमें कई बार आता है । अत्यन्त भक्तिपूर्वक समर्पित की गई

इन्द्रस्य सोम राधसे शं पवस्व विचर्षणे। प्रजावद्रेत आ भर ॥ ४ ॥

इन्द्रस्य। सोम। राधसे। शम्। पवस्व। विऽचर्षणे। प्रजाऽवत्। रेतः। आ। भर ॥ ४ ॥

वस्तु ही यहाँतक पहुँच सकती है। ऋ. २.२९.६ में कवि सहेतुक प्रार्थना करता है कि देवताका हार्दि ही उसका संरक्षक कवच बने; दे. ऊपर ७.८६.२ में 'हृदि उपश्रितः सोमः अस्तु' की टिप्पणी। इसी तरह 'वचः हृदः अन्तरमस्तु' ७.१०१.५; 'भूया अन्तरा हृद्यस्य निःस्पृशे (सुष्टुतिः)' १०.९१.१३ और 'कृष्वा दुवांस्यन्तमा सचेमा' ७.२२.४ जैसी सभी प्रार्थनाओंका यही आशय है।]

४. हे क्रियाशील सोम, इन्द्रकी उदारताको प्रेरणा देनेके लिए सुखसे शुद्ध हो जाओ। हमें प्रजानिर्माणकी शक्तिसे संपन्न वीर्य प्राप्त करा दो।

[**प्रजावत् रेतः**—प्रजासे संबन्धित अर्थात् प्रजोत्पादक रेत।]

८०

९·६९·१–१० हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः ॥ पवमानः सोमः ॥
१–८ जगती । ९–१० त्रिष्टुप् ॥

इषुर्न धन्वन् प्रति धीयते मतिर्वत्सो न मातुरुप सर्ज्यूधनि ।
उरुधारेव दुहे अग्र आयत्यस्य व्रतेष्वपि सोम इष्यते ॥ १ ॥

इषुः । न । धन्वन् । प्रति । धीयते । मतिः । वत्सः । न । मातुः । उप । सर्जि । ऊधनि ।
उरुधाराऽइव । दुहे । अग्रे । आऽयती । अस्य । व्रतेषु । अपि । सोमः । इष्यते ॥ १ ॥

उपो मतिः पृच्यते सिच्यते मधु मन्द्राजनी चोदते अन्तरासनि ।
पवमानः संतनिः प्रघ्नतामिव मधुमान् द्रप्सः परि वारमर्षति ॥ २ ॥

उपो इति । मतिः । पृच्यते । सिच्यते । मधु । मन्द्रऽअजनी । चोदते । अन्तः । आसनि ।
पवमानः । सम्ऽतनिः । प्रघ्नताम्ऽइव । मधुऽमान् । द्रप्सः । परि । वारम् । अर्षति ॥ २ ॥

१. जिस प्रकार धनुष्यपर बाणका संधान किया जाता है उसी प्रकार मेरी यह स्तुति (मेरी जिह्वापर) जोड़ी जा रही है। जिस प्रकार वत्सको माताके आँचलकी ओर छोड़ा जाता है उसी प्रकार (यह मति इन्द्रकी ओर) छोड़ी गई है। यह मेरी स्तुति सभीके आगे आकर, बड़ी धारासे दूध देनेवाली गायकी तरह (मुझे फलप्राप्ति करा रही है) और यह सोम अपने ही नियमोंके अनुसार (इन्द्रके पास उसके अन्तरङ्गमें प्रविष्ट होनेके लिए) भेजा जा रहा है।

[प्रथम पादमें **मति** की इषुसे और कविके मुखकी धनुष्यसे तुलना की गई है और दूसरे पादमें मतिकी वत्ससे तथा इन्द्रकी मातासे अर्थात् **'उरुधारा धेनू'** से। यही उपमा तीसरे पादमें भी उपस्थित है। पहली उपमाके लिए दे. ऋचा २ (**अन्तरासनि**) एवं १·८४·१६ का विप्रोंका विशेषण **आसन्निषून्** तथा १०·४२·१। दूसरे तथा तीसरे पादोंमें भी इन्द्रकी उपमा धेनूसे की गई है; दे. ७·१८·४,८·१·१०,८·९३·३। चौथे पादमें **अस्य** को **स्वस्य** के अर्थमें प्रयुक्त किया गया है; दे. ८·४८·९, ९·५३·३, ९·१०२·५, १०·२५·३। किन्तु संभव है कि इस पदसे इन्द्रका भी निदश हुआ हो; दे.१·१०३·३, ३·३२·८,७·३१·११। फिर भी यह स्मरण रखना आवश्यक है कि इस ऋचाके साथ साथ बादकी ऋचामें भी समर्पित स्तुति तथा सोम का ही प्रधान रूपसे निर्देश किया गया है। दूसरे पादकी उपमाका अभिप्राय शायद सोमसे होगा (दे. सायण एवं गेल्डनर); किन्तु ७·१८·४ से तुलना करनेपर यह स्पष्टतया प्रतीत होता है कि उसका अभिप्राय **मति** से है।]

२. यह हमारी स्तुति (इन्द्रको) समर्पित की गई है और यह मधुर सोम भी (उसीके पात्रमें) निषिक्त किया गया है। आनन्दप्रद स्तुतिको संचालना देनेवाली (कविकी

अव्ये॑ वधूयुः प॑वते परि॑ त्वचि श्र॑थ्नीते नप्तीरदि॑तेर्ऋतं यते।

हरि॑रक्रान् यज॒तः सं॑यतो मदो॑ नृम्णा शिशा॑नो महि॒षो न शो॑भते ॥ ३ ॥

अव्ये॑। व॒धू॒ऽयुः। प॒व॒ते। परि॑। त्व॒चि। श्र॒थ्नी॒ते। न॒प्तीः। अदि॑तेः। ऋ॒तम्। य॒ते।

हरि॑ः। अ॒क्रा॒न्। य॒ज॒तः। स॒म्ऽय॒तः। मद॑ः। नृ॒म्णा। शिशा॑नः। म॒हि॒षः। न। शो॒भ॒ते ॥३॥

रसना उसके) मुखके अन्तर्भागमें प्रेरित हो रही है। प्रहार करनेवाले वीरोंकी रणगर्जनाकी तरह, यह विशुद्ध बनता हुआ सोम, यह मधुर रससे युक्त बिन्दु, छलनीके चारों ओर प्रसृत हो रहा है।

[**उपो पृच्यते**-दे. ९·२८·८। **मन्द्र-अजनी** (मन्द्रायाः मतेः अजनी)-जिह्वा; दे. 'जिह्वा वाचः पुरोगवी' १०·१३७·७। **मन्द्रा**-मतिका विशेषण; दे. ७·१८·३, ८·९५·५, ८·१००·११। **संतनिः** (सम् + √तन्)-'गंभीर नाद'; दे. 'पवमानः संतनिमेषि कृण्वन्' ९·९७·१४।]

३. भेड़ोंकी छाल (ऊपरकी ऊर्णासे बनाई छलनी) के चारों ओर वधूकी अभिलाषा रखनेवाला यह सोम विशुद्ध हो रहा है और अदितिकी कन्याओंको, ऋतके आराधक (यजमान) के लिए मृदुतासे परिपूर्ण करता है। पवित्र तथा योग्य प्रणालीसे नियमित किये गए इस मदप्रद हरीने गर्जना की है। अपनी सामर्थ्यको प्रज्वलित करनेवाला यह सोम (अपने सींग तीक्ष्ण करनेवाले) महिषकी तरह शोभित हो रहा है।

[**अव्ये** (पुं. अथवा नपुं.) **त्वचि** (स्त्री.)। लक्षणाकी सहायतासे **त्वच्** का यहाँ अर्थ होगा 'त्वचापर स्थित ऊनसे बनाई गई छलनी'। प्रस्तुत स्थानपर लिङ्गभेदको **गव्ये त्वचि** (९·१०१·१६) की तरह आर्ष समझना आवश्यक है। अथवा **अव्ये** के बाद **वारे** पदका (दे. ९·८६·२५) एवं **त्वचि** शब्दके पहले **गोः** पदका अध्याहार करके अन्वय करें और इनमेंसे **गोः त्वचि** शब्दोंसे अधिषवण चर्मका उल्लेख समझ लें; दे. **अद्रयस्त्वा बप्सति गोरधि त्वचि** ९·७९·४। **वधूयुः**-वधू शब्दद्वारा सोमरसमें मिलाए जानेवाले गायके दूधका निर्देश किया गया है। **अदितेः नप्तीः**-ये शब्द भी इन्हीं गायोंका अर्थात् इन्हींके दूधका निर्देश करते हैं जो सर्वथा उचित है। **श्रथ्नीते**-'मृदुतासे परिपूर्ण करता है' अर्थात् 'पूर्णतया वशमें कर लेता है'। आत्मनेपदमें भी √श्रथ् को सकर्मक मानकर 'उभे द्यावा काव्येना वि शश्रथे' (९·७०·२) में इसे प्रयुक्त किया गया है। लक्षणाके सहारे 'दूध' के अर्थमें प्रयुक्त गो अथवा तदर्थ अन्य शब्द प्रायः बहुवचनमें रखा जाता है; दे. ऋचा ४ में प्रयुक्त 'धेनवः'। **ऋतं यन्**-ऋतका अनुसरण करनेवाला यजमान; दे. १·४१·४, १·१८८·२, ८·२७·२०, ९·७४·३। **हरिः अक्रान्** (√क्रम्)-पीतवर्ण सोमरसपर अश्वका आरोप। **संयतः**- √यम् का भूतकालवाचक कृदन्त; उपर्युक्त ८·१००·९ के **संयतः**-से भिन्न (दे. कोश)। **नृम्णा शिशानः**-उपमान-वाक्यमें 'शृङ्गे' शब्दका अध्याहार करें। यहाँ नृम्णकी तुलना शृङ्गसे की गई है। किन्तु 'एष शृङ्गाणि दोधुवत् शिशीते यूथ्यो वृषा' (९·१५·४) में इन दोनोंका अभेद मानकर कविने रूपक प्रयुक्त किया है।]

उक्षा मिमाति प्रति यन्ति धेनवो देवस्य देवीरुप यन्ति निष्कृतम् ।
अत्यक्रमीदर्जुनं वारमव्ययमत्कं न निक्तं परि सोमो अव्यत ॥ ४ ॥

उक्षा । मिमाति । प्रति । यन्ति । धेनवः । देवस्य । देवीः । उप । यन्ति । निःऽकृतम् ।
अति । अक्रमीत् । अर्जुनम् । वारम् । अव्ययम् । अत्कम् । न । निक्तम् । परि । सोमः । अव्यत ॥४॥

अमृक्तेन रुशता वाससा हरिरमर्त्यो निर्णिजानः परि व्यत ।
दिवस्पृष्ठं बर्हणा निर्णिजे कृतोपस्तरणं चम्वोर्नभस्मयम् ॥ ५ ॥

अमृक्तेन । रुशता । वाससा । हरिः । अमर्त्यः । निःऽनिजानः । परि । व्यत ।
दिवः । पृष्ठम् । बर्हणा । निःऽनिजे । कृत । उपऽस्तरणम् । चम्वोः । नभस्मयम् ॥ ५ ॥

सूर्यस्येव रश्मयो द्रावयित्नवो मत्सरासः प्रसुपः साकमीरते ।
तन्तुं ततं परि सर्गास आशवो नेन्द्रादृते पवते धाम किं चन ॥ ६ ॥

सूर्यस्यऽइव । रश्मयः । द्रवयित्नवः । मत्सरासः । प्रऽसुपः । साकम् । ईरते ।
तन्तुम् । ततम् । परि । सर्गासः । आशवः । न । इन्द्रात् । ऋते । पवते । धाम । किम् । चन ॥६॥

---

४. यह (सोमरूपी) वृषभ दहाड़ रहा है, उन्हें सुनकर ये गायें (यानी उनका दूध) उसकी ओर जा रही हैं । ये देवियाँ उस देवके संकेत-स्थानके पास जा रही हैं । भेड़ोंकी ऊर्णाकी चमकदार छलनीसे यह सोम उस पार गया और अनन्तर किसी प्रक्षालित निर्मल वस्त्रकी तरह उसने (उस दूधका) परिधान किया है ।

[**निष्कृतम्**–मिलनेके लिए निर्धारित स्थान; दे. 'मर्यो न योषामभि निष्कृतं यन् त्संगच्छते कलश उस्रियाभिः' ९·९३·२ । **अव्ययं वारम्**–बकरोंके ऊनकी छलनी । **परि अव्यत** के कर्मके रूपमें (प्रथम पादके **धेनवः** से सूचित धेनूः का अध्याहार करें; दे. 'पुनानः कलशेष्वा वस्त्राण्यरुषो हरिः परि गव्यान्यव्यत'। ९·८·६ ।]

५. (मिश्रित जलसे) साफ धोये जाने पर इस अमर्त्य हरीने (दुग्धरूपी) नूतन अक्षालित शुभ्र वस्त्रसे अपनेको लपेट लिया है । (उसी प्रकार) इसने अपनी महानतासे स्वर्गके पृष्ठभागको ही अपने धवल उष्णीषके स्थानपर नियुक्त किया है और नीचेके दो चमूओंमें रखे जलको अपने आसनके आस्तरण की तरह मान लिया है ।

[**अमृक्त** (√मृच्–झकझोरना; दुखी कराना)–दुःखित न किया हुआ, न धोया हुआ, नया कोरा (अहत) । **परि व्यत**–इस क्रियाके कर्मको द्वितीयामें अथवा प्रस्तुत ऋचाकी तरह तृतीयामें रखा जाता है । **निर्णिज्**–धौत वस्त्र; यहाँ धोयी हुई स्वच्छ पगडी । **नभस्** + **मय**–बादलोंका पानी; शुद्ध जल; दे. 'हरि-रोपसं कृणुते नभस्पयः उपस्तिरे चम्वोर्ब्रह्म निर्णिजे' ९·७१·१ ।]

६. (लताओंमें चिरकाल) प्रगाढ़ निद्रामें सोये हुए, किन्तु सूर्यकी किरणोंकी तरह (प्राणिमात्रोंको) द्रुतगतिसे क्रियाओंमें प्रवृत्त करानेवाले, अत्युत्कट आनन्ददायक

सिन्धो॑रिव प्रव॒णे नि॒म्न आ॒शवो॒ वृष॑च्युता॒ मदा॑सो गा॒तुमा॑शत ।
शं नो॑ निवे॒शे द्वि॒पदे॒ चतु॑ष्पदे॒ऽस्मे वाजा॑: सोम तिष्ठन्तु कृ॒ष्टय॑: ॥ ७॥

सिन्धो॑:ऽइव । प्र॒वणे । नि॒म्ने । आ॒शव॑: । वृष॑ऽच्युताः । मदा॑सः । गा॒तुम् । आ॒शत ।
शम् । नः । नि॒ऽवे॒शे । द्वि॒ऽपदे॑ । चतु॑:ऽपदे । अ॒स्मे इति॑ । वाजा॑: । सो॒म । ति॒ष्ठ॒न्तु । कृ॒ष्टय॑: ॥७॥

आ न॑: पवस्व॒ वसु॑मद्धिर॑ण्यवद॒श्वाव॒द्गोम॒द्यव॑मत् सु॒वीर्य॑म् ।
यू॒यं हि सो॑म पि॒तरो॒ मम॒ स्थन॑ दि॒वो मू॒र्धान॑: प्रस्थि॑ता वय॒स्कृत॑: ॥ ८ ॥

आ । नः । प॒व॒स्व॒ । वसु॑ऽमत् । हिर॑ण्यऽवत् । अश्व॑ऽवत् । गोऽम॑त् । यव॑ऽमत् । सु॒ऽवीर्य॑म् ।
यू॒यम् । हि । सो॒म । पि॒तर॑: । मम॑ । स्थन॑ । दि॒वः । मू॒र्धान॑: । प्र॒ऽस्थि॑ताः । व॒य॒:ऽकृत॑: ॥ ८ ॥

और (अब) मुक्त हुए ये (सोमरसरूपी) वेगवान् अश्व, यज्ञरूपी (बुननेके लिए फैलाए हुए) इस तन्तुकी चारों ओर साथ ही जा रहे हैं। यह सोम ऐसे किसी भी स्थानपर नहीं जाता जहाँ इन्द्र न हो।

[**प्रसुपः** (प्र. बहुवचन)–सोमवल्लियोंमें सोये हुए रस। **ततं तन्तुं परि**–कसे हुए यज्ञरूपी तन्तुकी चारों ओर; दे. ऊपर १·१४२·१ और ९·७३·९ । **धाम न पवते**–दे. **पवस्व विश्वाभि धाम** ९·१०९·४। आशय है जहाँ इन्द्र होगा उसी जगह जाता है; अन्यत्र नहीं।]

७. हमारी द्विपाद तथा चतुष्पाद प्रजाके कल्याणके लिए बलशाली अद्रियों द्वारा मुक्त किए गए ये द्रुतगति अश्व, याने मदप्रद सोमरसके प्रवाह, किसी सिन्धुके ढाल प्रदेशपर (बहनेवाली) धाराओंकी तरह अपने मार्गपर आगे बढ़ रहे हैं। हे सोम, पुष्टिप्रद अन्न तथा अनुयायी लोग हमें प्राप्त होने दो।

[उपमान–वाक्यमें **आपः** का अध्याहार; दे. ' आपो न सृष्टा अधवन्त नीचीः ' ७·१८·१५; इसी तरह 'सिन्धूँरिव प्रवणे आशुया यतः' ६·४६·१४ तथा 'अनु द्रप्सास इन्दवः आपो न प्रवता सरन्' ९·६·४। अन्वय है–सिन्धोः प्रवणे निम्ने (= निम्नेन)–' सिन्धुकी ढलानपर , नीचेकी ओर '; दे. ' प्र. निम्नेनेव सिन्धवः सोम असृग्रमाशवः' ९·१७·१ । **गातुमाशत** दे. भेजे पथः ७·१८·१६; भेजाते पन्थाम् ७·३९·१ ।]

८. विपुल धन, सुवर्ण, अश्व, गायें और अनाज इन सभीसे युक्त उत्तम वीर्य हमें अपनी धाराओंसे प्राप्त करा दो। हे सोम, स्वर्गके शीर्षस्थानपर होनेवाले, कार्योन्मुख तथा सामर्थ्य-प्रदाता ऐसे तुम हमारे पितरोंके स्थानमें ही हो।

[**आ पवस्व**-यहाँपर आ + पू से व्यक्त क्रिया सकर्मक है। **प्रस्थिताः** (प्र + √स्था — तैयार रहना, जानेके लिए निकलना) ' कार्य–प्रवण, तत्पर '। बहुवचनका प्रयोग आरोपित **पितरः** के अनुसार है। **वयस्कृतः दिवो मूर्धानः** साधारण धर्मका वाचक है।]

एते सोमाः पर्वमानास इन्द्रं रथाइव प्र ययुः सातिमच्छे ।
सुताः पवित्रमति यन्त्यव्यं हित्वी वव्रिं हरितो वृष्टिमच्छे ॥ ९ ॥

एते । सोमाः । पर्वमानासः । इन्द्रम् । रथाःऽइव । प्र । ययुः । सातिम् । अच्छे ।
सुताः । पवित्रम् । अति । यन्ति । अव्यम् । हित्वी । वव्रिम् । हरितः । वृष्टिम् । अच्छे ॥ ९॥

इन्दविन्द्राय बृहते पवस्व सुमृळीको अनवद्यो रिशादाः ।
भरा चन्द्राणि गृणते वसूनि देवैर्द्यावापृथिवी प्रावतं नः ॥ १० ॥

इन्दो इति । इन्द्राय । बृहते । पवस्व । सुऽमृळीकः । अनवद्यः । रिशादाः ।
भर । चन्द्राणि । गृणते । वसूनि । देवैः । द्यावापृथिवी इति । प्र । अवतम् । नः ॥ १० ॥

९. ये पवमान सोम विजयप्राप्तिके उद्देश्यसे रथकी तरह (शीघ्रगतिसे) इन्द्रकी ओर आगे बढ़े हैं । निचोड़े हुए ये पीतवर्ण सोमरस अपनी छालका त्याग करके (दिव्य) वृष्टिके लिए बकरीकी ऊर्णाकी छलनीके पार जा रहे हैं ।

[**सातिमच्छ**–दे. वाजमच्छ ३·२९·९; पुष्टिमच्छ ८·४८·६ । **अव्यं पवित्रम्**–दे. अव्ययं वारम् (ऋचा ४) । **हित्वी वव्रिम्**—वल्लीकी छाल छोड़कर; दे. 'नि रिणानो विधावति जहच्छर्याणि तान्वा' ९·१४·४ । **वृष्टिमच्छ**–वृष्टि याने पर्जन्य की प्राप्ति करा देनेके लिए; दे. 'वृष्टिं दिवः परि स्रव' ९·८८·८; ९·३९·२; ९·४९·१ । श्लेषकी सहायतासे 'छलनीसे रसकी वृष्टि हो इसलिए' यह अर्थ भी अभिप्रेत है; दे. 'प्र ते धारा असश्चतो दिवो न यन्ति वृष्टयः' ९·५७·१; ९·६२·२८ ।]

१०. अत्यन्त कृपापूर्ण, निर्दोष तथा शत्रुओंको फाड़कर खानेवाले तुम, हे इन्दो, महान् इन्द्रके लिए पवित्र हो जाओ । अपने स्तोताके लिए सुन्दर धन लेकर आओ । हे द्यावापृथिवी, सभी देवोंके साथ आकर हमारी सुरक्षा करो ।

[**चन्द्राणि वसूनि**–दे. ५·४२·३ के साथ साथ चन्द्रं रयिम् ६·६·७ ।]

८१

९.८५.१-१२ भृगुर्वेनः ॥ पवमानः सोमः ॥ १-१० जगती । ११-१२ त्रिष्टुप् ॥

इन्द्राय सोम सुषुतः परि स्रवापामीवा भवतु रक्षसा सह ।
मा ते रसस्य मत्सत द्वयाविनो द्रविणस्वन्त इह सन्त्विन्दवः ॥ १ ॥

इन्द्राय । सोम । सुऽसुतः । परि । स्रव । अप । अमीवा । भवतु । रक्षसा । सह ।
मा । ते । रसस्य । मत्सत । द्वयाविनः । द्रविणस्वन्तः । इह । सन्तु । इन्दवः ॥ १ ॥

अस्मान्त्समर्ये पवमान चोदय दक्षो देवानामसि हि प्रियो मदः ।
जहि शत्रूँरभ्या भन्दनायतः पिबेन्द्र सोममव नो मृधो जहि ॥ २ ॥

अस्मान् । सऽमर्ये । पवमान । चोदय । दक्षः । देवानाम् । असि । हि । प्रियः । मदः ।
जहि । शत्रून् । अभि । आ । भन्दनाऽयतः । पिब । इन्द्र । सोमम् । अव । नः । मृधः । जहि ॥२॥

अदब्ध इन्दो पवसे मदिन्तम आत्मेन्द्रस्य भवसि धासिरुत्तमः ।
अभि स्वरन्ति बहवो मनीषिणो राजानमस्य भुवनस्य निंसते ॥ ३ ॥

अदब्धः । इन्दो इति । पवसे । मदिन्ऽतमः । आत्मा । इन्द्रस्य । भवसि । धासिः । उत्ऽतमः ।
अभि । स्वरन्ति । बहवः । मनीषिणः । राजानम् । अस्य । भुवनस्य । निंसते ॥ ३ ॥

---

१. हे सोम, उत्तम रीतिसे पीसकर निचोड़े गए तुम इन्द्रके लिए (ऊर्णाकी छलनीसे) चारों ओर बहते जाओ । राक्षसको साथ लेकर व्याधि दूर भाग जाय । दोनों तरह बोलनेवाले प्रवञ्चक लोगोंको तुम्हारे रसका आस्वाद प्राप्त मत होने दो । ये इन्दु बहुविध संपत्तिको साथ लेकर यहाँ उपस्थित हो जायँ ।

[**द्वयाविन्**—' दो स्वामियोंवाला ', 'दोनोंको ख़ुश रखनेवाला' अर्थात् अविश्वसनीय; दे. २.२३.५।]

२. हे पवमान, युद्धमें हमें उत्तेजना दो; क्योंकि तुम देवोंके प्रिय मदकारक पेय हो और उनकी विग्रहवती शक्ति भी हो । हमारे शत्रुओंकी हत्या करो और तुम्हारी स्तुति करनेवाले हमारी ओर घूमकर (आओ)। हे इन्द्र, तुम इस सोमका पान करो और हमारे विरोधकोंका विध्वंस करो ।

[**समर्ये** (=समरे-सम्+√ऋ)-' लड़ाईमें ' । **अभि आ** के बाद योग्य क्रियाका, अर्थात् **ववृत्स्व** का अध्याहार करना चाहिए; दे. २.१६.८; ४.३१.४; ६.१९.३ आदि । **भन्दनायतः** (बहुवचन)- दे. भन्दमाने १.१४२.७; भन्दिष्ठः ५.१.१० ।]

३. हे अत्यधिक मदप्रद इन्दो, किसी भी प्रकारकी पीड़ाके बिना तुम आगे ही बहते रहते

सहस्रणीथः शतधारो अद्भुत इन्द्रायेन्दुः पवते काम्यं मधु ।
जयन् क्षेत्रमभ्यर्षा जयन्नप उरुं नो गातुं कृणु सोम मीढ्वः ॥ ४ ॥

सहस्रऽनीथः । शतऽधारः । अद्भुतः । इन्द्राय । इन्दुः । पवते । काम्यम् । मधु ।
जयन् । क्षेत्रम् । अभि । अर्ष । जयन् । अपः । उरुम् । नः । गातुम् । कृणु । सोम । मीढ्वः ॥ ४ ॥

कनिक्रदत् कलशे गोभिरज्यसे व्य१व्ययं समया वारमर्षसि ।
मर्मृज्यमानो अत्यो न सानसिरिन्द्रस्य सोम जठरे समक्षरः ॥ ५ ॥

कनिक्रदत् । कलशे । गोभिः । अज्यसे । वि । अव्ययम् । समया । वारम् । अर्षसि ।
मर्मृज्यमानः । अत्यः । न । सानसिः । इन्द्रस्य । सोम । जठरे । सम् । अक्षरः ॥ ५ ॥

हो । तुम इन्द्रके प्राण हो और उसका सर्वश्रेष्ठ पुष्टिप्रद भोजन भी हो । अनेक मनीषी ऋषि इसके सामने स्तोत्रोंका गान करते हैं और त्रैलोक्यके इस राजाकी वन्दना भी करते हैं ।

[**धासिः** (पुं.)–' अन्न '; धातु है √धा–' पालन पोषण करना ' । **निंसते** = √निंस्–' वन्दन करना '; √नम् क्रियासे संबद्ध ।]

४. सहस्र मार्गोंसे और सैंकड़ों धाराओंसे (लतावल्लियोंसे) बाहर निकलनेवाला यह अलौकिक इन्दु, यह कमनीय मधुर पेय, इन्द्रके लिए सामने बह रहा है । हे अत्युदार सोम, (शत्रुओंकी) अच्छी उपजाऊ भूमि तथा विपुल जलाशयों को जीतते हुए संचरण करो और हमें विशाल मार्ग प्राप्त करा दो ।

[**सहस्रणीथः**–नीथ √नी 'ले जानेवाले मार्ग'। सहस्रणीथाः कवयः, दे. आगे चलकर १०·१५४·५ । वहाँ नीथका अर्थ है स्तोत्र, देवोंकी ओर ले जानेवाले मार्ग । प्रस्तुत स्थानपर नीथ शब्दका अभिप्रेत अर्थ है– ' सोमवल्लीकी छालसे बाहर निकलनेवाले सोमरसके मार्ग ' अर्थात् 'छालके अत्यन्त सूक्ष्म छिद्र' । **उरुं गातुम्**– विस्तीर्ण, विशाल, विपदाओंसे हीन जीवनक्रम; दे. 'उरुः पन्थाः दक्षिणाया अदर्शि' १०·१०७·१ ।]

५. कलशमें गर्जना करते हुए गायके दूधकी धाराओंसे तुम नहाए जा रहे हो । (उसके पूर्व) तुम बकरीकी उर्णाकी छलनीपरसे चारों ओर सरल रूपसे जाते रहते हो । (संपदाको) जीतकर लानेवाले अश्वकी तरह सुशोभित किये जानेपर, हे सोम, तुम इन्द्रके जठरमें अविराम रूपसे बहते रहे हो ।

[**गोभिः**–लक्षणाके आधारपर इसका अर्थ है– गायके दूधकी धाराओंसे; दे. ऊपर ९·६९·३ में नप्तीः (बहुवचन) की टिप्पणी । **मर्मृज्यमानः** √मृज् का अर्थ है ' धोना ', 'खरारा करना' आदि । **सानसिः अत्यः न** –'लूट प्राप्त करके आनेवाले जंगी घोड़ेकी तरह '; दे. 'परि ते जिग्युषो यथा धारा सुतस्य धावति । रंहमाणा व्यव्ययं वारं वाजीव सानसिः' ९·१००·४ । **जठरे समक्षरः** दे. ९·६०·३ ।]

स्वादुः पवस्व दिव्याय जन्मने स्वादुरिन्द्राय सुहवीतुनाम्ने ।
स्वादुर्मित्राय वरुणाय वायवे बृहस्पतये मधुमाँ अदाभ्यः ॥ ६ ॥

स्वादुः । पवस्व । दिव्याय । जन्मने । स्वादुः । इन्द्राय । सुहवीतुऽनाम्ने ।
स्वादुः । मित्राय । वरुणाय । वायवे । बृहस्पतये । मधुऽमान् । अदाभ्यः ॥ ६ ॥

अत्यं मृजन्ति कलशे दश क्षिपः प्र विप्राणां मतयो वाच ईरते ।
पवमाना अभ्यर्षन्ति सुष्टुतिमेन्द्रं विशन्ति मदिरास इन्दवः ॥ ७ ॥

अत्यम् । मृजन्ति । कलशे । दश । क्षिपः । प्र । विप्राणाम् । मतयः । वाचः । ईरते ।
पवमानाः । अभि । अर्षन्ति । सुऽस्तुतिम् । आ । इन्द्रम् । विशन्ति । मदिरासः । इन्दवः ॥७॥

पवमानो अभ्यर्षा सुवीर्यमुर्वीं गव्यूतिं महि शर्म सप्रथः ।
माकिर्नो अस्य परिषूतिरीशतेन्दो जयेम त्वया धनंधनम् ॥ ८ ॥

पवमानः । अभि । अर्ष । सुऽवीर्यम् । उर्वीम् । गव्यूतिम् । महि । शर्म । सऽप्रथः ।
माकिः । नः । अस्य । परिऽसूतिः । ईशत । इन्दो इति । जयेम । त्वया । धनम्ऽधनम् ॥ ८ ॥

---

६. स्वर्गीय लोगोंके लिए, सुखसे जिसका नाम आवाहन करने योग्य है उस इन्द्रके लिए, मित्र, वरुण, वायु तथा बृहस्पति के लिए, रुचिप्रद, माधुर्ययुक्त तथा पीड़ा देनेके लिए असंभवनीय होकर बहते रहो ।

[**दिव्याय जन्मने**–स्वर्गके लोगोंके याने देवोंके लिए । **सुहवीतु** (√ह्वे)–अच्छी तरह बुलाने लायक; **हवीतु** (नपुं.)–' निमन्त्रण '; दे. नाम हुवे ७.५.६.१० ।]

७. कलशमें अवतीर्ण इस (सोमरूपी) अश्वको (ऋषियोंकी) दस उंगलियाँ सुशोभित करती हैं एवं हमारे विप्रोंकी मतियाँ तथा वाणियाँ (इन्द्रकी ओर) आगे बढ़ रही हैं । ये पवमान सोम हमारी सुन्दर स्तुतियोंकी ओर प्रयाण करते हैं और ये मदप्रद सोमबिन्दु इन्द्र (के जठर) में प्रविष्ट होते हैं ।

[**अत्यं मृजन्ति**–दे. ऋचा ५ । **क्षिप्** (स्त्री.) 'कराङ्गुलि' । दूसरे पादका अन्वय यों करें:– **मतयः वाचः** (प्र. बहुवचन) (च) **प्र ईरते**; (वाचः–षष्ठी एकवचन अन्तोदात्त है); दे. ऊपर १.१४३.१ ।]

८. हे सोम, शुद्ध होकर उत्तम वीर्य, विस्तीर्ण चरागाह, तथा अपनी सुविदित बड़ी कृपा इन सभीके साथ हमारे पास आओ । किसी भी प्रकारकी आत्यन्तिक पाशवी शक्ति हमारे इस (निधि) पर अधिकार न जमाए । हे इन्दो, तुम्हारी सहायतासे हमें सभी प्रकारकी संपदाओं पर विजय मिले ।

[**परिषूतिः**–(परि+√सू–'सभी ओरसे, पूर्ण रूपसे अधिकारमें कर लेना')–' घेरनेवाली प्रबल शक्ति' दे. 'युवं रेभं परिषूतेरुरुष्यथ' १.११९.६ ।]

अधि द्यामस्थाद्वृषभो विचक्षणोऽरूरुचद्वि दिवो रोचना कविः ।
राजा पवित्रमत्येति रोरुवद्दिवः पीयूषं दुहते नृचक्षसः ॥ ९ ॥

अधि । द्याम् । अस्थात् । वृषभः । विऽचक्षणः । अरूरुचत् । वि । दिवः । रोचना । कविः ।
राजा । पवित्रम् । अति । एति । रोरुवत् । दिवः । पीयूषम् । दुहते । नृऽचक्षसः ॥ ९ ॥

दिवो नाके मधुजिह्वा असश्चतो वेना दुहन्त्युक्षणं गिरिष्ठाम् ।
अप्सु द्रप्सं वावृधानं समुद्र आ सिन्धोरूर्मा मधुमन्तं पवित्र आ ॥ १० ॥

दिवः । नाके । मधुऽजिह्वाः । असश्चतः । वेनाः । दुहन्ति । उक्षणम् । गिरिऽस्थाम् ।
अप्ऽसु । द्रप्सम् । ववृधानम् । समुद्रे । आ । सिन्धोः । ऊर्मा । मधुऽमन्तम् । पवित्रे । आ ॥ १० ॥

नाके सुपर्णमुपपप्तिवांसं गिरो वेनानामकृपन्त पूर्वीः ।
शिशुं रिहन्ति मतयः पनिप्नतं हिरण्ययं शकुनं क्षामणि स्थाम् ॥ ११ ॥

नाके । सुऽपर्णम् । उपपप्तिऽवांसम् । गिरः । वेनानाम् । अकृपन्त । पूर्वीः ।
शिशुम् । रिहन्ति । मतयः । पनिप्नतम् । हिरण्ययम् । शकुनम् । क्षामणि । स्थाम् ॥ ११ ॥

---

९. इस बुद्धिमान् और महापराक्रमी सोमने स्वर्गमें अपना अधिष्ठान तय किया है । इस कविने स्वर्गलोकके तेजसे परिपूर्ण प्रदेशोंको (अपने दिव्य तेजसे) प्रकाशित किया है । यह राजा अपना दिव्य नाद करते करते ऊर्णाकी छलनीके उस पार जा रहा है । मनुष्योंपर दृष्टि रखनेवाले देवोंने इस स्वर्गलोकके अमृतका दोहन किया है ।

[पूर्वार्धमें तथा तीसरे पादमें क्रमशः स्वर्गलोकके सोमका और पार्थिव सोमका वर्णन करके चौथे पादमें दोनोंके ऐक्यकी कल्पना की गई है ।]

१०. द्युलोकके पृष्ठभागपर मधुर वाणीवाले, उदारवृत्ति तथा इसपर प्रेम करनेवाले देव, इस पर्वतनिवासी, (कलशरूपी) समुद्रमें नदीकी लहरोंपर पानीमें संवृद्ध होनेवाले, (ऊर्णांकी) छलनीपर मधुरता धारण करनेवाले बिन्दुका, इस सोमरूपी वृषभका, दोहन करते हैं ।

[**वेनाः** (√वेन्-प्रेम करना)-यहाँ सोमपर प्रेम करनेवाले देवोंको **वेन** कहा गया है । **उक्षणं गिरिष्ठाम्**-पहाड़पर रहनेवाला उक्षा अर्थात् सोम; दे. ऊपर ३.४८.२ । **अप्सु समुद्रे** एवं **सिन्धोरूर्मा** दोनों उस शुद्ध जलकी ओर निर्देश करते हैं जो रस तैयार करनेके लिए आवश्यक है ।]

११. इन प्रेमयुक्त देवोंकी अनेक स्तुतिवाणियोंने द्युलोकके पृष्ठभागपर उड़ान करनेवाले (इस सोमरूपी) सुपर्णकी कृपाकी याचना की है (एवं) हमारी प्रार्थनाएँ पृथ्वीके ऊपर निवास करनेके लिए आये हुए, सुनहले तथा बार-बार मधुर कूजन करनेवाले इस पक्षीके छोटे शिशुको प्रेमसे चाट रही हैं ।

ऊर्ध्वो गन्धर्वो अधि नाके अस्थाद्विश्वा रूपा प्रतिचक्षाणो अस्य ।
भानुः शुक्रेण शोचिषा व्यद्यौत् प्रारूरुचद्रोदसी मातरा शुचिः ॥ १२ ॥

ऊर्ध्वः । गन्धर्वः । अधि । नाके । अस्थात् । विश्वा । रूपा । प्रतिऽचक्षाणः । अस्य ।
भानुः । शुक्रेण । शोचिषा । वि । अद्यौत् । प्र । अरूरुचत् । रोदसी इति । मातरा । शुचिः ॥ १२ ॥

[**वेनानाम्** यहाँ भी देवोंकी ओर निर्देश करता है; दे. १०.१२३.६ । पूर्वार्धमें स्वर्गके सोमकी देवता द्वारा की गई प्रशंसा तथा उत्तरार्धमें पृथ्वीपर ब्राह्मणों द्वारा की गई सराहना बड़ी स्पष्ट है । मतलब, सोम स्वर्गमें तथा पृथ्वीपर भी सभीको प्रिय है । **शिशुं रिहन्ति मतयः** में मतिपर गायका गम्य आरोप स्पष्ट है; इसके अलावा 'शिशुं न विप्रा मतिभी रिहन्ति' १०.१२३.१ में कहा गया है जहाँ ब्राह्मणोंपर गायोंका एवं मतिपर जिह्वाका गम्य आरोप विद्यमान है ।]

१२. द्युलोकके पृष्ठभागपर यह गन्धर्व (द्युलोकका देव सोम) अपने इन (पृथ्वीपर अवतरणों) के सभी अलग-अलग रूप देखते-देखते खड़ा रहा है । इसकी किरणें अपनी तेजस्वी ज्योतिसे प्रकाशित हुई हैं और इस अत्यन्त तेजस्वी (सोम) ने अपनी पृथ्वी तथा स्वर्ग इन दो माताओंको पूर्णतया प्रकाशित किया है ।

[**गन्धर्व**–अर्थात् स्वर्गलोकमें सोमका अधिष्ठाता; यह स्पष्ट है कि **अस्य** का अभिप्राय यहाँ पृथ्वीपर स्थित वल्लीरूपी सोमसे है । **विश्वा रूपा**–अर्थात् वल्लीसे लेकर हव्यरूपी रसके तैय्यार होनेतकके (सोमके) बदलते हुए कई रूप । **भानु**–सोमके रसकी तेजस्वी किरन । सूर्य, चन्द्र आदि तेजोगोलोंकी तरह या तेजस्वी अग्निके सदृश सोमकी भी किरनें हैं; दे. 'वृषा ह्यसि भानुना द्युमन्तं त्वा हवामहे' ९.६५.४ । इसी लिए सूर्य अथवा अग्नि की तरह उसने भी रोदसीको प्रकाशित किया है; दे. १.१४३.२; ३.२.२ (अग्नि); ९.९.३; ९.७५.४ (सोम) ।]



८२

१०·१४·१–१६ यमो वैवस्वतः ॥ १–५ यमः । ६ अङ्गिरःपित्रथर्वभृगुसोमाः । ७–९ लिङ्गोक्तदेवताः, पितरो वा । १०–१२ श्वानौ ॥ १–१२ त्रिष्टुप् । १३, १४, १६ अनुष्टुप् । १५ बृहती ॥

प्रस्तुत यमसूक्तको प्रधान रूपसे तीन भागोंमें बाँटा जा सकता है। ऋचा १ से ६ तकके पहले भागमें यम एवं उसके सहयोगियों की सराहना की गई है और यज्ञमें उपस्थित होनेके लिए उन्हें आवाहित किया गया है। ऋचा ७ से १२ तकके दूसरे भागमें नूतन मृतात्माको श्मशानकी दहन–भूमिके स्थानसे निकलकर यमलोक जानेका आदेश दिया गया है। ऋचा १३ से १६ तकके तीसरे एवं अन्तिम भाग में यज्ञके हविर्भागका स्वीकार करनेके लिए राजा यमका आवाहन किया गया है।

प॒रे॒यि॒वांसं॑ प्र॒वतो॑ म॒हीरनु॑ ब॒हुभ्यः॒ पन्था॑मनुपस्पशा॒नम् ।
वै॒व॒स्व॒तं सं॒गम॑नं॒ जना॑नां य॒मं राजा॑नं ह॒विषा॑ दुवस्य ॥ १ ॥

प॒रे॒यि॒ऽवांस॑म् । प्र॒ऽवतः॑ । म॒हीः । अनु॑ । ब॒हुऽभ्यः॑ । पन्था॑म् । अ॒नु॒ऽप॒स्पशा॒नम् ।
वै॒व॒स्व॒तम् । स॒म्ऽगम॑नम् । जना॑नाम् । य॒मम् । राजा॑नम् । ह॒विषा॑ । दु॒व॒स्य॒ ॥ १ ॥

य॒मो नो॑ गा॒तुं प्र॑थ॒मो वि॑वेद॒ नैषा गव्यू॑ति॒रप॑भर्त॒वा उ॑ ।
यत्रा॑ नः॒ पूर्वे॑ पि॒तरः॑ परे॒युरे॒ना ज॑ज्ञा॒नाः प॒थ्या॒३ अनु॒ स्वाः ॥ २ ॥

य॒मः । नः॒ । गा॒तुम् । प्र॒थ॒मः । वि॒वे॒द॒ । न । ए॒षा । गव्यू॑तिः । अप॑ऽभर्त॒वै । ऊँ॒ इति॑ ।
यत्र॑ । नः॒ । पूर्वे॑ । पि॒तरः॑ । प॒रा॒ऽई॒युः । ए॒ना । ज॒ज्ञा॒नाः । प॒थ्याः॑ । अनु॑ । स्वाः ॥ २ ॥

---

१. बड़े-बड़े टीलोंके पार गये हुए अपने अनेक अनुयायियोंको मार्ग दिखानेवाले, तथा भिन्न-भिन्न लोगोंको एकत्रित करनेवाले विवस्वान्के इस पुत्रको, यमराजको, हवि समर्पित करके उसकी सेवा करो।

[**प्रवतः** (स्त्री.) **महीः अनु**–'ऊँचे, बड़े–बड़े एवं गावदुम कगारोंके ऊपरसे' (दे. प्रवतः ५·८३·७; १·३५·३)। **दुवस्य**–(**दुवस्** से बनाए गए धातुका आज्ञार्थी रूप) कविने यह अपने सहयोगीसे कहा है।]

२ हमारे लिए सर्व प्रथम यमराजने ही मार्ग खोज निकाला है। जिस स्थानपर हमारे पुरातन पूर्वज और उनके अनन्तर जिन्होंने जन्म ग्रहण किया वे अन्य लोग भी अपने अपने मार्गोंसे गए हैं वह यह हमारा (भोगभूमिरूपी) चरागाह है; कोई भी इसे हमसे छीन नहीं सकेगा।

(**प्रथमः**–दे. 'यो ममार प्रथमो मर्त्यानां यः प्रेयाय प्रथमो लोकमेतम्' अथर्ववेद १८·३·१३। **गव्यूतिः**–'गायोंका चरागाह'; लक्षणाकी सहायतासे इसका यहाँ अर्थ होगा 'अन्न, जल एवं अन्य उपभोग प्राप्त करनेका स्थान'। **एना**–'इसी तरह' (तृतीयात्मक अव्यय।)]

मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः ।
यांश्च देवा वावृधुर्ये च देवान्त्स्वाहान्ये स्वधयान्ये मदन्ति ॥ ३ ॥
मातली । कव्यैः । यमः । अङ्गिरःऽभिः । बृहस्पतिः । ऋक्वऽभिः । ववृधानः ।
यान् । च । देवाः । ववृधुः । ये । च । देवान् । स्वाहा । अन्ये । स्वधया । अन्ये । मदन्ति ॥ ३ ॥

इमं यम प्रस्तरमा हि सीदाङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः ।
आ त्वा मन्त्राः कविशस्ता वहन्त्वेना राजन् हविषा मादयस्व ॥ ४ ॥
इमम् । यम । प्रऽस्तरम् । आ । हि । सीद । अङ्गिरःऽभिः । पितृऽभिः । सम्ऽविदानः ।
आ । त्वा । मन्त्राः । कविऽशस्ताः । वहन्तु । एना । राजन् । हविषा । मादयस्व ॥ ४ ॥

अङ्गिरोभिरा गहि यज्ञियेभिर्यम वैरूपैरिह मादयस्व ।
विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन् यज्ञे बर्हिष्या निषद्य ॥ ५ ॥
अङ्गिरःऽभिः । आ । गहि । यज्ञियेभिः । यम । वैरूपैः । इह । मादयस्व ।
विवस्वन्तम् । हुवे । यः । पिता । ते । अस्मिन् । यज्ञे । बर्हिषि । आ । निऽसद्य ॥ ५ ॥

३. कव्यनामक अनुयायियोंके साथ मातलि, अङ्गिरस् नामक देवर्षियोंके साथ स्वयं यमराज, तथा ऋक्व नामक अनुयायियोंके साथ (देवगुरु) बृहस्पति, उसी प्रकार जिन ऋषियोंको देव वैभवशाली बनाते हैं और जो देवोंको वैभवशाली बनाते है ऐसे अन्य पूर्वज ऋषि भी वैभवसे संपन्न होकर (यहीं रहते हैं) । इनमेसे कतिपय (देव) 'स्वाहा' मन्त्रसे तो अन्य (पितर) 'स्वधा' मन्त्रसे प्रसन्न होते हैं ।

[प्रस्तुत ऋचामें यमके सहयोगी देवतों एवं प्राचीन पितृभूत ऋषियों के साथ साथ उनकी परस्पर सहायताकी ओर निर्देश किया गया है । **स्वाहा** याने स्वाहा शब्दसे और **स्वधया** याने स्वधा शब्दसे अथवा तदुपलक्षित हविष्यान्नसे, यह अर्थ ।]

४. हे यम, हमारे पूर्वज जो अङ्गिरस् ऋषि उनसे सहमत होकर हमारे इस पत्थरके आसनपर अधिष्ठित हो जाओ । हमारे कवियोंसे पठित मन्त्र तुम्हें हमारे यहाँ ले आएं । हे राजन्, इस हव्यसे तुम सुसंतुष्ट हो जाओ ।

[**एना हविषा** –' इस हव्यसे '; दे. ऋचा १३·१४ ।]

५. हे यम, यज्ञका स्वीकार करने योग्य अङ्गिरस् ऋषियोंको साथ लेकर आओ । वैरूप नामक पूर्वजोंके साथ यहाँ तुम भी सुप्रसन्न हो जाओ । उस विवस्वानको–जो तुम्हारा पिता है–भी मैं यहाँ निमन्त्रित करता हूँ (और प्रार्थना करता हूँ) कि 'इस यज्ञमें कुशासनपर अधिष्ठित होकर (तुम प्रमुदित हो जाओ) ' ।

[**वैरूपैः**–अङ्गिरसके विरूप नामके वंशज । चौथे पादमें **मादयस्व** का अध्याहार आवश्यक; यह विवस्वानसे कहा गया है । ये ही शब्द ३·३५·६ में इन्द्रसे कहे गए हैं ।]

अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः ।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ ६ ॥

अङ्गिरसः । नः । पितरः । नवऽग्वाः । अथर्वाणः । भृगवः । सोम्यासः ।
तेषाम् । वयम् । सुऽमतौ । यज्ञियानाम् । अपि । भद्रे । सौमनसे । स्याम ॥ ६ ॥

प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिर्यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः ।
उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं च देवम् ॥ ७ ॥

प्र । इहि । प्र । इहि । पथिऽभिः । पूर्व्येभिः । यत्र । नः । पूर्वे । पितरः । पराऽईयुः ।
उभा । राजाना । स्वधया । मदन्ता । यमम् । पश्यासि । वरुणम् । च । देवम् ॥ ७ ॥

सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन् ।
हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छस्व तन्वा सुवर्चाः ॥ ८ ॥

सम् । गच्छस्व । पितृऽभिः । सम् । यमेन । इष्टापूर्तेन । परमे । विऽओमन् ।
हित्वाय । अवद्यम् । पुनः । अस्तम् । आ । इहि । सम् । गच्छस्व । तन्वा । सुऽवर्चाः ॥ ८ ॥

---

६. अङ्गिरस, नवग्व, अथर्वन् तथा भृगु इन नामोंको धारण करनेवाले हमारे पूर्वज ऋषि सोमपानके लिए योग्य ही है । उन सब यज्ञार्ह पूर्वजोंकी कृपा तथा मङ्गलप्रद प्रसन्नता हमें संपूर्णतया प्राप्त हो ।

७. (हे सद्योमृत जीव), सनातन मार्गोंपरसे, जिस स्थानपर अपने, सभीके पूर्वज पितर (नित्य निवास करनेके लिए) गए हैं उस स्थानपर आगे आगे बढ़ते जाओ । (वहाँ जानेपर) अपनी इच्छाके अनुसार आनन्दका उपभोग लेनेवाले यम तथा वरुण इन दोनों देवोंसे, राजाओंसे, जाकर मिलो ।

[**स्वधया मदन्ता** ये शब्द वरुणसे भी कहे गए हैं, अतएव **स्वधा** को स्वेच्छाके अर्थमें समझ लें (दे. ऊपर ४·३३·६); ' पितरोंके लिए निश्चित हविष्यान्न ' यह पारिभाषिक अर्थ यहाँ असमीचीन होगा । प्रस्तुत सूक्तकी तीसरी ऋचामें तो वही अर्थ स्पष्टतया अभिप्रेत है ।]

८. वहाँ उन अत्युन्नत स्वर्गलोकमें अपने पितरोंकी तथा राजा यमकी भेंट लेकर अपना इष्टापूर्त अपने अधीन कर लो । अपने सभी दोषोंका त्याग कर, अपने इस (शाश्वत) गृहकी ओर आओ और अनन्तर सुन्दर तेजसे युक्त होकर (वहाँ संचरण करने योग्य नूतन) शरीर धारण करो ।

[**इष्टापूर्तेन** (द्वन्द्व)—यज्ञादि एवं शुभकर्मों द्वारा अर्जित पुण्य; दे. 'इष्टं च पूर्तं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वो अतिथेरश्नाति'–अथर्ववेद ९·६·३ । **पुनर् अस्तं आ इहि**–' अपने घरकी ओर फिरसे लौट आओ '। यह घर सभी जीवोंका नित्य स्थान है जो उनसे कोई भी नहीं छीन सकता (दे. ऋचा २)।

अपेत वीत वि च सर्पतातोऽस्मा एतं पितरो लोकमक्रन् ।
अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्यवसानमस्मै ॥ ९ ॥

अप । इत । वि । इत । वि । च । सर्पत । अतः । अस्मै । एतम् । पितरः । लोकम् । अक्रन् ।
अहःऽभिः । अत्ऽभिः । अक्तुऽभिः । विऽअक्तम् । यमः । ददाति । अवऽसानम् । अस्मै ॥९॥

अति द्रव सारमेयौ श्वानौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा ।
अथा पितॄन्त्सुविदत्राँ उपेहि यमेन ये सधमादं मदन्ति ॥ १० ॥

अति । द्रव । सारमेयौ । श्वानौ । चतुःऽअक्षौ । शबलौ । साधुना । पथा ।
अथ । पितॄन् । सुऽविदत्रान् । उप । इहि । यमेन । ये । सधऽमादम् । मदन्ति ॥ १० ॥

वास्तवमें यही उसका अन्तिम विश्रान्ति–स्थान है जो सभी सुख–सुविधाओंसे युक्त है (दे. ऋचा ९)। **तन्वा संगच्छस्व**—' वह नया शरीर धारण करो जो उपर्युक्त अन्तिम विश्रान्ति–स्थानमें विचरण करने योग्य है '। यहाँ कल्पना यह है कि मर्त्यलोकमें शरीरकी सहायतासे अर्जित इष्ट एवं पूर्त के बलपर यमलोककी भोगभूमिमें उपभोग प्राप्त करनेके लिए मानवको नया शरीर धारण करना पड़ता है । इस भोगभूमिके विस्तृत वर्णनके लिए दे. बादमें आनेवाला सूक्त १०·१५४ । यहाँ आवश्यक ' असुनीति ' नामके शरीरका उल्लेख अन्यत्र भी प्राप्त होता है और १०·१५·१४ तथा १०·१६·१–२,५ के अनुसार इस शरीरको प्राप्त करा देनेमें मानवकी देहको भस्मसात् करनेवाला अग्निदेव ही सहायक सिद्ध होता है ।]

९. (हे भूतपिशाचो), तुम सभी यहाँसे निकलो, दूर भाग जाओ, हट जाओ । (हमारे पूर्वज) पितरोंने यह स्थान इसके लिए निश्चित किया है । राजा यम उसीको यह विश्रान्ति-स्थान समर्पित करता है जिसमें दिन, वर्षा तथा रात्रि (आदि उपभोगके साधन) विद्यमान हैं ।

[यह ऋचा वास्तवमें श्मशान–भूमिके भूतों एवं पिशाचों से कही गई है । उनसे प्रार्थना की गई है कि हाल ही में मृत व्यक्तिको यमलोकमें अपने नियत स्थानपर पहुँचनेमें वे बाधा उपस्थित न करें । **अवसानम्**– अन्तिम विश्रान्ति–स्थान । हाँ, इसकी प्राप्ति तभी होती है जब मानवके पास इष्टापूर्तका सम्बल हो । अन्य व्यक्ति (मरनेके बाद) श्मशान–भूमिके पिशाचों जैसी योनिमें ही सड़ते रहनेपर बाध्य होते है । इन्हीं पिशाचोंको संबोधित करके उक्त प्रार्थना यहाँ की गई है । **एतं लोकम्**–श्मशान–भूमि तथा उसके द्वारा यमलोक जिसमें उसका अन्तिम विश्रान्ति–स्थान निर्धारित हुआ है ।]

१० (हे सद्योमृत जीव), चार नयनवाले, चित्रित शरीरके सरमाके जो दो पुत्र श्वान (तुम्हें दिखाई पड़ेंगे) उनके पास अच्छे मार्गसे अत्यन्त शीघ्र गमन करो । अनन्तर यमराजके साथ एक ही पङ्क्तिमें प्रसन्नतासे जो (अन्नादिका) उपभोग लेते हैं उन अपने अत्यन्त उदार पितरोंके पास उपस्थित हो जाओ ।

[इस ऋचामें हाल ही में मृत व्यक्तिको उपदेश दिया गया है कि उचित मार्गसे आगे बढ़कर सभी बाधाओंको हटाते हुए यमलोक ले जानेवाले दो संरक्षक श्वानोंके पास वह जल्द जा पहुँचे । **सारमेयौ श्वानौ**

यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ ।
ताभ्यामेनं परि देहि राजन्त्स्वस्ति चास्मा अनमीवं च धेहि ॥ ११ ॥

यौ । ते । श्वानौ । यम । रक्षितारौ । चतुःऽअक्षौ । पथिरक्षी इति पथिऽरक्षी । नृऽचक्षसौ ।
ताभ्याम् । एनम् । परि । देहि । राजन् । स्वस्ति । च । अस्मै । अनमीवम् । च । धेहि ॥ ११ ॥

उरूणसावसुतृपा उदुम्बलौ यमस्य दूतौ चरतो जनाँ अनु ।
तावस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर्दातामसुमद्येह भद्रम् ॥ १२ ॥

उरुऽनसौ । असुऽतृपौ । उदुम्बलौ । यमस्य । दूतौ । चरतः । जनान् । अनु ।
तौ । अस्मभ्यम् । दृशये । सूर्याय । पुनः । दाताम् । असुम् । अद्य । इह । भद्रम् ॥ १२ ॥

में कर्मकारकको ' कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे ' के अनुसार और **अति** को कर्मप्रवचनीय (पूजायाम्) मानना चाहिए (दे. अति रेजन्ते १·१४३·३ तथा, अति मन्द्रो २·२८·१)। बादकी ऋचाकी ओर देखते हुए 'श्वानोंको लाँघकर दौड़ते जाओ' यह अर्थ अतीव असमीचीन ही प्रतीत होता है। **सुविदत्रान्** (सु+वि+दत्र)– ' अत्यन्त उदार ', ' उत्तम एवं विशिष्ट उपहार देनेवाले '; इसके विपरीत मन्यु, निर्ऋति तथा अराति को **दुर्विदत्र** कहा गया है; दे. १०·३५·४; १०·३६·२; १०·६३·१२ ।]

११. हे यमराज, मनुष्यमात्रोंपर ध्यान रखनेवाले, चार नयनवाले तथा मार्गके संरक्षक जो तुम्हारे दो रक्षक श्वान हैं उनके अधीन इसे कर दो तथा कल्याण और आरोग्य इसे प्राप्त करा दो ।

[**अनमीवम्**–संज्ञाके स्थानपर यह विशेषण ' नीरोगता ' (तन्दुरुस्ती) के अर्थमें प्रयुक्त किया गया है। अन्यत्र यह विशेषण ही है; दे. ३·५९·३, ७·५४·१, १०·१८·७ आदि ।]

१२. विशाल नासिकायुक्त, (मुमूर्षु लोगोंके) प्राण अपने अधिकारमें रखनेवाले, महापराक्रमी, यमके ये दो दूत मर्त्यलोकमें भ्रमण करते रहते हैं । वे आज हमें हमारे मङ्गलमय प्राण फिर प्रत्यर्पित करें ताकि हमें (नित्य) सूर्यदर्शन हो सके ।

[**असु-तृपौ**–' जीवोंके प्राणोंको अधिकारमें कर लेनेपर सन्तुष्ट होनेवाले, ' मतलब ' राजा यमके आदेशानुसार जीवोंके प्राणोंको पूर्णतया वशमें कर लेनेके समयतक उन्हें न छोड़नेवाले'। **सूर्याय दृशये** में **सूर्याय** यह चतुर्थी द्वितीयाके अर्थमें प्रयुक्त हुई है; दे. सूर्यं दृशे १·५०·१ । सूर्यके प्रकाशका उपभोग यही सुदीर्घ एवं निरामय जीवनकी ओर संकेत करता है; दे. ' तच्चक्षुर्देवहितं शुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतम् । जीवेम शरदः शतम्' ७·६६·१६ । **अस्मभ्यं पुनर्दाताम् असुम्**—मृत व्यक्तिके संबन्धके कारण हमारे घरमें प्रवेश करके यमके इन दूतोंने हमारे प्राणोंको भी वशमें कर लिया होगा इस कल्पनासे यहाँ उनसे उन्हें हमें लौटानेकी प्रार्थना की गई है । इसी तरहकी प्रार्थना एवं भय आगे चलकर १०·१८·१–५,१४ में भी पाया जाता है। साथ साथ दे. 'इमान् रक्षत पुरुषान् आ जरिम्णो, मोष्वेषामसवो यमं गुः' अथर्ववेद १८·३·६२ ।]

यमाय सोमं सुनुत यमाय जुहुता हविः ।
यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरंकृतः ॥ १३ ॥

यमाय । सोमम् । सुनुत । यमाय । जुहुत । हविः ।
यमम् । ह । यज्ञः । गच्छति । अग्निऽदूतः । अरम्ऽकृतः ॥ १३ ॥

यमाय घृतवद्धविर्जुहोत प्र च तिष्ठत ।
स नो देवेष्वा यमद्दीर्घमायुः प्र जीवसे ॥ १४ ॥

यमाय । घृतऽवत् । हविः । जुहोत । प्र । च । तिष्ठत ।
सः । नः । देवेषु । आ । यमत् । दीर्घम् । आयुः । प्र । जीवसे ॥ १४ ॥

यमाय मधुमत्तमं राज्ञे हव्यं जुहोतन ।
इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः ॥ १५ ॥

यमाय । मधुमत्ऽतमम् । राज्ञे । हव्यम् । जुहोतन ।
इदम् । नमः । ऋषिऽभ्यः । पूर्वऽजेभ्यः । पूर्वेभ्यः । पथिकृत्ऽभ्यः ॥ १५ ॥

---

१३. राजा यमके लिए सोमका सवन करो तथा राजा यमके लिए (अग्निमें) हविर्द्रव्योंका हवन करो। अग्नि उसका दूत है इस लिए अच्छी तरहसे तैयार किया हुआ यह हमारा यज्ञ (यज्ञिय हवि) यमके पास पहुँच जाता है ।

[**अग्निदूतः** (बहुव्रीहि) । **अरंकृतः** (कृत √कृ) 'अच्छी तरह तैयार किया हुआ' (कर्मधारय) । **कृतः** इस कृदन्तको पूर्वपदकी स्वर-प्राप्तिका कारण समझें ।)]

१४. घृतसे मिश्रित यह हव्य यमके लिए (अग्निमें) हवन करो और आगे चलो। देवोंकी गवाहसे वह हमें दीर्घ आयु दे, ताकि हम जीवित रह सकें ।

[**प्र च तिष्ठत**—(बादमें आनेवाले यज्ञकर्मके अङ्गोंके लिए) 'तैयार या तत्पर रहिए'। **देवेषु नः आयमत्** –वह हमें देवोंके संपर्कमें, उनकी दयादृष्टिमें रखे; मतलब उनकी सेवामें, उनके अनुग्रहके भाजन बनाकर हमें दीर्घ आयुका उपभोग लेने दे । **आयमत्** का कर्म है **नः**; दे. '(इन्द्र) आ नः सुम्नेषु यामय' ८.३.२; 'स नो भगाय सोमो देवेष्वा यमत्' ९.४४.५। इसी पादके लिए अथर्ववेदमें 'स नो जीवेषु आ यमेत्' (अ. वे. १८.२.३) यह पाठभेद पाया जाता है। सायणाचार्यने **आयुः** को **आयमत्** का कर्म मानते हुए 'देवेषु सः' यह अन्वय किया है । इसी तरह **आयुः** को कर्म तथा **आ** एवं **प्र** दोनोंको **यमत्** क्रियाके उपसर्ग मानते हुए **नः** में संप्रदानकी कल्पना करके भी अन्वय किया जा सकता है; इस दशामें अर्थ होगा—'देवोंके संपर्कमें जीनेके लिए वह हमें दीर्घ आयु प्रदान करे'; दे. 'आ न इह प्र यच्छ रयिम्' (६.५९.९) ।]

१५. अत्यधिक माधुर्ययुक्त यह हव्य राजा यमके लिए अग्निमें हवन करो। यह हमारा प्रणाम अपने पूर्वज ऋषियोंको, अपने पुरातन मार्गदर्शकोंको, समर्पित हो जाय ।

त्रिकद्रुकेभिः पतति षळुर्वीरेकमिद्बृहत् ।
त्रिष्टुब्गायत्री छन्दांसि सर्वा ता यम आहिता ॥ १६ ॥

त्रिऽकद्रुकेभिः । पतति । षट् । उर्वीः । एकम् । इत् । बृहत् ।
त्रिऽस्तुप् । गायत्री । छन्दांसि । सर्वा । ता । यमे । आऽहिता ॥ १६ ॥

[**पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः**–' प्राचीन कालके मार्गका निर्माण करनेवाले ' याने यमकी ही तरह (दे. ऋचा २) मार्गका निर्माण करनेवाले अङ्गिरस, भृगु आदि कुलोंमें उत्पन्न ऋषियोंको ।]

१६. त्रिकद्रुक नामक यज्ञोंमें हमारा यह (सोमरूपी सुपर्ण) उड़ान ले रहा है । छः विशाल भूलोक, एक महत् (ब्रह्म) तथा त्रिष्टुभ्, गायत्री और अन्य छन्द ये सभी इस राजा यममें ही सुप्रतिष्ठित किए गए हैं ।

[**पतति**—अर्थात् सोमरूपी श्येन; दे. ९·८५·११ । अथर्ववेद १८·२·६ में इसी ऋचामें **पतति** के स्थानपर **पवते** यह पाठ आया है; इससे भी यह प्रतीत होता है कि, कविको कर्ताके रूपमें सोम ही अभिप्रेत है । पहला पाद वास्तवमें एक स्वतन्त्र वाक्य ही है जिसमें यमके लिए किए गए त्रिकद्रुक नामके प्रस्तुत सोमयागका प्रधान रूपसे उल्लेख है । इसके उपरान्त अन्य तीन पादोंमें यह प्रतिपादन है कि सोमसहित यम ही विश्वका अधिष्ठान है । **षड् उर्वीः**— छः विस्तीर्ण भूलोक; अथवा तीन विस्तीर्ण द्युलोक, एवं तीन भूलोक; दे. ' तिस्रो द्यावो निहिता अन्तरस्मिन् तिस्रो भूमीरुपराः षड्विधानाः ७·८७·५ । **एकमिद् बृहत्** एक ही एक बृहत् याने **ऋत** अर्थात् **एकं सत्**; दे. ५·६८·१ तथा १·१६४·४६ । आशय है कि अग्नि, वरुण, यम, आदि देवता एक ही सत् तत्त्वके विभिन्न रूप हैं; अतएव तात्त्विक दृष्टिकोणसे इनमेंसे कोई भी विश्वका अधिष्ठान हो सकता है । प्रस्तुत ऋचामें यह समझना आवश्यक है कि प्रथम पादमें वर्णित सोम सभी हविर्द्रव्योंकी ओर संकेत करता है । दूसरेमें निर्दिष्ट छः विस्तीर्ण लोक समूचे बाह्य विश्वकी ओर और एकमेव बृहद् उनके मूल तत्त्वकी ओर निर्देश करता है और तीसरे पादमें निर्दिष्ट सभी छन्द ऋषियोंके बहुविध छन्दोबद्ध मन्त्रोंकी ओर संकेत करनेवाले हैं । पहले पादको अन्य पादोंसे अन्वित करनेके लिए दूसरे पादके प्रारम्भमें **स च** का अध्याहार करें । इस **सः** याने सोमको उपर्युक्त कथनके अनुसार सभी हविर्द्रव्योंका परिचायक समझ लें ।]

८३

१०·१५·१–१४ शङ्खो यामायनः॥ पितरः॥ १–१०, १२–१४ त्रिष्टुप्। ११ जगती॥

प्रस्तुत पितृसूक्तकी पहली आठ ऋचाओंमें विभिन्न स्थानोंमें निवास करनेवाले अनेक प्रकारके पितरोंको हविर्भागका स्वीकार एवं सोमपान करनेके लिए उपस्थित रहनेका निमन्त्रण दिया गया है। अन्तिम छः ऋचाओंमें जातवेदा अग्निसे प्रार्थना की गई है कि उपर्युक्त सभी प्रकारके पितरोंको साथ लेकर वह यज्ञमें हविर्ग्रहण करनेके लिए पधारनेकी कृपा करे।

उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः।
असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु॥ १॥

उत्। ईरताम्। अवरे। उत्। परासः। उत्। मध्यमाः। पितरः। सोम्यासः।
असुम्। ये। ईयुः। अवृकाः। ऋतऽज्ञाः। ते। नः। अवन्तु। पितरः। हवेषु॥ १॥

इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो य उपरास ईयुः।
ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु विक्षु॥ २॥

इदम्। पितृऽभ्यः। नमः। अस्तु। अद्य। ये। पूर्वासः। ये। उपरासः। ईयुः।
ये। पार्थिवे। रजसि। आ। निऽसत्ताः। ये। वा। नूनम्। सुऽवृजनासु। विक्षु॥ २॥

१. नीचेके प्रदेशमें, ऊपरके प्रदेशमें और मध्यस्थानोंमें रहनेवाले, सोमपान करने योग्य ऐसे हमारे सभी पितर उठकर तैयार रहें। यज्ञके ज्ञाता होकर, दुष्टतासे बिलकुल परे रहनेवाले हमारे जिन पितरोंने नूतन प्राण धारण किए हैं वे सभी हमारे बुलानेपर आकर हमारी सुरक्षा करें।

[**असुम् ईयुः** –'पितृलोकमें प्राण धारण किए हैं'। **अवृकाः** (बहुव्रीहि) नास्ति वृको येषु— 'जिनमें वृककी तरह दुष्टता न हो ऐसे'।]

२. जो प्राचीन अथवा अर्वाचीन पूर्वज यहाँसे निकल गए हैं, जो पृथ्वीके प्रदेशोंमें अवस्थित हैं और जो उत्तम अनुयायियोंसे युक्त अपनी अपनी प्रजाओंमें निवास कर रहे हैं, उन सभी पितरोंको आज हमारा यह प्रणाम निवेदित हो जाय।

[**सुवृजनासु विक्षु**—अच्छे या भले अनुयायियों–(सु + वृजन) से युक्त अपनी अपनी प्रजाओंमें। **वृजनम्**–'अनुयायी लोग'; दे. ७·६१·४। दूसरे पादसे चौथे पादतक उन पितरोंका उल्लेख किया गया है जो क्रमशः यमलोकमें, पृथ्वीपर स्थित प्रदेशोंमें तथा विष्णुके तीसरे विक्रमणादि स्थानोंमें निवास करनेवाले हों। पहले पादमें इन सभीको प्रणाम किया गया है।]

आहं पितॄन्त्सुविदत्राँ अवित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः ।
बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठाः ॥ ३ ॥

आ । अहम् । पितॄन् । सुऽविदत्रान् । अवित्सि । नपातम् । च । विऽक्रमणम् । च । विष्णोः ।
बर्हिऽसदः । ये । स्वधया । सुतस्य । भजन्त । पित्वः । ते । इह । आऽगमिष्ठाः ॥ ३ ॥

बर्हिषदः पितर ऊत्य१र्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम् ।
त आ गतावसा शंतमेनाथा नः शं योररपो दधात ॥ ४ ॥

बर्हिऽसदः । पितरः । ऊती । अर्वाक् । इमा । वः । हव्या । चकृम । जुषध्वम् ।
ते । आ । गत । अवसा । शम्ऽतमेन । अथ । नः । शम् । योः । अरपः । दधात ॥ ४ ॥

उपहूताः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु ।
त आ गमन्तु त इह श्रुवन्त्वधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥ ५ ॥

उपऽहूताः । पितरः । सोम्यासः । बर्हिष्येषु । निऽधिषु । प्रियेषु ।
ते । आ । गमन्तु । ते । इह । श्रुवन्तु । अधि । ब्रुवन्तु । ते । अवन्तु । अस्मान् ॥ ५ ॥

३. उत्तम ज्ञानी पितरोंको, तथा अपां नपात् और विष्णुके विक्रमणको, मैंने अपने अनुकूल बना लिया है । कुशासन पर बैठनेका जिनका अधिकार है वे पितर भी यहाँ अत्यन्त खुशीसे आकर अपनी अपनी इच्छाके अनुसार हमारे द्वारा समर्पित सोमरस तथा हविष्यान्न का ग्रहण करें ।

[**सुविदत्रान्** –दे. ऊपर १०-१४-१० की टिप्पणी । **नपातम्** अर्थात् अपां नपातम् । जातवेदा अग्नि एवं पितरोंके दृढ संबन्धका निर्देश आगे चलकर ९ से १३ तककी ऋचाओंमें अधिक स्पष्टताके साथ किया गया है । **विष्णोः विक्रमणम्** अर्थात् तीसरा जहाँ ऊपरके १·१५४·५ के कथनानुसार देवोंके पुण्यवान् भक्त सुखपूर्वक निवास करते है । **अवित्सि** –(√विद्–'प्राप्त कर लेना ')– ' वशमें कर लिया है '। इसीलिए मन्तव्य है कि यमलोक एवं विष्णुलोक के, सभी स्थानोंमें रहनेवाले पितर (पूर्वज) अग्निकी सहायतासे इस यज्ञमें उपस्थित होंगे । उत्तरार्धमें अन्वय है–' ये बर्हिषदः (पितरः) ते इह आगमिष्ठाः सुतस्य पित्वः (च) भजन्त ' । अथवा ' ये...भजन्त त इहागमिष्ठाः (भवन्तु) ' इस तरह अन्वय करना भी संभव है । **स्वधया**–' स्वेच्छासे या ' स्वधा ' मन्त्रके साथ । ']

४. कुशासनपर अधिष्ठित होनेवाले हे पितरो, कृपायुक्त होकर हमारी ओर आओ । ये हव्य तुम्हारे लिए ही हमने तैयार किए हैं; इनका प्रेमसे स्वीकार करो । तुम अपने अत्यधिक सुखप्रद प्रसादके सहित आओ और बादमें हमें क्लेशरहित सुख तथा कल्याण प्राप्त करा दो ।

[तीसरे पादके ' आ गत ' पदको पहले पादमें भी ले लें । **अरपः**–यह **शं योः** का विशेषण; **रपस्**– ' शरीरका घाव ' ।]

५. कुशासनपर उन्हें अत्यन्त प्रिय सोमरूपी निधियोंकी (उनके लिए) स्थापना करनेके बाद, सोमपान करने योग्य पितरोंका हमने आवाहन किया है । वे यहाँ आ जायँ और

आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येमं यज्ञमभि गृणीत विश्वे ।

मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन्नो यद्व आगः पुरुषता कराम ॥ ६ ॥

आऽअच्य । जानु । दक्षिणतः । निऽसद्य । इमम् । यज्ञम् । अभि । गृणीत । विश्वे ।

मा । हिंसिष्ट । पितरः । केन । चित् । नः । यत् । वः । आगः । पुरुषता । कराम ॥ ६ ॥

आसीनासो अरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय ।

पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्र यच्छत त इहोर्जं दधात ॥ ७ ॥

आसीनासः । अरुणीनाम् । उपऽस्थे । रयिम् । धत्त । दाशुषे । मर्त्याय ।

पुत्रेभ्यः । पितरः । तस्य । वस्वः । प्र । यच्छत । ते । इह । ऊर्जम् । दधात ॥ ७ ॥

(हमारी) प्रार्थना श्रवण करें । हमारा पक्ष लेकर (देवोंके पास) हमारी संस्तुति करें और साथ साथ हमारी सुरक्षा भी ।

[**बर्हिष्येषु निधिषु**–' बर्हिष्य निधि वे हविष्यरूपी निधि हैं जो बर्हिपर रखे जाते हैं; दे. ' मधुमन्तं निधिं पिबाथः ' ७.६९.७ ।]

६. बायी जांघ मोड़कर और वेदिके दक्षिणमें नीचे बैठकर तुम सभी पितर हमारे इस यज्ञका अभिनन्दन करो । मनुष्यस्वभावके अनुसार हमने अपने विरुद्ध कोई भी अपराध किया हो तो उसके कारण हे पितरो, हमें दण्ड मत दो ।

[**जानु आ अच्य**—' (बायी) जांघ मोड़कर ' । पितर बायी जांघ मोड़कर बैठते हैं, (दे. 'अथैनं पितरः प्राचीनावीतिनः सव्यं जानु आच्य...'—शतपथब्राह्मण २.४.२.२) तो देवता दाहिनी जांघ मोड़कर बैठना पसन्द करते हैं । **दक्षिणतः** अर्थात् वेदिकी दक्षिण दिशामें । **केनचित्** अर्थात् **आगसा** । **पुरुषता**– दे. ऊपर ७.७५.८ की टिप्पणी ।]

७. अरुणवर्ण (उषा देवियोंके) अङ्कपर बैठे हुए तुम अपने इस मर्त्य याजकको धन दो, और हे पितरो, अपने इन पुत्रोंको (याने हमें) अपने इस (प्रसिद्ध) द्रव्यमेंसे कुछ अल्प अंश दो, तथा वे तुम हमें सामर्थ्य भी दो ।

[**अरुणीनाम्**—उषाओंके घोडे अरुण रंगके हैं (दे. ऊपर १.४९.१) और स्वयं उषा भी अरुणवर्णा है (५.८०.१) । इसलिए यहाँ इस शब्दका अभिप्राय उषाओंसे ही समझ लें । ऋ. ४.१४.३ में तो **अरुणीः** यह उषाके साक्षात् विशेषणके रूपमें ही प्रयुक्त हुआ है । **तस्य वस्वः**–' उस संपत्ति या रयि का कुछ अंश जो तुम उदार याजकको देते रहते हो ' ।]

ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासोऽनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः ।
तेभिर्यमः संरराणो हवींष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु ॥ ८ ॥

ये । नः । पूर्वे । पितरः । सोम्यासः । अनुऽऊहिरे । सोमऽपीथम् । वसिष्ठाः ।
तेभिः । यमः । सम्ऽरराणः । हवींषि । उशन् । उशत्ऽभिः । प्रतिऽकामम् । अत्तु ॥ ८ ॥

ये तातृषुर्देवत्रा जेहमाना होत्राविदः स्तोमतष्टासो अर्कैः ।
आग्ने याहि सुविदत्रेभिरर्वाङ् सत्यैः कव्यैः पितृभिर्घर्मसद्भिः ॥ ९ ॥

ये । ततृषुः । देवऽत्रा । जेहमानाः । होत्राऽविदः । स्तोमऽतष्टासः । अर्कैः ।
आ । अग्ने । याहि । सुऽविदत्रेभिः । अर्वाङ् । सत्यैः । कव्यैः । पितृऽभिः । घर्मसत्ऽभिः ॥ ९ ॥

ये सत्यासो हविरदो हविष्पा इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः ।
आग्ने याहि सहस्रं देववन्दैः परैः पूर्वैः पितृभिर्घर्मसद्भिः ॥ १० ॥

ये । सत्यासः । हविःऽअदः । हविःऽपाः । इन्द्रेण । देवैः । सऽरथम् । दधानाः ।
आ । अग्ने । याहि । सहस्रम् । देवऽवन्दैः । परैः । पूर्वैः । पितृऽभिः । घर्मसत्ऽभिः ॥ १० ॥

---

८. सोमपानके योग्य हमारे जो पुरातन वसिष्ठ कुलके पितर सोमपानके लिए (राजा यमके) बाद यहाँ उपस्थित हो गए हैं उनसे (हमें उपहार देनेके विषयमें) सहमत होकर, उत्कण्ठित हुए उन्हें साथ लेकर, और स्वयं उत्कण्ठित होकर यह राजा यम (हमारे द्वारा समर्पित) हविर्द्रव्योंका अपनी इच्छाके अनुसार भक्षण करे ।

[**अनु ऊहिरे** (अनु + √वह्)–' यमका अनुकरण करते हुए आए '। **वसिष्ठाः**–' वसिष्ठ कुलके प्राचीन पूर्वज '। विशेष रूपसे इनका उल्लेख करनेवाला कवि संभवतः वसिष्ठ कुलसे संबद्ध होगा। अन्यथा **वसिष्ठाः** को **वसु** (श्रीमान्) विशेषणका तमवाचक रूप समझ लें।]

९. अनेकविध हविर्द्रव्योंके ज्ञानी, अपने अर्कोंसे, स्तोमोंकी सहायतासे जिन्हें निर्माण किया है (ऐसे प्रतीत होनेवाले) उत्तम ज्ञानी, विश्वासपात्र, घर्म नामक हविके पास (तैयार करके समर्पित करने) के लिए बैठनेवाले जो कव्यनामक हमारे पितर देवलोकमें साँस लगनेकी अवस्थातक तृषाक्रान्त हो गये हैं उनको साथ लेकर, हे अग्ने, तुम यहाँ उपस्थित हो जाओ।

[**अर्कैः** हेतुभूतैः **स्तोमैः** इव **तष्टासः**– 'वे (होत्राविदः) जिनके शरीर साक्षात् स्तोममय ही हों'। **जेहमानाः**– (√जिह्–हाँफना, बाहर निकालना) के बाद कर्मके रूपमें **जिह्वाम्** का अध्याहार करें। **होत्रा** (√हु—हवन करना)–' हव्य '। **घर्मसद्भिः**–' घर्म नामका हव्य तैयार करनेके लिए उसके पास बैठनेवाले; दे. ७.८३.७ में **अग्रसदाम्** की टिप्पणी।]

१०. कभी न बिछुड़नेवाले, (घनरूपी) हविर्द्रव्योंका भक्षण तथा (द्रवरूपी) हविर्द्रव्योंका पान करनेवाले, इन्द्र और अन्य देवोंके साथ एक ही रथमें प्रयाण करनेवाले, देवोंकी

अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदःसदः सदत सुप्रणीतयः ।
अत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हिष्यथा रयिं सर्ववीरं दधातन ॥ ११ ॥
अग्निऽस्वात्ताः । पितरः । आ । इह । गच्छत । सदःऽसदः । सदत । सुऽप्रनीतयः ।
अत्त । हवींषि । प्रऽयतानि । बर्हिषि । अथ । रयिम् । सर्वऽवीरम् । दधातन ॥ ११ ॥
त्वमग्न ईळितो जातवेदोऽवाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी ।
प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि ॥ १२ ॥
त्वम् । अग्ने । ईळितः । जातऽवेदः । अवाट् । हव्यानि । सुरभीणि । कृत्वी ।
प्र । अदाः । पितृऽभ्यः । स्वधया । ते । अक्षन् । अद्धि । त्वम् । देव । प्रऽयता । हवींषि ॥ १२ ॥
ये चेह पितरो ये च नेह यांश्च विद्म याँ उ च न प्रविद्म ।
त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः स्वधाभिर्यज्ञं सुकृतं जुषस्व ॥ १३ ॥
ये । च । इह । पितरः । ये । च । न । इह । यान् । च । विद्म । यान् । ऊँ इति । च । न । प्रऽविद्म ।
त्वम् । वेत्थ । यति । ते । जातऽवेदः । स्वधाभिः । यज्ञम् । सुऽकृतम् । जुषस्व ॥ १३ ॥

वन्दना करनेवाले घर्मनामक हविके पास (तैयार करके समर्पित करनेके लिए) बैठनेवाले जो हमारे प्राचीन पूर्वज पितर हैं उन्हें सहस्रोंकी संख्यामें लेकर, हे अग्ने, यहाँ आओ ।

[**इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः**–'इन्द्र एवं अन्य देवोंके साथ एक ही रथमें बैठनेकी योग्यता रखनेवाले', मतलब 'इतने बड़े'। **सहस्रं पितृभिः**–('सहस्रेण' के बदले 'सहस्रम्' का आर्ष प्रयोग) दे. ऊपर १·४८·७ में 'शतं रथेन' की टिप्पणी । **देववन्दैः**– 'देवोंकी वन्दना करनेवाले' ।]

११. अग्निसे पवित्रित हे पितरो, यहाँ आओ और हे उत्तम पथप्रदर्शको, अपने अपने आसनोंपर अधिष्ठित हो जाओ । कुशासनपर समर्पित किए गए हविर्द्रव्योंका भक्षण करो और सभी पुत्रोंसे युक्त संपदा हमें प्राप्त करा दो ।

[**अग्निष्वात्ताः** (स्वात्त√स्वद्–मीठा करना) 'अग्नि द्वारा दाहसे पवित्र किया हुआ, मीठा, शुद्ध किया हुआ' । आगे चलकर ऋचा १४ के '**अग्निदग्ध**' से समानार्थक ।]

१२. जातमात्रोंके ज्ञानी हे अग्निदेव, प्रार्थना की जानेपर हमारे इन हविर्द्रव्योंको मधुर बनाकर तुम (पितरोंके पास) उन्हें ले गए हो । अनन्तर तुमने उन्हें पितरोंको समर्पित किया और पितरोंने भी अपनी इच्छाके अनुसार उन (हविर्द्रव्यों) का भक्षण किया । हे अग्निदेव, (अब हमारे द्वारा) समर्पित हविर्द्रव्योंका तुम भी भक्षण करो ।

[**स्वधया**— 'स्वेच्छासे' अथवा 'स्वधा मन्त्रके साथ' । यहाँ अग्निसे प्रार्थना की गई है कि पितरोंको हव्य पहुँचानेके बाद वह भी उनका स्वीकार करे ।]

१३. जो हमारे पितर यहाँ (आ गए) हैं, और जो यहाँ नहीं आए हैं, जिन्हें हम जानते हैं, और जिन्हें हम अच्छी प्रकार जानते भी नहीं, उन सभीको, जितने (और जैसे) हैं उन

ये अ॒ग्निद॒ग्धा ये अन॑ग्निदग्धा॒ मध्ये॑ दि॒वः स्व॒धया॑ मा॒दय॑न्ते ।
तेभिः॑ स्व॒राळसु॑नीतिमे॒तां य॑थाव॒शं त॒न्वं॑ कल्पयस्व ॥ १४ ॥

ये । अ॒ग्निऽद॒ग्धाः । ये । अन॑ग्निऽदग्धाः । मध्ये॑ । दि॒वः । स्व॒धया॑ । मा॒दय॑न्ते ।
तेभिः॑ । स्व॒ऽराट् । असु॑ऽनीतिम् । ए॒ताम् । य॒था॒ऽव॒शम् । त॒न्व॑म् । क॒ल्प॒य॒स्व॒ ॥ १४ ॥

सभीको, हे जातमात्रोंके ज्ञानी, हे अग्निदेव, तुम भली भाँति पहचानते हो। उन सभीकी इच्छाके अनुसार अच्छी प्रकार तैयार किए गए इस यज्ञिय हविर्द्रव्यका (उन सभीके लिए) तुम प्रसन्नतासे स्वीकार करो।

[**स्वधाभिः**–' उन उन पितरोंकी इच्छाके अनुसार '। इसे ' **जुषस्व** ' के साथ अन्वित करें अथवा ' स्वधा इस मन्त्रोच्चारण द्वारा (भली भाँति तैयार किया हुआ) ' के अर्थमें मानकर उसे **सुकृतम्** से अन्वित कर लें।]

१४. हमारे जिन पितरोंको अग्निने भस्मसात् करके पावन किया है और जो अग्नि द्वारा भस्मसात् किए विना ही स्वयं पितृभूत हैं, और जो अपनी इच्छाके अनुसार स्वर्गके मध्यमें आनन्दसे निवास करते हैं उन सभीकी अनुमतिसे, हे स्वराट् अग्ने, (पितृलोकमें इस नूतन मृत जीवके) प्राण धारण करने योग्य (उसके) इस शरीरको उसकी इच्छाके अनुसार ही बना दो (और उसे दे दो)।

[**अग्निदग्धाः**–'अग्निद्वारा मर्त्यशरीरके दहन किए जानेके बाद पितृपदको प्राप्त'। **अनग्निदग्धाः**–अङ्गिरस् आदि वे देवऋषिरूपी पितर जो मर्त्य शरीरको धारण न करनेके कारण अग्निद्वारा दग्ध न किए जानेके बावजूद स्वयं ही पवित्र हों। **स्वधया**—दे. ऊपर ऋचा ३ की टिप्पणी। **स्वराट्**–ऐसे तुम; ' हे अग्ने 'का अध्याहार आवश्यक। **असुनीतिं तन्वम्**—वह नया शरीर जो यमलोकमें धारण किए गए नवीन प्राणोंका मार्गदर्शन करता है और उसकी सहायता करता है; दे. 'यदा गच्छात्यसुनीतिमेताम्' १०.१६.२। **असु** का अर्थ है वे प्राण जिन्हें पितृलोकमें जीवन बितानेके लिए धारण किया गया हो; दे. ऋचा १ के साथ साथ 'संगच्छस्व तन्वा सुवर्चाः' १०.१४.८। **तन्वं कल्पयस्व**—कल्पयस्व आत्मनेपदी रूप है सही; फिर भी यह तनु हाल ही में मृत व्यक्तिके लिए ही है; अग्निके लिए नहीं। √कल्प् को सकर्मक मानकर ही १०.१०.१२ (प्रमुदः कल्पयस्व) तथा १०.८६.२१ (सुविता कल्पयावहै) में प्रयुक्त किया गया है। साथ साथ अथर्ववेद १८.३.५९ एवं वाजसनेयि-संहिता १९.६० में इसी सन्दर्भमें ' कल्पयाति ' को प्रयुक्त किया गया है। पुरुषोंके ' असु ' की मर्त्य तनुका विनाश अग्निने ही किया; अत एव यह सर्वथा उचित है कि वही उनके लिए ' असुनीति ' नामकी अलग दिव्य तनुका निर्माण करे।]

८४

१०।१८।१–१४ संकुसुको यामायनः ॥ १–४ मृत्युः । ५ धाता । ६ त्वष्टा । ७–१३ पितृमेधः । १४ पितृमेधः प्रजापतिर्वा ॥१–१०, १२ त्रिष्टुप् । ११ प्रस्तारपङ्क्तिः । १३ जगती । १४ अनुष्टुप् ॥

प्रस्तुत मृत्युसूक्तके साधारणतया तीन विभाग (ऋचा १–७; ८–९; १०–१४) किए जा सकते हैं । ऋचा १ से ७ तकके पहले विभागका स्थल तो हाल ही में मृत व्यक्तिके घरके बाहरका आँगन ही प्रतीत होता है । मृत व्यक्तिके शवको घरके बाहर निकालकर दहन-भूमिकी ओर ले जानेके पहले पहली ऋचामें मृतको लेनेके लिए घरमें प्रविष्ट मृत्युसे प्रार्थना की गई है कि वह अन्य किसी भी व्यक्तिको ठेंस पहुँचाए बिना आए हुए रास्तेसे सीधे लौट जानेकी कृपा करे । दूसरी ऋचामें मृतके अन्तिम संस्कार संपन्न करनेवाला ऋत्विज उस घरके पुरुषोंको आदेश देता है कि मृत्युके पदचिह्नोंको नष्ट करके पुनीत होकर अपनी अपनी अवशिष्ट, दीर्घ आयुके उपभोगके लिए वे अपने अपने यज्ञकर्म पूर्ववत् चालू रखें । तीसरी ऋचामें वे शब्द उद्धृत किए गए हैं जिनका यज्ञकर्मोंमें उच्चारण करना उक्त पुरुषोंके लिए आवश्यक होता है । चौथी ऋचामें संस्कार संपन्न करनेवाला ऋत्विज लौटी हुई मृत्युके मार्गपर प्रतिबन्धकके रूपमें एक पत्थर रख देता है ताकि वह फिरसे वापस न आ पाए और इस रूपमें मृत्युके गालमें घुसे हुए उस व्यक्तिके साथ उसके जीवित संबन्धियोंके संपर्कका सूत्र भी नष्ट कर देता है । इसके उपरान्त आनेवाली दोनों ऋचाओंमें (पांचवीं तथा छठवीं में) वह धाता एवं त्वष्टा से प्रार्थना करता है कि मृत्युके अनिवार्य होते हुए भी वह अन्य बान्धवोंको उनकी आयुके क्रमके अनुसार ही अपने वशमें कर ले । इस तरह पुरुष–मण्डलीको शुद्ध करके उसे अपने अपने नित्य कर्मोंमें प्रवृत्त करनेके उपरान्त वह ऋत्विज घरकी सुहागिनोंको आदेश देता है कि मृत व्यक्तिके लिए शोकको संयत करके वे अपने नियत कार्य पूर्ववत् चालू रखें । इसके बादकी दो ऋचाएँ (दूसरा विभाग) मृतकी धर्मपत्नीसे तथा उत्तराधिकारके संबन्धमें खुद मृत व्यक्तिसे कही गई हैं । साथ साथ ऋचा ८ के ' गतासुमुप शेषे ' के साथ साथ ऋचा ९ के अत्रैव से प्रतीत होता है कि इन दोनों ऋचाओंके लिए संकल्पित स्थल श्मशान ही होगा । श्मशानमें चिताके तैयार किए जानेपर ऋत्विज एवं शववाहकोंके साथ वहाँ तक पहुँची हुई मृतकी धर्मपत्नी उस चितापर आरूढ होकर पतिके अनुगमनके लिए प्रस्तुत होती है । लेकिन ऋत्विज एवं उसके साथ आए हुए व्यक्ति यह कहकर उसे लौटाते हैं, " जबतक यह व्यक्ति जीवित था तबतक तुमने अपना पत्नी-व्रत उचित ढंगसे निबाहा है । अब इसके मृत होनेके बाद तुम्हें इसके साथ जानेकी कोई आवश्यकता नहीं है। इसलिए इस चितासे दूर होकर दुनियामें तुम अपनी शेष आयु बिताओ ' । बादमें मृत व्यक्तिको पुत्र अथवा अन्य निकट संबन्धी द्वारा उसके बल धैर्य आदि गुणोंके आत्मसात् किए जानेके प्रतीकके रूपमें मृत व्यक्तिके हाथमें धनुष्य रखकर उसे वशमें किया जाता है ।

दूसरे विभागकी आठवीं ऋचाको कतिपय विद्वान् नियोगको पुष्टि देनेवाले प्रमाणके रूपमें पेश करते हैं सही; लेकिन आश्वलायन गृह्यसूत्र ४।२।१६-१८ (तामुत्थापयेत् देवरः पतिस्थानीयोऽन्तेवासी जरद्दासो

श्वोदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकमिति) के ' 'अन्तेवासी जरद्दासो वा ' इन शब्दोंके आधारपर निश्चय ही यह कहा जा सकता है कि गृह्यसूत्रके रचयिता प्रस्तुत ऋचाका विनियोग नियोगके लिए नहीं करना चाहते थे। फिर भी यह प्रतीत होता है कि ऋग्विधान (३·८·४) के रचयिता नियोगके लिए इस ऋचाके विनियोगके पक्षमें थे। कुल मिलाकर प्रस्तुत ऋचाएं अनुमरण या सती की प्रथाका स्पष्टतया विरोध ही करतीं हैं। आठवीं ऋचामें नियोगके लिए कोई भी स्पष्ट प्रमाण नहीं है। परन्तु कुछ कालके उपरान्त याज्ञिकोंकी हमेशाकी प्रणालीके अनुसार अन्य मन्त्रोंके विनियोगकी ही तरह आपाततः दिखाई देनेवाले सादृश्यके आधारपर प्रस्तुत ऋचाका विनियोग भी नियोगके लिए किया जाने लगा होगा। नियोग प्रथाकी चर्चाके लिए दे. काणेकृत धर्मशास्त्रका इतिहास भाग २ पृ. ६१७–१९।

इसके बादकी पांचों ऋचाओं (१०-१४) से तीसरा विभाग बनता है। दहनके उपरान्त अस्थियोंका संचय करके उन्हें एक बरतनमें रखकर ज़मीनमें गाड़ते हुए मृत व्यक्तिसे एवं उस भूमिसे ये ऋचाएं कही गई है। इन ऋचाओंकी टिप्पणियोंसे ज्ञात होगा कि इनका प्रेत गाड़नेसे कोई संबन्ध नहीं है। अन्तिम ऋचामें और्ध्व-देहिक करनेवाला ऋत्विज वाणीके द्वारा मृत व्यक्तिसे और उसके ज़रिए मृत्युसे अबतक बने हुए अपने सबन्धको तोड़कर उससे मुक्त होता है।

वेदोंके परवर्ती स्मृतिकालीन वचनोंके आधारपर यह प्रतीत होता है कि इस सूक्तकी पहली सात ऋचाओंका विनियोग उस शान्ति-कर्मके लिए होता था, जो अशौचनिवृत्ति याने दस दिनोंके बाद होता था; दे. आश्वलायन गृह्यसूत्र ४·६·१०। लेकिन प्रस्तुत सूक्तकी ऋचाओंकी आनुपूर्वीसे (क्रमसे) ज्ञात होता है कि वैदिक कालमें उक्त अशौचनिवृत्ति घरके बाहर प्रेतके निकाले जानेके उपरान्त तुरन्त ही होती थी। एक ज़मानेमें वेदविद् एवं अग्निहोत्री ब्राह्मणोंमें यह सद्यःशौच या एकाह अशौच प्रचलित रहा था, यह प्राचीन स्मृतिकारोंको भी ज्ञात था। यह बात निम्नलिखित स्मृतिवचनोंसे स्पष्ट होती है—

' दशाहं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते। अर्वाक् संचयनादस्थ्नां त्र्यहमेकाहमेव वा ' — मनु. ५·५९।

उक्त श्लोककी कुल्लूककृत टीकामें —' एकाहाच्छुध्यते विप्रो योऽग्निवेदसमन्वितः ' यह दक्षवचन उद्धृत किया गया है। आगे चलकर मनुका कथन है—

' न वर्धयेदघाहानि प्रत्यूहेन्नाग्निषु क्रियाः। न च तत्कर्म कुर्वाणः सनाभ्योऽप्यशुचिर्भवेत् ॥ ' ५·८४

मनुके साथ याज्ञवल्क्यका भी कहना है —

'ऋत्विजां दीक्षितानां च यज्ञियं कर्म कुर्वताम्। आपद्यपि हि कष्टायां सद्यःशौचं विधीयते॥ ' ३·२८·२९

इसपर लिखित मिताक्षरा टीकामें मनुके वचनके (उपलब्ध मनुस्मृतिमें अप्राप्त) रूपमें—

' एकाहाद्ब्राह्मणः शुध्येद्योऽग्निवेदसमन्वितः। त्र्यहात् केवलवेदस्तु विहीनो दशभिर्दिनैः॥ '

यह श्लोक उद्धृत किया गया है। प्रस्तुत सूक्तमें भी **शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः** में इसी तरहका उल्लेख है जिससे अनुमान निकलता है, कि अशौचनिवृत्ति यहाँ भी ' सद्यः शौच ' पक्षका ही समर्थन करनेवाली हो अत एव प्रस्तुत सूक्तमें ऋचाओंका विनियोग करनेवाली क्रियाएं उन ऋचाओंके क्रमानुसार ही अभिमेत होंगीं यह मानना अधिक युक्तियुक्त होगा।

परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्ते स्व इतरो देवयानात् ।
चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजां रीरिषो मोत वीरान् ॥ १ ॥
परम् । मृत्यो इति । अनु । परा । इहि । पन्थाम् । यः । ते । स्वः । इतरः । देवऽयानात् ।
चक्षुष्मते । शृण्वते । ते । ब्रवीमि । मा । नः । प्रऽजाम् । रिरिषः । मा । उत । वीरान् ॥ १ ॥

मृत्योः पदं योपयन्तो यदैत द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः ।
आप्यायमानाः प्रजया धनेन शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः ॥ २ ॥
मृत्योः । पदम् । योपयन्तः । यत् । ऐत । द्राघीयः । आयुः । प्रऽतरम् । दधानाः ।
आऽप्यायमानाः । प्रऽजया । धनेन । शुद्धाः । पूताः । भवत । यज्ञियासः ॥ २ ॥

इमे जीवा वि मृतैराववृत्रन्नभूद्भद्रा देवहूतिर्नो अद्य ।
प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः ॥ ३ ॥
इमे । जीवाः । वि । मृतैः । आ । अववृत्रन् । अभूत् । भद्रा । देवऽहूतिः । नः । अद्य ।
प्राञ्चः । अगाम । नृतये । हसाय । द्राघीयः । आयुः । प्रऽतरम् । दधानाः ॥ ३ ॥

---

१. हे मृत्यो, देवोंके गमनागमनके मार्गसे विभिन्न होनेवाला जो तुम्हारा खास, स्वतन्त्र मार्ग है उससे तुम परे, दूर निकल जाओ । नेत्र धारण करनेवाले (और कानके रहनेसे प्रार्थना) सुननेवाले तुम्हारी मैं प्रार्थना करता हूँ कि हमारी प्रजाको और हमारे वीर अनुयायियोंको उपद्रव मत दो ।

[**इतरो देवयानात्**—दे. १०·१८४·६ की टिप्पणी । **चक्षुष्मते शृण्वते**– कविकी कल्पना है कि अन्य देवोंकी तरह मृत्यु भी साकार है । कानों एवं आंखों से युक्त होनेके कारण प्रार्थना सुनकर योग्य तथा अयोग्य बातों का विवेक करना उसके लिए संभव होता है ।]

२. मृत्युके पदचिह्नोंको नष्ट करते हुए जिस लिए तुम (पीछे) गए हो इस लिए शुद्ध, पवित्र और यज्ञकर्मके लिये योग्य बनकर, हे यज्ञकर्मनिरत पुरुषो, अपनी दीर्घ आयुका दीर्घ समयतक उपभोग करते हुए संतति और संपदा से ऐश्वर्यपूर्ण बनो ।

[**योपयन्तः**–दे. युयोपिम ७·८९·५ । अङ्कित पदचिह्नोंके अनुसार मृत्युके पुनः उसी स्थानपर लौटनेकी संभावनाको रोकनेके लिए उन पदचिह्नोंको नष्ट करना पड़ता है । **यज्ञियासः**–' यज्ञकर्मके योग्य ' । मतलब, मृतके अशौचकी तुरन्त निवृत्ति करके नित्यकर्मोंमें संमिलित होनेके लिए प्रस्तुत हो जाओ । **यज्ञियासः**–यह संबोधन हेतुगर्भ है; **यज्ञकर्तृत्व** ही सद्यःशौचका हेतु ।]

३. ये जीवित बान्धव मृत व्यक्तिसे अलग होकर पीछे लौट आये हैं । हमारे द्वारा किया गया देवोंका आवाहन आज मङ्गलकारक हो गया है । अपनी दीर्घ आयुका दीर्घ समय तक उपभोग करते हुए हम हास्य तथा नृत्य की प्राप्तिके लिए भविष्यके मार्गका अनुसरण कर रहे हैं ।

[**मृतैः** को पञ्चम्यर्थे तृतीया मान लें अथवा **वि** उपसर्गको वियुताः के अर्थमें प्रयुक्त समझ लें । **नृति** एवं **हस** दोनों ऐहिक सुख एवं आनन्द के उपलक्षण हैं ।]

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम् ।
शतं जीवन्तु शरदः पुरूचीरन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेन ॥ ४ ॥

इमम् । जीवेभ्यः । परिऽधिम् । दधामि । मा । एषाम् । नु । गात् । अपरः । अर्थम् । एतम् ।
शतम् । जीवन्तु । शरदः । पुरूचीः । अन्तः । मृत्युम् । दधताम् । पर्वतेन ॥ ४ ॥

यथाहान्यनुपूर्वं भवन्ति यथ ऋतव ऋतुभिर्यन्ति साधु ।
यथा न पूर्वमपरो जहात्येवा धातरायूंषि कल्पयैषाम् ॥ ५ ॥

यथा । अहानि । अनुऽपूर्वम् । भवन्ति । यथा । ऋतवः । ऋतुऽभिः । यन्ति । साधु ।
यथा । न । पूर्वम् । अपरः । जहाति । एव । धातः । आयूंषि । कल्पय । एषाम् ॥ ५ ॥

४. इन जीवित बान्धवोंके लिए मैंने यह बान्ध बनाकर रखा है । इनमेंसे कोई भी अन्य संप्रति इस स्थानकी ओर न जाय । ऐश्वर्ययुक्त शत वर्षपर्यन्त वे जीवित रहें और (इस बाँधरूपी) पर्वतकी सहायतासे वे मृत्युको दूर रखें ।

[**परिधि**-(परि+√धा)—' सभी ओरसे घेरकर ' अथवा सभी प्रकारोंसे दो वस्तुओंको अलग अलग रोककर रखनेवाला पदार्थ । घिरी हुई वस्तुकी बाहरी उपद्रवोंसे सुरक्षा करनेके लिए ही प्रायः यह परिधि खड़ी की जाती है; दे. १०·९०·१५ । लेकिन कभी कभी इसका उद्देश्य रहता है घेरी गई वस्तुको वहीं रोके रखना; उसे बाहर निकलनेका अवसर न प्रदान करना; दे. ३·३३·७; ४·१८·६; १०·१३९·४ । प्रस्तुत ऋचामें उस प्रतीकरूपी पत्थरको **परिधि** कहा गया है जो मृत व्यक्ति एवं उसके जीवित संबन्धियोंके बीच रखा जाता है, ताकि मृत्यु उन संबन्धियोंकी ओर फिरसे न देखे । इसीको चौथे पादमें **पर्वत** की संज्ञा दी गई है । **एतम् अर्थम्** के माने हैं मृत्युके अधीन होना; **अन्तर् √धा** = दूर रखना; दे. 'अन्तर्मही समृते धायसे धुः' ३·३८·३। **पुरुचीः**-(पुरु + √अञ्च्) ' अनेक प्रकारोंसे विस्तृत होनेवाली ', ' वैभवपूर्ण ' ।]

५. जिस प्रकार दिन (एकके बाद दूसरा इस) अनुक्रमसे आगे बढ़ते रहते हैं, जैसे ऋतुएं भी अन्य ऋतुओंके साथ (अपना क्रम नहीं भूलतीं) योग्य प्रकारसे अपने अपने समयपर प्रादुर्भूत होतीं हैं, इसी प्रकार, हे विधाता, बड़ेको छोड़कर छोटा (मृत्युके वश) न हो, इसी ढंगसे उन सभीकी आयुकी आयोजना करो ।

[प्रस्तुत ऋचामें प्रकृतिके दो दृष्टान्तोंके सहारे कविने यह प्रार्थना की है—विधाता जीवित बान्धवोंके आयुरूपी अंशका इस प्रकार प्रबन्ध करे ताकि उम्रमें छोटा व्यक्ति अवस्थामें अपनेसे बड़े व्यक्तिके पहले मृत्युके अधीन न हो । पहले पादमें क्रमसे आनेवाले दिवसों (तिथियों अथवा दिनों या अहोरात्रों) का दृष्टान्त है; तो दूसरेमें क्रमसे आनेवालीं वसन्त आदि ऋतुओंका । **अहन्** शब्दका अभिप्राय तिथियों या दिवसों से न मानकर कृष्णम् **अहर्** तथा अर्जुनम् **अहर्** से यानें एकके बाद एकके क्रमसे आनेवाली रात तथा दिन से भी मानना संभव है; दे. ६·९·१ के साथ साथ १·११५·५ ।]

आ रोहतायुर्जरसं वृणाना अनुपूर्वं यतमाना यति ष्ठ ।
इह त्वष्टा सुजनिमा सजोषा दीर्घमायुः करति जीवसे वः ॥ ६ ॥

आ । रोहत । आयुः । जरसम् । वृणानाः । अनुऽपूर्वम् । यतमानाः । यति । स्थ ।
इह । त्वष्टा । सुऽजनिमा । सऽजोषाः । दीर्घम् । आयुः । करति । जीवसे । वः ॥ ६ ॥

इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा सं विशन्तु ।
अनश्रवोऽनमीवाः सुरत्ना आ रोहन्तु जनयो योनिमग्रे ॥ ७ ॥

इमाः । नारीः । अविधवाः । सुऽपत्नीः । आऽअञ्जनेन । सर्पिषा । सम् । विशन्तु ।
अनश्रवः । अनमीवाः । सुऽरत्नाः । आ । रोहन्तु । जनयः । योनिम् । अग्रे ॥ ७ ॥

६. (सुखमय) वृद्धत्व प्राप्त हो ऐसी प्रार्थना करके, जितने भी तुम हो उतने सभी योग्य क्रमसे ही प्रयत्न करके आयुरूपी रथपर आरोहण करो। सौष्ठवसे जन्म प्रदान करनेवाला त्वष्टादेव प्रसन्न होकर तुम्हे यहाँ जीनेके लिए दीर्घ आयु प्राप्त करा दे।

[**आरोहतः आयुः**–' आयुपर आरोहण कीजिए; ' आयुपर रथका आरोप। मतलब, ' अग्रिम आयुके मार्गपर आगे बढ़िए '; दे. १·३२·८ में ' मनो रुहाणाः ' की टिप्पणी। **जरसं वृणानाः**–'जराको चुनकर'। वैदिक कवियोंको वही प्रकृति-प्राप्त जरा अभिप्रेत है जिसमें सभी ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों के सक्षम होते हुए भी मानवकी देह कालके क्रमके अनुसार जीर्ण होती है; दे. ' शतमिन्नु शरदो अन्ति देवा यत्रा नश्चका जरसं तनूनाम्। पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोः' १·८९·९। इसके साथ साथ दे. 'स्थिरैरङ्गैः स्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः' १·८९·८; 'स्वासुवो जरणामश्नवन्त' ७·३०·४; 'मा नो हेतिः पुरा नु जरसो वधीत्' ८·६७·२०; 'भद्रं जीवन्तो जरणामशीमहि' १०·३७·६; 'द्युभिर्हितो जरिमा सू नो अस्तु' १०·५९·४ तथा ऊपर १·११६·२५। इसके विपरीत विकृति एवं दुर्बलता का निर्माण करनेवाली जरासे वे ज़रूर डरते थे और देवोंसे प्रार्थना करते थे कि वह जरा उन्हें कभी प्राप्त न हो; दे. 'मा जारिषुः सूरयः सुव्रतासः' १·१२५·७; 'जरां चिन्मे निर्ऋतिर्जग्रसीत' ५·४१·१७ के साथ साथ ऊपर 'अजरासः स्याम' ७·५४·२। **अनुपूर्वं यतमानाः**– दे. ऋचा ५ का तीसरा पाद। **त्वष्टा सुजनिमा**–प्राणियोंके विविध रूपों एवं आकारों को जन्म देनेवाला त्वष्टा; दे. १·१८८·९; १०·१८४·१। मालूम होता है कि प्रस्तुत ऋचाके अनुसार वह दीर्घ आयु भी प्रदान करता है; दे. 'त्वष्टा सहस्रमायूंषि दीर्घमायुः करोतु वाम्'–अथर्ववेद ६·७८·३।]

७. अविधवा एवं शोभन-पतिवाली ये नारियाँ अब कज्जल और घृत से आँखें सुशोभित करके शान्त भावसे विश्राम लें। आँखोंमें आसुओंके उद्भवको रोकते हुए दुःखको दूर रखकर अपने नित्यके आभूषणोंसे भूषित होकर, हमारे संमुख ही ये महिलाएं अपने घरकी देहली लाँघकर (भीतर) चली जायँ।

[प्रस्तुत ऋचा और्ध्वदेहिक करनेवाले ऋत्विज द्वारा मृत व्यक्तिकी ज्ञातिकी सुहागिनोंसे कही गई है। वे अब दुःखको संयत करके पूर्ववत् वस्त्रालंकार धारण करते हुए पहले (प्रेतको घरसे निकालनेके पहले) अपने घरकी सीढ़ियाँ चढ़कर चली जायँ। **योनि**–अर्थात् मिलनका स्थान याने घर; दे. आगे चलकर १०·३४·११। संबन्धी पुरुषोंको **आयुः आरोहत** तथा महिलाओंके **योनिमारोहन्तु** यह ऋत्विज द्वारा प्रदत्त आदेश परस्पर पूरक ही है।]

उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि ।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ ॥ ८ ॥

उत् । ईर्ष्व । नारि । अभि । जीवऽलोकम् । गतऽअसुम् । एतम् । उप । शेषे । आ । इहि ।
हस्तऽग्राभस्य । दिधिषोः । तव । इदम् । पत्युः । जनिऽत्वम् । अभि । सम् । बभूथ ॥ ८ ॥

धनुर्हस्तादाददानो मृतस्यास्मे क्षत्राय वर्चसे बलाय ।
अत्रैव त्वमिह वयं सुवीरा विश्वाः स्पृधो अभिमातीर्जयेम ॥ ९ ॥

धनुः । हस्तात् । आऽददानः । मृतस्य । अस्मे इति । क्षत्राय । वर्चसे । बलाय ।
अत्र । एव । त्वम् । इह । वयम् । सुऽवीराः । विश्वाः । स्पृधः । अभिऽमातीः । जयेम ॥ ९ ॥

उप सर्प मातरं भूमिमेतामुरुव्यचसं पृथिवीं सुशेवाम् ।
ऊर्णम्रदा युवतिर्दक्षिणावत एषा त्वा पातु निर्ऋतेरुपस्थात् ॥ १० ॥

उप । सर्प । मातरम् । भूमिम् । एताम् । उरुऽव्यचसम् । पृथिवीम् । सुऽशेवाम् ।
ऊर्णऽम्रदाः । युवतिः । दक्षिणाऽवते । एषा । त्वा । पातु । निःऽऋतेः । उपऽस्थात् ॥ १० ॥

---

८. हे नारि, उठकर खड़ी हो जाओ; इस जीवलोककी ओर (दृष्टि घुमा दो), अपने इस मृत पतिके साथ तुम सो गई हो । वहाँ से उठकर (जीवलोकमें) आओ । अपना पाणिग्रहण करके अपना भरणपोषण करते हुए अपने पतिकी (सुयोग्य) पत्नी बनकर तुमने अपना कर्तव्य भली भाँति निबाहा है ।

[विवरणके लिए दे. प्रास्ताविक टिप्पणी । यहाँ ऋत्विजका वह आदेश है जो मृतकी पत्नीको दिया जाता है। उत्तरार्धके तीनों विशेषण मृत व्यक्तिसे ही संबद्ध है और **जनित्वम् अभि सं बभूथ** में उसकी पत्नीके आदर्श आचरणका उल्लेख हैं । नियोगकी प्रथाके प्रचलित होनेके उपरान्त याज्ञिकोंकी परंपराके अनुसार इस ऋचाका विनियोग नियोगके लिए किया गया होगा ।]

९. उसके द्वारा हमें क्षात्रतेज, वर्चस् तथा बल प्राप्त हो इस लिये मृतके हाथसे अब मैं यह धनुष्य निकाल लेता हूँ । (अब इसके बाद) तुम यहाँ रहोगे और हम इस स्थानपर (जीवलोकमें) रहेंगे । (तुम्हारे धनुष्यके संयोगसे) वीर्यशाली पुत्रोंसे संयुक्त होकर सभी गर्वशाली शत्रुओंपर हमें विजय प्राप्त हो ।

[**धनुः** शब्द शायद मृत व्यक्तिके क्षत्रिय होनेकी ओर संकेत करता है । **अत्र** याने श्मशानमें और उसके ज़रिए यमलोकमें, दे. ऊपर 'एतं लोकम्' १०·१४·९ । **इह**–जीवलोकमें ।]

१०. (हे अस्थिस्थित मृतात्मन्) इस विशाल, भूरिभूरि स्थानोंसे युक्त एवं सुखप्रद भूमिरूपी माँके समीप गमन करो । विपुल दक्षिणा प्रदान करनेवाले यजमानको ऊर्णाकी तरह मृदु, सुकोमल प्रतीत होनेवाली युवती, यह पृथ्वी, निर्ऋतिकी गोदसे तुम्हारी रक्षा करे ।

उच्छ्वञ्चस्व पृथिवि मा नि बाधथाः सूपायनास्मै भव सूपवञ्चना।
माता पुत्रं यथा सिचाभ्येनं भूम ऊर्णुहि ॥ ११ ॥

उत्। श्वञ्चस्व। पृथिवि। मा। नि। बाधथाः। सुऽउपायना। अस्मै। भव। सुऽउपवञ्चना।
माता। पुत्रम्। यथा। सिचा। अभि। एनम्। भूमे। ऊर्णुहि ॥ ११ ॥

उच्छ्वञ्चमाना पृथिवी सु तिष्ठतु सहस्रं मित उप हि श्रयन्ताम्।
ते गृहासो घृतश्चुतो भवन्तु विश्वाहास्मै शरणाः सन्त्वत्र ॥ १२ ॥

उत्ऽश्वञ्चमाना। पृथिवी। सु। तिष्ठतु। सहस्रम्। मितः। उप। हि। श्रयन्ताम्।
ते। गृहासः। घृतऽश्चुतः। भवन्तु। विश्वाहा। अस्मै। शरणाः। सन्तु। अत्र ॥ १२ ॥

[इसके बादकी चार ऋचाएं अस्थिसंचयनके बाद मिट्टीके बरतनमें अस्थियाँ रखकर उन्हें भूमिमें गाड़ते समय पृथिवीसे एवं अस्थिरूपी मृत व्यक्तिसे कही गई हैं। **ऊर्णम्रदाः**-(बहुव्रीहि) **ऊर्णा** का अर्थ है ऊन, उसकी तरह मृदु (कोमल) स्पर्श रखनेवाली। **दक्षिणावते**-यह साभिप्राय विशेषण भी ऋचा ९ की ही तरह मृत व्यक्तिके बड़े दानी क्षत्रिय होनेकी ओर संकेत करता है सही; फिर भी इसी शब्दके कारण त्रिष्टुभ् पाद यहाँ जगतीमें परिवर्तित हो चुका है यह तो अवश्य ज्ञात होगा।]

११. हे पृथिवी, स्वयं अपनेको सम्हलकर ऊपर धारण करो। (उसके ऊपर भार डालकर) उसे नीचे मत दबाओ। उसे प्रवेश तथा आश्रय इन दोनोंके लिए सहजसुलभ हो जाओ। हे भूमि, जिस प्रकार माँ अपने छोटे शिशुको आँचलसे ढँक देती है उसी प्रकार तुम इसे (किसी भी प्रकारका कष्ट न हो इस लिये) ढँक लो।

[**उच्छ्वञ्चस्व मा निबाधथाः**-' ऊपर जाओ, नीचे मत दबाओ '। मतलब, ऊपरसे दब जानेके कारण प्रतीकरूपी मृत व्यक्ति व्याकुल होगा, वह छटपटाने लगेगा। **उत्** एवं **नि** दोनों उपसर्गोंका अर्थ वास्तवमें स्पष्ट है; फिर भी **उत्** को ' विस्तारके साथ ' के अर्थमें मानकर भूमिके गड्ढेमें अस्थियाँ रखनेके बजाय मृतके शवको रखे जानेकी ओर यहाँ संकेत है यह मानना डॉ. विंटरनित्झके दुराग्रहका परिचायक है; दे. उनका भारतीय साहित्यका इतिहास खण्ड १ पृ. ९६। **सूपायना**—यहाँ कल्पना है कि मृतकी आत्मा इसे अपना नित्य गृह समझकर इससे अवागमन करती रहेगी। **माता पुत्रं यथा सिचा**—सिच् याने वस्त्रका छोर आँचल। ऋ. ३.५३.२ में कविका कथन है-" जैसे पिताके बाहर निकलते ही उसका प्रिय पुत्र उसके वस्त्रका छोर पकड़कर उससे लाड़-प्यारके साथ कोई खिलौना या खानेकी चीज़ मांगता है उसी तरह मैं इन्द्रके वस्त्रका छोर पकड़ता हूँ " (पितुर्न पुत्रः सिचमारभे त इन्द्र स्वादिष्ठया गिरा शचीवः)। प्रस्तुत ऋचामें भूमिकी तुलना कविने उस मातासे की है जो अपने छौनेको बाहरी बाधासे बचानेके लिए अपने आँचलसे ढँक लेती है। प्रस्तुत ऋचाका छन्द है प्रस्तार पङ्क्ति जिसमें अक्षरोंका क्रम है १२, १२; ८, ८]

१२. स्वयं अपनेको ऊपर सम्हलकर यह पृथिवी (उसके ऊपर) अच्छी तरह खड़ी रहे। (उसके) सहस्र स्तम्भ उसे आधार देनेके लिए खड़े रहें। यह उस (मृत जीवका) भव्य गृह उसे पुष्टिप्रद होकर सदैव ही उसका रक्षक बने।

उत्ते स्तभ्नामि पृथिवीं त्वत् परीमं लोगं निदधन्मो अहं रिषम्।
एतां स्थूणां पितरो धारयन्तु तेऽत्रा यमः सादना ते मिनोतु ॥ १३ ॥

उत् । ते । स्तभ्नामि । पृथिवीम् । त्वत् । परि । इमम् । लोगम् । निऽदधत् । मो इति । अहम् । रिषम् ।
एताम् । स्थूणाम् । पितरः । धारयन्तु । ते । अत्र । यमः । सदना । ते । मिनोतु ॥ १३ ॥

प्रतीचीने मामहनीष्वाः पर्णमिवा दधुः ।
प्रतीचीं जग्रभा वाचमश्वं रशनया यथा ॥ १४ ॥

प्रतीचीने । माम् । अहनि । इष्वाः । पर्णम्ऽइव । आ । दधुः ।
प्रतीचीम् । जग्रभ । वाचम् । अश्वम् । रशनया । यथा ॥ १४ ॥

[**उच्छ्वञ्चमाना**—' मण्डपीकी तरह ऊपर उठाकर रखी जाय '। **मित्**– ' गाड़ा हुआ खम्भा ' (√मी –' कसकर दृढ बैठाना ')। मिट्टीके छोटे-बड़े ढेलोंको यहाँ **मितः** और ऋचा १३ में 'स्थूणाम्' कहा गया है। **घृतश्चुतः**–इसमें लक्षणाकी सहायतासे **घृत** शब्दको उस अन्न तथा पान आदिका उपलक्षण मान लें जो मृतात्माके जीवनके लिए आवश्यक हो। **गृहासः**–'भूमिके गर्भमें विद्यमान उपर्युक्त (ऊपर वर्णित) घर'। ऋग्वेदमें '**गृह**' शब्द पुंल्लिंगमें प्रयुक्त होता है; बहुवचन घरकी विशालता एवं वैभवकी ओर संकेत करता है। ऋग्वेद १०·८५·६ में नवोढ़ाको आशीर्वाद देते हुए कहा गया है–' गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वम् ']

१३. तुम्हारे लिए ही तुम्हारी चारों ओर इस पृथिवीको मैं ऊपर रख देता हूँ। यह ठेला तुम्हारे ऊपर रखनेसे मुझे किसी भी प्रकारकी पीड़ा न हो। तुम्हारे पितर इस स्तम्भको उत्तम आधार दें। तुम्हारे विश्रामस्थान यमराज यहीं तैयार करे।

[**मो अहं रिषम्** से अभिप्राय यों है–'तुम्हारे साथ संबन्ध स्थापित होनेके कारण मुझे मृत्युसे पीड़ा नहीं होगी'। **एतां स्थूणाम्**—दे. ऊपर ऋचा १२ में **मितः** की टिप्पणी। जगती छन्दमें लिखित प्रस्तुत ऋचाका चौथा पाद त्रिष्टुभका है; तीसरा पाद **धारयन्तु ते** तक समाप्त होकर चौथा **अत्रा यमः** से आरम्भ होता है।]

१४. जिस प्रकार बाण (की पिछली नोंक) को पंख चिपका देते हैं उसी प्रकार मेरी ओर लौटकर आनेवाले दिनमें (देवोंने) मुझे जोड़कर रख दिया है। (इस लिए इसके अनन्तर) घोड़ेको लगामसे जिसप्रकार खींचकर रखा जाता है उसी प्रकार लौटकर आनेवाली अपनी वाणीको मैं निगृहीत कर रखता हूँ।

[**प्रतीचीनम् अहन्**–याने ' मेरी ओर आनेवाला कल (का दिन) '। **इष्वाः पर्णमिव**—इषु या बाण के साथ जिस तरह पंखसे चिपके रहना आवश्यक होता है उसी तरह कल उदित होनेवाले दिनके साथ मुझे भी रहना आवश्यक होगा। ऊपर नववीं ऋचाके **धनुः** शब्दके साथ साथ दसवीं ऋचामें आए हुए **दक्षिणावते** की तरह प्रस्तुत उपमाको भी मृत व्यक्तिके क्षत्रिय होनेकी सूचक माना जा सकता है। अबतक वार्तालाप द्वारा मृत व्यक्तिसे, अर्थात् उसके द्वारा मृत्युसे जो संबन्ध रहा था उसे तोड़कर अब ऋत्विज पुनः जीवलोककी ओर ध्यान देने लगता है; इसीका कारण उसने पूर्वार्धमें दिया है। उसके कथनका आशय निम्नानुसार है –भविष्यमें याने कल उदित होनेवाले दिनमें जीवित रहनेका देवोंका आदेश मुझे प्राप्त हुआ है; अतएव मृत व्यक्तिके साथ वार्तालापके कारण मृत्युसे जो संपर्क अबतक पैदा हुआ था उसे तोड़नेपर मैं बाध्य हुआ हूँ। कर्ताके रूपमें **देवाः** का अध्याहार। **प्रतीचीं वाचम्** मृत व्यक्तिसे मेरी ओर लौट आनेवाली वाणी। चौथे चरणकी उपमामें सिर्फ **जग्रभ** को साधारण धर्म मान लें।]

८५

१०·३४·१–१४ कवष ऐलूषः, अक्षो मौजवान् वा ॥ १, ७, ९, १२ अक्षाः ।
१३ कृषिः । २–६, ८, १०, ११, १४ अक्षनिन्दा ॥
१–६, ८–१४ त्रिष्टुप् । ७ जगती ॥

अक्षक्रीडा ऋग्वेद-कालका बड़ा ही सुविदित व्यसन रहा है । इस खेलमें उन दिनों विभीदक वृक्षके फलोंका उपयोग किया जाता था जैसा कि ऊपर ऋ. ७·८६·६ के **विभीदकः** से स्पष्ट है । प्रस्तुत सूक्तकी आठवीं ऋचाके ' त्रिपञ्चाशः ' शब्दसे सूचित होता है कि खेलमें इन फलोंकी संख्या १५० होती होगी । इनमेंसे कुछ फल उठाकर जुआरी उन्हें ' इरिण ' नामके खेलके तख्तेपर फेंक देता था । इन फेंके हुए फलोंको चारसे भाग देकर शेष अङ्कोंके आधारपर उसे प्राप्त हिस्सा गिना जाता था । १, २, ३ तथा ० शेष रहनेपर माना जाता था कि जुआरीको क्रमशः कलि, द्वापर, त्रेता तथा कृत की प्राप्ति हुई । इन चारोंमें कलिको सबसे कम तथा कृतको सबसे श्रेष्ठ समझा जाता था । प्रस्तुत सूक्तका द्रष्टा था एक निपुण किन्तु अभागा जुआरी जो बड़ी आस्थाके साथ अन्य व्यक्तियोंको इन पांसोंके फँदेमें न फँसते हुए ज़मीनको जोतकर पसीनेकी कमाईपर जीनेकी नसीहत दे रहा है ।

उक्त द्यूतक्रीडाके लिए स्वतन्त्र सभागृह होते थे जहाँ आनेवाले द्यूतकारोंके व्यवहारकी सावधानीसे निगरानी करके द्यूतके निर्धारित नियमोंके पालनके लिए अधिकारियोंकी नियुक्ति तत्कालीन राजा द्वारा ही होती थी (दे. ऋचा ६– **सभामेति**; ऋचा ८– **देव इव सत्यधर्मा**) । ऋचा १,२ तथा ५ में अगर कवि स्वयं अपने कटु अनुभवका निवेदन कर रहा है तो ऋचा ३, ४, ६ तथा ११ में उसने साधारण द्यूतकार (जुआरी) की कटु अनुभूतिको अभिव्यक्त करना पसन्द किया है । ऋचा १२ तथा १४ में अक्षों याने पाँसों को देवता मानकर उनकी कृपाका भाजन बननेकी प्रार्थना की गई है और ऋचा १३ में वह (कवि) उस अनमोल उपदेशका निवेदन कर रहा है जो उसे सर्वसाक्षी सवितासे (दे. ऋचा १२-१३ की टिप्पणी) प्राप्त हुआ था ।

प्रावेपा मा बृहतो मादयन्ति प्रवातेजा इरिणे वर्वृतानाः ।
सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो विभीदको जागृविर्मह्यमच्छान् ॥ १ ॥

प्रावेपाः । मा । बृहतः । मादयन्ति । प्रवातेऽजाः । इरिणे । वर्वृतानाः ।
सोमस्यऽइव । मौजऽवतस्य । भक्षः । विऽभीदकः । जागृविः । मह्यम् । अच्छान् ॥ १ ॥

१. इस (महान्) वृक्षके ये झंझावातमें उत्पन्न और द्यूतके पटपर लेटनेवाले, हिलते कर्णफूल, मुझे बड़ा आनन्द दे रहे हैं । मूजवत् पर्वतसे प्राप्त हुए सोम (वल्लीके रसके पान) की तरह यह विभीदक (वृक्षका द्यूत खेलनेमें उपयुक्त फल) मुझे सदैव जागरूक प्रतीत होता है ।

न मा मिमेथ न जिहीळ एषा शिवा सखिभ्य उत मह्यमासीत् ।
अक्षस्याहमेकपरस्य हेतोरनुव्रतामप जायामरोधम् ॥ २ ॥
न । मा । मिमेथ । न । जिहीळे । एषा । शिवा । सखिऽभ्यः । उत । मह्यम् । आसीत् ।
अक्षस्य । अहम् । एकऽपरस्य । हेतोः । अनुऽव्रताम् । अप । जायाम् । अरोधम् ॥ २ ॥
द्वेष्टि श्वश्रूरप जाया रुणद्धि न नाथितो विन्दते मर्डितारम् ।
अश्वस्येव जरतो वस्न्यस्य नाहं विन्दामि कितवस्य भोगम् ॥ ३ ॥
द्वेष्टि । श्वश्रूः । अप । जाया । रुणद्धि । न । नाथितः । विन्दते । मर्डितारम् ।
अश्वस्यऽइव । जरतः । वस्न्यस्य । न । अहम् । विन्दामि । कितवस्य । भोगम् ॥ ३ ॥

[**प्रावेपाः** (प्र + $\sqrt{}$विप्)–' झूमनेवाले कर्णफूल ' । हवासे इधर उधर डोलनेवाले फलोंपर वृक्षोंके कर्णफलोंका आरोप । **बृहतः** के बाद **वृक्षस्य** का अध्याहार करें । **मौजवतस्य**–दिखाई देता है कि मूजवत् पर्वतपर पाया जानेवाला सोम उन दिनों सर्वोपरि माना जाता था । यास्काचार्य (निरुक्त ९·८) इसीको **मुञ्जवत्** कहते हैं । महाभारत (१४·८·१) में हिमालयके पृष्ठभागपर स्थित पहाड़के रुपमें यही वर्णित है । प्रस्तुत ऋचाके साथ साथ नववीं ऋचामें ' इरिण ' का अभिप्राय क्रीडा-फलकसे याने खेलनेके तख्तेसे होगा। ऋग्वेदमें अन्यत्र यह शब्द अगर ' छोटी–सी खारी खाई ' के अर्थमें प्रयुक्त हुआ है तो वेदोंके परवर्ती साहित्यमें इसका सुविदित अर्थ है ' पथरीली, बञ्जर ज़मीन ' । 'क्रीडाफलक ' यह अर्थ भी शायद ' बीज–विनाशक, फलहीन भूभाग ' इस मुख्य अर्थका ही वह रूप मालूम होता है जो लक्षणाके सहारे पैदा हुआ हो; दे. ' भारतीय विद्या ' मुनशी अभिनन्दन-ग्रन्थ १९६३ पृ. ११–१७ ।]

२. इस बेचारीने मुझे कभी रोका नहीं; न इसने मेरा कभी तिरस्कार किया है । मेरे द्यूतकार मित्रोंके तथा मेरे साथ वह बड़े ही सौजन्यसे पेश आती थी । किन्तु प्रायः एक अङ्कसे अधिक इन अक्षोंके लिए मुझसे एकनिष्ठ रहनेवाली भार्याको भी मैं तिरस्कृत करता आया हूँ ।

[**एकपरस्य अक्षस्य**—यहाँ एकपर तत्पुरुष समास है, **एकेन** याने एक दान देनेके कारण हमेशा **पर** याने ' शत्रु बने हुए अक्ष ' अथवा ' **एक** संख्याके ही कारण **पर** याने सर्वोपरि दान अर्थात् कलिका दान देनेवाला '। प्रस्तुत समासका सायणाचार्यकृत विग्रह है ' एकः परं प्रधानं यस्य '; लेकिन सामासिक शब्दका स्वर उसके तत्पुरुष होनेका परिचायक है । हाँ, **एकवीरः** (इन्द्रः; दे. १०·१०३·१) की ही तरह प्रस्तुत स्थानपर ' एकश्च असौ परश्च ' यह विग्रह भी संभव है जिस दशामें अर्थ होगा ' **एक** ' याने एक संख्याका परिचायक अतएव **पर** अर्थात् श्रेष्ठ; मतलब ' द्यूतकार या जुआरी पर प्रभुता स्थापित करनेवाला,' 'कलिका दान देनेवाला '।]

३. उसकी सास (भार्याकी माता) उसका तिरस्कार करती है और उसकी भार्या भी उसको रोकती है (बाहर जाने नही देती) । (आपत्तिमें फँस जानेपर) जब वह याचना करने लगता है, तब दया दिखानेवाला कोई भी मनुष्य उसे मिलता नहीं । (हर एक कहता है कि) 'मूल्य कम करने योग्य बूढ़े घोड़ेकी तरह मुझे इस जुआरीका कुछ भी उपयोग नहीं होगा '।

अन्ये जायां परि मृशन्त्यस्य यस्यागृधद्वेदने वाज्यक्षः ।
पिता माता भ्रातर एनमाहुर्न जानीमो नयता बद्धमेतम् ॥ ४ ॥

अन्ये । जायाम् । परि । मृशन्ति । अस्य । यस्य । अगृधत् । वेदने । वाजी । अक्षः ।
पिता । माता । भ्रातरः । एनम् । आहुः । न । जानीमः । नयत । बद्धम् । एतम् ॥ ४ ॥

यदादीध्ये न दविषाण्येभिः परायद्भ्योऽव हीये सखिभ्यः ।
न्युप्ताश्च बभ्रवो वाचमक्रतँ एमीदेषां निष्कृतं जारिणीव ॥ ५ ॥

यत् । आऽदीध्ये । न । दविषाणि । एभिः । परायत्ऽभ्यः । अव । हीये । सखिऽभ्यः ।
निऽउप्ताः । च । बभ्रवः । वाचम् । अक्रत । एमि । इत् । एषाम् । निःऽकृतम् । जारिणीऽइव ॥ ५ ॥

[**अपरुणद्धि** के माने हैं–' घरमें रोक देता है'; 'द्यूतगृहकी ओर जाने नहीं देता'। दयाकी याचना की जानेपर धनिक द्वारा कहे जानेवाले शब्द ही ऋचाके उत्तरार्धमें उद्धृत दिखाई देते हैं; अतएव ' अहं ' का अभिप्राय धनिकसे ही मान लें। **कितवस्य भोगम्** ' कितवद्वारा प्राप्त होनेवाली सेवा '। ऋचाके पूर्वार्धमें (**विन्दते** क्रियाके कर्ताके) रूपमें ' कितवः ' का अभ्याहार करें। **वस्न**–कम की गई, घटाई हुई क़ीमत। यह शब्द इस अर्थमें ऋ.४·२४·९ के 'वस्नं चर्' तथा ६·४७·२१ के 'दासा वस्नयन्ता' में भी प्रयुक्त हुआ है। **वस्न्य** का अर्थ होगा ' बुढ़ापेके कारण कम क़ीमतमे बेचे जाने योग्य । सायणाचार्यने **वस्न्य** को मूल्यवान्के अर्थमें मानकर ऋचाका उत्तरार्ध जुआरीके मुँहसे ही कहलवाया है; उनके मतानुसार अर्थ यों होगा– ' मूल्यवान् (किन्तु) बूढ़े घोड़ेकी ही तरह यह कितव (जुआरी) मुझे दूसरोंके लिए तनिक भी उपयोगी नहीं जँचता'।]

४. जिसकी आमदनीपर इस महापराक्रमी अक्षने लोभ दिखाया उस द्यूतकारकी भार्याका भी अन्य पुरुष प्रधर्षण करते हैं। उसके मातापिता और बन्धुजन भी उसे देखकर कहते हैं ' हम इसे (इसका द्रव्यादि व्यवहार) बिलकुल जानते नहीं, इसे (आवश्यक हो तो) बाँधकर (राजपुरुषकी ओर) ले जाइए '।

[**परिमृशन्ति**—'वस्त्रकेशाकर्षणेन संस्पृशन्ति'–सायणाचार्य। **न जानीमः** इसे अर्थात् इसके लेन-देनके व्यवहारको हम नहीं मानते; हम उसके लिए ज़िम्मेदार नहीं हो सकते। कर्जदार अगर कर्ज ठीक समयपर नहीं चुकाता तो उसे बाँध रखनेका अधिकार महाजनको स्मृतिकालमें प्राप्त था जैसा कि बृहस्पतिके निम्नलिखित वचनसे स्पष्ट हैः–

बद्ध्वा स्वगृहमानीय ताडनाद्यैरुपक्रमैः । ऋणिको दाप्यते यत्र बलात्कारः स उच्यते ॥

मनुस्मृतिपर लिखित कुल्लूक–टीकामें यही वचन उद्धृत किया गया है। मनुस्मृतिमें भी इसके लिए प्रमाण मिलता है–

धर्मेण व्यवहारेण छलेनाचरितेन च । प्रयुक्तं साधयेदर्थं पञ्चमेन बलेन च ॥ ८·४९

याज्ञवल्क्य २·४० की टीकामें मनुके उपर्युक्त श्लोकको उद्धृत करके ' बलेन ' की व्याख्या करते हुए ' निगडबन्धनादिना ' कहा गया है। प्रस्तुत ऋचाके **नयत बद्धमेतम्** से ज्ञात होता है कि ऋग्वेद–कालमें भी यह प्रथा प्रचलित थी।]

५. जिस समय ' इतःपर मैं इनसे नहीं खेलूँगा ' इस तरहका निश्चय करता हूँ उस समय द्यूतसभाकी ओर जानेवाले मेरे मित्रोंसे छूटकर पीछे रह जाता हूँ। (किन्तु) जब

सभामेति कितवः पृच्छमानो जेष्यामीति तन्वा३ शूशुजानः ।
अक्षासो अस्य वि तिरन्ति कामं प्रतिदीव्ने दधत आ कृतानि ॥ ६ ॥
सभाम् । एति । कितवः । पृच्छमानः । जेष्यामि । इति । तन्वा । शूशुजानः ।
अक्षासः । अस्य । वि । तिरन्ति । कामम् । प्रतिऽदीव्ने । दधतः । आ । कृतानि ॥ ६ ॥

अक्षास इदङ्कुशिनो नितोदिनो निकृत्वानस्तपनास्तापयिष्णवः ।
कुमारदेष्णा जयतः पुनर्हणो मध्वा संपृक्ताः कितवस्य बर्हणा ॥ ७ ॥
अक्षासः । इत् । अङ्कुशिनः । निऽतोदिनः । निऽकृत्वानः । तपनाः । तापयिष्णवः ।
कुमारऽदेष्णाः । जयतः । पुनःऽहनः । मध्वा । सम्ऽपृक्ताः । कितवस्य । बर्हणा ॥ ७ ॥

द्यूतपटपर फेंके जानेपर उन पीतवर्ण अक्षोंने साथ ही मुझे आवाज़ दी तब शीघ्र ही, मैं (बाहर निकलकर) उनके संकेतस्थानपर, उसी तरह जाता हूँ जैसे कोई जारिणी अपने जारके संकेतस्थानपर ।

[**न दविषाणि** यह वाक्य **आदीध्ये** के कर्मके रूपमें आया है। उद्धृत वाक्यकी कियाके स्वरपर **यत्** आदिका असर नहीं होता, अतएव निघात स्वर ही रहता है । **एभिः** = अक्षैः, दे. ' अक्षैर्मा दीव्यः '– ऋचा १३ । **वाचमक्रत** –इन शब्दोंके कारण तीसरे पादमें एक अक्षर ज्यादा होता है जिससे त्रिष्टुभ छन्द जगतीमें परिवर्तित हुआ । ऊपर ७·१०३·८ के पहले पादका यही हाल है । **निष्कृतम्**– ' प्रणयी युगलद्वारा गुप्त रूपसे मिलनेके लिए निर्धारित स्थान; दे. ऊपर ९·६९·४ । प्रेमी तथा प्रेमिकामेंसे कोई भी मिलनेके लिए निर्धारित स्थानपर पहुँचनेमें गलती नहीं करता । इस स्थानपर विशेषता तो यह है कि अक्षों या पाँसों की सर्वगामी शक्तिके कारण वक्ताने उन्हें प्रेमी मानकर अपनी तुलना प्रेमिका या जारिणी से की है; दे. १·१२३·९; ९·८६·३२ ।]

६. 'कमसे कम आज मेरी जीत होगी ' इस प्रकार विचार करके और गर्वसे वक्षःस्थल (चौड़ा करके) द्यूतकार द्यूतसभाकी ओर जाता है । परन्तु ये अक्ष उसके प्रतिस्पर्धीको ही ' कृत ' संज्ञाका (सर्वश्रेष्ठ) दान समर्पित करके उसकी अभिलाषाको मिट्टीमें मिला देते हैं ।

[**सभाम्** = द्यूतसभाम् ; दे. प्रास्ताविक टिप्पणीके साथ साथ आगे चलकर १०·९७·६ की टिप्पणी। **जेष्यामि इति**–यहाँ उद्धृत वाक्यकी क्रिया वाक्यके प्रारम्भमें आई; इसीलिए निघात स्वर बाधित हुआ । **पृच्छमानः** के कर्मके रूपमें **तन्वम्** का अध्याहार करें । **तन्वा शूशुजानः**–'शरीरसे बढ़ते हुए '; लक्षणाके सहारे अर्थ होगा–' गर्वसे फूलकर ' । **श्वज्** का अर्थ है ' फूलना ', ' मोटा होना ' । **कृतानि** कृत नामका सर्वोत्कृष्ट दान; दे. प्रास्ताविक टिप्पणी ।]

७. सचमुच ये अक्ष हाथमें अङ्कुश और प्रतोद धारण करनेवाले बनकर, मानों दूसरेका अपमान करनेवाले, पीड़ा देनेवाले, पीड़ा देनेके लिए दूसरोंको प्रवृत्त करानेवाले ही हैं । उनका दान छोटे बच्चोंके दानकी तरह (अविश्वसनीय) है, (क्योंकि) वे आज विजयी होनेवाले द्यूतकारको फिर किसी अवसरपर पीट भी देते हैं । (तथापि) मधुसे भरे हुए ये अक्ष द्यूतकारकी मूर्तिमती (स्फूर्तिदात्री) शक्ति ही हैं ।

त्रिपञ्चाशः क्रीळति व्रात एषां देवइव सविता सत्यधर्मा ।
उग्रस्य चिन्मन्यवे ना नमन्ते राजा चिदेभ्यो नम इत् कृणोति ॥ ८ ॥

त्रिऽपञ्चाशः । क्रीळति । व्रातः । एषाम् । देवःऽइव । सविता । सत्यऽधर्मा ।
उग्रस्य । चित् । मन्यवे । न । नमन्ते । राजा । चित् । एभ्यः । नमः । इत् । कृणोति ॥ ८ ॥

नीचा वर्तन्त उपरि स्फुरन्त्यहस्तासो हस्तवन्तं सहन्ते ।
दिव्या अङ्गारा इरिणे न्युप्ताः शीताः सन्तो हृदयं निर्दहन्ति ॥ ९ ॥

नीचा । वर्तन्ते । उपरि । स्फुरन्ति । अहस्तासः । हस्तऽवन्तम् । सहन्ते ।
दिव्याः । अङ्गाराः । इरिणे । निऽउप्ताः । शीताः । सन्तः । हृदयम् । निः । दहन्ति ॥९॥

[**तापयिष्णवः** (प्रयोजक)—तकलीफ़ पहुँचनेवाले; मतलब स्त्री तथा पुत्र आदिको, पूरे परिवारको सतानेपर जुआरीको बाध्य करनेवाले । **कुमारदेष्णाः** (बहुव्रीहि)–वे (पाँसे) जिनके उपहार कुमारों याने बच्चों की तरह अनिश्चित हैं । बच्चे आज दिए गए उपहार कल वापस माँगते हैं, मतलब उनका देना अनिश्चित है, उसी प्रकार ये पाँसे ' आज भले ही विजय प्राप्त करा दें; लेकिन कल भी देंगे इस बातका भरौसा नहीं दिया जा सकता । **बर्हणा**– (√बृह् –' बढ़ना ' ' बड़ा होना ', ' मोटा होना ') 'सामर्थ्य' ।]

८. सविता देवकी तरह जिनके नियम अनुल्लङ्घनीय हैं ऐसे इन ५३ अक्षोंका समूह स्वेच्छासे क्रीडा करता रहता है । अत्युग्र शूर वीरके क्रोधके सामने भी वे कभी विनम्र नहीं होते । साक्षात् सम्राट भी इन्हें प्रणाम ही करता है ।

[**त्रिपञ्चाशः** = ३ × ५० = १५० अथवा ३ + ५० = ५३ । **सत्यधर्मा** दे. २·३८·९; १०·१३९·३ । यहाँ अक्षोंके राजाकी तुलना सवितासे की गई है । किन्तु बादमें ऋचा १३ में उसमें तथा सवितामें अभेदकी कल्पना करके कविने उपमाके बदले रूपक प्रयुक्त करना उचित समझा है । अक्षोंके नियमोंका उल्लङ्घन कभी नहीं किया जा सकता; स्वयं राजा भी उनके सामने विवश हो उठता है । **ना नमन्ते**– यहाँ **न** का दीर्घत्व छन्दके लिहाज़की उपज है ।]

९. ये अक्ष नीचे (द्यूतपटपर) पड़े रहते हैं, लेकिन द्यूतकारके ऊपर (रहनेवाले हृदयको) काटते रहते हैं । ये स्वयं विना हाथके होकर भी हाथवाले द्यूतकारको परास्त करते हैं । द्यूतपटपर फैले हुए ये स्वर्गीय धधकते अङ्गार स्वयं शीतल होकर भी द्यूतकारके हृदयको जला देते हैं ।

[**स्फुरन्ति**—(√स्फुर् ' ठोंकना ', 'तोड़ना '; दे. ऊपर २·१२·१२)। पाद १, २ तथा ४में अगर ' विना हेतुं कार्योत्पत्तिः' याने विभावना अलंकार स्पष्ट है; तो पाद ३ में सादृश्यमूल अतिशयोक्ति पाठकोंकी सेवामें उपस्थित है ।]

जाया तप्यते कितवस्यं हीना माता पुत्रस्य चरतः क्वं स्वित् ।
ऋणावा बिभ्यद्धनमिच्छमानोऽन्येषामस्तमुप नक्तमेति ॥ १० ॥

जाया । तप्यते । कितवस्यं । हीना । माता । पुत्रस्यं । चरतः । क्वं । स्वित् ।
ऋणऽवा । बिभ्यत् । धनम् । इच्छमानः । अन्येषाम् । अस्तम् । उप । नक्तम् । एति ॥ १० ॥

स्त्रियं दृष्ट्वायं कितवं ततापान्येषां जायां सुकृतं च योनिम् ।
पूर्वाह्ने अश्वान् युयुजे हि बभ्रून्त्सो अग्नेरन्ते वृषलः पपाद ॥ ११ ॥

स्त्रियम् । दृष्ट्वायं । कितवम् । ततापं । अन्येषाम् । जायाम् । सुऽकृतम् । च । योनिम् ।
पूर्वाह्णे । अश्वान् । युयुजे । हि । बभ्रून् । सः । अग्नेः । अन्ते । वृषलः । पपाद ॥ ११ ॥

यो वः सेनानीर्महतो गणस्य राजा व्रातस्य प्रथमो बभूवं ।
तस्मैं कृणोमि न धना रुणध्मि दशाहं प्राचीस्तदृतं वदामि ॥ १२ ॥

यः । वः । सेनाऽनीः । महतः । गणस्यं । राजा । व्रातस्य । प्रथमः । बभूवं ।
तस्मैं । कृणोमि । न । धना । रुणध्मि । दश । अहम् । प्राचीः । तत् । ऋतम् । वदामि ॥ १२ ॥

१०. द्यूतकारकी धनहीन बनी हुई पत्नी, और कहीं ओर भटकते हुए इस (कुलाङ्गार) पुत्रकी माँ मनमें जलती रहती है । और (सिरपर) दूसरोंके ऋणका बोझ होनेसे धनकी अभिलाषा रखनेवाला वह डरते डरते रात्रिके समय (छिपते हुए चोरीके लिए) दूसरोंके घर जाता है ।

[**बिभ्यत्**–दे. ऊपर ऋचा ४ में **बद्धमेतम्** की टिप्पणी । **नक्तमेति**– मतलब रातके अंधेरेमें धन चुरानेके लिए अथवा अपने पास जो कुछ हो उसे गिरवी रखकर धन लानेके लिए (दूसरोंके घर) चला ज़ाता है ।]

११. दूसरोंकी भार्या बनी हुई स्त्रीको और उनका सुन्दर सजाया हुआ घर देखकर द्यूतकारको अत्यधिक मानसिक पीड़ा होती है । क्योंकि यद्यपि दिनके पूर्वार्धमें इन सुनहले घोड़ोंको (अक्षोंको) उसने (अपने मनरूपी रथपर) जोता था तो भी (शामके समय) भिखारी बनकर अपने चूल्हेकी आगके पास वह खाली पड़ा रहा था ।

[**ततापं** के कर्ताके रूपमें (**दृष्ट्वाय** पदसे सूचित) **दर्शनम्** का अध्याहार करके 'अन्येषां जायां सुकृतं च योनिं दृष्ट्वाय' यह अन्वय करें । तीसरे तथा चौथे पाद का आशय निम्नानुसार है— अक्षों जैसे अविश्वासी अश्वोंको जोतनेके कारण फलकी प्राप्ति तो कोसों दूर रही; उलटे दिनके अन्तमें सिवा अन्नके भूखे रहने एवं उसी अवस्थामें (रात्रिके) जाड़ेसे बचनेके लिए अग्निके पास पड़े रहनेपर वह जुआरी बाध्य हुआ ।]

१२. जो तुम्हारे इस महान् गणका सेनानी (प्रधान अक्ष) होगा, या जो तुम्हारे इस समुदायका प्रमुख राजा होगा उसके सामने मैं अपने हाथोंकी दसों अंगुलियाँ फैला कर दिखाता हूँ और मैंने किसी भी प्रकारका धन छिपाकर पीछे नहीं रखा है यह एकदम सत्य ही मैं कहता हूँ ।

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः ।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः ॥ १३ ॥

अक्षैः । मा । दीव्यः । कृषिम् । इत् । कृषस्व । वित्ते । रमस्व । बहु । मन्यमानः ।
तत्र । गावः । कितव । तत्र । जाया । तत् । मे । वि । चष्टे । सविता । अयम् । अर्यः ॥ १३ ॥

मित्रं कृणुध्वं खलु मृळता नो मा नो घोरेण चरताभि धृष्णु ।
नि वो नु मन्युर्विशतामरातिरन्यो बभ्रूणां प्रसितौ न्वस्तु ॥ १४ ॥

मित्रम् । कृणुध्वम् । खलु । मृळत । नः । मा । नः । घोरेण । चरत । अभि । धृष्णु ।
नि । वः । नु । मन्युः । विशताम् । अरातिः । अन्यः । बभ्रूणाम् । प्रऽसितौ । नु । अस्तु ॥१४॥

[प्रस्तुत ऋचाके साथ साथ ऋचा १४ भी अक्षोंको देवता मानकर उनसे कही गई है। ऋचा १३ भी अप्रत्यक्ष रूपसे उन्हींसे संबद्ध है। अक्षोंको बलशाली वीरोंका एक समूह मानकर उनके एक नेताकी, राजाकी, यहाँ कल्पना की गई है। और द्यूतकार कवि उस राजाके सामने अपनी सौ-फ़ी-सदी धनहीनताकी कहानी साफ़ साफ़ कर रहा है। **दश (क्षिपः) प्राचीः कृणोमि** ' दसों अंगुलियाँ (दे. दश स्वसारः (३.२९.१३) आगे बढ़ाकर दिखाता हूँ ' याने कुछ भी छिपाकर नहीं रखता। **न धना रुणध्मि**–पूरे वाक्यके बीच यह और एक वाक्य रखा गया है।]

१३ अक्षोंसे द्यूत मत खेलो, खेतमें (हलको जोतकर) कृषि ही करो। उसीमें धन्यता मानकर धनमें रममाण हो जाओ। हे द्यूतकार, उसीसे गौएं और जाया इन दोनोंका भी लाभ होता है। श्रेष्ठ ज्ञानी यह सविता देव भी मुझसे वही कहता है।

[ऋचा १२ के कितव (जुआरी) के कथनकी सचाईका अनुभव करके एवं उसकी आस्थाको देखकर अक्षोंका यह राजा ही प्रस्तुत ऋचामें उसे उपदेश दे रहा है। यह उपदेश सुनकर कितवको प्रतीत हुआ कि अक्षोंका व्रात (समूह) एवं उनके राजा भी उसके प्रति हमदर्दी रखते हैं और इसीसे प्रेरित होकर वह ऋचा १४ में उनकी विनम्र प्रार्थना कर रहा है। इस बातको माननेसे १२.१३.१४ इन तीनों ऋचाओंका क्रम सुसंगत मालूम होता है। **सविता अयम् अर्यः**—ऋचा ८ के पूर्वार्धसे ज्ञात होता है कि यहाँ इन शब्दोंका अभिप्राय अक्षोंके व्रातरूपी सवितासे ही है; दे. ऋचा ८ की टिप्पणी।]

१४. हे अक्षो, हमारी मित्रताका स्वीकार करो और सचमुच हमपर दया करो। धृष्टतासे अपना भयंकर स्वरूप दिखाकर अपनी मोहिनीका प्रयोग हमारे ऊपर मत करो। (हमारे विषयमें) तुम्हारे मनमें विद्यमान क्रोध और शत्रुभाव समाप्त हो जायँ। और इस समय हमसे अन्य मनुष्य (जो हमारे शत्रु हैं) तुम्हारे – पीतवर्ण अक्षोंके–जालमें फंस जाय।

[**मित्रम्** + √धा अथवा √कृ का अर्थ है 'मित्रता स्थापित करना'; दे. १०.१०८.३। **मा नो घोरेण अभिचरत** –' अपने भयंकर रूपसे हमपर आक्रमण मत करो '। **घोरेण** दे. ' आङ्गिरसश्च घोराः ' १०.१०८.३। घोरके विपरीत है शान्त। **अभिचरत** अभि + √चर् – ' अभिचार कर्म करना '। (दे. श्येनेनाभिचरन् यजेत)। **अन्यः**–प्रतिद्वन्द्वी; दे. ऋचा ६ का प्रतिदीवन्। प्रस्तुत ऋचाकी तरह ऊपर ऋचा १० तथा ११ में भी **अन्य** शब्दसे कविका अभिप्राय शायद विजयी प्रतिद्वन्द्वियोंसे होगा।]

८६

१०·६८·१–१२ अयास्य आङ्गिरसः ॥ बृहस्पतिः ॥ त्रिष्टुप् ॥

बृहस्पति अथवा ब्रह्मणस्पति अङ्गिरसोंका नेता होनेके साथ साथ ऋषिप्रणीत स्तोत्रोंका अधिष्ठाता देवता है। वलासुरका वध करके उसके द्वारा बंदीगृहमें रखी गई गायोंके साथ साथ सूर्य, अग्नि तथा उषा को भी मुक्त करनेमें बृहस्पतिका बहुत ही बड़ा हाथ रहा था। अतएव इन्द्रके नामका निर्देश न करते हुए स्वतन्त्र रूपमें ही इसका वर्णन कुछ सूक्तोंमें किया गया है। इस तरहके सूक्तोंमें ऊपर २·२३ के साथ साथ प्रस्तुत सूक्त भी प्रमुख माना जाता है। २·२३ में ऋषियोंके स्तोत्रोंके साथ इस देवताका जो निकटवर्ती संबन्ध रहा था वही प्रधान है। इसलिए उसमें बीच बीच ब्रह्मणस्पति इस चरितार्थ नामको प्रयुक्त किया गया है और चलते चलते केवल एक बार इन्द्रका भी निर्देश हुआ है। प्रस्तुत सूक्तमें सिर्फ उस समयका बड़ा ही सरस वर्णन है जब बृहस्पतिने वलासुरको विवश करके गायोंको मुक्ति प्रदान की। अतः इस सूक्तमें इन्द्रका उल्लेख भी नहीं पाया जाता।

उदप्रुतो न वयो रक्षमाणा वावदतो अभ्रियस्येव घोषाः।
गिरिभ्रजो नोर्मयो मदन्तो बृहस्पतिमभ्य१र्का अनावन् ॥ १ ॥

उदऽप्रुतः। न। वयः। रक्षमाणाः। वावदतः। अभ्रियस्यऽइव। घोषाः।
गिरिऽभ्रजः। न। ऊर्मयः। मदन्तः। बृहस्पतिम्। अभि। अर्काः। अनावन् ॥ १ ॥

१. (सामने आनेवाली लहरोंके प्रहारोंको) हटाते हुए (गंभीर ध्वनि करनेवाले) जलविहारी हंस पक्षियोंकी तरह, गर्जना करनेवाले मेघके घोषकी तरह, तथा पहाड़ोंकी गोदसे बाहर निकलनेवाले (निर्झरोंकी) तरंगोंकी तरह, ये हमारे अर्क (याने शक्तिशाली स्तोत्र) बृहस्पतिका स्तवन कर रहे हैं।

[पहले तीन पादोंमें बृहस्पतिका स्तवन करनेवाले स्तोत्रोंकी तुलना क्रमशः सागरकी लहरोंपर अठखेलियाँ करनेवाले जलविहंगों, गडगड़ाहट करनेवाले मेघों तथा पहाड़की गोदसे तेज़ीके साथ निकलनेवाले पर्वतीय निर्झरों से की गई है। **रक्षमाणः**—'उठनेवाली ऊँची लहरोंके आघातोंसे अपनी रक्षा करनेवाले'। दूसरी उपमामें मेघोंके स्थानपर उनकी गर्जना या गडगड़ाहट को उपमानके रूपमें प्रयुक्त करना कविकी निरङ्कुशताका परिचायक है। पहले पादकी उपमा कविकुलगुरुके मेघदूत २९ (वीचिक्षोभस्तनितविहगश्रेणि) तथा विक्रमोर्वशीय ४·२८ (क्षुभितविहगश्रेणिरशना) में भी सूचित है। तीसरी उपमाके लिए दे. 'क्रीळन्त्यस्य सूनृता आपो न प्रवता यतीः' ८·१३·८।]

सं गोभिराङ्गिरसो नक्षमाणो भगंइवेदर्यमणं निनाय ।
जने मित्रो न दंपती अनक्ति बृहस्पते वाजयाशूँरिवाजौ ॥ २ ॥

सम् । गोभिः । आङ्गिरसः । नक्षमाणः । भगःऽइव । इत् । अर्यमणम् । निनाय ।
जने । मित्रः । न । दंपती इति दम्ऽपती । अनक्ति । बृहस्पते । वाजय । आशून्ऽइव । आजौ ॥ २ ॥

साध्वर्या अतिथिनीरिषिराः स्पार्हाः सुवर्णा अनवद्यरूपाः ।
बृहस्पतिः पर्वतेभ्यो वितूर्या निर्गा ऊपे यवमिव स्थिविभ्यः ॥ ३ ॥

साधुऽअर्याः । अतिथिनीः । इषिराः । स्पार्हाः । सुऽवर्णाः । अनवद्यऽरूपाः ।
बृहस्पतिः । पर्वतेभ्यः । विऽतूर्य । निः । गाः । ऊपे । यवम्ऽइव । स्थिविऽभ्यः ॥ ३ ॥

आप्रुषायन् मधुन ऋतस्य योनिमवक्षिपन्नर्क उल्कामिव द्योः ।
बृहस्पतिरुद्धरन्नश्मनो गा भूम्या उद्नेव वि त्वचं बिभेद ॥ ४ ॥

आऽप्रुषायन् । मधुना । ऋतस्य । योनिम् । अवऽक्षिपन् । अर्कः । उल्काम्ऽइव । द्योः ।
बृहस्पतिः । उद्धरन् । अश्मनः । गाः । भूम्याः । उद्नाऽइव । वि । त्वचम् । बिभेद ॥ ४ ॥

२. जिस प्रकार इस लोकमें उभय पक्षोंका मित्रभूत मध्यस्थ वरवधूकी जोड़ीको मिलाकर सुशोभित करता है उसी प्रकार यह आङ्गिरस बृहस्पति अपने सुशील याजकसे मिलकर भग नामक देवकी तरह उसे अनेक गोधनोंसे मिला देता है । हे बृहस्पते, (हमें, तुम्हारे इन याजकोंको) युद्धमें अश्वोंकी तरह उत्तेजना दो ।

[**अर्यमणं गोभिः सं निनाय** यही अन्वय करें। **अर्यमा** याने शीलवान् याजक; दे. १०.११७.६। **गोभिः सं निनाय** दे. 'सं पूषन् विदुषा नय' ६.५४.१ के साथ साथ 'समिन्द्र णो मनसा नेषि गोभिः' ५.४२.४। तीसरे पादमें उपमेय (अर्यमणं गाश्च) का अध्याहार करें। बृहस्पतिकी समता लौकिक मित्रके साथ तथा अर्यमा एवं गायों की तुलना कवि दंपतिके साथ करना चाहता है । चौथे पादमें भी उपमेय **नः** का (दे. ऋचा १२) अध्याहार करें ।]

३. (वलासुरकी गुहापर) आक्रमण करके बृहस्पतिने, छलनीके छिद्रोंसे जिस तरह यवके धान्यकण बाहर फेंके जाते हैं, उसी प्रकार उन पर्वतोंमेंसे आर्योंके लिए अनुकूल, अतिथियोंका भरण-पोषण करनेवालीं, चपल, स्पृहणीय, विचित्रवर्ण तथा शरीरके निर्दोष गठनवालीं गायोंकी ज़बरदस्तीसे बाहर निकाल दिया ।

[**साध्वर्या** : (बहुव्रीहि)—साधु अर्यः यासाम् । **अतिथिनीः** अतिथि + इन् – अतिथीमतीः के अर्थमें छान्दस रूप; अर्थ है –'अतिथि लानेवाली'। **वितूर्य**– वि + तृ–'हमला करना', 'आक्रमण करना'; दे. १०.३४.६ । **स्थिवि**–'चालनी' या 'छलनी'; लक्षणाके सहारे 'छलनीके छिद्र'; दे. 'नव पश्चात्तात् स्थिविमन्त आयन् दश प्राक् सानु वितरन्ति अश्नः' १०.२७.१५। **पर्वतेभ्यः** को महत्त्वका परिचायक बहुवचन समझें ।]

४. ऋतके (यज्ञरूपी) निवासस्थानपर मधुर (दूध और घृत) का अभिषेक करनेके

अप ज्योतिषा तमो अन्तरिक्षादुद्नः शीपालमिव वात आजत् ।
बृहस्पतिरनुमृश्या वलस्याभ्रमिव वात आ चक्र आ गाः ॥ ५ ॥

अप । ज्योतिषा । तमः । अन्तरिक्षात् । उद्नः । शीपालम्ऽइव । वातः । आजत् ।
बृहस्पतिः । अनुऽमृश्य । वलस्य । अभ्रम्ऽइव । वातः । आ । चक्रे । आ । गाः ॥ ५ ॥

यदा वलस्य पीयतो जसुं भेद्बृहस्पतिरग्नितपोभिरर्कैः ।
दद्भिर्न जिह्वा परिविष्टमाददाविर्निधीँरकृणोदुस्रियाणाम् ॥ ६ ॥

यदा । वलस्य । पीयतः । जसुम् । भेत् । बृहस्पतिः । अग्नितपःऽभिः । अर्कैः ।
दत्ऽभिः। न। जिह्वा। परिऽविष्टम्। आदत्। आविः। निऽधीन्।अकृणोत्।उस्रियाणाम् ॥ ६॥

उद्देश्यसे वलासुरके पाषाणमय कानीगृहसे गायोंको बाहर निकालनेके लिए, बृहस्पतिने आकाशसे उल्काको गिरनेवाले सूर्यकी तरह (अपना अर्करूपी अस्त्र फेंक कर) उस पाषाणमय कानीगृहके छप्परको उसी तरह तोड़ डाला जैसे (पर्जन्य देव) अपनी वृष्टिके पानीसे भूमिके पृष्ठभागको ।

[त्रिष्टुभ् छन्दमें होते हुए भी पहले पादमें १२ अक्षर हैं, संभवतः कविका अभिप्राय **न + ऋ** दोनों अक्षरोंके अतिशीघ्र उच्चारणसे रहा हो । **मधुना**–यहाँ लक्षणाकी सहायतासे मधुका अभिप्राय गायके दूध एवं घृत (गोरस) से है । **ऋत** शब्दको ऋतके प्रतीक यज्ञके अर्थमें मान लें । यही लाक्षणिक अर्थ १·१४३·७ आदि कई स्थलोंपर कविके मनमें विद्यमान है । दूसरे पादमें **अवाक्षिपन्** क्रियाके कर्मके रूपमें **अश्मानम्** इस उपमेयका अध्याहार करें; दे. २·३०·५ । तीसरे तथा चौथे पादमें अन्वय करते हुए **अश्मनः** शब्दको यों दुहराएं– **अश्मनः** (अपादानकारक) **गाः उद्धरन्**, **अश्मनः** (संबन्धकारक) **त्वचं बिभेद** । अन्तिम पादमें **बृहस्पतिः** के प्रतियोगी उपमानके रूपमें **पर्जन्यः** को ले लें। **भूम्याः त्वचम्** दे. 'तासां–भूमीनाम्–अधि त्वचो अहं भेषजं समु जग्रभम् ' अथर्ववेद ६·२१·१; 'त्वचमिव भूम्याः शिर एषां वि पातय'–अथर्ववेद १९·२८·४ के साथ साथ ऊपर १·८५·५ ।]

५. वायु जिस प्रकार जलपर स्थित शैवालको दूर हटा देता है उस प्रकार इस बृहस्पतिने अपने तेजसे अन्तरिक्षमेंसे अन्धेरेको दूर भगा दिया है । (तथा) वायु जिस प्रकार बादलोंको अपनी ओर खींच लेता है उसी प्रकार वलासुरकी गायोंको पकड़कर उसने अपनी ओर खींच लिया ।

[पूर्वार्धमें कांजीहौसके अंधेरेको दूर करने तथा उत्तरार्धमें गौओंको अपनी ओर घुमानेका वर्णन है; इसीलिए क्रमशः **अप आजत्** तथा **आ चक्रे** ये पद प्रयुक्त हुए हैं । उपसर्ग **आ** की दुहरावट ' निःशेष ' याने सभी गायोंको अपनी ओर घुमाए जानेकी सूचक है ।]

६. जिस समय बृहस्पतिने अग्निकी तरह जलानेवाले अपने अर्कोंसे द्वेष करनेवाले उस वलासुरकी गुहाका भेदन किया और दांतोंसे घेरे हुए अन्नको जिस प्रकार जिह्वा अच्छी तरहसे पकड़ लेती है उसी प्रकार उसे पकड़ रखा उस समय उस (बृहस्पति)ने उस (वलासुर) के (छिपाये हुए) गायोंके झुंड बाहर निकाले ।

बृहस्पतिरमंत हि त्यदांसां नामं स्वरीणां सदंने गुहा यत् ।
आण्डेवं भित्त्वा शकुनस्यं गर्भमुदुस्रियाः पर्वतस्य त्मनाजत् ॥ ७ ॥

बृहस्पतिः । अमंत । हि । त्यत् । आसाम् । नामं । स्वरीणाम् । सदंने । गुहा । यत् ।
आण्डाऽईव । भित्त्वा । शकुनस्यं । गर्भम् । उत् । उस्रियाः । पर्वतस्य । त्मनां । आजत् ॥ ७ ॥

अश्नापिनद्धं मधु पर्यपश्यन्मत्स्यं न दीन उदनिं क्षियन्तम् ।
निष्टज्जंभार चमसं न वृक्षाद्बृहस्पतिर्विरवेणां विकृत्यं ॥ ८ ॥

अश्नां । अपिंऽनद्धम् । मधुं । परिं । अपश्यत् । मत्स्यंम् । न । दीने । उदनिं । क्षियन्तंम् ।
निः । तत् । जभार । चमसम् । न । वृक्षात् । बृहस्पतिः । विऽरवेण । विऽकृत्यं ॥ ८ ॥

[**जसुम्** (स्त्रीलिङ्ग)-वलकी वह गुहा जो ' थकावट पैदा करके ग्रसनेवाली ' हो; दे. **अश्मनः** ऋचा ४; **पर्वतस्य** ऋचा ७ । अन्यत्र **जसु** का अर्थ है 'थकान' दे. 'न बाधते अमतिर्नग्नता जसुः' १०.३३.२।]

७. कारण, इस (वल) के गोष्ठसे रंभानेवालीं गायें यद्यपि दृष्टिकी ओटमें थीं फिर भी, बृहस्पतिको उनके सभी नाम पूर्णतया विदित थे । (इस लिए) पक्षियोंके अण्डे फोड़कर उसके बच्चे जिस प्रकार बाहर निकाले जाते हैं उसी प्रकार स्वयं ही पर्वतके पेटमेंसे उस गायरूपी गर्भको उसने बाहर खींचकर निकाला ।

[**स्वरीणाम्**—(√स्वृ-स्वर्) 'रंभानेवालीं (उस्रियाणाम्)'। **आण्डेव भित्त्वा** तथा **गर्भं** दोनों पदोंका अन्वय **शकुनस्य** और **पर्वतस्य** इन दोनों पदोंके साथ कर ले । **आण्डा भित्त्वा** को लक्षणाकी सहायतासे **पर्वतस्य** के साथ अन्वित करें; लक्ष्यार्थ होगा ' कचूमर निकालना '; ' अंजर पंजर ढीला करना '; दे. 'आण्डा नो मघवन् शक निर्भित्' १.१०४.८ तथा 'आण्डा शुष्णस्य भेदति' ८.४०.११। **गर्भम् उस्रियाः**– ' गायरूपी गर्भको ' यही सामानाधिकरण्य; दे. ऊपर ४.५०.५ तथा ५.४५.३ ।]

८. (वलकी मज़बूत) पत्थरकी गुहामें रोककर रखे हुए, छिछले पानीमें तैरनेवाली मछलीकी तरह (अस्वस्थ जीवन बितानेवाला) यह (गोधनरूपी, गायोंका दूधरूपी) मधुर पेय बृहस्पतिने चारों ओरसे भली भाँति देख लिया । और जिस प्रकार वृक्षके तनेसे पेयपात्र (बड़ी कुशलतासे काटकर) निकाला जाता है उसी प्रकार उसने अपनी भयंकर गर्जनासे (उस पत्थरकी) गुहाके टुकड़े टुकड़े करके उस (मधुर पेय) को बाहर खींचकर निकाला ।

[**मधु**—लक्षणाकी सहायतासे इसका अर्थ होता है दूध एवं घृत देनेवाली गायें; दे. ऊपर ऋचा ३ । **दीने उदनि** ' उथले, छिछले पानीमें ', दे. 'पर्षि दीने गभीर आ' ८.६७.११ । **चमसं न वृक्षात्**–यहाँ **वृक्ष** का अभिप्राय लकड़ीके कुंदेसे है । इसे खोदकर बढ़ई जिस प्रकार अखण्ड पात्र बनाता है उसी प्रकार वलकी गुहा खोदकर भीतर की गौएं बाहर निकाल दीं । लकड़ीके कुंदेका वह हिस्सा याने भूसा जो पात्रको भीतरसे एवं बाहरसे खोदकर निकाला जाता है उसे अक्सर फेंक दिया जाता है । बृहस्पतिने ठीक उसी तरह गायोंको छोड़कर गुहाका पूरा अंश नष्ट कर डाला। **विकृत्य निर्जभार** यही प्रस्तुत उपमामें साधारण धर्म है. दे. ' वलं ..... वि चकर्त रवेण ' १०.६७.६ ।]

सोषामविन्दत् स स्वः१ सो अग्निं सो अर्केण वि बबाधे तमांसि।
बृहस्पतिर्गोवपुषो वलस्य निर्मज्जानं न पर्वणो जभार ॥ ९ ॥

सः। उषाम्। अविन्दत्। सः। स्व१रिति स्वः। सः। अग्निम्। सः। अर्केण। वि। बबाधे। तमांसि।
बृहस्पतिः। गोऽवपुषः। वलस्य। निः। मज्जानम्। न। पर्वणः। जभार ॥ ९ ॥

हिमेव पर्णा मुषिता वनानि बृहस्पतिनाकृपयद्वलो गाः।
अनानुकृत्यमपुनश्चकार यात् सूर्यामासा मिथ उच्चरातः ॥ १० ॥

हिमाऽइव। पर्णा। मुषिता। वनानि। बृहस्पतिना। अकृपयत्। वलः। गाः।
अननुऽकृत्यम्। अपुनरिति। चकार। यात्। सूर्यामासा। मिथः। उत्ऽचरातः ॥ १० ॥

९. उस बृहस्पतिने (उसी गुहामेंसे ही) उषा, सूर्य और अग्नि को खोजकर निकाला और उसने अपने अर्ककी सहायतासे निबिड अन्धकारको पार भगा दिया। गायोंको ही अपना शरीर माननेवाले वलासुरके (शरीरमेंसे) अनन्तर उस बृहस्पतिने (कोई क्षुधित भेड़िया जिस तरह मृतपशुकी हड्डियोंके) सन्धिस्थानोंमेंसे सभी मज्जा साफ़ करके निकालता है उसी प्रकार (उन सभी गायोंको एक भी अवशिष्ट न रखते हुए) बाहर निकाला।

[**अर्केण**–इसीको ऋचा ८ में विरव तथा ४.५०.५ में ' रव ' कहा गया है। **गोवपुषः**– ' गायोंको ही अपनी **वपुः** याने ' सुन्दर शरीर ' माननेवाला '। **मज्जानं न पर्वणः**–मारे हुए पशुके शरीरकी हरेक सन्धिमें विद्यमान मज्जाको जिस तरह भूखा भेड़िया चूस चूस कर खाता है (दे. मालतीमाधव ५.१६) उसी तरह वलकी गुहाके कोने-कोनेमें विद्यमान गायोंको बृहस्पतिने बाहर निकाला और उन्हें मुक्त किया। उत्तरार्धमें **गाः** पदका अध्याहार आवश्यक है।]

१०. जिस प्रकार (शीतऋतुमें) वृक्षोंको अपने तीव्र तुषार द्वारा अपहृत पत्रोंके लिए शोक करना पड़ता है उसी प्रकार वलको भी बलात् अपहृत गायोंके लिए शोक करनेपर बृहस्पतिने बाध्य किया। जिस समय तक सूर्य और चन्द्रमा क्रमसे आकाशमें संचरण करते रहेंगे उस समय तक बृहस्पतिने ही वह कृत्य किया है जिसका अनुकरण कोई भी न कर सकेगा, जिसकी पुनरावृत्ति भी न हो सकेगी।

[पूर्वार्धका अन्वय निम्नानुसार करें–**हिमा** (**हिम्** की तृतीया) **मुषिता पर्णा यथा वनानि** (कृपयन्ति) एवं **बृहस्पतिना मुषिताः गाः वलः अकृपयत्**। **अपुनः** के बाद 'कर्म' पदका अध्याहार। **सूर्यामासा**=सूर्याचन्द्रमसौ। चौथे पादका लाक्षणिक अर्थ है 'हमेशा', 'निर्बाध रूपसे' दे. ७.८८.४।]

अभि श्यावं न कृशनेभिरश्वं नक्षत्रेभिः पितरो द्यामपिंशन्।
रात्र्यां तमो अदधुर्ज्योतिरहन् बृहस्पतिर्भिनदद्रिं विदद्गाः ॥ ११ ॥

अभि। श्यावम्। न। कृशनेभिः। अश्वम्। नक्षत्रेभिः। पितरः। द्याम्। अपिंशन्।
रात्र्याम्। तमः। अदधुः। ज्योतिः। अहन्। बृहस्पतिः। भिनत्। अद्रिम्। विदत्। गाः॥११॥

इदमकर्म नमो अभ्रियाय यः पूर्वीरन्वानोनवीति।
बृहस्पतिः स हि गोभिः सो अश्वैः स वीरेभिः स नृभिर्नो वयो धात्॥१२॥

इदम्। अकर्म। नमः। अभ्रियाय। यः। पूर्वीः। अनु। आऽनोनवीति।
बृहस्पतिः। सः। हि। गोभिः। सः। अश्वैः। सः। वीरेभिः। सः। नृऽभिः। नः। वयः। धात्॥१२॥

११. (जिनका नेता बृहस्पति है ऐसे) हमारे (अङ्गिरस नामक पूर्वज) पितरोंनें तारकाओं द्वारा उसी प्रकार आकाशको सुशोभित किया है जैसे मोतियोंसे (उनकी जालीसे) कृष्णवर्ण अश्वको। उसी प्रकार उन्होंने रात्रिके समयमें अन्धकारकी तथा दिनके समयमें प्रकाशकी स्थापना की है; कारण बृहस्पतिने वलकी पत्थरकी गुहा तोड़ डाली और वह (इसमें चुरा कर रखी हुई) गायें जीतकर ले आया।

[**पितरः** ऋषियोंके पूर्वज अङ्गिरस ऋषि। चौथे पादमें जिन बातोंका उल्लेख किया गया है उनके कार्य पहले तीन पादोंमें बतलाए गए हैं। वलका विध्वंस करके देवोंको गायोंके साथ साथ सूर्य, चन्द्र, उषा आदिको मुक्त करनेके उपरान्त पितरोंने याने अङ्गिरस ऋषियोंने दिनमें सूर्यकी तथा रातमें चन्द्र एवं नक्षत्रोंकी नियुक्ति करके सर्वत्र निर्भयता एवं शान्तकी स्थापना की।]

१२. जो अनेक (स्तोत्र-वाणियोंका) स्वीकारसूचक ध्वनि करता है उसको, मेघकी तरह गम्भीर गर्जना करनेवाले बृहस्पतिको, हमने यह स्तोत्र (समर्पण) किया है। वही यह बृहस्पति हमें गायों, अश्वों, वीर पुत्रों तथा अनुयायियों के साथ शारीरिक बल प्राप्त करा दे।

[**पूर्वीः** के बाद **गिरः** अथवा **वाणीः** पदका अध्याहार। ऋषियोंकी वाणीकी सहायतासे स्तवन किए जानेपर (दे. ऋचा १) बृहस्पति भी उसका प्रत्युत्तर देता है (अन्वानोनवीति)।]

८७

१०·७१·१–११ बृहस्पतिराङ्गिरसः ॥ ज्ञानम् ॥ १–८, १०, ११ त्रिष्टुप् । ९ जगती ॥

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत् प्रैरत नामधेयं दधानाः ।

यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः ॥ १ ॥

बृहस्पते । प्रथमम् । वाचः । अग्रम् । यत् । प्र । ऐरत । नामऽधेयम् । दधानाः ।

यत् । एषाम् । श्रेष्ठम् । यत् । अरिप्रम् । आसीत् ।

प्रेणा । तत् । एषाम् । निऽहितम् । गुहा । आविः ॥ १ ॥

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।

अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि ॥ २ ॥

सक्तुम्ऽइव । तितउना । पुनन्तः । यत्र । धीराः । मनसा । वाचम् । अक्रत ।

अत्र । सखायः । सख्यानि । जानते । भद्रा । एषाम् । लक्ष्मीः । निऽहिता । अधि । वाचि ॥२॥

१. हे बृहस्पति, वाणीका वह सर्वप्रथम एवं सर्वोपरि आविष्कार था जिसे (निर्मित विश्वके विभिन्न रूपोंको) संज्ञा प्रदान करते हुए (देवोंने) अभिव्यक्त किया। इनके (देवोंके) पास (वाणीका) जो सर्वोत्तम एवं निर्दोष अंश था वही गोपनीय रखनेके बावजूद इनके (ऋषियोंके) प्रति प्रेम-भावनाके कारण अभिव्यक्त हुआ।

[प्रस्तुत सूक्तमें ज्ञानकी, खासकर कविकी प्रतिभायुक्त एवं उत्स्फूर्त वाणीकी सराहना की गई है। **नामधेयं दधानाः**–दे. ३·३८·७ जहाँ असुरके रूपोंको संज्ञा प्रदान करनेवाले **मायिनः** का उल्लेख किया गया है। तीसरे पादमें **एषां** इनकी ओर निर्देश करता है; लेकिन चौथे पादमें **एषां** तीसरी ऋचामें निर्दिष्ट ऋषियोंकी ओर संकेत करता है।]

२. सुहृद्गण (वाणीकी) मित्रताका अनुभव यहाँ प्राप्त करते हैं जहाँ चालनीसे धानके कणोंकी तरह मनसे वाणीको पवित्र (स्वच्छ) करते हुए विचारवान् व्यक्ति उसका आविष्कार करते हैं। उनकी वाणीमें पवित्र गुण निहित है।

[**धीराः**—प्रज्ञाशाली एवं प्रतिभावान् कवि। **पुनन्तः** यह पद शब्दों एवं शब्दबन्धों के कविकृत कौशल्यपूर्ण चयनकी ओर संकेत करता है। **सखायः** तथा **सख्यानि** दोनों **वाचः** अर्थात् वाणी के हैं। **लक्ष्मी** (लक्ष्म–पृथक्त्व प्रकट करनेवाला गुण) व्यवच्छेदक या पृथक्त्वसूचक लक्षण; दे. 'सलक्ष्मा विषुरूपा' १०·१०·२; १०·१२·६.]

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम् ।
तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्त रेभा अभि सं नवन्ते ॥ ३ ॥

यज्ञेन । वाचः । पदऽवीयम् । आयन् । ताम् । अनु । अविन्दन् । ऋषिषु । प्रऽविष्टाम् ।
ताम् । आऽभृत्य । वि । अदधुः । पुरुऽत्रा । ताम् । सप्त । रेभाः । अभि । सम् । नवन्ते ॥ ३ ॥

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥ ४ ॥

उत । त्वः । पश्यन् । न । ददर्श । वाचम् । उत । त्वः । शृण्वन् । न । शृणोति । एनाम् ।
उतो इति । त्वस्मै । तन्वम् । वि । सस्रे । जायाऽइव । पत्ये । उशती । सुऽवासाः ॥ ४ ॥

उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु ।
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम् ॥ ५ ॥

उत । त्वम् । सख्ये । स्थिरऽपीतम् । आहुः । न । एनम् । हिन्वन्ति । अपि । वाजिनेषु ।
अधेन्वा । चरति । मायया । एषः । वाचम् । शुश्रुऽवान् । अफलाम् । अपुष्पाम् ॥ ५ ॥

---

३. यज्ञकी सहायतासे वे (विचारवान् व्यक्ति) वाणीके मार्गपर आ पहुँचे; उन्होंने उसे ऋषियोंमें प्रविष्ट पाया । वहाँसे नीचे लाकर उन्होंने उसे कई स्थानोंमें बाँट दिया; सातों स्तोताओंने मिलकर उसका सहर्ष स्वागत किया ।

[वाणीका सर्वोत्तम रूप देवोंने पहले ऋषियोंको प्रदान किया । प्रतिभाशाली कवियोंने ऋषियोंसे यज्ञकी सहायतासे उसे पाया और अन्य स्तोताओंमें बाँट दिया । दे. १०·१२५·३ । सात स्तोता यानि यज्ञके सातों प्रमुख ऋत्विज यज्ञमें उसका सहर्ष स्वागत करते हैं । प्रस्तुत ऋचाके **रेभाः** और १०·११४·७ के **धीराः** दोनों एक ही हैं । ऋषि वास्तवमें वे प्राचीन देवतातुल्य मुनि हैं जो पवित्र वाणीके संक्रामणमें देवों एवं प्रतिभाशाली कवियों के बीच मध्यस्थ बने थे । **रेभाः** को स्तोत्रोंके रचयिताओंके (**धीराः**) के बदले सिर्फ स्तोताओंके अर्थमें मान लेना भी संभव है (दे. ७·६२·२; ८·९७·११; १०·८७·१२); जिससे **धीराः वि + अदधुः** क्रियाके कर्ता होंगे ।]

४. और कोई व्यक्ति वाणीको देखकर भी सच्चे अर्थोंमें उसके दर्शन नहीं कर पाया; कोई उसे सुनकर भी भली भाँति सुन न सका । इसके विपरीत वह अपनी कायाको किसीके सामने उसी तरह अनावृत कर चुकी जैसे प्रणयके उन्मादसे आकुल एवं रोचक वेष पहनी हुई महिला अपने पतिके सामने ।

[पहले दोनों पाद उस व्यक्तिकी ओर संकेत करते हैं जो ज्ञान अवश्य रखते हैं लेकिन उसका अच्छी तरह उपयोग करना नहीं जानते । इसके विपरीत अन्तिम दोनों पादोंमें उस व्यक्तिका उल्लेख है जो ज्ञानका भली भाँति उपयोग करनेकी कलाका जानकार है जिससे उसका ज्ञान सफल सिद्ध होता है । **तन्वं विसस्रे**- दे. तन्वं रिरिच्याम् १०·१०·७ ।]

५, और किसीको वे उसकी मित्रतामें अविचल रूपसे अवस्थित कहते हैं; उसे वाक्स्पर्धामें

यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति ।
यदीं शृणोत्यलकं शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम् ॥ ६ ॥
यः । तित्याज । सचिऽविदम् । सखायम् । न । तस्य । वाचि । अपि । भागः । अस्ति ।
यत् । ईम् । शृणोति । अलकम् । शृणोति । नहि । प्रऽवेद । सुऽकृतस्य । पन्थाम् ॥ ६ ॥

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः ।
आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे ह्रदाइव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे ॥ ७ ॥
अक्षण्ऽवन्तः । कर्णऽवन्तः । सखायः । मनःऽजवेषु । असमाः । बभूवुः ।
आदघ्नासः । उपऽकक्षासः । ऊँ इति । त्वे । ह्रदाःऽइव । स्नात्वाः । ऊँ इति । त्वे । ददृश्रे ॥७॥

(सम्मिलित होनेके लिए) वे प्रेरित नहीं करते । जिस व्यक्तिने पुष्पहीन एवं फलहीन वाणी सुनी वह (सचमुच) दूध प्रदान न करनेवाली धेनुरूपी मायाके साथ विहार कर रहा है ।

[पिछली ऋचाके पहले दो पादोंके तथाकथित (अहंमन्य) विद्वान् व्यक्तिका वर्णन प्रस्तुत ऋचामें भी चल रहा है । **सख्ये** याने **वाचः सख्ये** । **स्थिरपीतम्** (**पीत**- √पि -उभर आना, फूलना) **स्थिरश्च असौ पीतश्च** (जो अविचल रूपसे अवस्थित या पूरी तौरसे फूला हुआ है) जो अच्छा विद्वान् है अवश्य; लेकिन अपने ज्ञानका उपयोग करनेमें असमर्थ या अनिच्छुक हो । **वाजिन**-वाक्स्पर्धा; **न हिन्वन्ति** प्रेरित नहीं करते याने स्पर्धकके रूपमें उसे नियुक्त नहीं करते; क्योंकि ज्ञान रखनेके बावजूद वह उसे समयपर भली भाँति प्रयुक्त करनेकी कला नहीं जानता । दे. ऋचा १०- 'हितो भवति वाजिनाय' । पहले दो पादोंमें कही गई बात अन्तिम दो पादोंमें विशद की गई है । वाणीके **पुष्प** का अभिप्राय उसके अर्थसे है और **फल** का उससे अधिक ईप्सित वस्तुकी प्राप्तिसे ।]

६. सहचरकी प्राप्ति करानेवाले सखाका जो व्यक्ति त्याग करता है उसे वाणीमें (वाणीके कारण होनेवाले लाभमें) अंश प्राप्त नहीं होता । जो कुछ वह सुनता है, फलहीन सिद्ध होता है क्योंकि वह निश्चय ही पुण्यमय कर्मका मार्ग भली भाँति नहीं जानता ।

[पांचवीं ऋचाके विचारको ही यहाँ आगे बढ़ाया गया है । मेरी रायमें **सखायं सचिविदम्** (विदम्- √विद् 'प्राप्त करना') यहाँ **वाक्** के उस अर्थ की ओर संकेत करता है जो वाणीके साथ रहकर ईप्सित फलकी प्राप्ति कराता है । वाक् एवं अर्थ का संबन्ध अभेद्य है (रघुवंश १·१); इसलिए दोनोंमेंसे किसी एकका भी त्याग करनेवाला व्यक्ति उस लाभके अंशका भागी नहीं हो सकता, जिसे दोनों **मिलकर** प्राप्त कर लेते हैं । **अलकम्**-' मिथ्या ' ' झूठमूठ ' ' फलहीन रूपमें ' मतलब, अर्थको बिना समझे । **सुकृतस्य पन्थाम्** का अभिप्राय यज्ञानुष्ठानकी पद्धति एवं उसके रहस्यों से है ।]

७. (वाणीके) मित्रोंमेंसे सभी समान रूपसे आँखों एवं कानों से युक्त हैं । लेकिन मनकी उड़ानोंकी दृष्टिसे उनमें असमानता ज़रूर है । उनमेंसे कतिपय सचमुच उन तड़ागों जैसे हैं जो मुँहतक पानी रखते हैं; अन्य कोई उन तड़ागों जैसे हैं जिनका पानी काँखोंतक (ही) पहुँचता है और कुछ (उन ह्रदों जैसे) हैं जिनका जल (एड़ीसे चोटीतक) नहाने (और यथेष्ट विहार करने) के लिए काफ़ी एवं गहरा है ।

हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु यद्ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः ।
अत्राह त्वं वि जहुर्वेद्याभिरोहब्रह्माणो वि चरन्त्यु त्वे ॥ ८ ॥

हृदा । तष्टेषु । मनसः । जवेषु । यत् । ब्राह्मणाः । सम्ऽयजन्ते । सखायः ।
अत्र । अह । त्वम् । वि । जहुः । वेद्याभिः । ओहऽब्रह्माणः । वि । चरन्ति । ऊँ इति । त्वे ॥८॥

इमे ये नार्वाङ्न परश्चरन्ति न ब्राह्मणासो न सुतेकरासः ।
त एते वाचमभिपद्य पापया सिरीस्तन्त्रं तन्वते अप्रजज्ञयः ॥ ९ ॥

इमे । ये । न । अर्वाक् । न । परः । चरन्ति । न । ब्राह्मणासः । न । सुतेऽकरासः ।
ते । एते । वाचम् । अभिऽपद्य । पापया । सिरीः । तन्त्रम् । तन्वते । अप्रऽजज्ञयः ॥ ९ ॥

[**मनोजवेषु**-मनके वेगोंमें याने मानसिक शक्तियोंमें । **सखायः** ये भी वाक्के ही हैं। सायणाचार्य **सखायः** को **असमाः** के विरोधीके रूपमें मानते-से दिखाई देते हैं जो उचित नहीं जँचता । तीसरे तथा चौथे पादमें विद्वान् व्यक्तिके ज्ञानकी गहराईकी तुलना नदीके पात्रमें विद्यमान गहरे आवर्तोंके जलकी गहराईके साथ की गई है । **आदघ्नासः** में आ वास्तवमें, जैसा कि सायणाचार्यका कथन है, **आस्** याने मुख है; 'आस्यशब्दस्य पृषोदरादित्वादाकारादेशः' ।]

८. ब्रह्ममें श्रद्धा रखनेवाले (स्तोत्रके रचयिता) एवं (वाणीके) मित्र जब अपने हृदयोंकी सहायतासे मनकी उड़ानोंको समुचित रूप प्रदान करते हुए (याने अपनी काव्यपूर्ण कल्पनाओंको समुचित भावोंके आविष्कारसे सँवारते हुए) साथ मिलकर यज्ञको संपन्न करते हैं (तब) वे यहाँ अपनी उत्कृष्ट विद्याओंके कारण किसीको पूरी तौरसे छोड़ देते हैं; तो कई अन्य अपने स्तोत्रोंकी (देवों द्वारा) स्वीकृतिके कारण स्वच्छन्द रूपसे संचरण करते हैं ।

[**हृदा तष्टेषु-तष्ट** को यहाँ 'सुगठित' के अर्थमें प्रयुक्त किया गया है। **ब्राह्मणाः** बड़ा ही साभिप्राय शब्द है। **वेद्याभिः- वेद्या** के माने हैं 'विद्या', 'उच्च कोटिका ज्ञान' दे. १·१७१·१; ३·५६·१; ६·९·१) **ओह** (√ऊह्- समुचित शब्दकी कल्पना करना) वह स्तोत्र है जिसे देवता उपादेय समझें; **ओहब्रह्मन्** (बहुव्रीहि) 'वह व्यक्ति जिसका स्तोत्र ओहके स्तरतक पहुँचा हो' ।]

९. जो व्यक्ति ब्राह्मण (याने स्तोत्रके रचयिता) नहीं है; जो न इधर जाते हैं न उधर; जिनके हाथ पीसे हुए सोम (को धारण करने) में मग्न नहीं है और जो अनुभवहीन हैं वे ये लोग वाणीको प्राप्त करनेके बाद (भी) अपनी मूर्खता एवं क्षुद्रता के कारण (वस्त्रको बुननेके लिए) चञ्चल जलको तन्तुकी तरह फैलाते हैं ।

[यहाँ कवि दयाके साथ फिर एकबार तथाकथित विद्वानों (पढ़े-लिखे मूर्खोंकी) की बात कर रहा है। पहला पाद आठवीं ऋचाके चौथे पादके **वि चरन्ति** के विरोधमें फबता है । मतलब, उन्हें अन्य शब्दोंमें **स्थिरपीत** (ऋचा ५) कहा जा सकता है । **ब्राह्मणासः** तथा **ओहब्राह्मणाः** (ऋचा ८) का अभिप्राय प्रतिभावान् कवियों तथा स्तोत्रों के रचयिताओंसे है; इनके विरोधमें स्वर आया है **सुतेकरासः** याने वे व्यक्ति जिनके हाथ पीसे हुए सोमके धारणमें व्यस्त हों । सायणाचार्यने इसे अनियमित स्वरसे युक्त तत्पुरुष समास माना है (दे. सोमं सुतमभिषुतं कुर्वन्तीति सुतेकरा ऋत्विजः) जो संभवतः सही भी है; यद्यपि **सुते** में

सर्वे॑ नन्दन्ति य॒शसाग॑तेन सभास॒हेन॒ सख्या॒ सखा॑यः ।
कि॒ल्बि॒ष॒स्पृत् पि॑तु॒षणि॒र्ह्ये॑षा॒मरं॑ हि॒तो भव॑ति॒ वाजि॑नाय ॥ १० ॥

सर्वे॑ । न॒न्द॒न्ति॒ । य॒शसा॑ । आऽग॑तेन । स॒भा॒ऽस॒हेन॑ । सख्या॑ । सखा॑यः ।
कि॒ल्बि॒ष॒ऽस्पृत् । पि॒तु॒ऽसनिः॑ । हि । ए॒षाम् । अर॑म् । हि॒तः । भव॑ति । वाजि॑नाय ॥ १० ॥

ऋ॒चां त्वः॒ पोष॑मास्ते पुपु॒ष्वान् गा॑य॒त्रं त्वो॑ गायति॒ शक्व॑रीषु ।
ब्र॒ह्मा त्वो॒ वद॑ति जातवि॒द्यां य॒ज्ञस्य॒ मात्रां॒ वि मि॑मीत उ त्वः ॥ ११ ॥

ऋ॒चाम् । त्वः॒ । पोष॑म् । आ॒स्ते॒ । पु॒पु॒ष्वान् । गा॒य॒त्रम् । त्वः॒ । गा॒य॒ति॒ । शक्व॑रीषु ।
ब्र॒ह्मा । त्वः॒ । वद॑ति । जा॒त॒ऽवि॒द्याम् । य॒ज्ञस्य॑ । मात्रा॑म् । वि । मि॒मी॒ते॒ । ऊँ इति॑ । त्वः॒ ॥११॥

विद्यमान अधिकरण कारकके औचित्यको समझना बड़ा कठिन है। हाँ, **कर** को यहाँ उन दस अङ्गुलियों (**क्षिपः**) के अर्थमें मान लेना संभव है जो सोमरसको स्वच्छ करने तथा उसे अलंकृत करनेमें प्रयुक्त होतीं हैं; दे. ९·८·४; १५·८; ४६·६; ६१·७; ८०·४–५; ९७·१२। **सिरीः** और **सिरः** संभवतः एक ही हैं। अर्थ होगा, 'स्रोत'; 'नदियाँ' दे १·१२१·११। **सिरीः तन्त्रं तन्वते** उस अलंकारका उदाहरण है जो आगे चलकर 'निदर्शना' के नामसे पुकारा जाने लगा। **पापया**— 'दुर्भाग्यसे' 'दुर्दैवके कारण'। यह शब्द–तृतीयात्मक क्रियाविशेषणके याने 'कुटिल या बुरे ढंगसे' के अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। **अप्रजज्ञयः**– **प्र जज्ञिः** (√ज्ञा) द्वित्वयुक्त विशेषण है (दे. **चक्रिः, पप्रिः**); अर्थ है–**प्रजानन्** अथवा प्रज्ञावान्।]

१०. जब (वाणीका) वह मित्र विद्वानोंकी सभाके सुविदित विजेताके रूपमें आ पहुँचता है तब (वाणीके) सुहृदके रूपमें सभी प्रमुदित होते हैं। क्योंकि वह उनके दोषोंका निवारणकर्ता तथा उन्हें अन्नोंकी प्राप्ति करानेवाला है। वाक्स्पर्धामें (उनके नेताके रूपमें) भेजे जानेपर वह उनके लिए अतीव अनुकूल सिद्ध होता है।

[चौथे पादका अन्वय यों करें—**वाजिनाय हितः अरं हितो भवति**; यहाँ 'हितः' शब्द श्लिष्ट है। दे. ऊपर 'न हिन्वन्ति वाजिनेषु' जो तथाकथित विद्वान्के संबन्धमें कहा गया है (ऋचा ५)। **सभासाहेन**– दे. ८·४·९ के साथ साथ १·९१·२०.]

११. कोई (जैसा कि ऊपर वर्णित) लीलया ऋचाओंकी वृद्धि करता रहता है; अन्य कोई शक्करी छन्दमें निबद्ध ऋचाओंमें गायत्र साम गाता है। ब्रह्माके रूपमें अन्य कोई संमुख आए हुए विषयसे संबद्ध ज्ञान (अगर) प्रकट करता है; (तो) और कोई व्यक्ति यज्ञके प्रत्येक अंशके मर्मका ज्ञाता है।

[होता, उद्गाता, ब्रह्मा, तथा अध्वर्यु इन चारों प्रमुख ऋत्विजोंका उल्लेख प्रस्तुत ऋचामें किया गया है।]

८८

१०·७२·१–९ बृहस्पतिर्लौक्यः बृहस्पतिराङ्गिरसो वा अदितिर्दाक्षायणी वा ॥ विश्वेदेवाः ॥ अनुष्टुप् ॥

प्रस्तुत सूक्तमें प्रमुख रूपसे अदितिके पुत्रोंके याने आदित्योंके, उनमें भी खासकर सूर्यके जन्मकी कथाका वर्णन करना कविका उद्देश्य मालूम होता है। आदितिके आठ पुत्रोंमेंसे सातोंका पूर्ण विकास हुआ था; अतएव जनमते ही वे अपनी माताके साथ देवलोक चले गए। आठवाँ पुत्र रहा सूर्य जिसका गर्भमें पूर्ण विकास न हो सका। इसीसे वह देवलोक न जा पाया। अतएव माता उसे भूलोक ले आई और उदय एवं अस्तकी अनुभूति प्राप्त करनेके लिए उसे उसने यहीं छोड़ दिया। आदित्योंको कविने पक्षा माना जिनमेंसे सात पूर्ण विकसित होकर अण्डोंसे ज़िन्दा बाहर निकले; किन्तु सूर्य जिस अण्डेमें था वह पूर्ण विकसित न हो पाया जिससे संज्ञाहीन अवस्थाके कारण अपक्व दशामें उसका जन्म हुआ। अतएव कविने उसे 'मार्ताण्ड' की संज्ञा दी है।

इसी सन्दर्भमें कविने सृष्टिकी उत्पत्तिका वर्णन किया है। देवोंकी पहली पीढ़िके याने सृष्टिकी उत्पत्तिके समय **असत्** याने अव्याकृत प्रकृतिसे **सत्** याने व्याकृत, नामरूपात्मिका प्रकृतिका आविर्भाव हुआ। इन दोनोंके लिए कविने क्रमशः '**उत्तानपद्**' याने 'प्रसवोन्मुख' तथा **भू** याने 'प्रकट होनेवाली' ये चरितार्थ संज्ञाएं प्रयुक्त की हैं। **भू** से आगे चलकर **आशाएं** याने दिशाएं; लक्षणाकी सहायतासे पूरा विश्व पैदा हुआ। यहाँ आदित्योंकी उत्पत्तिकी कहानी यही प्रमुख वर्ण्यविषय रहा। उसकी पूर्तिके लिए उनकी माताकी, अदितिकी उत्पत्ति तथा उसके जन्मके पूर्वके सृष्टिक्रमका उल्लेख केवल गौण रूपमें आवश्यक था; इसलिए उस संबन्धमें सुसंगत वृत्तान्त उपस्थित करनेका उसने प्रयत्न नहीं किया। इसी वजहसे 'आशाओं' की उत्पत्तिमें दक्षकी, अदितिके पिताकी उत्पत्तिका अन्तर्भाव करके कविने ऋचा ४ में यह सीधे ध्वनित किया है कि अदितिको एवं उसके द्वारा आदित्योंको जन्म देना यही दक्षकी उत्पत्तिका प्रयोजन है। इसीलिए **अदितेर्दक्षो अजायत** इस वाक्यमें **अदितेः** में अपादान कारकके स्थानपर कविका अभिप्राय **अदितेः** अर्थाय इस संबन्धकारकसे ही रहा होगा यह मानना समीचीन होगा। इसी दसवें मण्डलके पाँचवें सूक्तकी सातवीं ऋचामें भी यह कहा गया है कि अग्नि ही सर्वप्रथम याने दक्षजन्मके समय तथा (आदित्योंके) आदितिके उपस्थमें रहते समय भी उपस्थित था। उक्त ऋचामें **दक्षस्य जन्मन्नदितेरुपस्थे** के बाद **आदित्यानां जन्मन्** का अध्याहार करके ही अर्थ समझना योग्य है। प्रस्तुत सूक्तमें अदितिको स्पष्टतया दक्षकी दुहिता कहा गया है। वैसे दक्षको अदितिका पुत्र न ऋग्वेदमें माना गया है; न परवर्ती साहित्यमें कहीं भी ऐसा उल्लेख पाया जाता है; उल्टे आदितिको ही दाक्षायणीकी संज्ञा दी गई है। अतएव गेल्डनरका तथा उनके भी पहले यास्कका (दे. निरुक्त ११·२३) यह कथन कि 'दक्ष एवं अदितिके परस्पर जनकत्वका यह वर्णन पुरुष एवं विराज (१०·९०·५) की तरहका है' मेरी रायमें असमीचीन है। साथ साथ दे. आगे चलकर १०·९०·५ की टिप्पणी।

देवानां नु वयं जाना प्र वोचाम विपन्यया ।
उक्थेषु शस्यमानेषु यः पश्यादुत्तरे युगे ॥ १ ॥

देवानाम् । नु । वयम् । जाना । प्र । वोचाम । विपन्यया ।
उक्थेषु । शस्यमानेषु । यः । पश्यात् । उत्ऽतरे । युगे ॥ १ ॥

ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मारइवाधमत् ।
देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत ॥ २ ॥

ब्रह्मणः । पतिः । एता । सम् । कर्मारःऽइव । अधमत् ।
देवानाम् । पूर्व्ये । युगे । असतः । सत् । अजायत ॥ २ ॥

देवानां युगे प्रथमेऽसतः सदजायत ।
तदाशा अन्वजायन्त तदुत्तानपदस्परि ॥ ३ ॥

देवानाम् । युगे । प्रथमे । असतः । सत् । अजायत ।
तत् । आशाः । अनु । अजायन्त । तत् । उत्तानऽपदः । परि ॥ ३ ॥

१. स्तुति करनेके हेतुसे उक्थोंके पठनके जारी रहते हुए अग्रिम पीढ़िमेंसे (किसी भी पुरुषको) उनकी जानकारी लेनेकी इच्छा हो (तो उनके लिए) अब हम देवोंकी पूर्व पीढ़ियोंका वर्णन करें।

[ऋचाके अन्तमें **तस्यार्थे** का अध्याहार करें। **विपन्या**–स्तुतिकी अभिलाषा या उद्देश्य। यह मान लें विपन्यति नामधातुसे 'विपन्या' यह संज्ञा तथा 'विपन्युः' यह विशेषण बना है।]

२. (धौंकनीसे धौंककर हथियार बनानेवाले) लुहारकी तरह बृहस्पतिने इन (पीढ़ियोंको) धौंककर बनाया है। देवोंकी पहली पीढ़िके समय असत्से सत्का निर्माण हुआ।

[**एता** का अर्थ है 'देवानां जाना' (ऋचा १) 'देवोंके कुल', 'उनकी पीढ़ियाँ'। ब्रह्मणस्पतिकी इच्छाके अनुसार असत्से सत् आदि क्रमसे विश्वकी उत्पत्ति हुई। कहनेका आशय यह है कि विश्वका निर्माण अचेतनसे हुआ सही; लेकिन मूलमें चेतनकी प्रेरणा अवश्य थी। **समधमत्** यह पद निर्माणके कर्तृत्वका उपलक्षण है।]

३. देवोंकी प्रथम पीढ़िके समय असत् (अव्याकृत जगत्)से सत् (व्याकृत जगत्) का निर्माण हुआ। उस (व्याकृत जगत्) से दिशाएँ उत्पन्न हुईं और प्रसृतजङ्घ (प्रसवोन्मुख) असत्से ही वह (व्याकृत जगत्) उत्पन्न हुआ था।

[उत्तरार्धके पहले **तत्** शब्दको द्वितीयान्त और दूसरे **तत्** को प्रथमान्त समझें। दोनों पूर्वार्धमें निर्दिष्ट 'सत्' से संबद्ध हैं। अन्वय यों हैः–तत् (सत्) अनु आशा अजायन्त; तच्च सत् स्वयम् उत्तानपदः (असतः) अजायत। आगामी ऋचाका **भू** शब्द इसी **सत्** का निर्देश करता है। **उत्तानपद्** 'वह जिसके पैर ऊपरकी ओर किए गए हों' याने 'प्रसृतजङ्घ' अथवा 'प्रसवोन्मुख'। 'वि सक्थानि नरो यमुः पुत्रकृथे न जनयः'

भूर्जज्ञ उत्तानपदो भुव आशा अजायन्त ।
अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि ॥ ४ ॥

भूः । जज्ञे । उत्तानऽपदः । भुवः । आशाः । अजायन्त ।
अदितेः । दक्षः । अजायत । दक्षात् । ऊँ इति । अदितिः । परि ॥ ४॥

अदितिर्ह्यजनिष्ट दक्ष या दुहिता तव ।
तां देवा अन्वजायन्त भद्रा अमृतबन्धवः ॥ ५ ॥

अदितिः । हि । अजनिष्ट । दक्ष । या । दुहिता । तव ।
ताम् । देवाः । अनु । अजायन्त । भद्राः । अमृतऽबन्धवः ।॥ ५ ॥

(५.६१-३) में भी यही कल्पना विद्यमान है । इस ऋचाका अर्थ निम्नानुसार है:– ' पुत्रको जन्म देते समय नारियाँ जिस तरह अपनी जांघें फैलातीं हैं उसी तरह (घोड़ियोंपर आरूढ होनेके लिए) मरुद्गणोंने अपनी जांघें प्रसृत की (फैलाई) हैं ।']

४. उस प्रसृतजङ्घ असत्से भूमि (सत् अर्थात् व्याकृत जगत्) उत्पन्न हुई थी और उस भूमिसे (उपर्युक्त कथनकी तरह) दिशाएँ उत्पन्न हुईं । उन दिशाओंसे अदितिके (निर्माणके) लिये दक्ष (प्रजापति) उत्पन्न हुआ और अनन्तर दक्षसे अदितिने जन्मग्रहण किया ।

[**भूर्जज्ञ उत्तानपदः** में पिछली ऋचाके **असतः सदजायत** का ही विवरण किया गया है। ब्रह्मणस्पतिकी प्रेरणासे जिस समय **असत्** उत्तानपद् याने प्रसवोन्मुख हुआ उस समय **सत्** याने व्याकृत एवं नामरूपात्मिका प्रकृति अर्थात् **भू** की उत्पत्ति हुई। उत्तरार्धमें कवि सीधे अदितिके पिताकी उत्पत्तिका ही उल्लेख करता है; अर्थात् यह मानना आवश्यक है कि **आशाः** में दक्षतक सभी निर्मित विश्वका वह अन्तर्भाव करना चाहता है। प्रास्ताविक टिप्पणीके कथनानुसार यहाँ **अदितेः** को संबन्धकारकके, 'अदितेः अर्थाय' के रूपमें मान लें । **अदितेः** को यदि अपादानकारकके रूपमें मान लें तो **आशाः** में अदिति तककी सृष्टिका समावेश करके दक्षको अदितिका पुत्र मानना पड़ेगा जो **दक्ष या दुहिता तव** इस साक्षात् वचनका विरोधी सिद्ध होगा । ऋचा ४ के चौथे पादसे लेकर बादके सूक्तसे यह तो सुस्पष्ट है कि सृष्टिके क्रममें दक्षके बाद अदिति और उसके बाद देव याने आठ आदित्य आते हैं । इनमें दक्षको कहीं भी स्थान देना असंभव है । अतएव दक्ष एवं अदिति के परस्पर जनकत्वके अनुमानको हेत्वाभासपर ही आधारित मानना होगा; रही बात पुरुष एवं विराज् के परस्पर–जनकत्वके अनुमानकी; जिसके लिए दे. आगे चलकर १०.९०.५ की टिप्पणी ।]

५. हे दक्ष, तुम्हारी कन्या, जो अदिति उसने (तुमसे) ही जन्म ग्रहण किया तथा उससे मङ्गलमय एवं अमरत्वसे नित्य संबद्ध देवोंका जन्म हुआ ।

यद्दे॑वा अ॒दः स॑लि॒ले सुसं॑रब्धा॒ अति॑ष्ठत ।
अत्रा॑ वो॒ नृत्य॑तामिव ती॒व्रो रे॒णुरपा॑यत ॥ ६ ॥

यत् । दे॒वाः॒ । अ॒दः । स॒लि॒ले । सुऽसं॑रब्धाः । अति॑ष्ठत ।
अत्र॑ । वः॒ । नृत्य॑ताम्ऽइव । ती॒व्रः । रे॒णुः । अप॑ । आ॒य॒त ॥ ६ ॥

यद्दे॒वा यत॑यो यथा॒ भुव॑ना॒न्यपि॑न्वत ।
अत्रा॑ समु॒द्र आ गू॒ळ्हमा सूर्य॑मजभर्तन ॥ ७ ॥

यत् । दे॒वाः॒ । यत॑यः । य॒था॒ । भुव॑नानि । अपि॑न्वत ।
अत्र॑ । स॒मु॒द्रे । आ । गू॒ळ्हम् । आ । सूर्य॑म् । अ॒ज॒भ॒र्त॒न ॥ ७ ॥

अ॒ष्टौ पु॒त्रासो॒ अदि॑ते॒र्ये जा॒तास्त॒न्व१॒॑स्परि॑ ।
दे॒वाँ उप॒ प्रैत् स॒प्तभि॒ः परा॑ मार्ता॒ण्डमा॑स्यत् ॥ ८ ॥

अ॒ष्टौ । पु॒त्रासः॑ । अदि॑तेः । ये । जा॒ताः । त॒न्वः॑ । परि॑ ।
दे॒वान् । उप॑ । प्र । ऐ॒त् । स॒प्तऽभिः॑ । परा॑ । मा॒र्ता॒ण्डम् । आ॒स्य॒त् ॥ ८ ॥

६. हे देवो, जिस समय यहाँके (अन्तरिक्षके) इस सागरमें (अदिति माताके गर्भका) उत्तम आधार लेकर खड़े रहे हो, उस समय नर्तकोंके नाचते समय उडनेवाली धूलिकी तरह तुम्हारे (पदतलसे) अत्यन्त सूक्ष्म धूलि दूरतक उड़ गई ।

[**सलिले** शब्दसे कवि उस जलराशिका निर्देश करना चाहता है जो सृष्टिके पूर्व अन्तरिक्षमें विद्यमान था; दे. आगे चलकर १०·१२१·७; १०·१२९·३ के साथ साथ ऊपर ७·४९·१ । प्रतीत होता है कि यह सलिल प्रस्तुत स्थानमें वह जल रहा होगा जो अदितिके गर्भाशयमें स्थित गर्भको घेरे हुए था । **तीव्रो रेणुरपायत** यह तो सिर्फ़ उपमान (**नृत्यताम्**) का ही धर्म है । उपमेयके विषयमें इसीसे मिलते-जुलते किसी धर्मकी, तेजोवलय आदिकी कल्पना करनी पड़ेगी । यहाँ मन्तव्य तो यह है कि जन्म लेते समय देवरूपी गर्भकी चेष्टाओंका आरम्भ होते ही उनके उदीयमान तेजकी किरणें ऊपर फैल गईं ।]

७. हे देवो, जिस समय तुमने यतियोंकी तरह सभी भुवनोंको (अपनी महानतासे) बढ़ाया उस समय तुम अपने साथ (पूर्णतासे न जनमे हुए और) सागरमें डूबे रहे सूर्यको भी ऊपर लेकर आए हो ।

[**यतयो यथा**—इस उपमानके सन्दर्भको भली भाँति समझना मुश्किल है । आठवें मण्डलमें भृगुओंके साथ एक ऋषिकुलके नामके रूपमें यति शब्द आया है । **भुवनानि अपिन्वत** (मध्यमपुरुष अनेकवचन) स्पष्ट रूपसे साधारण धर्म है । **समुद्रे** याने छठवीं ऋचामें निर्दिष्ट सलिलमें । **समुद्रे आ गूढम्**–' पूर्णतया विकसित न होनेके कारण बाहर निकलनेमें असमर्थ; अत एव गर्भ-जलमें ही निमग्न रहनेवाले ' ।]

८. अदितिके शरीरसे जो आठ पुत्र उत्पन्न हुए उनमेंसे सातको साथ लेकर वह (अदिति माता) (स्वर्गमें पूर्व पीढ़िके) देवोंके पास गई । (परन्तु मृत अण्डसे जन्मे हुए निर्बल) मार्ताण्डको ही उसने (यहीं) छोड़ दिया ।

सुप्तभिः पुत्रैरदितिरुप प्रैत् पूर्व्यं युगम् ।
प्रजायै मृत्यवे त्वत् पुनर्मार्ताण्डमाभरत् ॥ ९ ॥

सप्तऽभिः । पुत्रैः । अदितिः । उप । प्र । ऐत् । पूर्व्यम् । युगम् ।
प्रऽजायै । मृत्यवे । त्वत् । पुनः । मार्ताण्डम् । आ । अभरत् ॥ ९ ॥

[**मार्ताण्डम्**–सूर्यका हेतुगर्भ विशेषण । कमीके कारण देवलोकतक न ले जाते हुए उसे वहीं याने अन्तरिक्षमें ही रख दिया और बादमें माता उसे इस लोकपर याने भूलोकपर ले आई; दे. शतपथ ब्राह्मण ३·१·३, २–४ ।]

९. (देवोंकी) पूर्व पीढ़िके पास अपने सात ही पुत्रोंको लेकर अदिति माता ऊपर निकल गई । (किन्तु) जन्म और मृत्यु का अनुभव लेनेके (अथवा प्राणिमात्रोंको देनेके) लिए वह केवल मार्ताण्डको फिर (मृत्युलोकमें) लेकर आयी ।

[**प्रजाये मृत्यवे** का अर्थ है–' कालके रूपमें मर्त्योंके जनन एवं मरण के नियमनके लिए '; अथवा 'स्वयं सूर्यको ही जनन एवं मरण याने उदय तथा अस्त का भागी बनानेके लिए । संक्षेपमें सार यह है कि अन्य सात देव अमरबन्धु बने (ऋचा ५) और यह आठवाँ मर्त्य सहोदर हो उठा । **त्वत्** (नपुंसकलिङ्ग)–' अन्य कोई ', ' कोई एक '; यहाँ **मार्ताण्डम्** से समानाधिकरण । अथवा **त्वत्** (अव्यय) का अर्थ होगा ' दूसरी ओरसे '; दे. ७·१०१·३ ।]



८९

१०·७८·१–८ स्यूमरश्मिर्भार्गवः ॥ मरुतः ॥ १, ३, ४, ८ त्रिष्टुप् । २, ५–७ जगती ॥

मरुद्गणोंको संबोधित करनेवाला प्रस्तुत सूक्त उपमाओंका आगार है। इसमें मरुद्गणोंकी तुलना कई उपमानोंके साथ की गई है जिनमें कईबार उपमाएँ दुहराई भी गई है। साधारणधर्म एवं सादृश्य को भी सर्वत्र रोचक नहीं कहा जा सकता।

विप्रा॑सो॒ न मन्म॑भिः स्वा॒ध्यो॑ देवा॒व्यो॒३॒॑ न य॒ज्ञैः स्वप्न॑सः ।
राजा॑नो॒ न चि॒त्राः सु॑सं॒दृशः॑ क्षि॒तीनां॒ न मर्या॑ अ॒रे॒पसः॑ ॥ १ ॥

विप्रा॑सः । न । मन्म॑ऽभिः । सु॒ऽआ॒ध्यः॑ । दे॒व॒ऽअ॒व्यः॑ । न । य॒ज्ञैः । सु॒ऽअप्न॑सः ।
राजा॑नः । न । चि॒त्राः । सु॒ऽसं॒दृशः॑ । क्षि॒तीना॑म् । न । मर्याः॑ । अ॒रे॒पसः॑ ॥ १ ॥

अ॒ग्निर्न ये भ्राज॑सा रु॒क्मव॑क्षसो॒ वाता॑सो॒ न स्व॒युजः॑ स॒द्यऊ॑तयः ।
प्र॒ज्ञा॒तारो॒ न ज्येष्ठाः॑ सु॒नी॒तयः॑ सु॒शर्मा॑णो॒ न सोमा॑ ऋ॒तं य॒ते ॥ २ ॥

अ॒ग्निः । न । ये । भ्राज॑सा । रु॒क्मऽव॑क्षसः । वाता॑सः । न । स्व॒ऽयुजः॑ । स॒द्यःऽऊ॑तयः ।
प्र॒ऽज्ञा॒तारः॑ । न । ज्येष्ठाः॑ । सु॒ऽनी॒तयः॑ । सु॒ऽशर्मा॑णः । न । सोमाः॑ । ऋ॒तम् । य॒ते ॥ २ ॥

१. अपने स्तोत्रोंके द्वारा विप्रोंकी तरह ये मरुद्गण सुविचारोंसे युक्त और यज्ञोंके द्वारा देवोंके याजकोंके समान ही उत्तम वैभवशाली हैं। राजाओंकी तरह सुन्दर तथा दर्शनीयाकृति होकर वे साधारण लोगोंमें (व्यवहार कुशल) युवकोंकी तरह निर्दोष आचरणवाले भी हैं।

[**स्वप्नसः** (अप्नस् √आप्) ' वैभव एवं संपत्ति से परिपूर्ण' । **क्षितीनाम्**–'साधारण मानवोंमें'। **अरेपसः** ' निर्दोष ' याने निर्दोष वस्त्रालंकारोंके साथ साथ रीति–नीतिसे संयुक्त ।]

२. वक्षःस्थलपर सोनेके आभूषण रखनेके कारण वे अपने तेजसे अग्निसदृश दिखाई पड़ते हैं, और वातोंकी तरह स्वयं अपने अश्वोंको जोतकर वे (याजकोंको) शीघ्र ही साहाय्य देते हैं। महान् अनुभवी मनुष्योंकी तरह इनका मार्गदर्शन उत्तम है और यज्ञ करनेवाले याजकको कल्याणप्रद सोमोंकी तरह ये (कल्याणप्रद भी) हैं।

[पहले पादमें (**भ्राजसा** पद द्वारा सूचित) ' भ्राजमानाः ' (साधारणधर्मवाचक) पदका अध्याहार करें। चौथे पादमें **सुशर्माणः** यह **सोमाः** का विशेषण है और इससे सूचित ' शर्मयन्तः ' पदका अध्याहार करना समीचीन होगा; दे. ९·४१·६ । **ऋतं यन्** 'धार्मिक व्यक्ति' अथवा 'यज्ञकर्ता यजमान'; दे. ९·६९·३ ।]

वातासो न ये धुनयो जिगत्नवोऽग्नीनां न जिह्वा विरोकिणः ।
वर्मण्वन्तो न योधाः शिमीवन्तः पितॄणाम् न शंसाः सुरातयः ॥ ३ ॥
वातासः । न । ये । धुनयः । जिगत्नवः । अग्नीनाम् । न । जिह्वाः । विऽरोकिणः ।
वर्मण्ऽवन्तः । न । योधाः । शिमीऽवन्तः । पितॄणाम् । न । शंसाः । सुऽरातयः ॥ ३ ॥
रथानां न येऽराः सनाभयो जिगीवांसो न शूरा अभिद्यवः ।
वरेयवो न मर्या घृतप्रुषोऽभिस्वर्तारो अर्कं न सुष्टुभः ॥ ४ ॥
रथानाम् । न । ये । अराः । सऽनाभयः । जिगीवांसः । न । शूराः । अभिऽद्यवः ।
वरेऽयवः । न । मर्याः । घृतऽप्रुषः । अभिऽस्वर्तारः । अर्कम् । न । सुऽस्तुभः ॥ ४ ॥
अश्वासो न ये ज्येष्ठास आशवो दिधिषवो न रथ्यः सुदानवः ।
आपो न निम्नैरुदभिर्जिगत्नवो विश्वरूपा अङ्गिरसो न सामभिः ॥ ५ ॥
अश्वासः । न । ये । ज्येष्ठासः । आशवः । दिधिषवः । न । रथ्यः । सुऽदानवः ।
आपः । न । निम्नैः । उदऽभिः । जिगत्नवः । विश्वऽरूपाः । अङ्गिरसः । न । सामऽभिः ॥५॥

३. वातोंकी तरह वे गर्जना करके लगातार अपने मार्गपर आगे बढ़ते रहते हैं और अग्निकी (ज्वालारूपी) जिह्वाओंकी तरह अपने उग्र तेजसे चमकते रहते हैं । कवच पहने हुए वीर योद्धाओंकी तरह वे प्रचण्डकर्मा होकर पितरोंकी संस्तुतिकी तरह उत्तम उपहारोंके प्रदाता भी हैं ।

[**शिमीवन्तः**–(√शम् –परिश्रम करना) यह पद साधारणधर्मका बोध कराता है । **सुरातयः**– ‘ उत्तम उपहार प्राप्त करा देनेवाले ’ (राति-√रा–देना) ।]

४. रथचक्रके दण्डोंकी तरह एक ही नाभिसे संबद्ध होकर शूर विजेताओंकी तरह वे स्वर्गके निवासी भी हैं । वधूकी प्राप्तिकी इच्छा करनेवाले नवयुवकोंकी तरह वे घृतकी वर्षा करनेवाले हैं और बारबार घोलकर अपने अर्कोंका गान करनेवाले ऋत्विजोंकी तरह वे उत्तम स्तोमोंके ज्ञाता भी हैं ।

[**सनाभयः** में नाभि शब्द श्लिष्ट है । एक ही नाभिसे याने वीर्यस्थानसे अथवा मध्यवर्ती लकड़ीके टुकड़ेसे संबद्ध । मतलब, मरुद्गणोंके विषयमें ‘ बिरादरीके लोग ’ और रथके विषयमें उसकी नाभिमें बिठाइ गई लकड़ीकी बल्लियाँ (अर) । चौथे पादमें उपमान है **अर्कम् अभिस्वर्तारः** और साधारण धर्मका वाचक पद है **सुष्टुभः** ।]

५. जो ज्येष्ठ मरुद्गण अश्वसदृश वेगवान् हैं वे रथसे संचरण करनेवाले हमारे पोषक यजमानोंकी तरह अत्यन्त उदार भी हैं । निम्न प्रदेशोंकी ओर बहनेवाली, अपने जलसमूहोंको

ग्रावा॑णो॒ न सू॒रयः॒ सिन्धु॑मातर आदर्दि॒रासो॒ अद्र॑यो॒ न वि॒श्वहा॑ ।
शि॒शू॒ला न क्री॒ळयः॑ सु॒मा॒तरो॑ महाग्रा॒मो न याम॑न्नु॒त त्वि॒षा ॥ ६ ॥

ग्रावा॑णः । न । सू॒रयः॑ । सिन्धु॑ऽमातरः । आ॒ऽद॒र्दि॒रासः॑ । अद्र॑यः । न । वि॒श्वहा॑ ।
शि॒शूलाः॑ । न । क्री॒ळयः॑ । सु॒ऽमा॒तरः॑ । म॒हा॒ऽग्रा॒मः । न । याम॑न् । उ॒त । त्वि॒षा ॥ ६ ॥

उ॒षसां॒ न के॒तवो॑ऽध्वर॒श्रियः॑ शुभं॒यवो॒ नाञ्जि॒भि॒र्व्य॑श्वितन् ।
सिन्ध॑वो॒ न य॒यियो॒ भ्राज॑दृष्टयः परा॒वतो॒ न योज॑नानि ममिरे ॥ ७ ॥

उ॒षसा॑म् । न । के॒तवः॑ । अ॒ध्व॒र॒ऽश्रियः॑ । शु॒भ॒म्ऽयवः॑ । न । अ॒ञ्जि॒ऽभिः॑ । वि । अ॒श्वि॒तन् ।
सिन्ध॑वः । न । य॒यियः॑ । भ्राज॑त्ऽऋष्टयः । प॒रा॒ऽवतः॑ । न । योज॑नानि । म॒मि॒रे ॥ ७ ॥

साथ लेकर जानेवाली नदियोंकी तरह वे आगे आगे दौड़ते हैं और अपने सामोंके द्वारा अङ्गिरस् ऋषियोंकी तरह नानाविध रूप धारण करते हैं ।

[दूसरे पादमें **दिधिषवः रथ्याः** उपमान है । तीसरे पादमें **निम्नैः** (गच्छद्भिः) **उदभिः** (युक्ताः) **आपः** यह विशेषणयुक्त उपमान है; दे. १०.१४८.५ । **निम्न**–'ढालयुक्त या नीचा स्थान' । **सामभिः** सिर्फ़ उपमानसे संबद्ध है । **विश्वरूपाः**– स्वेच्छासे 'घोर अथवा शान्त' कोई भी रूप धारण करनेवाले ।]

६. सिन्धुमाताके ये पुत्र (सोमवल्ली पीसनेवाले) पत्थरोंकी तरह हमारे दानशूर यजमान हैं और (इन्द्रके) वज्रोंकी तरह (शत्रुओंका) नित्य विदारण करनेवाले भी हैं । सुमाताओंसे युक्त शिशुओंकी तरह ये खिलाड़ी वृत्तिके हैं तथापि अपने कूचके समय जोशसे किसी विशाल सेनासमुदायकी तरह (उग्र भी) प्रतीत होते हैं ।

[पहले पादमें **सूरयः** पद साधारण धर्मका वाचक है । **अद्रयः** अद्रिका अर्थ है इन्द्रका वज्र, उपमेयके बहुवचनके कारण इसे भी बहुवचनमें रखा गया है । **आदर्दिरासः**–दे.'आदर्दतम् अपिहितानि अश्ना' ४.२८.५ । चौथे पादमें **त्विषा** शब्दद्वारा सूचित 'त्विषीमान्' इस साधारण धर्मके वाचक पदका अध्याहार करें ।]

७. उषाओंके (पहले आनेवाली) किरणोंकी तरह वे यज्ञोंको सुशोभित करते हैं और मङ्गल विवाहकी अभिलाषा रखनेवाले नवयुवकोंकी तरह पहने हुए आभूषणोंसे सुन्दर प्रतीत होते हैं । चमकनेवाले भाले लेकर, महानदियोंकी तरह नित्य यात्रा करते हुए वे बहुत दूरसे आनेवाले यात्रिकोंकी तरह कई योजनोंका अंतर लाँघकर यहाँ आये हैं ।

[**केतवः**– किरणोंपर ध्वजका आरोप; दे. ऊपर १.५०.१ । **शुभंयु**– 'शुभकी कामना करनेवाला', यहाँ **शुभ** शब्दमें विवाह आदि मङ्गल कार्योंका अन्तर्भाव कर लें । चौथे पादमें **पारावतः** इस उपमानका अध्याहार करें । अन्वय होगा–पारावता न (परावतः) योजनानि ममिरे; दे. ५.६१.१ । फिर भी, ५.५२.११ में मरुद्गणोंको ही 'पारावत' कहा गया है । **पारावत** याने 'सुदूर देशोंके निवासी' । **योजनानि ममिरे**– दे; 'यदाशुभिः पतसि योजना पुरु' २.१६.३ ।]

सुभागान्नो देवाः कृणुता सुरत्नानस्मान्त्स्तोतॄन् मरुतो वावृधानाः ।
अधि स्तोत्रस्य सख्यस्य गात सनाद्धि वो रत्नधेयानि सन्ति ॥ ८ ॥

सुऽभागान् । नः । देवाः । कृणुत । सुऽरत्नान् । अस्मान् । स्तोतॄन् । मरुतः । ववृधानाः ।
अधि । स्तोत्रस्य । सख्यस्य । गात । सनात् । हि । वः । रत्नऽधेयानि । सन्ति ॥ ८ ॥

८. हे मरुद्गणो, (हमारे इस स्तोत्रके द्वारा) बलशाली होकर, अपने इन स्तोताओंको उत्तम उपहार दो तथा उन्हें श्रेष्ठ भाग्यके भाजन भी करो। हमारे इस स्तोत्रको तथा हमारी (पीढ़ि-परंपरासे विद्यमान) मित्रताको ध्यानमें रखो। क्योंकि अत्यन्त प्राचीन कालसे अपने याजकोंको तुम्हारे दिये हुए श्रेष्ठ उपहार बड़े प्रसिद्ध हैं।

[**सख्यस्य अधि गात-** (पुरातन) सख्यपर विचार कीजिए, उसका लिहाज़ रखिए; दे. ५.७३.४ की टिप्पणीके साथ साथ ५.५५.९; ७.८८.५।]

९०

१०·८५·१–४७ सूर्या सावित्री ऋषिका ॥ १–५ सोमः । ६–१६ सूर्याविवाहः । १७ देवाः । १८ सोमार्कौ । १९ चन्द्रमाः । २०–२८ (नृणां विवाहमन्त्राः) आशीः (प्रायाः) । २९–३० वधूवासःसंस्पर्शनिन्दा । ३१ यक्ष्मनाशनम् । ३२–४७ सूर्या सावित्री ॥ १–१३, १५–१७, २२, २५, २८–३३, ३५, ३८–४२, ४५–४७ अनुष्टुप् । १४, १९–२१, २३–२४, २६, ३६–३७, ४४ त्रिष्टुप् । १८, २७, ४३ जगती । ३४ उरोबृहती ॥

प्रस्तुत सूक्तको विवाह-सूक्त (ऋचा २१–४७) माना गया है जिसके कुछ शब्दोंने आगे चलकर निर्धारित नियमोंका रूप धारण किया और उन्हें विवाहके संस्कारके अवसरपर प्रयुक्त किया जाने लगा। मानवीय विवाहोंके आदर्शके रूपमें सूर्याके दैवी विवाहकी कथा (ऋचा १–२०) इस सूक्तके प्रारम्भमें ही जोड़ी गई है।

सूर्याके विवाहकी कथाका ऋग्वेदीय ब्यौरा बहुत ही छुटपुट एवं विरल है। ब्राह्मण–ग्रन्थोंमें इस कथाके जो रूप मिलते हैं वे तो स्पष्ट रूपसे ऋग्वेदमें पाए जानेवाले अत्यल्प उल्लेखोंके आधारपर बनाए गए हैं और उन्हें तत्कालीन धार्मिक कृत्योंके साँचेमें ढाला गया है।

पहली पांच ऋचाओंमें सोमका बड़ा ही वैभवपूर्ण वर्णन पहले उसीके वरके रूपमें चुने जानेकी ओर संकेत करता है; लेकिन बादमें सभी दल सर्वानुमतिसे **स्वयंवर** के निर्णयपर पहुँचे हुए प्रतीत होते हैं। फलस्वरूप सूर्याने पतिके रूपमें अश्विनोंका वरण किया और वह उनके रथपर आरूढ हुई। इधर पूषा – जो स्वयं स्वयंवरमें विवाहार्थीके रूपमें आए थे–ने उनके पुत्रत्वका स्वीकार कर डाला। सविता वधूके औपचारिक दाता माना गए।

सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः ।
ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधि श्रितः ॥ १ ॥

सत्येन । उत्तभिता । भूमिः । सूर्येण । उत्तभिता । द्यौः ।
ऋतेन । आदित्याः । तिष्ठन्ति । दिवि । सोमः । अधि । श्रितः ॥ १ ॥

१. सत्यने पृथ्वीको ऊपर उठाए रखा है, सूर्यने स्वर्गको सहारा दिया है। ऋतके बलपर आदित्य खड़े हैं; सोमको स्वर्गमें आश्रय प्राप्त हुआ है।

[सोमकी महिमा यहाँ वर्णित है। वह स्वर्गमें सर्वोपरि है और वही पृथ्वी स्वर्ग एवं उनके बीचके आदित्यों की महत्ताका मूल कारण है।]

सोमेनादित्या बलिनः सोमेन पृथिवी मही ।
अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः ॥ २ ॥

सोमेन । आदित्याः । बलिनः । सोमेन । पृथिवी । मही ।
अथो इति । नक्षत्राणाम् । एषाम् । उपऽस्थे । सोमः । आऽहितः ॥ २ ॥

सोमं मन्यते पपिवान् यत् संपिंषन्त्योषधिम् ।
सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन ॥ ३ ॥

सोमम् । मन्यते । पपिऽवान् । यत् । सम्ऽपिंषन्ति । ओषधिम् ।
सोमम् । यम् । ब्रह्माणः । विदुः । न । तस्य । अश्नाति । कः । चन ॥ ३ ॥

आच्छद्विधानैर्गुपितो बार्हतैः सोम रक्षितः ।
ग्राव्णामिच्छृण्वन् तिष्ठसि न ते अश्नाति पार्थिवः ॥ ४ ॥

आच्छत्ऽविधानैः । गुपितः । बार्हतैः । सोम । रक्षितः ।
ग्राव्णाम् । इत् । शृण्वन् । तिष्ठसि । न । ते । अश्नाति । पार्थिवः ॥ ४ ॥

२. सोमके कारण आदित्योंने बल प्राप्त किया; पृथ्वी सोमके ही कारण महान् है और बादमें नक्षत्रोंकी गोदमें सोमकी स्थापना की गई।

[इन (याने २ से ५ तक की) ऋचाओंमें स्पष्ट शब्दोंमें सोम तथा चन्द्र का ऐक्य स्थापित किया गया है; और यह बतलाया गया है कि देव पहले चन्द्रका पान करते हैं और बादमें उसे फिरसे परिपूर्ण करते हैं जिसीसे क्रमशः चन्द्रकी कलाएं घटतीं एवं बढ़तीं रहतीं है; दे. ऋचा ५ ।]

३. वे जब औषधियाँ पीसते हैं तब कोई समझता है कि उसने सोम पी लिया (लेकिन वह बात नहीं है) । किसीने भी उस सोमका भक्षण नहीं किया जिसे ऋत्विज जान चुके हैं।

[ओषधि वास्तवमें उस सोमका बाह्य रूप है जिसकी आत्मा स्वर्गस्थित चन्द्रके रूपमें विद्यमान है; दे. ऋचा १ का चौथा चरण। सोमकी ओषधिको पीसकर उसके निचोड़को पीनेवाले अबोध ऋत्विज यह समझ लेते हैं कि उन्होंने सोमका ही पान किया; लेकिन जिन्हें सत्यका भान होता है वे इस संबन्धमें ऐसी भ्रान्त धारणाएं नहीं रखते ।]

४. प्रच्छन्न रखनेवाले यन्त्रोसे संयुक्त एवं महान् (स्वर्ग) से संबद्ध संरक्षकों द्वारा आच्छन्न एवं सुष्ठु रक्षित होते हुए तुम, हे सोम, पीसनेवाले पाषाणों (से उत्पन्न ध्वनि) को सिर्फ़ सुनते रहते हो; (असलमें वे सिर्फ़ वल्लीको पीसते हैं; तुम्हें नहीं) (मतलब) इस पृथ्वीका कोई भी निवासी (मानव) तुम्हारे अंशका भागी नहीं होता।

[**बार्हतैः बृहत्** याने द्यौः से संबद्ध; दे. १.५४.४; १.७१.२; १.१५१.४; ६.२.४ आदि। **आच्छद्विधानैः** (बहुव्रीहि) **आच्छद्**—' आवृत या आच्छादित करनेवाला ' तीसरे तथा चौथे चरणका अर्थ निम्नानुसार है-" तुमने पीसनेवाले पाषाणोंके संबन्धमें सिर्फ़ सुन लिया; लेकिन तुम उनकी पीसनेकी क्रियाका विषय कभी न बने । "]

यत्त्वा देव प्रपिबन्ति तत आ प्यायसे पुनः ।
वायुः सोमस्य रक्षिता समानां मास आकृतिः ॥ ५ ॥

यत् । त्वा । देव । प्रऽपिबन्ति । ततः । आ । प्यायसे । पुनरिति ।
वायुः । सोमस्य । रक्षिता । समानाम् । मासः । आऽकृतिः ॥ ५ ॥

रैभ्यासीदनुदेयी नाराशंसी न्योचनी ।
सूर्याया भद्रमिद्वासो गाथयैति परिष्कृतम् ॥ ६ ॥

रैभी । आसीत् । अनुऽदेयी । नाराशंसी । निऽओचनी ।
सूर्यायाः । भद्रम् । इत् । वासः । गाथया । एति । परिऽकृतम् ॥ ६ ॥

चित्तिरा उपबर्हणं चक्षुरा अभ्यञ्जनम् ।
द्यौर्भूमिः कोश आसीद्यदयात् सूर्या पतिम् ॥ ७ ॥

चित्तिः । आः । उपऽबर्हणम् । चक्षुः । आः । अभिऽअञ्जनम् ।
द्यौः । भूमिः । कोशः । आसीत् । यत् । अयात् । सूर्या । पतिम् ॥ ७ ॥

---

५. हे देव, जब (देवता) तुम्हें पूरी तौरसे पी लेते हैं तब उसी स्थानसे तुम फिर बढ़ते जाते हो । वायु सोमका परिरक्षक है; वह वर्षों एवं महीनों का निर्माता भी है ।

[शब्द-संक्षेपकी कलाके अनुसार **देव** शब्दसे **देवाः** शब्दको अध्याहृत समझकर उसे **प्र-पिबन्ति** का कर्ता समझें । तीसरे तथा चौथे चरणका आशय निम्नानुसार हैः- वायु अपने अन्दर सोमका संचय करके उसकी सुरक्षा करता है और आवश्यकता पड़नेपर उसे मुक्त करता है जो (क्रमशः) चन्द्रकी कलाओंके घटने एवं बढ़ने के लिए ज़रूरी भी है । इसके अनुसार वायु ही चन्द्रद्वारा वर्षों एवं महीनों का निर्माता सिद्ध होता है। **वायुः**-दे. वाताप्य १.१२१.८ तथा वातापि १.१८७.८-१०; दोनों सोमके लिए प्रयुक्त हुए हैं। **आकृतिः** (√आ+कृ) ' विधाता, निर्माणकर्ता ' । **मासः** संबन्धकारकमें एकवचन है ।]

६. रैभी (अगर) एक आंशिक (गौण) उपहार था तो नाराशंसी रही सुपरिचित करानेवाली सखी । सूर्याका विवाहोचित दुकूल, अपने आपमें पवित्र होते हुए भी, गाथा द्वारा अलंकृत होकर फहरा रहा है ।

[**रैभी, नाराशंसी** तथा **गाथा** तीनों वैदिक साहित्यमें काव्यके विभिन्न रूप हैं । **अनुदेयी** (अनु + दा) तथा **न्योचनी** (नि + उच्) दोनों पारिभाषिक शब्द मालूम होते हैं; अनुदेयीका संबन्ध इन पूरक पारितोषिकोंसे है जिनमें आभूषणों एवं रत्नों का अन्तर्भाव होता था और न्योचनी वधूकी उस सहचरीकी ओर संकेत करता है जिसे वधूके मैकेके लोग उसके साथ भेजते हैं ताकि ससुरालके नए वायुमण्डलमें नवोढाको एकदम अकेलापन महसूस न हो और धीरे धीरे उसका संकोच भी कम होता जाय । बाल-विवाहोंमें न्योचनीका रहना अनिवार्य था । **न्योचन** के लिए दे. १.९.१० तथा ५.४४.१४ । **नि-उच्** धातु हमेशा ' परिचित होने ' के अर्थमें प्रयुक्त हुआ है ।]

७. सूर्या जब अपने पतिके पास पहुँची तब चेतना निश्चय ही (उसके आसनका)

स्तोमा॑ आसन् प्रति॒धयः॑ कु॒रीरं॒ छन्द॑ ओप॒शः ।
सू॒र्याया॑ अ॒श्विना॑ व॒राग्निरा॑सीत् पुरोग॒वः ॥ ८ ॥
स्तोमा॑: । आ॒स॒न् । प्र॒ति॒ऽधयः॑ । कु॒रीर॑म् । छन्द॑: । ओ॒प॒शः ।
सू॒र्याया॑: । अ॒श्विना॑ । व॒रा । अ॒ग्निः । आ॒सी॒त् । पु॒रः॒ऽग॒वः ॥ ८ ॥
सोमो॑ वधू॒युर॑भवद॒श्विना॑स्तामु॒भा व॒रा ।
सू॒र्यां यत् पत्ये॒ शंस॑न्तीं॒ मन॑सा सवि॒ताद॑दात् ॥ ९ ॥
सोम॑: । व॒धु॒ऽयुः । अ॒भ॒व॒त् । अ॒श्विना॑ । आ॒स्ता॒म् । उ॒भा । व॒रा ।
सू॒र्याम् । यत् । पत्ये॑ । शंस॑न्तीम् । मन॑सा । स॒वि॒ता । अद॑दात् ॥ ९ ॥

उपधान बनी; दृष्टि ही उसकी आँखोंका अञ्जन रहा। स्वर्ग तथा पृथ्वी दोनों मिलकर रथमें उसका आसन बने।

[**आः**–वास्तवमें यह √अस् धातुके प्रथम भूतकाल (लङ्) का प्रथम पुरुष एकवचन है; दे. १०.१२९.३ । **चक्षुः**–देखनेकी इन्द्रिय । **कोश**–बैठनेके लिए रथमें बनाई गई वह जगह जो तनिक ऊपरी सतहपर उठाई गई हो; दे. ६.५४.३ के साथ साथ ८.२०.८; ८.२२.९ । अब चूँकि ये ऋचाएं उषाके वैवाहिक आभूषणोंका वर्णन करती हुई प्रतीत होतीं हैं; यहाँ कोशको रत्नों या आभूषणों की उस मञ्जूषाके अर्थमें माना जा सकता है जिसमें उसके गहने रखे गए हों। यह भी ध्यानमें रखना चाहिए की यहाँ कोशके लिए एकके बदले दोका, स्वर्ग तथा पृथ्वीका उल्लेख किया गया है (जो क्रमशः मञ्जूषाके ढक्कन तथा तलकी ओर संकेत करते हैं)।]

८. स्तोम (उस समय) बकसुवेका काम करते थे; छन्द उसका शिरोवस्त्र एवं जूड़ा था। अश्विना सूर्याके चुने हुए वर थे और अग्नि उनका अग्रदूत था।

[**प्रतिधयः**– ऋचा ७ की टिप्पणीके अनुसर ये भी उसके आभूषण ही प्रतीत होते हैं; केश-रचनामें तथा वस्त्रको स्थिर रखनेके लिए प्रयुक्त होनेवाले बकसुवेसे इसकी समानता मालूम होती है। शिरोभूषण तथा जूड़े का उल्लेख इसीको पुष्टि प्रदान करता है। **कुरीर**–अथर्ववेद ६.१३८.३ से प्रतीत होता है–कि यह कोई शिरोभूषण या वह मुकुट था जिसके पिछले अंशमें जूड़ा बाँधा गया हो। **ओपशः**–(अव + पश्–बाँधना)– मुकुटमें बाँधा हुआ जूड़ा; दे. १.१७३.६; ८.१४.५; ९.७१.१ ।]

९. [विवाहके अवसरपर] सविताने जब मनसे अनुमोदन करनेवाली सूर्याका हाथ पतिको सौंपा तब सोम सगाई चाहते थे और दोनों अश्विना वर बने हुए थे।

[**वधूयु** तथा **वर** में जो फ़र्क किया गया है वह बड़ा रोचक है। **पत्ये**– याने उस व्यक्तिको जो (सविताके द्वारा किए जानेवाले) प्रदानके कारण उसका (उषाका) पति बना है। **पत्ये दा** को यहाँ 'विवाहमें प्रदान करने' के साधारण अर्थमें प्रयुक्त किया गया है। **मनसा शंसन्तीम्** का कारण यह है कि वह उसकी अन्तरिक अभिलाषाके अनुसार ही हुआ था। हाँ उसने स्वाभाविक विनयके कारण उसे अभिव्यक्त नहीं किया था।]

मनो अस्या अन आसीद्द्यौरासीदुत च्छदिः ।
शुक्रावनड्वाहावास्तां यदयात् सूर्या गृहम् ॥ १० ॥

मनः । अस्याः । अनः । आसीत् । द्यौः । आसीत् । उत । छदिः ।
शुक्रौ । अनड्वाहौ । आस्ताम् । यत् । अयात् । सूर्या । गृहम् ॥ १० ॥

ऋक्सामाभ्यामभिहितौ गावौ ते सामनावितः ।
श्रोत्रं ते चक्रे आस्तां दिवि पन्थाश्चराचरः ॥ ११ ॥

ऋक्ऽसामाभ्याम् । अभिऽहितौ । गावौ । ते । सामनौ । इतः ।
श्रोत्रम् । ते । चक्रे इति । आस्ताम् । दिवि । पन्थाः । चराचरः ॥ ११ ॥

शुची ते चक्रे यात्या व्यानो अक्ष आहतः ।
अनो मनस्मयं सूर्यारोहत् प्रयती पतिम् ॥ १२ ॥

शुची इति । ते । चक्रे इति । यात्याः । विऽआनः । अक्षः । आऽहतः ।
अनः । मनस्मयम् । सूर्या । आ । अरोहत् । प्रऽयती । पतिम् ॥ १२ ॥

---

१०. सूर्या जब अपने घर पहुँची तब उसका मन (ही) रथ बना हुआ था और स्वर्गलोक उस रथका छत रहा । (अन्तरिक्षके) दो तेजोगोल (उस समय) दो वृषभ (रथके वाहक) थे।

[**मनो अन आसीद्**–में आगे चलकर वाङ्मयमें प्रचलित होनेवाले ' मनोरथ ' का मूल है; साथ साथ दे. ' मनो रुहाणाः ' १·३२·८ । **शुक्रौ**-सायणाचार्यके मतानुसार सूर्य एवं चन्द्रमा हैं। कविका अभिप्राय स्पष्टतया रूपकसे है; अतएव ' उसके वृषभ दीप्तिमान् थे ' यह अनुवाद उचित नहीं जँचता । **शुक्रौ** का अभिप्राय यहाँ उस तरहकी वस्तुसे है जिसपर **अनड्वाहौ** का आरोप किया गया है ।]

११. ऋक् तथा साम रूपी प्रग्रहोंके नियन्त्रणमें रखे हुए तुम्हारे परस्पर सहायक वृषभ आगे बढ़े । तुम्हारे श्रोत्र [ही] चक्र बने थे और (रथका) मार्ग अन्तरिक्षमें डाँवाडोल था ।

[**अभिहितौ = अभिधानीयुतौ – अभिधानी** एक पारिभाषिक शब्द है जिसका अर्थ है लगाम, प्रग्रह अथवा रस्सा या रज्जु । **सामनौ**–' सहयोगी या सहकर्मी '। **चराचरः** – ' चल तथा अचल '; मतलब, ' विषम अथवा ऊँचा–नीचा ' ।]

१२. तुम जब जा रहे थे तब दोनों प्रकाशपुञ्ज चक्र बने थे । व्यान (पाँच प्राणोंमेंसे एक) अक्षदण्डके रूपमें आयोजित हुआ । सूर्या अपने पतिके पास पहुँचते हुए मनोमय रथपर आरूढ हुई थी ।

[**शुची**– संभवतः सूर्य एवं चन्द्र की ओर संकेत करता है; दे. ऋचा १८–१९ ।]

सूर्याया वहतुः प्रागात् सविता यमवासृजत् ।
अघासु हन्यन्ते गावोऽर्जुन्योः पर्युह्यते ॥ १३ ॥

सूर्यायाः । वहतुः । प्र । अगात् । सविता । यम् । अवऽअसृजत् ।
अघासु । हन्यन्ते । गावः । अर्जुन्योः । परि । उह्यते ॥ १३ ॥

यदश्विना पृच्छमानावयातं त्रिचक्रेण वहतुं सूर्यायाः ।
विश्वे देवा अनु तद्वामजानन् पुत्रः पितराववृणीत पूषा ॥ १४ ॥

यत् । अश्विना । पृच्छमानौ । अयातम् । त्रिऽचक्रेण । वहतुम् । सूर्यायाः ।
विश्वे । देवाः । अनु । तत् । वाम् । अजानन् । पुत्रः । पितरौ । अवृणीत । पूषा ॥ १४ ॥

यदयातं शुभस्पती वरेयं सूर्यामुप ।
क्वैकं चक्रं वामासीत् क्व देष्ट्राय तस्थथुः ॥ १५ ॥

यत् । अयातम् । शुभः । पती इति । वरेऽयम् । सूर्याम् । उप ।
क्व । एकम् । चक्रम् । वाम् । आसीत् । क्व । देष्ट्राय । तस्थथुः ॥ १५ ॥

१३. सूर्याके ब्याहका वह जुलूस आगे बढ़ा जिसे सविता प्रारम्भ कर चुके थे । अघा नक्षत्र के उदित होनेपर बैलोंकी बलि दी जाती है और दो अर्जुनियोंके उदयके अवसरपर [वधू] रथसे पतिगृहकी ओर लाई जाती है ।

[पहले दो चरण पिताके घरसे बिदा होकर वधूके (यहाँ उषाके) अपने (याने पतिके) घर चले जानेकी ओर निर्देश करते हैं । अन्तिम दो चरणोंमें वरके मधुपर्ककी सहायतासे स्वागत एवं विवाहके साक्षात् समारोह (**परिवह्**) का उल्लेख है । अथर्ववेद १४·१·१२ में यही ऋचा समाविष्ट है जहाँ यहाँके **अघा** एवं **अर्जुनी** नक्षत्रोंके लिए क्रमशः **मघा** तथा **फाल्गुनी** जैसे दो अर्वाचीन नामोंके साथ साथ **पर्युह्यते** के लिए **वि उह्यते (विवाह)** शब्द प्रयुक्त हुआ है । **हन्यन्ते** को सायणाचार्य ' दण्डैस्ताडयन्ते प्रेरणार्थम् (गावः) ' के अर्थमें मानते हैं; लेकिन यहाँ–जैसा कि मनुस्मृति ३·३ से सूचित होता है – संभवतः मधुपर्ककी ओर संकेत है ।]

१४. हे अश्विना, बड़ी आशंसाओंको लेकर जब तुम अपने तीन-चक्रोंवाले (रथसे) सूर्याके विवाहके समारोहमें पहुँचे तब सभी देवोंने तुम्हारे उस कार्यके लिए संमति प्रदान की । पूषाने अपनेको पुत्र मानकर पिताके रूपमें तुम्हें चुन लिया ।

[**वहतु** का अभिप्राय यहाँ विवाहके उस समारोहसे है जो महाभारत तथा रामायणके कालके स्वयंवरसे समानता रखता है । पूषा भी असलमें एक स्पर्धक था; लेकिन उसने देखा कि वधूने स्वयं अश्विनोंको वरके रूपमें चुन लिया । अतः समझदारीके साथ स्पर्धासे अलग होते हुए उसने बड़े औदार्यके साथ समारोहमें पूरा सहयोग दिया; दे. ६·५८·३–४ ।]

१५. हे कल्याणके अधिपतियो, विवाहके लिए जब तुम सूर्याके पास पहुँचे थे तब तुम्हारा (वह) एक चक्र कहाँ था ? निदेशनके लिए तुम दोनों कहाँ खड़े थे ?

द्वे तें चक्रे सूर्ये ब्रह्माणं ऋतुथा विंदुः ।
अथैकं चक्रं यद्गुहा तदंद्धातय इद्विंदुः ॥ १६ ॥

द्वे इतिं । ते । चक्रे इतिं । सूर्ये । ब्रह्माणंः । ऋतुऽथा । विदुः ।
अर्थ । एकंम् । चक्रम् । यत् । गुहां । तत् । अद्धातयंः । इत् । विदुः ॥ १६ ॥

सूर्यायै देवेभ्यों मित्राय वरुणाय च ।
ये भूतस्य प्रचेतस इदं तेभ्योंऽकरं नमः ॥ १७ ॥

सूर्यायै । देवेभ्यंः । मित्रायं । वरुंणाय । च ।
ये । भूतस्यं । प्रऽचेतसः । इदम् । तेभ्यंः । अकरम् । नमंः ॥ १७ ॥

[यहाँ सवाल अश्विनोंके रथके तीसरे चक्रके संबन्धमें है। सूर्याके रथपर आरूढ होनेके पहले उस चक्रकी ओर भला कौन ध्यान देता ? लेकिन उस समय (याने विवाहके समय) दोनों अश्विना अपने अपने चक्रपर बैठे और उन्होंने सूर्याको उसके लिए आरक्षित (या पूर्वरक्षित) चक्रकी ओर जानेका आदेश दिया। **वरेयम्** – वरेय् धातुका द्वितीयान्त तुमन्त जिसके लिए दे. ' य ईं वहाते य ईं वा वरेयात ' १०.२७.११। **देष्ट्रा**–(√**दिश्** ' मार्गदर्शन '; दे. आगे चलकर ऋचा ४७ में **देष्ट्री** ।]

१६. हे सूर्यादेवि, ऋतुओंके अनुसार सभी ऋत्विज् तुम्हारे (रथके) दो चक्रोंको जान चुके हैं और उनमेंसे जो विशेषज्ञ हैं वे ही उस छिपे हुए चक्रको जान पाए हैं ।

[**ते** का अभिप्राय सूर्यासे है; अश्विनोंका रथ अब उसका ही हो गया । उसके आगमनके पहले जो तीसरा चक्र अज्ञात रहा था वह सभी मनीषियोंको ज्ञात था । **अद्धाति**–यह **अद्धाति** नामधातुसे तैयार की गई संज्ञा मालूम होती है; इसका अर्थ है 'जो अद्धा (उसी समान ढंगसे वास्तविक) हो उसकी अभिलाषा रखनेवाला' अद् = अदस् + धा शब्द इस अर्थ में ३.५४.५; १०.१११.७ तथा १०.१२९.६ में प्रयुक्त हुआ है । और **अद्धाति** की तरह वह **विद्** ' जानना ' धातुसे संबद्ध है । अथर्ववेद ६.७६.२ तथा ११.८.७ में यह शब्द क्रमशः **पश्** ' देखना ' तथा **विद्** ' जानना ' इन धातुओंसे संवद्ध है (ओल्डेनबर्ग खण्ड २ पृ. २८८) ।]

१७. सूर्या, मित्र, वरुण तथा उन देवोंकी मैं वन्दना कर चुका हूँ जो अतीतके वृत्तान्तसे पूर्णतया परिचित हैं ।

[**ये** उन सभी लोगोंकी ओर संकेत करता है जो पहले दो चरणोंमें निर्दिष्ट व्यक्तियोंसे भिन्न हैं और अतीतके जानकार हैं, अर्थात् वे उपरिनिर्दिष्ट अद्धाति अथवा कवि जो इस तरहके अतीन्द्रिय ज्ञानसे संयुक्त हैं; दे. ३.३८.१–२; १०.१२९.४ आदि । **भूत**–वह जो अतीतमें याने (सृष्टिके) निर्माणके समय घटित हुआ हो ।]

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीळन्तौ परि यातो अध्वरम् ।
विश्वान्यन्यो भुवनाभिचष्ट ऋतूँरन्यो विदधज्जायते पुनः ॥ १८ ॥

पूर्वऽअपरम् । चरतः । मायया । एतौ । शिशू इति । क्रीळन्तौ । परि । यातः । अध्वरम् ।
विश्वानि । अन्यः । भुवना । अभिऽचष्टे । ऋतून् । अन्यः । विऽदधत् । जायते । पुनरिति ॥१८॥

नवोनवो भवति जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेत्यग्रम् ।
भागं देवेभ्यो वि दधात्यायन् प्र चन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः ॥ १९ ॥

नवःऽनवः । भवति । जायमानः । अह्नाम् । केतुः । उषसाम् । एति । अग्रम् ।
भागम् । देवेभ्यः । वि । दधाति । आऽयन् । प्र । चन्द्रमाः । तिरते । दीर्घम् । आयुः ॥१९॥

१८. ये दो (देवोंकी) अलौकिक शक्तिके कारण आपसमें निरन्तर अनुसरण करते रहते हैं। ये दोनों अटखेलियाँ करनेवाले बालक यज्ञकी परिक्रमा करते हैं। (इनमेंसे) एक सभी उत्पन्न वस्तुओंका निरीक्षण करता है तो दूसरा ऋतुओंका निर्माण करते हुए पुनः पुनः जन्म लेता है।

[ऋचाका अभिप्राय सूर्य तथा चन्द्र से है। **पुनः** के माने है पुनः पुनः; दे. ऋचा १९ का 'नवो नवो'। **परि यातो अध्वरम्** वे चारों ओरसे घेर लेते हैं और समय एवं ऋतुओंका विनियमन करते हुए यज्ञको संपन्न करनेमें सहायता प्रदान करते है। **मायया** यह **माया** देवोंकी है; दे. १०·८८·६ के साथ साथ ३·६१·७; ५·६३·४ आदि। **शिशू क्रीडन्तौ**–दोनों (सूर्य एवं चन्द्र) की तुलना उन दो बच्चोंसे की गई है जो पकड़नेके लिए एक दूसरेके पीछे दौड़ते हैं। **भुवना अभि चष्टे**—दे. ७·६१·१ के साथ साथ ६·५१·२।]

१९. (पहले पखवारेमें) वह (प्रतिदिन) जन्म लेते हुए अधिकाधिक युवा होता है और (दूसरे पखवारेमें) उषाओंके सामने दिवसोंके केतुके रूपमें अवतीर्ण होता है। (स्वर्गमें) आते हुए वह चन्द्रमा देवोंमें उनका यज्ञीय अंश बाँटता है और इस प्रकार अपनी आयुकी अवधि अनिर्धारित रूपसे बढ़ा लेता है।

[पहला चरण अगर महीनेके पहले पखवारेकी ओर संकेत करता है; तो दूसरा दूसरे। **अह्नां केतुः**– कोई भी दिन – चाहे वह पहले पखवारे में हो या दूसरे– चन्द्रकी इन गतियोंके कारण निर्धारित होता है। इस प्रकार **पर्व** दिवसोंको निर्धारित करके देवोंको उनका यज्ञिय अंश प्रदान करनेमें वही चन्द्र सहायक सिद्ध होता है। **आयुः**—जैसा कि **तिरते** के आत्मनेपदसे सूचित होता है – उसका अपना है। यहाँ कल्पना निम्ना-नुसार है :—चन्द्र यद्यपि निरन्तर बढ़ता–घटता चला जाता है, फिर भी उसके द्वारा देवोंकी परिचर्याके संपन्न होनेके कारण उसके नष्ट होनेकी आशङ्का (१०·५५·५) ही निर्मूल है।]

सुकिंशुकं शल्मलिं विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रम् ।
आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पत्ये वहतुं कृणुष्व ॥ २० ॥

सुऽकिंशुकम् । शल्मलिम् । विश्वऽरूपम् । हिरण्यऽवर्णम् । सुऽवृतम् । सुऽचक्रम् ।
आ । रोह । सूर्ये । अमृतस्य । लोकम् । स्योनम् । पत्ये । वहतुम् । कृणुष्व ॥ २० ॥

उदीर्ष्वातः पतिवती ह्येषा विश्वावसुं नमसा गीर्भिरीळे ।
अन्यामिच्छ पितृषदं व्यक्तां स ते भागो जनुषा तस्य विद्धि ॥ २१ ॥

उत् । ईर्ष्व । अतः । पतिऽवती । हि । एषा । विश्वऽवसुम् । नमसा । गीःऽभिः । ईळे ।
अन्याम् । इच्छ । पितृऽसदम् । विऽअक्ताम् । सः । ते । भागः । जनुषा । तस्य । विद्धि ॥२१॥

उदीर्ष्वातो विश्वावसो नमसेळामहे त्वा ।
अन्यामिच्छ प्रफर्व्यं१ सं जायां पत्या सृज ॥ २२ ॥

उत् । ईर्ष्व । अतः । विश्वावसो इति विश्वऽवसो । नमसा । ईळामहे । त्वा ।
अन्याम् । इच्छ । प्रऽफर्व्यम् । सम् । जायाम् । पत्या । सृज ॥ २२ ॥

---

२०. हे सूर्यादेवि, सेंमरकी लकड़ीसे बनाए गए, सुन्दर चक्रोंवाले, सरलताके साथ आगे बढ़नेवाले एवं (लाल) किंशुकोंके सुमनोंसे आच्छादित इस बहुरूपी तथा सुवर्णवर्ण रथपर, याने इस अमरोंके लोकपर, हे सूर्यादेवि, तुम आरूढ हो जाओ । पतिके लिए इस जुलूसको सुखद (रूप प्रदान) करो ।

[सूक्त द्रष्टा ऋषि इस ऋचासे फिरसे अपने प्रधान विषयकी ओर याने विवाहमें वधूके समर्पणकी ओर लौट आते हैं । दैवी सूर्या आदर्श वधू मानी गई है और इसीलिए मानवी वधूके साथ उसकी अभिन्नता यहाँ स्थापित की गई है; दे.आगे चलकर ऋचाएं ३४, ३५ एवं ३८। इस ऋचामें जुलूसका रथ और उसकी अमृतोंके लोकसे एकात्मता वर्णित है । **शल्मली** एक वृक्षका नाम है (जिसे सेंमर कहा जाता है); दे. ७·५०·३ । क्या **शल्मली**, क्या **किंशुक** दोनों वृक्षोंके फूल तनिक नीली आभाके साथ लाल रंग धारण करते हैं (दे. आगे चलकर ऋचा २८)]

२१. सराहना-भरे शब्दोंके साथ बन्दना करके मैं विश्वावसुसे प्रार्थना करते हुए कहता हूँ "यहाँसे उठो, क्योंकि अब वह पतिसे संयुक्त हुई है। किसी अन्य युवतीको पानेकी कोशिश करो जो अभी अपने पिताके घरमें स्थित एवं अलंकृत हो । जन्मसे वही तुम्हारा अंश है; इसे समझ लो।"

[पहले चरणके साथ तीसरा एवं चौथा भी सीधे विश्वावसु गन्धर्वसे कहा गया है । दुसरी अवस्थामें कन्यापर इसका अधिकार माना जाता है; दे. ऋचा ४० – ४१ । **पितृषदं व्यक्ताम्** का अभिप्राय शायद कन्याकी उस अवस्थासे है जिसमें वयःसन्धि तक पहुँचकर भी वह अविवाहित हो; **व्यक्ता** 'विभूषित' अर्थात् कन्या या युवती के रूपमें, क्योंकि (इसी अवस्थामें) उसके व्यवच्छेदक अवयव विकसित होते हैं ।]

२२. प्रणामके साथ हे विश्वावसु, तुमसे प्रार्थना करता हूँ, "यहाँसे उठो; किसी अन्य स्थूलकायाकी अभिलाषा रखो । इस पत्नीको उसके पतिसे मिला दो ।"

अनृक्षरा ऋजवः सन्तु पन्था येभिः सखायो यन्ति नो वरेयम् ।
समर्यमा सं भगो नो निनीयात् सं जास्पत्यं सुयममस्तु देवाः ॥ २३ ॥

अनृक्षराः । ऋजवः । सन्तु । पन्थाः । येभिः । सखायः । यन्ति । नः । वरेऽयम् ।
सम् । अर्यमा । सम् । भगः । नः । निनीयात् । सम् । जाःपत्यम् । सुऽयमम् । अस्तु । देवाः ॥ २३ ॥

प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद्येन त्वाबध्नात् सविता सुशेवः ।
ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोकेऽरिष्टां त्वा सह पत्या दधामि ॥ २४ ॥

प्र । त्वा । मुञ्चामि । वरुणस्य । पाशात् । येन । त्वा । अबध्नात् । सविता । सुऽशेवः ।
ऋतस्य । योनौ । सुऽकृतस्य । लोके । अरिष्टाम् । त्वा । सह । पत्या । दधामि ॥ २४ ॥

प्रेतो मुञ्चामि नामुतः सुबद्धाममुतस्करम् ।
यथेयमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रा सुभगासति ॥ २५ ॥

प्र । इतः । मुञ्चामि । न । अमुतः । सुऽबद्धाम् । अमुतः । करम् ।
यथा । इयम् । इन्द्र । मीढ्वः । सुऽपुत्रा । सुऽभगा । असति ॥ २५ ॥

[**प्रफर्वी** —स्थूलकाया (मोटी) एवं कामातुर स्त्री; दे. अथर्ववेद ५·२२·७ ।]

२३. विवाहके लिए जिन मार्गोंपर हमारे सुहृद् विचरण करते है वे ऋजु एवं कण्टकोंसे विहीन हों । अर्यमा तथा भग हमें एक स्थानपर मिला दें । हे देवो, दाम्पत्यजीवन दोनों कुलोंके लिए सहज भावसे अधीन सिद्ध हो ।

[**अनृक्षरा** (ऋक्षर√रुश् – बेधना, बिंधना, चुभना ') ' कण्टकहीन' ; दे. १·४१·४; २·२७·६। **वरेयम्** – दे. ऊपर ऋचा १५ । **सखायः** वरके संबन्धी हैं । तीसरे चरणमें **नः**– इनके साथ साथ वधूके संबन्धियोंकी ओर निर्देश करता है । चौथे चरणके लिए दे. ५·२८·३ । **सं अस्तु** अन्वय यों करें **सुयमं सम् अस्तु**–'वह मिलकर याने वधू एवं वरके दोनों कुलोंके लिए असानीसे अधीन सिद्ध हो' ।]

२४. मैं तुम्हें वरुणके उस पाशसे मुक्त करता हूँ जिससे दयालु सविताने तुम्हे बाँध रखा था । तुम्हें मैं अक्षत रूपमें पतिके साथ ऋतके निवास-स्थानमें, सुकृतोंके लोकमें रखता हूँ ।

[लक्षणाके सहारे **पाश** का अभिप्राय यहाँ उस स्नेह बन्धनसे है जो वधू एवं उसके पितृकुलके संबन्धियोंमें होता है । **ऋतस्य योनौ** एवं **सुकृतस्य लोके**; दोनों धार्मिक यजमानके घरकी ओर संकेत करते हैं ।]

२५. मैं (उसे) यहाँसे मुक्त करता हूँ; उस स्थानसे नही । (उल्टे) वहाँ उसे मैं भली भाँति बाँधकर रखूँगा ताकि हे उदार इन्द्र, वह बड़े भाग्यके साथ सुपुत्रोंको प्राप्त करे ।

[**इतः** = वधूके पिताके कुलसे ' और **अमुतः** के माने हैं 'उसके पतिके कुलसे']

पूषा त्वेतो नयतु हस्तगृह्याश्विना त्वा प्र वहतां रथेन ।
गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमा वदासि ॥ २६ ॥

पूषा । त्वा । इतः । नयतु । हस्तऽगृह्य । अश्विना । त्वा । प्र । वहताम् । रथेन ।
गृहान् । गच्छ । गृहऽपत्नी । यथा । असः । वशिनी । त्वम् । विदथम् । आ । वदासि ॥ २६ ॥

इह प्रियं प्रजया ते समृध्यतामस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि ।
एना पत्या तन्वं सं सृजस्वाधा जिव्री विदथमा वदाथः ॥ २७ ॥

इह । प्रियम् । प्रऽजया । ते । सम् । ऋध्यताम् । अस्मिन् । गृहे । गार्हऽपत्याय । जागृहि ।
एना । पत्या । तन्वम् । सम् । सृजस्व । अध । जिव्री इति । विदथम् । आ । वदाथः ॥ २७ ॥

नीललोहितं भवति कृत्यासक्तिर्व्यज्यते ।
एधन्ते अस्या ज्ञातयः पतिर्बन्धेषु बध्यते ॥ २८ ॥

नीलऽलोहितम् । भवति । कृत्या । आसक्तिः । वि । अज्यते ।
एधन्ते । अस्याः । ज्ञातयः । पतिः । बन्धेषु । बध्यते ॥ २८ ॥

---

२६. तुम्हारा हाथ पकड़कर पूषा तुम्हें यहाँसे ले जाय । अश्विना तुम्हें रथसे आगे ले चलें । अपने (पतिके) घर जाओ ताकि तुम गृहिणी बनो । अपने गृहपर अधिकार रखते हुए बुधोंकी सभामें बात करो (याने बुधोंकी तरह बोलो) ।

[यह हितकारी समझा जाता है कि पतिके घर जाते हुए कि राहमें वधूको देवताओंका मार्गदर्शन एवं उनकी सहायता प्राप्त हो । **विदथम् आ वद्** असलमें एक मुहावरा है जो सयानेपन तथा सुविचार से युक्त वक्तृता या भाषण का याने बुधों अथवा समझदार लोगों को आकृष्ट करनेवाले भाषणका बोध कराता है ।]

२७. यहाँ जो कुछ तुम्हें प्रिय हो उसकी संतान द्वारा पर्याप्त वृद्धि हो जाय । इस गृहमें घरेलू बातोंपर प्रभुताकी प्राप्तिके लिए जागृत रहो । इस पतिसे अपनी कायाको मिला दो । कालके क्रमके अनुसार वृद्ध दंपतिके रूपमें बुधोंकी सभामें बात करनेका सुअवसर तुम्हें प्राप्त हो ।

[प्रस्तुत ऋचामें नए घरमें वधूका प्रवेश वर्णित है । **जिव्री** दे. आगे चलकर ऋचा ३६ ।]

२८. वह नीला तथा लाल रंग धारण करता है जिससे उससे लिपटी हुई कृत्या प्रकट होती है । उसके (पिताके) संबन्धी उत्कर्षके भागी होते हैं और इधर उसका पति पाशोंमें आबद्ध होता है ।

[इस ऋचासे ३० तककी तीनों ऋचाओंमें विवाहके समय मङ्गलमय स्नानके उपरान्त वधू द्वारा पहने जानेवाले वस्त्रोंका वर्णन किया गया है । (विवाहके उपरान्त) इनका त्याग किया जाता है और इन्हें फिर कभी पहना नहीं जाता। **आसक्तिः** वह कर्तृवाचक संज्ञा है जो **कृत्या** की एकान्वयी या उसकी विशेषणरूपी संज्ञा है। यदि उपर्युक्त वस्त्रोंका त्याग नहीं किया जाता तो चौथे चरणमें निर्दिष्ट घटनाएं संपन्न होती हैं ।]

परा देहि शामुल्यं ब्रह्मभ्यो वि भजा वसु ।
कृत्यैषा पद्वती भूत्व्या जाया विशते पतिम् ॥ २९ ॥

परा । देहि । शामुल्यम् । ब्रह्मऽभ्यः । वि । भज । वसु ।
कृत्या । एषा । पत्ऽवती । भूत्वी । आ । जाया । विशते । पतिम् ॥ २९ ॥

अश्रीरा तनूर्भवति रुशती पापयामुया ।
पतिर्यद्वध्वो३ वाससा स्वमङ्गमभिधित्सते ॥ ३० ॥

अश्रीरा । तनूः । भवति । रुशती । पापया । अमुया ।
पतिः । यत् । वध्वः । वाससा । स्वम् । अङ्गम् । अभिऽधित्सते ॥ ३० ॥

ये वध्वश्चन्द्रं वहतुं यक्ष्मा यन्ति जनादनु ।
पुनस्तान् यज्ञिया देवा नयन्तु यत आगताः ॥ ३१ ॥

ये । वध्वः । चन्द्रम् । वहतुम् । यक्ष्माः । यन्ति । जनात् । अनु ।
पुनरिति । तान् । यज्ञियाः । देवाः । नयन्तु । यतः । आऽगताः ॥ ३१ ॥

---

२९. उस दूषित वस्त्रका त्याग करो (उसे दक्षिणाके रूपमें ब्राह्मणोंको अर्पित करो ।) विद्वान् ब्राह्मणोंको संपत्ति याने दक्षिणा प्रदान करो (अर्थात् प्रायश्चित्तके तौरपर) । यहाँ कृत्या चरणोंसे संयुक्त होती है और पत्नीके रूपमें पतिमें प्रवेश करती है ।

[**शामुल्यम्** उसी वस्त्रकी ओर निर्देश करता है; सायणाचार्य इसे **शामलं** से, संभवतः ऊपरके (ऋचा-२८) **नीललोहितं** से समानार्थक मानते हैं । **वसु** वह दक्षिणा है जो ब्राह्मणको वस्त्रोंके अतिरिक्त दी जाती है । अन्तिम दोनों चरण उस वधूकी ओर संकेत करते है जो अभी वही मैला वस्त्र पहने हुए है ।]

३०. वह (पतिका) उज्ज्वल शरीर इस बुरे ढंगसे तब अशोभन हो उठता है जब वधूके दूषित वस्त्रसे वह अपने शरीरको ढँकनेकी अभिलाषा रखता है ।

[**अश्रीरा**–' उद्दीपित या प्रकाशित न होनेवाली ' (श्री–प्रकाशित होना, प्रज्वलित होना; **श्रीर** प्रकाशित या प्रज्वलित, देदीप्यमान) । **अभिधित्सते**–√अभि+धा को **परि धा** के याने ' आवृत करने' के अर्थमें प्रयुक्त किया जाता है और आवृत करनेवाली वस्तुको करणकारकमें रखा जाता है; दे. ' परि वो विश्वतो दधे ऊर्जा घृतेन पयसा ' १।१०।१९·७ ।]

३१. (प्रतिद्वन्द्वी) लोगोंके पक्षसे वधूके विवाहके रोचक जुलूसका पीछा करनेवाले सभी रोगोंको यज्ञार्ह देवता उन्हीं स्थानोंपर फिरसे लौटा दें जहाँ से वे आए हों ।

[**जनात्** याने ' प्रतिद्वन्द्वियों अथवा शत्रुओं के दलसे;' दे. ऋचा ३२ के ' परिपन्थिनः ' ।]

मा विंदन् परिपुन्थिनो य आसीदन्ति दंपती ।
सुगेभिर्दुर्गमतीतामपं द्रान्त्वरातयः ॥ ३२ ॥

मा । विदन् । परिऽपुन्थिनः । ये । आऽसीदन्ति । दंपती इति दम्ऽपती ।
सुऽगेभिः । दुःऽगम् । अति । इताम् । अप । द्रान्तु । अरातयः ॥ ३२ ॥

सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत ।
सौभाग्यमस्यै दत्त्वायाथास्तं वि परेतन ॥ ३३ ॥

सुऽमङ्गलीः । इयम् । वधूः । इमाम् । सम्ऽएत । पश्यत ।
सौभाग्यम् । अस्यै । दत्त्वाय । अथ । अस्तम् । वि । परा । इतन ॥ ३३ ॥

तृष्टमेतत् कटुकमेतदपाष्ठवद्विषवन्नैतदत्तवे ।
सूर्यां यो ब्रह्मा विद्यात् स इद्वाधूयमर्हति ॥ ३४ ॥

तृष्टम् । एतत् । कटुकम् । एतत् । अपाष्ठऽवत् । विषऽवत् । न । एतत् । अत्तवे ।
सूर्याम् । यः । ब्रह्मा । विद्यात् । सः । इत् । वाधूऽयम् । अर्हति ॥ ३४ ॥

३२. दंपतिके समीप आनेकी इच्छा रखनेवाले प्रतिद्वन्द्वी उनके पास कभी न जा पाएं; सुखकर मार्गोंसे दोनों कठिनाइयोंके पार पहुँचें । शत्रु (उनसे) दूर भाग जायँ ।

[**दंपती** पहले दोनों चरणोंकी क्रियाओंके कर्मके रूपमें अन्वित होता है । **सुगेभिः** अर्थात् **पथिभिः** ; दे. १·३५·११; १·१६२·२१; १·१६३·६ ।]

३३. यह वधू अतीव पवित्र है । साथ आओ और उसे देखो । उसे सुष्ठु श्री समर्पित करनेके उपरान्त तुम घर लौटो ।

[**समेत**-यहाँ पदपाठ है **सम् ऽएत** । प्राधान्य देनेके लिए इसमें स्वर अर्पित किया गया है; अथवा पदपाठके विरुद्ध सम् + आ + इत का स्वीकार कर लें । **समेत** का एक अर्थ होगा 'साथ जाओ, मिलो' (इस अर्थमें यह **इमां** तथा **पश्यत** के बीच ही रखा जाएगा) और दूसरा होगा, "पास जाओ, भेंट दो' (**इमां** को दोनों क्रियाओंसे संबद्ध करके) । दूसरे अर्थके लिए दे. 'सं त्वा रायः शतिनः सं सहस्रिणः सुवीरं यन्ति.'...११·३१·१० । **सौभाग्यम्**-' बड़ा ही अच्छा भाग्य याने उसके प्रतीकके रूपमें कोई देन; दे. 'सौभगत्वम्' ऋचा ३६ ।]

३४. यह बड़ा तीक्ष्ण एवं तीखा है । वह मलबे या विष की तरह है; उसे खाना ठीक नहीं है । वही ऋत्विज वधूके दुकूलको पानेका अधिकारी है जो सूर्याको जानता है ।

[यहाँ कवि वधूके वस्त्रोंका फिरसे वर्णन करने लगता है । ऋचा २९ के पहले दो चरणोंमें कहा गया है कि उसे ऋत्विजोंका समर्पित करना चाहिए; यहाँ तथा आगामी ऋचामें उन्हीं ऋत्विजोंके संबन्धमें अधिक ज़ानकारी दी गई है । **तृष्टम्**-दे. 'वाचः तृष्टं' १०·८७·१३ अथवा 'शपथाः तृष्टाः' १०·८७·१५ ।

आशसनं विशसनमथो अधिविकर्तनम् ।
सूर्यायाः पश्य रूपाणि तानि ब्रह्मा तु शुन्धति ॥ ३५ ॥

आऽशसनम् । विऽशसनम् । अथो इति । अधिऽविकर्तनम् ।
सूर्यायाः । पश्य । रूपाणि । तानि । ब्रह्मा । तु । शुन्धति ॥ ३५ ॥

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः ।
भगो अर्यमा सविता पुरंधिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः ॥ ३६ ॥

गृभ्णामि । ते । सौभगऽत्वाय । हस्तम् । मया । पत्या । जरत्ऽअष्टिः । यथा । असः ।
भगः । अर्यमा । सविता । पुरम्ऽधिः । मह्यम् । त्वा । अदुः । गार्हऽपत्याय । देवाः ॥३६॥

तां पूषञ्छिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या३ वपन्ति ।
या न ऊरू उशती विश्रयाते यस्यामुशन्तः प्रहराम शेपम् ॥ ३७ ॥

ताम् । पूषन् । शिवऽतमाम् । आ । ईरयस्व । यस्याम् । बीजम् । मनुष्याः । वपन्ति ।
या । नः । ऊरू इति । उशती । विऽश्रयाते । यस्याम् । उशन्तः । प्रऽहराम । शेपम् ॥३७॥

अपाष्ठम्– 'वह जिसे फेंका गया हो', 'कूड़ा' । **अत्तवे**– 'खानेके लिए' । पहले **विष** का उल्लेख होनेके कारण इसको यहां प्रयुक्त करना पड़ा; नहीं तो **एतत्** याने **वाधूयम्** से यह मेल नहीं खाता । **सूर्याम्** याने पहली एवं आदर्श दैवी वधूके रूपमें सूर्याको ।]

३५. वह वध करनेवाला शस्त्र है, चीरनेवाला चाकू है; आराकाशी करनेवाला यन्त्र है। देखो; ये सभी सूर्याके रूप हैं (जो वधूके दुकूल द्वारा प्रकट होते है)। किन्तु ऋत्विज उन्हें पवित्र (रूप प्रदान) करता है ।

[पहले दो चरणोंमें सूर्याके वे अशुभ अंश बतलाए गए हैं जो वधूके वस्त्रोंको दूषित करते हैं । इन्हींके कारण वे प्रस्तुत ऋचामें अनुपादेय हो उठते हैं । वे उस ऋत्विजपर कोई असर नहीं करते जो सूर्याको जानता हो, उसका ध्यान करता हो । वह उन्हें कोमल रूप प्रदान करता है; उन्हें अपने वशमें कर लेता है और उनके अशुभ एवं भयकारी अंश को नष्ट करता है ।]

३६. सौभाग्यके लिए मैं तुम्हारा पाणिग्रहण करता हूँ ताकि मेरे जैसे पतिके साथ तुम वृद्धावस्थातक आयुका उपभोग कर सकोगी । गृहके स्वामित्वके लिए अर्यमा, सविता, पुरन्धि तथा (अन्य) देवोंने तुम्हें मुझे सौंपा है ।

[**जरदष्टि (जरत् +** अस्ति ($\sqrt{}$अश्) **जरतः (आयुवः) अष्टिः यस्य** । वह व्यक्ति जो वृद्धावस्थातक आयुका उपभोग लेता हो। **आयुः** के साथ **अश्** के लिए दे. १·८९·८ ।

३७. हे पूषा, मानव जिस में अपना रेत समर्पित करते हैं उस अतीव कल्याण-कारिणीके

तुभ्यमग्रे पर्यवहन्त्सूर्यां वहतुना सह ।
पुनः पतिभ्यो जायां दा अग्ने प्रजया सह ॥ ३८ ॥

तुभ्यम् । अग्ने । परि । अवहन् । सूर्याम् । वहतुना । सह ।
पुनरिति । पतिऽभ्यः । जायाम् । दाः । अग्ने । प्रऽजया । सह ॥ ३८ ॥

पुनः पत्नीमग्निरदादायुषा सह वर्चसा ।
दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवाति शरदः शतम् ॥ ३९ ॥

पुनरिति । पत्नीम् । अग्निः । अदात् । आयुषा । सह । वर्चसा ।
दीर्घऽआयुः । अस्याः । यः । पतिः । जीवाति । शरदः । शतम् ॥ ३९ ॥

सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः ।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ॥ ४० ॥

सोमः । प्रथमः । विविदे । गन्धर्वः । विविदे । उत्ऽतरः ।
तृतीयः । अग्निः । ते । पतिः । तुरीयः । ते । मनुष्यऽजाः ॥ ४० ॥

रूपमें उसे यहाँ ले आओ जो प्रणयोन्मादमें हमारे लिए अपनी जाँघें अलग करती है और जिसमें कामसे प्रेरित होकर हम अपने प्रजननका प्रवेश कराते हैं ।

[**पूषन्** – पूषाको यहाँ वधू एवं वर के बीच मध्यस्थके रूपमें संबोधित किया गया है । भविष्यमें आनेवालीं सभी वधुओंके लिए आदर्श उपस्थित करनेवाली दैवी वधू उषाके विवाहके अवसरपर पूषाने अतीतमें जो सहयोग दिया उसीके प्रति कृतज्ञताके कारण यह उल्लेख किया गया है; दे. ऊपर ऋचा १४ ।]

३८. हे अग्नि, पहले वे सूर्याको उसके जुलूसके साथ तुम्हारे पास ले आए और फिरसे तुम उसे पत्नीके रूपमें उसकी सन्तानके साथ पतिको सौंप दो ।

[**परि अवहन्** के कर्ता हैं देवता । यहाँ भविष्यमें आनेवालीं सभी वधुओंके आदर्शके रूपमें (सूर्याका उल्लेख फिर एक बार हुआ है ।]

३९. अग्निने दीर्घ आयु एवं आभा के साथ पत्नीको फिरसे (पतिको) सौंपा है । वह आयुष्मान् व्यक्ति-जो उसका पति हो-शत वर्षोंतक जीवित रहे ।

[यह मान लिया गया कि अग्निने प्रार्थना सुनी और वधूको मानव पतिके हाथ फिरसे सौंपा । **शरदः** में कर्मकारक कालका बोध कराता है ।]

४०. सोम तुम्हें (हे वधू,) पहले पा गए; बादमें गन्धर्व तुम्हें पा चुके । अग्नि तुम्हारे तृतीय पति बने और चौथे ठहरे मानवके पुत्र ।

सोमो॑ ददद्गन्धर्वाय॑ गन्धर्वो द॑दद॒ग्नये॑ ।

र॒यिं च॑ पु॒त्राँश्चा॑दाद॒ग्निर्मह्य॒मथो॑ इ॒माम् ॥ ४१ ॥

सोम॑ः । द॒द॒त् । ग॒न्ध॒र्वाय॑ । ग॒न्ध॒र्वः । द॒द॒त् । अ॒ग्नये॑ ।

र॒यिम् । च॒ । पु॒त्रान् । च॒ । अ॒दा॒त् । अ॒ग्निः । मह्य॑म् । अथो॒ इति॑ । इ॒माम् ॥ ४१ ॥

इ॒हैव स्तं॒ मा वि यौ॑ष्टं॒ विश्व॒मायु॒र्व्य॑श्नुतम् ।

क्रीळ॑न्तौ पु॒त्रैर्नप्तृ॑भि॒र्मोद॑मानौ॒ स्वे गृ॒हे ॥ ४२ ॥

इ॒ह । ए॒व । स्त॒म् । मा । वि । यौ॒ष्ट॒म् । विश्व॑म् । आयु॑ः । वि । अ॒श्नु॒त॒म् ।

क्रीळ॑न्तौ । पु॒त्रैः । नप्तृ॑ऽभिः । मोद॑मानौ । स्वे । गृ॒हे ॥ ४२ ॥

आ न॑ः प्र॒जां ज॑नयतु प्र॒जाप॑तिराजर॒साय॒ सम॑नक्त्वर्य॒मा ।

अदु॑र्मङ्गलीः पतिलो॒कमा वि॑श॒ शं नो॑ भव द्वि॒पदे॒ शं चतु॑ष्पदे ॥ ४३ ॥

आ । न॒ः । प्र॒ऽजाम् । ज॒न॒य॒तु॒ । प्र॒जाऽप॑तिः । आ॒ऽज॒र॒साय॑ । स॒म् । अ॒न॒क्तु॒ । अ॒र्य॒मा ।

अदु॑ःऽमङ्गलीः । प॒ति॒ऽलो॒कम् । आ । वि॒श॒ । शम् । न॒ः । भ॒व॒ । द्वि॒ऽपदे॑ । शम् । चतु॑ःऽपदे ॥ ४३ ॥

[पहले दो चरणोंमें **त्वाम्** का अध्याहार करें । **मनुष्यजाः** यहाँ मूल शब्द है आकारान्त **मनुष्यजा** । संभव है कि यहाँ $\sqrt{\text{विद्}}$ को परिभाषिक अर्थमें याने ' पाणिग्रहण करने ' के अर्थमें प्रयुक्त किया गया हो; परवर्ती साहित्य में यही अर्थ प्रचलित हुआ ।]

४१. सोम इसे गन्धर्वको दे चुके; गन्धर्व उसे अग्निको सौंप गए और बादमें धन एवं पुत्रों के साथ अग्निने उसे मुझे दे डाला ।

४२. तुम यहीं (इसी घरमें) रहो; वियुक्त कभी न हो जाओ अपने घरमें पुत्रों एवं पौत्र-प्रपौत्रोंके साथ सानन्द क्रीडा करते हुए तुम दोनों अपने संपूर्ण जीवनका उपभोग करो ।

[यहाँसे ऋचा ४६ तक नवोढ़ाको समर्पित आशिषोंका वर्णन किया गया है ।]

४३. प्रजापति हमारे लिए सन्तानोंका निर्माण करे; अर्यमा हमारे लिए वह (सुदीर्घ आयु) निर्धारित करे जो वृद्धावस्थातक पहुँचे । अपवित्रतासे तनिक भी संपर्क न रखते हुए तुम पतिके घरमें प्रवेश करो (और) हमारे बान्धवों (द्विपाद व्यक्तियों) एवं चौपायों के लिए मङ्गल-कारक बनो ।

[**अदुर्मङ्गलीः**– दे. ' सुमङ्गलीः ' ऋचा । **पतिलोकम्** का अर्थ सायणाचार्य के मतानुसार ' पतिसमीपम् ' है; शायद यहाँ वधूको उसी लोकमें पहुँचनेकी सूचना है जहाँ उसका पति निधनके बाद पहुँच पाता हो । यदि यह सही हो तो यहाँ ऋचा ४२ के पहले चरणकी कल्पनाका ही विस्तार हुआ है ।]

अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः ।
वीरसूर्देवकामा स्योना शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥ ४४ ॥

अघोरऽचक्षुः । अपतिऽघ्नी । एधि । शिवा । पशुऽभ्यः । सुऽमनाः । सुऽवर्चाः ।
वीरऽसूः । देवऽकामा । स्योना । शम् । नः । भव । द्विऽपदे । शम् । चतुःऽपदे ॥ ४४ ॥

इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु ।
दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि ॥ ४५ ॥

इमाम् । त्वम् । इन्द्र । मीढ्वः । सुऽपुत्रान् । सुऽभगाम् । कृणु ।
दश । अस्याम् । पुत्रान् । आ । धेहि । पतिम् । एकादशम् । कृधि ॥ ४५ ॥

सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वाम् भव ।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु ॥ ४६ ॥

सम्ऽराज्ञी । श्वशुरे । भव । सम्ऽराज्ञी । श्वश्र्वाम् । भव ।
ननान्दरि । सम्ऽराज्ञी । भव । सम्ऽराज्ञी । अधि । देवृषु ॥ ४६ ॥

४४. दूषित या दुर्वृत्त चक्षुसे अलग होते हुए तुम पतिके लिए विघातक मत बनो । हमारे गोधनके लिए मनसे उदार एवं रूपसे रोचक बनो । पुत्रोंको जन्म देते, एवं देवोंमें श्रद्धा रखते हुए तुम हमारे बान्धवों (द्विपाद व्यक्तियों) एवं चौपायों के लिए कल्याणकारक बनो ।

४५. हे उदार इन्द्र, इस महिलाको सुपुत्रोंके साथ बड़े भाग्यसे संयुक्त करो । इसे दस पुत्र प्रदान करो और इसके पतिको (उनमें) ग्यारहवाँ (स्थान दे) दो ।

[प्रस्तुत ऋचामें वधूको पुत्रोंके साथ भाग्य प्रदान करनेके लिए इन्द्रसे प्रार्थना क्यों की गई है यह समझना आसान नहीं माना जा सकता । शायद इसका कारण यह है कि इन्द्र उस इन्द्राणीका पति है जो सभी नारियोंमें **सुभगा** है और जिसका पति वृद्धावस्थाके कारण कभी चल नहीं बसता; दे. १०·८६·११ । यहाँ त्वष्टाकी प्रार्थना अधिक समीचीन सिद्ध होती ।]

४६. तुम अपने ससुरकी सम्राज्ञी बनो, सासकी देवी बनो; ननदकी राज्ञी बनो और देवरोंकी संमानित रानी हो जाओ ।

समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ।
सं मातरिश्वा सं धाता समु देष्ट्री दधातु नौ ॥ ४७ ॥

सम्। अञ्जन्तु। विश्वे। देवाः। सम्। आपः। हृदयानि। नौ।
सम्। मातरिश्वा। सम्। धाता। सम्। ऊँ इति। देष्ट्री। दधातु। नौ ॥ ४७ ॥

४७. सभी देवता एवं (पवित्र) जल हम दोनोंके हृदयोंको विभूषित करें, मातरिश्वा, धाता तथा देष्ट्री हम दोनोंमें सामञ्जस्य स्थापित करें।

[**आपः** का अभिप्राय यहाँ **अद्भिः** से है क्योंकि साधनको कर्तृवाचक माना जाता है। **देष्ट्री**- क्या सूर्या यहाँ अन्तिम देवी मानी गई है जो मानवोंमें अपनी प्रतिनिधिरूपी महिलाकी आशिष दे रही है? दे. ऊपर ऋचा १७। शायद यह ध्यान देने योग्य है कि ऋचा १५ का **देष्ट्र** इस सूर्याको मार्गदर्शन करता है।]

९१

१०·९०·१–१६ नारायणः ॥ पुरुषः ॥ १–१५ अनुष्टुप् । १६ त्रिष्टुप् ॥

ऋग्वेदका यह सूक्त बड़ा ही प्रसिद्ध है। इसकी रचनाके समय यज्ञसंस्थाका पर्याप्त प्रचार हो चुका था और यज्ञकर्मको आर्योंके जीवनमें केन्द्रीय स्थान प्राप्त हुआ था। असलमें समूचे संसारकी उत्पत्तिको भी एक तरहका यज्ञ-कर्म माननेकी धारणा प्रचलित थी। इष्टदेवताके चरणोंपर अपनी सर्वोत्तम वस्तुको समर्पित करना यही यागका प्रधान रूप था और आगे चलकर इष्टदेवताकी ही तरह अन्य जीवोंको भी सद्भावनाके साथ ईप्सित वस्तु अर्पित करनेमें इसका परिपाक होता था। इस भावनाकी चरम सीमा तो यही रही कि संपूर्ण सत्ताके रहते हुए भी राजा या सम्राट अपनी समूची शक्ति एवं बुद्धि के साथ साथ संपत्तिका उपयोग प्रधान रूपसे प्रजाके लिए करे और अपने लिए बड़े संयमसे काम ले। प्रस्तुत सूक्तमें यही भावना बड़े कौशलके साथ अभिव्यक्त हुई है। यह ध्यानमें रखना आवश्यक है कि प्रस्तुत सूक्तका विषय है सर्वश्रेष्ठ पुरुषद्वारा स्वयं निर्मित सृष्टिके लिए बड़े स्नेह एवं आनन्द के साथ अपने सर्वस्वका न्योछावर किया जाना। इस सर्वस्वसमर्पणको, इस आत्मयज्ञको आत्मक्लेश या आत्मनाश समझना एक बड़ी भूल होगी। सर्वव्यापी एवं सर्वात्मक पुरुषोत्तमने अपनी आत्मासे विराज् नामके नारी–तत्त्वका और उस नारी-तत्त्वसे पुरुष-तत्त्वका निर्माण किया। इस पुरुष-तत्त्व को यज्ञिय हव्योंकी तरह पूर्णतया समर्पित करके उसने विविध रूप धारण करनेवाली सृष्टिको जन्म दिया। सृष्टिके निर्माणके इस कार्यपर कविने यज्ञकर्मका आरोप किया है। अतः यज्ञका कर्तृत्व साक्षात् पुरुषोत्तमके स्थानपर उसके द्वारा प्रथम निर्मित देवोंपर आरोपित किया गया है। प्रारम्भमें ऋचा १ से ४ तक वर्णित पुरुष ऋचा ५ के विराज्से उत्पन्न पुरुष या पुरुष-तत्त्वसे, मतलब ऋचा ७ के **जातमग्रतः** से भिन्न है। पहला पुरुष अगर स्वयंभू एवं सर्वव्यापी है तो दूसरा प्रारम्भमें **विराज्** से उत्पन्न एवं केवल पृथ्वीसे ही बड़ा है। स्वर्गस्थित देवता पहले पुरुषोत्तमके ही अंश थे लेकिन दूसरे पुरुषका उन्होंने यज्ञिय द्रव्यके रूपमें उपयोग किया। यज्ञमें हव्यके रूपमें समर्पित होनेके उपरान्त दूसरा पुरुष सृष्टिमें परिवर्तित होने लगा और आगे चलकर ऋचा ८ के **चक्रे** इस कर्तृत्ववाचक क्रियाके प्रयोगसे स्पष्ट है कि उक्त परिवर्तन पहले पुरुषकी याने पुरुषोत्तमकी इच्छाके अनुसार ही हो रहा था।

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ १ ॥

सहस्रऽशीर्षा । पुरुषः । सहस्रऽअक्षः । सहस्रऽपात् ।
सः । भूमिम् । विश्वतः । वृत्वा । अति । अतिष्ठत् । दशऽअङ्गुलम् ॥ १ ॥

१. उस आदि पुरुषके सहस्र शिर, सहस्र नेत्र, तथा सहस्र चरण थे; और पृथ्वीको सभी ओरसे घेरकर वह दश अङ्गुल पर्यन्त बाहर ही विद्यमान था।

[**दशाङ्गुलम्**—यहाँ 'दश' शब्द अनियत बहुत्वका बोध कराता है।]

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ २ ॥

पुरुषः । एव । इदम् । सर्वम् । यत् । भूतम् । यत् । च । भव्यम् ।
उत । अमृतऽत्वस्य । ईशानः । यत् । अन्नेन । अतिऽरोहति ॥ २ ॥

एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ ३ ॥

एतावान् । अस्य । महिमा । अतः । ज्यायान् । च । पुरुषः ।
पादः । अस्य । विश्वा । भूतानि । त्रिऽपात् । अस्य । अमृतम् । दिवि ॥ ३ ॥

त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः ।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि ॥ ४ ॥

त्रिऽपात् । ऊर्ध्वः । उत् । ऐत् । पुरुषः । पादः । अस्य । इह । अभवत् । पुनरिति ।
ततः । विष्वङ् । वि । अक्रामत् । साशनानशने इति । अभि ॥ ४ ॥

---

२. जो कुछ हुआ है और जो कुछ आगे होनेवाला है वह सब यही पुरुष है। और यज्ञमें हविर्भागके द्वारा जो अमर्त्य देवोंका समुदाय (भूत और भव्य जगत्‌के) उस पार (स्वर्ग-लोकमें) आरोहण कर रहा है उसपर भी पुरुषका ही अधिकार जमा हुआ है ।

[**अमृतत्व** याने अमर्त्यों (अमरों) का समूह; चौथे चरणके **यत्** से अमृतत्वका ही परामर्श अभिप्रेत है । **अन्न**के माने हैं यज्ञिय हविर्भाग; दे. ऊपर २·३५·१०·१२ । **अतिरोहति** का कर्म है मर्त्य जगत् जो पूर्वार्धके **भूतं भव्यम्** से सूचित हुआ है इसके परे आरोहण करके रहता है; मतलब स्वर्गमें । दे. ऋचा ३ में 'अमृतं दिवि' ।]

३. इस पुरुषका विस्तार इतना महान् है, तो भी वह पुरुष स्वयं इस (विस्तार) की अपेक्षा और भी महान् है । अन्य सभी भूत मिलकर इसकी तुलनामें एक चौथाई ही होंगे और स्वर्गलोकके अमर्त्य देव तीन चौथाई है ।

[**पूरुषः** पहले अक्षरका दीर्घत्व छन्दके लिहाज़ से आया है, अनुष्टुभ् चरणके छठवें अक्षरमें दीर्घत्व अपेक्षित है; दे. ऋचा ५ का दूसरा चरण तथा आगे चलकर १०·९७·४ ।]

४. तीन अंशात्मक यह पुरुष ऊर्ध्वगामी होकर ऊपर (स्वर्गमें देवरूपसे) जाकर रहा है। और इसका एक अंशात्मक भाग (फिर भूतरूपमें परिणत होनेके लिये) यहीं रहा है। और फिर वहाँसे अन्न भक्षण करनेवाले तथा उसके विना जीनेवाले ऐसे उभयविध प्राणियोंकी दिशामें सभी ओरोंसे वह पुरुष फैल गया ।

[पहले चरणमें आठके बदले नौ अक्षर और सातवेंके स्थानपर दो ह्रस्व अक्षर आए हैं । इस चरणमें सातवें अक्षरका दीर्घत्व अपेक्षित है; अतः प्रस्तुत दो ह्रस्व अक्षरोंका उच्चारण एक दीर्घ अक्षरके कालमें करें ।]

तस्माद्विराळजायत विराजो अधि पूरुषः ।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ॥ ५ ॥

तस्मात् । विऽराट् । अजायत । विऽराजः । अधि । पुरुषः ।
सः । जातः । अति । अरिच्यत । पश्चात् । भूमिम् । अथो इति । पुरः ॥ ५ ॥

यत् पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत ।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥ ६ ॥

यत् । पुरुषेण । हविषा । देवाः । यज्ञम् । अतन्वत ।
वसन्तः । अस्य । आसीत् । आज्यम् । ग्रीष्मः । इध्मः । शरत् । हविः ॥ ६ ॥

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः ।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥ ७ ॥

तम् । यज्ञम् । बर्हिषि । प्र । औक्षन् । पुरुषम् । जातम् । अग्रतः ।
तेन । देवाः । अयजन्त । साध्याः । ऋषयः । च । ये ॥ ७ ॥

---

५. इस आदि पुरुषसे विराज् (नामक स्त्री-तत्त्व) का जन्म हुआ और विराज्से (फिर दूसरे) पुरुषका जन्म हुआ । वह (दूसरा पुरुष) जन्म ग्रहण करते ही इस भूमिके आगे और पीछे दोनों ओरसे उससे भी बड़ा होकर रहा ।

[**विराज्** (स्त्री.) वह नारीतत्त्व जिससे दूसरे यज्ञिय पुरुष का जन्म हुआ अथवा **विराज्** को पुल्लिंगी शब्द मानकर उसमें उस तत्त्वका उल्लेख समज लें जो सर्वात्मक मूल पुरुष एवं परवर्ती यज्ञीय पुरुषके बीच में रहा हो । साथ साथ यह भी मानना पड़ेगा कि ये तीनों तत्त्व क्रमशः आकार में लघुतर होते गए । **भूमिम्**—माना कि भूमि अभी भविष्यके गर्भमें है (दे. ऋचा १४); फिर भी पुरुषकी बड़ी विशालताकी ओर संकेत करनेके लिए कविने यहाँ भूमिका उल्लेख किया है ।]

६. जिस समय इस (दूसरे) पुरुषको (पशुरूपी) हवि मानकर पुरातन देवोंने यज्ञ किया, उस समय इस यज्ञमें वसन्त ऋतु आज्य, ग्रीष्म इन्धन, और शरद् हवि (पुरोडाशरूप) के स्थानमें नियुक्त हो गए थे ।

[**हविषा**—पशुरूपी हव्यके रूपमें; दे. ‘ पुरुषं पशुम् ’ ऋचा १५ । वसन्त ग्रीष्म तथा शरद् इन तीनों ऋतुओंका क्रमशः उल्लेख प्रस्तुत ऋचाके साथ बादमें १०·१६१·४ में पाया जाता है । इन तीनोंके अतिरिक्त **हिमा** (शतं हिमाः) में हेमन्त ऋतुका भी उल्लेख हुआ है; लेकिन अन्य दो ऋतुएं ऋग्वेदमें नहीं पाई जातीं । **देवाः**—ये देव असलमें वे सृष्टिके पूर्ववर्ती देव है जिनका उल्लेख ऊपर **त्रिपाद् अमृतं दिवि** में हो चुका है ।]

७. (प्रथम पीढिके) देवोंने सृष्टिके प्रारम्भमें जनमे हुए (इस दूसरे) पुरुषको यज्ञिय (पशुरूपी) हवि मानकर कुशोंपर रखा और प्रोक्षण किया । (तथा) उसकी

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम् ।
पशून् ताँश्चक्रे वायव्यानारण्यान् ग्राम्याश्च ये ॥ ८ ॥

तस्मात् । यज्ञात् । सर्वऽहुतः । सम्ऽभृतम् । पृषत्ऽआज्यम् ।
पशून् । तान् । चक्रे । वायव्यान् । आरण्यान् । ग्राम्याः । च । ये ॥ ८ ॥

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ ९ ॥

तस्मात् । यज्ञात् । सर्वऽहुतः । ऋचः । सामानि । जज्ञिरे ।
छन्दांसि । जज्ञिरे । तस्मात् । यजुः । तस्मात् । अजायत ॥ ९ ॥

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः ।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्माज्जाता अजावयः ॥ १० ॥

तस्मात् । अश्वाः । अजायन्त । ये । के । च । उभयादतः ।
गावः । ह । जज्ञिरे । तस्मात् । तस्मात् । जाताः । अजावयः ॥ १० ॥

सहायतासे जो जो देव, साध्य और ऋषि (उस समय उपस्थित थे) उन्होंने अपने यज्ञका संपादन किया ।

[**यज्ञं** याने यज्ञिय हव्य । **अग्रतः जातं पुरुषं**– दे. ऋचा ५ । **विराज्** का जन्म इसके पहले हुआ था अवश्य; लेकिन वह पुरुष नहीं थी । इसलिए शायद इसे यहाँ **अग्रतः जातं** कहा गया है । प्रस्तुत ऋचामें यह भी मानना पड़ता है कि देवोंके साथ साध्य एवं ऋषि भी सृष्टिके पूर्व विद्यमान थे । **प्रौक्षन्**–प्रोक्षण करके पवित्र किया ।]

८. सभी (हविर्द्रव्यों) के साथ हवन किए गए इस यज्ञिय (पशुरूपी) हविसे पृषदाज्य इकट्ठा हुआ । उस पृषदाज्यसे (उस स्वयंभू पुरुषने) अन्तरिक्ष, अरण्य तथा ग्रामों में संचार करने-वाले पशुओंको उत्पन्न किया ।

[**सर्वहुत्**—' सबका हवन करनेवाला ' । **चक्रे**–उस पुरुषतत्त्वका सर्वतः हवन करनेके उपरान्त उससे पृषदाज्यका निर्माण हुआ और उस पृषदाज्यसे स्वयंभू पुरुषोत्तमने सभी प्रकारोंके प्राणियोंको पैदा किया । **वायव्य पशू** याने पक्षी ।]

९. सभी हविर्द्रव्योंके साथ हवन किए गए उस याज्ञिय पशुरूपी हविसे (अर्थात् तज्जन्य पृषदाज्यसे) ऋचा और साम उत्पन्न हो गये । उसीसे ही छन्दोंका भी निर्माण हुआ और यजुर्वेद भी उसीसे उत्पन्न हुआ ।

[ऋक्, साम तथा यजुस् ये तीनों मन्त्रोंके प्रकार एक स्थानपर पहले पहल यहीं पाए जाते हैं । यह तो स्पष्ट ही है कि इनमें तीन संहिताओंका उल्लेख नहीं है ।]

१०, उसीसे अश्व तथा जिन प्राणियोंकी दोनों (नीचे और ऊपर की) दन्तपङ्क्तियाँ हैं

यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् ।
मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते ॥ ११ ॥

यत् । पुरुषम् । वि । अदधुः । कतिधा । वि । अकल्पयन् ।
मुखम् । किम् । अस्य । कौ । बाहू इति । कौ । ऊरू इति । पादौ । उच्येते इति ॥ ११ ॥

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥ १२ ॥

ब्राह्मणः । अस्य । मुखम् । आसीत् । बाहू इति । राजन्यः । कृतः ।
ऊरू इति । तत् । अस्य । यत् । वैश्यः । पत्ऽभ्याम् । शूद्रः । अजायत ॥ १२ ॥

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत ।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ॥ १३ ॥

चन्द्रमाः । मनसः । जातः । चक्षोः । सूर्यः । अजायत ।
मुखात् । इन्द्रः । च । अग्निः । च । प्राणात् । वायुः । अजायत ॥ १३ ॥

ऐसे (ऊंट आदि) प्राणी भी उत्पन्न हो गये । गायें भी उसीसे पैदा हुईं तथा बकरियाँ और भेड़ें भी वैसे ही पैदा हो गईं ।

११. जिस समय इस पुरुषरूपी यज्ञिय पशुका (आहुति देनेके लिए) (देवोंने) विभाजन किया उस समय कितने भागोंमें उसका (हवन) किया ? उसके मुखका क्या हुआ ? बाहू ऊरूओं का किसमें परिवर्तन हुआ ? उसके चरणोंको क्या कहा गया ?

[**वि । अदधुः** इस पदपाठको अपवाद ही समझें; दे. ऊपर ७·१०३·३ की टिप्पणी । वास्तवमें नियमके अनुसार **वि** उपसर्गमें यहाँ स्वतन्त्र स्वर अपेक्षित नहीं है ।]

१२. उसका मुख वही ब्राह्मण हो गया, उनकी भुजाएँ राजन्य (अथवा क्षत्रिय) बनाई गईं । जो वैश्य होकर उत्पन्न हुआ वे उसकी जाँघें थीं (और) उसके पादोंसे शूद्रका निर्माण हुआ ।

[**राजन्यः कृतः** याने पुरुषेण (कृतः); दे. ऊपर ' चक्रे ' (ऋचा ८) की टिप्पणी ।]

१३. उसके मनसे चन्द्रमा पैदा हुआ और नेत्रोंसे सूर्यका निर्माण हुआ । मुखसे इन्द्र तथा अग्नि (ये दो देव), तथा प्राणसे वायु (वैसे ही) उत्पन्न हो गया ।

[**चक्षोः** = चक्षुषः । स्वरान्त **चक्षु** शब्द सिर्फ़ यहीं पाया जाता है । हाँ, एक ही शब्दके स्वरान्त एवं व्यञ्जनान्त दोनों तरहके रूप ऋग्वेदमें अन्यत्र भी दिखाई देते हैं ।]

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत ।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन् ॥ १४ ॥

नाभ्याः । आसीत् । अन्तरिक्षम् । शीर्ष्णः । द्यौः । सम् । अवर्तत ।
पत्ऽभ्याम् । भूमिः । दिशः । श्रोत्रात् । तथा । लोकान् । अकल्पयन् ॥ १४ ॥

सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः ।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम् ॥ १५ ॥

सप्त । अस्य । आसन् । परिऽधयः । त्रिः । सप्त । समऽइधः । कृताः ।
देवाः । यत् । यज्ञम् । तन्वानाः । अबध्नन् । पुरुषम् । पशुम् ॥ १५ ॥

१४. इसकी नाभिसे अन्तरिक्ष उत्पन्न हुआ और मूर्धासे द्युलोक प्रकट हुआ । पादोंसे भूमि तथा कानोंसे दिशाएँ निर्माण हुईं । इस प्रकार (देवोंने) लोकोंकी रचना की ।

[**अकल्पयन्** के कर्ताके रूपमें ‘ देवाः ’ का अध्याहार करें; दे. ऋचाएं ६, ७, १५ तथा १६ ।]

१५. जिस समय यज्ञ करते हुए देवोंने उस दूसरे पुरुषको यज्ञिय पशु मानकर (यूपमें) बाँध रखा उस समय (उस यज्ञकी अग्निके लिए) सात परिधि और इक्कीस समिधाएँ प्रयुक्त की गई थी ।

[**परिधि** याने प्राकारकी तरह चारों ओर रचित इन्धनोंकी (सात) कतारें । असलमें प्रस्तुत ऋचामें वर्णित वस्तुएं ऋचा ६ तथा ७ में वर्णित प्रसंगसे याने साक्षात् हवनके पहलेकी तैयारियोंसे हैं । फिर भी यह ऋचा यज्ञके कतिपय खास आचार (परिधियों तथा समिधाओं की विशिष्ट संख्या तथा पशुबन्धन) से संबद्ध है और बादकी ऋचामें यह विधान किया गया है कि इस यज्ञके अवसरपर देवों द्वारा स्वीकृत विशिष्ट आचार बादके सभी यज्ञोंके लिए आधार सिद्ध हुए । अतएव उसके कुछ आचारोंके मार्गदर्शनके लिए सिंहावलोकनके तौरपर प्रस्तुत ऋचामें यज्ञके पहलेकी तैयारियोंकी ओर निर्देश किया गया है । यह स्पष्ट है कि ऋचा १६ के ‘तानि धर्माणि’ में प्रस्तुत ऋचामें वर्णित आचारविशेषोंका उल्लेख किया गया है। परवर्ती वेदोंकी संहिताओंमें इस सूक्तकी कई ऋचाएं उद्धृत की गईं हैं जिनकी वजहसे प्रस्तुत पंद्रहवीं ऋचाको कुछ कालके उपरान्त अपने मूल स्थानसे याने ऋचा ६ तथा ७ के सान्निध्यसे च्युत माननेके लिए कोई प्रमाण नहीं है; दे. वाजसनेयि संहिता ३१; अथर्ववेद संहिता १९.६ । तैत्तिरीय आरण्यक ३.१२ यही वह एक मात्र स्थल है जहाँ यह ऋचा प्रस्तुत सूक्तकी छठवीं एवं सातवीं ऋचाके बीच रखी गई है ।

यज्ञेन॑ य॒ज्ञम॑यजन्त दे॒वास्तानि॒ धर्मा॑णि प्रथ॒मान्या॑सन् ।
ते ह॒ नाकं॑ महि॒मान॑: सचन्त॒ यत्र॒ पूर्वे॑ सा॒ध्याः सन्ति॑ दे॒वाः ॥ १६ ॥

य॒ज्ञेन॑ । य॒ज्ञम् । अ॒य॒ज॒न्त॒ । दे॒वाः । तानि॑ । धर्मा॑णि । प्र॒थ॒मानि॑ । आ॒स॒न् ।
ते । ह॒ । नाक॑म् । म॒हि॒मान॑: । स॒च॒न्त॒ । यत्र॑ । पूर्वे॑ । सा॒ध्याः । सन्ति॑ । दे॒वाः ॥ १६ ॥

१६. (पुरुषरूपी) यज्ञिय पशुकी सहायतासे देवोंने अपने यज्ञकी पूर्ति की । उस समय उनके आचारमें परिगणित बातें ही इस विषयके प्रथम नियमके रूपमें सिद्ध हो गईं । (इन्हींके अनुसार किए गए यज्ञोंसे प्राप्त) वे महानताएँ (याने वे महान् यजमान) जिस स्थानपर पुरातन साध्य और (प्रथम पीढ़िके) देव रहते हैं उस नाकलोकमें पहुँच गए हैं ।

[**धर्माणि प्रथमानि**–दे. ‘ (अग्निः) समिध्यमानः प्रथमानु धर्मा ’ ३·१७·१ । **यज्ञं यज्**– ‘ यज्ञको सफल बनाना, उसे पूर्ण करना’; दे. ‘ अध्वरं यज् । १·१·११; १·२६·१ आदि ।]

९२

१०·९७·१–२३ भिषगाथर्वणः ॥ ओषधयः ॥ अनुष्टुप् ॥

प्रस्तुत सूक्तमें एक भिषज ऋषि रोगनिवारणमें सहायक ओषधियोंकी स्तुति कर रहा है। ये ओषधियाँ सोमवल्लीको अपना स्वामी मानकर सोम एवं बृहस्पति के मार्गदर्शनके अनुसार पृथिवीके पृष्ठभागके ऊपर तथा उसके गर्भमें भी निवास करतीं है और रोगोंको भगानेमें भिषज विप्रकी सहायता करते हैं। ये ओषधियाँ वास्तवमें देवियाँ हैं; अतः प्रस्तुत सूक्तके प्रणताने अपने रोगीकी ओरसे उनकी प्रार्थना करते हुए कहा है, कि वे अन्य देवोंके क्रोधसे उत्पन्न रोगोंका भी उनकी कृपा प्राप्त करके निर्मूलन करें। इसी सन्दर्भमें ऋचा ६ में भिषज विप्रकी परिभाषाका तथा ऋचा ५ में उसके द्वारा अपेक्षित दक्षिणाका भी उल्लेख किया गया है। माना कि इस सूक्तमें यज्ञकर्मका साक्षात् उल्लेख प्राप्त नहीं होता; फिर भी यज्ञकर्मकी ही तरह पूरा संदर्भ देवों तथा मानवों के पारम्परिक आदान-प्रदानका ही परिचायक है।

या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा।
मनै नु बभ्रूणामहं शतं धामानि सप्त च॥ १॥

याः। ओषधीः। पूर्वाः। जाताः। देवेभ्यः। त्रिऽयुगम्। पुरा।
मनै। नु। बभ्रूणाम्। अहम्। शतम्। धामानि। सप्त। च॥ १॥

शतं वो अम्ब धामानि सहस्रमुत वो रुहः।
अधा शतक्रत्वो यूयमिमं मे अगदं कृत॥ २॥

शतम्। वः। अम्ब। धामानि। सहस्रम्। उत। वः। रुहः।
अध। शतऽक्रत्वः। यूयम्। इमम्। मे। अगदम्। कृत॥ २॥

---

१. जो देवोंके पूर्व (याने उनकी) तीन पीढ़ियोंके पहले ही उत्पन्न हुईं उन (पुरातन) पीतवर्ण ओषधियोंके एकशत और सात सामर्थ्योंका मैं मनन करता हूँ।

[**त्रियुगम्** को ' **जाताः पुरा** ' से अन्वित करें ('तीन पीढ़ियोंके पहले') अथवा सीधे **जाताः** से उसका अन्वय करके **त्रियुगं** पदको सभी ऋतुओंका उपलक्षण मान लें (इस दशामें अर्थ होगा 'सभी ऋतुओंमें उत्पन्न')। **बभ्रूणाम्**—' फीके पीले रंगकी ओषधियोंका, ' यह पद हरी-हरी एवं प्रफुल्ल वनस्पतियोंका वाचक है। **शतं** तथा **सप्त** का मतलब ' सैंकड़ों ' से है; दे. ऋचा २।]

२. हे माताओं, तुम्हारी शक्तियाँ सैंकड़ों होकर तुम्हारी वृद्धि भी सहस्र (प्रकारोंकी) है। हे शत-सामर्थ्य धारण करनेवालीं औषधियो, तुम, मेरे इस (रुग्ण) पुरुषको निश्चय ही रोगमुक्त करो।

[**रुहः**—' वृद्धियाँ ' याने विकसित होनेके ढंग; विकासके प्रकार। **इमं मे** (पुरुषम्) में रोगीकी ओर निर्देश है; दे. ऋचा ४,५,७ (**अस्मा**), ८, २० (**यस्मै**); तथा २३।

ओषधीः प्रति मोदध्वं पुष्पवतीः प्रसूवरीः ।
अश्वाइव सजित्वरीर्वीरुधः पारयिष्ण्वः ॥ ३ ॥

ओषधीः । प्रति । मोदध्वम् । पुष्पऽवतीः । प्रऽसूवरीः ।
अश्वाःऽइव । सऽजित्वरीः । वीरुधः । पारयिष्ण्वः ॥ ३ ॥

ओषधीरिति मातरस्तद्वो देवीरुप ब्रुवे ।
सनेयमश्वं गां वास आत्मानं तव पूरुष ॥ ४ ॥

ओषधीः । इति । मातरः । तत । वः । देवीः । उप । ब्रुवे ।
सनेयम् । अश्वम् । गाम् । वासः । आत्मानम् । तव । पुरुष ॥ ४ ॥

अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता ।
गोभाज इत् किलासथ यत् सनवथ पूरुषम् ॥ ५ ॥

अश्वत्थे । वः । निऽसदनम् । पर्णे । वः । वसतिः । कृता ।
गोऽभाजः । इत् । किल । असथ । यत् । सनवथ । पुरुषम् ॥ ५ ॥

३. हे औषधियों, (मेरी संगतिमें) आनन्द मानो । तुम खिलनेवाला और फलप्रसवा हो । जोड़ीसे (स्पर्धा या युद्ध) जीतनेवाली घोड़ियोंकी तरह ये लताएँ (आपत्तिके) पार पहुँचनेवालीं हैं ।

[**अश्वा इव सजित्वरीः**—यहाँ **सजित्वरीः** उपमानका विशेषण है । अर्थ है 'स्पर्धामें संमिलित होनेवालीं अथवा युद्धके लिए प्रयुक्त रथमें जोती हुई घोड़ियाँ' । **पारयिष्ण्वः**— (**पारयिष्णू** का स्त्रीलिङ्गी प्रथमा बहुवचन) प्रस्तुत उपमाका साधारण-धर्म है, 'पार पहुँचानेकी अभिलाषा रखनेवालीं' ।

४. हे ओषधियो, माताओ, देवियो, मैं तुम्हारे पास इस प्रकार याचना करता हूँ कि अश्व, गाय, तथा वस्त्र ये (मेरी दक्षिणाके रूपमें) मुझे मिलें । और हे (व्याधिग्रस्त) पुरुष, तुम्हारी आत्मा भी (रोगोंके पंजेसे छूटकर) मेरी वशमें हो जाय ।

[चौथे चरणमें कवि सीधे रोगीसे कह रहा है । **आत्मानं** का अभिप्राय रोगीके रोगवश प्राणसे है; दे. ऋचा ८ । **पूरुष** के दीर्घ पू के लिए दे. ऊपर १०·९०·३ की टिप्पणी ।

५. हे ओषधियो, तुम्हारा विश्रामस्थान अश्वत्थवृक्ष पर है, और तुम्हारे निवासकी योजना पर्णवृक्ष पर की है । अगर तुम इस व्याधिपीड़ित पुरुषको (व्याधियोंके पाशसे मुक्त कर मेरे पास फिर) लाकर दोगे तो (पुरस्कार रूपमें) तुम्हें अनेक गायोंकी प्राप्ति होगी ।

[**पूरुषं सनवथ**—'इस पुरुषको रोगोंके आक्रमणसे यदि मुक्त करके ले आओगी तो' । **गोभाजः असथ** 'तुम दक्षिणाके रूपमें गायोंको प्राप्त कर सकोगी' मतलब, तुम्हारे ज़रिए वे मुझे प्राप्त होंगीं ।

यत्रौषधीः सुमग्मत राजानः समिताविव ।
विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहामीवचातनः ॥ ६ ॥

यत्र । ओषधीः । सम्ऽअग्मत । राजानः । समितौऽइव ।
विप्रः । सः । उच्यते । भिषक् । रक्षःऽहा । अमीवऽचातनः ॥ ६ ॥

अश्वावतीं सोमावतीमूर्जयन्तीमुदोजसम् ।
आवित्सि सर्वा ओषधीरस्मा अरिष्टतातये ॥ ७ ॥

अश्वऽवतीम् । सोमऽवतीम् । ऊर्जयन्तीम् । उत्ऽओजसम् ।
आ । अवित्सि । सर्वाः । ओषधीः । अस्मै । अरिष्टऽतातये ॥ ७ ॥

६. राजा लोग जिस प्रकार राजसभामें संमिलित होते हैं उसी तरह जिस विप्र (की संगति) में सभी ओषधियाँ एकसाथ निवास करतीं हैं उसे लोग भिषग् कहते हैं। वह राक्षसोंका विनाश करके व्याधियोंको भगा देता है।

[**राजानः समिताविव**—यह समिति राजाओंकी मालूम होती है। ओषधियोंकी तुलना राजाओंसे और भिषज विप्रको तुलना समितिसे की गई है। इसके विपरीत ऋ. ९·९२·६ में कलशमें गिरनेवाले सोमकी तुलना समितियोंकी ओर जानेवाले राजाओंसे की गई है। प्रस्तुत ऋचाकी राजाओंकी समितिकी तरह ऋ. १०·११·८ में देवोंकी समितिका उल्लेख हुआ है और १०·१२·८ में 'यस्मिन् अपीच्ये मन्मनि देवाः संचरन्ति' ये शब्द इसी देवसमितिकी ओर निर्देश करते है। इससे प्रतीत होता है कि यह समिति राजाओंकी पारस्परिक गुप्त मन्त्रणका स्थान रही होगी। ऋ. ९·९२·६ की समितिके संबन्धमें यह अनुमान करना उचित होगा कि यह वह स्थान होगा जहाँ राजा मन्त्री एवं प्रजा से मिलते थे। फिर भी संभव है कि दोनों स्थानोंपर बहुवचन उपमानके बहुवचनके कारण प्रयुक्त हुआ होगा जिससे समितिको मन्त्री-परिषद् मानना ही अधिक युक्तियुक्त जँचता है; दे. मनु. ७·५४·७; याज्ञवल्क्य १·३१२। 'समिति' के विपरीत सभा साधारण किन्तु आदरणीय नागरिकोंका मिलनस्थान थी जिसका दूसरा नाम रहा था 'विदथ'। 'विदथ्यवीर' तथा 'सभेय विप्र' के दर्शन ऋग्वेदमें कई बार होते हैं (१·९१·२०; ७·३६·८; २·१४·१३)। यह भी संभव है कि विदथ यज्ञकर्ममें प्रवीण ऋत्विजोंसे संबद्ध रहा होगा और सभा साधारण नागरिकोंसे; क्योंकि १·९१·२० में सोमकी कृपासे प्राप्त पुत्रके लिए 'विदथ्य' एवं 'सभेय' ये दोनों विशेषण साथ ही प्रयुक्त हुए है; साथ साथ दे. ८·४·९। सिवा इनके द्यूतसभा तो अलग ही होती थी; दे. १०·३४ की प्रास्ताविक टिप्पणी। **रक्षोहा** केवल रोगोंका नाश यही ओषधियोंका उपयोग नहीं था; उनके प्रभावसे रोगोंका निर्माण करनेवालीं राक्षसादि नीच योनियोंके साथ साथ देव आदिकी अवकृपा का भी निवारण होता था; दे. ऋचा १६।

७. इस (व्याधिग्रस्त) पुरुषके सभी दुःख नष्ट करनेके उद्देश्यसे अश्व प्राप्त करा देनेवाली, सोमसे संबद्ध, ऊर्ज बढ़ानेवाली तथा ओजस्विनी ऐसी सभी ओषधियाँ मैंने प्राप्त कर ली हैं।

[**अश्ववतीं-सोमवतीम्**—अश्वरूपी दक्षिणा प्राप्त करानेवाली तथा राजा सोमसे संबन्धित (ओषधि)।

उच्छुष्मा ओषधीनां गावो गोष्ठादिवेरते ।
धनं सनिष्यन्तीनामात्मानं तव पूरुष ॥ ८ ॥

उत् । शुष्माः । ओषधीनाम् । गावः । गोस्थात्ऽइव । ईरते ।
धनम् । सनिष्यन्तीनाम् । आत्मानम् । तव । पुरुष ॥ ८ ॥

इष्कृतिर्नाम वो माताथो यूयं स्थ निष्कृतीः ।
सीराः पतत्रिणीः स्थन यदामयति निष्कृथ ॥ ९ ॥

इष्कृतिः । नाम । वः । माता । अथो इति । यूयम् । स्थ । निःऽकृतीः ।
सीराः । पतत्रिणीः । स्थन । यत् । आमयति । निः । कृथ ॥ ९ ॥

अति विश्वाः परिष्ठाः स्तेनइव व्रजमक्रमुः ।
ओषधीः प्राचुच्यवुर्यत् किं च तन्वो३ रपः ॥ १० ॥

अति । विश्वाः । परिऽस्थाः । स्तेनःऽइव । व्रजम् । अक्रमुः ।
ओषधीः । प्र । अचुच्यवुः । यत् । किम् । च । तन्वः । रपः ॥ १० ॥

८. धनलाभकी इच्छा करनेवाली और तुम्हारी (व्याधिग्रस्त) आत्माको अपने वशमें लानेवाली इन औषधियोंकी ये सभी शक्तियाँ, हे रुग्ण पुरुष, उसी प्रकार मेरे पाससे बाहर निकल रही हैं जिस प्रकार गोष्ठमेंसे गायें।

[**इष्कृति**—कमीको दूर करनेवाली; दे. ' इष्कर्ता विहुतं पुनः ' ८.१.१२ । **निष्कृति**—दोषोंको हटानेवाली । **सीराः**—भूमिपर बहनेवाली । **पतत्रिणीः**—पंखोंसे युक्त । अभिप्राय है-' भूमिपर तथा अन्तरिक्षमें संचरण करनेवाले रोगका पीछा करके उसे भगा देनेमें सहायक ' ।

९. (स्वस्थ अवयवोंको अच्छी प्रकार समृद्ध करनेवाली) इष्कृति नामक तुम्हारी माता है और तुम स्वयं निष्कृति (दूषित अवयवोंका निःसारण करनेवाली) हो । तुम बहनेवाली होकर तुम्हारे पंख भी हैं । (रोगीके शरीरमें) रोग निर्माण करनेवाली जो जो बातें हैं उन्हें तुम बाहर निकाल देती हो ।

१०. सभी प्रतिबन्धकोंको तुच्छ मानकर जिस प्रकार (कुशल) चोर गायोंके गोष्ठमें प्रवेश करके (गायोंको भगा देता है) उसी प्रकार हमारी इन ओषधियोंने (रोगीके शरीरमें) प्रवेश किया है और उसके शरीरमें जो कुछ पीड़ा थी उसे (पूर्णतया) बाहर निकाल दिया है ।

[**स्तेन इव व्रजम्**—यहाँ ओषधियोंकी तुलना स्तेन या चोर से और रोगीके शरीरकी व्रज या गोष्ठसे की गई है । साधारण धर्म है ' अनपेक्षित ढंगसे प्रवेश करना '। उत्तरार्धमें यही उपमा आगे बढ़ाई गई है । **गाः** यह उपमान अनुक्त है । चोरकी यही उपमा कहीं कहीं देवोंके लिए प्रयुक्त हुई है; दे. ऊपर ८.२९.६ की टिप्पणी ।]

यदि॒मा वा॒जय॑न्न॒हमोष॑धी॒र्हस्त॑ आद॒धे ।
आ॒त्मा यक्ष्म॑स्य नश्यति पु॒रा जी॑व॒गृभो॑ यथा ॥ ११ ॥

यत् । इ॒माः । वा॒जय॑न् । अ॒हम् । ओष॑धीः । हस्ते॑ । आ॒ऽद॒धे ।
आ॒त्मा । यक्ष्म॑स्य । न॒श्य॒ति । पु॒रा । जी॒व॒ऽगृभः॑ । य॒था ॥ ११ ॥

यस्यौ॑षधीः प्र॒सर्प॒थाङ्ग॑मङ्गं॒ परु॑ष्परुः ।
तत॒ो यक्ष्मं॒ वि बा॑धध्व उ॒ग्रो म॑ध्यम॒शीरि॑व ॥ १२ ॥

यस्य॑ । ओ॒षधीः । प्र॒ऽसर्प॑थ । अङ्ग॑म्ऽअङ्गम् । परुः॑ऽपरुः ।
तत॑ः । यक्ष्म॑म् । वि । बा॒धध्वे । उ॒ग्रः । म॒ध्य॒म॒शीः॑ऽइव ॥ १२ ॥

सा॒कं य॑क्ष्म॒ प्र प॑त॒ चाषे॑ण किकिदी॒विना॑ ।
सा॒कं वात॑स्य॒ ध्राज्या॑ सा॒कं न॑श्य नि॒हाक॑या ॥ १३ ॥

सा॒कम् । य॒क्ष्म॒ । प्र । प॒त॒ । चाषे॑ण । कि॒कि॒दी॒विना॑ ।
सा॒कम् । वात॑स्य । ध्राज्या॑ । सा॒कम् । न॒श्य॒ । नि॒ऽहाक॑या ॥ १३ ॥

११. जिस समय ओषधियोंको शक्तिसंपन्न बनाता हुआ मैं उन्हें अपने हाथमें धारण करता हूँ उसी समय (व्याघ्रके द्वारा) जीवन्त पकड़े जानेके पूर्व ही जिस प्रकार (मृगादिक प्राण बचाकर भाग) जाते हैं उस प्रकार व्याधियोंकी आत्मा ही विनष्ट हो जाती है ।

[**पुरा जीवगृभः**—' ज़िन्दा पकड़े जानेके पहले ' : **जीवगृभ्**—' ज़िन्दा पकड़ना ' । यक्ष्माकी आत्माके लिए प्रयुक्त उपमान (मृगः अथवा स्तेनः) का अध्याहार करें । चोरको ज़िन्दा पकड़नेके लिए उसके पीछे दौड़नेवाले (उसका पीछा करनेवाले) लोगोंका उल्लेख ' उत स्मैनं वस्त्रमथिं न तायुमनु क्रोशन्ति क्षितयो भरेषु ' ४.३८.५ में पाया जाता है ।]

१२. हे ओषधियो, जिस व्याधिपीड़ित पुरुषके अङ्गप्रत्यङ्गोंमें और सभी सन्धियोंमें तुम प्रसृत हो जाती हो उसके उन अङ्ग और सन्धियों से अपने शिकारोंके मध्यमें पड़े रहनेवाले उग्र हिंस्र श्वापदकी तरह तुम उस व्याधिको दूर भगा देती हो ।

[**उग्रो मध्यमशीः**—' उग्र या भयकारी सिंह आदि जो भक्ष्य प्राणियोंके बीच पड़े रहकर सबको भगा देता है ' । झुण्डके बीच प्रवेश करनेवाले हिंस्र पशुके लिए चारों ओरके चौपाये समान रूपसे वध्य होते हैं ; अतः वह किसकी ओर मुड़ेगा यह कहा नहीं जा सकता । इसीसे झुण्डके सभी चौपाये तितर-बितर हो उठते हैं । ठीक उसी तरह रोगीकी देहमें प्रविष्ट रोगोंकी दशा होती है (' मध्यमेषु शेते ') ।]

१३. हे यक्ष्मा, चाष अथवा किकिदीविन् इन पक्षियोंके साथ तुम दूर उड़ जाओ । अथवा वातके तूफ़ान या कुहरे के साथ विनष्ट हो जाओ ।

[**निहाका**—याने कुहासा । ऋचा १२ में रोगपर आक्रमण करनेवालीं ओषधियोंकी प्रार्थना करके प्रस्तुत ऋचामें कवि रोगको तुरन्त भाग जानेका आदेश दे रहा है ।

अन्या वो अन्यामवत्वन्यान्यस्या उपावत ।
ताः सर्वाः संविदाना इदं मे प्रावता वचः ॥ १४ ॥
अन्या । वः । अन्याम् । अवतु । अन्या । अन्यस्याः । उप । अवत ।
ताः । सर्वाः । सम्ऽविदानाः । इदम् । मे । प्र । अवत । वचः ॥ १४ ॥

याः फलिनीर्या अफला अपुष्पा याश्च पुष्पिणीः ।
बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १५ ॥
याः । फलिनीः । याः । अफलाः । अपुष्पाः । याः । च । पुष्पिणीः ।
बृहस्पतिऽप्रसूताः । ताः । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः ॥ १५ ॥

मुञ्चन्तु मा शपथ्यादथो वरुण्यादुत ।
अथो यमस्य पड्बीशात् सर्वस्माद्देवकिल्बिषात् ॥ १६ ॥
मुञ्चन्तु । मा । शपथ्यात् । अथो इति । वरुण्यात् । उत ।
अथो इति । यमस्य । पड्बीशात् । सर्वस्मात् । देवऽकिल्बिषात् ॥ १६ ॥

१४. तुम परस्पर एक दूसरेकी सहायता करो । तुम आपसमें बातचीत करो । (और फिर) सभी एकमत होकर मेरी उस प्रतिज्ञाकी रक्षा करो ।

[**अन्या अन्यस्या उप अवत**—'एक दूसरीका साथ दे'; दे. १०·१४६·२ । पदपाठमें **अन्यस्यै** के बदले **अन्यस्याः** लिखकर सन्धिको पृथक् किया गया है । इसे चतुर्थीके अर्थमें षष्ठी मान लें । **उप** अव् धातु अन्यत्र भी (१·१६१·१०) चतुर्थीके साथ ही प्रयुक्त हुआ है; अथर्ववेद १·१६·२ में भी चतुर्थी प्रयुक्त है ।

१५. जिनमें फल लगते हैं और जिनमें नहीं लगते; जिनमें फूल प्रकट नहीं होते और जिनमें प्रकट होते हैं वे सभी ओषधियाँ बृहस्पतिकी आज्ञा होनेपर हमें इस आपत्तिसे मुक्त करें ।

[**नः** 'मुझे तथा मेरे रोगियोंको' (प्रस्तुत एवं अन्य) । **बृहस्पतिप्रसूताः**—पिछली ऋचामें कवि अपने सूक्तकी सहायताके लिए ओषधियोंकी प्रार्थना करता है; प्रस्तुत ऋचामें वह विश्वासके साथ इस पदसे अपने प्रति सभी सूक्तोंके अभिमानी एवं अधिष्ठाता बृहस्पतिकी कृपाकी दुहाई दे रहा है; दे. ऊपर २·२३·१-२ । **अंहसः** के विवरणके लिए दे. ऋचा १६ ।]

१६. (शत्रुओंकी) शपथोंसे निर्मित या वरुणद्वारा पीछे लगाई गई आपत्तिसे वे मुझे मुक्त करें । उसी प्रकार यमके पादबन्धनसे और देवोंके विरुद्ध किए गए अपराधोंसे भी (वे मुझे मुक्त करें) ।

प्रस्तुत ऋचामें उन सभी कारणोंका निर्देश है जिनके बलपर वैद्यराज ओषधियोंकी सहायतासे रोगियोंको राहत नहीं पहुँचा पाते और रोगी भी रोगयुक्त होनेमें सफलताके भागी नहीं बन सकते । पूर्वार्धमें **अंहसः** का अध्याहार अभीष्ट है । **यमस्य पड्बीशात्** 'पैरकी यमकी शृङ्खलाओंसे' । ऋ. १·१६२·१४ तथा १६ में

अवपतन्तीरवदन् दिव ओषधयस्परि ।
यं जीवमश्नवामहै न स रिष्याति पूरुषः ॥ १७ ॥

अवऽपतन्तीः । अवदन् । दिवः । ओषधयः । परि ।
यम् । जीवम् । अश्नवामहै । न । सः । रिष्याति । पुरुषः ॥ १७ ॥

या ओषधीः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः ।
तासां त्वमस्युत्तमारं कामाय शं हृदे ॥ १८ ॥

याः । ओषधीः । सोमऽराज्ञीः । बह्वीः । शतऽविचक्षणाः ।
तासाम् । त्वम् । असि । उत्ऽतमा । अरम् । कामाय । शम् । हृदे ॥ १८ ॥

या ओषधीः सोमराज्ञीर्विष्ठिताः पृथिवीमनु ।
बृहस्पतिप्रसूता अस्यै सं दत्त वीर्यम् ॥ १९ ॥

याः । ओषधीः । सोमऽराज्ञीः । विऽस्थिताः । पृथिवीम् । अनु ।
बृहस्पतिऽप्रसूताः । अस्यै । सम् । दत्त । वीर्यम् ॥ १९ ॥

पड्बीशं अर्वतः द्वारा मेध्य अश्वके पैरोंकी बेड़ियोंका निर्देश किया गया है । अपराधियोंकी सज़ाके रूपमें प्रयुक्त यमकी बेड़ियोंका उल्लेख सिर्फ़ इसी स्थानपर पाया जाता है ।ऋग्वेदमें अन्यत्र यमका अनुग्रह-कर्ताका रूप ही मुखर हो उठा है ।

१७. स्वर्गलोकसे इधर उधर नीचे पृथ्वीपर अवतरण करती हुई ओषधियोंने प्रतिज्ञा की कि जिस पुरुषका उसके जीवनकी अवधिमें हम स्वीकार करेंगीं वह पुरुष कभी विनष्ट न होगा ।

[**अवपतन्तीः** याने देवोंके स्वर्गलोकसे नीचे उतरती हुईं । बीचमें **ओषधयः** शब्द है सही; फिर भी **परि** को कवि **दिवः** से ही संबद्ध मानना है । इसीलिए संभवतः उसने **ओषधयस्परि** जैसा अनपेक्षित सन्धि कर डाला ।

१८. यहाँ सोम जिनका राजा है, तथा जो बहुसंख्यक होकर शत प्रकारोंकी निपुणताओंसे परिपूर्ण हैं उन सभी ओषधियोंमें तुम ही श्रेष्ठ हो; और हमारी अभिलाषा सफल करने तथा हमारे हृदयको आनन्द देने में समर्थ हो ।

[**शतविचक्षणाः**—(बहुव्रीहि) 'सैंकड़ों कौशलोंसे (विचक्षणं-कौशल) याने कुशलतापूर्ण कार्योंसे युक्त' । **कामाय अरं हृदे शम्** यही अन्वय करें ।]

१९. यह सोम जिनका राजा है, तथा जो ओषधियाँ पृथ्वीके पृष्ठभागपर इधर उधर बिखरी पड़ी हैं वे तुम सभी बृहस्पतिकी आज्ञा हो जानेपर इस (मेरे हाथमें ली गई) ओषधिको अपना अपना वीर्य समर्पित करो ।

[**अस्यै** 'इस हाथमें धारण की हुई ओषधिको' ; दे. ऋ. २१ ।]

मा वो रिषत् खनिता यस्मै चाहं खनामि वः ।
द्विपच्चतुष्पदस्माकं सर्वमस्त्वनातुरम् ॥ २० ॥

मा । वः । रिषत् । खनिता । यस्मै । च । अहम् । खनामि । वः ।
द्विऽपत् । चतुःऽपत् । अस्माकम् । सर्वम् । अस्तु । अनातुरम् ॥ २० ॥

याश्चेदमुपशृण्वन्ति याश्च दूरं परागताः ।
सर्वाः संगत्य वीरुधोऽस्यै सं दत्त वीर्यम् ॥ २१ ॥

याः । च । इदम् । उपऽशृण्वन्ति । याः । च । दूरम् । पराऽगताः ।
सर्वाः । सम्ऽगत्य । वीरुधः । अस्यै । सम् । दत्त । वीर्यम् ॥ २१ ॥

ओषधयः सं वदन्ते सोमेन सह राज्ञा ।
यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्तं राजन् पारयामसि ॥ २२ ॥

ओषधयः । सम् । वदन्ते । सोमेन । सह । राज्ञा ।
यस्मै । कृणोति । ब्राह्मणः । तम् । राजन् । पारयामसि ॥ २२ ॥

२०. (भूमिके उदरमेंसे) तुम्हें खोदकर निकालनेवाला मैं और जिसके लिये तुम्हें मैं खोदकर निकालता हूँ वह रुग्ण पुरुष इन दोनोंको किसी प्रकारका उपद्रव न होने दो। उसी प्रकार हमारे द्विपाद तथा चतुष्पाद प्राणी और अन्य जीव ये सभी तुम्हारी कृपासे नीरोग रहे ।

[**खनिता** याने मैं स्वयं अथवा मेरा प्रतिनिधि । इस शब्दसे स्पष्ट है कि यह विशिष्ट ओषधि असलमें किसी वृक्षकी जड़ रही होगी ।]

२१. हे ओषधिलताओ, तुममेंसे जो मेरा यह वचन सुन रहीं हैं और जो यहाँसे दूर अन्तरपर (अपने अपने कार्यके निमित्त) गईं हैं वे सभी तुम एकत्र संमिलित होकर (मेरे हाथमें ली हुई) ओषधिको अपना अपना वीर्य समर्पित करो ।

[**संगत्य**—दे. समग्मत (ऋचा. ६) ।]

२२. अपना राजा जो सोम उसके पास सभी ओषधियाँ सहमत होकर प्रतिज्ञा करती हैं कि हे राजन् , जिसके लिये यह ब्राह्मण (कविराज) हमें अभिमन्त्रित करता है उसे हम (व्याधियोंसे) पार करा देते हैं ।

[**कृणोति** याने **हस्ते कृणोति** 'हाथमें पकड़ा है' (धारण करता है) । दे. '**हस्ते आदधे**' ऋचा ११ अथवा **संस्कृणोति** (अभिमन्त्रित) या **आ कृणोति** (अभिमुख) करता है ।]

त्वमु॑त्त॒माऽस्योषधे॒ तव॑ वृ॒क्षा उप॑स्तयः।
उप॑स्तिरस्तु॒ सो॒३॒ऽस्माकं॒ यो अ॒स्माँ अ॑भि॒दास॑ति ॥ २३ ॥

त्वम्। उ॒त्ऽत॒मा। अ॒सि॒। ओष॑धे॒। तव॑। वृ॒क्षाः। उप॑स्तयः।
उप॑स्तिः। अ॒स्तु॒। सः। अ॒स्माक॑म्। यः। अ॒स्मान्। अ॒भि॒ऽदास॑ति ॥ २३ ॥

२३. हे ओषधि, तुम सर्वश्रेष्ठ हो। सभी वृक्ष तुम्हारे आज्ञाकारी सेवक हैं। (वैसे ही) जो हमें तकलीफ़ देना चाहता है वह हमारी आज्ञाका वशवर्ती (दास) बनकर रहे।

[**उपस्ति** (उप+स्ति, अस् धातुसे) 'पास रहनेवाला परिचारक'; दे. 'अभिष्टि', 'परिष्टि', 'प्रष्टि' आदि।]

९३

१०·१०७·१–११ दिव्य आङ्गिरसः दक्षिणा वा प्राजापत्यः ॥
दक्षिणा दक्षिणादातारो वा ॥ १–३, ५–११ त्रिष्टुप् । ४ जगती ॥

आविर॑भून्मह॒ि माघो॑नमेषां॒ विश्वं॑ जी॒वं तम॑सो॒ निर॑मोचि ।
मह॒ि ज्योति॑ः पि॒तृभि॑र्द॒त्तमागा॑दु॒रुः पन्था॑ दक्षि॑णाया अदर्शि ॥ १ ॥

आविः । अ॒भूत् । महि॑ । माघो॑नम् । ए॒षाम् । विश्व॑म् । जी॒वम् । तम॑सः । निः । अ॒मो॒चि॒ ।
महि॑ । ज्योति॑ः । पि॒तृऽभि॑ः । द॒त्तम् । आ । अ॒गा॒त् । उ॒रुः । पन्था॑ः । दक्षि॑णायाः । अ॒दा॒र्शि ॥ १ ॥

उ॒च्चा दि॒वि दक्षि॑णावन्तो अस्थु॒र्ये अ॑श्व॒दाः स॒ह ते सूर्ये॑ण ।
हि॒र॒ण्य॒दा अ॑मृत॒त्वं भ॑जन्ते वा॒सो॒दाः सो॑म॒ प्र ति॑रन्त॒ आयु॑ः ॥ २ ॥

उ॒च्चा । दि॒वि । दक्षि॑णाऽवन्तः । अ॒स्थुः॒ । ये । अ॒श्व॒ऽदाः । स॒ह । ते । सूर्ये॑ण ।
हि॒र॒ण्य॒ऽदाः । अ॒मृ॒त॒ऽत्वम् । भ॒ज॒न्ते॒ । वा॒सः॒ऽदाः । सो॒म॒ । प्र । ति॒र॒न्ते॒ । आयु॑ः ॥ २ ॥

१. इनकी महिमामयी वदान्यता प्रकट हो चुकी। समूचा जीवित विश्व अंधकारसे मुक्त हो उठा। पूर्वजों द्वारा प्रदत्त महान् ज्योतिका आगमन हुआ। दक्षिणाका प्रशस्त (चौड़ा) पथ दिखाई दिया।

[**एषाम्** याने आश्रयदाताओंकी। **माघोनम्** से यही सूचित होता है। **जीवम्** यहाँ नपुंसकलिङ्ग है। **तमसः**–बाहरी (क्योंकि सुबहका समय है) और भीतरी भी (क्योंकि क्लेश एवं चिन्ताएँ भी नष्ट होती हैं)। भीतरी अंधकारके लिए दे. ५·३१·९। इसी तरह **महि ज्योतिः** भी उषाके साथ साथ दक्षिणासे उत्पन्न ज्ञानकी ज्योतिकी ओर संकेत करती है। **उरुः पन्थाः**—क्या यह १०·११७·५ के 'द्राघीयान् पन्था' से किसी रूपमें संबद्ध है? दक्षिणाका पथ चौड़ा या प्रशस्त इसलिए कहलाता है कि उसमें दाता तथा ग्रहीता दोनोंके जीवनका साथ देनेकी क्षमता रहती है। इसके विपरीत 'दूरतर या द्राघीयान्' पथ या मार्ग मानवके उस समूचे जीवनकी ओर संकेत करता है जो अनपेक्षित चढ़ावों एवं उतारों से युक्त होता है।]

२. दक्षिणाके प्रदाता स्वर्गमें ऊँचाईपर खड़े हुए हैं। जो अश्वोंके दाता हैं वे सूर्यके साथ रहते हैं। हिरण्यके दानी अमृतत्वके भागी होते हैं। और हे सोम, वस्त्र प्रदान करनेवाले अपनी आयुको बढ़ा लेते हैं।

[**दक्षिणा** समूचे सूक्तमें एक अमूर्त कल्पना है जो 'दानशीलता' की ओर संकेत करती है। अतः पहला चरण वास्तवमें एक सूक्ति है। **अश्वदाः......सूर्येण**—दोनोंका संबन्ध प्रतीकरूप है। सूर्यको हमेशा 'एक अश्व' माना गया है। **अमृतत्वम्** वह गौण अमरता है जो सन्तानकी उत्पत्तिसे प्राप्त होती है; दे. 'अनूचीना जीविता' ४·५४·२। यह चौथे चरणके लिए सर्वथा अनुकूल है; दे. १·१२५·६। **सोम** को रुपाहके रूपमें संबोधित किया गया है; क्योंकि सोम-यज्ञमें ही दक्षिणा कार्य करती है; दे. १·१२५·३।

दैवी पूर्तिर्दक्षिणा देवयज्या न कवारिभ्यो नहि ते पृणन्ति ।
अथा नरः प्रयतदक्षिणासोऽवद्यभिया बहवः पृणन्ति ॥ ३ ॥

दैवी । पूर्तिः । दक्षिणा । देवऽयज्या । न । कवऽअरिभ्यः । नहि । ते । पृणन्ति ।
अथ । नरः । प्रयतऽदक्षिणासः । अवद्यऽभिया । बहवः । पृणन्ति ॥ ३ ॥

शतधारं वायुमर्कं स्वर्विदं नृचक्षसस्ते अभि चक्षते हविः ।
ये पृणन्ति प्र च यच्छन्ति संगमे ते दक्षिणां दुहते सप्तमातरम् ॥ ४ ॥

शतऽधारम् । वायुम् । अर्कम् । स्वःऽविदम् । नृऽचक्षसः । ते । अभि । चक्षते । हविः ।
ये । पृणन्ति । प्र । च । यच्छन्ति । सम्ऽगमे । ते । दक्षिणाम् । दुहते । सप्तऽमातरम् ॥ ४ ॥

३. दक्षिणा देवों द्वारा (मनुष्योंको) दिया गया अनुदान है और देवोंको दिया गया उपहार भी । कृपण आश्रयदाताओंके लिए यह अप्राप्य है क्योंकि वे पूरी तौरसे नहीं देते । इसके विपरीत बहिष्कृत होनेके भयसे उदार अनुदान देनेवाले आश्रयदाता कई होते हैं जिनकी दान-शीलता हमेशा फैलती रहती है ।

[**दैवी** ' देवोंकी ' ' देवों द्वारा कृत ' । **देवयज्या** में अगर देव दक्षिणाके विषय है तो **दैवी पूर्ति-** में वे उसके कर्ता हैं; दे. १·१२५·४ तथा नीचे ऋचा ४ । दक्षिणा अर्थात् यज्ञद्वारा ही दी जाती है । प्रस्तुत कल्पना भगवद्गीताके तीसरे अध्यायके ' देवान् भावयतानेन...... ' से लेकर ' तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ' तक के पांच श्लोकोंके अर्थसे समानता रखती है । ऋ. १०·११७·५ में मानव एवं मानवके बीच आदान-प्रदानकी जो कल्पना है वह अर्थात् इससे भिन्न है । **कवारि** तथा **प्रयत-दक्षिण** दोनों प्रकारोंके आश्रय-दाताओंमें विरोध बतलाया गया है; दक्षिणा इनमेंसे दूसरेके लिए याने **प्रयतदक्षिण** आश्रयदाताओंके लिए प्राप्य है; मतलब उन्हींको फल प्रदान करती है **कवारि** के लिए नहीं । **पृणन्ति**—√पृ के माने हैं पूरी तौरसे दे डालना; सिर्फ़ देना नहीं । मतलब, √पृ ' निरेके दा ' से समानता रखता है; यही धातु १०·११७·४,५,७,९ तथा १·१२५·४·५·७ में प्रयुक्त किया गया है । **अवद्य** को १·११५·६ में ' अंहस् ' तथा १·१८५·१० में ' दुरिता ' से समानार्थक माना गया है और १·१६७·८ तथा ४·४·१५ में यह √पा के साथ प्रयुक्त हुआ है । इससे सूचित होता है कि **अवद्य** का संबन्ध अधिकतर बिरादरीसे बहिष्कृत होनेसे है; सिर्फ़ सार्वजनिक निन्दा या अकीर्ति से नहीं । इसकी तुलना वास्तवमें १·१६७·८ तथा २·४१·१६ के ' अप्रशस्त ' से की जा सकती है ।

४. मानवोंके पर्यवेक्षक हविर्द्रव्यको, (पर्जन्यकी) सहस्रों धाराओंको भेजनेवाले वायु अथवा (मानवोंके लिए) प्रकाश ले आनेवाले सूर्यकी तरह मानते हैं । उदारताके साथ देनेवाले तथा (याचकोंके) समुदायोंकी विशेष रूपसे सहायता करनेवाले व्यक्ति सात माताओंवाली दक्षिणाका दोहन करते हैं ।

[**√अभि+चक्ष्** धातु अभि+√स्पश् (३· ४८·३) की तरह ' किसी एक वस्तुको अन्य वस्तु मान लेने ' के अर्थमें प्रयुक्त होता है; **हविः** यहाँ उस यज्ञकी ओर संकेत करता है जिसमें दक्षिणा दी जानेवाली है; दे. ऋचा २ में ' सोम ' की टिप्पणी । पर्जन्यको ले आनेवाली वायु तथा सूरजका प्रकाश देनेवाला सूर्य

दक्षिणावान् प्रथमो हूत एति दक्षिणावान् ग्रामणीरग्रमेति ।
तमेव मन्ये नृपतिं जनानां यः प्रथमो दक्षिणामाविवाय ॥ ५ ॥

दक्षिणाऽवान् । प्रथमः । हूतः । एति । दक्षिणाऽवान् । ग्रामऽनीः । अग्रम् । एति ।
तम् । एव । मन्ये । नृऽपतिम् । जनानाम् । यः । प्रथमः । दक्षिणाम् । आऽविवाय ॥ ५ ॥

तमेव ऋषिं तमु ब्रह्माणमाहुर्यज्ञन्यं सामगामुक्थशासम् ।
स शुक्रस्य तन्वो वेद तिस्रो यः प्रथमो दक्षिणया रराध ॥ ६ ॥

तम् । एव । ऋषिम् । तम् । ऊँ इति । ब्रह्माणम् । आहुः । यज्ञऽन्यम् । सामऽगाम् । उक्थऽशासम् ।
सः । शुक्रस्य । तन्वः । वेद । तिस्रः । यः । प्रथमः । दक्षिणया । रराध ॥ ६ ॥

दोनों यशके ही कारण क्रिया-प्रवण होते हैं; दे. ऋचा ३ की टिप्पणी । **संगमे**—सुयोग्य अनुदान पानेके इच्छुक ब्राह्मणोंका समुदाय या समूह; दे. संगमेषु १०·१३१·३ तथा संगत्यम् १०·१४१·४ । अथवा इसे **संगथ** (धन या संपत्तिके एकत्रित होना) का पर्यायवाचक मानना भी संभव है; तब इसका अर्थ होगा 'जब आश्रयदाता पर्याप्त धनसे युक्त हो' । ऋ. १·९६·६ में अग्निको तथा १०·१२५·३ में वाक् को 'संगमनो (संगमनी) वसूनाम्' कहा गया है जिनकी कृपासे मानव रत्नों तथा निधियों से समन्वित होते हैं। **सप्तमातरम्**—'सात माताओंकी कन्या' याने वह जिसे दूध देनेकी सातगुनी शक्ति विरासतमें मिली हो। ऋग्वेदमें इसी तरहके शब्द हैं—'सप्तरश्मि' 'सप्तास्य' जिनका क्रमशः अर्थ होता है 'आगे बढ़नेकी वह शक्ति जो कभी समाप्त न होती हो (जिसपर नियन्त्रण रखना बहुत ही दूभर हो) तथा 'प्रकाण्ड पाण्डित्य' । मतलब **सप्त** विपुलताका वाचक है; केवल संख्या (७) का नहीं । इस तरह यहाँ भी 'सप्तमातरम्' यह विशेषण दूध देनेकी असीम या अपरिमित शक्तिका बोध कराता है ।]

५. उदाराशय व्यक्ति बुलाए जानेपर (अन्य लोगोंसे) पहले चला जाता है । उदाराशय मानव (सैनिकोंके) समूहका नेता बनकर (अपने लोगोंका) अगुआ बनता है । मैं केवल उसीको नृपति मानता हूँ जो अगुआ बनकर दक्षिणा प्रदान करता है ।

[**हूतः एति**—'सम्मानके साथ बुलाए जानेके कारण आगे बढ़ता है' । यह निमन्त्रण वास्तवमें एक पारितोषिक माना गया है; इसलिए इसे 'सहायताके लिए बुलाए जाने' के अर्थमें मानना असमीचीन होगा । मतलब, यहाँ सभाम् का अध्याहार करके इसकी तुलना 'चन्द्रो याति सभामुप' ८·४·९; 'सभासाहेन सख्या आगतेन' १०·७१·१० तथा 'ये अहूताः तान् जिग्युः' ऋचा ९ के साथ करें । **ग्रामणीः**—दे. 'गव्यन् ग्रामः' १·१००·१०, ३·३३·११, १०·२७·१९ के साथ साथ 'ग्रामजितः नरः' ५·५४·८ और 'महाग्रामः' १०·७८·६ । **आ विवाय** '(दक्षिणा) की ओर चला गया', 'दक्षिणासे संयुक्त हुआ' ।

६. उसी व्यक्तिको वे ऋषि, ब्रह्मा, यज्ञका नेता, सामोंका उद्गाता एवं ऋचाओंका पठन-कर्ता भी कहते हैं। वही व्यक्ति प्रकाशमान तत्त्वके तीनों रूपोंका ज्ञाता है जिसने सर्वप्रथम होकर पर्याप्त दक्षिणा प्रदान की हो ।

[विपुल या आवश्यकतासे अधिक धन रखनेवाला ब्राह्मण भी दक्षिणा देनेपर बाध्य होता है। भाष्यकारका यह कथन बिल्कुल सही है; ओल्डेनबर्गने उन्हींका अनुवरण किया है । यहाँ कवि दक्षिणा देनेवालेकी सराहना

दक्षिणाश्वं दक्षिणा गां ददाति दक्षिणा चन्द्रमुत यद्धिरण्यम् ।
दक्षिणान्नं वनुते यो न आत्मा दक्षिणां वर्म कृणुते विजानन् ॥ ७ ॥

दक्षिणा । अश्वम् । दक्षिणा । गाम् । ददाति । दक्षिणा । चन्द्रम् । उत । यत् । हिरण्यम् ।
दक्षिणा । अन्नम् । वनुते । यः । नः । आत्मा । दक्षिणाम् । वर्म । कृणुते । विऽजानन् ॥ ७ ॥

न भोजा मम्रुर्न न्यर्थमीयुर्न रिष्यन्ति न व्यथन्ते ह भोजाः ।
इदं यद्विश्वं भुवनं स्वश्चैतत् सर्वं दक्षिणैभ्यो ददाति ॥ ८ ॥

न । भोजाः । मम्रुः । न । निऽअर्थम् । ईयुः । न । रिष्यन्ति । न । व्यथन्ते । ह । भोजाः ।
इदम् । यत् । विश्वम् । भुवनम् । स्व१रिति स्वः । च । एतत् । सर्वम् । दक्षिणा । एभ्यः । ददाति ॥८॥

भोजा जिग्युः सुरभिं योनिमग्रे भोजा जिग्युर्वध्वं१ या सुवासाः ।
भोजा जिग्युरन्तःपेयं सुराया भोजा जिग्युर्ये अहूताः प्रयन्ति ॥ ९ ॥

भोजाः । जिग्युः । सुरभिम् । योनिम् । अग्रे । भोजाः । जिग्युः । वध्वम् । या । सुऽवासाः ।
भोजाः । जिग्युः । अन्तःऽपेयम् । सुरायाः । भोजाः । जिग्युः । ये । अहूताः । प्रऽयन्ति ॥ ९ ॥

करना चाहता है; उसे लेनेवालेकी नहीं । पहले दो चरणोंमें बतलाया गया है कि जो ब्राह्मण दक्षिणा देनेमें समर्थ है और जो देता है उसमें चारों प्रमुख ऋत्विजोंके गुणोंका समाहार होता है । बादमें यह कहा गया है कि वही ब्राह्मण (तीनों लोकोंमें) प्रकाशमान अग्निके, यज्ञके उस मूल आधारके, तीनों रूपोंका ज्ञान प्राप्त करता है । **शुक्र**–यह शब्द यहाँ खासकर यज्ञके सन्दर्भमें अग्निकी ओर संकेत करता है इसमें कोई सन्देह नहीं है ।]

७. दक्षिणा अश्व प्रदान करती है, गायको अर्पित करती है और वही जगमगानेवाले हिरण्यको समर्पित करती है । दक्षिणा उस अन्नको प्राप्त करती हो जो हमारी आत्मा है । ज्ञानवान् व्यक्ति दक्षिणाको अपना कवच बनाता है ।

[दक्षिणाका अभिप्राय यहाँ दानशीलतासे, दान देनेकी प्रवृत्तिसे है । **यो न आत्मा** में **यः** अन्नकी ओर संकेत करता है; दे. ' आत्मा पितुः ' ८·३·२४ ।]

८. उदार आश्रयदाता कभी मृत नहीं होते; वे ग़लत स्थानपर कभी नहीं पहुँचे । न (ये) दानशील आश्रयदाता कभी हानि या अपकार के भाजन होते हैं; न किसी प्रकारकी अस्थिरताका विषय । दक्षिणा इन्हें यह सब कुछ याने संपूर्ण विश्व तथा सूर्यका प्रकाश समर्पित करती है ।

[**न मम्रुः** अर्थात् ' यशकी दृष्टिसे ' ।]

९. दानी आश्रयदाताओंने औरोंके पहले सुखद निवास-स्थान पा लिया; उन्होंने सुन्दर वेष पहनी हुई वधूको भी जीत लिया । उदार आश्रयदाता सुराके यथेष्ट पानका भी अनुभव कर

भोजायाश्वं सं मृजन्त्याशुं भोजायास्ते कन्या३ शुम्भमाना।
भोजस्येदं पुष्करिणीव वेश्म परिष्कृतं देवमानेव चित्रम् ॥ १० ॥

भोजाय। अश्वम्। सम्। मृजन्ति। आशुम्। भोजाय। आस्ते। कन्या। शुम्भमाना।
भोजस्य। इदम्। पुष्करिणीऽइव। वेश्म। परिऽकृतम्। देवमानाऽइव। चित्रम् ॥ १० ॥

भोजमश्वाः सुष्ठुवाहो वहन्ति सुवृद्रथो वर्तते दक्षिणायाः।
भोजं देवासोऽवता भरेषु भोजः शत्रून्त्समनीकेषु जेता ॥ ११ ॥

भोजम्। अश्वाः। सुष्ठुऽवाहः। वहन्ति। सुऽवृत्। रथः। वर्तते। दक्षिणायाः।
भोजम्। देवासः। अवत। भरेषु। भोजः। शत्रून्। सम्ऽअनीकेषु। जेता ॥ ११ ॥

चुके और उन्होंने उन (प्रतिद्वन्द्वियोंपर) पर भी विजय पाई जो गर्वके साथ बिना बुलाए (परिषदमें) पहुँचते हैं।

[प्रस्तुत ऋचाके चोथे चरणमें **जिग्युः** तथा **अहूताः** (बिना बुलाए आए हुए व्यक्ति) ये शब्द स्वयंवरमें कन्याके पाणिग्रहणके लिए विभिन्न राजाओंको बुलाए जानेकी प्रथाको सूचित करते हैं। उषाके स्वर्गीय स्वयंवरसे सूचित होता है कि यह प्रथा प्राचीन कालसे प्रचलित रही होगी। सुरभि– (√रभ् – स्पर्श करना; दे. 'परि रभ', 'आ रभ' आदि)–स्पर्शके लिए सुखद; **योनि** 'घर', 'विश्राम-स्थल'। **अन्तःपेयम्** वह पेय जो शरीरके भीतर दूरतक पहुँचता हो; हृदयको आनन्द-मग्न करानेवाला पेय। **सुरा**–धनिकोंका प्रिय, मादक पेय था जो लोगोंको अपने वशमें कर लेता था; वे उसके आदी होते थे।

१०. वे (याने अनुचर) उदार आश्रयदाताके लिए चपल अश्वकी देखभाल करते हैं; सुचारु रूपसे अलंकृत युवती उदार आश्रयदाताकी राह देखती है। उदार आश्रयदाताका यह प्रासाद खिले हुए कमलोंसे युक्त एवं रमणीय जलाशयके समान है और स्वर्गमें देवोंके प्रासादोंकी तरह सुष्ठु अलंकृत तथा चेतोहर है।

[**पुष्करिणी**—यह खास तौरसे बनाया गया तालाब मालूम होता है जिसमें कमलिनियाँ विद्यमान रहीं हों। **देवमाना** (नपुं. बहु.)–मान (√मा)'बनवाई गई ईमारत'; बड़ा प्रासाद। दे. वरुणका 'बृहत् मान' १·७·८८·५ तथा 'देवानां माने' १०·२७·२३।]

११. सुचारु रूपसे शिक्षित अश्व उदार आश्रयदाताको वहन करते हैं। सहजभावसे आगे बढ़ानेवाला दक्षिणाका रथ उसके लिए अग्रगामी होता है। हे देवो, अभियानोंमें हमारे आश्रयदाताकी सुरक्षा करो; वह उदार आश्रयदाता युद्धोंमें हमारे शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर लेता है।

[**भर** याने अभियान वह आक्रमक युद्ध है जिसमें शत्रुसे कुछ बलपूर्वक छीन लेनेकी आकाङ्क्षा रहती है। इसके विपरीत **समनीक** (सम्+अनीक) दो प्रतिद्वन्द्वी दलोंका आमने-सामने होनेवाला वह पूर्व-नियोजित युद्ध है जिसमें अकस्मात् आक्रमणका कोई प्रश्न नहीं उठता।]

९४

१०·१०८·१–११; १, ३, ५, ७, ९ पणयोऽसुराः । २, ४, ६, ८, १०-११ सरमा देवशुनी ॥ त्रिष्टुप् ॥

प्रस्तुत संवाद–सूक्त पणि एवं सरमाके वार्तालापके रूपमें बड़ा प्रसिद्ध है । पणि देवोंके शत्रु थे । उन्होंने इन्द्रादि देवोंके सोमपानके लिए आवश्यक दूध प्रदान करनेवालीं गायोंको चुराकर उन्हें रसा नामकी बड़ी नदीके पार बसे हुए द्वीपमें स्थित कांजीहौसमें रख दिया । इस कांजीहौसके तलमें एक बड़ी अभेद्य चट्टान भी थी । गायोंके अन्वेषणके लिए देवोंने सरमा नामकी अपनी कुत्तीको (देवशुनीको) भेजा । उसने पणियोंके स्थानका ठीक पता लगाया और उन्हें देवोंकी चुराई हुई गायोंको लौटानेकी सलाह दी । पहले पहल पणियोंने रिश्वत देकर सरमाको अपने वशमें करना चाहा । बादमें अपनी विशाल सामर्थ्यकी दुहाई देकर उसे डाँटने एवं डरानेकी ख़ूब कोशिश की, फिर भी सरमा टस से मस नहीं हुई ।

वलासुर द्वारा देवोंकी गायोंके भगाए जानेकी कथाका उल्लेख ऋग्वेदमें कई बार आता है । पणि नामके वलके अनुयायियोंका उल्लेख भी ऋ. २·२४·६ तथा ६·३९·२ में पाया जाता है । ऋ. १०·६७·६ में वलको ही पणि कहा गया है और १·३२·११ की ' निरुद्धा आपः पणिनेव गावः ' इस उपमामें भी पणिका अभिप्राय निश्चय ही वलसे मालूम होता है । फिर भी ये दो कथाएं वैसे अलग अलग ही हैं । वलकी कथामें न सरमाका उल्लेख कहीं भी पाया जाता है; न रसा नदीका । इसी तरह पणि–सरमा के संवादपर आधारित कथामें वलका नाम भी नहीं लिया जाता । पणियोंके कांजीहौसमें सिर्फ़ गौएं रहतीं है; वलकी गुहामें गौओंके साथ साथ उषा, अग्नि, एवं सूर्य के भी घेरे जानेकी कथा वर्णित है । और एक बात यह भी है कि वलकी कथामें उसके शरीरका या उसकी कर्मेन्द्रियों या ज्ञानेन्द्रियों का वर्णन कभी नहीं किया जाता, इसके विपरीत पणि अतीव संवाद–कुशल व्यक्ति तथा बडे योद्धाओंके रूपमें वर्णित हैं ।

किमिच्छन्ती सरमा प्रेदमानड् दूरे ह्यध्वा जगुरिः पराचैः ।
कास्मेहितिः का परितक्म्यासीत् कथं रसाया अतरः पयांसि ॥ १ ॥

किम् । इच्छन्ती । सरमा । प्र । इदम् । आनट् । दूरे । हि । अध्वा । जगुरिः । पराचैः ।
का । अस्मेऽहितिः । का । परिऽतक्म्या । आसीत् । कथम् । रसायाः । अतरः । पयांसि ॥१॥

१. पणिः—किस इच्छासे यह सरमा यहाँ आ गई है ? (इधर आनेका) मार्ग अति दूरीसे निकलकर बहुत दूर फैला होनेसे श्रान्त, क्लान्त करानेवाला है । हमारे पास तुम्हारा क्या काम है ?

[**इदं** को या तो ' **इदं स्थानम्** ' के अर्थमें अथवा ' यहाँ ' के अर्थमें एक अव्यय मान लें । **जगुरिः** (' गॄ ' गिरति) ' निगलनेवाला ' ' थकानेवाला ' । **पराचैः** ' बहुत दूर '; **पराच** की तृतीया

इन्द्रस्य दूतीरिषिता चरामि मह इच्छन्ती पणयो निधीन् वः ।
अतिष्कदो भियसा तन्न आवत्तथा रसाया अतरं पयांसि ॥ २ ॥

इन्द्रस्य । दूतीः । इषिता । चरामि । महः । इच्छन्ती । पणयः । निऽधीन् । वः ।
अतिऽस्कदः । भियसा । तत् । नः । आवत् । तथा । रसायाः । अतरम् । पयांसि ॥ २ ॥

कीदृङ्ङिन्द्रः सरमे का दृशीका यस्येदं दूतीरसरः पराकात् ।
आ च गच्छान्मित्रमेना दधामाथा गवां गोपतिर्नो भवाति ॥ ३ ॥

कीदृङ् । इन्द्रः । सरमे । का । दृशीका । यस्य । इदम् । दूतीः । असरः । पराकात् ।
आ । च । गच्छात् । मित्रम् । एन । दधाम । अथ । गवाम् । गोऽपतिः । नः । भवाति ॥ ३ ॥

नाहं तं वेद दभ्यं दभत् स यस्येदं दूतीरसरं पराकात् ।
न तं गूहन्ति स्रवतो गभीरा हता इन्द्रेण पणयः शयध्वे ॥ ४ ॥

न । अहम् । तम् । वेद । दभ्यम् । दभत् । सः । यस्य । इदम् । दूतीः । असरम् । पराकात् ।
न । तम् । गूहन्ति । स्रवतः । गभीराः । हताः । इन्द्रेण । पणयः । शयध्वे ॥ ४ ॥

अव्ययके रूपमें । दूरे **पराचैः**– ' बहुत दूर '; दे. ऊपर ' आरे पराचैः ' ६·७४·२ । **अस्मेहितिः** (दे. पुरोहितिः) ' हमारे पास रखी हुई धरोहर ', ' हमसे कोई प्रयोजन ' । **परितक्म्या** (√परि+तक्) 'संकट', ' आपत्ति ', ' रुकावट '; दे. ऊपर १·११६·१५ ।]

२. हे पणियो, इन्द्र द्वारा भेजी हुई दूती बनकर तुम्हारे विशाल निधियोंकी अभिलाषासे मैं (इधर) भ्रमण कर रही हूँ । उस समय (अपनी विशाल धाराका, स्वयं अपनी ओरसे मार्ग न देनेपर एक साधारण शुनीके द्वारा) अतिक्रमण होगा इस भीतिसे (इस रसाने) मुझे सहायता दी और इस प्रकार मै रसा नदीका (गहरा) जल तैर कर आई हूँ ।

[**अतिस्कद्**–' उड़ानकी सहायतासे लाँघना ', ' उसके भयसे ' मतलब 'वह संपन्न होगा इस भयसे'। **तत्**–' तदा, उस समय ', । **आवत्** के कर्ताके रूपमें रसाका अध्याहार ।]

३. पणिः––हे सरमे, जिस इन्द्रकी दूती बनकर तुम इतनी दूरीसे इस स्थानपर आई हो वह इन्द्र कैसा है और उसका रूप कैसा दिखाई देता है ? अगर वह हमारे यहाँ आएगा तो हम उसके साथ मित्रता करेंगे और फिर तो (हमारे साथ) वह हमारी गायोंका स्वामी भी होगा ।

[**मित्रं √धा**– दे. ' मित्रं √कृ १०·३४·१४ ।]

४. सरमाः––जिसकी दूती होकर मैं इतनी दूरीसे इस स्थानपर आई हूँ वह इन्द्र (इस प्रकार) वञ्चित किया जाय यह बात मुझे ठीक नहीं लगती; प्रत्युत वही तुम्हें फँसाएगा । (रसाकी तरह) गहरे जलसे बहनेवाली नदियाँ भी उसे रोक नहीं सकतीं । हे पणियो, (भली भाँति सोच लो नहीं तो) इन्द्रका शिकार बनकर तुम धराशायी होकर रहोगे ।

इमा गावः सरमे या ऐच्छः परि दिवो अन्तान्त्सुभगे पतन्ती ।
कस्त एना अव सृजादयुध्व्युतास्माकमायुधा सन्ति तिग्मा ॥ ५ ॥

इमाः । गावः । सरमे । याः । ऐच्छः । परि । दिवः । अन्तान् । सुऽभगे । पतन्ती ।
कः । ते । एनाः । अव । सृजात् । अयुध्वी । उत । अस्माकम् । आयुधा । सन्ति । तिग्मा ॥ ५ ॥

असेन्या वः पणयो वचांस्यनिषव्यास्तन्वः सन्तु पापीः ।
अधृष्टो व एतवा अस्तु पन्था बृहस्पतिर्व उभया न मृळात् ॥ ६ ॥

असेन्या । वः । पणयः । वचांसि । अनिषव्याः । तन्वः । सन्तु । पापीः ।
अधृष्टः । वः । एतवै । अस्तु । पन्थाः । बृहस्पतिः । वः । उभया । न । मृळात् ॥ ६ ॥

[**गूहन्ति**-√गूह्-' छिपाना '; 'आँखोंसे परे रखना' मतलब, ' रोकना '; ' आगे बढ़ने न देना'। **शयध्वे**-यह वह वर्तमानकालवाचक रूप है जो अत्यन्त निकटवर्ती भविष्यकालको सूचित करता है ।]

५. पणिः--इस आकाशके छोरके पार शीघ्र गतिसे आकर जिनके लाभकी तुम अपेक्षा कर रही हो वे ही ये गायें, हे सरमे, (भली भाँति देख लो) । युद्धके विना ये गायें तुम्हें कौन समर्पित करेगा ? (युद्ध हो ऐसा कहोगी तो) हमारे शस्त्र भी अत्यन्त तीक्ष्ण हैं ।

[**दिवो अन्तान् परि** – ' इस आकाशके भीतरी अंशकी चारों ओर, ' मतलब 'अतीव सुदूरं देशोंमें'। **अयुध्वी** परवर्ती संस्कृतमें इसीको **अयुध्वी** लिखा जाता ।]

६. सरमाः--हे पणियो, तुम्हारे ये वचन (प्रतिद्वन्दीकी) सेनाके लिए चाहे बड़े भारी होंगे; तथा तुम्हारे ये नीचकर्मपरायण शरीर (शत्रुके) बाणोंसे चाहे अभेद्य भी हों; तुम्हारे इस स्थानपर आनेवाले मार्गपर चाहे (आजतक किसीने भी) बलात् आक्रमण भी न किया हो, तथापि (यह सब सत्य हो या न हो) उभय पक्षमें, (देवगुरु) बृहस्पति तो तुम्हें दया नहीं दिखाएगा ।

[**असेन्या** –' सेना द्वारा जीते जानेके लिए अयोग्य ' याने ' जिनके विषयमें सेनाका उपयोग न हो' मतलब, ' सेनाकी शक्तिसे बढ़कर ', ' अजेय ' । **सन्तु** का अन्वय दोनों पादोंमें करें । इसी तरह **अनिषव्याः तन्वः** का अर्थ होगा ' वे शरीर जो शरोंका लक्ष्य होनेके पात्र न हों ' याने बाणोंके आघातोंकी परवाह न करनेवाले वे शरीर जिनपर उनका कुछ असर न हो । पाँचवीं ऋचामें पणियोंने जो अहंकार-युक्त शब्द कहे उनका यह उत्तर है । **उभया** (अव्यय)–' आप जो कहते हैं वह चाहे सही हो चाहे गलत '; बृहस्पतिकी रायमें इसका विचार करनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं है ।]

अयं निधिः सरमे अद्रिबुध्नो गोभिरश्वेभिर्वसुभिन्यृष्टः ।
रक्षन्ति तं पणयो ये सुगोपा रेकु पदमलकमा जगन्थ ॥ ७ ॥

अयम् । निऽधिः । सरमे । अद्रिऽबुध्नः । गोभिः । अश्वेभिः । वसुऽभिः । निऽऋष्टः ।
रक्षन्ति । तम् । पणयः । ये । सुऽगोपाः । रेकु । पदम् । अलकम् । आ । जगन्थ ॥ ७ ॥

एह गमन्नृषयः सोमशिता अयास्यो अङ्गिरसो नवग्वाः ।
त एतमूर्वं वि भजन्त गोनामथैतद्वचः पणयो वमन्नित् ॥ ८ ॥

आ । इह । गमन् । ऋषयः । सोमऽशिताः । अयास्यः । अङ्गिरसः । नवऽग्वाः ।
ते । एतम् । ऊर्वम् । वि । भजन्त । गोनाम् । अथ । एतत् । वचः । पणयः । वमन् । इत् ॥ ८ ॥

७. पणिः—हे सरमे, यह हमारा निधि गायों, अश्वों तथा (अन्य सभी प्रकारकी) संपदाओं से पूर्णतया भरा हुआ है। इसके तलमें नीचे मज़बूत पत्थर हैं (इस लिये यह अभेद्य है) और (ऊपर) 'उत्तम संरक्षक' (इस रूपमें अत्यन्त प्रसिद्ध) ये हम पणी (चारों ओरसे) उसकी सुरक्षा कर रहे हैं। (इस लिये कहता हूँ कि) तुम भूलकर यहाँ किसी अन्य स्थानपर व्यर्थ ही आई हो।

[पणि फिर एक बार अपने निवास-स्थानके अभेद्य होने तथा अपने सर्वथा अजेय होनेकी बात सरमाके मनपर अङ्कित करना चाहते है। **रेकु**-(√रिच्) 'रीता', 'खाली'; 'वह जिसमें तनिक भी लाभ न हो'। **अलकं = अरकं** 'मुश्किलसे पूरा पड़नेवाला' 'बहुत ही अधूरा'। **अरम्-अरकम्-अलकम्** (क-प्रत्यय अल्पत्वका वाचक है); 'यदीं शृणोत्यलकं शृणोति' १०·७१·६।]

८. सरमाः—सोमपानसे उत्तेजित होकर अयास्य, अङ्गिरस तथा नवग्व ये सभी ऋषि यहाँ निश्चित रूपसे आएंगे तथा गायोंके इस विशाल गोष्ठको जीतकर आपसमें विभाजित करेंगे। उसके बाद इन पणियोंको अपने अभी कहे हुए शब्द निश्चय ही वमन करने पड़ेंगे (याने वापस लेने पड़ेंगे)।

[**वचः वमन्**- **वचः** का संबन्ध पणियोंके घमंडभरे शब्दोंसे है, और **वमन्** का अर्थ होगा 'उनका पुनः उच्चारण करके उनका त्याग करना'। सरमाके कथनका आशय यों है —अबतक तुम लोगोंने अपनी डींग हाँकनेवाले शब्द कह डाले और चूँकि कोई यहाँ विरोध करनेवाला नहीं है; तुमने अगर यह सोचा हो कि इन शब्दोंका बड़ा प्रभाव पड़ा है तो यह आपका भ्रम है। गायोंको पानेकी अभिलाषा रखनेवाले हमारे योद्धा यहाँ आकर जब तुम लोगोंके दाँत खट्टे करेंगे तब इन्हीं शब्दोंका पुनः उच्चारण करके तुम लोगोंको बरबस कहना पड़ेगा कि 'वे शब्द सही नहीं थे'।]

एवा च त्वं सरम आजगन्थ प्रबाधिता सहसा दैव्येन।
स्वसारं त्वा कृणवै मा पुनर्गा अप ते गवां सुभगे भजाम ॥ ९ ॥

एव। च। त्वम्। सरमे। आऽजगन्थ। प्रऽबाधिता। सहसा। दैव्येन।
स्वसारम्। त्वा। कृणवै। मा। पुनः। गाः। अप। ते। गवाम्। सुऽभगे। भजाम ॥ ९ ॥

नाहं वेद भ्रातृत्वं नो स्वसृत्वमिन्द्रो विदुरङ्गिरसश्च घोराः।
गोकामा मे अच्छदयन् यदायमपात इत पणयो वरीयः ॥ १० ॥

न। अहम्। वेद। भ्रातृऽत्वम्। नो इति। स्वसृऽत्वम्। इन्द्रः। विदुः। अङ्गिरसः। च। घोराः।
गोऽकामाः। मे। अच्छदयन्। यत्। आयम्। अप। अतः। इत। पणयः। वरीयः ॥ १० ॥

---

९. पणियोंका नेताः—हे सरमे, चूँकि देवोंकी सामर्थ्यका मनपर दबाव पड़नेसे ही तुम यहाँ हमारे पास आई हो; इस लिये (तुम हमारी सचमुच वैरिणी नहीं हो)। मैं तुम्हें अपनी भगिनी मानता हूँ। अब तुम यहाँसे फिर लौट मत जाओ। हे भाग्यवती सरमे, (यहीं रहो) याने हम (अपने भागोंमेंसे) गायोंका कुछ भाग तुम्हें भी दे देंगे।

[प्रस्तुत सूक्तकी तीसरी ऋचामें पणियोंने साम तथा दान का उपयोग किया। पाँचवीं एवं सातवीं ऋचामें उन्होंने दण्डका भय दिखाया और अब इस ऋचामें वे भेदकी नीतिको अपना रहे है। **सुभगे** बड़ा अर्थपूर्ण शब्द है; इस तरहका मौका मिलना यह तुम्हारा अहोभाग्य ही माना जाएगा। **कृणवै** –कविने यह एकवचन पणियोंके नेताके मुखसे कहलवाया है जो सर्वथा उचित है। परन्तु यह नेता वल नहीं माना जा सकता; क्योंकि ऋग्वेदमें पाए जानेवाले उसके वर्णनके आधारपर उसे वप्ररूपी दानव मानना ही समीचीन प्रतीत होता है; दे. प्रास्ताविक टिप्पणी।]

१०. सरमाः— न मैं तुम्हारे इस बन्धुभावको मानती हूँ; न मेरे साथ बहनके तुम्हारे संबन्धको। इन्द्र तथा भयंकर रूप धारण करनेवाले अङ्गिरस ऋषियोंको केवल ये तुम्हारी बातें निश्चित रुपसे ज्ञात हैं। जिस समय मैं इधर निकलने लगी उस समय वे ऋषि मुझे गायोंकी प्राप्ति करानेकी अभिलाषासे (और निश्चयसे) भरे हुए थे। (इस लिए फिर एक बार कहती हूँ) कि हे पणियो, (भाग सके ऐसी) खुली समतल भूमिपर निकलकर भागो।

[**नाहं वेद** तथा **अङ्गिरसो विदुः** में विद् धातु 'भली भाँति समझकर योग्य एवं करारा उत्तर देने' के अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। **वरीयः** 'अधिक विस्तीर्ण और मुक्त स्थान'।]

दूरमित पणयो वरीय उद्गावो यन्तु मिनतीर्ऋतेन ।
बृहस्पतिर्या अविन्दन्निगूळ्हाः सोमो ग्रावाण ऋषयश्च विप्राः ॥ ११ ॥

दूरम् । इत । पणयः । वरीयः । उत् । गावः । यन्तु । मिनतीः । ऋतेन ।
बृहस्पतिः । याः । अविन्दत् । निऽगूळ्हाः । सोमः । ग्रावाणः । ऋषयः । च । विप्राः ॥११॥

११: सरमा--हे पणियो, अब तुम यहाँसे खुली ज़मीनपर बहुत दूर भाग जाओ । और बादमें बृहस्पति, सोम, (उसका रस संपादन करनेवाली) शिलाएँ और वक्तृत्वशाली अङ्गिरस ऋषियोंसे प्राप्त की गई गायें, जो तुम्हारे द्वारा छिपाई गईं थीं, वे भी ऋतका अनुसरण करके (तुम्हारी आज्ञाका) भङ्ग करके (तुम्हारे कानीगृहसे) बाहर निकलकर आ जाएंगी ।

[**मिनती ऋतेन** –ऋतके बलपर उनकी आज्ञाका भङ्ग करके । इन शब्दोंके बाद **आदिशं वः** का अध्याहार करें; दे. ' तरन्तो अर्य आदिशः ' ८·६०·१२ के साथ साथ ' आदिशं न मिनन्ति ' ८·९३·११ । **अविन्दन्** (भूतकाल) –ऋचा १० में सरमाके कथनके अनुसार इन्द्र तथा अङ्गिरस ऋषियोंने आकर गायोंको पणियोंके बन्धनसे मुक्त किया इस कल्पनाको लेकर कविने स्वयं यह (पूरा वाक्य) कहा है । फिर भी इसमें प्रधान रूपसे सोम तथा विप्रके मन्त्रोंका ही प्रभाव रहा इसे सूचित करनेके लिए कविने विप्रोंके अधिष्ठाता बृहस्पति तथा सोमरसको पीसनेवाले पाषाणों (ग्रावाणः)का उल्लेख किया है । मालूम होता है कि इन्द्रका नाम छन्दमें स्थानाभावके कारण सम्मिलित नहीं किया गया ।]

९५

१०.११७·१–९ भिक्षुराङ्गिरसः ॥ धनान्नदानम् ॥ १–२ जगती, ३–९ त्रिष्टुप् ॥

प्रस्तुत सूक्त भिक्षुसूक्त कहलाता है। इसमें धनवान् व्यक्तिको धनहीन भिखमंगेको अन्नदान देनेका उपदेश दिया गया है। इस उपदेशका समर्थन करते हुए कविने तात्त्विक एवं व्यावहारिक दोनों कारणोंको उपस्थित करना उचित समझा है। भूखे भिखमंगेके अपराधके लिए दण्डके रूपमें देवोंने क्षुधाका उपयोग उसे मार डालनेके लिए किया था; इसलिए इसे अन्नप्रदान न करके यदि कोई कहे कि उसे उबारना देवोंकी इच्छाका विरोध करनेके समान है तो पहली ही ऋचामें इसका उत्तर दिया गया है। देव यदि क्षुधाको उस रूपमें प्रयुक्त करना चाहते तो भरपेट खानेवाला व्यक्ति कभी चल न बसता; अतएव क्षुधा या भूख को देवोंद्वारा दिए गए मृत्युरूपी दण्डका प्रतीक मानना असमीचीन होगा। साथ साथ धनकी प्राप्ति भी अनिश्चित है, और कोई भी विपत्तिसे ग्रस्त हो सकता है; इसलिए जबतक धन पासमें हो तबतक अन्नदान करके दीनोंकी मित्रता प्राप्त करना उचित होगा। ऋचा १ से ३ तथा ५ से ८ तक धनवान् व्यक्तिको और ऋचा ४ तथा ९ में क्षुधार्त याचकको उपदेश दिया गया है।

न वा उ॑ दे॒वाः क्षुध॒मिद्व॒धं द॑दुरु॒ताशि॑त॒मुप॑ गच्छन्ति मृ॒त्यवः॑ ।
उ॒तो र॒यिः पृ॑ण॒तो नोप॑ दस्यत्यु॒ताऽपृ॑णन्मर्डि॒तारं॒ न वि॑न्दते ॥ १ ॥

न । वै । उँ इति॑ । दे॒वाः । क्षुध॑म् । इत् । व॒धम् । द॒दुः । उ॒त । आशि॑तम् । उप॑ । ग॒च्छ॒न्ति॒ । मृ॒त्यवः॑ । उ॒तो इति॑ । र॒यिः । पृ॒ण॒तः । न । उप॑ । द॒स्य॒ति॒ । उ॒त । अपृ॑णन् । म॒र्डि॒तार॑म् । न । वि॒न्द॒ते॒ ॥ १ ॥

१. (अपने विरुद्ध अपराध करनेवाले मनुष्यको) मृत्युका दण्ड देनेके लिए देवोंने उसके पास क्षुधाको ही भेज दिया ऐसा माननेका सचमुच कोई कारण नहीं है। (कारण क्षुधार्त मनुष्यको छोड़कर) और भी (उत्तम और भरपेट अन्न) खिलानेवाले (सुखसंपन्न) मनुष्यको भी अनेक प्रकारकी मृत्यु भेंट देती रहती है। (अन्न) दान करनेवाले मनुष्यकी संपदा कभी कम नहीं होती। और अन्न दान न करनेवाले मनुष्यको (आपत्तिके समय) दया दिखानेवाला मनुष्य भी नहीं मिलता।

[तीसरे तथा चौथे चरणमें भावात्मक एवं अभावात्मक दोनों प्रमाणोंकी सहायतासे कवि यह सिद्ध कर रहा है कि दान देना यही हितकारी है।]

य आध्राय चकमानाय पित्वोऽन्नवान्त्सन् रफितायोपजग्मुषे ।
स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतो चित् स मर्डितारं न विन्दते ॥ २ ॥

यः । आध्राय । चकमानाय । पित्वः । अन्नऽवान् । सन् । रफिताय । उपऽजग्मुषे ।
स्थिरम् । मनः । कृणुते । सेवते । पुरा । उतो इति । चित् । सः । मर्डितारम् । न । विन्दते ॥२॥

स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय ।
अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम् ॥ ३ ॥

सः । इत् । भोजः । यः । गृहवे । ददाति । अन्नऽकामाय । चरते । कृशाय ।
अरम् । अस्मै । भवति । यामऽहूतो । उत । अपरीषु । कृणुते । सखायम् ॥ ३ ॥

न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्वः
अपास्मात् प्रेयान्न तदोको अस्ति पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत् ॥ ४ ॥

न । सः । सखा । यः । न । ददाति । सख्ये । सचाऽभुवे । सचमानाय । पित्वः ।
अप । अस्मात् । प्र । इयात् । न । तत् । ओकः । अस्ति ।
पृणन्तम् । अन्यम् । अरणम् । चित् । इच्छेत् ॥ ४ ॥

२. जो मनुष्य काफ़ी मात्रामें अन्नके स्वामी होनेपर भी, अन्नकी अभिलाषा रखते हुए, क्षुधासे आकुल और समीप आकर याचना करनेवाले भिखारीके विरुद्ध पत्थरके अन्तःकरणका बन जाता है वह पहले (वैभव-दशामें) चाहे (अन्नका) सेवन करता हो तो भी उसे (आपत्तिके समय) दया दिखानेवाला मनुष्य मिलता ही नहीं ।

[**सेवते पुरा** के कर्ताके रूपमें पूर्वार्धके **अन्नवान्** तथा कर्मके रूपमें **पित्वः** को समझ लें । **उतो चित्** याने अतीतमें उसके अतीव संपन्न होनेके बावजूद । **पुरा** शब्दके साथ प्रयुक्त धातुके वर्तमानकाल-वाचक रूपको भूतकालका वाचक मान लें; दे. ऊपर ७·८८·५ ।]

३. अन्नकी अभिलाषासे फिरनेवाले दीन, अपङ्ग भिखारीको जो अन्न देता है उसे ही सच्चा दाता भोज मानना चाहिये । आपत्तिके समय पुकारनेपर इस (भिक्षु) की वह (दाता भोज) उदार सहायता करता है, और (उसके फलके रूप) में उसे भविष्यमें उपयोगी सिद्ध होनेवाला हमेशाका मित्र भी बना रखता है ।

[**गृहु** (गृह्) 'भिक्षुक', याचक, दान लेनेवाला । **अस्मै** याने पूर्वार्धमें वर्णित दीन व्यक्तिको । **अपरीषु** (रात्रिषु); दे. ऊपर अपरीभ्यः १·३२·१३ ।]

४ अपने साथ नित्य रहनेवाले और सहायता करनेवाले सखाको जो मित्र अपने अन्नमेंसे कुछ भी अंश नहीं देता वह सच्चा मित्र ही नहीं । ऐसे मित्रसे दूर भाग जाओ; वह

पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् द्राघीयांसमनु पश्येत पन्थाम् ।
ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रान्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः ॥ ५ ॥

पृणीयात् । इत् । नाधमानाय । तव्यान् । द्राघीयांसम् । अनु । पश्येत । पन्थाम् ।
ओ इति । हि । वर्तन्ते । रथ्याऽइव । चक्रा । अन्यम्ऽअन्यम् । उप । तिष्ठन्त । रायः ॥ ५ ॥

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य ।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी ॥ ६ ॥

मोघम् । अन्नम् । विन्दते । अप्रऽचेताः । सत्यम् । ब्रवीमि । वधः । इत् । सः । तस्य ।
न । अर्यमणम् । पुष्यति । नो इति । सखायम । केवलऽअघः । भवति । केवलऽआदी ॥ ६॥

अपना आश्रयस्थान नहीं है ऐसा मान ले; अपनेको (अन्नादि) देनेवाले किसी दूसरे अपरिचित मनुष्यका भी (आवश्यक होनेपर) आश्रय ले ।

[**यो पित्वः।** (द्वितीयार्थे षष्ठी) **न ददाति** यहीं अन्वय करें। **अरणं** (√अर्) 'पराया' 'वह जिसकी पहचान न हो' ।]

५. (अन्नादिकी) याचना करनेवालेको सामर्थ्यसंपन्न पुरुष (अन्नादि) अवश्य दे । (अपने सामने अपना गन्तव्य) दूर तक फैला हुआ (आयुरूपी) मार्ग भली भाँति ध्यानमें रखे। (कारण) रथचक्रोंकी तरह (ये इहलोकके) वैभव लगातार (नीचे और ऊपर)घूमते रहते हैं । ये धनसंपदाएँ प्रतिदिन भिन्न भिन्न मनुष्यका आश्रय लेती रहतीं हैं।

[**द्राघीयांसं पन्थाम्** (पन्थ शब्दकी द्वितीया)–'भावी जीवन रूपी दीर्घ मार्ग' । **रथ्या चक्रा इव** 'रथके पहियोंकी तरह'; उनकी तरह हमेशा ऊपर–नीचे घूमता रहनेवाला; मतलब, एक स्थानपर स्थिर न रहनेवाला, चञ्चल । दे. 'नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण' मेघदूत १०६ तथा 'कालक्रमेण जगतः परिवर्तमाना। चक्रारपङ्क्तिरिव गच्छति भाग्यपङ्क्तिः।' स्वप्नवासवदत्त १·४ ।]

६. अज्ञानी पुरुषको व्यर्थ ही अन्नकी प्राप्ति होती है। सचमुच मैं कहता हूँ कि वह अन्न उसकी मृत्युका ही कारण होता है । (चूँकि) वह किसी सज्जन अथवा मित्र का (उस अन्नसे) भरण-पोषण नहीं करता; (इस लिए) अकेले ही अपने अन्नका भक्षण करनेवाला (वह अज्ञानी पुरुष) अकेले ही आपत्तियाँ भी सह लेता है ।

[**सत्यं ब्रवीमि** –'मैं जो कहता हूँ वही होगा; उसमें बाधा नहीं पैदा होगी; 'सत्य' भविष्यसे संबद्ध है और ऋतका (दे. ऋतं ब्रवीमि १०·३४·१२) संबन्ध अतीतसे है । **वध इत् स तस्य**– 'उसके विषयमें' क्षुधाके 'वध' होनेके स्थानपर अन्न ही 'वध' हो उठता है। **अर्यमणं** – ऋग्वेदमें अर्यमा शब्द साधारणतया

कृषन्नित् फाल आशितं कृणोति यन्नध्वानमप वृङ्क्ते चरित्रैः ।
वदन् ब्रह्मावदतो वनीयान् पृणन्नापिरपृणन्तमभि ष्यात् ॥ ७ ॥

कृषन् । इत् । फालः । आशितम् । कृणोति । यन् । अध्वानम् । अप । वृङ्क्ते । चरित्रैः ।
वदन् । ब्रह्मा । अवदतः । वनीयान् । पृणन् । आपिः । अपृणन्तम् । अभि । स्यात् ॥ ७ ॥

एकपाद्भूयो द्विपदो वि चक्रमे द्विपात्त्रिपादमभ्येति पश्चात् ।
चतुष्पादेति द्विपदामभिस्वरे संपश्यन् पङ्क्तीरुपतिष्ठमानः ॥ ८ ॥

एकऽपात् । भूयः । द्विऽपदः । वि । चक्रमे । द्विऽपात् । त्रिऽपादम् । अभि । एति । पश्चात् ।
चतुःऽपात् । एति । द्विऽपदाम् । अभिऽस्वरे । सम्ऽपश्यन् । पङ्क्तीः । उपऽतिष्ठमानः ॥८॥

सत्प्रवृत्त व्यक्तिका बोध कराता है । **केवलाघः**-' संकटोंसे अकले ही लोहा लेनेवालाः ' दे. भगवद्गीता ३·१३-१६ ।]

७, (भूमिमें) जोतते रहनेपर ही केवल, वह हल (किसानके परिवारको) काफ़ी मात्रामें अन्न खिला देता है । केवल अपने पैरोंसे चलनेवाला मनुष्य ही अपना रास्ता काटता है । ठीक समयपर भाषण करनेवाला ऋत्विज मूक रहनेवाले ऋत्विजकी अपेक्षा अधिक (दक्षिणा) कमाता है । इसी तरह उदार उपहार देनेवाला यजमान कृपण धनवान् पर निश्चय ही विजय प्राप्त कर लेगा ।

[**आशितं कृणोति** (कर्षकम्) । **चरित्रैः यन्** ' पैदल चलनेवाला व्यक्ति ' । **वनीयान्** यह तुलनात्मक विशेषण √वन् धातुसे बना है; **वनिष्ठ** इसीका तमवाचकरूप; श्रेष्ठताका परिचायक ।

८. एक ही चरणवाला (यह सूर्य) दो चरणोंवाले (अनेक पादचारियोंको) बहुत ही पीछे छोड़कर आगे निकल जाता है । दो चरणोंवाला (जवान पुरुष) तीन चरणोंवाले (यष्टिके आधारसे चलनेवाले वृद्ध पुरुष) के पीछेसे निकलकर उससे मिलता ही है। पाँच-पाँच (अजादिके) समुदायोंपर ध्यान रखकर उनका संरक्षण करनेवाला (चतुःपाद श्वान भी) दो चरणोंवाले (चरवाहे) के बुलाने पर दौड़कर आता है ।

[चरणोंकी या पैरोंकी संख्यापर प्राणियोंका महत्त्व निर्भर नहीं रहता यही प्रस्तुत ऋचाका मन्तव्य है । **पङ्क्ति** याने पाँच वस्तुओंका यहाँ, चौपायोंका समूह ।]

समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः संमातरा चिन्न समं दुहाते।
यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि ज्ञाती चित् सन्तौ न समं पृणीतः ॥ ९ ॥

समौ। चित्। हस्तौ। न। समम्। विविष्टः। सम्ऽमातरा। चित्। न। समम्। दुहाते इति।
यमयोः। चित्। न। समा। वीर्याणि। ज्ञाती इति। चित्। सन्तौ। न। समम्। पृणीतः ॥ ९॥

९. अन्य समय पर एक ही मनुष्यके सदृश दिखाई देनेवाले दो हाथ समान कार्य नहीं करते। एक साथ प्रसूत दो गायें समान ही दूध नहीं देती। यमज शिशु (जुड़वां) होनेपर भी उनके पराक्रम समान नहीं होते। अत्यन्त निकटवर्ती संबन्धी होनेपर भी दो यजमान समान ही दान नहीं देते।

[ऋचाके पहले तीन चरणोंमें तीन दृष्टान्त उपस्थित किए गए हैं और अन्तिम चरणमें प्रस्तुत वस्तुका निर्देश हुआ है। निकटतम संबन्धी श्रीमान् भले ही हों; दान देनेके विषयमें समान नहीं होते इसे भिक्षु याचक कभी न भूले; उनमेंसे कोई भोज याने उदार होता है तो दूसरा केवलादी। संभव है कि कविको इस तरहका कटु अनुभव हुआ होगा उसीसे प्रस्तुत सूक्तका निर्माण हुआ हो।]

९६

१०·११९·१–१३ लब ऐन्द्रः ॥ आत्मा (इन्द्रः) ॥ गायत्री ॥

प्राचीन परंपराके अनुसार प्रस्तुत सूक्तमें इन्द्र उन ऋत्विजोंके सामने अपना रूप प्रकट कर रहा है, जिन्होंने लवा पक्षीका रूप धारण करके सोमपान करते हुए उसे देखा था। ऋचा ७ तथा ११ में प्रयुक्त ‘ पक्ष ’ शब्द संभवतः इसकी तहमें रहा होगा; लेकिन कुल मिलाकर इसमें इन्द्र स्वयं मदसे जनित अपनी उस अनुपम सामर्थ्यका वर्णन करता हुआ प्रतीत होता है जो याजकद्वारा सूक्तके साथ समर्पित सोमरसके पानसे उत्पन्न हुआ था। इन्द्रको इसी तरह मदसे संयुक्त करानेके लिए ऋग्वेदीय कवि कई बार प्रार्थना करते हुए पाए जाते हैं; दे. १·१७५·२; ६·३३·१; ८·१२·१-३ आदि।

याजकद्वारा समर्पित सोमके आकण्ठ पानसे संतुष्ट होकर इन्द्र यह निश्चित नहीं कर पाता कि उसे कौनसा उचित पारितोषिक प्रदान करें (ऋचा १)। फिर भी वह सोम जिसे वह पी चुके–उसे वैसे ही बैठने नहीं देता याजकको कुछ–न–कुछ देना ज़रूरी है इस बातकी उसे लगातार प्रेरणा देता रहता है (ऋचा २; ३)। साथ साथ याजक द्वारा समर्पित सुन्दर एवं सुगठित स्तोत्र भी उपस्थित होता है (ऋचा ४; ५); तब क्या रहा! इन्द्र याजकके साथ साथ सब लोगोंको सोमपानसे जनित अपनी अनुपम सामर्थ्यकी दुहाई देता है जिसके सहारे वह उनके लिए ईप्सित वस्तु किसी भी स्थानसे और किसी भी व्यक्तिसे बलात् ले आ सकता है। इसमें उसका अभिप्राय तो यही रहता है कि याजक उसे चाहे जो चीज़ माँग ले (ऋचा ६–१२)। याजकने क्या माँगा और इसने क्या दे डाला इस संबन्धमें मौन रहते हुए कवि सूक्तके अन्तमें इन्द्रसे कहलाता है, “ अपने पराक्रमके बलपर यज्ञमें अन्य देवोंको भी हविर्भाग प्राप्त कराते तथा स्वयं अतीव संतुष्ट होते हुए मैं अब अपने निवास–स्थानको लौट रहा हूँ। ”

इन्द्रने इसी तरह अपने पराक्रमका वर्णन ४·२६ तथा १०·४८–४९ सूक्तोंमें भी किया है; किन्तु प्रस्तुत सूक्तका ढंग कुछ अलग है।

कुवित्सोमस्यापाम् यही इस सूक्तकी टेक है जिसमें प्रतीत होता है कि किसी याजकने इन्द्रको सोमका यथेष्ट पान कराया और एक सराहनीय सूक्त भी उसे समर्पित किया। इससे अत्यन्त सन्तुष्ट होकर इन्द्र सोचने लगा ‘क्या दूँ और कितना दे डालूँ।’ मनकी इसी दशामें देनेकी अपनी शक्तिके संबन्धमें अगर किसीको सन्देह हो तो उसे सदाके लिए दूर करनेके उद्देश्यसे इन्द्र इस सूक्तमें अपनी अप्रतिहत एवं सर्वतोगामी शक्तिका वर्णन कर रहा है।

इ॒ति॒ वा इति॑ मे॒ मनो॒ गामश्वं॑ सनुया॒मिति॑। कु॒वित् सोम॒स्यापा॒मिति॑ ॥ १ ॥

इ॒ति॑। वै। इति॑। मे॒। मनः॑। गाम्। अश्व॑म्। स॒नु॒या॒म्। इ॒ति॑। कु॒वित्। सोम॑स्य। अपा॑म्। इति॑ ॥ १ ॥

१. इस प्रकार, सचमुच इस प्रकार, मेरे मनमें आता है कि (मेरे इस याजकके लिए) गाय, अश्व, इत्यादि प्राप्त करा दूँ। (इसके यज्ञमें) मैंने सोमपान तो किया है।

[**सनुयाम्–**‘ प्राप्त कर लूँ ’ अर्थात् स्तोताको समर्पित करनेके लिए।]

प्र वाताइव दोधत उन्मा पीता अयंसत। कुवित् सोमस्यापामिति ॥ २ ॥
प्र। वाताःऽइव। दोधतः। उत्। मा। पीताः। अयंसत। कुवित्। सोमस्य। अपाम्। इति ॥२॥
उन्मा पीता अयंसत रथमश्वाइवाशवः। कुवित् सोमस्यापामिति ॥ ३ ॥
उत्। मा। पीताः। अयंसत। रथम्। अश्वाःऽइव। आशवः। कुवित्। सोमस्य। अपाम्। इति ॥३॥
उप मा मतिरस्थित वाश्रा पुत्रमिव प्रियम्। कुवित् सोमस्यापामिति ॥ ४ ॥
उप। मा। मतिः। अस्थित। वाश्रा। पुत्रम्ऽइव। प्रियम्। कुवित्। सोमस्य। अपाम्। इति ॥४॥
अहं तष्टेव वन्धुरं पर्यचामि हृदा मतिम्। कुवित् सोमस्यापामिति ॥ ५ ॥
अहम्। तष्टाऽइव। वन्धुरम्। परि। अचामि। हृदा। मतिम्। कुवित्। सोमस्य। अपाम्। इति ॥५॥
नहि मे अक्षिपच्चनाच्छान्त्सुः पञ्च कृष्टयः। कुवित् सोमस्यापामिति ॥ ६ ॥
नहि। मे। अक्षिऽपत्। चन। अच्छान्त्सुः। पञ्च। कृष्टयः। कुवित्। सोमस्य। अपाम्। इति ॥६॥

२. (वृक्षादिको) ताड़न करनेवाले झंझावातकी तरह मेरे द्वारा प्राशन किए गए सोमरसने मुझे अत्यधिक उत्तेजित किया है। (इसके यज्ञमें) मैंने सोमपान तो किया है।

[**उदयंसत**—√ उत्+ यम् का अर्थ है 'ऊपर उठाना,' 'कार्यके लिए प्रेरित करना;' दे. ब्राह्मणास्त्वा शतक्रतो उद्वंशमिव येमिरे' १·१०·१।]

३. दौड़ते जानेवाले अश्व जिस प्रकार अपने रथको उछाल कर ले जाते हैं उसी प्रकार (इसके यज्ञमें) मेरे द्वारा प्राशन किये गए सोमरसने मुझे अत्यधिक उत्तेजित किया है। (इसके यज्ञमें) मैंने सोमपान तो किया है।

४. (इस यजमानकी) यह स्तुतिवाणी मेरी ओर उसी तरह आ रही है जिस प्रकार रँभानेवाली गाय अपने प्रिय वत्सकी ओर। (इसके यज्ञमें) मैंने सोमपान तो किया है।

[**वाश्रा**—रँभानेवाली गाय; इसी उपमाके लिए दे. ६·४५·२८।]

५. जिस प्रकार कुशल बढ़ई (कुशलतासे बनाये) रथके आसनकी (हृदयसे प्रशंसा करता है) उसी प्रकार मैं इसकी स्तुतिवाणीका प्रसन्न चित्तसे सभी ओरसे स्वागत करता हूँ। (इसके यज्ञमें) मैंने सोमपान तो किया है।

[**हृदा पर्यचामि** 'हृदयके साथ, बड़े प्रेमसे पास चला जाता हूँ; दे. 'हृदा उत मनसा जुषाणः' ७·९८·२।]

६. (इसे धनप्राप्ति करा देनेके लिए मैं इन पाँचों लोगोंको सहज ही जीत सकूँगा। कारण) ये पांच ही लोग मुझे नयनमें घुसे हुए रजःकणके समान भी प्रतीत नहीं होते। (इसके यज्ञमें) मैंने सोमपान तो किया है।

[**अक्षिपत्**–'आँखोंमें घुसनेवाला याने उन्हें दूषित करनेवाला' (कण); मतलब, बहुत ही छोटा।]

नहि मे रोदसी उभे अन्यं पक्षं चन प्रति । कुवित् सोमस्यापामिति ॥ ७ ॥
नहि । मे । रोदसी इति । उभे इति । अन्यम् । पक्षम् । चन । प्रति ।
कुवित् । सोमस्य । अपाम् । इति ॥ ७ ॥

अभि द्यां महिना भुवमभी३मां पृथिवीं महीम् । कुवित् सोमस्यापामिति ॥८॥
अभि । द्याम् । महिना । भुवम् । अभि । इमाम् । पृथिवीम् । महीम् ।
कुवित् । सोमस्य । अपाम् । इति ॥ ८ ॥

हन्ताहं पृथिवीमिमां नि दधानीह वेह वा । कुवित् सोमस्यापामिति ॥ ९ ॥
हन्त । अहम् । पृथिवीम् । इमाम् । नि । दधानि । इह । वा । इह । वा ।
कुवित् । सोमस्य । अपाम् । इति ॥ ९ ॥

ओषमित् पृथिवीमहं जङ्घनानीह वेह वा । कुवित् सोमस्यापामिति ॥ १० ॥
ओषम् । इत् । पृथिवीम् । अहम् । जङ्घनानि । इह । वा । इह । वा ।
कुवित् । सोमस्य । अपाम् । इति ॥ १० ॥

दिवि मे अन्यः पक्षो३धो अन्यमचीकृषम् । कुवित् सोमस्यापामिति ॥ ११ ॥
दिवि । मे । अन्यः । पक्षः । अधः । अन्यम् । अचीकृषम् ।
कुवित् । सोमस्य । अपाम् । इति ॥ ११ ॥

७. (इतना ही नहीं तो) यह स्वर्ग और यह पृथिवी ये दोनों भी मेरे एक (वाम या दक्षिण) पक्षसे तुलित नहीं किए जा सकते । (इसके यज्ञमें) मैंने सोमपान तो किया है ।

[**अन्यं पक्षम्**—' एक पक्ष या दल; ' दे. २·३२·११; ६·३०·१ ।]

८. अपनी महानतासे मैंने स्वर्ग तथा इस विशाल पृथ्वी को भी परास्त किया है। (इसके यज्ञमें) मैंने सोमपान तो किया है ।

९. (इसकी इष्टसिद्धिके लिये) सचमुच मैं समूची पृथ्वी इधरकी उधर करके कहीं भी रख सकूँगा । (इसके यज्ञमें) मैंने सोमपान तो किया है ।

[यहाँ इन्द्रके कथनका आशय यों है:- " यदि आवश्यकता हो तो मैं समूची पृथ्वीको उठाकर इधरसे उधर रख सकूँगा । "]

१०. एक क्षणमें ही इस पृथ्वीको (उसके कार्यके लिए आवश्यक हो तो) इधर या उधर कहीं भी पटक दूँगा । (इसके यज्ञमें) मैंने सोमपान तो किया है ।

[ओषम्-' तुरन्त ', ' शीघ्रताके साथ; ' √उष का अर्थ है झलकना (झलक की तरह) ।]

११. मेरे (शरीरका) एक (सव्य या दक्षिण) पक्ष स्वर्गमें होकर दूसरा पक्ष मैंने नीचे (इस पृथ्वीकी ओर) घुमाया है । (इसके यज्ञमें) मैंने सोमपान तो किया है ।

अहमस्मि महामहोऽभिनभ्यमुदीषितः । कुवित् सोमस्यापामिति ॥ १२ ॥

अहम् । अस्मि । महाऽमहः । अभिऽनभ्यम् । उत्ऽईषितः ।

कुवित् । सोमस्य । अपाम् । इति ॥ १२ ॥

गृहो याम्यरंकृतो देवेभ्यो हव्यवाहनः । कुवित् सोमस्यापामिति ॥ १३ ॥

गृहः । यामि । अरम्ऽकृतः । देवेभ्यः । हव्यऽवाहनः । कुवित् । सोमस्य । अपाम् । इति ॥ १३ ॥

१२ मैं अत्यन्त शक्तिशाली होकर स्वर्गके केन्द्रबिन्दुतक ऊंचा हो गया हूँ । (इसके यज्ञमें) मैंने सोमपान तो किया है ।

[**महामहः** (महान्ति महानि यस्य सः); दे. ऊपर ' महानि चक्रे पुरुधप्रतीकः ' ३·४८·३ । **नभ्यं** (नाभिसंबन्धि) ' द्युलोकका मध्यवर्ती अंश ' ।]

१३. इसी प्रकार (उसके द्वारा) सम्मान पाकर मैं अपने प्रासादमें जाता हूँ और (अग्निके द्वारा) अन्य देवोंके पास (मेरे इस याजकके) हविर्द्रव्य भी पहुँचा देता हूँ । (इसके यज्ञमें) मैंने सोमपान तो किया है ।

[**गृह्**=गृह (घर) का द्वितीया बहुवचन; बहुवचन भव्यताको सूचित करता है। **देवेभ्यो हव्यवाहनः**- देवोंको हव्य प्राप्त करानेवाला । यज्ञ प्रधानतया इन्द्रके लिए किया जाता है और उसीके कारण अन्य देवोंको भी हविर्भाग प्राप्त होता है । अतः अप्रत्यक्ष रूपसे इन्द्रको ही ' देवोंको हव्योंकी प्राप्ति करानेवाला ' कहा गया है ।]

९७

१०·१२१·१–१० हिरण्यगर्भः प्राजापत्यः ॥ कः (प्रजापतिः) ॥ त्रिष्टुप् ॥

प्रस्तुत सूक्तमें कवि उस परमात्मा या सर्वेश्वर के संबन्धमें अपने विचारोंको व्यक्त कर रहा है जो समूची सृष्टिके पहले विद्यमान था और जिसने असलमें उसका निर्माण किया। विभिन्न देवोंकी सभी विशेषताओंका समाहार जिसमें हुआ है वह देवोंका देवता कौन है यह प्रश्न पहले पूछा गया है और अन्तिम ऋचामें उसका उत्तर सूचित करते हुए उसे कविने प्रजापतिकी संज्ञा प्रदान की है। माना कि पदपाठके प्रणेता शाकल्यके पाठके अनुसार सूक्तके अन्तमें यह अन्तिम ऋचा नहीं पाई जाती; फिर भी प्रत्येक ऋचा देवोंके अधिष्ठाता देवताके अस्तित्वमें कविके दृढ विश्वासकी अभिव्यक्ति करती है। अतएव ' कस्मै देवाय हविषा विधेम ' को केवल देवताके नामके संबन्धमें सन्देहका परिचायक माना जा सकता है; उसके अस्तित्वके विषयमें आशङ्काका बोधक नहीं। कुछ कालके उपरान्त प्रस्तुत सूक्त (अन्तिम ऋचाके साथ)के आधारपर **कस्मै** को प्रश्नका बोधक न मानते हुए ' क ' नामके देवका याने अन्तिम ऋचामें निर्दिष्ट ' प्रजापति ' का वाचक माननेकी प्रथा प्रचलित हुई; दे. 'अतः कारणात् **क** इति प्रजापतिराख्यायते'–सायणाचार्य। यह कथा ऐतरेय ब्राह्मण ३-२१ में भी पाई जाती है।

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १ ॥

हिरण्यऽगर्भः । सम् । अवर्तत । अग्रे । भूतस्य । जातः । पतिः । एकः । आसीत् ।
सः । दाधार । पृथिवीम् । द्याम् । उत । इमाम् । कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ॥ १ ॥

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्य छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ २ ॥

यः । आत्मऽदाः । बलऽदाः । यस्य । विश्वे । उपऽआसते । प्रऽशिषम् । यस्य । देवाः ।
यस्य । छाया । अमृतम् । यस्य । मृत्युः । कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ॥ २ ॥

१. सर्व प्रथम हिरण्यगर्भका प्रादुर्भाव हो गया। तथा जन्म ग्रहण करते ही वह सभी प्राणिमात्रोंका एक मात्र अधिपति बन गया। उसीने इस पृथ्वी तथा द्युलोक को आधार दिया। हवि समर्पण करके हम ऐसे किस देवकी उपासना करें ?

[स्वर्ग एवं पृथ्वी सभी भूतोंके आधार हैं; उनको भी सहारा देनेवाला देवता वही दोनोंका निर्माता है (ऋचा ९) और साथ साथ उन्हें अपने वशमें रखनेवाला भी वही है (ऋचा ५)।]

२. जो (सभीका) प्राणप्रदाता होकर उन्हें सामर्थ्य भी देता है; जिसकी आज्ञाका पालन

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव ।

य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ३ ॥

यः । प्राणतः । निऽमिषतः । महिऽत्वा । एकः । इत् । राजा । जगतः । बभूव ।

यः । ईशे । अस्य । द्विऽपदः । चतुःऽपदः । कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ॥ ३ ॥

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः ।

यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ४ ॥

यस्य । इमे । हिमऽवन्तः । महिऽत्वा । यस्य । समुद्रम् । रसया । सह । आहुः ।

यस्य । इमाः । प्रऽदिशः । यस्य । बाहू इति । कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ॥ ४ ॥

सभी लोक तथा सभी देव भी करते हैं; अमृतत्व और मृत्यु ये दोनों जिसकी परछाई है (याने जो इन दोनोंके उस पार है) ऐसे किस देवको हवि समर्पण करके हम उसकी उपासना करें ?

[**प्रशिषम्**—प्रशिष् (√ प्र + शास्) का अर्थ है प्रशासन याने आज्ञा । **अमृतं-मृत्युः**—'अमरता तथा मरण या मर्त्यत्व' । **छाया**—साया; सायाकी तरह नित्य अनुकरण करनेवाली; कभी अलग न होनेवाली । मतलब उसके अस्तित्वपर ही उनका अस्तित्व निर्भर है; उनकी कोई अलग सत्ता नहीं है । एक ऋग्वेदीय कवि अग्निसे कहता है 'छायेव विश्वं भुवनं सिसक्षि' (१·७३·८) याने तुम सायाकी तरह प्राणिमात्रके साथ रहते हो' । यहाँ कविका मन्तव्य तो इतना ही है कि वह देवता सायाकी तरह नित्य उसके पास रहकर उसका संरक्षक है ।]

३. श्वासोच्छ्वास करनेवाले और निद्रासुखका अनुभव लेनेवाले समूचे संसारका जो अपनी महानतासे अकेला ही राजा होकर रहा है, और जो इन द्विपाद तथा चतुष्पाद प्राणियोंपर अधिकार जमाता है ऐसे किस देवको हवि समर्पण करके हम उसकी उपासना करें ?

४. जो अपनी महानताके कारण ये हिमवान् पर्वत और रसा नदीसहित यह समुद्र इन सभीका स्वामी है ऐसा कहते हैं, उसी प्रकार ये चारों प्रदिशाएँ जिसके बाहुस्थानमें हैं, ऐसे किस देवको हवि समर्पण करके हम उसकी उपासना करें ?

[**हिमवन्तः** याने हिमालय पर्वत । **समुद्र** के साथ रसा नदीका नाम ऋग्वेदमें सिर्फ यहीं पाया जाता है । **बाहू** के आधारपर यदि इसे पूर्व एवं पश्चिम दोनों दिशाओंका वाचक मान लें तो दक्षिण दिशामें **रसा** के अस्तित्वका अनुमान करना संभव है ।]

येन॒ द्यौरु॒ग्रा पृ॑थि॒वी च॑ दृ॒ळ्हा येन॒ स्वः॑ स्तभि॒तं येन॒ नाकः॑ ।
यो अ॒न्तरि॑क्षे॒ रज॑सो वि॒मानः॒ कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥ ५ ॥

येन॑ । द्यौः । उ॒ग्रा । पृ॒थि॒वी । च॒ । दृ॒ळ्हा । येन॑ । स्व१॒रिति॒ स्वः॑ । स्त॒भि॒तम् । येन॑ । नाकः॑ ।
यः । अ॒न्तरि॑क्षे । रज॑सः । वि॒ऽमानः॑ । कस्मै॑ । दे॒वाय॑ । ह॒विषा॑ । वि॒धे॒म ॥ ५ ॥

यं क्रन्द॑सी॒ अव॑सा तस्तभा॒ने अ॒भ्यैक्षे॑तां॒ मन॑सा॒ रेज॑माने ।
यत्राधि॒ सूर॒ उदि॑तो वि॒भाति॒ कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥ ६ ॥

यम् । क्रन्द॑सी॒ इति॑ । अव॑सा । त॒स्त॒भा॒ने इति॑ । अ॒भि । ऐक्षे॑ताम् । मन॑सा । रेज॑मा॒ने॒ इति॑ ।
यत्र॑ । अधि॑ । सूरः॑ । उत्ऽइ॑तः । वि॒ऽभाति॑ । कस्मै॑ । दे॒वाय॑ । ह॒विषा॑ । वि॒धे॒म ॥ ६ ॥

५. जिसकी (श्रेष्ठता) के कारण द्युलोक उग्र (याने ओजस्वी) और पृथ्वी स्थिर हुई है; जिसने सूर्य तथा स्वर्ग के निम्नभाग को आधार देकर रोक रखा है; जो अन्तरिक्षके सभी प्रदेशोंका पूर्ण ज्ञाता है ऐसे किस देवको हवि समर्पण करके हम उसकी उपासना करें ?

[**उग्रा** तथा **दृढा** दोनों विशेषण द्यौः तथा पृथ्वी का नियन्त्रण करनेवाले हिरण्यगर्भकी महत्ताको विशेष रूपसे अङ्कित करनेके लिए प्रयुक्त हुए हैं। **द्यौः स्वः नाकः** उन तीनों लोकोंके रूपमें कल्पित हैं जो अन्तरिक्षके उपरी सतहपर विद्यमान हों। **अन्तरिक्षे रजसो विमानः**– अन्तरिक्षके प्रदेशोंका चप्पा चप्पा जाननेवाला; उन प्रदेशोंका संपूर्ण ज्ञान रखनेवाला; दे. १०·१३९·५ ।]

६. जिसकी कृपाका आधार प्राप्त करनेपर भी (पराजय की आशंकासे) मनमें घबराकर काँपनेवालीं और परस्पर ललकारनेवालीं दोनों सेनाएँ जिसकी ओर (आजतक देख आ रही हैं); और जिसके आधारसे सूर्य उदित होकर प्रकाशमान होता है ऐसे किस देवको हवि समर्पित करके हम उसकी उपासना करें ?

[**क्रन्दसी** ' गर्जना करनेवाली (सेनाएं)'; दे. ऊपर २·१२·८ तथा ६·२५·४ जहाँ क्रन्दस् नपुंसक लिङ्गमें प्रयुक्त हुआ है। फिर भी **तस्तभाने** (यह धातु प्रायः सर्वत्र द्यावापृथिवीके विषयमें प्रयुक्त हुआ है) तथा **रेजमाने** (दे. १०·५४·१; १०·५५·१ जहाँ भयाकुल द्यावापृथिवीका उल्लेख है) इन विशेषणोंके आधारपर यहाँ **क्रन्दसी** को स्त्रीलिङ्गी शब्द मानकर उसके प्रथमा द्विवचनको, सायणाचार्यका अनुकरण करते हुए, ' द्यावापृथिव्यौ ' के अर्थमें मान लेना क्या उचित होगा ? **रोदसी** इस शब्दका पर्यायवाची है जो निःसन्देह ' द्यावापृथिवीके ' वाचकके रूपमें ऋग्वेदमें कई बार आया है। **अभि ऐक्षेताम्** आर्ष पदपाठका उदाहरण है; दे. ऊपर ७·१०३·३ की टिप्पणी। **यत्र अधि** = **यस्मिन् अधि** मतलब ' जिसके आश्रयको पाकर ' ।]

आपो ह यद्बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम् ।
ततो देवानां समवर्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ७ ॥

आपः । ह । यत् । बृहतीः । विश्वम् । आयन् । गर्भम् । दधानाः । जनयन्तीः । अग्निम् ।
ततः । देवानाम् । सम् । अवर्तत । असुः । एकः । कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ॥७॥

यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद्दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम् ।
यो देवेष्वधि देव एक आसीत् कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ८ ॥

यः । चित् । आपः । महिना । परिऽअपश्यत् । दक्षम् । दधानाः । जनयन्तीः । यज्ञम् ।
यः । देवेषु । अधि । देवः । एकः । आसीत् । कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ॥ ८ ॥

७. अपने गर्भमें अग्निको धारण करके और उसे जन्म देकर जिस समय (सृष्टिके पूर्ववर्ती) विस्तीर्ण जलप्रवाह इधर उधर सर्व स्थलोंमें फैले थे उस समय, उनमेंसे जो देवोंका इकलौता प्राण ही देव उत्पन्न हुआ ऐसे किस देवको हवि समर्पित करके हम उसकी उपासना करें ?

[प्रस्तुत ऋचाके साथ साथ आठवीं ऋचामें कुछ ऐसे शब्द है जो कविके लिए अभिप्रेत देवाधिदेवके स्वरूप पर तनिक प्रकाश डालनेवाले माने जाएंगे । **बृहतीः आपः** याने सृष्टिके पूर्ववर्ती जल-समूह; **सलिलं** इन्हींका दूसरा नाम है; दे. १०·७२·६; १०·१२९·३ । **गर्भम् अग्निम्** यही हिरण्यगर्भ है; हिरण्यकी तरह तेजस्वी अग्नि । **ततः** याने उन जलसमूहोंसे । **एकः असुः** याने वही हिरण्यगर्भ । इस चरणमें कविने जानबूझकर **एकः** को प्रयुक्त करके हिरण्यगर्भरूपी अग्निका अद्वितीयत्व सूचित किया है । परन्तु इसी **एकः** के कारण प्रस्तुत चरणमें दो अक्षर बढ़ गए और बादकी ऋचाके तीसरे चरणमें एक अक्षर अधिक हुआ है ।]

८. ये ही (सृष्टिके पूर्ववर्ती) जल जब दैवी सामर्थ्य धारण करके यज्ञको जन्म देते थे तब अपनी श्रेष्ठतासे जिसने अच्छे प्रकारसे (भली भाँति) इनका ध्यान रखा और जो सभी देवोंमें अकेला ही श्रेष्ठ बन गया ऐसे किस देवको हवि समर्पित करके हम उसकी उपासना करें ?

[प्रस्तुत ऋचामें सातवीं ऋचाका मन्तव्य ही अलग शब्दोंमें स्पष्ट किया गया है । अतएव सातवीं ऋचाकी ही तरह यहाँ भी **आपः** तथा उसके विशेषणोंको **दधानाः** तथा **जनयन्तीः** को प्रथमान्त मानना ही उचित होगा; लेकिन अन्वय तो यों करना पड़ेगा:-' दक्षं दधानाः यज्ञं जनयन्तीः च आपः (विश्वमायन्) इति यः पर्यपश्यत् ' । यह सही है कि **आपः** यह रूप ऋग्वेदमें अन्यत्र भी द्वितीयान्त **अपः** के स्थानपर प्रयुक्त पाया जाता है; दे. १·२३·१३; १·६३·८; १·११०·७; १०·४·५; १०·९·९ । अतः यहाँ भी उसे **पर्यपश्यत्** क्रियाके द्वितीयान्त कर्मके रूपमें मान लेना असंगत नहीं माना जा सकता । **दक्षं यज्ञम्** पिछली ऋचाके **गर्भम् अग्निम्** के पर्यायवाचीके रूपमें अभिप्रेत है जिससे स्पष्ट है कि यज्ञिय अग्निसे कविका अभिप्राय हिरण्यगर्भसे ही है । यही हिरण्यगर्भ देवाधिदेव है और सृष्टिके पूर्व जलसमूहोंका निर्माण करके इसने उन्हींसे अग्निका निर्माण किया; मतलब वह स्वयं अग्निका रूप धारण करके उन (जलसमूहोंसे) अवतीर्ण हुआ । इसीको अन्तिम ऋचामें ' प्रजापति ' यह अर्थपूर्ण संज्ञा प्रदान की है ।]

मा नो॑ हिंसीज्जनि॒ता यः पृ॑थि॒व्या यो वा॑ दिवं॑ स॒त्यध॑र्मा ज॒जान॑ ।
यश्चा॒पश्च॒न्द्रा बृ॑ह॒तीर्ज॒जान॒ कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥ ९ ॥

मा । नः॒ । हिं॒सी॒त् । ज॒नि॒ता । यः । पृ॒थि॒व्याः । यः । वा॒ । दिव॑म् । स॒त्यऽध॑र्मा । ज॒जान॑ ।
यः । च॒ । अपः॑ । च॒न्द्राः । बृ॒ह॒तीः । ज॒जान॑ । कस्मै॑ । दे॒वाय॑ । ह॒विषा॑ । वि॒धे॒म ॥ ९ ॥

प्रजा॑पते॒ न त्वदे॒तान्य॒न्यो विश्वा॑ जा॒तानि॒ परि॒ ता ब॑भूव ।
यत्का॑मास्ते जुहु॒मस्तन्नो॑ अस्तु व॒यं स्या॑म॒ पत॑यो रयी॒णाम् ॥ १० ॥

प्रजा॑पते॒ । न । त्वदे॒तान्य॒न्यो । विश्वा॑ । जा॒तानि॒ । परि॒ । ता । ब॑भूव ।
यत्का॑मास्ते । जुहु॒मस्तन्नो॑ । अस्तु॒ । व॒यं । स्या॑म॒ । पत॑यो । रयी॒णाम् ॥ १० ॥

९. जो इस पृथ्वीका निर्माणकर्ता है, तथा अपने नियमोंका (अन्यजनों द्वारा) अतिक्रमण करनेका अवसर न देनेवाले जिस देवने स्वर्गका भी निर्माण किया है, और जिसने विशाल तथा रमणीय जलाशय भी उत्पन्न किये हैं ऐसे किस देवको हवि समर्पित करके हम उसकी उपासना करें ?

[**बृहतीः आपः** –सृष्टिके पूर्ववर्ती जलसमूह; दे. ऋचा ७ । अथवा **चन्द्राः** इस विशेषणके आधारपर यह अनुमान करना भी संभव है कि कविका अभिप्राय सृष्टिके परवर्ती रमणीय जलाशयोंसे हो ।]

१०. हे प्रजापते, इन (उपरिनिर्दिष्ट) सभी जन्म ग्रहण किए हुए पदार्थोंको तुम्हारे विना दूसरे किसीने भी (उत्पन्न करके) उनपर कृपादृष्टि नहीं रखी । जिन वस्तुओंकी अभिलाषा रख कर हम तुम्हें हवि समर्पित करें वे सभी हमें प्राप्त हों और उसी प्रकार हमें अनेकविध संपदाओंके स्वामी होने दो ।

[**प्रजापते**–हिरण्यगर्भका याने अग्निका अर्थपूर्ण विशेषण । **परि बभूव**–दे. ' अग्ने ता विश्वा परिभूरसि त्मना ' ३·३·१० । **जुहुमः** का अर्थ है **हविषा विधेम** ।

९८

१०·१२५·१–८ वागाम्भृणी ॥ आत्मा ॥ १, ३–८ त्रिष्टुप् । २ जगती ॥

वैदिक परम्पराके अनुसार प्रस्तुत सूक्तमें अम्भृण ऋषिकी कन्या वाक् ब्रह्मके साक्षात्कारसे पावन होकर अपनी विश्वात्मक अनुभूतिको अभिव्यक्त कर रही है। फिर भी, संभव है कि यह कोई हाड–मांसकी कन्या न होकर ऋषिकी मानी हुई पुत्री यानि स्तुतिरूपा वाणी हो, और वही समूचे विश्वका आधार बनी हुई देवी वाक्के रूपमें प्रस्तुत सूक्तको अभिव्यक्त कर रही हो। वस्तुतः वाग्देवीका वर्णन ऋग्वेदमें अन्यत्र भी पाया जाता है; दे. १०·७१·३; ८·१००·१०-११ आदि।

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः ।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥ १ ॥

अहम् । रुद्रेभिः । वसुऽभिः । चरामि । अहम् । आदित्यैः । उत । विश्वऽदेवैः ।
अहम् । मित्रावरुणा । उभा । बिभर्मि । अहम् । इन्द्राग्नी इति । अहम् । अश्विना । उभा ॥ १ ॥

अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम् ।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते ॥ २ ॥

अहम् । सोमम् । आहनसम् । बिभर्मि । अहम् । त्वष्टारम् । उत । पूषणम् । भगम् ।
अहम् । दधामि । द्रविणम् । हविष्मते । सुप्रऽअव्ये । यजमानाय । सुन्वते ॥ २ ॥

१. रुद्र, वसु, तथा आदित्य इन देवोंके साथ और विश्वे देवोंके साथ भी मैं नित्य संचरण करती हूँ। मित्र और वरुण, इन्द्र और अग्नि तथा उभय अश्विना देवों को भी मेरा ही आधार है।

[वसु, रुद्र तथा आदित्य गणात्मक देवता हैं जिनका उल्लेख अन्यत्र भी पाया जाता है सही, लेकिन इनकी संख्याओंकी (मतलब ८ वसु, ११ रुद्र तथा १२ आदित्य) ओर निर्देश ऋग्वेदमें कहीं नहीं मिलता। ऋ. ७·१०·४ में इनके नेताके रूपमें क्रमशः इन्द्र, रुद्र एवं अदिति का उल्लेख हुआ है।]

२. पराक्रमी सोम तथा त्वष्टा, पूषा और भग इन सभी देवोंका भरण पोषण मैं ही करती हूँ। देवोंके लिए अत्यधिक अनुकूल होकर और हवि समर्पित करके सोमक स्तवन करनेवाले यजमानको धन भी मैं ही देती हूँ।

[**सुप्रावी यजमान** वह याजक है जो यज्ञ, दान आदिके कारण देवोंके लिए अनुकूल हो, इसका विरोधी शब्द है ' दुष्प्रावी ' जिसके लिए दे. ४·२५·६ ।]

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम् ॥ ३ ॥

अहम् । राष्ट्री । सम्ऽगमनी । वसूनाम् । चिकितुषी । प्रथमा । यज्ञियानाम् ।
ताम् । मा । देवाः । वि । अदधुः । पुरुऽत्रा । भूरिऽस्थात्राम् । भूरि । आऽवेशयन्तीम् ॥ ३ ॥

मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम् ।
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि ॥ ४ ॥

मया । सः । अन्नम् । अत्ति । यः । विऽपश्यति । यः । प्राणिति । यः । ईम् । शृणोति । उक्तम् ।
अमन्तवः । माम् । ते । उप । क्षियन्ति । श्रुधि । श्रुत । श्रद्धिऽवम् । ते । वदामि ॥ ४ ॥

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः ।
यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥ ५ ॥

अहम् । एव । स्वयम् । इदम् । वदामि । जुष्टम् । देवेभिः । उत । मानुषेभिः ।
यम् । कामये । तम्ऽतम् । उग्रम् । कृणोमि ।
तम् । ब्रह्माणम् । तम् । ऋषिम् । तम् । सुऽमेधाम् ॥ ५ ॥

३. मैं यज्ञार्ह देवोंमें प्रधान होकर इन सभीका ज्ञान रखनेवाली और नाना प्रकारकी संपदाका संग्रह करनेवाली सम्राज्ञी हूँ। देवोंने (प्रार्थना करके) अनेक वस्तुओंमें मेरा निवास और अनेक रूपोंमें मेरा प्रवेश करवाया, और अनेक स्थानोंमें मेरी स्थापना की।

[**संगमनी वसूनाम्** – दे. 'संगमनं जनानाम्' १०·१४·१ । **भूरिस्थात्रां** तथा **भूरि** (आत्मनि) **आवेशयन्तीम्** (वह अनेकोंमें तथा अनेक उसमें अवस्थित हैं) इन पदोंसे दैवी वाक्की विश्वात्मकता सूचित की गई है; दे. 'यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्' भगवद्गीता ८·२२ ।]

४. जो जो प्राणी (आंखोंसे) देखता है, जो जो श्वासोच्छ्वास करता है, जो जो बोला हुआ (वचन) सुन सकता है वह मेरे कारण ही अपना अपना (प्राण धारणके लिये आवश्यक) अन्न भक्षण करता है। वे सभी जीव मुझे (न जानते ही) मुझपर पूरी तौरसे निर्भर रहते हैं या मेरे ही आश्रित हैं। हे सर्वत्र विश्रुत ऋषे, सुनो, श्रद्धा रखने योग्य, बात ही मैं तुमसे कह रही हूँ।

[**अमन्तवः** (मन्तु 'जाननेवाला, पहचानेवाला'; √मन् इस अर्थमें प्रयुक्त)। **श्रुत** को क्रिया (द्वितीय पुरुष बहुवचन) के बजाय (**ते** इस एकवचनके अनुसार कृदन्त मान लें। पूर्वार्धके **यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोति** इन उपवाक्योंके बाद **मया सः** को अन्वित करनेपर उत्तरार्धके **मामुप क्षियन्ति** का अर्थ सुस्पष्ट होगा।]

५. देवोंने और सुज्ञ पुरुषोंने जिस (बात) को प्रसन्नतासे मान लिया है ऐसी यह बात

अ॒हं रु॒द्राय॒ धनु॒रा त॑नोमि ब्रह्म॒द्विषे॒ शर॑वे॒ हन्त॒वा उ॑ ।
अ॒हं जना॑य स॒मदं॑ कृणोम्य॒हं द्यावा॑पृथि॒वी आ वि॑वेश ॥ ६ ॥

अ॒हम् । रु॒द्राय॑ । धनुः॑ । आ । त॒नो॒मि॒ । ब्र॒ह्म॒ऽद्विषे॑ । शर॑वे । हन्त॒वै । ऊँ इति॑ ।
अ॒हम् । जना॑य । स॒ऽमद॑म् । कृ॒णो॒मि॒ । अ॒हम् । द्यावा॑पृथि॒वी इति॑ । आ । वि॒वे॒श ॥ ६ ॥

अ॒हं सु॑वे पि॒तर॑मस्य मू॒र्धन् मम॒ योनि॑र॒प्स्व१॒॑न्तः स॑मु॒द्रे ।
ततो॒ वि ति॑ष्ठे॒ भुव॒नानु॒ विश्वो॒ताम॒ूं द्यां व॒र्ष्मणोप॑ स्पृशामि ॥ ७ ॥

अ॒हम् । सु॒वे॒ । पि॒तर॑म् । अ॒स्य॒ । मू॒र्धन् । मम॑ । योनिः॑ । अ॒प्ऽसु । अ॒न्तरिति॑ । स॒मु॒द्रे ।
ततः॑ । वि । ति॒ष्ठे॒ । भुव॑ना । अनु॑ । विश्वा॑ । उ॒त । अ॒मूम् । द्याम् । व॒र्ष्मणा॑ । उप॑ । स्पृ॒शा॒मि॒ ॥७॥

मैं तुम्हे अपनी ओरसे ही कहती हूँ। जिस पर मैं प्रसन्न होती हूँ उसे उग्र योद्धा, ऋत्विज्, द्रष्टा ऋषि अथवा अत्यन्त प्रतिभाशाली पुरुष बनाकर ही छोड़ती हूँ।

[**तमृषिं कृणोमि**– दे. ऊपर ७·८८·४ के साथ साथ ३·४३·५। **सुमेधाम्**=सुमेधसम्, अथवा **सुमेधा** को आकारान्त शब्द समझें। ऊपर ८·४८·१ में **सुमेधाः** यह प्रथमा एकवचन पाया जाता है। १०·४७·६ में **सुमेधाम्** बृहस्पतिके विशेषणके रूपमें प्रयुक्त हुआ है।]

६. हमारे ब्रह्मोंके विद्वेषीका वध करनेके उद्देश्यसे शरसंधान करनेके लिये रुद्रपर अनुग्रह करूँ इस विचारसे मैं ही उसका धनुष्य झुकाकर सज्ज करती हूँ। उसी प्रकार लोगोंकी इच्छाके लिये उनमें परस्पर युद्ध भी मैं छेड़ देती हूँ। स्वर्ग और पृथ्वी दोनोंमें सर्वत्र ही मैं प्रविष्ट होकर रही हूँ।

[**ब्रह्मद्विषे शरवे** – दोनोंको तादर्थ्ये चतुर्थी मान लें। **ब्रह्मद्विट्** अगर हनन-क्रियाका विषय है तो **शरु** उसका साधन। ब्रह्मद्वेष्टाके लिए के माने हैं 'उसके वधके उद्देश्यसे' तथा शरुके लिए का अर्थ है 'शरुकी सहायतासे उसका वध हो इसलिए'।]

७. इस विश्वके मूर्धापर अधिष्ठित (द्युदेव नामक) विश्वपिताका निर्माण मैं ही कर रही हूँ। मेरा विश्रामस्थान दिव्य समुद्रके अन्दर गहरे पानीमें है। वहाँसे मैं सभी सृष्ट पदार्थोंके अनेक स्थानोंमें अवतरण करती हूँ और मैं उस द्युलोकको अपने शिरसे नित्य ही स्पर्श करती हूँ।

[**पितरम्** याने द्यौः रूपी पिताका भी निर्माण करनेवाली (अर्थात् वाक्)। **अप्सु समुद्रे अन्तः**– 'दिव्य समुद्रके जलमें'। प्रस्तुत ऋचाके उत्तरार्धमें वाग्देवी अपने सर्वव्यापी स्वरूपका वर्णन कर रही है।]

अहमेव वातइव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा ।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सं बभूव ॥ ८ ॥

अहम् । एव । वातःऽइव । प्र । वामि । आऽरभमाणा । भुवनानि । विश्वा ।
परः । दिवा । परः । एना । पृथिव्या । एतावती । महिना । सम् । बभूव ॥ ८ ॥

८. इन सभी भुवनोंको अपने स्पर्शमे आधार देते देते मैं स्वयं वायुकी तरह सर्वत्र संचरण करती हूँ । अपनी महानतासे इस स्वर्गके उस पार (ऊपर) और पृथ्वीके उस पार (नीचे) सभी प्रदेश व्याप्त करने योग्य (एवं) इतनी विशाल बनकर मैं रही हूँ ।

[**एना पृथिव्या** में **एना** के स्वरके लिए दे. ५·७३·४ की टिप्पणी । **परः**– यह अव्यय तृतीयासे (करण कारकसे) संबद्ध होता है ।]

९९

१०·१२७·१–८ कुशिकः सौभरः, रात्रिर्वा भारद्वाजी ॥ रात्रिः ॥ गायत्री ॥

[प्रस्तुत सूक्त एक छोटा रात्रि-सूक्त है। इनमें रात्रिका वह स्वरूप वर्णित है जो मानवके लिए बड़ा उपकारक होता है। उषाको दूर हटाकर प्राणिमात्रको सुखपूर्ण राहत पहुँचानेके उद्देश्यसे (तारकारूपी) नेत्रोंसे विश्वका अवलोकन करती हुई तथा अपने तेजसे अन्धकारका निवारण करती हुई रात आया करती है वैसे अन्धकारको पूर्णतया नष्ट करना रात्रिका कर्तव्य है; मानवोंके प्रति उसका वह ऋण है। अतः सातवीं ऋचामें रात्रिकी बहन उषासे प्रार्थना की गई है कि वह स्वयं अन्धकारका निवारण करके अपनी बहनका ऋण चुका दे।]

रात्री व्यख्यदायती पुरुत्रा देव्यक्षभिः। विश्वा अधि श्रियोऽधित ॥ १ ॥

रात्री। वि। अख्यत्। आऽयती। पुरुऽत्रा। देवी। अक्षऽभिः।
विश्वाः। अधि। श्रियः। अधित ॥ १ ॥

ओर्वप्रा अमर्त्या निवतो देव्युद्वतः। ज्योतिषा बाधते तमः ॥ २ ॥

आ। उरु। अप्राः। अमर्त्या। निऽवतः। देवी। उत्ऽवतः। ज्योतिषा। बाधते। तमः ॥ २ ॥

निरु स्वसारमस्कृतोषसं देव्यायती। अपेदु हासते तमः ॥ ३ ॥

निः। ऊँ इति। स्वसारम्। अकृत। उषसम्। देवी। आऽयती।
अप। इत्। ऊँ इति। हासते। तमः ॥ ३ ॥

१. रात्रि देवी आ रही है अब वह (अपने नक्षत्ररूपी) नयनोंसे अनेक स्थलोंपर ध्यानसे निरीक्षण कर रही है। उसने (इस समय) अपना सारा वैभव धारण किया है।

[**विश्वाः श्रियः अधि अधित**– दे. ऊपर १·८५·२; ५·५७·६।]

२. इस अमर्त्य देवीने विशाल (अन्तरिक्ष) तथा (पृथ्वीके सभी) निम्न और उन्नत प्रदेश (अपने विस्तारसे) पूर्णतया भर दिये हैं। अपने (नक्षत्रादिके) प्रकाशसे वह अन्धेरे भगा रही है।

[**उरु** याने अन्तरिक्षम्। **ज्योतिषा** –तारोंकी सहायतासे फैले हुए प्रकाशके कारण; दे. ऋचा ३।]

३. यहाँ आनेवाली रात्रि देवीने अपनी भगिनी उषाको भी यहांसे दूर भगा दिया है। (तथापि) अन्धेरा तो (यहाँसे) भाग जाएगा।

[**इत्** का अर्थ है 'उषाके न रहते हुए भी'। **स्वसारम् उषसम्**– दे. ऊपर ७·७१·१ की टिप्पणी। यहाँ उषस्‌का अभिप्राय उस दिवससे मान लें जिसका श्रीगणेश उषाके आगमनसे होता है। **निर्**

सा नो॑ अ॒द्य यस्या॑ व॒यं नि ते॒ याम॒न्नवि॑क्ष्महि । वृ॒क्षे न व॑स॒तिं वयः॑ ॥ ४ ॥

सा । नः॒ । अ॒द्य । यस्याः॑ । व॒यम् । नि । ते॒ । याम॑न् । अवि॑क्ष्महि ।
वृ॒क्षे । न । व॒स॒तिम् । वयः॑ । ॥ ४ ॥

नि ग्रामा॑सो अविक्षत॒ नि प॒द्वन्तो॒ नि प॒क्षिणः॑ । नि श्ये॒नास॑श्चिद॒र्थिनः॑ ॥ ५ ॥

नि । ग्रामा॑सः । अ॒वि॒क्ष॒त॒ । नि । प॒त्ऽवन्तः॑ । नि । प॒क्षिणः॑ ।
नि । श्ये॒नासः॑ । चि॒त् । अ॒र्थिनः॑ ॥ ५ ॥

या॒वया॑ वृ॒क्यं१ वृकं॑ य॒वय॑ स्ते॒नमू॑र्म्ये । अथा॑ नः सु॒तरा॑ भव ॥ ६ ॥

य॒वय॑ । वृ॒क्य॑म् । वृक॑म् । य॒वय॑ । स्ते॒नम् । ऊ॒र्म्ये॒ । अथ॑ । नः॒ । सु॒ऽतरा॑ । भ॒व॒ ॥ ६ ॥

उप॑ मा॒ पेपि॑श॒त्तमः॑ कृ॒ष्णं व्य॑क्तमस्थित । उष॑ ऋ॒णेव॑ यातय ॥ ७ ॥

उप॑ । मा॒ । पेपि॑शत् । तमः॑ । कृ॒ष्णम् । वि॒ऽअ॑क्तम् । अ॒स्थि॒त॒ ।
उषः॑ । ऋ॒णाऽइ॑व । या॒त॒य॒ ॥ ७ ॥

अस्कृत- पदपाठ है **निर् अकृत**; संहितामें 'स्' का आगम सादृश्यमूलक है । **सम्** ; **नि**; तथा **परि** इन उपसर्गोंके बाद √कृ धातुके रूप जब रखे जाते हैं तभी प्रायः 'स्' का आगम होता है; यहाँ **निर्** उपसर्गके रहते हुए भी यह आगम हुआ है ।]

४. तुम्हारे आगमनके समय, जिस प्रकार पंछी अपने वृक्षके घोंसलोंमें (विश्रामके लिये लौट आते हैं) तथा हम भी (अपने अपने गृहोंमें) विश्रामके लिये प्रवेश कर चुके हैं; वह तुम आज हमें (सुखसे तुम्हारे पार होने दो)।

[प्रस्तुत ऋचामें मुख्य वाक्यके पूरकके रूपमें छठवीं ऋचासे **सुतरा भव** का अध्याहार आवश्यक है। **वसतिं नि अविक्ष्महि-वसतिम्** के माने है 'वसतिम् आश्रित्य'।]

५. ग्रामके स्त्रीपुरुष, पादचारी प्राणी (आकाशमें उड़नेवाले) पंछी और (अपने भक्ष्य-पर) लोभपूर्ण दृष्टि रखनेवाले श्येन भी (अपने अपने घर लौटकर) विश्राम पा चुके हैं।

[**श्येनासः चित्**- दे. ऊपर २·३८·३ तथा १·४८·६ ।]

६. हे ऊर्म्यै, वृकी, वृक और चोर इन्हें हमसे सुतरां दूर रखो और अनन्तर तुम हमें सुखसे तुम्हारे पार होने दो।

७. यह अत्यन्त कृष्णवर्ण काले रंगका गहरा लेप देनेवाला और सुस्पष्ट प्रतीत होनेवाला अन्धेरा मेरे पास पहुँचा है। हे उषा देवि, ऋणनिवारणकी तरह इसे तुम विनष्ट करो।

[**पेपिशत्** (√पिश्) **तमः**- वास्तवमें इसे दूर करना रात्रि देवीका ही काम था (दे. ऋचा ३), लेकिन वह उसे कर न सकी । अतः अब उसकी बहन उषा देवी उसे संपन्न करे और अपनी बहन रात्रिको मानवके ऋणसे उऋण करे । यही कविका आशय है ।]

उप॑ ते॒ गा इ॒वाक॑रं वृणी॒ष्व दु॑हितर्दिवः । रात्रि॒ स्तोमं॒ न जि॒ग्युषे॑ ॥ ८ ॥

उप॑ । ते॒ । गाःऽइ॑व । आ । अ॒क॒र॒म् । वृ॒णी॒ष्व । दु॒हि॒त॒रिति॑ । दि॒वः ।

रात्रि॑ । स्तोम॑म् । न । जि॒ग्युषे॑ ॥ ८ ॥

८. हे रात्रि देवी, जिस प्रकार विजयी वीरको वधाईका स्तोत्र (उपहारके रूपमें दिया जाता है अथवा) जिस प्रकार (चरवाहा शामको चराकर लायी) गायें (उनके स्वामीको प्रत्यर्पण करता है) उसी प्रकार यह स्तोत्र मैंने तुम्हें समर्पित किया है। हे द्युदेवकी कन्ये, उसका आत्मीयतासे स्वीकार करो।

[प्रस्तुत ऋचामें दो उपमाएं विद्यमान है। दोनोंमें **स्तोमं** यही उपमेय है; पहलीमें अगर **गाः** उपमान हैं तो दूसरीमें **जिग्युषे स्तोमम्**। पहली उपमामें चरवाहेके उस बर्तावकी ओर संकेत है जिसके अनुसार वह सुबह चरानेके लिए चौपाये मालिकसे ले जाता है और सांझमें उन्हें लौटा देता है। यही उपमा ' उप ते स्तोमान् पशुपा-इवाकरम् ' १·११४·९ तथा ' अजा यूथेव पशुरक्षिरस्तम् (स्तोमं वीराय) ' ६·४९·१२ में अधिक सुस्पष्ट रूपमें पाई जाती है। **जिग्युषे स्तोमम्** के लिए दे. ' अंशो धनं न जिग्युषः ' ७·३२·१२।]

१००

१०.१२९.१-७ प्रजापतिः परमेष्ठी ॥ भाववृत्तम् ॥ त्रिष्टुप् ॥

ऋग्वेदके सृष्टिविषयक सूक्तोंमें प्रस्तुत सूक्त नासदीय सूक्तके नामसे अतीव सुविदित एवं महत्त्वपूर्ण है। इसका विषय अत्यन्त जटिल है। सृष्टिकी उत्पत्तिके क्रममें तीन प्रमुख कड़ियोंका निर्देश इस सूक्तमें किया गया है सही; लेकिन सूक्तके अन्तमें उसके द्रष्टाने सूचित किया है कि सृष्टिका निर्माण कब और किससे हुआ यह एक बड़ा रहस्य ही है जो देवोंके लिए भी अगम्य है। मानव बेचारे इसकी थाह कैसे पाते? फिर भी कवियोंने अपनी बुद्धिके सहारे इसे हृदयमें पानेका अगर प्रयत्न किया तो इस रहस्यका भेद करनेमें वे अवश्य सफल हो सकेंगे। इस सूक्तकी भाषा इसके विषयके लिए सर्वथा अनुकूल है।

उपर्युक्त तीन कड़ियोंमेंसे पहलीका वर्णन पहली दो ऋचाओंमें किया गया है। उस समय किसी भी तरहकी द्वन्द्वात्मकता विद्यमान नहो थी; केवल एक ही तत्त्व ' अत्र तत्र सर्वत्र ' व्याप्त था। दूसरी कड़ी तब पैदा हुई जब यह एक तत्त्व ' आभु ' याने ' निर्मित होनेपर उतारू ' हुआ और इसे चारों ओरसे पानीने घेर लिया। मतलब वह आपाततः दब गया। फिर भी वह अपने तपकी सामर्थ्यसे प्रकट हो सका। ठीक इसी समय इस एकमेव आभुमें सृष्टिके निर्माणका काम पैदा हुआ। अब चूंकि इसीसे मानसिक सृष्टिका निर्माण होनेवाला था इसलिए इसे कवियोने ' मनका रेत ' कहा। ऋचा ३ तथा ४ में इसका उल्लेख है और चौथी ऋचाके उत्तरार्धमें यह वर्णन किया गया है कि मन्त्रद्रष्टा कवियोंने अपने हृदयमें अवेन्षण करके यह स्पष्ट रूपसे पहचान लिया कि सत् याने व्याकृत नामरूप विश्वका संबन्ध असत् से याने अव्याकृत नामरूप **एकम् आभु** के रूपमें ऊपर निर्दिष्ट मायावच्छिन्न परमात्मासे है। एकमेव आभुमें सृष्टिके निर्माणकी अभिलाषाका उदय यही सृष्टिके उत्पत्तिक्रमको दूसरी कड़ी है, और उपनिषदोंके **तदैक्षत, सोऽकामयत** आदि वाक्य इसीकी ओर निर्देश करते हैं। इसके बादकी तीसरी कड़ी है इस एक तत्त्वका द्वैधीभाव याने दो भागोंमें विभाजित होना। यही अगली ऋचामे वर्णित है। इसका एक अंश **रेतोधा** याने पुमान् रूपी बना और दूसरा **महिमा** याने रेतके ग्रहण एवं उसके संवर्धन के लिए आवश्यक नारीरूपी महिमा कहलाया और इन दोनोंमें पारस्परिक आकर्षण रूपी (कामरूपी) रश्मि याने धागा भी ऐंचा गया। पांचवीं ऋचामें कविने इन दोनोंमेंसे **महिमारूपी** अंशको ही **स्वधा** (बीज धारण करनेवाली शक्ति) तथा **रेतोधा** रूपी अंशको ही **प्रयतिः** (आगे फेंकनेवाली, अर्पण करनेवाली शक्ति) ये बड़ी चरितार्थ संज्ञाएं समर्पित की हैं। इसके बादकी सृष्टि स्वाभाविक एवं सुविदित ही है; इसलिए कविने उसकी चर्चा नहीं की। इस मायावच्छिन्न परमात्माका इसी तरहका द्वैधीभाव आगे चलकर बृहदारण्यक उपनिषदमें अधिक स्पष्ट रूपसे वर्णित हुआ है; दे. ऋ. ५ की टिप्पणी। अन्तिम दो ऋचाओंमें कविने जो प्रतिपादित करना चाहा वह निम्नानुसार है:- ' सृष्टिका यह गूढ (याने यह किससे और कैसे अर्थात् अनिच्छासे या इच्छाके अनुसार पैदा हुई आदि) सृष्टिके उपरान्त ही उत्पन्न होनेवाले देवोंको भी अगम्य है। हाँ; सबका नियन्त्रण करनेवाले परमात्माको ही यह संभवतः ज्ञात होगा अथवा यह भी संभव है कि ज्ञात होनेके बावजूद उसे भी इसका भान न हो।

नास॑दासी॒न्नो सदा॑सीत्त॒दानीं॒ नासी॒द्रजो॒ नो व्यो॑मा प॒रो यत्।
किमाव॑रीवः॒ कुह॒ कस्य॒ शर्म॒न्नम्भः॒ किमा॑सी॒द्गह॑नं गभी॒रम् ॥ १ ॥
न। अस॑त्। आ॒सी॒त्। नो इति॑। सत्। आ॒सी॒त्। त॒दानी॑म्।
न। आ॒सी॒त्। रजः॑। नो इति॑। विऽओ॑म। प॒रः। यत्।
किम्। आ। अ॒व॒री॒व॒रि॒ति॒। कुह॑। कस्य॑। शर्म॑न्।
अम्भः॑। किम्। आ॒सी॒त्। गह॑नम्। ग॒भी॒रम् ॥ १ ॥

न मृ॒त्युरा॑सीद॒मृतं॒ न तर्हि॒ न रात्र्या॒ अह्न॑ आसीत् प्रके॒तः।
आनी॑दवा॒तं स्व॒धया॒ तदेकं॒ तस्मा॑द्धा॒न्यन्न प॒रः किं च॒नास॑ ॥ २ ॥
न। मृ॒त्युः। आ॒सी॒त्। अ॒मृत॑म्। न। तर्हि॑। न। रात्र्याः॑। अह्नः॑। आ॒सी॒त्। प्र॒ऽके॒तः।
आनी॑त्। अ॒वा॒तम्। स्व॒धया॑। तत्। एक॑म्।
तस्मा॑त्। ह॒। अ॒न्यत्। न। प॒रः। किम्। च॒न। आ॒स ॥ २ ॥

तम॑ आसी॒त्तम॑सा गू॒ळ्हमग्रे॑ऽप्रके॒तं स॑लि॒लं सर्व॑मा इ॒दम्।
तु॒च्छ्येना॒भ्वपि॑हितं॒ यदासी॒त्तप॑स॒स्तन्म॑हि॒नाजा॑य॒तैक॑म् ॥ ३ ॥
तमः॑। आ॒सी॒त्। तम॑सा। गू॒ळ्हम्। अग्रे॑। अ॒प्र॒ऽके॒तम्। स॒लि॒लम्। सर्व॑म्। आः॒। इ॒दम्।
तु॒च्छ्येन॑। आ॒भु। अपि॑ऽहितम्। यत्। आसी॑त्। तप॑सः। तत्। म॒हि॒ना। अ॒जा॒य॒त। एक॑म् ॥ ३ ॥

१. उस समय (याने सृष्टिके पूर्व) यह सत् भी नहीं था; असत् भी नहीं था। तब अन्तरिक्ष लोक या उसके पार रहनेवाला जो आकाश वह भी नही था। (तो फिर) उसने (अपने उदरमें) क्या छिपा रखा था? वह कहाँ और किसकी सुरक्षा में था? अगाध और गहरा, ऐसा जल तो उस समय क्या विद्यमान भी था?

[**आवरीवः** (आ अवरीवः) के कर्ताके रूपमें **इदम्** (ऋचा ३) अथवा **एकम्** (ऋचा २) का और कर्मके रूपमें **किम्** का अन्वय करें; दे. ' एकं वा इदं वि बभूव सर्वम् ' ८.५८.२ । चौथे पादमें **किम्** प्रश्नवाचक सर्वनाम है ।]

२. उस समय न मृत्यु था; न अमृतत्व भी। उसी प्रकार रात्रि या दिनका भी कोई चिह्न नहीं था। उस समय (परमात्म तत्त्व) अकेला ही वातका अस्तित्व न होने पर भी स्वेच्छासे श्वासोच्छ्वास कर रहा था। सचमुच उससे दूसरी कोई वस्तु उस समय थी ही नहीं।

[**आनीत्** (अन्–श्वास लेना)। लक्षणाकी सहायतासे इसके माने होते हैं क्रियाशील होना; अस्तित्व रखना। **अवातम्** –वायुके अभावमें भी आनीत्, विरोधाभासका उदाहरण है।]

३. सृष्टिके पूर्व अन्धेरेने ही अन्धेरेको ढँक लिया था और यह सारा विश्व जलमय होकर उसमें किसीका कोई चिह्न प्रतीत नहीं होता था। वह प्रादुर्भूत होनेवाला (परमात्मतत्त्व) तुच्छ

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥ ४ ॥

कामः । तत् । अग्रे । सम् । अवर्तत । अधि । मनसः । रेतः । प्रथमम् । यत् । आसीत् ।
सतः । बन्धुम् । असति । निः । अविन्दन् । हृदि । प्रतिऽइष्य । कवयः । मनीषा ॥ ४ ॥

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त् ।
रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात् ॥ ५ ॥

तिरश्चीनः। विऽततः। रश्मिः। एषाम् । अधः । स्वित् । आसी३त् । उपरि । स्वित् । आसी३त् ।
रेतःऽधाः । आसन् । महिमानः । आसन् । स्वधा । अवस्तात् । प्रऽयतिः । परस्तात् ॥ ५ ॥

(जल) से (उस समय) आच्छादित हो गया था और अनन्तर तपकी महिमासे वही एक तत्त्व (जगद्रूप) में प्रकट हो गया।

[**तमः** तथा **सलिलं** दोनों शब्द सृष्टिकी उत्पत्तिके पहले की अवस्था की ओर संकेत करते है। **तुच्छय** याने ' आभु ' तत्त्वके चारों ओर विद्यमान वह ' सलिल ' रूपी वेष्टन जो गर्भमें स्थित बालकके चारों ओर गर्भाशयसे बाहर निकलनेवाली गर्भोदकसे भरी चमडेकी थैलीके स्थानपर होता है। **आभु** सृष्टिका उपादान कारण है; **आसीत्** एवं **अजायत** अगर सत्कार्यवादको सूचित करते है, तो **तपसः महिना** (अर्थात् स्वयं अपनी तपस्यासे) चेतनकारणवादकी ओर संकेत करनेवाले शब्द हैं।]

४. उस सृष्टिपूर्व समयमें, मनोरूपी पुरुषका जो सर्वप्रथम (सृष्टिको निर्माण करनेवाला) काम (इच्छा) रूपी रेत उसने उस (परमात्मतत्त्व) का आश्रय ले लिया । प्रतिभासंपन्न कवियोंने इस प्रकार अपनी प्रार्थनाके बलपर हृदयमें ही खोजकर इस वर्तमान (जगत्) के अव्याकृत परमात्मतत्त्वसे विद्यमान रहे हुए निकट संबन्धको निश्चितरूपसे जान लिया।

[पहले पादका अन्वय है— **तत्** (एकमाभु) **कामः समधिवर्तत** । कामको याने सृजनकी इच्छाको मनका **रेत** याने उत्पादक बीज कहा गया है; क्योंकि इच्छाके अभावमें मन कुछ भी उत्पन्न नहीं कर सकता। **सत्**, याने व्याकृत नामरूप विश्व; **असत्** याने अव्याकृत नामरूप विश्व अर्थात् पूर्ववर्तिनी ऋचाका 'आभु'। इन दोनोंका बन्धु याने दोनोंमें संबन्ध स्थापित करनेवाला सूत्र याने प्रस्तुत स्थानपर पूर्वार्धमें निर्दिष्ट **काम**। **हृदि प्रतीष्य** याने अपनी अनुभूतिके बलपर । मतलब, काम अथवा अभिलाषा अगर न हो तो उत्पत्ति नहीं होती यही अनुभव है।]

५. इन्हें जोड़नेवाला बन्ध तिर्यक् होकर सर्वत्र फैला हुआ था। क्या वह (परमात्मतत्त्व) नीचे भी और ऊपर भी रहा था? (वह सचमुच दो भागोंमें विभाजित हो गया और उसकी आधी शक्तियाँ) रेतःसेक करनेवाला पुरुषतत्त्व बन गई और शेष आधी (गर्भधारण-पोषण करने योग्य) विशाल (स्त्रीतत्त्व) हो गई। स्वधा शक्ति नीचे थी और प्रयतिशक्ति उसके पार (ऊपर) थी।

[**एषाम्** —याने उत्तरार्धके **रेतोधाः** तथा **महिमानः** (पुल्लिंगी) । **तिरश्चीनः रश्मिः**–टेढ़ा, परस्पर आक्रमण करनेवाला बन्धन–सूत्र। पूर्ववर्तिनी ऋचाके कामको ही यहाँ दो शक्तियोंको जोड़नेवाला

को अद्धा वेद क इह प्र वोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव ॥ ६ ॥
कः । अद्धा । वेद । कः । इह । प्र । वोचत । कुतः । आऽजाता । कुतः । इयम् । विऽसृष्टिः ।
अर्वाक् । देवाः । अस्य । विऽसर्जनेन । अथ । कः । वेद । यतः । आऽबभूव ॥ ६ ॥
इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न ।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥ ७ ॥
इयम् । विऽसृष्टिः । यतः । आऽबभूव । यदि । वा । दधे । यदि । वा । न ।
यः । अस्य । अधिऽअक्षः । परमे । विऽओमन् । सः । अङ्ग । वेद । यदि । वा । न । वेद ॥ ७ ॥

सूत्र कहा गया है । काम वास्तवमें दोनों शक्तियोंको साँधने, संयुक्त कराने वाला सूत्र है; इसके अभावमें दोनों शक्तियाँ मिलकर उत्पादनका कार्य नहीं कर पाएंगीं । दूसरे पादके प्रश्नका अपेक्षित उत्तर ' हाँ ' यही है । आभु तो एक ही है; अतः वह नीचे और ऊपर याने दोनों स्थानोंपर कैसे रह सकेगा यही सन्देह इस प्रश्नकी तहमें विद्यमान है । इसका उत्तर बृहदारण्यकोपनिषदके निम्नलिखित परिच्छेदमें विस्तारके साथ दिया गया है:— ' स (आत्मा) वै न रेमे । तस्मादेकाकी न रमते । स द्वितीयमैच्छत् । स ह एतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ संपरिष्वक्तौ । स इममेवात्मानं द्वेधा अपातयत् । ततः पतिश्च पत्नी च अभवताम् ' १·४·३ । तीसरे पादमें इन दोनों तत्त्वों (पुंस्तत्त्व तथा स्त्रीतत्त्व) का पुलिङ्ग बहुवचन में और चौथेमें स्त्रीलिङ्ग एकवचन में निर्देश है । **स्वधा** (√धा) ' अपने में धारण करनेवाली शक्ति '; **प्रयतिः** (प्र + √यम्) ' अपने (भीतर) से आगे फेंकनेवाली, समर्पित करनेवाली शक्ति ' ।]

६. सचमुच यह कौन जानता है ? यहाँ कौन यह स्पष्ट रूपमें बता सकेगा ? यह समूची सृष्टि किससे उत्पन्न हुई और कहाँसे आई ? ये देव इस जगत्के निर्माणके उपरान्त अर्वाचीन समयके ही हैं । फिर तो, जिससे यह सृष्टि निर्माण हुई उसे किसने जान लिया है ?

[**अस्य** में सृजनके लिए उन्मुख आभु (ऋचा ३) का उल्लेख है । दूसरे पादके प्रारम्भिक अंशमें एक अक्षर अधिक आया है । इसका कारण संभवतः **आजाता** शब्दके उपसर्ग 'आ' का उस शब्दमें ही अनुप्रवेश होगा जो **विसृष्टि** के ' वि ' उपसर्गके अनुकरणकी उपज है । **आबभूव** के कर्ताके रूपमें **विसृष्टिः** अभिप्रेत है; दे. ऋचा ७ ।]

७. इस समूची सृष्टिका जिससे निर्माण हुआ, जिसने इसकी (बुद्धिपूर्वक) रचना की या नहीं, यह बात जो इस जगत्का स्वामी अत्युन्नत स्वर्गमें राज्यशासन कर रहा है उसे तो सचमुच ज्ञात हो या उसे भी ज्ञात न हो ।

[पूर्वार्धके पहले पादमें **यतः** से उपादान कारणकी ओर तथा दूसरे पादमें **दधे** इस क्रियासे कर्ताकी ओर निर्देश करना कविका अभिप्राय मालूम होता है । दूसरे पादके **न** के बाद **दधे** पद अपेक्षित था; लेकिन उसे जानबूझकर हटाया गया मालूम होता है । इसका नतीजा यह हुआ कि पादमें दो अक्षर कम हुए लेकिन यह भी सही है कि अन्तमें ' न ' के आनेसे ईप्सित अभाव अधिक प्रभावपूर्ण ढंगसे अभिव्यक्त हुआ । **अस्य** शब्दमें स्पष्ट रूपसे पुरोवर्ती विश्वका निर्देश है; दे. १·११६·२५ ।]

१०१

१०.१३५.१–७ कुमारो यामायनः ॥ यमः ॥ अनुष्टुप् ॥

प्रस्तुत सूक्तमें कोई एक कुमार पुरातन पितरोंके राजा यमके साथ वार्तालाप कर रहा है। कठोपनिषद्के नाचिकेतकी सुविदित कथाका संभवतः यही उत्स रहा होगा। पहली दो ऋचाओंमें एक कुमार, संभवतः नचिकेता, किसी औरसे याने प्रायः यमसे कह रहा है; "मेरे पिताने यमके साथ सुखपूर्वक निवास करनेवाले मेरे पुरखाओंके स्नेहके कारण मुझपर अन्याय किया; वे मेरे साथ अच्छा बर्ताव न कर पाए। इससे पहले पहल मैं उनसे नाराज़ हुआ; लेकिन बादमें मेरे मनमें उनके प्रति स्नेहका भाव पैदा हुआ।" ऋचा ३ तथा ४ में यम उस ऋग्रूपी रथका वर्णन कर रहा है जिसमें बैठकर कुमार उसके पास पहुँचा था। ऋचा ५ में यम मन–ही–मन विस्मय-बोधक प्रश्न पूछ रहा हैं—" इस तरहके रथका निर्माण किस कुमारने किया? और इस तरहके अतीव मेधावी कुमारके पिता कौन हैं?" आगामी ऋचामें यम उस विचित्र रथका पुनः वर्णन कर रहा है। सातवीं ऋचाके वक्ताके रूपमें संभवतः कुमारका ही नाम लिया जा सकता है; फिर भी संभव है यमका कोई अनुचर उसका वक्ता हो। पाँचवीं ऋचाके **अनुदेयी** से कविका स्पष्टतया अभिप्राय है कि कुमार यमको दानके रूपमें समर्पित किया गया था। अनुदेयीके रूपमें सामका उल्लेख हुआ है। अतः कुमारने अपने प्रतिनिधिके रूपमें ऋग्रूपी रथ ही यमको दे डाला और उसकी अनुदेयीके रूपमें उसपर विकसित साम भी उसे समर्पित किया। यह प्रतिनिधि एवं अनुदेयी दोनों यमको बहुत पसन्द आए और उसने कुमारको पिताके वचनसे मुक्त करके सम्मानके साथ उसे लौटाया। कुल मिलाकर यही इस कथाका आशय प्रतीत होता है। संभव है कि कठोपनिषद्के नचिकेतोपाख्यानके पूजाकी महिमाका वर्णन करनेके लिए यमकी प्रसन्नताके कारणोंमें अनुकूल परिवर्तन किया हो और आत्मज्ञानकी महिमाका गान करनेके उद्देश्यसे मूल कथामें दूसरे तथा तीसरे वरको जोड़ दिया हो। अन्तिम ऋचामें संक्षेपमें यमका ऐश्वर्य वर्णित है।

यस्मि॑न् वृ॒क्षे सु॑प॒ला॒शे दे॒वैः सं॒पिब॑ते य॒मः।
अत्रा॑ नो वि॒श्पतिः॑ पि॒ता पु॑रा॒णाँ अनु॑ वेनति ॥ १ ॥

यस्मि॑न्। वृ॒क्षे। सु॒ऽप॒ला॒शे। दे॒वैः। स॒म्ऽपिब॑ते। य॒मः।
अत्र॑। नः॒। वि॒श्पतिः॑। पि॒ता। पु॒रा॒णान्। अनु॑। वे॒न॒ति ॥ १ ॥

१. जिस स्थानपर रमणीय पत्रोंसे परिपूर्ण वृक्षके नीचे देवोंके साथ यमराज (अमृत)का पान करता है उस स्थानपर (निवास करनेवाले) अपने प्राचीन पूर्वजोंके लिए हमारा गृह-स्वामी पिता सौहार्द रखता है।

[यमके विशाल एवं ऐश्वर्यसे युक्त स्थानकी तुलना सुन्दर पर्णोंसे लदे हुए वृक्षसे की गई है; दे. १.१६४.२२। तीसरे पादके **नः पिता** का अभिप्राय कुमारके मर्त्यलोकमें विद्यमान पितासे है। आगामी ऋचाका **तस्मै** शब्द इसीकी ओर निर्देश करता है। **पुराणान्** याने वे पूर्वज जो मृत्युके उपरान्त यमलोकमें जाकर बसे हों।]

पुराणाँ अनुवेनन्तं चरन्तं पापयामुया ।
असूयन्नभ्यचाकशं तस्मा अस्पृहयं पुनः ॥ २ ॥

पुराणान् । अनुऽवेनन्तम् । चरन्तम् । पापया । अमुया ।
असूयन् । अभि । अचाकशम् । तस्मै । अस्पृहयम् । पुनरिति ॥ २ ॥

यं कुमार नवं रथमचक्रं मनसाकृणोः ।
एकेषं विश्वतः प्राञ्चमपश्यन्नधि तिष्ठसि ॥ ३ ॥

यम् । कुमार । नवम् । रथम् । अचक्रम् । मनसा । अकृणोः ।
एकऽईषम् । विश्वतः । प्राञ्चम् । अपश्यन् । अधि । तिष्ठसि ॥ ३ ॥

२. अपने पूर्वजोंके लिये सौहार्द रखकर इस प्रकार अनुदार आचरण करनेवाले (मेरे पिताकी ओर) मैंने प्रारम्भमें जरा नाराज़ होकर ही देखा। तो भी बादमें मुझे उसके लिये आत्मीयता प्रतीत होने लगी।

[प्रस्तुत ऋचामें कुमारके कथनका आशय यों है:—पूर्वजोंके प्रति प्रेम ही (पिताके) अन्यायपूर्ण (पापपूर्ण) आचरण का कारण था जिससे मैं पहले पहल बहुत नाराज़ हुआ था सही; लेकिन स्वाभाविक स्नेहके कारण बादमें मेरे मनमें अपने पिताके प्रति प्रेमका उदय हुआ। यहाँ पिताके अन्याय-पूर्ण आचरणपर कोई प्रकाश नहीं डाला गया है। किन्तु बादमें रथपर आरूढ होकर यज्ञ करनेवाले ब्राह्मणोंसे दूर यमकी राजधानीमें पहुँचना आदिका उल्लेख हुआ है जिससे स्पष्ट है कि पिताने कुमारको जीते जी पूर्वजोंको समर्पित किया यही पिताका अन्यायपूर्ण आचरण रहा होगा। **पुनः अस्पृहयम्**—इनका यह अभिप्राय समझ लें कि कुमार अपने पिताके पास लौटनेके लिए उत्सुक हुआ।]

३. यमः—चक्रोंके बिना भ्रमण करनेवाला जो नूतन रथ तुमने अपनी बुद्धिसे निर्माण किया है, उसकी धुराका दण्ड एकही है। फिर भी किसी भी ओरसे आगे जानेवाले इस रथपर तुम (गन्तव्य स्थानका) निश्चित ज्ञान न रखते हुए भी आरूढ हो गये हो।

[यह रथ वास्तवमें ऋचात्मक स्तोत्र ही है। **मनसा** 'बुद्धिके बलपर'। **एकेषं विश्वतः प्राञ्चं** विरोधाभासका अच्छा उदाहरण है। रथकी ईषा जिस ओर हो उसी ओरसे रथ आगे बढ़ता है; लेकिन यह रथ चाहे जिस ओरसे आगे बढ़नेकी क्षमता रखता है। **अपश्यन्** का अभिप्राय निम्नानुसार है:—चूंकि यह रथ बिना सारथि या यन्ता के नियन्त्रणके ईप्सित दिशामें पहुँचता है, तुम्हें इसे नियन्त्रित करनेकी कोई आवश्यकता नहीं थी।]

यं कुमार प्रावर्तयो रथं विप्रेभ्यस्परि ।
तं सामानु प्रावर्तत समितो नाव्याहितम् ॥ ४ ॥

यम् । कुमार । प्र । अवर्तयः । रथम् । विप्रेभ्यः । परि ।
तम् । साम । अनु । प्र । अवर्तत । सम् । इतः । नावि । आऽहितम् ॥ ४ ॥

कः कुमारमजनयद्रथं को निरवर्तयत् ।
कः स्वित्तदद्य नो ब्रूयादनुदेयी यथाभवत् ॥ ५ ॥

कः । कुमारम् । अजनयत् । रथम् । कः । निः । अवर्तयत् ।
कः । स्वित् । तत् । अद्य । नः । ब्रूयात् । अनुऽदेयी । यथा । अभवत् ॥ ५ ॥

यथाभवदनुदेयी ततो अग्रमजायत ।
पुरस्ताद्बुध्न आततः पश्चान्निरयणं कृतम् ॥ ६ ॥

यथा । अभवत् । अनुऽदेयी । ततः । अग्रम् । अजायत ।
पुरस्तात् । बुध्नः । आऽततः । पश्चात् । निःऽअयनम् । कृतम् ॥ ६ ॥

४. हे कुमार, (यज्ञमें उपस्थित) ऋत्विजोंसे दूर जानेके लिये जिस समय तुमने (ऋक्स्तोम रूपी) अपना रथ आगे चलाया उस समय उसके पीछे नौकामें बैठकर तुम्हारा (गाया हुआ) साम भी निकल आया।

[**यं रथं** याने ऋग्रूपी रथ; गानरूपी नौकामें बैठकर साम उस रथका अनुकरण करने लगा। ऋचा यही सामका मूल है; इसीलिए यह कल्पना की गई है; दे. 'यज्ञं विमाय कवयो मनीषा। ऋक्सामभ्यां प्र रथं वर्तयन्ति' १०.११४.६। **विप्रेभ्यः** याने यज्ञस्थ विप्रोंसे दूर, यमके पास।]

५. यमः—ऐसे इस कुमारको किसने जन्म दिया और उसका वह रथ किसने बनाया? और (इस रथरूपी दानपर) अनुदान कैसा (और कौनसा) हुआ यह हमें कौन बता सकेगा?

[**अनुदेयी** वह आनुषङ्गिक दान है जो मुख्य दानके साथ दिया जाता है। यहाँ मुख्य दान है ऋचा और अनुदेयी है साम। पिताने यद्यपि अपने कुमारको ही दानके रूपमें यमको दे डाला, फिर भी मेधावी कुमारने ऋग्रूपी रथ तैयार किया और उसे अपने प्रतिनिधिके रुपमें यमको समर्पित किया। यमने भी उसका स्वीकार करके कुमारको मुक्त किया। यही कविके कथनका आशय प्रतीत होता है; दे. प्रास्ताविक टिप्पणी।]

६. कुमारः—जिस ओर यह (सामरूपी) अनुदान घूम गया उसी ओर (रथका) आगेका भाग भी घूम गया। इसका तलका भाग आगेकी ओर विस्तृत किया गया है और बाहर निकलनेका मार्ग पीछेकी ओर किया गया है।

[इस ऋचामें यमने **अनुदेयी** का, याने आनुषङ्गिक दानके रूपमें समर्पित सामका, कुतूहलपूर्ण वर्णन किया है। **अग्र** याने ऋचाका आद्य अंश; सामसे शुभारम्भ होनेके बाद ही ऋचा शुरू होती है। उत्तरार्धका

इदं यमस्य सादनं देवमानं यदुच्यते।
इयमस्य धम्यते नाळीरयं गीर्भिः परिष्कृतः ॥ ७ ॥

इदम्। यमस्य। सदनम्। देवऽमानम्। यत्। उच्यते।
इयम्। अस्य। धम्यते। नाळीः। अयम्। गीःऽभिः। परिऽकृतः ॥ ७ ॥

आशय निम्नानुसार है—सामके प्रारम्भिक अंशमें आधारभूत (बुध्न) ऋचाके अधिकांशका उच्चारण होता है और अन्तिम अंशमें याने निधनमें वह ऋचा समाप्त होती है।]

७. यही यमराजका निवासस्थान है जिसे देवोंका प्रासाद कहा जाता है। इसके सम्मानके लिये बन्सी बजाई जा रही है। यह स्वयं यम भी (बन्दिजनकी) स्तुतिवाणियोंसे भूषित किया जाता है।

[**नाडीः** शब्द गानात्मक सामकी ओर तथा **गीर्भिः** शब्द मूलभूत ऋचाओंकी ओर निर्देश करता है और यहाँ कुमार अथवा स्वयं कवि बुलन्द स्वरमें कह रहा है कि उन दोनोंकी सहायतासे यमराज सम्मानित हो रहे हैं।]

१०२

१०·१३९·१–६ विश्वावसुर्देवगन्धर्वः ॥ १-३ सविता । ४-६ आत्मा ॥ त्रिष्टुप् ॥

इस सूक्तमें उस विश्वावसु गन्धर्वका वर्णन किया गया है जो द्युलोकमें सोमका अधिष्ठाता देवता है। अन्तरिक्षकी नदियोंके अन्तर्गत सोमकी जानकारी इन्द्रको प्रदान करके उसकी सहायतासे नदियोंके प्रतिद्वन्द्वियोंका विध्वंस कराना तथा उनके मार्गोंको उन्मुक्त करना यही विशेषरूपसे विश्वावसुका कार्य है और प्रस्तुत सूक्तमें यही वर्णित है। ऊपर ९·८५·१२ में इसी गन्धर्वका उल्लेख आया है।

सूर्यरश्मिर्हरिकेशः पुरस्तात् सविता ज्योतिरुदयाँ अजस्रम् ।
तस्य पूषा प्रसवे याति विद्वान्त्संपश्यन् विश्वा भुवनानि गोपाः ॥ १ ॥

सूर्यऽरश्मिः । हरिऽकेशः । पुरस्तात् । सविता । ज्योतिः । उत् । अयान् । अजस्रम् ।
तस्य । पूषा । प्रऽसवे । याति । विद्वान् । सम्ऽपश्यन् । विश्वा । भुवनानि । गोपाः ॥ १ ॥

नृचक्षा एष दिवो मध्य आस्त आपप्रिवान् रोदसी अन्तरिक्षम् ।
स विश्वाचीरभि चष्टे घृताचीरन्तरा पूर्वमपरं च केतुम् ॥ २ ॥

नृऽचक्षाः । एषः । दिवः । मध्ये । आस्ते । आपप्रिऽवान् । रोदसी इति । अन्तरिक्षम् ।
सः । विश्वाचीः । अभि । चष्टे । घृताचीः । अन्तरा । पूर्वम् । अपरम् । च । केतुम् ॥ २ ॥

१. जिसकी किरणें सूर्यकी किरणोंके सदृश हैं और केश पीतवर्ण हैं ऐसे सविताने अपना अविनाशी तेज पूर्वदिशाकी ओर ऊपर आकाशमें फैलाया है। उसकी आज्ञाके अनुसार विद्वान् पूषा अभिभावक होकर सभी भुवनोंका निरीक्षण करते हुए आगे बढ़ता है।

[इस ऋचामें सूर्य तथा पूषा के रूपोंमें समूचे विश्वके प्रेरक एवं उपकारक सविताका वर्णन किया गया है।]

२. मनुष्योंका निरीक्षण करनेवाला, स्वर्ग, पृथ्वी तथा अन्तरिक्ष इन सभीको अपनी महिमासे पूर्ण व्याप्त करनेवाला (विश्वावसु गन्धर्व) स्वर्गके मध्य भागमें विराजित होकर वहाँसे पूर्व और पश्चिमके (सन्धिःप्रकाशरूपी) ध्वजोंके मध्यभागमें सभी दिशाओंमें बहनेवालीं और (अपनी धाराओंसे सर्वत्र) पुष्टिप्रद अन्न विपुल मात्रामें प्राप्त करा देनेवालीं नदियोंका ध्यानसे निरीक्षण करता रहता है।

[**नृचक्षाः** का अभिप्राय विश्वावसुसे ही है; दे. ९·८५·१२। साथ साथ **घृताचीः** में नदियोंका स्पष्ट निर्देश है; दे. 'घृताची सरस्वती' ५·४३·११; 'घृतप्रुषः सप्त स्वसारः' ८·५९·४। **पूर्वम् अपरं च केतुम् अन्तरा**–पूर्व एवं पश्चिम के सन्धिप्रकाशमें याने अन्तरिक्षमें। **अभिचष्टे**– मतलब उनके (नदियोंके) प्रवाहमें वहमान सोमकी ओर ध्यान देता रहता है।]

रायो बुध्नः संगमनो वसूनां विश्वा रूपाभि चष्टे शचीभिः ।
देवइव सविता सत्यधर्मेन्द्रो न तस्थौ समरे धनानाम् ॥ ३ ॥

रायः । बुध्नः । सम्ऽगमनः । वसूनाम् । विश्वा । रूपा । अभि । चष्टे । शचीभिः ।
देवःऽइव । सविता । सत्यऽधर्मा । इन्द्रः । न । तस्थौ । सम्ऽअरे । धनानाम् ॥ ३ ॥

विश्वावसुं सोम गन्धर्वमापो ददृशुषीस्तदृतेना व्यायन् ।
तदन्ववैदिन्द्रो रारहाण आसां परि सूर्यस्य परिधीँरपश्यत् ॥ ४ ॥

विश्वऽवसुम् । सोम । गन्धर्वम् । आपः । ददृशुषीः । तत् । ऋतेन । वि । आयन् ।
तत् । अनुऽअवैत् । इन्द्रः । ररहाणः । आसाम् । परि । सूर्यस्य । परिऽधीन् । अपश्यत् ॥४॥

---

३. संपदाकी यह साक्षात् नींव और वैभवोंका संग्राहक (विश्वावसु गन्धर्व) अपनी सामर्थ्योंसे (इस सामके प्रतिक्षण परिवर्तनशील) सभी रूपोंका ध्यानसे निरीक्षण करता रहता है। इसके व्रत सविताके व्रतकी तरह अनुल्लङ्घनीय होते हैं। और यह इन्द्रकी तरह धनोंके लिए होनेवाले युद्धमें (हमारे पक्षमें) अविचल रहता है।

[यह भी विश्वावसु गन्धर्वका ही वर्णन है। यहाँ उसकी तुलना इन्द्र एवं सविता इन देवोंके साथ की गई है जो नदियोंको मुक्त करनेके लिए विशेष रूपसे प्रसिद्ध हैं; दे. ३.३३.६। **विश्वा रूपा** याने वल्लियोंसे निकलकर देवोंके पेयके रूपमें उपस्थित होनेके कालतकके सोमके विविध रूप; दे. 'विश्वरूपः सोमः' ६.४१.३ के साथ साथ 'विश्वा रूपाणि आविशन्' ९.२५.४; ९.६४.८; ९.८५.१२ आदि।]

४. हे सोम, उस समय (वृत्रके बन्धनमें रहीं) नदियाँ ऋतके अनुसार विश्वावसु गन्धर्वकी ओर (बन्धन-मुक्तिकी आशासे) देखते देखते इधर उधर बहतीं थीं। तब उस (गन्धर्व) के पीछे पीछे द्रुतगतिसे जाकर इन नदियोंके तथा सूर्यके भी निरोधकों (वल और वृत्र इन दोनों) को इन्द्रने चारों ओरसे देख लिया।

[वृत्रकी हिरासतमें पड़ी हुई नदियाँ रिहाई की आस लगाए विश्वावसु गन्धर्वकी ओर देखते हुए कैसे बह रहीं थीं और इसे ध्यानमें रखकर द्रुत गतिसे उनका अनुकरण करते हुए उनको तथा सूर्यको अवरुद्ध करनेवालोंकी निगरानी इन्द्रने कैसे कर रखी इस विषयमें यहाँ कवि सोमसे निवेदन प्रस्तुत कर रहा है। **आसां सूर्यस्य (च) परिधीन्**–इन पदोंके द्वारा कवि अर्थात् वृत्र एवं वल दोनोंकी ओर निर्देश करना चाहता है। **ऋतेन** को **ददृशुषीः** से अन्वित कर लें। **परि अपश्यत्** 'भली भाँति देख लिया'; दे. ऊपर १०.६८.८; १०.१२१.८।]

विश्वावसुरभि तन्नो गृणातु दिव्यो गन्धर्वो रजसो विमानः ।
यद्वा घा सत्यमुत यन्न विद्म धियो हिन्वानो धिय इन्नो अव्याः ॥ ५ ॥

विश्वऽवसुः । अभि । तत् । नः । गृणातु । दिव्यः । गन्धर्वः । रजसः । विऽमानः ।
यत् । वा । घ । सत्यम् । उत । यत् । न । विद्म । धियः । हिन्वानः । धियः । इत् । नः । अव्याः ॥५॥

सस्निमविन्दच्चरणे नदीनामपावृणोद्दुरो अश्मव्रजानाम् ।
प्रासां गन्धर्वो अमृतानि वोचदिन्द्रो दक्षं परि जानादहीनाम् ॥ ६ ॥

सस्निम् । अविन्दत् । चरणे । नदीनाम् । अप । अवृणोत् । दुरः । अश्मऽव्रजानाम् ।
प्र । आसाम् । गन्धर्वः । अमृतानि । वोचत् । इन्द्रः । दक्षम् । परि । जानात् । अहीनाम् ॥६॥

५. अन्तरिक्षकी थाह लेनेवाला यह स्वर्गलोकका विश्वावसु गन्धर्व हमारे उस स्तोत्रको स्वीकृति दे और यद्यपि उसका (व्रत) अनुलङ्घनीय है और यदि वह हमें ज्ञात भी न हो, तो भी हमारी इन स्तुतिवाणियोंको उत्तेजना दे कर, वह उन्हीं स्तुतिवाणियोंकी सुरक्षा करे ।

[**नो अभिगृणातु** के कर्मके रूपमें ' **धियः** ' का अध्याहार करें । **रजसो विमानः**– 'अन्तरिक्षमें स्थित प्रदेशोंको पूर्ण रूपसे जाननेवाला ' । **सत्यम्** –वास्तवमें धर्म इस अध्याहृत शब्दका विशेषण; सविता सत्यधर्मा है (ऋचा ३) । तीसरे पादका अभिप्राय यों है:–' अज्ञानसे अथवा अन्य किसी ढंगसे हमारे हाथों उसके धर्मका उल्लङ्घन भले ही हुआ हो तो भी ' । वरुणके विषयमें ये ही शब्द ५.८५.८ में प्रयुक्त किए गए हैं ।]

६. नदियोंके संचरणमार्गमें ही इस विजयी (सोम) वीरको (इन्द्रने) खोजकर निकाला पर्वतरूपी गोष्ठमें बाँधकर रखीं (नदियोंके) द्वार उसने पूरी तौरसे खोल दिये । विश्वावसु गन्धर्वने उनका अमृतरूपी जल (उस इन्द्रको) खोलकर बता दिया । उस अहिकी पत्नियोंके चातुर्य-की इन्द्रको सभी ओरसे पूरी जानकारी थी ।

[**सस्निम्** –याने सोमको; **चरणे**= संचरणे; दे. १.५६.२; ३.३३.३ । पूर्वार्धमें कर्ताके रूपमें अर्थात् **इन्द्रः** का अध्याहार करें । **अश्मव्रजानाम्** यह **गवाम्** इस अध्याहृत पदका विशेषण; दे. ४.१.१३ । **दुरो अपावृणोत्** का अन्वय **नदीनाम्** तथा **गवाम्** दोनोंसे करें; सन्दर्भ अर्थात् वृत्र एवं वल दोनोंकी कथाओंसे है; दे. ' अपामपिधाना अपावृणोः ' १.५१.४ के साथ साथ १.३२.११ । गायोंके व्रज या गोष्ठ के सन्दर्भमें तो यह धातु हमेशा प्रयुक्त होता है । **आसाम् अमृतानि** के माने हैं नदियों एवं गायों का अमृत याने सोमको तैयार रखनेके लिए आवश्यक पानी एवं दूध । **अहीनाम्**– स्त्रीलिङ्गमें ' अही ' शब्द शायद अहिके कारावासमें पड़ी हुई नदियोंके लिए प्रयुक्त मालूम होता है । यह कहना भी संभव है कि इसके द्वारा कवि अहिकी उन औरतोंकी ओर निर्देश करना चाहता हो जो इन्द्रके लिए अनुकूल हों ।]

१०३

१०·१४६·१–६ देवमुनिरैरम्मदः ॥ अरण्यानी ॥ अनुष्टुप् ॥

इस सूक्तमें अरण्यानीका, अरण्यकी अधिष्ठात्री देवीका, बड़ा ही सुंदर वर्णन किया गया है। यह देवी अत्यन्त निर्भय है और अरण्यके सभी श्वापद अपने अपने शब्दोंसे (ध्वनियोंसे) उसीका स्तवन करते हैं (ऋचा १–२)। भूला-भटका पथिक यदि इसके शासनमें रहनेपर बाध्य हो तो उसकी आँखोंके सामने विविध दृश्य झूमते रहते हैं और उनमें उसे अपने ग्रामीण जीवनकी छाया दिखाई देती है (ऋचा ३ तथा ४)। फिर भी साधारण रूपसे अरण्यानी इस प्रकार भूले-भटके पथिकका कोई अपकार तो नहीं करती, उल्टे उसीकी कृपासे सुन्दर फल खाकर भूखको मिटाने एवं आराम करने की सुविधा उसे प्राप्त होती है (ऋचा ५)। यह देवी वन्य पशुओंकी माता है और अपनी सन्तानोंको स्वाभाविक रूपसे उत्पन्न तथा अच्छा अन्न भरसक मात्रामें प्रदान करनेकी सावधानी बरतती है (ऋचा ६)।

अर॑ण्या॒न्यर॑ण्यान्य॒सौ या प्रेव॒ नश्य॑सि।
क॒था ग्राम॒ं न पृ॑च्छसि॒ न त्वा॒ भीरि॑व विन्दती३ँ ॥ १ ॥

अर॑ण्यानि। अर॑ण्यानि। अ॒सौ। या। प्रऽइ॑व। नश्य॑सि।
क॒था। ग्राम॑म्। न। पृ॒च्छ॒सि॒। न। त्वा॒। भीःऽइ॑व। वि॒न्द॒ती॒ ३ँ ॥ १ ॥

वृ॒षा॒र॒वाय॒ वद॑ते॒ यदु॒पाव॑ति चिच्चि॒कः।
आ॒घा॒टिभि॑रिव धा॒वय॑न्नरण्या॒निर्म॑हीयते ॥ २ ॥

वृ॒ष॒ऽर॒वाय॑। वद॑ते। यत्। उ॒प॒ऽअव॑ति। चि॒च्चि॒कः।
आ॒घा॒टिभिः॑ऽइव। धा॒वय॑न्। अ॒र॒ण्या॒निः। म॒ही॒यते॒ ॥ २ ॥

---

१. हे अरण्यानि, हे अरण्यानि, जो तुम (देखते देखते अचानक) गुप्त हो जाती हो वह तुम गाँव (के मार्ग) की पूछताछ क्यों नहीं करती?। तुम्हें भय तो मानों स्पर्श भी नहीं कर सकता।

[**अरण्यानि** इस संबोधनकी दुहरावटको औत्सुक्यकी परिचायक समझ लें, अथवा दूसरे **अरण्यानि** शब्दको अरण्य शब्दका द्वितीया बहुवचन मानकर उसका अन्वय **प्र नश्यसि** के अप्रत्यक्ष कर्मके रूपमें करें। **विन्दती** ३ की प्लुतिको 'वितर्क' वाचक मान लें। ऋक्प्रातिशाख्य १·२६ के नियमके अनुसार इसमें अनुनासिकत्व आया है।]

२. जिस समय महान् शब्द करनेवाले वृषरवका, मानो किंकिणियोंके तालपर दौड़ाकर चिच्चिक पक्षी साथ देता है, उस समय अरण्यानीकी महानता स्पष्टतया प्रतीत होती है।

उत गार्वइवादन्त्युत वेश्मेव दृश्यते ।
उतो अरण्यानिः सायं शकटीरिव सर्जति ॥ ३ ॥

उत । गार्वःऽइव । अदन्ति । उत । वेश्मऽइव । दृश्यते ।
उतो इति । अरण्यानिः । सायम् । शकटीःऽइव । सर्जति ॥ ३ ॥

गामङ्गैष आ ह्वयति दार्वङ्गैषो अपावधीत् ।
वसन्नरण्यान्यां सायमक्रुक्षदिति मन्यते ॥ ४ ॥

गाम् । अङ्ग । एषः । आ । ह्वयति । दारु । अङ्ग । एषः । अप । अवधीत् ।
वसन् । अरण्यान्याम् । सायम् । अक्रुक्षत् । इति । मन्यते ॥ ४ ॥

न वा अरण्यानिर्हन्त्यन्यश्चेन्नाभिगच्छति ।
स्वादोः फलस्य जग्ध्वाय यथाकामं नि पद्यते ॥ ५ ॥

न । वै । अरण्यानिः । हन्ति । अन्यः । च । इत् । न । अभिऽगच्छति ।
स्वादोः । फलस्य । जग्ध्वाय । यथाऽकामम् । नि । पद्यते ॥ ५ ॥

[**वृषरव** और **चिच्चिक** दोनों कीट हैं जिनके नाम चरितार्थ हैं। **धावयन्** के कर्मके रूपमें 'वृषरवम्' का अध्याहार करके दूसरे तथा तीसरे चरणमें एक ही वाक्य समझ लें। चिच्चिक वह कीट है जो लगातार क्रमसे चिक् चिक् ध्वनि करता रहता है। उसपर यह मानों तालियाँ बजाकर याने ताल देकर (अथवा गलेमें बांधी गई घंटिकाओंके साथ) बैलकी तरह ध्वनि रखनेवाले कीटको भगानेपर बाध्य करते हुए उसका साथ देता रहता है, यही कविकी उत्प्रेक्षा है। **उप अवति**–'सहायता करना है'; 'साथ देता है;' दे. ऊपर १०.९७.१४। चतुर्थीके लिए, दे. १.१६१.१०; अथर्ववेद १.१६.२। कविकी कल्पना है कि इन दोनों कीटोंके इस तरहके कार्यद्वारा अरण्यानीका सम्मान किया जा रहा है (**महीयते**)।]

३. और मानो गायें ही (दूरी पर) चर रहीं हैं। और मानो (दूर कहीं) कोई एकाध गृह दृष्टिपथमें आता है। और शामके समय यह अरण्यानी मानो छोटी छोटी गाड़ियोंको (भर कर गाँवके पास) छोड़ रही है।

[प्रस्तुत ऋचाके साथ साथ चौथी ऋचाके पूर्वार्धमें पथ भूलकर अरण्यमें रहनेपर बाध्य व्यक्ति सूर्यास्तके समय हमेशाके अनुभवके कारण किस तरह विभिन्न दृश्योंको आंखोंके सामने झूमते हुए देखता है इसका वर्णन किया गया है। **सर्जति**–सृज् धातुका आर्ष रूप; दे. 'पिता माता च सर्जतः' अथर्ववेद ५.३०.५ ।]

४. (यह देखो) इधर कोई अपनी गायको (लौट आनेके लिए) बुला रहा है। दूसरे किसीने सचमुच वृक्षकी सूखी शाखा (लकड़ीके लिए) नीचे गिरायी है। (इस प्रकार नाना-विध आभासोंकी अनुभूति लेकर) शामके समय अरण्योंमें वास करनेको विवश हुआ कोई मनुष्य, (सहायताके लिये दूसरा कोई पुरुष) आक्रन्दन कर रहा है ऐसा मानता है।

[उत्तरार्धके **अक्रुक्षत्** के कर्ताके रूपमें पूर्वार्धके **एषः** को याने 'कल्पित मानव' को ही ले लें।]

५. सचमुच देखा जाय तो यदि दूसरा कोई (व्याघ्रादिक हिंस्र पशु इस प्रकार शामके

आञ्जनगन्धि सुरभिं बह्वन्नामकृषीवलाम् ।
प्राहं मृगाणां मातरमरण्यानिमशंसिषम् ॥ ६ ॥

आञ्जनऽगन्धिम् । सुरभिम् । बहुऽअन्नाम् । अकृषिऽवलाम् ।
प्र । अहम् । मृगाणाम् । मातरम् । अरण्यानिम् । अशंसिषम् ॥ ६ ॥

समय अरण्यानीमें वास करनेवाले मनुष्यपर आक्रमण न करेगा तो स्वयं अरण्यानी उसका बाल भी बाँका नहीं होने देती। इतना ही नहीं; किन्तु (उसमें उपलब्ध होनेवाले) मधुर फलोंका आस्वाद लेकर वह मनुष्य अपनी इच्छासे, आरामसे पड़ा रहता है।

[दूसरे चरणके अनुवादमें सायणाचार्यके मतानुसार **चेत्** को एक शब्द माना गया है। किन्तु पदपाठ है **च इत्** जिसके अनुसार अनुवाद यों होगाः—' सचमुच अरण्यानी किसीको मार नहीं डालती और साथ साथ अन्य कोई उसपर आक्रमण नहीं करता '। मतलब; न वह स्वयं मार डालती है न और किसीसे मरवाती है। प्रस्तुत ऋचाके उत्तरार्ध तथा छठवीं ऋचाके **मातरम्** की ओर ध्यान देनेपर यही अर्थ सुसंगत प्रतीत होता है; किन्तु कमसे कम मानवके विषयमें वास्तविकता कुछ और ही है। संभव है कि आगामी ऋचाके **मृगाणां** से कविका अभिप्राय उक्त कथनको मृगों याने पशुओं के विषयमें ही सही माननेसे हो। यदि यह सही है तो ऋचा ४ के **मन्यते** के कर्ताके रूपमें **पुरुषः** का अध्याहार करके ऋचा ५ के **नि पद्यते** के कर्ताके रूपमें **मृगः** का अलग अध्याहार करना पड़ेगा।]

६. (इस प्रकार) चारों ओरसे अञ्जन जैसे सुगन्धसे परिपूर्ण, आकर्षक, किसानका हस्तस्पर्श न होते हुए भी विपुल अन्नधान्यसे संपन्न वन्य पशुओंकी यह माता जो अरण्यानी उसकी मैंने प्रशंसा की है।

[गांवमें यदि किसान न हो तो अन्नकी विपुलता असंभव है सही; लेकिन अरण्यमें यह बात नहीं रहती। अतएव अरण्यानीको मृगोंकी माता कहा गया है। अन्नको अगर पशुओंका अन्न माना गया तो ऊपर ऋचा ५ के उत्तरार्धमें **मृगः** को कर्ता मानना पड़ेगा; दे. ऊपर ऋचा ५ की टिप्पणी।]

१०४

१०·१५१·१–५ श्रद्धा कामायनी ॥ श्रद्धा ॥ अनुष्टुप् ॥

प्रस्तुत सूक्तमें श्रद्धाकी महिमा वर्णित है। यज्ञ करनेवाले विप्रकी ही तरह दानी यजमानको भी श्रद्धाकी नितान्त आवश्यकता है (ऋचा १-२)। ऋचा ३ तथा ४ में अग्नि, इन्द्र, तथा वरुण जैसे असुर संज्ञाके पात्र बड़े देवताओं तथा अन्य छोटे देवों में अभेदकी कल्पना करके यह बतलाया गया है कि वायुको नेता मानते हुए छोटे देवोंने बड़े देवताओंकी श्रद्धाके साथ उपासना की। अन्तमें सभी समयोंपर श्रद्धाका आवाहन करते हुए कवि उसे देवता मानकर ही प्रार्थना करता है कि ' वह हमारे हृदयोंमें श्रद्धा उत्पन्न करे '।

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ॥ १ ॥

श्रद्धया। अग्निः। सम्। इध्यते। श्रद्धया। हूयते। हविः।
श्रद्धाम्। भगस्य। मूर्धनि। वचसा। आ। वेदयामसि ॥ १ ॥

प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः।
प्रियं भोजेषु यज्वस्विदं म उदितं कृधि ॥ २ ॥

प्रियम्। श्रद्धे। ददतः। प्रियम्। श्रद्धे। दिदासतः।
प्रियम्। भोजेषु। यज्वऽसु। इदम्। मे। उदितम्। कृधि ॥ २ ॥

---

१. श्रद्धा होनेपर ही (श्रौत) अग्नि प्रज्वलित किया जाता है। श्रद्धा होगी, तो (उसमें देवोंके लिए) हवि समर्पित किया जाता है। हमारे इस वचनसे हम इस प्रकारकी घोषणा करते हैं कि श्रद्धा भाग्यके शिखरोंपर अधिष्ठित हुई है।

[इस ऋचाके तीसरे पादमें **भग** शब्दका अभिप्राय भाग्यसे समझ लें; किसी देवतासे नहीं। **वचसा आ वेदयामसि** दे. 'तान् वः (ऋभून्) एना ब्रह्मणा वेदयामसि' ४·३६·७।]

२. हे श्रद्धे, (कभी–कभी अनियमित दक्षिणा) देनेवाले अथवा देना चाहनेवाले (यजमानको), तथा अत्यन्त उदार यजमानोंको भी यह मेरा वचन प्रिय हो ऐसा करो।

[**ददतः–दिदासतः** के बाद यज्वनः का अध्याहार। प्रस्तुत ऋचाकी प्रार्थनाका आशय निम्नानुसार है:–दान देनेवाले, देनेकी अभिलाषा रखनेवाले तथा भोज नामसे सुविख्यात दानी एवं सभी प्रकारोंके उदार यजमानोंको मेरा वचन प्रिय प्रतीत हो।]

यथा देवा असुरेषु श्रद्धामुग्रेषु चक्रिरे।
एवं भोजेषु यज्वस्वस्माकमुदितं कृधि ॥ ३ ॥

यथा। देवाः। असुरेषु। श्रद्धाम्। उग्रेषु। चक्रिरे।
एवम्। भोजेषु। यज्वऽसु। अस्माकम्। उदितम्। कृधि ॥ ३ ॥

श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते।
श्रद्धां हृदय्य१याकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु ॥ ४ ॥

श्रद्धाम्। देवाः। यजमानाः। वायुऽगोपाः। उप। आसते।
श्रद्धाम्। हृदय्यया। आऽकूत्या। श्रद्धया। विन्दते। वसु ॥ ४ ॥

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यंदिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः ॥ ५ ॥

श्रद्धाम्। प्रातः। हवामहे। श्रद्धाम्। मध्यंदिनम्। परि।
श्रद्धाम्। सूर्यस्य। निऽम्रुचि। श्रद्धे। श्रत्। धापय। इह। नः ॥ ५ ॥

---

३. जिस प्रकार कनिष्ठ (छोटे) देवोंने उग्र और महापराक्रमी वरिष्ठ (इन्द्रादि) देवोंपर अपनी श्रद्धा (रख कर वह उन्हें प्रिय माळूम हो ऐसी) की, उसी प्रकार हे श्रद्धे, हमारा यह वचन हमारे अत्यन्त उदार यजमानोंको भी प्रिय माळूम हो, ऐसा करो।

[**उग्रेषु असुरेषु**–अग्नि, इन्द्र, वरुण, रुद्र, सोम, बृहस्पति तथा आदित्य के लिए 'असुर' यह विशेषण प्रयुक्त होता है। यहाँ कवि उनकी तुलना भोज यजमानोंसे तथा अपनी तुलना अन्य साधारण देवोंसे कर रहा है। दूसरे चरणमें **प्रियाम्** का अध्याहार करके (**प्रियं**) **कृधि** (ऋचा २) को उपमाका साधारण धर्म मान लें।]

४. वायु जिनका संरक्षक नेता है ऐसे कनिष्ठ देवोंने यज्ञ करते समय श्रद्धाकी ही उपासना की है। हृदयसे निकले हुए आकर्षणसे ही मनुष्य श्रद्धा प्राप्त कर लेता है और श्रद्धासे ही धनका अर्जन भी कर लेता है।

[**वायुगोपाः देवाः**– दे. ऊपर १·१४२·१२। तीसरे चरणमें **विन्दते** इस क्रियाका अध्याहार करें। **हृदय्या आकूतिः**–' हार्दिक आकर्षण '; इसीसे श्रद्धा प्राप्त होकर सुस्थिर होती है; दे. '**मनसः आकूतिः**' १०·१२८·४; १०·१९१·४।]

५. हम प्रातःकालमें इस श्रद्धा देवीका आवाहन करते हैं। तथा मध्याह्न और सूर्यास्त के समयमें भी हम उस श्रद्धाका ही आवाहन करते हैं कि, हे श्रद्धे, हममें श्रद्धा निर्माण हो ऐसा करो।

[**निम्रुचि**–' सूर्यास्तके समय ' दे. १·१५१·५; ८·२७·१९। नि + म्रुच् याने ' नीचे जाना; अस्त होना '; दे. अथर्ववेद २·३२·१। **नः श्रद्धापय**—' हममें श्रद्धाका निर्माण करो '।]

१०५

१०·१५४·१–५ यमी वैवस्वती ॥ भाववृत्तम् । अनुष्टुप् ॥

प्राचीन परम्पराके अनुसार प्रस्तुत सूक्त हाल ही में मृत व्यक्तिको अपने महान् पूर्वजोंके पास याने यमलोक पहुँचनेका आदेश देता है। इस अवसरसे लाभ उठाते हुए कवि उस स्थानमें विद्यमान पुरातन पितरोंके अन्न-पान आदिके उस वैभवका वर्णन कर रहा है जो उन्होंने (पितरोंने) अपने इष्टापूर्तके बलपर अर्जित किया था। पहली तीन ऋचाओंमें विभिन्न कर्मोंके बलपर यमलोक पहुँचे हुए पूर्वज पितरों एवं उनके विविध प्रकारों के अन्नोंका वर्णन करके मृत जीवको वहाँ पहुँचनेका आदेश दिया गया है। अन्तिम दो ऋचाओंमें राजा यमसे प्रार्थना की गई है कि वह हाल ही में मृत जीवके साथ ही उन महान् पूर्वजों या पितरों के पास पहुँचकर उनका कुशल पूछ लेनेकी कृपा करे।

प्राचीन परंपरा वैवस्वती यमीको याने राजा यमकी भगिनीको ही इस सूक्तकी ऋषिका मानती है। यदि यह सही है तो संभव है कि समूचा सूक्त ही यमसे कहा गया हो। साथ साथ यह भी मानना पड़ेगा कि इस सूक्तके अन्तमें वैवस्वती यमी अपने भाईसे ही प्रार्थना कर रही है कि वह अपने राज्यमें आकर बसे हुए सुयोग्य एवं महान् पुरातन पितरोंके पास पहुँचकर उनका कुशल पूछनेकी सावधानी बरते। हाँ, इस सूक्तमें यम नामके हाल ही मृत व्यक्तिको उसकी बहन अन्तिम बिदा दे रही है यह मानना सर्वथा असमीचीन होगा।

सोम॒ एके॑भ्यः पवते घृ॒तमेक॒ उपा॑सते ।
येभ्यो॒ मधु॑ प्र॒धाव॑ति॒ ताँश्चि॑दे॒वापि॑ गच्छतात् ॥ १ ॥

सोम॑ः । एके॑भ्यः । प॒व॒ते॒ । घृ॒तम् । एके॑ । उप॑ । आ॒स॒ते॒ ।
येभ्य॑ः । मधु॑ । प्र॒ऽधाव॑ति । तान् । चि॒त् । ए॒व । अपि॑ । ग॒च्छ॒ता॒त् ॥ १ ॥

तप॑सा॒ ये अ॑नाधृ॒ष्यास्तप॑सा॒ ये स्व॑र्य॒युः ।
तपो॒ ये च॑क्रि॒रे महु॒स्ताँश्चि॑दे॒वापि॑ गच्छतात् ॥ २ ॥

तप॑सा । ये । अ॒ना॒धृ॒ष्याः । तप॑सा । ये । स्व॑ः । य॒युः ।
तप॑ः । ये । च॒क्रि॒रे । मह॑ः । तान् । चि॒त् । ए॒व । अपि॑ । ग॒च्छ॒ता॒त् ॥ २ ॥

---

१. वहाँके कुछ लोगोंके लिए सोमरस शुद्ध होकर बहता है तो दूसरे कुछ घृतसे ही अपना निर्वाह करते हैं। (उन लोगोंको और, एवं) जिनके लिये (नदीकी तरह) मधु वेगसे बहता है उनसे (हे यम), तुम मिल जाओ (और उनका परामर्श लो)।

२. अपने तपकी सामर्थ्यसे जो (शत्रुओंको) दुर्लङ्घ्य हो गये और जिन्होंने अपने तपसे सूर्यका तेज भी प्राप्त कर लिया, उसी प्रकार जिन्होंने तपको ही अपना धनवैभव मान लिया था उन हमारे पूर्वजोंसे भी (हे यम) तुम मिल जाओ, (और उनका योग्य परामर्श लो)।

ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः ।
ये वा सहस्रदक्षिणास्ताँश्चिदेवापि गच्छतात् ॥ ३ ॥

ये । युध्यन्ते । प्रऽधनेषु । शूरासः । ये । तनूऽत्यजः ।
ये । वा । सहस्रऽदक्षिणाः । तान् । चित् । एव । अपि । गच्छतात् ॥ ३ ॥

ये चित् पूर्व ऋतसाप ऋतावान ऋतावृधः ।
पितॄन् तपस्वतो यम ताँश्चिदेवापि गच्छतात् ॥ ४ ॥

ये । चित् । पूर्वे । ऋतऽसापः । ऋतऽवानः । ऋतऽवृधः ।
पितॄन् । तपस्वतः । यम । तान् । चित् । एव । अपि । गच्छतात् ॥ ४ ॥

सहस्रणीथाः कवयो ये गोपायन्ति सूर्यम् ।
ऋषीन् तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात् ॥ ५ ॥

सहस्रऽनीथाः । कवयः । ये । गोपायन्ति । सूर्यम् ।
ऋषीन् । तपस्वतः । यम । तपःऽजान् । अपि । गच्छतात् ॥ ५ ॥

---

३. (जीवित अवस्थामें) जो शूर वीर युद्धोंमें प्राणोंकी परवाह न करते हुए मरणपर्यन्त लड़े, या जिन्होंने सहस्रों गायें (विद्वान् ब्राह्मणोंको) दक्षिणाके रूपमें दे दीं ऐसे (वहाँ उपस्थित) पितरोंसे तुम मिल जाओ और (हे यमने, उन का योग्य परामर्श लो) ।

[इन ऋचाओंमें उन पूर्वजोंका वर्णन है जो अपनी बलपर यमलोकरूपी स्वर्गमें विभिन्न उपभोग प्राप्त करनेमें सफल हुए हों । तीसरी ऋचामें सूचित किया गया है कि युद्ध करते करते खेत रहनेवाले योद्धाओं तथा उदार दक्षिणा प्रदान करनेवाले राजाओं को भी यह लोक तथा यहाँके उपभोग प्राप्त होते हैं ।]

४. हे यम, जो हमारे पूर्वज ऋतकी उपासना करके उनके साथ एकनिष्ठतासे रहकर उसके वैभवका संवर्धन कर रहे हैं उन हमारे तप करनेवाले पितरोंसे भी, (जब वे तुम्हारे लोकमें आएंगे तब) तुम मिल जाओ, (और उनका योग्य परामर्श लो) ।

५. सहस्रों नीथोंके ज्ञाता जो कवि सूर्यकी भी रक्षा करते हैं उन तप॰ करनेवाले और तपसे ही जिन्हें (पुनः) जीवन प्राप्त हुआ उन हमारे पूर्वज ऋषियोंसे, हे यम, तुम मिल जाओ (और उनका योग्य परामर्श लो) ।

[इन दो ऋचाओंमें यह सूचित किया गया है कि ये पूर्वज पितर ऋतकी आराधना एवं विविध प्रकारोंकी तपस्याके बलपर सूर्यका रक्षण करनेके लिए भी पात्र हो चुके थे । यमलोकमें अंधेरा नहीं होता; अतः सूर्यके दर्शन तो हमेशा होते रहते हैं । फलस्वरूप उसी यमलोकको ऋचा २ में स्वर्की संज्ञा दी गई प्रतीत होती है । **अपि** उपसर्ग ' गहराइ ' का वाचक है; इसलिए **अपि गच्छतात्** को ' उनके पास पहुँचकर उनसे प्रेमसे मिल जाओ ' के अर्थमें मानना चाहिए । तपस्याका उल्लेख दूसरी ऋचामें भी है और हाल ही में मृत व्यक्तिको दिए गए आदेशमें भी विद्यमान है। अतः प्रतीत होता है कि यहाँ यमसे की गई प्रार्थनामें उसका फिर एक बार उल्लेख तपस्याको सर्वोपरि स्थान प्रदान करनेके उद्देश्यसे ही किया गया है ।]

१०६

१०·१६१·१–५ यक्ष्मनाशनः प्राजापत्यः ॥ इन्द्राग्नी राजयक्ष्मघ्नं वा ॥
१–४ त्रिष्टुप् । ५ अनुष्टुप् ॥

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात् ।
ग्राहिर्जग्राह यदि वैतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तमेनम् ॥ १ ॥

मुञ्चामि । त्वा । हविषा । जीवनाय । कम् । अज्ञातऽयक्ष्मात् । उत । राजऽयक्ष्मात् ।
ग्राहिः । जग्राह । यदि । वा । एतत् । एनम् ।
तस्याः । इन्द्राग्नी इति । प्र । मुमुक्तम् । एनम् ॥ १ ॥

यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव ।
तमा हरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पार्षमेनं शतशारदाय ॥ २ ॥

यदि । क्षितऽआयुः । यदि । वा । पराऽइतः । यदि । मृत्योः । अन्तिकम् । निऽइतः । एव ।
तम् । आ । हरामि । निःऽऋतेः । उपस्थात् । अस्पार्षम् । एनम् । शतऽशारदाय ॥ २ ॥

१. आहुति प्रदान करके मैं तुम्हें इस अज्ञात रोगसे तथा राजयक्ष्मासे मुक्त करता हूँ ताकि (तुम निर्बाध रूपसे) जी सको । यद्यपि ग्राहिने इसे ग्रस लिया हो तो भी हे इन्द्राग्नी, तुम उससे इसे पूर्णतया मुक्त करो ।

[**राजयक्ष्मात् – यक्ष्माणां राजा (यक्ष्म = यक्ष्मन्);** दे. १०·८५·३१; १०·९७·११–१२; १०·१३७·७; १०·१६३·१–६ । **ग्राहिः**– ग्रसनेवाली, आतङ्कमें लेनेवाली शक्ति; **द्रुह** की तरह इसके पास भी पाश होते हैं; दे. अथर्ववेद ६·११२·२ ।]

२. चाहे इसके जीवनकी अवधि समाप्त हुई हो, चाहे यह चल बसा हो और चाहे यह मृत्युके पास पहुँचा हो फिर भी निर्ऋतिकी गोदसे मैं इसे छीन ले रहा हूँ । मैं इस व्यक्ति की शत वर्षोंतक जीनेमें सहायता कर चुका हूँ ।

[प्रस्तुत ऋचा चिकित्सककी वह आदर्श अभिव्यक्त करती है जिसके अनुसार वह अन्तिम क्षण तक निराश न होते हुए रोगीको मृत्युसे बचानेका प्रयत्न करता है । ऋचाका पूर्वार्ध उन तीन क्रमिक अवस्थाओंकी ओर संकेत करता है जिनसे इहलोकसे परलोक पहुँचनेवाला व्यक्ति गुजरता है ।]

सहस्राक्षेण शतशारदेन शतायुषा हविषाहार्षमेनम् ।
शतं यथेमं शरदो नयातीन्द्रो विश्वस्य दुरितस्य पारम् ॥ ३ ॥
सहस्रऽअक्षेण । शतऽशारदेन । शतऽआयुषा । हविषा । आ । अहार्षम् । एनम् ।
शतम् । यथा । इमम् । शरदः । नयाति । इन्द्रः । विश्वस्य । दुःऽइतस्य । पारम् ॥ ३ ॥
शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्ताञ्छतमु वसन्तान् ।
शतमिन्द्राग्नी सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषेमं पुनर्दुः ॥ ४ ॥
शतम् । जीव । शरदः । वर्धमानः । शतम् । हेमन्तान् । शतम् । ऊँ इति । वसन्तान् ।
शतम् । इन्द्राग्नी इति । सविता । बृहस्पतिः । शतऽआयुषा । हविषा । इमम् । पुनः । दुः ॥४॥
आहार्षं त्वाविदं त्वा पुनरागाः पुनर्नव ।
सर्वाङ्ग सर्वं ते चक्षुः सर्वमायुश्च तेऽविदम् ॥ ५ ॥
आ । अहार्षम् । त्वा । अविदम् । त्वा । पुनः । आ । अगाः । पुनःऽनव ।
सर्वऽअङ्ग । सर्वम् । ते । चक्षुः । सर्वम् । आयुः । च । ते । अविदम् ॥ ५ ॥

३. हजार नेत्रोंवाली एवं हजार शरदों तथा, हजार वर्षोंकी संपूर्ण अवधिसे संबद्ध आहुतिके द्वारा मैंने इसे छीन लिया है ता कि सौ वर्षोंकी अवधिमें इन्द्र इसे सभी विपदाओंके पार पहुँचाए।

[**सहस्राक्षेण**–' आहुति'का वह अर्थपूर्ण विशेषण जो चहुँ ओरसे आनेवाली आपत्तियोंके प्रतीकारकी दक्षता एवं सक्षमता का परिचायक है । **शतशारदेन** तथा **शतायुषा** दोनों विशेषण यह सूचित करते हैं कि आहुतिका प्रभाव यजमानका जीवनभर साथ देगा; वह क्षणिक या अल्पजीवी नहीं है ।]

४. सौ शरदों, सौ हेमन्तों एवं सौ वसन्तों तक तुम वर्धमान होकर जीते रहो। हमारी उस यज्ञीय आहुति–जो सौ वर्षोंतक फल देनेमें सक्षम है–के द्वारा इन्द्राग्नी, सविता एवं बृहस्पति हमें इस (रोगीको) लौटा दें ताकि यह सौ (शरदों, हेमन्तों एवं वसन्तों) तक जी सके।

[ऋ. १०·९०·६ में तीन ऋतुओंके नाम बतलाते हुवे **हेमन्त** के स्थानपर **ग्रीष्म** का उल्लेख हुआ है । ऋग्वेदके मण्डूक–सूक्तमें बरसातके समयके रूपमें प्रावृषं का उल्लेख हुआ है अवश्य; लेकिन संवत्सरकी ऋतुओंमें **वर्षा** एवं **शिशिर** का उल्लेख ऋग्वेदमें कहीं भी नहीं पाया जाता ।]

५. मैंने तुम्हें छीन लिया है, मैंने तुम्हें फिरसे पा लिया; हे पुनरुज्जीवित (रोगी मानव), तुम लौट चुके हो। हे सभी अवयवोंसे संयुक्त मानव, मैंने तुम्हारी समूची दृक्–शक्तिको तथा तुम्हारी समूची जीवन–शक्तिको तुम्हारे लिए फिरसे जीत लिया है।

[**पुनर्नव**–' वह जो फिरसे नया हो चुका' याने ' वह जिसका पुनर्जन्म हुआ हो '। **सर्वाङ्ग** (बहुव्रीहि)–' सभी अवयवोंसे युक्त '; वास्तवमें ' कर्मेन्द्रियवान् ' याने वह जिसकी कर्मेन्द्रियाँ अपना अपना कार्य करनेमें समर्थ हों।' **चक्षुः** अगर सभी ज्ञानेन्द्रियोंका उपलक्षण है तो **आयुः** सभी आवश्यक शक्तियोंका।]

१०७

१०·१६८·१–४ अनिलो वातायनः ॥ वायुः ॥ त्रिष्टुप् ॥

वातस्य नु महिमानं रथस्य रुजन्नेति स्तनयन्नस्य घोषः ।
दिविस्पृग्यात्यरुणानि कृण्वन्नुतो एति पृथिव्या रेणुमस्यन् ॥ १ ॥

वातस्य । नु । महिमानम् । रथस्य । रुजन् । एति । स्तनयन् । अस्य । घोषः ।
दिविऽस्पृक् । याति । अरुणानि । कृण्वन् । उतो इति । एति । पृथिव्या । रेणुम् । अस्यन् ॥१॥

सं प्रेरते अनु वातस्य विष्ठा ऐनं गच्छन्ति समनं न योषाः ।
ताभिः सयुक् सरथं देव ईयतेऽस्य विश्वस्य भुवनस्य राजा ॥ २ ॥

सम् । प्र । ईरते । अनु । वातस्य । विऽस्थाः । आ । एनम् । गच्छन्ति । समनम् । न । योषाः ।
ताभिः । सऽयुक् । सऽरथम् । देवः । ईयते । अस्य । विश्वस्य । भुवनस्य । राजा ॥ २ ॥

१. वातके रथकी महिमाका (अब मैं वर्णन करता हूँ)। इसका निर्घोष (अपने मार्गवर्ती) वृक्षादिको) तोड़ते फोड़ते और गर्जना करते हुए संचरण करता है। (इधर उधर भ्रमण करनेवाले मेघोंको) अरुणिमासे रञ्जित करते हुए वह आकाशमें आरुढ होकर भ्रमण करता है और पृथ्वीकी धूलिको भी ऊपर उड़ाते हुए घूमता है ।

[इस ऋचामें ' प्र वोचम् ' इन पदोंका अध्याहार करें; दे. १·३२·१; १·१५४·१ । **अरुणानि** के बाद ' रजांसि ' का अध्याहार करना उचित होगा । **पृथिव्या** (तृतीया) **एति**–' स्वर्ग ' की तरह पृथ्वीपर यह संचरण करता रहता है । ' यहाँ पदपाठ **पृथिव्या** तृतीयान्त है; इसके विरुद्ध षष्ठी या संबन्धकारक मानकर **रेणुम्** के साथ इसका अन्वय करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है । तृतीयान्त प्रयोगके लिए दे. ' स्रवितवे पृथिव्या ' याने पृथ्वीपर बहनेके लिए ' ४·१९·८ के साथ साथ ' दिवा यान्ति मरुतो भूम्या अग्निः अयं वातो अन्तरिक्षेण याति ' १·१६१·१४ ।]

२. इस वातकी सर्वत्र खड़ी हुई अनुसरण करनेवाली लहरें (याने वातिकाएँ) एक साथ होकर उसके पीछे दौड़ती हैं । यात्राके लिये संमिलित होनेवाली प्रमदाओंकी तरह ये इसके पास जातीं हैं । उन्हें अपने रथमें लेकर उनके साथ इन सभी भुवनोंका राजा यह देव आगे चलता रहता है ।

[**विष्ठाः** (वि + √स्था)– ' विभिन्न स्थानोंपर घूमती रहनेवाली वायुकी लहरें (वातिका) '; दे. अनुष्ठाः १·५४·१० (अनुयायियोंके अर्थमें) के साथ साथ परिष्ठाः १०·९७·१० (विरोधकोंके अर्थमें)। वरुणकी **विष्ठाः** का उल्लेख अथर्ववेद ५·१·८ में पाया जाता है। **समनं न योषाः** समनके माने हैं एक आनन्दपूर्ण समारोह जहां पहुँचना युवतियोको बहुत भाता है; दे. ४·५८·८; ६·७५·४। **विश्वस्य भुवनस्य राजा** –दे. ३·४६·२ तथा ६·३६·४ (इन्द्र); ५·८५·३ (वरुण); ९·९७·५६ (सोम) ।]

अन्तरिक्षे पथिभिरीयमानो न नि विशते कतमच्चनाहः।
अपां सखा प्रथमजा ऋतावा क्व स्विज्जातः कुत आ बभूव ॥ ३ ॥

अन्तरिक्षे। पथिऽभिः। ईयमानः। न। नि। विशते। कतमत्। चन। अहरिति।
अपाम्। सखा। प्रथमऽजाः। ऋतऽवा। क्व। स्वित्। जातः। कुतः। आ। बभूव ॥ ३ ॥

आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो यथावशं चरति देव एषः।
घोषा इदस्य शृण्विरे न रूपं तस्मै वाताय हविषा विधेम ॥ ४ ॥

आत्मा। देवानाम्। भुवनस्य। गर्भः। यथाऽवशम्। चरति। देवः। एषः।
घोषाः। इत्। अस्य। शृण्विरे। न। रूपम्। तस्मै। वाताय। हविषा। विधेम ॥ ४ ॥

---

३. अपने मार्गोंसे अन्तरिक्षमें भ्रमण करता हुआ यह वात किसी भी दिन विश्रामके लिए ठहरकर रुकता नहीं। यह स्वर्गीय जलोंका सखा, प्रथम-जात, ऋतका अनुसरण करनेवाला देव कहाँ पैदा हुआ और कहाँसे प्रादुर्भूत हुआ था ?

[**अन्तरिक्षे**–दे. ऊपर ऋचा १ में निर्दिष्ट १.१६१.१४। **अपां सखा**–अर्थात् 'पावसकी सहायता करनेवाले' के अर्थमें; दे. ५.८३.४। **वातापर्जन्या** इस युगलका उल्लेख भी १०.६६.१० में पाया जाता है।]

४. सभी देवोंका प्राण और निखिल भुवनका प्रिय शिशु, यह देव अपनी इच्छाके अनुसार संचरण करता है। केवल इसकी ध्वनियाँ ही सुननेमें आतीं हैं, किन्तु इसके रूपका (दर्शन हुआ ऐसा कहीं) सुना ही नहीं। उस वातको हवि समर्पित करके हम उसकी सेवा करें।

[**घोषाः शृण्विरे न रूपं** (ददृशे); दे. 'ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम्' १.१६४.४४ जहाँ 'ध्राजि' का अर्थ है गमन; दे. 'वातस्यानु ध्राजिं यन्ति' १०.१३६.२। इस तरह सभी देवोंकी आत्मा वातको देवोंमें सर्वोपरि मानना तय करके १०.१२१ में पूछे गए प्रश्न (कस्मै देवाय हविषा विधेम) ये उत्तरके रूपमें यहाँ (चौथे चरणमें) कवि यह कह रहा है कि वातको ही हम हवि समर्पित करें' यह अनुमान करना भी संभव है।]

१०८

१०·१९१·१–४ संवनन आङ्गिरसः ॥ १ अग्निः । २–४ संज्ञानम् ॥
१, २, ४ अनुष्टुप् । ३ त्रिष्टुप् ॥

प्रस्तुत सूक्तका उद्देश्य है ' हम सब आपसी मतभेदोंको तिलाञ्जलि देकर एक मञ्चपर उपस्थित हों '। अग्नि ही वह देवता है जो ऋत्विजोंकी सभी अभिलाषाओंकी पूर्ति करता है। अतः उसकी उपस्थिति या गवाही में ईप्सित सामञ्जस्यकी स्थापना करनेके उद्देश्यसे प्रारम्भमें ही सभीकी ओरसे एक ही हव्य समर्पित करनेके लिए (ऋचा ३) प्रज्वलित अग्निकी प्रार्थना की गई है।

संसमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ।
इळस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर ॥ १ ॥

समऽसम् । इत् । युवसे । वृषन् । अग्ने । विश्वानि । अर्यः । आ ।
इळः । पदे । सम् । इध्यसे । सः । नः । वसूनि । आ । भर ॥ १ ॥

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥ २ ॥

सम् । गच्छध्वम् । सम् । वदध्वम् । सम् । वः । मनांसि । जानताम् ।
देवाः । भागम् । यथा । पूर्वे । सम्ऽजानानाः । उपऽआसते ॥ २ ॥

---

१. हे पराक्रमी अग्निदेव, सभी प्रकारकी (संपदाएँ) शत्रुके पाससे भी तुम अपने पास एकत्रित करते हो। इस इडा देवीके स्थानपर तुम हमसे प्रज्वलित किये गये हो। ऐसे तुम हमें (हममें एकमत स्थापित करके) संपदा लाकर दो।

[**सं सं विश्वानि युवसे**– ये शब्द बड़े अर्थपूर्ण हैं। सभी प्रकारोंकी वस्तुओंको किसी भी ढंगसे अगर तुम एक स्थानपर ला सकते हो तो हममें सामञ्जस्य या ऐक्य को स्थापित करनेमें तुम्हारे लिए कोई कठिनाई नहीं होगी। **इळः पदे** याने वेदिपर; दे. ऊपर ३·२९·४।]

२. तुम सभी एक मतसे संचार करो और एकमतसे बोलो। जिस प्रकार प्राचीन समयके देवोंने (हृदयसे) एकमत बनकर अपने–अपने हविर्भागका स्वीकार किया उसी प्रकार तुम्हारे मन भी एक हो जायँ।

[कविका अभिप्राय यों हैः–देवोंने भी सहमत होकर यज्ञके अपने अपने अंश प्रेमके साथ उठा लिए; तो अब हम ऋत्विज विभाजनके विषयमें नाहक मतभेदोंका निर्माण या कलह क्यों करें ?]

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम् ।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥ ३ ॥

समानः । मन्त्रः । सम्ऽइतिः । समानी । समानम् । मनः । सह । चित्तम् । एषाम् ।
समानम् । मन्त्रम् । अभि । मन्त्रये । वः । समानेन । वः । हविषा । जुहोमि ॥ ३ ॥

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥ ४ ॥

समानी । वः । आऽकूतिः । समाना । हृदयानि । वः ।
समानम् । अस्तु । वः । मनः । यथा । वः । सुऽसह । असति ॥ ४ ॥

३. तुम सभीका मन्त्र एक ही (रहने दो)। तुम्हारी सभा एक ही हो और मन भी एकरूप होकर, चित्त (अर्थात् विचार) भी एकरूप होने दो। तुम सभीके एकही मन्त्रका अभिमन्त्रण करके मैं एक ही आहुतिसे (अग्निमें) हवन करता हूँ।

[प्रस्तुत ऋचाके उत्तरार्धसे स्पष्ट है कि प्रारम्भसें ही अग्निका उल्लेख अपेक्षित था। इससे यह भी स्पष्ट है कि पहली ऋचाको सूक्तसे असंबद्ध या अलग नहीं माना जा सकता।]

४. तुम सभीका संकल्प एकरूप हो और तुम्हारे हृदय भी एकरूप हो जायँ। तुम्हारा यह सहजीवन भली भाँति सफल हो इस लिए तुम्हारे मनकी भी एकता संपन्न हो।

[**सुसह**-अव्यय (सु + सह)-' एकत्र रहना ', ' ऐकमत्य ', ' जीवनभर सहयोग ' आदि।]

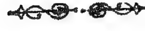
ऋषिसूची

देवतासूची

मन्त्रसूची

अ

शब्दकोश



[अ.= अव्यय; त.= तत्पुरुष; ब.= बहुव्रीहि; वि. = विशेषण. इस कोशमें सिर्फ़ चुने हुए संदर्भ उपस्थित हैं ।]

अंशु (पु.) सोमलता (का काण्ड) ३·४८·२

अंस (पु.) कन्धा ५·५७·६

अंहस् (न.) आपत्ति, संकट, अनर्थ २·२३·४–५; ३·५९·२

अकृषीवल (वि.) जिसमें कृषीवलका हस्तस्पर्श नहीं १०·१४६·६

अक्तु (पु.) (१) रौनक; चमक–दमक; दीप्ति (२) रात्रि, रात्रिका अन्धेरा १·१४३·३; १·५०·२; १०·१४·९

अक (पु.) घोड़ा, अश्व १·१४३·७

अक्ष (पु.) पाँसा १०·३४·२, ४

अक्षन् (न.) नेत्र, ज्ञानेन्द्रिय ७·५५·६; १०·१२७·१

अक्षि (न.) नेत्र, आँख १·११६·१६

अक्षिपत् (वि. त.) नयनमें घुसे हुए (रजःकण) १०·११९·६

अख्खलीकृत्य (क्रि.) 'अख्खल' शब्दानुकारी ध्वनि करके ७·१०३·३

अगद (वि. ब. गद–रोग) नीरोग; रोगरहित १०·९७·२

अगोह्य (पु.) एक व्यक्तिका नाम ४·३३·७

अग्नितपस् (वि.) अग्निकी तरह जलानेवाले, ताप देनेवाले १०·६८·६

अग्निदग्ध (वि. त.) अग्निद्वारा भस्मसात् करके पावन किए गए; दे. अनग्निदग्ध, अग्निष्वात्त १०·१५·१४

अग्निदूत (वि. ब.) अग्नि जिसका दूत है १०·१४·१३

अग्निष्वात्त (वि. त.) (स्वात्त–√स्वद् 'मीठा करना) अग्निसे स्वादु याने मीठा, शुद्ध किए गये; दे. अग्निदग्ध १०·१५·११

अग्र (न. अ.) १. श्रेष्ठ भाग.—अग्रम् प्रारम्भमें,– अग्रे प्रारम्भमें,–अग्रतः प्रारम्भमें ४·४६·१; ३·४८·२; ५·८०·२

अग्रतः (अ.) दे. अग्र

अग्रभण (वि. ब.) (ग्रभण–आधार लेनेलायक खंबा इत्यादि) पकड़नेके लिए आधार न रखने-वाले १·११६·५

अग्रू (स्त्री.) कुआँरी, कन्या ३·२९·१३; ४·३०·१६

अघ (न. वि.) १. दुष्कृत्य, २. दुष्ट, कुत्सित दे. अघशंस ७·८३·५

अघशंस (वि. ब.√शंस् बोलना) दुष्ट (भाषण) बोलनेवाला ६·२८·७

अघा (स्त्री.) एक नक्षत्रका नाम; मघा १०·८५.१३

अघाश्व (वि. ब.) जिसके घोड़े हमेशा ही दुष्ट निकलते हैं १·११६·६

अघ्न्य (पु.√हन्) बैल, साँड़ (जिसका वध अयोग्य है); दे. अघ्न्या ३·३३·१३

अघ्न्या (स्त्री.) गाय; दे. अघ्न्य ५·८३·८; ७·६८·८–९

अङ्कुशिन् (वि.) अङ्कुश धारण करनेवाले १०·३४·७

अङ्ग (वि.) दृढ परिचयका सूचक निपात १·१·६; ३·३३·११

अङ्ग (न.) अवयव, शरीरका भाग २·३३·९; १०·९७·१२

अङ्गार (पु.) दहकता हुआ कोयला, चिनगारी १०·३४·९

अङ्गिर (पु.) एक ऋषिका नाम; दे. अङ्गिरस् ४·५१·४

अङ्गिरस् (पु.) दे. अङ्गिर ५·११·६; १०·१४·६

अङ्गिरस्तम (वि.) अङ्गिरसोंमें श्रेष्ठ ७·७५·१

अच् (क्रि.) चला जाना; उद् अच्-ऊपर ले जाना आ अच्-मोड़ना; परि अच्-सभी ओर चला जाना, अच्छीं तरहसे देखना ५.८३.८; १०.१५.६; १०.११९.५

अचित् (वि. स्त्री. √चित्-जानना) १. अज्ञ; २. अज्ञान, दे. अचित्ति ७.६१.५; ७.८६.७

अचित्ति (स्त्री √चित्-जानना) अज्ञान ४.५४.३; ७.८६.६; ७.८९.५

अचित्र (वि.) सौन्दर्यहीन; दे. चित्र ४.५१.३

अच्युत (वि. √च्यु- हिलाना, स्थानभ्रष्ट होना करना) स्थानभ्रष्ट न होनेवाला १.८५.४

अच्युतच्युत् (वि. त.) अचल वस्तुको स्थानभ्रष्ट करनेवाला, दे. अच्युत २.१२.९

अच्छ (अ.) की ओर (द्वितीयासे संबद्ध) ३.२९.९; ८.४८.६

अच्छोक्ति (स्त्री. अच्छ+उक्ति) की ओर निवेदन, पुकार १.१८४.२

अज् (क्रि.) प्रेरित करना, निकालना, उद् अज् बाहर निकालना, अप अज् बाहर निकालना २.१२.३; ४.५०.५; १०.६८.७; १०.६८.५

अजकाव (वि.) अजका नामके विषसे संयुक्त ७.५०.१

अजमायु (वि. ब.) जिसकी आवाज़ बकरेकी आवाज़के समान है; दे. मायु ७.१०३.६; १०

अजर (वि. ब.) जरारहित १.१४३.३

अजरयु (वि. जरय नामधातुसे साधित विशेषण जरयु) कभी जीर्ण न होनेवाले १.११६.२०

अजस्र (वि. जस्र √जस्-क्षीर्ण होना) कभी क्षीण न होनेवाला २.३५.८; १०.१३९.१

अजावि (द्वन्द्व) बकरा (अज) और भेड़ा (अवि) १०.९०.१०

अजाश्व (वि. ब.) घोड़ोंके स्थानपर बकरोंको जोतनेवाला ६.५५.३-४

अजिर (वि. √अज्-प्रेरित करना) चपल, क्रियाप्रवण ३.९.८

अजुर्य (वि. जुर्-जीर्ण होना) जराके वश न होनेवाला ४.५१.६

अजुष्ट (जुष्-प्रेमसे स्वीकार करना) अप्रिय ७.७५.१

अञ्ज् (क्रि.) सजाना, सजना. दे. अञ्जि १०.६८.३; ५.१.३; ८.२९.१

अञ्जस् (अ.) सुखसे. दे. अञ्जसा १.३२.२

अञ्जसा (अ.) सुखसे. दे. अञ्जः ६.५४.१

अञ्जि (न. √अञ्ज्) अलंकार, भूषण १.८५.३

अत् (क्रि.) भ्रमण करना २.३८.३

अतिथिन् (वि. अतिथिमान् के अर्थमें छान्दसरूप) अतिथियोंके लिए अनुकूल १०.६८.३

अतिष्कद् (स्त्री. अति+ √स्कद्-उड़ान करना) उड़ान, उत्पतन १०.१०८.२

अतूतुजि (वि. √तुज्-जोरसे चलना) मन्द, अचपल; दे. तूतुजि ७.२८.३

अत्क (न.) वस्त्र, आच्छादन ४.१८.५; ९.६९.४

अत्य (पु. अत् = अट् - भ्रमण करना) घोड़ा ३.३२.६; ९.८५.५, ७

अथो=अथ (अ.) अनन्तर १.५०.१२; १०.९०.५

अद् (क्रि.) भक्षण करना १०.१५.१२; १०.६८.६

अदब्ध (वि. √दभ्-धोखा देना; दगा करना) अवञ्चित १.१४३.८; २.२८.३; ९.८५.३

अदाभ्य (वि. √दभ्) धोखा देनेके लिए असंभव; दे. अदब्ध ९.८५.६

अदित्सत् (वि. √दित्स-दा धातुसे सन्नन्त) देनेकी इच्छा न रखनेवाला ६.५३.३

अदृपित (वि. √दृप्-मत्त होना) दर्पान्ध न होनेवाला १.१४३.८

अदेव (वि.) देवोंको न माननेवाला, नास्तिक २.२३.१२; ३.३२.६

अद्धा (नि.) निश्चयसे १०.१२९.६

अद्धाति (पु.) विशेषज्ञ १०.८५.१६

अद्भुत (वि.) असाधारण, आश्चर्यजनक १.१४२.१०; १.२५.११; ९.८५.४

अद्मन् (न. √अद्-भक्षण करना) खाद्य वस्तु ७.८३.७

अद्मसद् (अद्मन् + √सद्) अन्नोंके याने खाद्य हव्योंके पास बैठनेवाला ७.८३.७

अद्रि (पु.) १. शिळा, पर्वत. २. सोमवल्ली पीसनेका पत्थर. ३. वज्र. ७.६८.४; १.११८.३; ३.३२.१६; ४.१८.६; १.८५.५; १०.७८.६

अद्रिबुध्न (वि.) जिसके तलमें पत्थर है; दे. बुध्न. १०.१०८.७

अद्रुह् (ब.) द्रोहरहित, द्रोह करनेके लिए असंभव; दे. अद्रोघ १.१९.५; ३.९.४

अद्रोघ (वि. √द्रुह्) द्रोह करनेके लिए असंभव; ३.३२.९

अद्वयत् (वि. द्वि शब्दसे साधित नामधातुका रूप) द्विधा चित्त न रखनेवाला एकान्तिक ३.२९.५

अधम (वि.) सबसे नीचेका, निम्नतम १.२५.२१

अधर (वि.) नीचस्थ १.३२.९; २.१२.४

अध (अ.= अथ) आनन्तर्य अथवा निश्चयार्थ का बोधक अव्यय २.२८.९; ७.८८.२; ८.१००.२

अधिपा (वि. अधि+ √पा–पालन करना) पालनकर्ता ७.८८.२

अधिमन्थन (न.) मन्थनदण्ड, मथानी ३.२९.१

अधिवक्तृ (पु. √अधि+वच्) अधिकृत वक्ता, समर्थक २.२३.८

अधृष्ट (वि. √धृष्–हमला करना) धर्षण–आक्रमण करनेके लिए असंभव; अभेद्य १०.१०८.६

अधोअक्ष (वि. अधः+अक्ष) अक्षदण्ड के नीचे रहनेवाली ३.३३.९

अध्यक्ष (पु.) पर्यवेक्षक, निरीक्षक १०.१२९.७

अध्रिगु (वि. गौ–वाणी, दक्षिणा) जिसकी वाणी अथवा दक्षिणा अनुलङ्घ्य है ५.७३.२

अध्वरश्री (वि. तं. √श्री–शोभा देना) यज्ञको सुशोभित करनेवाला १०.७८.७

अध्वस्मन् (ध्वस्मन् √ध्वस्–फटना) धूलि अथवा धूम से रहित २.३५.१४

अन् (क्रि.) साँस लेना, श्वासोच्छ्वास करना १०.१२१.३; १०.१२५.४; १०.१२९.२

अननुकृत्य (वि. अनु √कृ) अनुकरण करनेके लिए असंभव १०.६८.१०

अननुद (वि. अनु √दा–पीछे हटना) पीछे न हटनेवाला २.२३.११

अनप्नस् (वि. अप्नस्– √आप् = मिलकियत) धनहीन, सर्वस्वहीन २.२३.९

अनभिम्लातवर्ण (वि. ब. अभि √म्ला) जिसका वर्ण अम्लान रहता है २.३५.१३

अनमीव (वि. ब. अमीव–°वा = रोग) नीरोग, व्याधियोंसे निर्मुक्त ३.५९.३; ७.५४.१; १०.१८.७; १०.१४.११

अनर्वन् (अ.) प्रतिरोध-शून्य रीतिसे, दे. अर्वन् १.११६.१६

अनवभ्रराधस् (वि. ब. अवभ्र–अव + √भृ = अल्प, थोड़ा; राधस् – √राध् = दान) विपुल दान देनेवाला ५.५७.५

अनश्रु (वि.) अश्रुविरहित १०.१८.७

अनष्टवेदस् (वि. ब. वेदस् – √विद्) जिसकी संपत्ति कभी नष्ट नहीं होती ६.५४.८

अनस् (न.) बैलगाड़ी ३.३३.९; ४.३०.११; ८.९१.७

अना–इस प्रकार ४.३०.३

अनागस् (ब. दे. आगस्) निरपराध २.२३.७ ५ ८३.२; ४.५४.३

अनाधृष्ट (वि. धृष्ट – √धृष्) अनुलङ्घनीय; दे. अधृष्ट १.१९.४; ४.१८.१०

अनारम्भण (वि.ब. आरम्भण – आ √रभ् = पकड़ना) जिसमें हाथसे पकड़ने लायक आधार अथवा अवलम्ब नहीं होता १.११६.५

अनास्थान (वि ब. आस्थान – आ √स्था = खड़ा होना) खड़े रहनेके लिए आधार न रखनेवाला १.११६.५

अनिध्म (वि. ब इध्म – √इध् = जलाना) इन्धनविरहित २.३५.४

अनिमिषत् (वि. नि √मिष् = नेत्रमीलन करना) नेत्रमीलन न करनेवाला, जागरूक, सावधान १.१४३.८

अनिमिषम् (अ.) जागरूक रीतिसे; दे. अनिमिषत् ७.६१.३

अनिमिषा (अ.) जागरूक रीतिसे; दे. अनिमिषम् ३.५९.१

अनिरा (त. इरा= अन्न) अन्नका अभाव, दुर्भिक्ष ७.७१.२; ८.४८.११

अनिवृत (वि. नि √वृ = निवारण करना) अनिवारित रहनेवाला ३.२९.६

अनिशित (वि. निशित—नि √शा = तीक्ष्ण करना) सौम्य, मृदु, सुखद २.३८.८

अनिषव्य (वि. इषव्य = इषुका लक्ष्यभूत) शरोंका लक्ष्य न होनेवाला १०.१०८.६

अनीक (न. – √अन् = श्वास लेना) मुख १.११५.१; २.३५.११; ७.८८.२

अनुकामम् (अ.) इच्छाके अनुसार; दे. प्रतिकामम् ८.४८.८

अनुदेयी (स्त्री.) पूरक दान १०.१३५.५,६

अनुपस्पशान (वि. पस्पशान – √स्पश् = देखना) मार्ग देखने–दिखानेवाले १०.१४.१

अनुमाद्य (वि. अनु √मद् = अभिनन्दन करना) सराहनाके योग्य, अभिनन्दनीय १.११५.३

अनुव्रत (वि.) आदेशानुवर्ती, निष्ठावान् १०.३४.२

अनूचीन (वि. अनु√अच्) लगातार रहनेवाले, अखण्डित ४.५४.२

अनृक्षर (वि) कण्टकविहीन १०.८५.२३

अनेनस् (वि. ब.) १. निष्पाप, २. अपराधका तिरस्कार करनेवाला ७.२८.४; ७.८६.४

अनेहस् (वि. ब. √ईह्–जाना, यत्न करना) निर्भय, उपद्रवरहित ३.९.१

अन्तःपेय (न.) हृदयतक पहुँचनेवाला पेय १०.१०७.९

अन्तरिक्षप्रुत् (वि. त. √प्रु = प्लु–तैरना) अन्तरिक्षमें चलनेवाला १.११६.३

अन्तितः (अ.) समीपसे ३.५९.२; ५.१.१०

अन्तिवाम (वि. ब. वाम = द्रव्य) संपदा समीप रखनेवाली ७.७७.४

अन्धस् (न.) १. अँधेरा; २. मदप्रद पेय (सोम) १.८५.६; ३.४८.१; ७.६८.२; ७.८८.२

अपधा (स्त्री. अप√धा) आवरणहीनता २.१२.३

अपभर्तृ (वि. अप√भृ) निराकरण करनेवाला २.३३.७

अपर (वि.) १. नीचस्थ, परवर्ती, २. अन्य, दूसरा १०.१८.४,५

अपरम् (अ.) भविष्यमें १.१८१.१; २.२८.८

अपरीभ्यः–अपरीषु (अ.) भावी कालमें १.३२.१३; १०.११७.३

अपस् (न.) कर्म, कृति २.३८.६; १.८५.९; ४.३३.९; ७.६३.४

अपस् (वि.) १. क्रियाशील, २. चतुर कारीगर १.१६०.४; ४.३३.१

अपस्–क्रिया, कर्म २.२८.५

अपाद् (वि. ब.) पदरहित, पङ्गु १.३२.७

अपाष्ठवत् (वि. अप√स्था) कूड़ा १०.८५.३४

अपिशर्वर (न. शर्वरी = रात्रि) मध्यरात्रिका समय ३.९.७

अपीच्य (वि.) अप्रकाशित, गुप्त २.३५.११

अपुनः (अ.) अपुनरावृत्त, अपुनरुक्त १०.६८.१०

अप्तुर् (आप्+ √तृ) जलोंको पार करनेवाले; (लक्षणासे) संकटसे मुक्त होनेवाले १.११८.४

अप्य (वि.) १. जलमय, २ पानीमें रहनेवाला, जलचर २.३८.७, ८

अप्रकेत (वि.ब.) चिह्नरहित; दे.प्रकेत १०.१२९.३

अप्रचेतस् (वि. त.) अविवेकी १०.११७.६

अप्रजज्ञि (वि. प्र√ज्ञा) अनुभवहीन १०.७१.९

अप्रति (अ.वि.) १. अतुलनीय, २. अनुपम प्रकारसे ७.८३.४

अप्रमृष्य (वि. प्र √मृष्- भूलना) अविस्मरणीय, भूल जानेके अयोग्य २.३५.६

अप्रतीतः (वि. प्रति √इ = विरोध करना) निर्विरोध; ४.५०.९

अप्रयुच्छत् (वि. प्र √यु = युच्छ् = भूलना) सावधान, अप्रमादी १.१४३.८

अप्रायु (अ. प्र+आयु – √इ = अस्थिर) स्थायी रूपसे, अपरिवर्तनीय रूपसे ५.८०.३

अप्सस् (न.) उत्तरीय, अञ्चल ५.८०.६

अभिदिप्सु (वि. अभि√दस्) पीडा पहुँचानेके लिए उत्सुक २.२३.१०, १३

अभिद्यु (वि.) स्वर्गके निवासी १०.७८ ४

अभिनभ्यम् (अ. नभ्यम् – नाभि) स्वर्गके मध्य-बिन्दुतक १०.११९.१२

अभिभूति (स्त्री. अभि√भू) अत्यधिक सामर्थ्यवान्, परास्त करनेवाला १.११८.९

अभिमाति (स्त्री. अभि√मा-मन्) उद्धत, धृष्ट १.२५.१४; १०.१८.९

अभिमातिन् (वि.) उद्धत, धृष्ट; दे. अभिमाति १.८५.३

अभिष्टि (स्त्री. अभि√अस्) आश्रय, साहाय्य ४.४६.२

अभिस्वर (पु. अभि√स्वृ) पुकार निमन्त्रण १०.११७.८

अभिस्वर्तृ (पु. अभि√स्वृ) पुकार, अथवा गायन करनेवाला १०.७८.४

अभीक (न.) अभीके–सप्तम्यन्त अव्यय समीप, नज़दीक १.११६.१४; १.११८.५

अभीशु (पु.) लगाम ६.५७.६

अभ्र (न.) मेघ, वृष्टि करनेवाला मेघ ५.६३.३; ४; ६; १०.६८.५

अभ्रिय (न.) १. वृष्टि करनेवाला मेघ, १.११६.१;

अभ्रिय (वि.) अभ्रके समान गर्जना करनेवाला १०.६८.१२

अमन्तु (वि. मन्तु√मन्) अविचारी, अनभिज्ञ १०.१२५.४

अभ्व (न.) अद्भुत शक्तिमान् वस्तु २.३३.१०; ४.५१.९

अम् (क्रि.) आक्रमण करना १०.९७.९

अमर्मन् (वि. ब.) मर्मस्थानरहित ३.३२.४

अमहीयमान (वि. √मह्) अनादरयुक्त, तिरस्कृत ४.१८.१३

अमा (अ.) घरकी ओर, घरमें २.३८.६

अमीतवर्ण (वि. ब. ·मीत – मि–नष्ट करना) न्यून न होनेवाले वर्णसे युक्त; दे. अनभिम्लात-वर्ण ४.५१.९

अमीवा (स्त्री.) रोग, व्याधि ६.७४.२; ९.८५.१

अमुया (अ.) उस प्रकार, यों, ऐसा १.३२.८; १०.१३५.२

अमूर (वि·√मुह्–मुग्ध होना, भूलना) ज्ञानी, विचक्षण, अमूढ ७.६१.५

अमृक्त (वि. √मृच्–क्षति करना; घायल करना) अनाहत, अव्यथित ९.६९.५

अमृतबन्धु (वि. ब.) अमरत्वसे संबद्ध १०.७२.५

अम्भस् (न.) जल, पानी १०.१२९.१

अया (अ.) इस प्रकार १.१४३.६

अयास् (वि.√यस्–थकना) अपरिश्रान्त, न थका हुआ १.१५४.६

अर (पु.) चाकका आर या तीला १.३२.१५; १०.७८.४

अरंकृत (वि. त. अरम् √कृ) सम्मानित १०.११९.१३

अरण (पु.) आगन्तुक, पराया १०.११७.४

अरणि (स्त्री.) अग्निनिर्माणकाष्ठ ३.२९.२

अरपस् (वि. ब. रपस्– √रप् = रफ् = हानि करना) अक्षत, अव्यथित २.३३.६

अरम् (अ.) तुरन्त, समुचित रीतिसे ६.७४.१; ७.६८.२; १०.११७.३

अरमति (वि. अर + मति) विचक्षण, प्रज्ञावान् २.३८.४

अरंकृत (वि. अरम् √कृ) सोपस्कृत, सुसज्जित १०.१४.१३; १०.११९.१३

अराति (स्त्री. √रा-देना) (१) विद्वेष, शत्रुता; (२) शत्रु, न देनेवाला, कदर्यु १.११६.२१ २.२३.५

अरावन् (वि. √रा = देना) न देनेवाला, शत्रु ७.६८.७

अरि (पु.) १. अभिजात, कुलीन; २. शत्रु २.१२.४; ७.८३.५; ८.४८.८; १.११६.६

अरित्र (न. √अर् = ऋ-जाना) नौका दण्ड, डाँड़ १.११६.५

अरिप्र (वि. √रिप्) निर्दोष १०.७१.१

अरिष्ट (वि. √रिष् - चोट पहुँचाना) अक्षत, अव्यथित ६.५४.७

अरिष्टताति (स्त्री.) सभी उपद्रवोंका विनाश १०.९७.७

अरीढ (वि. √रिह्-चाटना) वह जिसको चाटकर साफ नहीं किया ४.१८.१०

अरुणप्सु (वि. प्सु √भास् = रूप, वर्ण) रक्त-वर्ण १.४९.१; ५.८०.१

अरुष (वि.) ताम्रवर्ण, आरक्त १.११८.५; ७.७५.६

अरेणु (वि. ब.) धूलिहीन, धूलिरहित १.३५.११

अरेपस् (वि. रेपस् √रिप् - दुःख देना) निर्दोष, निरपराध ५.५७.४; १०.७८.१

अर्क (पु. √ऋच् = अर्च्-गाना) १. चारण, स्तोता; २. सूक्त, स्तोत्र; ३. सूर्य १.१९.४; १.८५.२; १०.६८.४

अर्च् (क्रि.) गाना, स्तुति करना १.१९.४; १.१६०.४

अर्चि (पु.) किरण, रोशनी १.४८.१३

अर्जुन (वि.) दीप्तिमान्, उज्ज्वल १.४९.३; ७.५५.२; ९.६९.४

अर्जुनी (स्त्री.) फल्गुनी नक्षत्र १०.८५.१३

अर्ण (न.) = अर्णस् . लहरदार जल ३.३२.५

अर्ण (पु.) व्यक्तिका नाम ४.३०.१८

अर्णव (वि. न.) १. तरङ्गमय, लहरदार; २. बाढ़ १.१९.७; ७.६३.२; १.८५.९; २.२३.१८

अर्णस् (न.) दे. अर्ण. लहरियुक्त जलप्रवाह ३.३२.११

अर्थ (न. पु. √ऋ-गमन करना) लक्ष्य, गन्तव्य स्थान ७.६३.४; १०.१८.४

अर्थिन् (पु.) प्राप्तव्य पदार्थकी इच्छा रखनेवाला १.४८.६; १०.१२७.५

अर्द् (क्रि. दे. ऋद्) नीचे जाना. प्रयोजक रूप-अर्दय

अर्पय (क्रि.) अर्पण करना (√ऋ 'गमन करना' का प्रयोजक रूप) ४.३३.४

अर्भक (वि.) शिशु ८.३०.१

अर्भग (वि.) = अर्भक, शिशु १.११६.१

अर्य (पु.) महानुभाव २.२३.१३; १०.३४.१३

अर्यमन् (पु.) १. सन्मित्र; २. देवताविशेष; ३. महानुभाव २.३८.९; ४.३०.२४; ७.६३.६; १०.६८.२; १०.११७.६

अर्वत् (पु.) दौड़नेवाला घोड़ा १.११६.१७; १.११८.२; २.३३.१; ६.५४.५

अर्वन् (पु.) = अर्वत्. अश्व, घोड़ा ६.२८.४

अर्वाक् (अ.) इस तरफ़, इस ओर १.११८.२; ७.८३.३

अर्वाञ्च् (वि.) इस तरफ़ झुकनेवाला १.३५.१०; ७.२८.१; ७.८८.१

अर्वावत् (स्त्री. अर्वा = अर्वाक् + वत्) समीपवर्ती स्थान ५.७३.१

अर्ष् (क्रि.) बहना, बहकर लाना ३.३३.११; ४.१८.६; ९.६९.२; ९.८५.८

अर्ह् (क्रि.) पात्र होना, योग्य होना २.२३.१५; २.३३.१०

अलंकम् (अ.) निःसार, वृथा १०.१०८.७

अव् (क्रि.) १. सन्तुष्ट करना; २. बचाना २.१२.४; ४.५०.११; ७.६१.२

अवत (पु.) वापी, कुआँ १.८५.१०; १.११६.२२; ४.५०.३

अवद्य (न.) त्रुटि, दोष, बुराई १.११५.६; ४.१८.५; १०.१४.८

अवध्र (वि. √वध्–मारना) हिंसा न करनेवाला ७.८३.१०

अवनि (स्त्री. √अव्) नदी ५.११.५

अवभ्र (वि. अव√भृ) अपहरण करनेके लिए असंभव, अत्यल्प. दे. अनवभ्रराधस्

अवम (वि.) निकटवर्ती २.३५.१२; ७.७१.३

अवयातृ (पु. अव√या) निराकरण करनेवाला, आक्रमक ८.४८.२

अवर (वि.) १. समीपतर; २. नीचतर २.१२.८; १०.१५.१

अवर्ति (स्त्री. अव√ऋ–नीचे जाना) हीनावस्था; दुर्गति १.११८.३; ४.१८.१३

अवस् (न. √अव्) संरक्षण, कृपा ३.५९.६; ७.८३.३

अवसान (न. अव √सो–समाप्त करना) विश्रान्तिस्थान १०.१४.९

अवसित (वि. अव√सो) स्थावर, अविचलित; दे. अवसान १.३२.१५

अवस्तात् (अ. अवस्+तात्) नीचे १०.१२९.५

अवस्पर्तृ (पु. अव √स्पृ–तारना) तारनहार २.२३.८

अवस्य (क्रि. अवस् से नामधातु) कृपाकी इच्छा रखना १.११६.२३

अवस्यु (वि.) कृपाकी इच्छा रखनेवाला. दे. अवस्य १.२५.१९; ४.५०.९

अवात (वि. ब.) वातहीन अवस्था १०.१२९.२

अवि (पु.) भेड़ा. दे. अव्य, अव्यय १०.९०.१०

अवितृ (पु. √अव्–रक्षण करना) रक्षणकर्ता २.१२.६

अविधवा (वि.) सुहागन १०.१८.७

अविष्ठ (वि. √अव्) रक्षकोंमें श्रेष्ठ ७.२८.५

अविष्या (स्त्री. √अविष्य–दृढ कामना रखना) तीव्र लालसा २.३८.३

अवीर (वि. ब.) पुत्र विरहित ७.६१.४

अवृक (वि. ब.) दुष्टत्व–विरहित, कृपा–पूर्ण १.४८.१५; ७.८८.५; १०.१५.१

अव्य (वि. <अवि) अविसंबन्धी; भेड़ेकी ऊर्णासे बनाई गई छाल ९.६९.३, ९

अव्यथ्य (वि. √व्यथ्) अक्षोभ्य, व्यथा न होनेवाला २.३५.५

अव्यय (वि. <अवि) भेड़ेकी ऊर्णासे बनाई गई छलनी ९.६९.४; ९.८५.५

अव्युष्ट (वि. वि √वस्–प्रकाशमान होना) अनुदित, भविष्यमें उदित होनेवाली २.२८.९

अश् (क्रि.) पहुँचना, अनुभव लेना ३.५९.२; ६.२८.४; ७.१०३.९

अशन् = अश्मन् (पु.) पत्थर १०.६८.८

अशनि (स्त्री.) पत्थर, वज्रपात १.१४३.५

अशिपद (वि.) शिपदा रोगसे रहित ७.५०.४

अशिमिद (वि.) शिमिदा रोगसे रहित ७.५०.४

अशिव (वि.) दुष्ट, शठ १.११६.२४

अश्मन् (पु.) पत्थर, वज्रदण्ड २.१२.३; ३.२९.६; १०.६८.४

अश्मव्रज (वि. ब.) पाषाणमय गोष्ठमें रखी हुई (गायें) १०.१३९.६

अश्रीर (वि. √श्री–शोभा देना) असुन्दर, रूपहीन ६.२८.६; १०.८५.३०

अश्वमघ (वि. ब. मघ–उपहार) घोड़ोंका उपहार देनेवाली ७.७१.१

अश्वसा (वि. √सन् = सा–प्राप्त करना) घोड़े प्राप्त करानेवाली ६.५३.१०

अश्व्य (वि.) अश्वसंबन्धी १ ३२.१२

अषाढ (वि. साढ– √सह् = परास्त करना) अपराजित ७.२८.२

अष्ठीवत् (पु.) घुटना ७.५०.२

अष्ट्रा (स्त्री.) अंकुश ६.५३.९

अस् (क्रि.) रहना; अभि–प्रभुत्व रखना २.२३.९; २.२८.१; अपि–सांनिध्यमें रहना ३.५९.४; १०.१४.६; प्र–उत्कर्षके साथ ३.५९.२

अस् (क्रि.) फेंकना; परा–दूर फेंकना, वि–विदारण करना ४.१८;८; ४.३०.२०; १०.७२.८

असत् (वि.) अस्तित्वहीन, सत्ताविरहित १०.७२.१; १०.१२९.१, ४

असंमृष्ट (वि.√मृज्–प्रक्षालन करना) अप्रक्षालित, अनलंकृत ५.११.३

असश्चत् (वि. ब. सश्चत्—√सश्च्) शत्रुहीन, अनुपम १.१६०.२; ९.८५.१०

अससत् (वि. √सस् – सोना) निद्राहीन १.१४३.३

असामि (अ.) पूर्णतया १.२५.१५

असित (वि.) कृष्णवर्ण ४.५१.९

असु (पु.) प्राण १०.१४.१२; १०.१५.१ १०.१२१.७

असुतृप् (वि. असु + √तृप्– संतुष्ट होना) प्राणोंको अधिकारमें कर लेनेपर संतुष्ट होनेवाले; दे. पशुतृप् १०.१४.१२

असुनीति (स्त्री. असु+ नीति √नी) प्राणोंका मार्गदर्शन करनेवाली १०.१५.१४

असुर (वि.) महापराक्रमी १.३५.७; ५.८३.७; ३.२९.१४

असुर्य (वि. न.) १. महापराक्रमी; २. आसुरी याने अतिश्रेष्ठ सामर्थ्य (१) २.२३.२; (२) २.३३.९; २.३५.२

असूय् (क्रि.) नाराज़ होना १०.१३५.२

असेन्य (वि.) सेनाकी शक्तिसे अजेय १०.१०८.६

अस्त (न.) घर १.११६.५; १०.१४.८; १०.३४.१०

अस्मयु (वि.) हमारे सख्यकी इच्छा रखनेवाला १.१४२.१०; २.२३.८

अस्मेर (वि. √स्मि = स्मित करना) न हँसनेवाली, गंभीरप्रकृति २.३५.४

अस्मेहिति (स्त्री. हिति √धा = रखना) हमारे पास रखी हुई धरोहर १०.१०८.१

अस्रेधत् (वि. √स्रिध्–भूलना) न भूलनेवाला ३.२९.९; ५.८०.३

अस्रेमन् (पु. स्रेमन् √स्रिव्–गलना) अविकल, विकल न होनेवाला ३.२९.१३

अह (निपात) वाक्यालङ्कारनिपात १.४८.४; ५.८३.३; ७.१०३.२

अह–अहन्–अहर् (न.) दिवस १.५०.७; ३.३२.९; ३.४८.२; ४.३३.११; ७.२८.४; ७.१०३.७

अहि (पु.) वृत्रका अन्य नाम १.३२.५

अही–वृत्रकी औरतें १०.१३९.६

अह्यर्षु (वि. अहि+ऋषु—√ऋष्) सर्पोंपर हमला करनेवाला २.३८.३

आकूति (स्त्री.) अभिप्राय, संकल्प १०.१९१.४

आकृति (स्त्री. आ √कृ) विधाता; निर्माता १०.८५.५

आगस् (न.) अपराध २.२८.५; ७.८६.४; १०.१५.६

आघाटि (पु.) क्षुद्र घण्टा, किंकिणी १०.१४६.२

आघृणि (वि. घृणि—√घृ) उद्दीप्त, (शत्रुओंको) तापद ६.५३.३; ६.५५.३

आचरण (न. आ√चर्) नियमित संचार १.४८.३
आच्य (आ+अन्य—√अच्) मोड़कर (क्त्वान्त) १०.१५.६
आच्छद्विधान (√छद्) जिनकी यन्त्रणा प्रच्छन्न रहती है १०.८५.४
आजरस (न.) वृद्धावस्थातक पहुँचनेवाली आयु १०.८५.४३
आजि (पु.) १. घुड़दौड़; २. युद्ध १.११६.५; ७.८३.६; १०.६८.२
आञ्जन (न.√अञ्ज्-पोतना) अञ्जन १०.१८.७
आणि (पु.) अक्षदण्डका कील १.३५.६
आण्ड (न.) अण्डकोश, अण्डा १०.६८.७
आत् (अ.) अनन्तर १.३२.४; ४.३०.७
आत्-इत् (अ.) तुरन्त, अव्यवहित रूपसे १.११६.१०; ३.९.९; ८.१००.१
आतप् (पु. √तप्-ताप देना) सन्तापक, अधिक दुःख देनेवाला ५.७३.५
आदघ्न (वि. आस्+दघ्न—√दघ्) मुँहतक पानी रखनेवाला १०.७१.७
आदर्दिर (वि. आ √दृ-तोड़ना, फोड़ना) तोड़नेवाला, भंजक ८.१००.४; १०.७८.६
आदिश् दे. √दिश्
आदुरि (वि. आ√दृ-तोड़ना) संहारक, विदारण कर्ता ४.३०.२४
आध्र (वि. आ √धृ) भिखारी, अभागा १०.११७.२
आनुषक् (अ. अनु√सञ्ज्) अनुक्रमसे, निरन्तर ५.२६.८
आन्त्र (न.) अन्त्र, आँत ४.१८.१३
आप् (क्रि.) प्राप्त करना ४.५१.७
आपि (पु √आप्) संबन्धी, बान्धव २.२८.११; ७.८८.६; १० ११७.७
आप्य (न. √आप्) मित्रता, संबन्ध ७.८३.१
आभु (न. आ √भू) प्रादुर्भूत होनेवाला १०.१२९.३
आम (वि.) अपक्व, कच्चा २.३५.६
आमित्र (पु. = अमित्र) प्रतिकूल, वैरी ६.२८.३
आय (पु. √इ) आगमन, उपस्थिति २.३८.१०
आयस् (वि. अयस् = लोह) लोहरूप, धातुरूप १.११६.१५; ७.९५.१
आयु (पु.) मनुष्य ३.५९.९
आयुस (न.) आयुष्य १.११६.१९; १०.१८.५
आर (न.) आरे—दूरीपर; आरात्— दूरसे २.२८.६; ६.५६.५
आरा (स्त्री.) पूषाके शस्त्रका नाम. दे. अष्ट्रा ६.५३.५, ६, ८
आरेअघ (वि. ब. आरे + अघ) आपत्तिसे दूर रहनेवाला ६.५६.६
आर्य (वि.) आर्य, महानुभाव ४.३०.१८; ७.८३.१
आशा (स्त्री) दिशा १०.७२.३, ४
आशु (पु. वि. √अश्-पहुँचना) (१) अश्व, घोड़ा; (२) शीघ्रगामी, वेगवान् २.३८.३; ७.७१.५; ९.६९.६; १०.६८.२; १०.११९.३
आशुहेमन् (वि. हेमन् √हि-दबाना = तेज़ी) वेगवान्, तेज़ (घोड़ा) १.११६.२; २.३५.१
आस् (क्रि.) बैठना, स्थिर होना १.४८.६; १०.१५.७; १०.१३९.२; अधि-१.२५.९; परि-३.९.३; सम्-३.९.७
आसक्ति (स्त्री. आ √सञ्ज्) लिपटनेवाली (कृत्या) १०.८५.२८
आसन् (न.) मुख १.११६.१४; ५.७६;६; ९.६९.२
आस्य (न.) मुख ७.१०२.३
आहनस् (वि. आ√हन्) प्रबल, शक्तिमान् १०.१२५.२
आहव (पु.) युद्ध, संग्राम २.२३.११

इडा (स्त्री.) हविष्यान्न, पुष्टिप्रद अन्न १.४८.१६; ३.२९.३; ४.५०.८

इत् (अ.) निश्चयदर्शक अव्यय १.३२.१५; १०.३४.१३

इतऊति (वि. ब. इतः+ऊति—√अव्) भविष्यमें रक्षाप्राप्त ७.६८.६

इत्था (अ.) इस प्रकारसे १.१५४.५; ३.९.५

इदम् (अ.) यहाँ, इस स्थानपर २.३८.९; ४.१८.६; ७.८९.४

इदा (अ.) = इदानीम्; अभी, संप्रति, इस समय ४.३३.११

इध्म (पु. √इध्–जलना, जलाना) इन्धन, समिधा १०.९०.६

इन्दु (पु.) सोमकी बिन्दु, बूँद ४.५०;१०; ८.४८.५; ९.६९.१०

इन्द्रजूत (त. जूत— √जु) इन्द्रसे प्रेरित १.११८.९; ३;३३.११

इन्द्रज्येष्ठ (वि.ब.) वह जिसमें इन्द्र श्रेष्ठ माना जाता है ४.५४.५

इन्द्रशत्रु (वि. ब.) वह जिसका हननकर्ता इन्द्र है १.३२.६, १०

इन्द्रिय (वि. न.) (१) इन्द्रसंबन्धी; (२) इन्द्रकी विशिष्ट सामर्थ्य १.८५.२; ४.३०.२३

इन्व् (क्रि.) प्रवृत्त करना १.१६०.५

इरा (स्त्री.) दे. इडा; पुष्टिप्रद अन्न ५.८३.४

इरावत् (वि.) अन्न देनेवाला ५ ६३.६

इरिण (न.) मरुभूमि, ऊसर, (लक्षणासे) द्यूतकी बिसात १०.३४.१; ९

इर्य (वि.) सावधान, क्रियाशील ६.५४.८

इष् (क्रि.) प्रवृत्त करना ४.३३.१; ९.६९.१; १०.१०८.२

इष् (क्रि.) इच्छा करना; चाहना ६.२८.५; १०.१०८.५

इष् (स्त्री.) अन्न, पोषक आहार १.४८.१५; ७.७७.५

इष (वि. √इष्–प्रवृत्त करना) उत्सुक १.१८४.६

इषण्य (क्रि. इष्–इषण–इषण्य नामधातु) उत्तेजित करना, दबाना ३.६१.७

इषय (क्रि. इष्–नामधातु) अन्नकी इच्छा करना ३.३३.१२

इषिर (वि. √इष्) क्रियाशील, तेज़ ८.४८.७; १०.६८.३

इषु (स्त्री.) बाण, तीर ९.६९.१; १०.१८.१४

इषुकृत् (वि.त.) तीर बनानेवाला १.१८४.३

इष्कृति (स्त्री.) समृद्ध करनेवाली १०.९७.९

इष्टव्रत (वि.ब.) व्रतका पालन करनेवाला ३.५९.९

इष्टापूर्त (द्वन्द्व) श्रौतस्मार्त कर्मोंका फल १०.१४.८

इष्टि (स्त्री.√इष्) प्रवर्तना २.२८.७

इष्टि (स्त्री.√इष्) इच्छा, मनोरथ १.१४३.८;

ई (क्रि.) समीप जाना, प्रार्थना करना, माँगना १.३५.९; ६.५४.८; १०.१६८.२

ईङ्ख् (क्रि.) ईङ्खय (प्रयोजक) प्रवृत्त करना १.१९.७ ७.८८.३

ईजान (वि. √यज्) यजमान, यज्ञ करनेवाला ४.५१.७

ईड् (क्रि.) प्रार्थना करना, माँगना, स्तुति करना १.१.१; ४.३३.१; ५.१.७

ईम् (निपात) शोभार्थक निपात १.८५ ११;२.१२.५; ३ ९.४; ६.५३.५; ७.८८.१

ईर् (क्रि.) आ–ईर्, उद्–ईर् प्रवृत्त करना, प्रवृत्त होना १.१४३.४; ३.२९.१५; ९.६९.६; ९.८५.७; १०.१५.१; १०.१६८.२

ईर्मा (अ.) यहाँ ५.७३.३

उक्थ (न. √वच्) स्तोत्र ४.३३.१०; ४.५१.७;

उक्थ्य (वि. <उक्थ) स्तोत्रके लिए योग्य १.४८.१२; २.२३.१४; ५.२६.६

उक्ष् (क्रि.) धोना, सिञ्चन करना ३.९.९;५.६३.५; १०.९०.७

उक्ष् (क्रि.) बढ़ना, बलसंपन्न होना १.८५.२; ५.५७.८

उक्षन् (पु. √उक्ष्-सिंचन करना) साँड़;(लक्षणासे) बलशाली ९.६९.४; ९.८५.१०

उक्थ (न. √वच्) स्तोत्र; दे. उक्थ १.१४३.६

उच्चा (अ.) ऊपर १.११६.२२

उच्चाबुध्न (वि. ब. उच्चा+बुध्न=तल) जिसका तल ऊँचा हो गया है १.११६.९

उच्छ् (क्रि. =उष्) चमकाना १.४८.१०;७.७७.४

उतो (निपात) और, सिवा १.११६.४; १०.११७.१

उत्तम (वि.) श्रेष्ठ, उच्च कोटिका १.२५.२१; ९.८५.३

उत्तर (वि.) अधिक ऊँचा, अधिक प्रतिष्ठित ४.३०.१; ७.९५.४

उत्तान (वि. उत् √तन्) प्रसृत ३.२९.३;५.१.३

उत्तानपद् (वि. ब.) वह जिसकी जाँघें प्रसृत हुईं हैं १०.७२.३-४

उत्स (पु.√उद्-गीला होना-करना) स्रोत, निर्झर १.८५.११; १.१५४.५; ५.५७.१

उद् (क्रि.) भिगोना, गीला करना १.८५.५; ५.८३.८

उदन् (न. √उद्) जल, पानी १.११६.२४; ८.१००.९; १०.६८.८

उदन्यु (वि. √उदन्य-जल की इच्छा करना; उदन् से नामधातु) जलका याचक, तृषार्त ५.५७.१

उदन्वत् (वि. उदन्+वत्) जलपूर्ण ५.८३.७

उदप्रुत् (त.√प्रु = प्लु - तैरना) जलमें तैरनेवाला १०.६८.१

उदमेघ (त.उद+मेघ√मिह्) समुद्र, उदकसे परिपूर्ण १.११६.३

उदयन (न. अयन—√इ) उदयस्थान १.४८.१

उदर (न.) पेट, उदर १.२५.१५; ८.९१.५

उदिति (स्त्री. इति—√इ) उदय १. ११५.६

उदुम्बल (=उरुबल) विपुल सामर्थ्यवाला १०.१४.१२

उदोजस् (वि. उद् + ओजस्) अत्यधिक सामर्थ्यवाला १०.९७.७

उद्वत् (स्त्री. उद्+वत्) ऊँचा स्थल; दे. निवत्, परावत्, प्रवत् १.३५.३; ५.८३.७;१०.१२७.२

उपपर्चन (न. उप√पृच् = स्पर्श करना) उदरमें पहुँचनेवाली ६.२८.८

उपपृच् (वि. उप√पृच्) स्पर्श करनेवाला १.३२.५

उपम (वि.) श्रेष्ठ, उत्तम ८.२९.९

उपमश्रवस्तम (वि. उपम + श्रवस् + तम) श्रेष्ठ कीर्तिमान् २.२३.१

उपर (वि.) परवर्ती १०.१५.२

उपवसु (वि. ब. उप + वसु) धनको साथ रखनेवाला ६.५६.६

उपवाच्य (वि. उप√वच्) स्तुतियोग्य ४.५१.१

उपश्रित (वि. उप√श्रि) समीप रहनेवाला ७.८६.८

उपसद्य (वि. √उप + सद्) समीप जाने-बैठने योग्य २.२३.१३; ३.५९.५

उपस्तरण (न. उप√स्तृ) आसन ९.६९.५

उपस्ति (पु. उप + स्ति —√अस्) अङ्गभूत, गौण १०.९७.२३

उपस्तिर् (स्त्री. उप√स्तृ) आसन, बैठक, दे. उपस्तरण ४.३३.१

उपस्तुति (स्त्री.) प्रार्थना ७.८३.७

उपस्थ (पु.) गोद, वक्षःस्थल १.३५.५; १.११५.५, २.३५.९; १०.१८.१०

उपहत्नु (वि. उप√हन्) घातक, मारनेवाला २.३३.१

उपाक (वि.) पास रहनेवाला; पड़ोसी १.१४२.७

उपायन (न. उप+अयन√इ) आगमन २.२८.२

उपार (न. उप√ऋ-भूलना) अपराध ७.८६.६

उब्ज् (क्रि.) जोरसे बाहर निकालना १.८५.९; २.२३.१८

उभय (वि.) उभय प्रकारका ३.३२.१४; २.१२.८; ७.८३.६

उभया (अ.) उभयथा, उभय पक्षमें १०.१०८.६

उभयादत् (वि. उभया+दत्) दो दन्तपङ्क्तियाँ रखनेवाले १०.९०.१०

उरु (वि.) विस्तृत, विस्तीर्ण १.८५.६; ५.१.११; १०.१२७.२

उरुक्रम (वि. त.) विशाल गमन करनेवाला १.१५४.५

उरुगाय (वि. त. उरु + गाय √गा-जाना) १. विस्तीर्ण गमन करनेवाला; २. विस्तीर्ण संचारके योग्य १.१५४.१; ८.२९.७; ६.२८.४

उरुचक्षस् (वि., त. चक्षस् √चक्ष्-देखना) दूरदर्शी १.२५.५; ७.६३.४

उरुधारा (वि. ब.) बड़ी धारासे दूध देनेवाली ९.६९.१

उरुणस् (वि. ब.) विशाल नाकवाला १०.१४.१२

उरुव्यच् (वि. वि√अच्) विशाल संचारी ५.१.१२

उरुव्यचस् (वि. व्यचस् - वि √अच्) विशाल स्थानवाली १.१६०.२; १०.१८.१०

उरुशंस (वि. ब.) विशाल कीर्तिमान् २.२८.३; २.३८.११; ८.४८.४

उरुष्यु (वि. √उरुष्य-रक्षण करना) विशाल रक्षा देनेवाले ८.४८.५

उर्वरा (स्त्री.) क्षेत्र, धान्यक्षेत्र ८.९१.६

उर्विया (अ. -उरु) विस्तारसे २.३५.८

उल्का (स्त्री.) टूटा हुआ तारा १०.६८.४

उशत् (वि. √वश्-इच्छा करना) उत्सुक, उत्कण्ठित ३.३३.१; ७.१०३.३; १०.१५.८

उस्रयामन् (वि. उस्र -√वस्+यामन् √या) प्रातःकालमें संचारी ७.७१.४

उस्रा (स्त्री. √वस्-प्रकाशित होना) प्रभात २.२३.२

उस्रिया (स्त्री.) उज्ज्वलवर्ण गाय ४.५०.५ ७.७५.७; १०.६८.७

ऊति (स्त्री. √अव्) अनुग्रह, सुरक्षा २.१२.१४; ३.४८.५

ऊधन्-ऊधर्-ऊधस् (न.) माताका स्तन ३.४८.३; ०९.६९.१

ऊरु (पु.) जाँघ १०.९०.११

ऊर्ज् (स्त्री.) जीवनप्रद अन्न १.११६.८; ८.१००.१०

ऊर्जयत् (वि. √ऊर्जय —ऊर्ज् से नामधातु) शक्तिप्रदान करनेवाली २.३५.७; १०.९७.७

ऊर्णम्रदस् (वि. म्रदस् √म्रद्) ऊर्णाकी तरह मृदु १०.१८.१०

ऊर्णु (क्रि.) अभि ऊर्णु-ढालना, फैलाना; वि ऊर्णु-अनावृत करना ४.५४.२; १०.१८.११

ऊर्ध्व (वि.) खड़ा, क्रियातत्पर २.३५ ९;९.८५.१२

ऊर्मि (पु. √वृ-ढाँकना) तरङ्ग, लहर १.१८४.२; ३.३३.१३; ९.८५.१०

ऊर्म्या (स्त्री. √वृ-ढाँकना) रात्रि, निशा १०.१२७.६

ऊर्व (पु.) गोष्ठ, कोष्ठागार २.३५.३; ४.५०.२; १०.१०८.८

ऊह् (क्रि.) तर्क करना २.२३.१६

ऋ (क्रि.) १. जाना, चलना; २. फेंकना, भेजना ७.६८.३; १.११६.१; १.३५.९; १.४८.१५; ३.६१.२

ऋक्वत् (वि.) कवि, ऋचाओंका प्रणेता ४.५०.५

ऋक्वन् (वि.) ऋचाओंका कवि, देवोंका एक प्रकार; दे. ऋकन् १०.१४.३

ऋघाय् (क्रि. ऋघा-क्रोधसे नामधातु) कोपाकुल होना, क्रोधयुक्त होना ४.३०.५

ऋच् (क्रि.) गाना, प्रशंसा करना, दे. अर्च्

ऋच् (स्त्री) ऋचा, श्लोक २.३५.१२; १०.९०.९

ऋजीष (वि. √ऋज् – सीधे आक्रमण करना) सरलतासे हमला करनेवाला, प्रबल आक्रमक १.३२.६

ऋजीषिन् (वि. दे. ऋजीष) सरलतासे आक्रमण करनेवाला, पराक्रमी ३.३२.१

ऋजूय (क्रि. ऋजु शब्दसे नामधातु) सीधे मार्गसे चलना १.११६.२३

ऋञ्ज् = ऋज्; नि√ऋञ्ज् वश करना १.१४३.५,७

ऋण (न.) न्यूनता, दोष, ऋण २.२८.९; १०.१२७.७

ऋणचित् (वि.) न्यूनता जाननेवाला २.२३.१७

ऋणया (वि. √या–हमला करना) दोषोंपर हमला करके उन्हें हटानेवाला २.२३.११, १७

ऋणवन् (वि.) ऋणी १०.३४.१०

ऋत (न.) जगत्का आधारभूत तत्त्व, (उसका प्रतिनिधि) सत्य; यज्ञ ५.६२.७; ५.८०.१; ९.६९.३; १०.३४.१२; १०.७८.२; १०.१३९.४

ऋतज्ञ (वि.) ऋतको जाननेवाला, महाज्ञानी ५.५७.८; १०.१५.१

ऋतयुज् (वि.) ऋतसे जोता जानेवाला ४.५१.५; ७.७१.३

ऋतवन् (पु.) धार्मिक, पुण्यात्मा, ऋतका अनुयायी २.२८.६; ३.३३.५; ५.१.६

ऋतवृध् (वि.) ऋतसे अथवा ऋतको बढ़ानेवाला १.१४२.६

ऋतस्पृश् (वि.) ऋतसे संबन्ध रखनेवाला, पुण्यात्मा ४.५०.३

ऋतु (पु.) उचित अवसर, समय १.४९.३; ७.१०३.९; १०.१८.५

ऋत्विज् (पु. ऋतु+√यज्) योग्य समयपर यजन करनेवाला, ऋत्विज १.१.१; ५.२६.७

ऋत्विय (वि.) योग्य समय पर उपस्थित होनेवाला १.१४३.१; ३.२९.१०

ऋद् (क्रि.) नीचे जाना, दबना २.२३.१४

ऋदूदर (ब. ऋदु√ऋद् = मृदु+उदर) मृदु अन्तः-करणवाला २.३३.५; ८.४८.१०

ऋध् (क्रि.) परिपूर्ण करना, सफल करना २.२८.५; ८.४८.३

ऋधक् (अ.) अलग अलग ४.१८.४; ७.६१.३

ऋबीस (पु.) अथाह गड्ढा १.११६.८

ऋभु (पु.) देवताका नाम ४.३३.१–११; ४.५१.६

ऋष्=अर्ष् (क्रि.) १. दे. अर्ष्; नि√ऋष् पूर्ण होना ४.१८.५

ऋषभ (पु.) साँड़ ६.२८.८

ऋषिबन्धु (ब.) ऋषि जिसके बन्धु हैं ८.१००.६

ऋष्टि (स्त्री.√ऋष्) भाला १.८५.४; ५.५७.६; ७.५६.२

ऋष्व (वि.√ऋष्) ऊँचा, उन्नत ३.३२.७; ७.६१.३; ७.८६.१

एकपर (त.) नित्य एक संख्याद्वारा दान देनेवाला १०.३४.२

एकेष (ब.) एक ही ईषादण्ड रखनेवाला रथ १०.१३५.३

एतग्व (वि.) इष्ट रीतिसे गमन करनेवाले १.११५.३

एतश (पु.) (१) सूर्यका प्रधान अश्व, (२) एक याजकका नाम ४.३०.६; ७.६३.२

एनस् (न.) पाप, अपराध २.१२.१०; ६.७४.३; ७.८६.३

एव (पु.) अभिप्राय, आशय ३.३३.५; ४.३३.१

एव (अ.) (१) निश्चयदर्शक निपात, (२) इस प्रकारसे, इस रीतिसे, ऐसा ४.५०.६; १०.१८.५

एष्ट (वि.√इष्) अत्यन्त अभिलषित १.१८४.२

ओकस् (न.√उच्) घर, प्रिय निवासस्थान २.३८.५; ४.५०.८; १०.११७.४

ओजस् (न.) शक्ति, प्रभाव १.१६०.५; ३.३२.३

ओजाय (क्रि.) ओजस् से नामधातु; सामर्थ्य प्रदर्शित करना २.१२.११; ३.३२.११

ओजीयस् (वि.) अधिक समर्थ २.३३.१०

ओदती (वि. √उद्=उन्द्-गीला होना) उत्साहपूर्ण १.४८.६

ओपश (पु. अव√पश्) जूड़ा १०.८५.८

ओमन् (पु. √अव्) अनुग्रह, कृपा १.११८.७; ७.६८.५

ओषम् (अ. √उष् - जलाना) तीव्रतासे, झट १०.११९.१०

ओहब्रह्मन् (वि. ब.) वह जिसका स्तोत्र ओहरूपमें हो १०.७१.८

ककुभ् (स्त्री.) अग्रभाग, पर्वतका शिखर १.३५.८

ककुह (पु.) ऊँचा प्राणी, अश्व १.१८४.३; ५.७३.७

कतम (वि.) कौनसा, कौन, जो १.३५.७; ४.५१.६; १०.१६८.३

कतिधा (अ.) कितने भागोंमें १०.९०.११

कथम्-कथा (अ.) किस प्रकारसे, १०.१०८.१; १०.१४६.१

कन् = का (क्रि.) इच्छा करना, लोभ करना १.२५.१९; ३.९.२

कनिक्रदत् (क्रि. √क्रन्द्) गर्जना करनेवाला ५.८३.१

कनिष्कन् (क्रि. √स्कद्-कूदना) बार बार कूदने लगा ७.१०३.४

कनी (स्त्री.√कन्) कुमारी, कन्या १.११६.१०

कनीन (वि. √कन्) सुन्दर, लोभनीय ३.४८.१

कन्या (स्त्री. √कन्) बालिका ३.३३.१०; ८.९१.१

कपर्दिन् (वि.) जटाजूटवाला ६.५५.२; ७.८३.८

कम् (अ.) शोभार्थक निपात १.१५४.१; ७.८८.३

कम् (क्रि.) प्रेम करना १०.११७.२; १०.१२५.५

करम्भ (पु.) माँड़ ६.५७.२

करम्भाद् (वि. त. करम्भ+√अद्-खाना) माँड़ खानेवाला ६.५६.१

करूळतिन् (पु.) एक देवताका नाम 'टूटे दाँतों-वाला' ४.३०.२४

कर्त्व (न. √कृ) करणीय वस्तु १.२५.११

कर्मन् (न. √कृ) कार्य, कृति ३.३२.८; ३.३३.७

कर्मार (पु.) धातुका काम करनेवाला, लुहार १०.७२.२

कलश (पु.) घड़ा, मटका ३.३२.१५; ९.८५.५, ७

कल्मलीकिन् (पु.) उज्ज्वल, दीप्तिमान् २.३३.८

कवारि (पु. कव + अरि) कृपण आश्रयदाता १०.१०७ ३

कवि (वि.) पण्डित, चतुर ७.८६.३; १०.१२९.४

कविक्रतु (वि. ब) कविकी प्रतिभा धारण करनेवाला १.१.५; ५.११.४

कविशस्त (वि. त. √शंस्) कवियोंसे प्रशंसित ३.२९.७; १०.१४.४

कवितर (वि.) अधिक पण्डित, बुद्धिमान् ७.८६.७

कव्य (पु.) पितरोंका एक वर्ग १०.१४.३; १०.१५.९

कशा (स्त्री.) चाबुक ५.८३.३

काम (पु.) इच्छा, अभिलाषा ३.४८.२; १०.३४.६

काम्य (वि.) अभिलषणीय २.३८.११; ९.८५.४

कारु (पु.) स्तोता, कारीगर, स्तवनकर्ममें कुशल ३.३३.८; ७.६८.९

कारुधायस् (वि. त. √धा) स्तोताओंका पोषक ३.३२.१०

कारोतर (पु.) चालनी, छलनी १.११६.७

काष्मन् (न. √कृष्) सीमा, परिबन्ध १.११६.१७

काश् (क्रि.) चमकना १०.१३५.२

काष्ठा (स्त्री.) सीमा, नदीका पात्र १.३२.१०

किंयु (वि.) कौनसी इच्छा करनेवाला ३.३३.४
किकिदीविन् (पु.) एक पक्षीका नाम १०.९७.१३
किकिरा (अ. √किर्) किकिरा कृ-टुकड़े करना ६.५३.७-८
कितव (पु.) द्यूतकार, जुआरी १०.३४.३
किल (अ.) सचमुच १.३२.४; २.१२.१५
किल्बिषस्पृत् (वि.√स्पृ) दोषोंका निवारणकर्ता १०.७१.१०
कीदृश् (वि.) कैसा, किस रूपका १०.१०८.३
कीरि (पु.) दीन, ग़रीब कवि अथवा स्तोता २.१२.६
कीर्तेन्य (वि. √कीर्त्) स्तवनार्ह, स्तुतियोग्य १.११६.६
कुचर (वि. कु = क्व+√चर्) चाहे जहाँ संचार करनेवाला १.१५४.२
कुप् (क्रि.) अस्थिर होना, चंचल होना २.१२.२; ५.५७.३
कुमार = कुमारक (पु.) बाल, बटु २.३३.१२ १०.१३५.४
कुमारदेष्ण (वि. ब. देष्ण - √दा = दान) जिसका दान छोटे बच्चोंके दानकी तरह है १०.३४.७
कुम्भ (पु.) कलश, घट १.११६.७
कुरीर (न.) शिरोवस्त्र १०.८५.८
कुलायुयत् (वि. कुलायय - नामधातु) घर करके रहनेवाला ७.५०.१
कुलिश (पु.) कुठार १.३२.५
कुल्फ (पु.) गुल्फ़ ७.५०.२
कुल्या (स्त्री.) स्रोत, धारा ५.८३.८
कुवित् (अ.) प्रश्नार्थक अव्यय १.१४३.६; ३.४२.२
कुषवा (स्त्री. कु + सवा — √सू-प्रसूत होना) एक पिशाचिकाका नाम ४.१८.८
कुह (अ.) कहाँ १.१८४.१; १०.१२९.१
कृत (क्रि.) काँटना १०.६८.८
कृत (न.) अक्षक्रीडामें सर्वश्रेष्ठ दानकी संज्ञा १०.३४.६
कृतध्वज् (वि.ब. ध्वज् = ध्वज) अपना ध्वज ऊँचे रखनेवाले ७.८३.२
कृता (स्त्री.) धात्री, दाई २.३५.५
कृप् (क्रि.) प्रार्थना करना १.११६.१४; ९.८५.११
कृश (वि.) दुर्बल २.१२.६; १०.११७.३
कृशन (न.) मोती, सोनेकी बूँद १.३५.४ १०.६८.११
कृष् (क्रि.) खींचना ५.८३.७; १०.३४.१३
कृषि (स्त्री.) खेती १०.३४.१३
कृष्टि (स्त्री.√कृष्) लोग, जनता ४.३०.२; ९.६९.७
कृष्ण (वि.) काला १.११५.५; १०.१२७.७
कॄ (क्रि.) बिखेरना, फैलना १.३२.१३
क्लृप् (क्रि.) विन्यास करना १०.१५.१४; १०.९०.१४
केत (पु. √चित्) विचार, अभिप्राय २.३८.५
केतु (पु. √चित् = कित्) ध्वज, पताका ५.११.३; १०.१३९.२
केवट (पु.) खाई; खड्ढा ६.५४.७
केवलाघ (वि. ब. केवल + अघ) अकेले ही कष्ट सहन करनेवाला १०.११७.६
केवलादिन् (वि. त. केवल+ √अद्) अकेले ही खानेवाला १०.११७.६
कोश (पु.) कलश, घड़ा ३.३२.१५; ५.८३.८; ६.५४.३
क्रतु (पु.) प्रज्ञा, बुद्धिमत्ता १.१४३.२; ३.९.६; ७.८९.३
क्रन्द् (क्रि.) गरजना; दे. कनिक्रदत् ५.८३.७; ९.६९.३
क्रन्दस् (न. √क्रन्द्) गर्जना करनेवाली २.१२.८; १०.१२१.६

क्रम् (क्रि.) गमन करना, आक्रमण करना ४.१८.११; १०.९०.४

क्रीड् (क्रि.) खेलना १०.३४.८

क्रीडि (वि.) खिलाड़ी, क्रीडासक्त १०.७८.६

क्रुध् (क्रि.) संतप्त होना २.३३.४

क्रुश् (क्रि.) आक्रोश करना, रोना; सम्-गरजना ४.१८.६; १०.१४६.४

क्षत्र (न. √क्षद्) शासन-सामर्थ्य १.१६०.५; ७.२८.३

क्षत्रश्री (वि. त. √श्री) क्षात्रतेजको सुशोभित करनेवाला १.२५.५

क्षद् (क्रि.) तोड़ना, काटना १.२५ १७; १.११६.१६

क्षप् (स्त्री.) रात्रि १.११६.४

क्षम् (क्रि.) क्षमा करना, अधि क्षम्-दया करना २.२८.३; २.३३.१

क्षम् (स्त्री.) पृथ्वी, भूमि १.२५.१८; ४.३०.१२

क्षम्य (वि. क्षम्) पृथ्वीके संबन्धी ७.४६.२

क्षय (पु. √क्षि-निवास करना) घर, निवासस्थान ४.५४.५

क्षय (पु. √क्षि-राज्य करना) स्वामित्व ७.४६.२

क्षर् (क्रि.) झरना, बहना १.११६.९; ९.८५.५

क्षा (स्त्री. √क्षि) पृथ्वी, भूमि. दे. क्षम् ३.३२.११

क्षामन् (न. √क्षि) पृथ्वी, भूमि ९.८५.११

क्षि (क्रि.) निवास करना, रहना १.१५४.२; १०.१२५.४

क्षि (क्रि.) शासन करना, राज्य करना १.३२.१५

क्षितायु (वि.) वह जिसका आयुष्य क्षीण हुआ है १०.१६१.२

क्षिति (स्त्री. √क्षि) १. गृह, घर; २. लोग, जनता ७.२८.४; ५.१.१०; ७.८८.७

क्षिप् (क्रि.) फेंकना ५.८३.३; १०.६८.४

क्षिप् (स्त्री. √क्षिप्) अङ्गुलि, उँगली ९.८५.७

क्षुध् (स्त्री.) क्षुधा, भूख १०.११७.१

क्षेत्र (न. √क्षि) खेत ९.८५.४

क्षेम (पु. √क्षि) विश्राम, सुखावास ७.८६.८

क्षेमय (क्रि. 'क्षेम'से नामधातु) क्षेमकी इच्छा करना ४.३३.१०

क्षोदस् (न. √क्षुद्) प्रवाह, स्रोत (नदीके पात्रको कूटनेवाला) ७.९५.१

ख (न.) छिद्र, विवर ८.९१.७

खन् (क्रि.) खोदना ४.५०.३; १०.९७.२०

खनित्रिम (वि. √खन्) खोदकर निकाला हुआ ७.४९.२

खा (स्त्री. √खन्) खातक, खाई २.२८.५

खादिन् (वि.) खाद नामक अलंकार धारण करने-वाला २.३४.२

खिल्य (न.) चरागाह ६.२८.२

खेल (पु.) एक राजाका नाम १.११६.१५

ख्या (क्रि.) देखना, अभि-ख्या, वि-ख्या १.३५.५, ७, ८; १०.१२७.१

गण (पु.) समूह, वर्ग ३.३२.२; ५.१.३; १०.३४.१२

गणपति (त.) समूहोंका अधिपति २.२३.१

गतासु (वि.ब.गत+असु) गतप्राण, मृत १०.१८.८

गन्धर्व (पु.) देवताविशेष ९.८५.१२; १०.१३९.४-५

गभीर (वि.) गहरा, गाढ, गहन ३.३२.१६; १०.१०८.४

गम् (गच्छ् क्रि.) संचार करना, जाना ४.३३.६; ७.६८.२; १०.१५.४

गमिष्ठ (वि. √गम्) गमन-कर्ताओंमें श्रेष्ठ १.११८.३

गय (पु. √जि) संपत्ति, संपदा ६.७४.२

गयस्फान (वि. त. गय + स्फान √स्फा = बढ़ना) संपत्ति बढ़ानेवाला ७.५४.२

गर्तसद् (वि. त. गर्त + √सद्) रथके आसनपर बैठा हुआ, गर्त-रथका आसन २.३३.११

गवाशिर् (वि. ब. गो + आशिर् – आ √श्री) गायके दूधसे मिश्रित ३.३२.१; ३.४२.१

गविष्टि (स्त्री. गो + इष्टि – √इष्) युद्ध, जिसमें गायोंका लाभ होता है ५.६३.५

गवेषण (वि. गो + एषण – √इष्) गायोंकी इच्छा रखनेवाला ६.५६.५

गव्य (क्रि. गो संज्ञासे नामधातु) गायोंकी अभिलाषा रखना ३.३३.११; ७.८३.१

गव्य (वि.) गायोंका (गोष्ठ) ३.३२.१६

गव्यु (वि.) गायोंकी अभिलाषा रखनेवाला ३.३३.१२

गव्यूति (स्त्री.) चरागाह १.२५.१६; १०.१४.२

गहन (वि.) गहरा, गभीर १०.१२९.१

गा (क्रि.) जाना, भटकना १.८५.६; ७.७५.४ ९.६०.१

गा (क्रि.) गाना, गान करना ७.१०२.१; प्र–गा ९.६०.१

गातु (पु. √गा–जाना) मार्ग ४.१८.१०; ९.६९.७

गातुमत् (वि.) मार्गोंसे परिपूर्ण ७.५४.३

गार्हपत्य (न. – गृहपति) घरेलू विषयमें प्रभुता १०.८५.२७

गिर् (स्त्री. √गृ) स्तुति १.२५.३; ५.८३.१

गिरिक्षित् (वि. त. क्षित् – क्षि) पर्वतनिवासी १.१५४.३

गिरिभ्रज् (वि. त.) पहाड़ोंसे निकलनेवाला १०.६८.१

गिरिष्ठा (वि. त.) गिरि-निवासी १.१५४.२; ९.८५.१०

गुप् (क्रि.) रक्षण करना ७.१०३.९

गुह् (क्रि.) छिपाना, गूढ रखना ५.६३.४; १०.१०८.४

गुहा (अ. √गुह्; गुहा√कृ–√धा–नष्टप्राय करना, छिपाकर रखना २.१२.४; ४.१८.५; ५.११.६

गुह्य (वि) गुप्त, अदृष्ट ७.१०३.८

गृ (क्रि.) स्तुति करना १.४८.११; १०.१३९.४

गृ (क्रि.) = जागृ, सावधान, प्रबुद्ध रहना ३.२९.२; अजीगः (लुङि मध्यमैकवचनम्) जागृत किया ५.१.३; ७.७५.१

गृणत् (वि. √गृ) स्तवनकर्ता, कवि ७.७७.४; ९.६९.१०

गृध्न (वि. √गृध्) चतुर, महत्त्वाकांक्षी ३.४८.३; ७.८६.७

गृध् (क्रि.) लोभ करना, लुब्ध होना २.२३.१६; १०.३४.४

गृध्र (पु. √गृध्) गीध १.११८.४

गृभाय् (क्रि.) अनु – अनुग्रह करना २.२८.६; उद् – ऊपर खींचना ५.८३.१०

ग्राहि (पु. √ग्रह्) काबूमें करनेवाली दुष्ट देवी १०.१६१.१

गृष्टि (स्त्री) वह गाय जिसने एक बारही बच्चेको जना हो ४.१८.१०

गृह् = गृह (पु. √ग्रह्) घर, सदन १०.११९.३

गृहपति (पु. त.) घरका स्वामी ६.५३.२

गृह्नु (वि.√ग्रह्) लेनेकी इच्छा रखनेवाला, याचक १०.११७.३

गॄ (क्रि.) निगलना, खा लेना ४.१८.८

गोओपश (वि. ब. गो + ओपश – अव √पश्) गायके चमड़ेके गुच्छवाली ६.५३.९

गोत्र (न. गो+ √त्रा) गोष्ठ, गोशाला २.२३.१८

गोत्रभिद् (वि. त.) गोष्ठोंका भेदन करनेवाला २.२३.३

गोपति (पु. त.) गायोंका स्वामी, राजा, धनिक ४.३०.२२; १०.१०८.३

गोपा (पु. गो + √पा–पालन करना) गोपाल, संरक्षक २.२३.६; ५.११.१

गोपीथ (न. पीथ √पा–पीना) दुग्ध (–मिश्रित सोम)का पान १.१९.१

गोभाज् (न.) गायोंका दाता १०.९०.५

गोमघ (वि. ब.) गायोंके उपहार देनेवाली ७.७१.१

गोमातृ (वि. ब.) पृश्नि गाय जिनकी माता है वे मरुद्गण १.८५.३

गोमायु (वि. ब. मायु – √मा-ध्वनि करना) जिसकी आवाज़ गायके रंभानेकी तरह है; दे. अजमायु ७.१०३.६

गोवपुस् (वि. ब.) गायोंको अपना शरीर माननेवाला १०.६८.९

गोषणि (वि. त.) गायें प्राप्त करानेवाली ६.५३.१०

गोष्ठ (पु.) गोशाला ६.२८.१; १०.९७.८

ग्नास्पति (पु. ग्नाः+ पति) दिव्य नारियोंका पति २.३८.१०

ग्मा (स्त्री.) पृथिवी, भूमि १.२५.१०

ग्रभ् (क्रि.) पकड़ लेना. अनु–ग्रभ्–अनुग्रह करना ३.९.६; ७.१०३.४ १०.१८.१४;

ग्राम (पु.) समूह, गाँव २.१२.७; ३.३३.११; १०.१२७.५

ग्राम्य (वि.) गाँवमें रहनेवाला १०.९०.८

ग्रावन् (पु.) पत्थर, (सोम पीसनेवाले) पत्थर १०.७८.६; १०.१०८.११

घ = ह (नि.) अलंकारार्थे निपात १ ४८.५; ४.५१.७; ६.५६.२

घर्म (पु.) (अश्विनोंके लिए) तप्त दुग्धका हवि ५.७३.६; ७.१०३.९

घर्मसद् (त.) घर्म तैयार करनेके लिए बैटनेवाले १०.१५.९–१०

घर्मिन् (पु.) 'घर्म' हवि तैयार रखनेवाले ७.१०३.८

घस् (क्रि.) खाना १०.१५.१२

घुष् (क्रि.) उद्घोषणा करना ३.३३.८

घृण् (स्त्री) = घृणा–ताप, उष्णता २.३३.६

घृतप्रतीक (वि. ब) घृतकी तरह सुन्दर मुखवाला १.१४३.७; ५.११.१

घृतप्रुष् (वि. त. √प्रुष्) घृतकी वर्षा करनेवाला १०.७८.४

घृतश्चुत् (वि. त. √श्चुत्) घृत अर्पण करनेवाला १०.१८.१२

घृतस्नु (वि. ब. स्नु = सानु) घृतयुक्त सानु याने पृष्ठ वाला ५.२६.२

घृताची (वि. त. √अच्) घृतसे संबद्ध होनेवाली १०.१३९.२

घृष्वि (वि. √घृष्-उत्सुक होना) उत्साहनिर्भर १.८५.१

घोरवर्पस् (ब.) भयंकर रूपयुक्त १.१९.५

घोष (पु. √घुष्) ध्वनि ७.८३.३; १०.६८.१; १०.१६८.४

घ्रंस (पु.) उष्णता, ताप १.११६.८

चक्ष् (क्रि.) देखना ४.१८.३; ३.५९.१; ७.२८.४

चक्षस् (न. √चक्ष्) प्रभा, तेज, नेत्र १.५०.६; १.४८.८

चक्षु = चक्षुस् (न. √चक्ष्) नेत्र १०.९०.१३

चत् (क्रि.) छिपाना २.३३.२

चतुरक्ष (वि. ब.) चार नेत्रोंसे युक्त १०.१४.१०

चतुष्पद् (न.) चौपाया १.४९.३; ९.६९.७; १०.९७.२०

चतुष्पाद् (न. पु.) चौपाया ४.५१.५; १०.११७.८

चन (निपात) निषेधात्मक तथा विध्यात्मक ४.१८.८–९; ४.३०.३; ७.८६.६; २.२८.६; ८.९१.३; १०.११९.६; १०.१६८.३

चनस् (न.) आनन्द; सुख २.३५.१

चन्द्र (न. वि.) सुवर्ण, मनोज्ञ, सुन्दर १.४८.९; ३.६१.७; ९.६९.१०; १०.१२१.९

चन्द्रमस् (पु.) चन्द्रमा १०.९०.१३

चन्द्ररथ (वि. ब.) सुन्दर रथवाली ३.६१.२
चन्द्रवत् (वि.) सुवर्णयुक्त ५.५७.७
चमस (पु. √चम्) चषक, पानपात्र, प्याला ४.३३.५-६; १०.६८.८
चमू (स्त्री. √चम्) पात्र, पानपात्र ४.१८.३; ३.४८.४; ९.६९.५
चर् (क्रि.) चलना, फिरना; अभि-चर्=विरुद्ध बर्ताव करना; आ-चर्=अनुकूल वृत्ति रखना; वि-चर्=यथेष्ट चलना १.३२.१०; ४.५१.८; ५.६३.२, ५; १०.३४.१४
चरण (न.) मार्गक्रमण, संचार १०.१३९.६
चरणीय (क्रि. चरण शब्दसे नामधातु) संचार करना ३.६१.३
चरथ (न. √चर्) संचार ४.१८.१०; ४.५१,५
चराचर (वि.) विषम; ऊँचा-नीचा १०.८५.११
चरित्र (न. √चर्) टाँग, पाय १.११६.१५; ८.४८.५; १०.११७.७
चर्मन् (न.) चमड़ा १.८५.५; ७.६३.१
चर्षणि (स्त्री. चृष्=कृष्) कृषक, किसान, मनुष्य १.३२.१५; १.१८४.४
चर्षणिधृत् (वि. न.) मनुष्योंका समर्थक, आधार देनेवाला ३.५९.६
चारु (वि.) सुन्दर १.१९.१; २.३५.११; ३.३२.१
चि (क्रि.) जानना, वि-चि=साफ़ करना; अव-चि=दूर रखना २.१२.१३; ६.५३.४; ३.६१.४
चिकित्वस् (वि. √चि) ज्ञानयुक्त, जाणकार १.२५.११; ७.८६.३
चिच्चिक (पु.) एक वन्य कीटकका नाम १०.१४६.२
चित् (क्रि.) जानना ७.८६.७; ७.९५.२
चित्र (वि.) आश्चर्यजनक, सुन्दर ३.२९.६; ७.७५.६
चित्रभानु (वि. ब.) सुन्दर तेजसे युक्त १.३५.४; १.८५.११; ५.२६.२
चित्रमघ (वि. ब. चित्र + मघ-दान) सुन्दर उपहार देनेवाली ७.७५.५; ७.७७.३
चित्ररथ (पु.) एक व्यक्तिका नाम ४.३०.१८
चित्रश्रवस्तम (वि. ब.) उज्ज्वल यशवालोंमें श्रेष्ठ १.१.५; ३.५९.६
चिद् (नि.) शोभार्थक निपात १.२५.१; १०.३४.८
चुद् (क्रि.) प्रवृत्त करना १.४८.२; ७.७७.४; ९.६९.२
चृत् (क्रि.) वि-चृत्=मुक्त करना, छोड़ना १.२५.२१
चेकितान (वि. √कित्) ज्ञानी, जानकार २.३३.१५; ३.२९.७
चेतस् (न. √चित्) हृदय, अन्तःकरण ५.७३.६
चोद (पु. √चुद्) प्रवर्तक १.१४३.६
च्यवन (वि. √च्यु) अस्थिर, हिलता हुआ, कमज़ोर २.१२.४
च्यवान (पु.) एक ऋषिका नाम १.११८.६; ७.६८.६
च्यु (क्रि.) कम्पित करना, हलना, हिलाना १.४८.२; ४.३०.२२; १०.९७.१०
छद्-छन्द् (क्रि.) दृग्गोचर होना, दिखाई पड़ना ३.९.७; १०,३४.१; १०.१०८.१०
छन्दस् (न.) वृत्त, पद्य १०.१४.१६; १०.९०.९
छर्दिस् (न.) संरक्षण १.४८.१५
छाया (स्त्री.) साया, प्रतिबिम्ब २.३३.६; १०.१२१.२
छिद् (क्रि.) तोड़ना १.११६.१५; २.२८.५
जक्ष् (क्रि.) खाना १०.१४६.५
जगत् (न.) जङ्गम वस्तुजात १.४८.८. १.११५.१; १०.१२१.३

जर्गुरि (वि. √गृ) गिलनेवाला, थकानेवाला १०.१०८.१

जग्मि (वि. √गम्) जानेवाला १.८५.८; २.२३.११

जङ्घा (स्त्री.) जाँघ १.११६.१५

जज्ञान (वि.√जन्) उत्पन्न होनेवाला १०.१४.२

जठर (न.) उदर, पेट ३.२९.१४; ९.८५.५

जन (पु.) साधारण लोग, मनुष्य २.१२.९; १०.१४.२

जनश्री (वि. त. √श्री) लोगोंको शोभा देनेवाला ६.५५.६

जनि (स्त्री.) स्त्री, भार्या, पत्नी १.८५.१; १०.१८.७

जनित्व (न.) स्त्रीत्व, भार्यात्व १०.१८.८

जनिमन् (न.) जन्म २.३५.६

जनुस् (न.) जन्म, जन्तु, प्राणी ३.४८.४; ७.८६.१

जन्मन् (न. √जन्) प्राणी, जीव १.५०.७; २.३८.८; ९.८५.६

जभ् (क्रि.) = जम्भ् – विदीर्ण होना; जम्भय (प्रयोजक) नष्ट करना २.२३.९

जम्भ (पु.) बड़ा दाँत, डाढ़ १.१४३.५; ८.९१.२

जरण (वि. √जॄ) जीर्ण, जरायुक्त ४.३३.३

जरत् (वि. √जॄ) जीर्ण, वृद्ध १०.३४.३

जरस् (स्त्री. √जॄ) जरा, बुढ़ापा ७.७१.५; १०.१८.६ (दे. टि.)

जरितृ (पु.√जॄ–गाना) गायक, स्तोता २.३३.११; २.३८.११

जरिमन् (पु.) बुढ़ापा, वृद्धावस्था १.११६.२५

जलाष (वि.) ठंढ़ा, संतापहारक २.३३.७

जलाषभेषज (वि. ब.) संतापहारक ओषधियाँ रखनेवाला ८.२९.५

जल्पि (स्त्री.) बड़बड़, बकबक ८.४८.१४

जवस् (न. √जू) वेग १.११८.११

जवीयस् (वि.) अधिक वेगवान् १.११८.१

जस् (क्रि.) क्षीण होना ४.५०.११; ७ ६८.८

जसु (स्त्री.√जस्) ग्रसनेवाली, थकानेवाली १०.६८.८

जसुरि (वि. √जस्) भूखा, क्षुधार्त, क्षीण १.११६.२२

जहित (वि. √हा) परित्यक्त १.११६.१०; ४.३०.१९

जह्नावी (स्त्री.) जन्हुकी प्रजा १.११६.१९

जा (स्त्री.) प्रजा, लोग १.१४३.८

जागृ (क्रि.) दे. √गृ. ३.२९.२

जागृवि (वि.) जागरूक ५.११.१; १०.३४.१

जात (न.) उत्पन्न प्राणी २.३३.३; ८.१००.४

जातवेदस् (वि. ब.) उत्पन्न वस्तुजातका ज्ञानी, सूर्य; अग्नि १.५०.१; ३.२९.२

जान (न. √जन्) उत्पन्न प्राणी, पीढ़ि १०.७२.१

जानु (न.) जाँघ, जानु १०.१५.६

जार (पु.) प्रेमिक ६.५५.४

जारिणी (स्त्री.) प्रेमिका, प्रिया १०.३४.५

जिगत्नु (वि. √गम्) जानेवाला १०.७८.३

जिगीषु (वि. √जि) प्राप्तिकी इच्छा करनेवाला २.३८.६

जिन्व् (क्रि.) प्रवृत्त करना, उत्तेजित करना १.११८.२; २.२३.१९

जिहीळान (वि. √हीड्) तिरस्कार या द्वेष करनेवाला १.२५.२

जिह्म (वि.) वक्र, टेढ़ा १.८५.११; २.३५.९

जिह्मबार (ब.) तिर्यङ्मुख, टेढ़े विवरवाला १.११६.९

जिह्वा (स्त्री.) जीभ १०.६८.६; १०.७८.३

जीर (वि. √जि = जिन्व्) उत्तेजक, प्रवर्तक, अभिवृद्धिकारी १.४८.३
जीरदानु (वि. ब. दानु √दा) वह जिसका दान अभिवृद्धिकर होता है १.१८४.६; ५.८३.१
जीव (न.) जीवन्त प्राणी ४.५१.५; १०.९७.१७
जीवगृभ् (स्त्री.) ज़िन्दा पकड़ना १०.९७.११
जीवन (न.) प्राणधारण १.४८.१०
जीवलोक (पु. त.) मृत्युलोक १० १८.८
जीवित (न) जीवनक्रम ४.५४.२
जुजुर्वस् (वि. √जृ) वृद्ध, जराजर्जर १.११६.१०
जुरत् (वि. √जृ) जरठ, वृद्ध, बूढ़ा ७.६८.६
जुष् (क्रि.) संतोषसे स्वीकार करना ३.३३.८; ७.८६.२
जू (क्रि.-जुनाति) प्रवृत्त करना ३.३३.१; ७.८६.७
जूति (स्त्री.√जू) प्रवर्तना १.११६.२
जॄ (क्रि.) स्तुति करना २.२३.६; ७.६८.८; २.२८.२
जॄ (क्रि.) =जुर् वृद्ध होना, क्षीण होना ७ ६८.६; १०.३४.३
जेन्य (वि. √जि) लोभनीय ५.१.५
जेह्मान (वि. √जिह्) प्रसृतमुख, प्रसृतजिह्व १०.१५.९
जोहूत्र (वि. √हू) अनेक वार बुलानेवाले १.११८.९
ज्ञाति (स्त्री) बान्धव, संबन्धी ७.५५.५; १०.११७.९
ज्मा (स्त्री.) पृथ्वी ४.५०.१
ज्यायस् (वि.) बड़ा ४.३०.१; ७.८६.६
ज्येष्ठ (वि.) सबसे बड़ा ४.३३.५; १०.७८.२
ज्येष्ठराज (वि. त.) सर्वश्रेष्ठ राजा २.२३.१
ज्योक् (अ.) दीर्घकाल तक ६.२८.३
ज्योतिष्कृत् (वि. त.) प्रकाश देनेवाला १.५०.४
ज्योतिस् (न.) प्रकाश, तेज ४.५१.१; १०.६८.११

तंस् (क्रि.) खड़ा करना ४.५०.२
तक् (क्रि.) जाना, चलना दे. सर्गतक्तः
तक्ष् (क्रि.) निर्माण करना १.३२.२; ४.३३.८; ५.७३.१०
तडित् (वि.) समीप रहनेवाले २.२३.९
तदपस् (वि. ब.) वह जिसका वही काम है २.३८.१
तदोजस् (वि. ब.) वह जिसका वही ओज याने सामर्थ्य है ५.१.८
तन् (क्रि.) फैलना, प्रसृत करना १.१९.८; १० १२५.६
तनूनपात् (पु. तनू + नपात्) अग्निका नाम १.१४२.२; ३.२९.११
तन्तु (पु. √तन्) धागा, सूत २.२८.५; १.१४२.१; ९.६९.६
तन्यतु (पु. √तन् = स्तन्-गर्जना करना) मेघ-गर्जना १.३२.१३; १.११६.१२
तन्यु (पु.√तन् = स्तन्) मेघगर्जना ५.६३.२,५
तप् (क्रि.) ताप देना, सताना २.२३.१४; ७.८३.५; १०.३४.१०
तपन (वि.) तापदायक २.२३.४; १०.३४.७
तपनी (स्त्री) जलानेवाला शस्त्र २.२३.१४
तपस् (न.) तपश्चर्या १०.१२९.३
तमिषीची (स्त्री.) अंधेरा, तम ८.४८.११
तरणि (वि. √तृ) विजयी, आक्रमक १.५०.४; ३.२९.१३
तर्हि (अ.) उस समय १०.१२९.२
तल्पशीवन् (वि. त. शीवन् √शी) तल्पशी-वरी (स्त्री.) पर्यङ्कपर सोनेवाली ७.५५.८
तवस् (वि. √तु) पराक्रमी, सुदृढ, बलशाली २.३३.३; ३.३२.९; ५.८३.१
तवागा (वि. √गा-जाना) बलवान्, आक्रमणशील ४.१८.१०
तविषी (स्त्री.√तु) सामर्थ्य, बल १.३५.४; ३.३२.३

तव्यस् = तवीयस् (वि. √तू) अधिक सामर्थ्यवान् ३.३२.११; १०.११७.५

तष्टृ (पु. √तक्ष्) कारीगर, बढ़ई १०.११९.५

तस्कर (पु.) चोर ६.२८.३; ७.५५.३

तादीत्ना (अ) = तदानीम्, उस समय १. ३२.४

तापयिष्णु (वि.) ताप देनेके लिए विवश करनेवाला १०.३४.७

तायु (पु.) चोर १.५०.२; ७.८६.५

तिगित (वि. √तिज्) तीक्ष्ण १.१४३.५

तिग्म (वि. √तिज्) तीक्ष्ण ३.४८.३; १०.१०८.५

तितउ (न.) छलनी १०.७१.२

तिरश्चता (अ.) तिर्यक्, टेढ़ा ४.१८.२

तिरश्चीन (वि.) टेढ़ा, वक्रगति १०.१२९.५

तिरस् (नि.) उपेक्षासे, अनादर करके १.१९.६; ७.६८.२

तिरोहित (वि.) छिपकर रखे हुए; आँखोंसे परे रहे हुए ३.९.५

तीव्र (वि.) शुद्ध, अमिश्रित १०.७२.७

तुच्छ्य (वि.) = तुच्छ, हलका, क्षुद्र १०.१२९ ३

तुज् (क्रि.) प्रेरित करना, प्रोत्साहन देना १.१४३.६

तुद् (क्रि.) बींधना, छेदना ६.५३.६

तुम्र (वि.) बलशाली ४ १८.१०

तुर (वि. तृ-त्वर्) चपल, शीघ्रगामी ७.८६.४

तुराषाह् (वि. त. तुर + √सह) विजेताका विजेता ३ ४८.४

तुरीप (न.) वीर्य १.१४२.१०

तुविजात (त.) जन्मसिद्ध बलवान् २.२८.८; ४.५०.४

तुविबाध (वि. त.) सामर्थ्यशालियोंका विजेता १.३२.६

तुविमघ (ब.) समर्थ याने विपुल धन देनेवाला ५.५७.८

तुविष्टम (वि.) अत्यन्त बलशालि ५.७३.२

तुविष्मत् (वि.) सामर्थ्यवान् २.१२.१२

तूतुजि (वि. √तुज्) क्रियाशील, विजेता ७.२८.३

तृत्सु (पु.) वसिष्ठ कुलका पूर्वनाम ७.८३.८

तृद् (क्रि.) खोदना, बींधना १.३२.१; ६.५३.५

तृप् (क्रि.) तृप्ति पाना, तृप्त होना १.८५.११; ४.४६.२

तृपत् (अ.) तृप्तिपर्यन्त, तृप्तिसे ३.३२.२

तृष् (क्रि.) प्यास लगना १.११६.९; १०.१५.९

तृष्ट (वि. √तृश्) तीक्ष्ण (वचन), तीखा अभिशाप ३.९.३

तृष्णज् (वि.) तृषार्त १.८५.११; ५.५७.१

तृष्यावत् (वि.) तृषार्त ७.१०३.३

तॄ (क्रि.) तैरना, पार होना, प्र-तॄ = तारना, पार करना १.२५.१२; १.३२.६; ८.४८.११; १०.१०८.१

तेजिष्ठ (वि.) अत्यन्त तेजस्वी २.२३.१४

तोक (न.) प्रजा, वंशज, संतान २.३३.१४

त्मन्-त्मना (अ. सं.) १. निश्चित रूपसे, स्वयम्, खुशीसे; २. आपही आप १.१४२.१०; ३.९.५; १.१८४.५; ७.६३.६

त्रस् (क्रि.) डरना ८.४८.११

त्रिकद्रुक (पु.) एक सोम यागका नाम १.३२.३; १०.१४.१६

त्रिचक्र (वि.ब.) तीन पहियोंवाला १.११८.२

त्रिधातु (वि.) तीन प्रकारका १.८५.१२; १.१५४.४

त्रिवन्धुर (वि. ब.) तीन आसनवाला. दे. वन्धुर १.११८.१

त्रिवृत् (वि.) तीनों ओरोंसे घूमनेवाला १.११८.२

त्रिषधस्थ (वि. ब.) तीन स्थानोंमें रहनेवाला; दे. सधस्थ ४.५०.१; ५.११.२

त्रै (क्रि.) रक्षण करना २.२३.४; ७.७१.२

त्व (सर्वनाम) कोई एक ४.१८.२; ८.१००.३; १०.७२.९

त्वक्षस् (न. √त्वक्ष् – बढ़ना) सामर्थ्य

त्वक्षीयस् (वि.) अधिक बलशाली २.३३.६

त्वच् (स्त्री.) चमड़ा, लक्षणासे ऊनकी छलनी ९.६९.३; १०.६८.४

त्वादत्त (वि. त्वा + दत्त) तुम्हारे द्वारा दी हुई २.३३.२

त्विष् (स्त्री.) त्वेष, जोश १०.७८.६

त्विषीमत् (वि.) ओजस्वी ५ ६३.६

त्वेष (वि. √त्विष्) जोशीला १.१४३.३; २.३३.८, १४

त्वेषसंदृश् (वि. ब.) ओजस्वी दर्शनवाला, देखनेमें सुतीक्ष्ण १ ८५.८; ५.५७.५

त्वोत (वि. त. त्वा + ऊत √अव्) तुम्हारे द्वारा सुरक्षित ३.५९.२

त्सरु (पु. √त्सर्) रेंगनेवाला कीटक ७.५०.१

दंसना (स्त्री.√दस्–दंस्) अद्भुत कर्म १.११८.६ ३.९.७

दंसस् (न. √दस्–दंस्) अद्भुत कर्म १.११६.१२; ५.७३.२

दक्ष (पु.) कुशलता, बुद्धिमत्ता ७.८६.६; ८.४८.८; ९.८५.२

दक्ष (पु.) एक देवताका नाम १०.७२.४–५

दक्षिण (वि.) दाहिना ६.५४.१०

दक्षिणतः (अ.) दाहिनी ओर, ८.१००.२; १०.१५.६

दक्षिणा (स्त्री.) दान ५.१.३

दक्षिणावत् (वि.) दक्षिणा देनेवाला, दानी १०.१८.१०

दत् (पु.) दांत ७.५५.२; १०.६८.६

दधृष (वि. √धृष्) साहसी, निर्भीक ३.४२.६;

दभ् (क्रि.) धोखा देना, अपकार करना २.२८.१०; ६.२८.३

दम (पु.) घर, निवासस्थान १.१.८; ३.४८.२; ६.७४.१

दमितृ (वि.√दम्) दमन करनेवाला, दबानेवाला २.२३.११

दय् (क्रि.) देना, विभाजित करना २ ३३.१०

दर्शत (वि. √दृश्) दर्शनीय, सुन्दर ५.८०.२; ७.७५.३

दशग्व (पु.) अंगिरस कुलकी एक शाखाका नाम ४.५१.४

दशस्य (क्रि.) दया करना ७.२८.४

दस् (क्रि विनष्ट होना–करना) उप–दस्–नाश होना १०.११७.१

दस्यु (पु. √दस्) अनार्य, दास २.१२.१०; ३.२९.९

दस्र (वि. √दस्–दंस्=अद्भुत कर्म करना) अद्भुत कर्म करनेवाला १.११६.१०; ६.५६.४

दात्र (न. √दा) दान, उपहार १.११६ ६

दानु (पु. स्त्री) १. वृत्रके माताका नाम. २.असुर; वृत्रका अन्य नाम १.३२.९; २.१२,११; ४.३०.७

दामन् (पु.√दा) दान, दायभाग, हिस्सा ४.५४.२

दामन् (न. √दा–बाँधना) रस्सी, रज्जु २.२८.६; ७.८६.५

दारु (न.) लकड़ी १०,१४६.४

दाश् (क्रि.) देना, उपहार करना २.२३,४

दाशराज्ञ (न.) एक महत्त्वपूर्ण ऋग्वेदकालीन युद्धका चरितार्थ नाम ७.८३.८

दाश्वस् (पु.) दानी, देनेवाला १ १.६; ४.४६.६

दास् (क्रि.) दुःख देना, हमला करना १०.[illegible]७.२३

दास (वि. √दस्) दाससंबन्धी २.१२.४; ७.८३.१;

दास (पु. √दस्) अनार्य ४.३०.१४; ७.८६.७

दासपत्नी (वि. ब.) दासोंके क़ाबूमें रहनेवाली १.३२.११

दास्वत् (वि. दास्√दा-देना) दानी १.४८.१

दिदृश् (पु.) विचारी, देखनेवाला, जानकार ७.८६.३

दिद्युत् (स्त्री.√द्युत्) तेजस्वी शस्त्री ७.५७.४

दिधिषु (वि:√धा) पोषक, पोषणकर्ता ६.५५.५; १०.१८.८; १०.७८.५

दिप्सु (वि.) हिंसा करनेकी इच्छा रखनेवाला १.२५.१४

दिव् (क्रि.) द्यूत खेलना, जुआ खेलना १०.३४.५,१३

दिव् (स्त्री.) स्वर्गलोक १.५०.११; १०.१२५.८

दिविजा (वि.) स्वर्गमें उत्पन्न ७.७५.१

दिविष्टि (स्त्री. दिव्+इष्टि √ इष्) स्वर्गकी अभिलाषा; (लक्षणासे) यज्ञ १.४८.९; ४.४६.१

दिविस्पृश् (त.) स्वर्गतक पहुँचनेवाला १.१४२.८; १० १६८.१

दिवेदिवे (पु.) हरदिन, नित्य १.१.३; ३.२९.१४

दिव्य (वि.) स्वर्गीय १.१४३.५; ७.१०३.२

दिश् (क्रि.) दिखाना, निर्देश करना. आ-दिश्-कुत्सित बुद्धिसे उँगली दिखाना ६.५६.१

दिश् (स्त्री.) दिशा १.८५.११; ५.८०.४; १०.९०.१४

दिह् (क्रि.) ऊपर छा जाना ७.५०.२

दी (क्रि.) प्रकाशमान होना १.१४३.७; २.२३.१५; २.३५.४

दी (क्रि.)=डी उड़ान करना २.३५.१४; ५.७३.३; ७.६३.५

दीदिवि (वि.√दी-प्रकाशना) प्रकाशमान, तेजस्वी १.१.८

दीन (वि.) कम, मन्द, छिछला ४.५४.३; १०.६८.८

दीनता (स्त्री.) दुर्बलता, हीनता ७.८९.३

दीप् (क्रि.) प्रदीप्त, या प्रज्वलित करना ८.४८.६

दीर्घ (वि.) विस्तीर्ण, लम्बा, पूरा १.३२.१०; १.११६.२५; १०.१८.६

दीर्घश्रुत् (वि. त.) विशाल कीर्तिमान, विख्यात ७.६१.२

दुच्छुना (स्त्री. दुस्+शुन) दुष्टता, दुष्टबुद्धि १.११६.२१; २.२३.६

दुच्छुनाय (क्रि.-नामधातु) दुष्टता दिखाना, क्रूर होना ७.५५.३-४

दुध् (क्रि.) ताड़न करना, दुःशील होना १०.११९.२

दुध्र (वि.√दुध्) दुःशील, अविधेय, हठी २.१२.१५

दुर् (स्त्री.) किवाड़, द्वार १०.१३९.६

दुरित (न.) संकट, अनर्थ १.३५.३; २.२३.५

दुरेव (वि. ब. दुर्+एव) दुष्टचित्त, नीच उद्देश्यवाला २.२३.८, १२; ७.६८.७

दुर्ग (न.) संकट, अनर्थ ७.६१.७

दुर्गह (वि.√गाह्) दुष्प्रवेश्य ४.१८.२

दुर्दभ (वि.√दभ्) जिसकी प्रतारणा असंभव हो; दुर्दान्त २.२८.८; ७.८६.४

दुर्मति (स्त्री.) दुष्ट अभिलाषा २.३३.१४

दुर्मद (ब.) दुरभिमानी, मिथ्या गर्वित १ ३२.६

दुर्मित्र (वि.) दुष्ट मित्र, अविश्वसनीय ७.२८.४

दुर्य (वि. दुर्=द्वार) घरेलू, घरमें रहनेवाला २.३८.५

दुर्हणायु (वि.) दुष्ट, मारनेकी इच्छा रखनेवाली ४.३०.८

दुवस्य (क्रि. दुवस्-से नामधातु) सेवा करना, पूजा करना १०.१४.१

दुःशंस (वि.) निन्दक २.२३.१०

दुष्कृत् (वि.) दुष्कृत्यकारी, नीच ५.८३.२, ९

दुष्टुति (त.) दोषयुक्त स्तुति २.३३.४

दुह् (क्रि.) १. दोहन करना, २. अर्पण करना ९.६९.१; १०.११७.९

दूरेअर्थ (ब.) जिसका गन्तव्य स्थान दूर हो ७.६३.४

दृ (क्रि.) विदारण करना, तोड़ना २.१२.१५; ७.५५.४

दृति (पु.) चमड़ेकी थैली ५.८३.७; ७.८९.२; ७.१०३.२

दृशीका (स्त्री.) दर्शन, रूप १०.१०८.३
दृष्टवीर्य (वि. ब.) जिसकी सामर्थ्य मशहूर हो, प्रख्यात बलशाली २.२३.१४
दृह् (क्रि.) सुदृढ करना, मजबूत करना १.८५.१०; २.१२.२
देवकिल्बिष (न. त.) देवोंके विरुद्ध किए गए अपराध १०.९७.१६
देवत्रा (अ.) देवोंके मध्यमें १.५०.१०;१०.१५.९
देवनिद् (वि. त.) देवोंका निन्दक २.२३.८
देवमान (न. त.) देवोंका विशाल गृह१०.१३५.७
देवय (क्रि.) देवोंकी अभिलाषा रखना १.११५.२; ३.२९.१२
देवया (वि. त.√या) देवोंका पूजक ७.६८.४
देवयान (त.) देवोंके जाने-आनेका मार्ग १.१८४.६; १०.१८.१
देवयु (वि.) देवोंका पूजक दे. देवय (क्रि.) १.१५४.५; ६.२८.२
देववन्द (वि. त.√वन्द्) देवोंका पूजक, देवोंको वन्दन करनेवाला १०.१५.१०
देववीति (त. वीति √वी) देवोंका प्रीतिभोज २.२३.७
देवव्यचस्तम (वि.ब.) देवोंको आसन अर्पण करनेवालोंमें श्रेष्ठ १.१४२.५
देवहिति (स्त्री. त.) देवोंका आदेश ७.१०३.९
देवहूति (स्त्री. ति.) देवोंका आवाहन, पुकार, यज्ञ ७.८३.७; १०.१८.३
देवावी (वि.त.√वी) देवोंका याजक ३.२९.८; १०.७८.१
देष्ट्र (न. √दिश्) निर्देशना १०.८५.१५
देष्ण (न.) दान दे. कुमारदेष्ण
दैव्य (वि. देव) देवोंका, स्वर्गीय १.१४२.८; ७.७५.३
दोषावस्तृ (त. वस्तृ √वस्- प्रकाशित करना) रात्रिका प्रकाशक १.१.७
द्यु (पु.) दिवस दे. दिव् १.११५.५; २.२८.२; ४.३३.७; १०.६८.४
द्युत् (क्रि.) प्रकाशमान होना ७.७५.६; ९.८५.१२
द्युतद्यामन् (वि. ब. द्युतत्+यामन्) जिसका गमन-मार्ग प्रकाशमान है, ५.८०.१
द्युमत् (वि.) वैभवपूर्ण २.२३.१५; ५.११.१; ५.२६.३
द्युम्न (न.) वैभव, संपत्ति १.४८.१,१६; ३.५९.६
द्युम्नवत् (वि.) संपन्न, वैभवयुक्त ३.२९.१५
द्यो (पु.) स्वर्ग ५.५७.४; ७.८८.४; ९.८५.९
द्योतन (वि. √ द्युत्) प्रकाशमान, तेजस्वी ८.२९.२
द्रप्स (पु.) बूँद, बिन्दु ५.६३.४; ९.६९.२
द्रवयित्नु (वि.√द्रु) दौड़नेमें प्रवृत्त करनेवाले ९.६९.६
द्रविण (नि.) संपत्ति २.२३.१५; ४.५१.७
द्रविणस्वत् संपत्तिमान्, धनी ९.८५.१
द्राघीयस् (वि. – दीर्घ) बहुत लम्बा, दीर्घतर १०.१८.३; १०.११७.५
द्रापि (पु.) कवच १.२५.३; १.११६.१०
द्रु (क्रि.) दौड़ना १०.१४.१०
द्रुग्ध (न.) दुष्कर्म, अत्याचार ७.८६.५
द्रुह् (स्त्री.) एक दुष्ट पिशाची ७.६१.५;२.२३.१७
द्रुह्वन् (वि.) द्रोह करनेवाला, द्वेषी १.२५.१४
द्वयाविन् (वि.) अविश्वास्य, दो धनियोंके उपासक २.२३.५; ९.८५.१
द्वादश (वि.) बारहवाँ, जिसमें बारह वस्तु हों ७.१०३.९
द्वादश (वि.) बारह १.२५.८; ४.३३.७
द्वार् (स्त्री.) दरवाजा, किवाड़ १.४८.१५;७.९५.६
द्विता (अ.) दो तरफ़से, निश्चयपूर्वक ७.२८.४; ७.८६.१
द्विपद् (न. ब.) दोपाया १.४९.३; ९.६९.७
द्विपाद् (ब.न. पु.) दोपाया ४.५१.५;१०.११७.८

द्विबर्हस् (वि. बर्हस्√ बृह्) दुगुने रूपमें बलशाली ५.८०.४

द्विष् (क्रि.) द्वेष करना १.५०.१३; १०.३४.३

द्विषत् (वि.) शत्रु, द्वेष करनेवाला १.५०.१३

द्वेषस् (न.√द्विष्) द्वेष १.४८.८; २.३३.२; ७.७७.४

धनंजय (वि.त.) संपदाका जेता ३.४२.६

धन्वन् (न.) जंगल, निर्जल अरण्य १.३५.८; २.३८.७; ५.८३.१०

धन्वन् (न.) धनुष्य २.३३.१०; ९.६९.१

धम् (क्रि.) धौंकना, फूँकना, उड़ा देना ४.५०.४; १०.७२.२

धरुण (न.√धृ) धारण करनेवाला ७.९५.१

धर्तृ (वि.√धृ)धारण करनेवाला २.२३.१७;५.१.६

धर्मन् (न.) धार्मिक कृत्य, नियम ५.२६.६; १०.९०.१६

धातृ (वि.√धा) निर्माणकर्ता १०.१८.५

धामन् (न.√धा) १. स्थान,२. सामर्थ्य,३ नियम १.८५.११; ७.६१.४; ७.६३.३; ९.६९.६; १०.९७.१,२

धायस् (न.√धे) पोषण करनेवाला ७.९५.१

धारयत्कवि (वि. ब.) कवियोंको धारण करनेवाला, कवियोंको आश्रय देनेवाला १.१६०.१

धासि (पु.√धा) पोषक अन्न ९.८५.३

धिषणा (स्त्री.) १. स्तोत्रकी अभिमानिनी देवी, २. आश्रय देनेवाली १.१६०.१; ३.३२.१४

धी (क्रि.) विचारना, मनन करना ४.३३.९; ४.५०.१; १०.३४.५

धी (स्त्री.) स्तोत्र, स्तुति १.१४३.७; ६.५३.१०

धीति (स्त्री.√धी) स्तुति, स्तोत्र १.२५.१६; १.१४३.१

धीर (वि.√धी) विचारवान् ,बुद्धिमान् १.१६०.३; ७.८६.१

धीवत् (वि.) स्तोता, स्तोत्रोंका स्वामी ६.५५.३; ७.८३.८

धुनि (वि.√ध्वन्) गर्जना करनेवाला १०.७८.३

धुनेति (वि. धुना+इति√इ) जिसका गमन ध्वनि-युक्त है ४.५०.२

धू (क्रि.) हिलाना ५.५७.२

धूम (पु.) धुआँ ३.२९.९; ५.११.३

धूर्ति (स्त्री.√ध्वर्-नाश करना) कपट ८.४८.३

धूर्षद् (वि.त.)धुरापर बैठनेवाला, सारथि १.१४३.७

धृ (क्रि.) धारण करना, उद्-धृ-उद्धार करना; वि-धृ = संयत रखना १.४८.३; २.३८.४; १०.६८.४

धृतव्रत (वि. ब.) जो अपने नियमोंका पालन करता और कराता है १.२५.८

धृष् (क्रि.) धर्षण करना, हमला करना ६.२८.३

धृष्णु–धृष्णुया (अ.) धृष्टतासे ४.३०.१३; १०.३४.१४

धे (क्रि.) स्तनपान करना २.३५.५; ५.१.३

धेनु (स्त्री.) दूध देनेवाली गाय १.३२.९; ९.६९.४

ध्मा फूँकना दे. धम्

ध्राजि (स्त्री√ध्रज्-शीघ्र गमन करना) शीघ्रगमन १०.९७.१३

ध्रुति (स्त्री.√ध्वर्) वञ्चना, प्रतारणा ७.८६.६

ध्रुव (अ.वि.) १. निश्चयसे, २. चिरकाल रहनेवाला, स्थिर ३.२९.१६; ७.८८.७

ध्वज्=ध्वज पताका दे. कृतध्वज्

ध्वरस् (स्त्री.√ध्वर्) विनाशक पिशाचिका २.२३.५

ध्वसिर (वि.√ध्वस्) दरके हुए ७.८३.३

न =इव सदृश, समान १.१५४.२; ३.२९.६

नकि (सर्वनाम) न कोई १.४८.६; २.३८.७

नक्तम् (अ.) रातमें, रात्रिके समय १०.३४.१०

नक्ष् (क्रि.) मिलना १०.६८.२

नक्षत्र (न.) (एकवचनमें) सूर्य, (बहुवचनमें) तारका १.५०.२; ७.८६.१; १०.६८.११

नद (पु. √नद्) गर्जना करनेवाला १.३२.८

नदी (स्त्री.√नद्) (गर्जना करनेवाली) नदी २.३५.३; ३.३३.१२

नप्ती (स्त्री.) कन्या, आप्त स्त्री १.५०.९; ९.६९.३

नप्तृ (पु.) पुत्र, कुमार १.१४३.१; २.३५.३, ११, १४

नभस् (न.) मेघ, बादल ५.८३.३

नभस्मय (वि.) मेघका जल, बरसातका पानी, शुद्ध जल ९.६९.५

नभ्य (न.) आकाशका मध्यबिन्दु (नाभि) १०.११९.१२

नमस् (न. √नम्) स्तुति, स्तोत्र १.१.७; १०.१४.१५

नमस्य (क्रि. नमस्–से नामधातु) वन्दन करना, नम्र होना १.११५.३; २.३३.८

नमस्य (वि. नमस्) १. वन्दनार्ह, २. वन्दन करनेवाला ३.५९.४; ७.९१.४

नर दे. नृ

नराशंस अग्निका अन्य नाम १.१४२.३;२.३८.१०

नरेस्था (वि.त.) वीरोंके पास रहनेवाला ४.३३.८

नर्य (वि.) वीर, पौरुषयुक्त ६.५३.२; ७.९५.३

नवग्व (पु.) अङ्गिरस कुलकी एक शाखाका नाम, दे. दशग्व १०.१४.६; ४.५१.४

नव्यस्=नवीयस् नवीन, नित्य नूतन १.१४३.१; ५.११.१

नश् (क्रि.) नष्ट होना १.५०.११; ६.२८.३; १०.९७.११

नश् (क्रि.) पहुँचना २.२३.८; २.३५.६; ७.२८.२; १०.१०८.१

नश् (स्त्री.) रात. दे. नक्तम् ७.७१.१

नह् (क्रि.) बाँधना, ८.४८.५

नहि सचमुच नहीं; बिलकुल नहीं १.१९.२; ४.१८.४; १०.११९.६–७

नाक (पु.) स्वर्ग, स्वर्गका तल १.८५.७; ७.८६.१; १०.९०.१६

नाडी (स्त्री.–नड) बाँसुरी, मुरली १०.१३५.७

नाथ् (क्रि.) याचना करना १०.३४.३

नाद्य (वि.–नदी) नदियोंका संबन्धी २.३५.१

नाध् (क्रि.) याचना करना दे.नाथ् १.११८.१०; २.३३.६; १०.११७.५

नाना (अ.) विविध प्रकारोंसे २.१२.८; २.३८.५

नाभि (स्त्री.) मध्यबिन्दु, केन्द्र १.१४२.१०; १.१४३.४; १०.९०.१४

नामन् (न. √नम्) नाम, ख्याति १.४८.४; ५.५७.५; ७.१०३ ६

नारी (स्त्री.) स्त्री २.३५ ५; ७.५५.८;१०.१८.७

नासत्य (पु.) अश्विनों का अन्यनाम १.११६.१; ७.७१.४

नाहुष (वि.–नहुस्) मनुष्य, आदमी, मानव ५.७३.३; ७.९५.२

निंस् (क्रि.) वन्दन करना ९.८५.३

निकृत्वन् (वि. कृत्वन् √कृ) अपमान करनेवाले १० ३४.७

निक्त (वि.√निज्) प्रक्षालित, धोया हुआ ९.६९ ४

निचित (वि. नि√चि) प्रसिद्ध प्रख्यात२.१२.१३

निचिर (वि. नि√चि) जानकार, अनुभवी३.९.४

निचेतृ (वि.नि√चि) अनुभवी, ज्ञाता १.१८४.२

निज् (क्रि.) धोना, प्रक्षालन करना ९.६९.५

निण्य (वि. न.) नीचस्थ, गुह्य १.३२.१०; ७.६१.५

नितोदिन् (वि. नि√तुद्) खोदनेवाला, काटनेवाला १०.३४.७

नित्य (वि.) विश्वासार्ह, श्रद्धेय ५.१.७;७.८८.६

निद् (स्त्री.) निन्दा २.२३.१४; ७.७५.८

निद्रा (स्त्री.) सुस्ती ८.४८.१४

निधि (पु. नि√धा) खजाना, कोष १.११६.११; १०.१०८.७

निध्रुवि (वि.) सुदृढ, सुस्थिर ८.२९.३

निपाद (पु. नि√पद्) निम्न प्रदेश, खाई ५.८३.७

निमिष् (स्त्री. नि√मिष्) नेत्रनिमीलन, नींद २.२८.६; २.३८.८

निमृग्र (वि. नि√मृज्) विनम्र, प्रह्वीभूत २.३८.२

निम्न (न.) नीचस्थ ४.३३.७; ९.६९.७; १०.७८.५

निम्रुच् (स्त्री.) अस्तगमन १०.१५१.५

निरयण (न. निस्√इ) बाहर निकलनेका मार्ग १०.१३५.६

निरामिन् (वि. नि√रम्) संतुष्ट रहनेवाला, आराम करनेवाला २.२३.१६

निर्ऋति (स्त्री.) दुर्गति, दुरवस्था ६.७४.२; १०.१८.१०

निर्णिज् (स्त्री. निस् √निज्) धोया हुआ उत्तरीय १.२५.१३; ९.६९.५

निवत् (स्त्री. नि+वत्) निम्न स्थल १०.१२७.२

निवर्तन (न.) लौट आना, पुनरागमन ३.९.२

निविद् (स्त्री. नि √विद्) विशिष्ट प्रकारकी प्रबोधनात्मक पुकार ४.१८.७

निवेश (पु. नि√विश्) निवासस्थान, घर ९.६९.७

निवेशन (न. नि√विश्) विश्राम देनेवाला १.३५.१

निशुम्भ (वि.) स्थिर, सुदृढ गमन करनेवाले ६.५५.६

निषङ्गिन् (पु.) तूणीर धारण करनेवाला ५.५७.२

निषत्त (वि. नि √सद्) बैठा हुआ, अवस्थित १०.१५.२

निषदन (न. नि√सद्) विश्रामस्थान, बैठनेका घर १०.९७.५

निष्क (पु.) सुवर्णालंकार २.३३.१०

निष्कृत (न. निस्√कृ) संकेतस्थान ९.६९.४; १०.३४.५

निष्कृति (स्त्री. निस्√कृ) रोगोंको निकाल देनेवाली १०.९७.९

निष्टप्तृ (पु. निस्√तप्) अत्यन्त तापदायक २.२३.११

निहाका (स्त्री.) कुहासा १०.९७.१३

नीचा (अ.) निचले स्थानमें, नीचे १०.३४.९

नीचात् (अ.) नीचले स्थानसे १.११६.२२

नीचावयस् (वि. ब.) जिसकी ताक़त क्षीण हो गई हो १.३२.९

नीति (स्त्री. √नी) देशना. दे. सुनीति

नु (क्रि.) स्तवन करना १०.६८.१, १२

नु (नि.) अभी, संप्रति, इस समय १.२५.१७; ७.६३.६

नुद् (क्रि.) हाँकना, प्रेरित करना १.८५.१०; १.११६.९; ७.८६.१

नूतन (वि. नू + तन) नवीन १.११८.११; ३.३२.१३

नूनम् (अ.) अभी, इस समय २.२८.८; ७.६३.४

नृ (पु. वि.) पुरुष, पराक्रमी, बलशाली १.२५.५; ३.४८.५

नृचक्षस् (त. नृ + √चक्ष्) वीरोंका निरीक्षण करनेवाला, मनुष्योंपर धान रखनेवाला ८.४८.९; १०.१४.११

नृत् (क्रि.) नाचना १०.७२.६

नृति (स्त्री.) नाच, नृत्य १०.१८.३

नृपति (पु.) मनुष्योंका राजा ७.७१.४

नृम्ण (न.) पौरुष, सामर्थ्य ५.५७.६; २.१२.१; ९.६९.३

नृवत् (अ.) वीरोंकी तरह ६.५३.१०

नेम (सर्वनाम) कई, कतिपय ८.१००.३

नेमि (स्त्री.) परिघ १.३२.१५

नो (न + उ) नहीं ६.५४.३; १०.१०८.१०

नौ (स्त्री.) नाव; नौका १.११६.५; ७.८८.४
न्यच् (वि. नि√अच्) अधोमुख ५.८३.७
न्युप्त (वि. नि√वप्) रखे हुअे, फेंके हुअे १०.३४.५, ९
न्यृष्ट (वि. नि√ऋष्) पूर्ण,भरा हुआ १०.१०८.७
न्योचनी (स्त्री. नि√उच्) परिचित करानेवाली नव वधूकी सखी १०.८५.६
पक्व (वि.) पका हुआ ५.७३.८
पक्ष (पु.) बाजू १०.११९.७, ११
पङ्क्ति (स्त्री.) पांच वस्तुओंका समूह १०.११७.८
पच् (क्रि.) पकाना ४.१८.१३; २.१२.१४
पज्रिय (वि.) एक व्यक्तिका नाम १.११६.७
पड्बीश (न.) पाद-बन्धन, शृङ्खला १०.९७.१६
पणि (पु. √पण्-बेंचना) १. व्यवहारी; कदर्य; २. असुरोंकी जातिका नाम ६.५३.३; १०.१०८.२; १.३२.११; ४.५१.३
पत् (क्रि.) वेगसे जाना;उड़ान करना १०.१४.१६; ८.१००.७
पतङ्ग (पु.) उड़ान करनेवाला; आकाश-संचारी १.११८.४–५
पतत्रिन् (वि. पतत्र √पत्) पक्षी १.४९.३; १०.९७.९
पतिद्विष् (वि.) पतिका द्वेष करनेवाली ८.९१.४
पत्नी (स्त्री.) रानी, रक्षण करनेवाली ३.६१.५; ७.७५.४
पत्मन् (न.√पत्) पाँख; दे. वीडुपत्मन्
पत्सुतःशी (त.) पाँवके नीचे रहनेवाला १.३२.८
पथिकृत् (त.) मार्ग तैयार करनेवाले; आद्य नेता २.२३.६; १०.१४.१५
पथिन् दे पन्था=पथ, मार्ग ४.१८.१;१०.१४.१०
पथिरक्षि (वि. त.) मार्गमें रक्षा करनेवाला १०.१४.११
पथ्या (स्त्री.) मार्ग ७.७५.१; १०.१४.२
पद् (क्रि.) जाना; गमन करना ६.५४.३; १०.३४.११

पद् (पु.) चरण, पाँव १०.९०.१२, १४
पद (न.√पद्) स्थान १.२५.७; १०.१०८.७
पद्वत् (वि.) पाँववाला; पैरवाला १.४८.५; १०.१२७.५
पद्वीय (न.) मार्ग १०.७१.३
पन् (क्रि.) स्तुति करना ४.३३.५
पनाय्य (वि.) स्तुतिके योग्य १.१६०.५
पनिप्नत् (वि. √पन्) स्तवन या कूजन करनेवाला ९.८५.११
पन्था (पु.) मार्ग १.३५.११; ५.८०.४; १०.१४.१
पन्यतम (वि. √पन्) अत्यन्त स्तुतियोग्य ३.५९.५
पप्तिवस् (वि. √पत्) उड़नेवाला १.४८.६; ९.८५.११
पप्रि (वि. √प्रा) पूर्ति करनेवाला, उदार दाता २.२३.१०
पयस् (न.) पानी, दूध १.१६०.३; ३.३३.१
पर (वि.) अन्य; ऊपरका २.१२.८; १०.१५.१; १०.१८.१
परम (वि.) अत्यन्त ऊपरका; श्रेष्ठ १.१५४.६; ४.५०.३
परस् (अ.) पार; परे; दूसरी ओर १.१९.२; १०.१२९.२
परस्तात् (अ.) परे; दूसरी ओर; ऊपर ६.५४.१०; १०.१२९.५
पराक (न. परा√अच्) दूरवर्ती प्रदेश ७.७५.४; १०.१०८.३–४
पराचैः (अ.) दूर देशमें ६.७४.२; १०.१०८.१
परायत् (वि. परा √इ) दूर जानेवाला ४.१८.३; १०.३४.५
परावत् (स्त्री. परा+वत्) दूरस्थ प्रदेश ४.५०३; ५.७३.१

परावृक्त (वि. परा√वृज्) परित्यक्त ४.३०.१६

परि के चारों ओर, (द्वितीया; सप्तमी) १.२५.१३; ९.६९.२,३; १०.१५१.५; से निकल कर (पञ्चमी) १.५०.१०; ३.९.५; १०.७२.४

परिज्मन् (न.) परिभ्रमण २.३८.२; २.२८.४

परितक्म्या (स्त्री. परि + तक्म्या √तक्) संकट; दुरवस्था १.११६.१५; १०.१०८.१

परिधि (पु. परि √धा) अवरोध करनेवाला ३.३३.६; ४.१८.६; १०.१८.४

परिभू (पु.) चारों ओरसे रहनेवाला; रक्षणकर्ता १.१.४

परियत्त (वि. परि√यत्) चारों ओरसे घिरा हुआ ७.८३.८

परिरप् (स्त्री. परि√रप्) निन्दक; चुगलखोर २.२३.३

परिवत्सरीण (वि.) प्रतिवार्षिक ७.१०३.८

परिविष्ट (वि. परि√विष्) चारों ओरसे घिरा हुआ १.११६.२०; १०.६८.६

परिविष्टि (स्त्री. परि√विष्) अनुवृत्ति, सभी तरह की सेवा ४.३३.२

परिवृत (वि. परि√वृ) चारों ओरसे घिरा हुआ २.२३.१८

परिषद् (स्त्री. परि√सद्) चारों ओरसे घेरनेवाला ३.३३.७

परिषूति (स्त्री. परि√सू) घेरनेवाली प्रबल शक्ति ९.८५.८

परिष्ठा (स्त्री. परि√स्था) प्रतिबन्धक १० ९७.१०

परिष्कृत (वि. परि√कृ) सुशोभित १० १३५.७

परुष (वि.) विषमतल; कठिन ६.५६.३

परुस् (न.) पर्व; सन्धि १०.९७.१२

परेयिवस् (वि. परा√इ) पार गए हुए १०.१४.१

पर्जन्य (पु.) वृष्टिका देवता ५.६३.६; ५.८३.१

पर्जन्यजिन्वित (वि. त. √जिन्व) पर्जन्यद्वारा प्रवर्तित ७.१०३.१

पर्ण (न.√पॄ) पान करना, पंख १.११६.१५; १०.१८.१४

पर्वत (पु.) वलकी गुहा २.२३.१८; १०.६८.७

पलाश (न) पान, पत्र, दे. सुपलाश

पवमान (वि.√पू) शुद्ध होनेवाला ९.८५.२; ७

पवि (पु.) हाल ६.५४.३

पवित्र (न. √पू) गालनी; छलनी ९.६९.९; ९.८५.९-१०

पवित्रवत् (वि.) शुद्ध करने की सामग्रीसे युक्त १.१६०.३

पशु (पु.) चतुष्पाद प्राणी २.३८.८; ३.९.७; १०.९०.८

पशुतृप् (वि.त.) पशुको-गायको-संतुष्ट करनेवाला ७.८६.५

पशुसाधन (त.) पशुओंको वश करनेवाला ६.५३.९

पश्चातात् (अ.) पीछेसे ८.४८.१५

पस्त्य (न.) घर दे. पस्त्यवत्

पस्त्यवत् (वि.) विशाल; अनेक निवासस्थानवाला ४.५४.५

पस्त्या (स्त्री.) नदी १.२५.१०

पा (क्रि.) रक्षण करना १०.१३५.१;१०.११९.१

पाक (वि.) मन्दमति; ऋजु; भोला ३.९.७

पाजस् (न.) तेज १.११५.५; ३.६१.५

पाथस् (न.√पा) शासित स्थान; राज्य १.१५४.५; ७.६३.५

पाद (पु.) चौथा हिस्सा १०.९०.३-४

पादगृह्य (अ.) पैर पकड़कर ४.१८.१२

पाप (वि.) अभद्र; नीच १०.१०८.६;१०.१३५.२

पापया (अ.) बुरे ढंगसे १०.८५.३०

पायन (न.) पिलानेकी क्रिया १.११६.९

पायु (पु.√पा) संरक्षक शक्ति १.१४३.८

पार (न.√पॄ) परतीर १.१८४.६; २.३३.३

पारय (क्रि.) पार करना १.११८.६;१०.९७.२२

पारयिष्णु (वि.) पार करनेकी इच्छा रखनेवाला १०.९७.३
पारावत (वि.) सुदूर स्थान (परावत्) से प्राप्त ८.१००.६
पार्थिव (वि. = पृथ्वी) पृथ्वीसे संबद्ध १.१५४.१; १०.१५.२
पार्थिव (पु.) पृथ्वीका निवासी १०.८५.४
पार्य (वि. <पार) पार करने योग्य; साहाय्य देने योग्य ३.३२.१४; ७.८३.५
पार्श्व (पु.) पक्ष ४.१८.२
पावक (वि.√पू) पवित्र करनेवाला १.५०.६; ७.४९.२–३
पावकशोचिस् (वि. ब.) जिसकी ज्वाला पावन है; अग्नि. ३.९.८
पाश (पु.) फाँस; बन्धन १.२५.२१; ७.८८.७
पि (क्रि.)=पी=पिन्व् भर देना; पूर्ण करना२.३५.७; ८.२९.६
पितु (पु.√पी) अन्न १०.१५.३;१०.११७.२–४
पितुमत् (वि.) अन्नांशयुक्त १.११६.८
पितुषणि (पितु + सनि √सन्) अन्नोंकी प्राप्ति करानेवाले १०.७१.१०
पितृ (पु. बहु) पूर्वज ९.६९.८; १०.१४.१०
पितृषद् (वि. त.) पिताके घरमें अवस्थित १०.८५.२१
पित्र्य (वि. <पितृ) पूर्वजोंका; पितृसंबन्धी ७.८६.५; ८.३०.३
पिन्व् (क्रि.) भर देना; पूर्ण करना दे. पी. ४.५०.८; ५.६३.१
पिश् (क्रि.) सुशोभित करना ४.३३.४;७.१०३.६
पिशङ्ग (वि.) पीतवर्ण ७.५५.२
पिशङ्गाश्व (वि.ब.) पीतवर्ण घोड़ोंवाला ५.५७.४
पिष् (क्रि.) चूर्ण करना ४.३०.९,१३; १.३२.६
पी (क्रि.)=पीय् द्वेष करना १०.६८.६
पी (क्रि.) = पिन्व्
पीति (स्त्री.√पा–पीना)पान ३.४२.४; ४.३३.११
पीयूष (न.√पी) सद्यःप्रसूत गायका दूध२.३५.५; ३.४८.२; ९.८५.९
पीय् (क्रि.) द्वेष करना दे. पी.
पुंस् (पु.) पौरुषशाली ३.२९.१३
पुण्यगन्ध (वि. न.) मनोहर गन्धवाली ७.५५.८
पुनर्हन् (वि. त.) अन्य समय घात करनेवाली १०.३४.७
पुनःसर (वि.) पुन पुनः आगे बढ़नेवाला ७.५५.३
पुर् (स्त्री.) तट; दुर्ग ४.३०.१३; ७.९५.१
पुरःप्रस्रवण (वि. ब.) आगे बहनेवाली ८.१००.९
पुरंधि (स्त्री. वि.) १ एक व्यक्तिका नाम; २ एक देवताका नाम; ३ विपुलता; ४ प्रौढ १.११६.१३; देवता २.३८.१०; स्त्री. १.११६.७; ४.५०.११; वि. ३.६१.१
पुरा (अ.) पूर्व कालमें ७.८८.५; १०.११७.२
पुराज (वि. पुरा√जन्) पुराना, पूर्वज १.११८.३
पुराण (वि.) प्राचीन, पूर्वज ४.१८.१; ४.५१.६; १०.१३५.१
पुरु (वि.अ.) विपुल १.१४२.१०; ५.७३.१
पुरुतम (वि.) विपुल स्थानोंमें रहनेवाला ४.५१.१
पुरुत्रा (अ.) अनेक स्थानोंमें १.३२.७; ७.१०३.६
पुरुद्रप्स (वि. ब.) विपुल वृष्टि देनेवाला ५.५७.५
पुरुप्रतीक (वि. ब.) अनेक स्थानोंमें दृग्गोचर होनेवाला ३.४९.३
पुरुनिष्ठ (वि. त. नि√स्था) अनेक स्थानोंमें रहनेवाला ५.१.६
पुरुभुज् (वि. त. √भुज्) अनेकोंका पोषण करनेवाले १.११६.१३–१४; ५.७३.१
पुरुभूतम (वि. अ.) अनेक स्थानोंमें उपस्थित रहनेवाले ५.७३.२
पुरुभोजस् (वि. त.) = पुरुभुज् अनेकोंका पोषक ७.७५.८

पुरुरूर्प (वि. ब.) अनेक रूप धारण करनेवाला २.३३.९; ६.२८.१
पुरुवीर (वि. ब.) अनेक वीरोंसे संपन्न २.२८.३
पुरुष = पूरुष (पु.) आदमी; मनुष्य १०.९०.१; १०.९७.४–५
पुरुषता (स्त्री.) पुरुष है इसलिए ७.७५.८; १०.१५.६
पुरुषत्रा (अ.) पुरुषोंके मध्यमें ३.३३.८
पुरुषत्वता (स्त्री.) पुरुष है इसलिए ४.५४.३
पुरुषी (स्त्री.) स्त्री, मानुषी ७.१०२.२
पुरुष्टुत (वि. त.) अनेकों द्वारा संस्तुत ५.८०.३
पुरुसंभृत (वि. त.) अनेकों द्वारा सुसंचित ८.१००.६
पुरुस्पृह् (त.) अनेकोंके लिए स्पृहणीय १.१४२.६
पुरुहूत (त.) अनेकों द्वारा निमन्त्रित ३.३२.१६
पुरूची (स्त्री. पुरु√अञ्च्) विपुल; ऐश्वर्ययुक्त १०.१८.४
पुरोगव (पु.) अग्रगामी १०.८५.८
पुरोहित (वि.त.हित√धा) अग्रमें स्थापित १.१.१; ५.११.२
पुरोहिति (स्त्री.) पौरोहित्य; ७.८३.४
पुष् (क्रि.) पोषण कराना; बढ़ाना ५.२६.६ १०.११७.६
पुष्करिणी (स्त्री.) कमलिनीसे पूर्ण कृत्रिम तालाब १०.१०७.१०
पुष्ट (न.√पुष्) संपदा २.१२.४
पुष्टि (स्त्री.√पुष्) संपदा दे. पुष्ट २.१२.५; ४.३३.२; ८.४८.६
पू (क्रि.) पवित्र करना; शुद्ध होना १.१६०.३; ९.६९.३; ८.९१.७
पूरुष = पुरुष
पूर्ण (वि. √पृ) लबालब भरा हुआ ३.३२.१५; ७.१०३.७
पूर्व (वि.) प्रथम, पूर्वदिशास्थ४.५०.८;१०.१३९.२
पूर्वपा (त.) प्रथम पान करनेवाला ४.४६.१
पूर्वज (त.) पुरातन १०.१४.१५
पूर्वथा (अ.) यथापूर्व ३.२९.१; ५.८०.६
पूर्वपीति (स्त्री.) प्रथम पान १.१९.९
पूर्वभाज् (त.) सर्व प्रथम प्राप्त करनेवाले ९.५०.७
पूर्वसू (त. स्त्री.) प्रथम प्रसूत माता २.३५.५
पूर्व्य (वि.)=पूर्व; पुरातन ३.३२.१०; १०.७२.९
पृ (क्रि.) संकटके पार पहुँचाना; तारना २.३३.३; ५.७३.८
पृ (क्रि.) =पृण्; देना; भर देना २.३५.३; १०.११७.९
पृक्ष् (स्त्री.) बलवर्धक अन्न ५.७३.८
पृच् (क्रि.) पहुँचना; संपर्क रखना ६.२८.८; ७.१०३.४
पृच्छ्–दे. प्रच्छ्
पृणत् (वि. √पृ) दानी ६.२८.२; १०.११७.७
पृतना (स्त्री.) सेना १.८५ ८; २.२३.११
पृतनासाह् (त.) सेनाका विजेता ३.२९.९
पृतन्य (क्रि. पृतना शब्दसे नामधातु) युद्ध करना १.३२.७
पृथक् (अ.) अलग अलग; स्वतन्त्र रीतिसे ८.१००.७
पृथु (वि.) विस्तृत; विस्तीर्ण १.५०.७;१.४८.१५
पृथुपर्शु (वि. ब.) विस्तीर्ण परशु धारण करनेवाले; अथवा प्रफुल्लित हृदयसे युक्त ७.८३.१
पृथुपाणि (वि. ब.) विस्तीर्ण हाथोंवाला २.३८.२
पृथुपाजस् (ब.) विपुल तेजसे युक्त ४.४६.५
पृथुश्रवस् (वि. ब.) विशाल कीर्तिमान् १.११६.२१
पृश्नि (स्त्री.) पृथ्वी; मरुद्गणोंकी माता १.१६०.३
पृश्नि (वि.) चित्रित; बिन्दुयुक्त ७.१०३.४; ६.१०
पृश्निमातृ (ब.) जिनकी माता पृश्नि है १.८५.२; ५.५७.२

पृषत् (वि.) चित्रवर्ण ४.५०.२; ५.५७.३
पृषदाज्य (त.) बिन्दुयुक्त आज्य १०.९०.८
पृष्ठ (न.) पीठ १.११५.३; ८.१००.५; ९.६९.५
पेदु (पु.) एक व्यक्तिका नाम १.११८.९; ७.७१.५
पैद्व (वि.) पेदुका १.११६.६
पोष (पु.) पुष्टि; संपत्ति १.१.३; १.१४२.१०; ४.३३.१०
पौंस्य (न. <पुंस्) पौरुष ४.३०.८, २३
प्यै (क्रि.) बढ़ना १०.१८.२
प्रकेत (पु. प्र√चित्) चिह्न १०.१२९.२
प्रचेतस् (वि.प्र√चित्) महाबुद्धिमान् ३.६१.१; २.२३.२
प्रजनन (न.) उत्पादक ३.२९.१
प्रजा (स्त्री.प्र√जन्)१ संतति,२ लोग, ३ उत्पत्ति; जन्म २.३५.८; १०.१८.१; ५.८३.१०; १०.७२.८
प्रजानत् (वि.) अनुभवी, जानकार ५.८०.४
प्रज्ञातृ (वि.) बड़ा जानकार; महान् अनुभवी १०.७८.२
प्रणीति (स्त्री.प्र√नी) नेतृत्व; मार्गदर्शन ७.२८ ३
प्रणेतृ (वि.) नायक, पथप्रदर्शक २.२८.३
प्रतरण (वि.प्र√तृ) बढ़ानेवाला ७.५४.१
प्रतरम् (अ. प्र+तर) अधिक समयतक; दीर्घतर १०.१८.२–३
प्रतिकामम् (अ.) इच्छाके अनुसार दे. अनुकामम् १०.१५.८
प्रतिजन्य (वि.) विरोधियोंकी (सामर्थ्य, संपदा) ४.५०.७,९
प्रतिदीवन् (पु.) प्रतिद्वन्द्वी जुआरी; प्रतिस्पर्धी १०.३४.६
प्रतिदोषम् (अ.) प्रत्येक रात्रिके प्रारम्भमें १.३५.१०
प्रतिधि (पु. प्रति √धा) बकसुवा १०.८५.८
प्रतिभृत (वि.प्रति√भृ) दिया गया ७.६८.१
प्रतिमान (न. प्रति√मा) प्रतिस्पर्धी १.३२.७; ४.१८.४
प्रतीक (न. प्रति√अच्) दर्शन; दे. घृतप्रतीक
प्रतीचीन (वि.) संमुख आनेवाला. दे. प्रत्यच् १०.१८.१४
प्रतीत्य (वि. प्रति√इ) अभिनन्दनीय ७.६८.६
प्रतीपम् (अ.) विरोधसे; विरुद्ध ७.८९.३
प्रत्न = प्रतन (वि.) पुराना ३.९.८; ३.४२.९; ४.५०.१
प्रत्यच् (वि.) संमुख १.५०.५; ३.६१.३; १०.१८.१४
प्रत्वक्षस् (वि. प्र √त्वक्ष्) महाबली; प्रचण्ड सामर्थ्यवान् ५.५७.४
प्रथ् (क्रि.) बढ़ाना ३.६१.४; ७.८६.१
प्रथमजा (वि. त.) पूर्वकालमें उत्पन्न ३.२९.१५; १.३२.३
प्रदक्षिणित् (अ.) दक्षिण की तरफ ३.३२.१५
प्रदिश् (स्त्री. प्र√दिश्) १ नेतृत्व; २ उपदिशा (१) ८.१००.४; २.१२.६; (२) १०.१२१.४
प्रधन (न.) युद्ध १.११६.२
प्रधि (पु. प्र√धा) रथचक्रके दण्ड ४.३०.१५
प्रफर्वी (स्त्री.) दृढकाया स्त्री १०.८५.२२
प्रभव (पु. प्र√भू) सामर्थ्यशाली २.३८.५
प्रभूति (स्त्री. प्र√भू) प्रभुत्व; वैभव ४.५०.३
प्रमिये (तुमन्त; प्र√मी–विफल करना) विफल करनेके लिए संभव ४.५४.४
प्रयत् (वि. प्र√इ) प्रगतिशील, बढ़नेवाला ३.२९.१६
प्रयतदक्षिण (वि. ब. प्रयत प्र√यम् = आगे फेंकना; देना) अखण्ड दाता ६.५३.२
प्रयति (स्त्री. प्र√यम्) फेंकनेवाली शक्ति १०.१२९.५

प्रयस् (न. √प्री) हविष्यान्न १.११८.४; ४.४६.३
प्रयस्वत् (वि.) हविष्यान्नके स्वामी, दानी यजमान ३.५९.२
प्रया (स्त्री. प्र√या) हमला; आक्रमण ३.२९.१५
प्रयाण (न. प्र√या) गमन ४.४६.७
प्रयोतृ (वि.प्र√यु) वियोजक, दूर करनेवाला ७.८६.६
प्रवण (न.√प्रु) ढाल प्रदेश, ढालुवाँ ९.६९.७
प्रवत् (स्त्री.प्र+वत्) ढालुवाँ दे. उद्वत्, परावत् १.३५.३; १०.१४.१
प्रवद्यामन् (वि. प्रवत् + यामन् √या) ढालुवे प्रदेशसे गमन करनेवाला १.११८.३
प्रवसथ (न.) प्रवास, दूरगमन २.२८.७
प्रवाच्य (वि. प्र√वच्) स्तवन करने लायक, प्रशंसनीय ३.३३.७
प्रवातेज (वि.त.प्रवाते–ज) झंझावातमें उत्पन्न १०.३४.१
प्रवास (पु.प्र√वस्) यात्रिक, प्रवासी ८.२९.८
प्रवीत (वि. प्र√वी) सन्तुष्ट हुई ३.२९.३
प्रशस्ति (स्त्री. प्र√शंस्) स्तुति, प्रशंसा, ५.५७.७
प्रशिस् (स्त्री. प्र√शास्) आज्ञा १०.१२१.२
प्रसर्ग (पु. प्र√सृज्) बड़ा प्रवाह ७.१०३.४
प्रसव (पु.प्र√सू) १ आज्ञा, प्रवर्तना, उत्तेजना. २ (लक्षणासे) उत्तेजित प्रवाह ३.३३.२; ८.१००.१२
प्रसवितृ (पु.प्र√सू) प्रवर्तक, उत्तेजक ७.६३.२
प्रसिति (स्त्री. प्र√सि) पाश, बन्धन १०.३४.१४
प्रसुप् (वि.प्र√स्वप्) सोए हुए, निद्रित ९.६९.६
प्रसूत (वि.प्र√सू–उत्तेजित करना) उत्तेजित, प्रवर्तित ७.६३.४
प्रसूवन् (–वरी. स्त्री.प्र√सू जन्म देना) जन्म देनेवाली १०.९७.३
प्रस्तर (पु.प्र√स्तृ) पत्थर, पत्थरका आसन १०.१४.४
प्रस्थित (वि.प्र√स्था) कार्यप्रवण, तत्पर ९.६९.८
प्रस्रवण (न.प्र√स्रु) प्रवाह दे.पुरः प्रस्रवण
प्रा (क्रि.) भरा देना, पूर्ति करना १.११५.१; १०.१२७.२
प्राच् (वि.प्र√अच्) आगे बढ़नेवाला,प्रगतिशील १०.१८.३; १०.१३५.३
प्राचा (अ.) पूर्व दिशाकी ओर, आगे ७.८३.१
प्राणन (न.प्र√अन्) प्राणधारण १.४८.१०
प्रावृष् (स्त्री. प्र√वृष्) वर्षाकाल ७.१०३.३
प्रावृषीण (वि.) वर्षाकालीन ७.१०३.७
प्रावेप (वि.प्र√विप्) झूमता कर्णभूषण १०.३४.१
प्रु (क्रि.) डुबाना, डूबना १.११६.२४
प्रुथ् (क्रि.) हिनहिनाना, हींसना. प्र √प्रुथ्–खोलना, फुलाना ३.३२.१
प्रुषाय (क्रि.) सिंचन करना १०.६८.४
प्रेङ्ख (पु.) हिंडोला, झूला ७.८८.३
प्रेणा (प्रेमन् शब्दका तृतीया एकवचन) प्रेमभावनासे १०.७१.१
प्रेष्ठ (वि. √प्री) प्रियतम ७.८८.१
प्रोष्ठेशय (वि. त. प्रोष्ठ +√शी) आँगनमें शयन करनेवाली ७.५५.८
प्सरस् (न.) अन्न. दे. मधुप्सरस्
प्सु (न. √भास्) रूप. दे. अरुणप्सु
फलिग (पु.) शिलामय प्राकार ४.५०.५
फाल (पु.) हल १०.११७.७
बन्धु (पु.)संबन्ध, आप्तभाव १.१५४.५; ५.७३.४; १०.१२९.४
बप्स् (क्रि. = √भस्) खाना, काटना ७.५५.२
बभ्रु (वि.) पीतवर्ण २.३३.५; १०.३४.५
बर्हणा (स्त्री. √बृह्) सामर्थ्य, शक्ति ९.६९.५; १०.३४.७
बर्हि (न.) = बर्हिस् कुशासन दे. बर्हिषद्

भीरु (वि. √भी) कायर २.२८.१०
भुज् (क्रि.) अनुभव लेना; प्र-भुज्-समर्पित करना २.२८.९; ७.८८.६; १.४८.४
भुज् (स्त्री.√भुज्) उपभोग, सौख्यभोग ५.७३.२
भुर् (क्रि.) चंचल होना, भ्रमण करना ५.८३.५; २.३८.८
भुरण्य (क्रि.) चंचल होना, भ्रमण करना १.५०.६; ५.७३.६
भुवन (न.) प्राणिजात, निर्मित वस्तु ४.५४.४; ५.६३.७
भूमन् (न.)= भूमि, पृथ्वी १.८५.५; ७.८६.१
भूयस् (वि.) अनेक २.२८.९
भूयोभूयः (अ.) पुनः पुनः, अनेकबार ६.२८.२
भूरि (वि. अ.) विपुल, बहुत १.४८.९; २.३३.९; १.४८.२; १.१५४.६
भूरिदावन् (वि.त. दावन्√दा) विपुल दान देनेवाला २.२८.११
भूरिशृङ्ग (वि.ब.) अनेक सींगोंवाली १.१५४.६
भूरिस्थात्र (वि.ब.) अनेक स्थानोंपर रहनेवाला १०.१२५.३
भूर्णि (वि.) चंचल, विषम, क्रोधी ७.८६.७
भूष् = भू; परि भूष् सेवा करना; रक्षण करना २.१२.१
भृ (क्रि.) लाना, समर्पण करना १.११५.५; ९.११.४; १०.१२५.१
भेषज (न.वि.) ओषधि, रोगनिवारक २.३३.७,१२
भोग (पु.√भुज्) उपयोग, सेवा १०.३४.३
भोज (पु.√भुज्) सच्चा दाता, उदार दानी ४.५१.३; १०.११७.३
भोजन (न.√भुज्) भोग्य पदार्थ ५.८३.१०; ७.६८.५
भ्यस् (क्रि.) भयभीत होना २.१२.१
भ्राज् (क्रि.) प्रकाशना, चमकना १.८५.४; ७.५५.२
भ्राजदृष्टि (वि.ब.भ्राजत्+ऋष्टि) चमकीले भालेवाला १०.७८.७
भ्राजस् (न.√भ्राज्) तेज १०.७८.२
भ्री (क्रि.) दण्ड देना २.२८.७
मंह् (क्रि.) देना ४.३१.८
मघ (न.√मंह्) दान, दे. मघवत्
मघवत्-वन् (पु.) दानी, उदार धनी २.३३.१४; ७.९५.३; १.३२.३; ३.४८.५
मज्जन् (पु.) मज्जा १०.६८.९
मज्मन् (पु.) महानता, बड़प्पन १.१४३.२
मति (स्त्री.√मन्) स्तुति दे. सुमति १.१४२.२; ९.६९.१
मत्सर (वि.√मद्) उत्कट आनन्ददायक ९.६९.६
मत्स्य (पु.) मछली १०.६८.८
मथ्-मन्थ् (क्रि.) मन्थन करना, बिलोना ३.२९.१; ६
मद् (क्रि.) आनन्दित होना १.८५.१; ७.४९.४
मद (पु.) उत्कट आनन्द, आनन्ददायक पेय (सोम) ८.४८.६; ९.६९.३
मदच्युत् (त्रि. त. √च्यु) आनन्दसे क्रियाप्रवण १.८५.७
मदिन्तम (वि.) अत्यन्त आनन्ददायक ९.८५.३
मदिर (वि. √मद्) आनन्ददायक ९.८५.७
मद्य (वि. √मद्) आनन्द देनेवाला, मदकारक ७.६८.२
मधु (न.) मधुर पेय ९.६९.२; ८.१००.२
मधुजिह्व (वि. ब.) मधुर वाणीवाला ९.८५.१०
मधुधा (वि. त. √धा) मधुर पेय देनेवाला ३.६१.५
मधुप्सरस् (वि. ब.) मधुर अन्नके (सोमके) भोक्ता; दे. प्सरस् ४.३३.३
मधुमत् (वि.) मधुर रसयुक्त १.१४२.२; ५.६३.४

मधूयु (त्रि.) मधुर पेय (सोम) की इच्छा रखनेवाला ५.७३.८

मध्यमशी (वि. त. √शी) मध्य भागमें पौढ़नेवाला. १०.९७.१२

मध्या (अ.) मध्य भागमें १.११५.४; २.३८.४

मन् (क्रि.) विचार करना, स्तुति करना ७.८८.२; ८.२९.१०

मनस्वत् (वि.) हिम्मती, साहसी २.१२.१

मना (स्त्री. √मन्) १. स्तोत्र; २. विचार २.३३.५; ४.३३.२

मनीषा (स्त्री.) प्रार्थना, स्तुति ५.११.५; ७.७१.६

मनीषिन् (पु. < मनीषा) साहसी, मनस्वी, स्तोता ५.५७.२; ९.८५.३

मनुष्य (पु. वि.) १. पुरुष; २. पुरुषके योग्य २.२३.९; ७.८९.५

मनुष्वत् (वि.) मनुकी तरह ३.३२.५

मनोजवस् (वि. ब.) मनकी तरह वेगवाला; दे. जवस् ७.६८.३; ८.१००.८

मनोजू (वि. त. √जू) मनकी तरह वेगसे जानेवाला १.८५.४

मन्तुमत् (वि. मन्तु √मन्) विचारवान्, बुद्धिशाली ६.५६.४

मन्त्र (पु. √मन्) स्तोत्र, मन्त्र १०.१४.४; १०.१९१.३

मन्त्रय (क्रि. मन्त्र शब्दसे नामधातु) अभिमन्त्रित करना १०.१९१.३

मन्थ (पु.) मन्थन करके तैयार किया गया पेय

मन्थिन् (वि. <मन्थ) मन्थयुक्त (सोम-) रस ३.३२.२

मन्द् (क्रि.) आनन्दित होना, आनन्दित करना २.३३.६

मन्दसान (वि. √मन्द्) अत्युत्कट आनन्दयुक्त ४.५०.१०

मन्द्र (वि. √मन्द्) आनन्ददायक २.२८.१; ५.११.३

मन्द्रजिह्व (ब.) मधुर वाणीवाला, दे. मधुजिह्व १.१४२.८, ४.५०.१

मन्द्राजनी (वि.त. अजनी√अज्) मधुर वाणीकी प्रेरक ९.६९.२

मन्मन् (न.√मन्) स्तोत्र १.१५४.३; ७.६१.२

मन्यु (पु.√मन्) क्रोध, कुटिल विचार १.२५.२; ७.६१.१; १०.३४.८

मन्युमी (वि.त.मन्यु+मी√मी) क्रोधसे –क्रोधका नाश करनेवाला २.२३.४

ममत् (अ.√मद्) आनन्दसे ४.१८.८–९

मयोभु (वि.त. मयस्–सुख) सुखका उत्पत्तिस्थान २.३३.१३

मयोभू (वि. त.) = मयोभु ५.७३.९

मर्डितृ (वि.√मृड्) दया करनेवाला ४.१८.१३; –१०.३४.३

मर्त (पु.) मर्त्य २.२३.७; ७.२८.१

मर्त्य (पु.√मृ) मरणधर्मा, मनुष्य ३.२९.१३; ८.४८.१२

मर्मन् (न.√मृ) मर्मस्थान, मृत्युकारक अत्यन्त दुर्बल अवयव ३.३२.४; ८.१००.७

मर्य (पु.) तरुण पुरुष, प्रेमी १.११५.२; १०.७८.४

मह् (क्रि.) बड़ा होना; दे. महीय ७.६१.७

मह् (वि. √मह्) बड़ा १०.१०८.२; ७.२८.३

मह (वि.मह्) बड़ा ३.४८.३; ५.११.५

महत् (वि.√मह्) बड़ा ४.३०.२; ७.७५.७

महन् (न.) गौरव, बड़प्पन २.१२.१; ५.७३.३

महस् (न. √मह्) तेज, सामर्थ्य ७.८८.४

महाग्राम (कर्म.) बड़ा समुदाय, सेनासमूह १०.७८.६

महामह (कर्म.) महान् सामर्थ्यवान् १०.११९.१२

महावध (वि. ब.) बड़े शस्त्रसे युक्त ५.८३.२

महावीर (कर्म.) बड़ा योद्धा १.३२.६

महिं (वि.) महान्, बडा १.११६.६; २.२३.४; ५.८३.५

महित्व (न.) बड़प्पन १.११५.४; ३.३२.११

महित्वन = महित्व १.८५.७; २.२३.४

महिन् (वि.) बड़ा, विशाल १.१६०.२, ५

महिना दे. महिमन् ५.५७.४; ७.९५.१

महिमन् (पु.) तृतीया-महिना बड़प्पन, महत्त्व ७.२८.२; ७.७५.१

महिष (वि. √मह्) बड़ा (प्राणी) ४.१८.११; ९.६९.३

महिंष्वत् (वि.) बड़ा, समर्थ ७.६८.५

महीय (क्रि.) बड़ा होना, अपनेको बड़ा माननेवाला ४.३०.९; १०.१४६.२

मा (क्रि.) मापना, पैमाइश करना ३.२९.११; ३.३२.७; १०.७८.७

मा (क्रि.) ध्वनि करना, दहाड़ना, गरजना ९.६९.४

माकिं (सर्व.) न कोई ६.५४.७; ९.८५.८

माकीम् (सर्व.) न कोई ६.५४.७

माघोन (न. < मघवन्) वदान्यता १०.१०७.१

मातरिश्वन् (पु.) १. एक देवताका नाम; २. अग्निका अन्य नाम १.१४३.२; ३.९.५; ३.२९.११

मातली (पु.) एक देवताका नाम १०.१४.३

मातृतम (वि.) मातओंमें श्रेष्ठ ३.३३.३

मात्रा (स्त्री. √मा) भाग, अंश २.२८.५; १०.७१.११

माध्वि (वि.) मधुर रसका भोक्ता ७.७१.२

मान (पु. √मा) गृह ७.८८.५

मान (पु.) अगस्त्य कुलका अन्य नाम १.१८४.५

मानव (वि.) मनुसे संबद्ध, मनुके वंशज ४.५४.१; ८.३०.३

मानुष (वि. पु.) १. मनुष्यके अनुकूल; २. मनुष्य ३.९.६; १.४८.११; १.५०.५; १०.१२५.५

मान्य (वि.) मानकुलका कवि १.१८४.४

माया (स्त्री.) अद्भुत शक्ति, गूढ सामर्थ्य १.३२.४; ३.६१.७; ५.६३.४

माया (स्त्री.) कपटरूपिणी १०.७१.५

मायिन् (वि.) अद्भुत सामर्थ्यवान् १.३२.४; ७.२८.४

मायु (पु. √मा-ध्वनि करना) ध्वनि; शब्द ७.१०३.२

मारुत (वि.) मरुद्गणसंबन्धी, मरुतोंका ३.३२.२

मार्जाल्य (वि. √मृज्) धोकर स्वच्छ करने योग्य संस्कार्य ५.१.८

मार्डीक (न. √मृड्) कृपा, करुणा ४.१८.१२

मार्ताण्ड (पु.) सूर्य २.३८.८; १०.७२.८

मावत् (वि.) मेरे जैसा, मत्सदृश १.१४२.२

मास् (पु.) महीना १.२५.८; ४.१८.४

मास् (पु.) = चन्द्रमस् चन्द्र. दे. सूर्यामासा

मास् (न.) मांस, पिशित ४.३३.४

मास (पु. = मा,स्) महीना ३.३२.९; ७.६१.४

मि (क्रि.) बाँधना, तैयार करना ४.५१.२; १०.१८.१३

मित् (स्त्री.√मि) खंभा, स्तम्भ १०.१८.१२

मितज्ञु (ब. ज्ञु=जानु) पलथी मारकर बैठे हुए ३.५९.३; ७.९५.४

मित्र (पु.) १. सूर्य देवताका अन्य नाम ३.५९.१; ७.६३.६
२. सुहृद १.१४३.७; १०.६८.२
३. सौहार्द, मित्रत्व ४.३३.१०; १०.३४.१४; १०.१०८.३

मित्रमहस् (वि. ब.) मित्रकी तरह तेजवाला १.५०.११

मिथ् (क्रि.) विरोध करना १०.३४.२

मिथस् (अ.√मिथ्) अनुक्रमसे, परस्पर विरोधसे, एकके अनन्तर दूसरा १०.६८.१०

मिद् (क्रि.) पुष्ट करना ६.२८.६

मियेध (पु.) =मेध, यज्ञ ३.३२.१२

मिष् (क्रि.) आँख मूँदना, बन्द करना ३.२९.१४; १०.१२१.३

मिह् (क्रि.) सिंचन करना १.४८.१६; १.१४२.३

मिह् (स्त्री.√मिह्) कुहासा १.३२.१३

मी (क्रि.) भंग करना, नष्ट करना १.२५.१; ५.८०.४

मीढ्वस् (वि.√मिह्) अत्यन्त उदार, दानी २.३३.१४; ९.८५.४; १०.८५.४५

मुच् (क्रि.) छोड़ना; मुक्त करना १.२५.२१; २.२८.६

मुद् (क्रि.) आनन्दित होना ५.८३.९;१०.९७.३

मुष् (क्रि.) छीनकर लेना ३.४८.४; १०.६८.१०

मुषाय (क्रि.)=मुष् छीनकर लेना ४.३०.४;६.२८.१

मुहूर्त (पु.) एक क्षण, अल्प समय ३.३३.५

मूर्धन् (पु.) सिर ९.६९.८; १०.१२५.७

मृ (क्रि.) मरना १.११६.३; १०.१८.३,९

मृ (क्रि.) मारना, नष्ट करना २.२३.६

मृग (पु.) वन्य पशु, जंगली जानवर १.१५४.२; २.३३.११; १०.१४६.६

मृगयस् (पु.) वन्य प्राणियोंके पीछे पड़नेवाला,हिंस्र पशु २.३८.७

मृच् (क्रि.) दुःख देना २.२३.७ दे. अमृक्त

मृज् (क्रि.) धोना, अलंकृत करना २.३५.१२; ७.९५.३; ९.८५.७

मृड् (क्रि.) कृपा करना ७.८९.१; ५.५७.८; १०.१०८.६

मृडयाकु (वि. √मृड्) कृपालु २.३३.७

मृडीक (न.√मृड्) करुणा, कृपा ७.८६.२; ८.४८.१२

मृध् (स्त्री. √मृध्-विरोध करना) विरोधक, शत्रु २.२३.१३; ६.५३.४; ९.८५.२

मृन्मय (वि.) मिट्टीका ७.८९.१

मृश् (क्रि.) ज़बरदस्तीसे स्पर्श करना ४.३०.१३; १०.३४.४; १०.६८.५

मृष् (क्रि.) भूलना, उपेक्षा करना ३.९.२; ३.३३.८; ६.५४.४

मेद्य् (क्रि.) पुष्ट करना, दे. √मिद् ६.२८.६

मेध (पु.) यज्ञ. दे. मियेध

मेधा (स्त्री.) बुद्धिमत्ता ४.३३.१०

मेधिर (वि. >मेधा) बुद्धिमान् १.२५.२०; ८.२९.२

मेध्य (वि.√मेध) यज्ञके योग्य ५.१.१२

मेष (पु.) भेड़, मेंढा १.११६.१६

मोकी (स्त्री. √मुच्) रात, विमोचन करनेवाली २.३८.३

मोघ (वि. √मुह्) व्यर्थ, निष्फल १०.११७.६

मौजवत (वि.) मूजवत् पर्वतसे उपलब्ध १०.३४.१

म्यक्ष् (क्रि.) अप-म्यक्ष् दूर हटाना २.२८.६

म्रद् (क्रि.) मृदु करना, दबाना ६.५३.६

म्रदस् (न. √म्रद्) मृदुत्वापादक स्पर्श. दे. ऊर्णम्रदस्

यक्ष् (न.) मोहक, दृश्य ७.६१.५

यक्षिन् (पु.) यक्षोंका स्वामी, दे. यक्ष ७.८८.६

यक्ष्म (न.) रोग, व्याधि १०.९७.१२

यजत (वि.√यज्) पूज्य, पवित्र १.३५.३; ९.६९.३

यजत्र (वि.√यज्) पूज्य, पवित्र ७.७५.७; ७.८८.१

यजथ (न.√यज्) यजन, पुजा २.२८.१; ५.१.२; ५.११.२

यजीयान् (वि.√ यज्) अधिक उत्तम यजन करनेवाला ५.१.५-६

यजुस् (न.√यज्) यजुर्वेद १०.९०.९

यज्ञकेतु (वि. ब.) यज्ञरूपी ध्वज रखनेवाला ४.५१.११

यज्ञमन्मन् (वि. ब.) यज्ञमें स्तोत्र अर्पण करनेवाला, दे. मन्मन् ७.६१.४

यज्ञिय (वि.-यज्ञ) यज्ञार्ह, यज्ञयोग्य १.१४२.३; ३.५९.४

यज्वन् (पु.√यज्) यजन करनेवाला ६.२८.२; १०.१५१.२
यत (क्रि.) क्रियाप्रवण होना ९.८५.८; १०.१८.६
यतस्रुच् (वि. ब. यत् √यम्) करछुलें ऊँची रखनेवाले १.१४२.१, ५
यति (सर्व.) जितने १०.१५.१३; १०.१८.६
यथाकामम् (अ.) इच्छाके अनुसार १०.१४६.६
यथायथा-एवैव जबजब-तबतब ४.५४.५
यथावशम् (अ. √वश् – इच्छा रखना) इच्छाके अनुसार ३.४८.४; १०.१८.१४
यन्तृ (पु.√यम्) यमन करनेवाला २.२३.१९
यम् (=यच्छ् क्रि.) अर्पण करना, ऊपर उठाना ७.५५.२; १०.११९.२
यम (वि.) जुड़वाँ ५.५७.४; १०.११७.९
यम (पु.) एक देवताका अथवा व्यक्तिका नाम १.११६.२; १०.१४.१; १०.१३५.१
ययि (वि.√या) नित्य गमन करनेवाला ५.७३.७
ययी (वि.√या) =ययि नित्य प्रवासी, यात्रिक १०.७८.१
यव (पु.) यव नामका अनाज १०.६८.३
यवमत् (वि.) अनाजसे सुसंपन्न ९.६९.८
यवस (न.) घास, तृणादि ७.१०२.१
यविष्ठ (वि. <युवन्) अत्यंत तरुण ५.१.१०
यविष्ठ्य (वि.) = यविष्ठ अत्यन्त तरुण
यशस् (न.) कीर्ति १.२५.१५
यशस् (वि.) कीर्तिमान्, विख्यात १.१.३; ४.५१.११; ७.७५.२
यस् (क्रि.) श्रान्त होना, दे. अयास्
यह्व (वि.) तरुण, चपल १.१४२.७; ५.१.१
यात् (अ.) यात्–तात् जिस समय तक–उस समय तक ७.८८.४; १०.६८.१०
यातयज्जन (वि. ब.) लोगोंको क्रियाप्रवण करनेवाला ३.५९.५
यातुधान (पु.) राक्षस १.३५.१०
यातृ (वि.√या) हमला करनेवाला १.३२.१४
याद्राध्य (वि. यात्+राध्य√राध्) यथेष्ट समय तक सुख देनेवाला २.३८.८
याम (पु.√या) गमन, संचार १.४८.४; ४.५१.४; ५.७३.७
यामन् (न.√या) गमन, संचार १.२५.२०; १०.१२७.४
यामहू (वि.याम+√हू) मार्गमें बुलाया जानेवाला ५.७३.९
यामहूति (त. याम+हूति√हू) मार्गमें (रक्षाके लिए) निमन्त्रण १०.११७.३
यु (क्रि.) जोड़ना उद्–यु=प्रवृत्त करना ७.६८.५; ६.५७.६
यु (क्रि.) अलग करना २.३३.३; ७.७१.२
यु =(युच्छ् क्रि.) भूलना, उपेक्षा करना १.२५.६ दे. अप्रयुच्छत्
युक्तग्रावन् (वि.ब.) सीलबट्टे जोड़कर रखनेवाला दे. ग्रावन् २.१२.६
युग (न.√युज्) १ हलका जुआ, २ पीढ़ि १:१.११५.२; ८.९१.७; २:३.३३.८; १०.७२.२
युच्छ् (क्रि.) दे. यु भूलना; उपेक्षा करना
युज् (क्रि.) जोड़ना; जोतना १.४८.४; १.११५.४; १०.३४.११
युज् (पु.) सुहृद; सहायक २.२३.१०; ६.५६.२; ७.९५.४
युज्य (नि. न√युज्) १ मैत्री; साहाय्य, २ संगी; सहायक २.२८.३, १०
युध् (क्रि.) युद्ध करके पराजित करना ४.३०.५; ७.८३.७
युप् (क्रि.) भंग करना; नष्ट करना ७.८९.५; १०.१८.२
युयुधि (वि.√युध्) हमेशा कूदनेवाले; लड़नेवाले १.८५.८

युवति (स्त्री.) तरुण स्त्री ५.८०.६; १०.१८.१०
युवन् (पु.) तरुण पुरुष १.११८.६; ४.३३.३
युवयु (वि. युवाम्) तुम्हारी काङ्क्षा करता हुआ ७.७१.६
युवाकु (वि.) तुम्हारी काङ्क्षा करनेवाला; तुम्हारा याजक ७.६८.७
यूप (पु.) लकड़ीका कुन्दा ४.३३.३
योक्त्र (न.√युज्) बन्धन ३.३३.१३
योग (पु.√युज्) श्रम; कर्मकाल ७.८६.८
योजन (न.) लंबाईकी माप १.३५.८; १०.७८.७
योध (पु.) योद्धा १.१४३.५; १०.७८.३
योनि (पु.√यु) निवासस्थान; उत्पत्तिस्थान ३.२९.१०; १०.१२५.७
योषणा (स्त्री.) स्त्री ७.९५.३
योषा (स्त्री.) स्त्री; युवति ३.३३.१०; ७.७७.१
योस् (न.) आनन्द; संपदा २.३३.१३; १०.१५.४
रंह् (क्रि.) वेगसे चलना १.८५.५; १०.१३९.४
रंहस् (न.√रंह्) वेग दे. वातरंहस्
रक्ष् (क्रि.) रक्षा करना २.२३.५; १०.१०८.७
रक्षस् (न.) राक्षस ९.८५.१
रक्षस् (पु.) राक्षसोंका प्रयोक्ता १.३५.१०; २.२३.१४; ५.८३.२
रघुपत्वन् (वि. त. पत्वन् √पत्) जल्द दौड़नेवाला १.८५.६
रघुया (अ.>रघु) तेज़ीसे; जल्द २.२८.४
रघुष्यद् (वि.त.स्यद्) शीघ्रगामी १.८५.६; ५.७३.५
रजस् (न.) प्रदेश १.५०.७; ५.६३.५
रण् (क्रि.) आनन्द पाना;आनन्दित होना, ४.३३.७; ६.२८.१
रण (पु.√रण्) उत्कट आनन्द १.११६.२१
रण्य ((वि.<रण) आनन्ददायक १ ८५.१०
रण्व (वि.) आनन्दी ७.५४.३
रत्न (न.) उत्तम, रमणीय दान २.३८.१;७.७५.६
रत्नधातम (वि.रत्न+धा √धा) सुन्दर दान देनेवालोंमें श्रेष्ठ १.१.१
रत्नधेय (क. धा.) सुन्दर दान; श्रेष्ठ उपहार १०.७८.८
रथवत् (वि.) रथयुक्त ५.५७.७; ७.७७.५
रथिन् (पु.) रथका स्वामी ५.८३.३
रथी (पु.) = रथिन् रथका स्वामी १.२५.३; ६.५५.१
रथीतम (वि.) श्रेष्ठ रथस्वामी ६.५६.२
रथ्य (वि.–रथ)=रथ्य रथसे संबद्ध; रथका घोड़ा ३.३३.२; ७.९५.१. १.३५.६; १०.११७.५
रद् (क्रि.) देना; खोदकर देना ३.३३.६; ५.८०.३
रध् (क्रि.) नम्र होना १.५०.१३; ६.५३.५
रध्र (वि. √रध्) नम्र २.१२.६
रन् (क्रि.) =रण् आनन्दित होना ३.४२.८
रपस् (न.) हानि; पीड़ा २.३३.३,७; १०.९७.१०
रफित (वि.√रफ्) पीड़ित १०.११७.२
रभ् (क्रि.) स्पर्श करना ८.५७.५; १०.१२५.८
रम् (क्रि.) स्तब्ध होना; आनन्दित होना२.३८.५; ..३३.५; १०.३४.१३
रयि (पु.स्त्री.) संपदा १.८५.१२; १०.११७.१
रव (पु.√रु) ध्वनि; सिंहनाद ५.६३.३;४.५०.१
रशना (स्त्री.) रस्सी; शृङ्खला २.२८.५; ५.१.३; १०.१८.१४
रश्मि (पु.) १ किरण २ रस्सी १.३५.७; ७.७७.३; १०.१२९.५
रस (पु.) मधुर पेय ९.८५.१
रसा (स्त्री.) एक नदीका नाम १०.१०८.१; १०.१२१.४
रसाशिर् (वि.ब.रस + आशिर् आ√श्री) दुग्धसे मिश्रित सोम ३.४८.१
रा (क्रि.) देना २.३३.१२; १०.१५.८
रा (क्रि.) हमला करना ७.५५.३

राज् (क्रि. षष्ठीसे) राज्य करना; स्वामी होना १.२५.२०; ७.८३.५

राज् (क्रि. द्वितीयासे) वि-राज् स्वामी होना ५.६३.७

राजन् (पु.) राजा; स्वामी ३.५९.४; १०,१४.४

राजन्य (पु.) क्षत्रिय १०.९०.१२

राजयक्ष्म (पु. त.) यक्ष्मोंका राजा १०.१६१.१

रातहव्य (वि. ब.) जिसने हविर्भाग समर्पित किया हो १.११८.११

राति (स्त्री. √रा) दान १.१८४.४

रात्री (स्त्री.) रात १०.६८.११; १०.१२७.१

राध् (क्रि.) बढ़ाना १.११६.११

राधस् (न. √राध्) दान २.१२.१४; ७.२८.५

राधोदेय (म.) दान ४.५१.३

राध्य (वि. < राधस्) संमानयोग्य

राशि (पु.) समूह ६.५५.३

राष्ट्री (स्त्री.) राज्ञी, रानी ८.१००.१०; १०.१२५.३

रासभ (पु.) गर्दभ १.११६.२

रि (क्रि.) मुक्त करना २.१२.३; ४.३०.६; ५.८०.६

री (क्रि.) = रि गमन करना १.८५.३

रिख् (क्रि.) काटना ६.५३.७, ८

रिच् (क्रि.) छोड़ देना अति-रिच् बढ़ना ७.७१.१; ८.१००.२; १०.९०.५

रित् (स्त्री. √रि) नदी ६.५७.४

रिप् (क्रि.) घायल होना १.११८.७

रिपु (पु. √रिप्) हिंसक २.२३.१६

रिश् (क्रि.) तोड़ना; काटना ६.२८.७

रिश (स्त्री.) हिंसक

रिशादस् (त. रिश + अदस् > √अद्) हिंसकोंका भक्षण करनेवाले १.१९.५; ८.३०.२; ९.६१.१०

रिष् (क्रि.) क्षति, हानि पाना; नष्ट होना ६.५४.३; १०.९७.१७

रिष् (स्त्री.) हानि; क्षति २.३५.६

रिषण्य (क्रि.) हानि करनेकी इच्छा रखना २.२३.१२

रिह् (क्रि.) चाटना २.३५.१३; ९.८५.११

री (क्रि.) दे. रि

रु (क्रि.) गर्जना करना ९.८५.९

रुक्म (पु √रुच्) सुवर्ण ५.१.१२; ७.६३.४

रुक्मवक्षस् (वि.ब.) वक्षःस्थलपर सुवर्णालंकार धारण करनेवाले ५.५७.५; १०.७८.२

रुच् (क्रि.) प्रकाशमान होना ३.२९.७; ७.७७.१

रुज् (क्रि.) तोड़ना; नष्ट करना ४.१८.६; ७.७५.७

रुजानस् (वि.ब.अनस् – नस्=नासा) क्षतिसे नासिकाहीन १.३२.६

रुद्र (पु.) एक देवताका नाम २.३३.१; ५.५७.१

रुद्रिय (वि.) रुद्रपुत्र; रुद्रसंबन्धी ५.५७.७

रुध् (क्रि.) विरोध करना १.३२.११; १०.३४.२

रुश् (क्रि.) झलकना १.११५.५; ९.६९.५

रुह् (क्रि.) बढ़ना; आ रुह् आरोहण करना १.३२.८; १०.१८.६

रुह् (स्त्री. √रुह्) शाखा; वृद्धि १०.९७.२

रूप (न.) आकार; रूप ७.५५.१; १०.१६८.४

रेकु (वि. √रिच्) खाली; रीता १०.१०८.७

रेज् (क्रि.) काँपना; चमकना १.१४३.३; १०.१२१.६

रेणु (पु.) धूलि १०.७२.६; १०.१६८.१

रेणुककाट (वि. ब.) वह जिसकी गर्दन धूलिसे भरी हुई हो ६.२८.४

रेतस् (न. √रित्) वीर्य; बीज ५.८३.१; १०.१२९.४

रेतोधा (वि.) रेत अर्पण करनेवाला १०.१२९.५

रेभ (पु. √रिभ्-स्तुति करना) स्तोता; एक व्यक्तिका नाम ७.६३.३; १.११६.२४

रेवत् (वि.=रयिवत्) श्रीमान्; संपदासे युक्त ४.५१.४; ८.४८.६

रै (पु.स्त्री.) संपदा १.४८.१; ७.७५.५; ८.४८.७

रैभी (स्त्री.) एक तरहकी ऋचा १०.८५.६

रोचन (न.√रुच्) चमकीला प्रदेश १.४९.४; ९.८५.९

रोचिस् (न.√रुच्) तेज; ज्वाला ५.२६.१

रोदसी (स्त्री.द्वि.) पृथिवी और स्वर्ग १.६५.१; ७.८६.१

रोपणाका (स्त्री.) एक पक्षीका नाम १.५०.१२

रौहिण (पु.) एक यथार्थनामा दस्यु २.१२.१२

लक्ष (न. √लग्) दाँवमें लगाया हुआ धन २.१२.४

लोक (पु.) स्थान; प्रदेश ३.२९.८; ५.१.६; ८.१००.१२

लोग (पु.) ढेला; मिट्टीका ढेला १०.१८.१३

वक्ष् (क्रि.) बढ़ना ३.९.३

वक्षणा (स्त्री. √वह्) शिरा; धमनी; वाहिनी १.३२.१; ३.३३.१२

वग्नु (पु. √वच्) ध्वनि; आवाज़ ७.१०३.२

वच् = दे. वञ्च् (क्रि.)

वच् (क्रि.) बोलना ७.६८.४; ८.४८.१४

वचस् (न. √वच्) स्तुतिवाक्य; भाषण ३.३३.८; १०.१०८.६

वचस्या (स्त्री. < वचस्) स्तुति २.३५.१

वज्र (पु.) इन्द्रके शस्त्रका नाम १.३२.२; ८.१००.९

वज्रबाहु (वि. ब.) वह जिसने बाहुओंमें वज्र धारण किया है १.३२.१५; २.३३.३

वज्रहस्त (वि. ब.) वह जिसके हाथमें वज्र है २.१२.१३; ३.३२.३

वज्रिन् (पु.) वज्रधारी इन्द्र ७.४९.१; ८.१००.९

वञ्च् (क्रि.) सहज भावसे गमन करना १.१४२.४ १.१८४.३

वत्स (पु.) बछड़ा ३.३३.३; ७.८६.५

वत्सिनी (स्त्री. – वत्स) बछड़ेवाली गाय ७.१०३.२

वद् (क्रि.) बोलना; भाषण करना १०.३४.१२; १०.९७.१७

वध् (क्रि.) मारना; काटना ४.३०.१५; १०.१४६.४

वध (पु.√वध्) शस्त्र २.२३.१२; १०.११७.६

वधना (स्त्री. √वध्) शस्त्र ७.८३.४

वधर् (न. √वध्) शस्त्र १.३२.९

वधूयु (वि. < वधूय) वधूकी अभिलाषा रखनेवाला ९.६९.३

वध्रि (वि. √वध्) तृतीयप्रकृति; बधिया (बैल) १.३२.७

वध्रिमती (स्त्री.) वह स्त्री जिसका पति तृतीयप्रकृति है १.११६.३

वन् (क्रि.) १. प्राप्त करना; जीतना. २. द्वेष करना १.४८.११; ७.८३.४

वन (न.) वृक्ष; वृक्षोंका समूह १.१४३.५; ५.५७.३; १०.६८.१०

वनस्पति (पु.) महान् वृक्ष; यूपका गौरवयुक्त विशेषण १.१४२.११

वनीयस् (वि. √वन्) अधिक मात्रामें प्राप्त करनेवाला १०.११७.७

वनु (पु. √वन्-द्वेष करना) द्वेष करनेवाला; शत्रु ४.३०.५

वनुस् (वि. पु.√वन् – द्वेष करना) शत्रु; द्वेषी ४.५०.११; ७.८३.५

वन्द् (क्रि.) वन्दन करना;स्तवन करना २.३५.१२; ४.५०.७

वन्दन (पु.) एक व्यक्तिका नाम १.११८.६

वन्दन (न. √वन्द्) झुका देनेवाला विष ७.५०.२

वन्दारु (वि.√वन्द) वन्दनशील; स्तुतिपूर्ण ५.१.१२

वन्धुर (न.) रथका आसन १०.११९.५

वप् (क्रि.) फेंकना; गिरा देना उद् वप् ऊपर निकलना; नि वप् कुचल डालना; निर्वप् बाहर निकालना १.११६.११; १०.६८.३

वपुष्य (वि. वपुस्) सुन्दर देहधारी १.१६०.२; ५.१.९

वपुस् (न. वि.) सुन्दर; सुन्दर दृश्य; देह दे. गोवपुस् १.११८.५; ७.८८.२

वम् (क्रि.) बाहर फेंकना १०.१०८.८

वयस् (न.) सामर्थ्य; शक्तिदायक अन्न २.२३.१०; ६.२८.६

वयस्कृत् (वि. त.) सामर्थ्य अर्पण करनेवाला ९.६९.८

वया (स्त्री.) शाखा २.३५.८

वयुन (न.) धर्मकृत्य; यज्ञकार्य ३.२९.३; ७.४५.४

वयुनवत् (वि.) धर्मकृत्योंके अनुकूल ४.५१.१

वयोधा (वि.त.√धा) सामर्थ्य अर्पण करनेवाला ८.४८.१५

वर (पु.√वृ–चुनना) १ इष्ट वस्तु ७.५४.३; २ वरणीय; पति १०.८५.८

वर (पु.√वृ. विरोध करना) विरोध १.१४३.०

वरिमन् (पु.) विस्तार; विस्तीर्ण भाग ३.५९.३; ४.५४.४

वरिवस् (न.) सौख्य; स्वास्थ्य ४.५०.९; ७.६३.६

वरिवोविद् (न.) स्वास्थ संपादन करनेवाला ८.४८.१

वरीयस् (वि.) विशाल; अधिक विशाल २.१२.२; १०.१०८.१०–११

वरुण्य (वि.–वरुण) वरुणसंबन्धी १०.९७.१६

वरूथ (न.√वृ) सुरक्षा १.११६.११; ७.८८.६

वरेयु (वि.<वरेय) वधूकी इच्छा करनेवाला १०.७८.४

वर्चस् (न.) तेज १०.१८.९

वर्चिन् (पु.) एक दस्युका नाम; शम्बरका सहयोगी ४.३०.१५

वर्ण (पु.) रूप २.१२.४

वर्तनि (स्त्री.√वृत्) मार्ग १.२५.९

वर्तिका (स्त्री.) चिड़िया १.११६.१४; १.११८.८

वर्तिस् (न. √वृत्) चक्कर; दौरा १.११६.१८; १.१८४.५

वर्त्मन् (न. √वृत्) मार्ग १.८५.३

वर्धन (वि.√वृध्)बलवान् बनानेवाला २.१२.१४; ५.७३.१०

वर्पस् (न.) देह; शरीर ७.६८.६

वर्मण्वत् (वि.–वर्मन्) कवच पहननेवाला १०.७८.३

वर्ष (न.) ५.८३.१०

वर्षनिर्णिज् (वि. ब.) वृष्टिरूप धौत वस्त्र पहननेवाला ५.५७.४

वर्ष्मन् (न.) उत्तुंग शिखर ४.५४.४; १०.१२५.७

वर्ष्य (वि.–वर्ष) वर्षाकालीन; वृष्टियुक्त ५.८३.३

वल (पु.) एक दस्युका नाम २.१२.३; १०.६८.१०

वल्गु (वि. √वल्) सुन्दर ७.६८.४

वल्गूय (क्रि. < वल्गु) सुन्दर मानना; खुशामद करना ४.५०.७

वव्रि (पु. √वृ) खाल; त्वचा १.११६.१०; ९.६९.९

वश् (क्रि.) इच्छा करना १.१५४.६; २.३३.१०

वश (पु.) एक व्यक्तिका नाम १.११६.२१

वस् (क्रि. = उच्छ्) प्रकाशमान होना १.४८.३; ४.५१.४

वस् (क्रि.) पहनना; धारण करना ३.३३.११; ५.६३.६

वस् (क्रि.) निवास करना; ठहरना ८.२९.८; १०.१४६.४

वसति (स्त्री. √वस्) निवासस्थान १.२५.४; १०.९७.५; १०.१२७.४

वसन्त (पु.) वसन्त ऋतु १०.९०.६

वसु (वि. न.) १ श्रेष्ठ; उत्तम; २ धन; संपदा १.१४३.५; १०.१२५.१; ४.३३.११; ७.७७.४; १०.१०८.७

वसुदेय (क. धा.) देनेलायक धन; धनरूपी दान २.३५.७

वसुमत् (वि.) संपदासे युक्त ७.७१.३; ९.६९.८

वसूयु (वि.) संपदाकी अभिलाषा रखनेवाला १.४९.४

वस्तु (स्त्री. √वस्-चमकना) प्रभात १.११६.२१

वस्न्य (वि. - वस्न) कम कीमतमें बेचे जाने योग्य १०.३४.३

वस्यइष्टि (स्त्री. त. वस्य;-धन) धनकी अन्वेषणा १ २५.४

वस्यस् (न. अ. वि. - वसु) १. अधिक श्रेष्ठ; उत्तम रीतिसे. २. धन; कल्याण; संपदा ८.४८.६, ९

वह् (क्रि.) ले जाना; आ वह्-ले आना १.५१.१; ७.६३.२; १.११६.१८

वहतु (पु.√वह्) वरयात्रा; विवाह १.१८४.३

वह्नि (पु.√वह्) १ (हव्योंका) वाहक-अग्नि; २ (रथका) वाहन-अश्व; ३ (यज्ञकर्मका) वाहक-ऋत्विज १.१८४.१; ६.५७.३; २.३८.१

वह्येशय (वि.त.) पर्यंकशायी ७.५५.८

वा (क्रि.) बहना ५.८३.४; १०;१२५.८

वाच् (स्त्री. √वच्) वाणी; स्तुतिवाणी; ध्वनि ४.३३.१; ७.१०३.४; ८.१००.११

वाज (पु.) १ ऋभु देवताका नाम; २ युद्ध; ३ उपहार १.४८.११; १.८५.५;१.११६.१९; २.२३.१३; ४.३३.३,९

वाजय (क्रि. <वाज) उपहारकी इच्छा करना ५.१.३; ८.१००.३

वाजयु (वि.√वाजय) उपहारोंकी इच्छा करनेवाला २.३५.१

वाजसा (त.) उपहारोंका जेता ६.५३.१०

वाजसाति (स्त्री.साति>√सन्) उपहारोंकी प्राप्ति ६.५३.१; ३.४८.५

वाजिन् (वि. पु.) समर्थ; अश्व ३.२९.६; १०.३४.४; १.११६.६; ५.१.४; ७.९५.३

वाजिन (न.) वाक्स्पर्धा १०.७१.५

वाजिनीवत् (वि.) उपहारोंसे सुसंपन्न १.४८.६; ७.७५.५

वाजिनीवसु (वि.) उपहारोंको धन माननेवाला ३.४२.५

वाण (पु.) बाँसुरी १.८५.१०

वातजूत (वि.ब.) वातके समान वेगवान् ४.३३.१

वातत्विष् (वि. ब.) वातके समान तीक्ष्ण दीप्तिवाला ५.५७.४

वातरंहस् (वि. ब.) वातके समान वेगवाला १.११८.१

वाधूय (न. - वध्) वधूवस्त्र १०,८५.३४

वाम (वि. न.) सुन्दर; धन ६.५३.२; ७.७१.२

वायव्य (वि. - वायु) अन्तरिक्षस्थ; १०.९०.८

वायुगोप (वि. ब.) वह वायु जिनका संरक्षक है १०.१५१.४

वार् (न.) पानी १.११६.२२; ८.९१.६

वार (पु.√वृ.) पुच्छ; बल; ऊनकी छलनी १.३२.११; ९.६९.२, ४

वार (न.√वृ) चुनने लायक उपहार; दे. विश्ववार १.१४२.१०

वार्य (न. √वृ) चुनने लायक उपहार १.३५.८; ५.८०.६

वाश् (क्रि.) रंभाना; हम्बारव करना ४.५०.५; ७.७५.७

वाशी (स्त्री.) कुठार ८.२९.३

वाशीमत् (वि.) कुठार धारण करनेवाला ५.५७.२

वाश्र (वि. √वाश्) रंभानेवाली १.३२.२; १०.११९.४

वासर (वि. √वस् – प्रकाशना) प्रकाशयुक्त ८.४८.७

वासस् (न. √वस् – पहनना) वस्त्र १.११५.४; ७.७७.२

वास्तु (न. √वस् – रहना) घर; निवासस्थान १.१५४.६; ७.५५.१

वि (पु.) पक्षी १.४८.६; २.२८.४; १०.१२७.४

विक्रमण (न.) पदन्यास; पदक्षेप १.१५४.२; १० १५.३

विचक्षण (वि. √चक्ष्) बुद्धिशाली; द्रष्टा १.५०.८; ९.८५.९

विचर्षणि (वि. √कृष्). क्रियाशील १.३५.९; ९.६०.१

विज् (स्त्री.) दाँवपर लगाया हुआ धन २.१२.५

विजामन् (पु.) दो अवयवोंकी सन्धिमें उत्पन्न हुआ ७.५०.२

वितरम् (अ.) अधिक विस्तारसे २.३३.२; ८.१००.१२

वितस्थान (वि. वि√स्था) सर्वत्र फैली हुई ४.३०.१२

वित्त (न. √विद्) संपदा १०.३४.१३

विद् (क्रि.) जानना २.३५.२; ३.२९.१५; १०.१५१.१

विद् (क्रि.) प्राप्त कर लेना ८.९१.१; १०.३४.३; १०.१२९.४

विदथ (न. √विद्) यज्ञसभा; विद्वत्सभ २.१२.१५; २.२३.१९; ५.६३.२; १.१४३.७

विद्युत् (स्त्री. वि√द्युत्) बिजली १.३२.१३; २.३५.९; ५.८३.४

विध् (क्रि.) सेवा करना; पूजा करना २.३५.१२; १०.१६८.४

विधर्तृ (वि. वि√धृ) धारण करनेवाला २.२८.४

विधवा (स्त्री.) गतभर्तृका ४.१८.१२

विधान (न. वि√धा) कर्म; कर्तव्य ४.५१.६

विप् (क्रि.) प्रतिभासे प्रेरित होना ३.३२.४

विपन्या (स्त्री. वि√पन्) स्तुतिवाणी १०.७२.१

विपश्चित् (वि. त.) विद्वान्; उत्स्फूर्त काव्यों का प्रणेता ५.६३.७

विपाश् (स्त्री.) एक नदीका नाम ३.३३.१, ३; ४.३०.११

विप्र (वि.) उत्स्फूर्त कवि; प्रतिभासंपन्न कवि; ३.३३.४; ९.८५.७

विबाली (स्त्री.) एक नदीका नाम ४.३०.१२

विभाती (स्त्री.) प्रकाशमान ४.५१.१; ५.८०.१

विभावन् (वि. विभा – तेज) तेजस्वी ५.१.९

विभावरी (वि. स्त्री. विभा – तेज) तेजस्विनी १.४८.१,१०

विभिन्दु (वि. वि√भिद्) सर्वभेदक; तोड़नेवाला १.११६.२०

विभीदक (पु.) पासा ७.८६.६; १०.३४.१

विभ्वन् (वि.पु.) महान्; ऋभुओंमें एक का नाम ४.३३.३,९

विमद (पु.) एक व्यक्तिका नाम १.११६.१

विमध्य (न.) मध्यभाग ४.५१.३

विमन्यु (वि. ब.) मन्युरहित; अमङ्गलविचाररहित दे. मन्यु १.२५.४

विमान (वि. वि√मा) पूर्ण ज्ञाता; परिमित करनेवाला १०.१२१.५; १०.१३९.५

विमुच् (स्त्री.वि√मुच्) विमोचन करनेवाली; श्रमोंसे मुक्त करनेवाली याने निश्रान्ति देनेवाली ६.५५.१

विमोचन (न. वि.√मुच्) (घोड़ोंका) बन्धमोक्ष ४.४६.७

विरप्श (पु.वि.√रप्श्) चारों ओरसे वर्षा ४.५०.३

विरव (पु. वि√रु) गर्जना १०.६८.८

विराज् (स्त्री.) एक देवताका नाम १०.९०.५

विरासाह् (वि. विर=वीर+√सह) वीरोंका जेता १.३५.६

विरुक्मत् (वि.वि√रुच्) अधिक शोभायमान; अत्यन्त चमकीला १.८५.३

विरूप (वि.) भिन्न भिन्न रूपोंवाले ५.१.४; ६.१०३.६

विरोकिन् (वि√रुच्) अत्यन्त तेजस्वी १०.७८.३

विवस्वत् (पु√वस् – प्रकाशना) १ तेजस्वी (यजमान) २ यमके पिताका नाम; ५.११.३; १०.१४.५

विवास् (क्रि.वि√वन्) सेवा करना; यजन करना २.३३.६; ५.८३.१

विवृश्ण (वि. वि. √व्रश्च्) टुकड़े टुकड़े किए गए; काट डाले गए १.३२.५

विश् (क्रि.) आ विश्–प्रवेश करना; नि–विश् विश्राम करना ३.३२.१०; १०.१२५.३

विश् (स्त्री.) १ प्रजा; लोग २ गृह; विश्पति १.२५.१; ४.५०.८; ५.२६.९

विश्पति (वि.त. विश्–गृह) गृहस्वामी ७.५५.५; १०.१३५.१

विश्पत्नी (वि.त स्त्री.) गृहस्वामिनी ३.२९.१

विश्पला (स्त्री.) एक घोड़ीका नाम १.११६.१५; १.११८.८

विश्व (वि.) सब; सब जगत् ५.८३.२; ७.७७.१

विश्वक (पु.) एक व्यक्तिका नाम १.११६.२३

विश्वचक्षस् (वि. ब.) विश्वको प्रकाशित करनेवाले; विश्वद्रष्टा १.५०.२; ७.६३.१

विश्वजू (वि. त. √जू) विश्वका प्रवर्तक ४.३३.८

विश्वतः (अ.) चारों ओरसे १.११६.२०; ७.८३.८

विश्वतुर् (वि. √तृ) सबको जीतनेवाला; सब° श्रेष्ठ १.४८.१६

विश्वदर्शत (वि.) चारों ओरसे सुन्दर; सर्वसुन्दर १.२५.१८; १.५०.४

विश्वदानीम् (अ.) सर्वदा ४.५०.८

विश्वदेव (वि. ब.) सर्व देवोंका सखा; जिससे सभी देव संबद्ध हैं १.१४२,१२; ४.५०.६

विश्वपिश् (वि. त. √पिश्) समूचे जगत्को अलंकृत करनेवाला ७.७५.६

विश्वपेशस् (वि. ब. पेशस् √पिश्) सर्व-सौन्दर्यवान् १.४८.१६

विश्वप्स्न्य (वि. ब. प्स्न्य > √प्सा) सभी प्रकारके अन्नोंसे पूर्ण ७.७१.४

विश्वमिन्व (वि. त. √इन्व्) पूरे जगत्का प्रवर्तक; स्फूर्तिदाता ५.८२ २; ७.२८.१

विश्वयन्न (वि. वि√श्वि) चारों ओर फैलनेवाला ७.५०.१

विश्वरूप (वि. ब.) सभी प्रकारके रूपोंसे युक्त ४.३३.८; ५ ८३.५

विश्ववार (वि. ब. वार√वृ) सभी प्रकारके उपहारोंसे परिपूर्ण ५.८०.३; १.४८.१३

विश्वविद् (वि. त.) सर्वज्ञ ३.२९.७

विश्ववेदस् (वि. ब. वेदस् √विद्) सभी प्रकारके ज्ञान अथवा संपदा से परिपूर्ण १.१४३.४

विश्वशम्भु (वि.ब.) सभी प्रकारोंके कल्याणोंसे युक्त; विश्वको सुखप्रद १.१६०.१, ४

विश्वसुविद् (वि. त.) सभी प्रकारोंके धन प्राप्त कर लेनेवाली १.४८.२

विश्वह (अ.) = विश्वहा सर्वदा १.१६०.५; २.१२.१५; ८.४८.१४; १०.७८.६

विश्वहा (अ.) १.१६०.५; १०.७८.६

विश्वाच् (नि. त. √अच्) सर्वगामी; सर्वत्र प्रसरणशील १०.१३९.२

विश्वाहा (अ.) सर्वदा; विश्वा अहा अथवा अहा विश्वा पदोंसे समानार्थक १.२५.१२

विष् (क्रि.) कार्य करना; परि विष् चारों ओरसे घेरना १.११६.२०; २.३५.१३; १०.११७.९

विषित (वि. वि√सा) बन्धमुक्त; खुली ३.३३.१; ५.८३.७, ८

विषुण (वि. विषु – सर्वगामी) अनेकरूपी ८.२९.१

विष्ठा (स्त्री. वि√स्था) अनुचर; भिन्न स्थानोंपर रहनेवाली १०.१६८.२

विष्णापू (पु.) एक व्यक्तिका नाम १.११६.२३

विष्पित (न.) आपत्ति ८.८३.३

विष्वच् (वि. विषु√अच्) सर्वगामी २.३३.२; ६.७४.२; १०.९०.४

विसर्ग (पु. वि√सृज्) मुक्ति ७.१०३.९

विसर्जन (न. वि√सृज्) सृष्टि; उत्पत्ति १०.१२९.६

विसृष्टि (स्त्री.वि.√सृज्) विविध निर्माण; समूची सृष्टि १०.१२९.६-७.

विस्रस् (स्त्री. वि√स्रस्) स्खलन; पदभ्रंश८.४८.५

विहायस् (वि. वि√हा) विस्तीर्ण बलशाली ८.४८.११

वी (क्रि.) जानना; जाना; स्वीकार करना १.४८.६; ७.६८.१; ५.११.४

वी (पु.√वी) स्वीकार करनेवाला १.१४३.६

वीळु (वि.√वीळ्) बलशाली; दे. नीचे

वीळुजम्भ (वि. ब.) मज़बूत दंष्ट्रावाला ३.२९.१३

वीळुपत्मन् (वि. त. पत्मन् √पत्) मज़बूत पंखोंवाला १.११६.२

वीळुहर्षिन् (वि.त.√हृष्) सामर्थ्यकी डींग हाकने-वाला २.२३.११

वीळ्वङ्ग (वि. ब.) मज़बूत अंगोंवाला १.११८.९

वीति (स्त्री.√वी) उपभोग; स्वीकार १.१४२.१३; ७.६८.२

वीतिहोत्र (वि. ब. होत्र √हु) भोजनका निमन्त्रक २.३८.१; ५.२६.३

वीर (पु.) शूर पुरुष २.३३.१; १०.६८.१२

वीरय (क्रि.) वीरकर्म करना १.११६.५

वीरवत् (वि.) शूर अनुचरोंसे युक्त १.१.३; ४.५०.६; ७.७५.८

वीरुध् (स्त्री. वि√रुह्) लता २.३५.८;१०.९७.३

वीर्य (न. वीर) वीरकर्म ४.३०.८; १०.९७.२१

वृ (क्रि.) वारण करना; आवरण करना; वि-वृ खोलना; अप-वृ खोलना; ५.७३.५; १०.१२९.१

वृ (क्रि.) चुनना; निर्वाचित करना ३.३३.४; १०,१२७.८

वृक (पु.√व्रश्च्) भेड़िया; कपटी व्यक्ति २.२८.१०; १०.१२७.६

वृक्तबर्हिस् (वि. ब. वृक्त √वृज्) कुशासन बिछानेवाला ३.५९.९

वृज् (क्रि.) विन्यास करना; अप वृज्–वर्ज्य करना; दूर रखना; परि वृज् वर्ज्य करना; दूर रखना परा वृज् त्याग करना; १.११६.१;१०.११७.७; ३.२९.६

वृजन (न. √वृज् = वृर्जन) अनुयायियोंका समूह १ ४८.५; १.१८४.६; ७.६१.४

वृत् (क्रि.) चलना; जाना; आ वृत् आना; परि आ वृत् सर्वत्र ले आना १०.१३५.४; २.३८.३; ३.३२.१५; ७.६३.२

वृत्र (पु. √वृ) एक दासका नाम; इन्द्रका विरोधी १.३२.७; ८.१००.२

वृत्रतर (वि.) वृत्रसे भी अधिक विरोध करनेवाला १.३२.५

वृत्रपुत्रा (वि. ब.) वृत्रकी माता १.३२.९

वृत्रहन् (त.) वृत्रका हन्ता (इन्द्र) ४.३०.१९,२०

वृध् (क्रि.) बढ़ना; महान् होना १.८५.७; १०.१४.३

वृध् (स्त्री. √वृध्) वृद्धि; बढ़ाव १.८५.१

वृध (वि.) बढ़ानेवाला ८.८३.२

वृष् (क्रि.) वर्षा करना ५.८३.१०; ७.१०३.३

वृषच्युत (वि. त. √च्यु) बलशाली (अद्रियों) द्वारा मुक्त; प्रवर्तित ९.६९.७

वृषण्वसु (वि. ब.) वर्षा करनेवाले धनसे युक्त ४.५०.१०

वृषन् (वि.) (रैतकी) वर्षा करनेवाला; पराक्रमी २.३५.१३; ३.२९.६

वृषभ (वि. √वृष्) (रेतका) सिंचन करनेवाला; पराक्रमी २.१२.१२; १.११६.१८

वृषरव (पु. ब.) एक कीटकका नाम; बैलकी तरह ध्वनि करनेवाला १०.१४६.२

वृषल (वि.) हीन वृषभ; निर्बल पुरुष १०.३४.११

वृषव्रात (वि. ब.) पराक्रमी गणोंसे संयुक्त १.८५.४

वृषाय (क्रि.) वृषाकी तरह बर्ताव करनेवाला १.३२.३

वृष्टि (स्त्री.) बरसात; वर्षा ५.६३.१; ९.६९.९

वृष्ण्य (न.–वृषन्) पराक्रम; दे. वृष्ण्यवत्

वृष्ण्यवत् (वि.) पराक्रमी ५.८३.२

वृह् (क्रि.) नष्ट करना २.२३.१३

वे (क्रि) बुनना २.२८.५; २.३८.४

वेदन (न.√विद्) संपत्ति ४.३०.१३;१०.३४.४

वेधस् (पु. √विध्) कर्तृत्वशाली; प्रबन्धक ३.५९.४

वेन् (क्रि.) प्रेम करना ४.३३.६; १०.१३५.१

वेन (पु.√वेन्) प्रेमी; प्रेम करनेवाला९.८५.१०

वेना (स्त्री.√वेन्) अभिलाषा रखनेवाली ८.१००.५

वेश्मन् (न.√विश्) घर १०.१४६.३

वेषणा (स्त्री. √विष्) शुश्रूषा; सेवा; दे. परिविष्टि ४.३३.२

वैरूप (वि.) अंगिरसोंकी एक शाखाके ऋषि १०.१४.५

वैवस्वत (पु.) यम; विवस्वत् का पुत्र १०.१४.१

वैश्वानर (वि. √विश्व+नर) समूचे लोगोंके अनुकूल ७.४९.४; ८.३०.४

वोढ़ (पु. √वह्) ले आनेवाला ७.७१.४

व्यंस (पु.) एक दासका नाम; वृत्रका साथी; १.३२.५; ४.१८.९

व्यक्त (वि.वि√अज्ज्) स्पष्ट किए गए;सुशोभित ७.७७.३; १०.१२७.७

व्यच् (क्रि.) धारण करना; सम् व्यच् एकत्रित करना; ७.६३.१

व्यचस् (न.√व्यच्) खाली जगह; रिक्त स्थान ५.२६.८

व्यथ् (क्रि.) काँपना;स्वैर भ्रमण करना; २.१२.२; ६.५४.३

व्यथिस् (न.√व्यथ्) स्वैर भ्रमण ६.२८.३

व्यध् (क्रि.) प्रहार करना ४.१८.९

व्यस्त (वि. वि√अस्) बिखरा हुआ; विच्छिन्न १.३२.७

व्युष्टि (स्त्री. वि√उष्) प्रकाशमान होनेकी क्रिया; उदयकाल १ ४८.६; ७.७१.३

व्ये (क्रि. =व्या) आच्छादित करना. परि व्ये पहनना; परिधान करना. सं व्ये समेट कर रखना; समेटना २.३८.४; ९.६९.४–५

व्येनी (स्त्री.) अति चपल ५.८०.४

व्येनस् (वि.वि+एनस्) निरपराध ३.३३.१३

व्योमन् (न.) स्वर्ग; आकाश १.१४३.२; १०.१२९.१

व्रज् (क्रि.) जाना; अति व्रज् सतत प्रवास करना १ ११६.४

व्रज (पु.) गायोंका गोष्ठ; गोशाला २.३८.८; १०.९७.१०

व्रत (न.) नियम १.२५.१; ३.५९.३; ८,४८.९

व्रतचारिन् (वि. त.) नियमोंका पालन करनेवाला ७.१०३.१

व्रत्य (वि.–व्रत) व्रतपालन करनेवाला ८.४८.८

व्रयस् (न.√व्री) दुर्बलता २.२३.१६

व्रश्च् (क्रि.) काटना; तोड़ना ३.३३.७

व्रात (पु.) गण; समूह १०.३४.८,१२

शंस् (क्रि.) स्तवन करना ७.६१.४; १०.१४६.६
शंस (पु. √शंस) स्तुति १०.७८.३
शक् (क्रि.) समर्थ बनाना ७.६८.८
शकटी (स्त्री.) गाड़ी १०.१४६.३
शकुन (पु.) पक्षी ९.८५.११; १०.६८.७
शक्ति (स्त्री.√शक्) सामर्थ्य ७.६८.८
शक्मन् (न.√शक्) उपकरण २.३८.४
शग्म (वि.√शक्) सहायक; सामर्थ्य अर्पण करनेवाली १.१४३.८; ७.५४.३
शची (स्त्री.√शक्) सामर्थ्य १.११६.२२; ७.६८.८
शचीपति (त.) सामर्थ्योंका स्वामी ४ ३०.१७
शतक्रतु (वि. ब.) सैंकड़ों शक्तियां रखनेवाला ४.३०.१६; १०.९७.२
शतधन्य (वि. शतधन) सैंकड़ों (गो) धनके मूल्यवाला ४.१८.३
शतधार (ब.) सैंकड़ों धाराओंसे बहनेवाली ९.८५.४
शतपद् (वि. ब.) सौ चरणोंवाली १.११६.४
शतविचक्षण (वि. ब.) सौ प्रकारोंकी निपुणतावाली १०.९७.१८
शतारित्र (वि. ब. अरित्र √ऋ) सौ डाँडोंवाली १.११६.५
शतोति (वि. ब. ऊति√अव्) सौ प्रकारोंकी रक्षा देनेवाली ७.६८.३
शत्रु (वि.पु.√शत) मारनेवाला; घातक १.३२.४; ९.८५.२
शद् (क्रि.) चमकना; कर्म करना १ ११६.२
शंतम (वि.) अतीव सुखकर २.३३.१३; ५.७३.१०
शपथ्य (वि.) शपथोंसे निर्मित १०.९७.१६
शफ (पु.) खुर १.११६.७
शफवत् (वि.) खुरवाला ५.८३.५
शबल (वि.) चित्रित शरीरवाला १०.१४.१०
शम् (क्रि.) कर्म करना ३.२९.१६; ४.५१.७
शम् (न.) सुख सुखसे २.३३.१३; ९.६९.७
शम (वि.) पालतू १.३२.१५
शमी (स्त्री.) कर्म ४.३३.४
शम्या (स्त्री.) जूएकी खूँटी ३.३३ १३
शयु (वि.पु.) १ सोनेवाला; निद्रालु; २ एक व्यक्ति का नाम ४.१८.१२; ७.६८.८
शरण (वि.√शृ) आश्रय देनेवाला; घर ७.९५.५; १०.१८.१२
शरु (स्त्री.√शृ) बाण २.१२.१०; ७.६१.१; १०.१२५.६
शर्धत् (वि.√शृध्) घमण्डी; उद्धत; धृष्ट २.१२.१०
शर्धस् (न.) उद्धत सामर्थ्य; दर्पयुक्त बल ३ ३२.४
शर्मन् (न.√शृ) सुरक्षा १.८५.१२; ५.८३.५
शल्मलि (पु.) सेंमर वृक्ष ७.५०.३; १०.८५.२०
शवस् (न.) सामर्थ्य २.२३.१५; ७.२८.३
शवसिन् (वि. – शवस्) समर्थ; बलशाली ७.२८.२
शश्वत् (सर्व. अ.) हरएक; अनेकशः; हर दिन २.३८.६; १.३५.५
शश्वत्तमम् (अ.) अनेक बार २.३८.१
शश्वधा (अ. शश्वत्) अनेक प्रकारोंसे ३.३३.७
शाक्त (पु.√शक्) समर्थ; अध्यापक ७.१०३.५
शामुल्य (वि.) दूषित १०.८५.२९
शास् (क्रि.) आज्ञा करना; अनु-शास् मार्ग बताना २.२८.९; ६.५४.१–३
शास् (पु.√शास्) शासनकर्ता; आज्ञापक २.२३.१२;
शासुस् (न.√शास्) आज्ञा १.११६.१३
शिंशुमार (पु.) नक्र १.११६.१८
शिक्वन् (वि.√शक्) समर्थ; बलवान् २.३५,४
शिक्ष् (क्रि.) समर्थ बनाना; साहाय्य देना ३.५९.२; ६.२८.२; ७.८३.८
शितिपद् (वि. ब.) शुभ्रवर्ण खुरोंवाला १.३५.५
शिथिर (वि. √श्रथ्) खुला; भीतिरहित ७.७१.५

शिप्रा (स्त्री.) गाल; ओष्ठ ३.३२.१
शिमीवत् (वि.) त्वेषयुक्त; प्रचण्डकर्मा १०.७८.३
शिव (वि.) कल्याणप्रद ५.१.८; १०.३४.२
शिशु (पु.) वत्स; बालक २.३५.१३; ९.८५.११
शिशुमत् (वि.) बछडोंवाली; सवत्स ८.१००.५
शिशूल (पु.) छोटा बच्चा १०.७८.६
शी (क्रि.) सोना १०.१८.८; १०.१०८.४
शीत (वि.) ठंडा; शीतल १०.३४.९
शीपाल (न.) शैवाल १०.६८.५
शीभम् (अ.) शीघ्र गतिसे ३.३३.१२
शीर (वि. √शी) सुतीक्ष्ण ३.९.८
शीर्षन् (न.) मस्तक १.११६.१२; ५.५७.६
शुक (पु.) तोता १.५०.१२
शुक्र (वि.√शुच्) तेजस्वी ४.५१.९; ९.८५.१२
शुक्रवर्ण (वि. ब.) तेजस्वी वर्णवाली; शुभ्र १.१४३.७
शुच् (क्रि.) प्रकाशमान होना ३.२९.१४
शुचि (वि.√शुच्) उज्ज्वल १.१४२.९; ७.४९.२
शुचिप्रतीक (वि. ब.) उज्ज्वल मुखवाला १.१४३.६
शुद्ध (वि.√शुध्) पवित्र ६.२८.७; १०.१८.२
शुनम् (अ.) सुखसे ३.४८.५
शुन्ध्यू (वि. √शुध्) निर्मल; शोधक १.५०.९; ७.८८.१
शुभ् (क्रि.) अलंकृत होना; सुशोभित होना ९.६९.३; १.८५.१, ३
शुभ् (स्त्री.) शोभा; शुभम्–शुभे (अ.) शानसे; शोभार्थ ४.५१.६; ७.८८.३
शुभंयु (वि.) कल्याणकी इच्छा रखनेवाला १०.७८.७
शुभ्र (वि. √शुभ्) सुशोभित; सुन्दर ५.८०.५; १.८५.३
शुष्क (वि. √शुष्) सूखा; खाली ७.१०३.२
शुष्ण (पु.) एक दासका नाम ४.३०.१३
शुष्म (पु.√श्वस्) सामर्थ्य ७.६१.४; १०.९७.८
शून (न.) शून्यत्व २.२८.११; ३.३३.१३
शूर (वि.) शौर्यशाली १.३२.१२; १०.७८.४
शूशुजान (वि.√श्वज्) बढ़ता हुआ; गर्वसे फूलकर १०.३४.६
शूष (न.√श्वस्) सामर्थ्यवान् १.१५४.३
शृङ्गिन् (वि.) (तीक्ष्ण) सींगोंवाला पशु १.३२.१५
शृध् (क्रि.) उन्मत्त होना; घमंड करना; २.१२.१०; २.२३.१२
शृध्या (स्त्री.√शृध्) घमंड २.१२.१०
शॄ (क्रि.) भग्न होना; नाश पाना २.२८.५; ६.५४.७
शो (क्रि.) तीक्ष्ण करना ९.६९.३
शोक (पु.√शुच्) ज्वाला; तेज २.३८.५
शोचिष्केश (वि. ब.) किरणरूपी केशोंसे युक्त १.५०.८
शोचिस् (न.√शुच्) ज्वाला; किरण; तेज १.१४३.२; ९.८५.१२
श्चुत् (क्रि.) गिर पड़ना ४.५०.३
श्नथ् (क्रि.) कुचलना; रगड़ना १.११६.२४; ७.२८.३
श्याव (वि.) कृष्णवर्ण १.३५.५; १०.६८.११
श्येन (पु.) श्येन पक्षी १.३२.१४; ७.६३.५
श्येनपत्वन् (वि. त. पत्वन् √पत्) श्येन की तरह उड़ान करनेवाला १.११८.१
श्रथ् (क्रि.) मृदु करना; शिथिल करना या होना २.२८.७; ९.६९.३
श्रद्धा (स्त्री.) विश्वास १०.१५१.१–५
श्रद्धिव (न.=श्रद्धेय) श्रद्धा रखने योग्य; विश्वासार्ह १०.१२५.४
श्रम् (क्रि.) श्रम करना; कष्ट करना २.२८.४ ४.३३.११
श्रवस् (न.√श्रु) कीर्ति १.१६०.५; ३.५९.७

श्रवस्य (न. – श्रवस्) प्रख्यात कर्म; स्तवनके योग्य कर्म १.१८४.४

श्रवस्यु (वि. – श्रवस्) कीर्तिकी इच्छा रखनेवाला १.४८.३; ७.७५.२

श्रान्त (वि. √श्रम्) कष्टालु ४.३३.११

श्रि (क्रि.) रखना; रहना; आश्रय लेना ३.९.३; २.२८.८; १.३२.५; ५.११.६; ५.१.२; ३.६१.५; १०.१८.१२

श्री (स्त्री.√श्री–पकाना) शोभा; सौन्दर्य;तेजस्विता १.८५.२; ५.५७.६; १०.१२७.१

श्रु (क्रि.) सुनना ३.३३.१०; १०.१५.५; १०.१२५.४

श्रुष्टि (स्त्री. √श्रुष–सुनना) सुनना; आज्ञापालन

श्रुष्टी (अ. √श्रुष्टि) खुशीसे; आनन्दसे २.३८.२; ३.९.८

श्रेष्ठ (वि.) उत्तम २.३३.३; ७.७७.५

श्रोण (वि.) व्यङ्ग; लूला ४.३०.१९

श्रोत्र (न.) कान १०.९०.१४

श्रौष्टी (स्त्री. < श्रुष्टि) वशवर्ती ८.४८.२

श्लोक (पु.) स्तुति १.११८.३; ७.८३.१०

श्वघ्निन् जुआरी २.१२.४

श्वज् (क्रि.) बड़ा होना १०.३४.६

श्वञ्च् (क्रि.) जाना; चलना ३.३३.१०; १०.१८.११–१२

श्वन् (पु.) कुत्ता ४.१८.१३; ७.५५.५; १०.१४.१०

श्वश्रू (स्त्री.) सास (भार्याकी माता) १०.३४.३

श्वस् (अ.) कल ६.५६.६

श्वित् (क्रि.) प्रकाशित होना ७.७७.२; १०.७८.७

श्वित्यच् (वि. त. श्विति + अच्) शुभ्र वस्त्रोंसे सुशोभित २.३३.८; ७.८३.८

श्वेत (वि. √श्वित्) शुभ्र १.११६.६; ७.७७.३

श्वैत्री (स्त्री. √श्वित्) शुभ्र; श्वेतवर्ण ४.३३.१

संयत् (वि. सम् + यत् – ई) एकत्रित होनेवाली २.१२.८

संयत् (वि. सं + यत् – √यत्) अखण्ड; संतत ७.१०२.३; ८.१००.९

संयत (वि. सं + यत √यम्) नियंत्रित किए गए ९.६९.३

संरराण (वि. सं√रा) सहमत १०.१५.८

संवत्सम् (अ.) संवत्सरपर्यन्त ४.३३.४

संवत्सर (पु.) वर्ष; संवत्सर ७.१०३.१, ७, ९

संवृज् (पु. सं√वृज्) एकत्रित करनेवाला २.१२.३

संसद् (स्त्री. सं√सद्) सख्य; मैत्री; साहचर्य ७.५४.३

संस्कृतत्र (न. सं√कृत्) (पशु) काटनेका स्थान ६.२८.४

सखि (पु.) मित्र, सुहृद् ८.४८.४; १०.११७.३

सख्य (न. < सखि) मित्रत्व ३.९.२; ४.३३.२; ६.५७.१

सगण (वि.) गणोंसहित ३.३२.३

संगथ (न. सं.√गम्)एकत्र अवस्थान २.३८.१०

संगमन (वि. सं√गम्) एकत्रित करनेवाला १०.१४.१; १०.१३९.३

सच् (क्रि.) सेवा करना; मिलना; पीछे पड़ना १ ११६.१७; ७.८८.५

सचन (वि.√सच्) सेवक; अनुयायी १.११६.१८

सचा (अ.) सहित ४.५०.११; ६.५७.४

सचाभू (वि.) साथ रहनेवाला १०.११७.४

सचिविद् (वि.त.) समान प्राप्ति करानेवाला; सहचर प्राप्त करानेवाला १० ७१.६

सजन्य (वि. < सजन) स्वपक्षीय; दे. प्रतिजन्य ४.५०.९

सजात्य (न.) बन्धुता ८.८३.७

सजित्वन् (वि.√जि.) (स्त्री. सजित्वरी) जेता १०.९७.३

सजोषस् (अ. √जुष्) खुशीसे; आनन्दसे १.११८.११

सजोषस् (वि.√जुष्) साथ रहनेवाला ३.३२.२; ५.५७.१

संजित् (पु.सं.√जि) जेता ३.४८.५

सत् (न.√अस्) अस्तित्ववाला १०.१२९.१,४

सतस् (अ.) समान रूपसे दे. सतोमहत्

सतोमहत् (वि.) समान रूपसे महान् ८.३०.१

सत्पति (पु.) श्रेष्ठ नेता २.२३.१२; ६.५६.२

सत्य (वि. – सत्) विश्वासयोग्य; नित्य १.१.५; २.२३.११

सत्यधर्मन् (वि.) वह जिसके नियम अनुल्लंघनीय हों ५.६३.१; १०.३४.८

सत्यश्रुत् (त.) अमोघ श्रोता ५.५७.८

सत्यानृते (न.) विश्वासार्ह और मिथ्या (कर्म, भाषण) ७.४९.३

सत्रा (अ.) निश्चयसे ४.३०.२

सद् (क्रि.) बैठना १.८५.६; ८.४८.९

सदन (न.√सद्) आसन २.२३.१; १०.६८.७

सदम् (अ.) नित्य; निरन्तर १.११६.६

सदस् (न. √सद्) आसन १.८५.२;१०.१५.११

सदा (अ.) निरन्तर ५.७३.५; ७.६८.९ ७.८३.९

सदृश (वि.) समान रूपवाला ४.५१.६

सद्यस् (स+द्यु) त्वरित १.११५.३; ५.१.९

सद्यऊति (वि. ब.) त्वरित कृपा दिखानेवाले १०.७८.२

सधमाद (वि.√मद्) सहभोजन, सधमाद√मद्; एक ही पङ्क्तिमें उपभोग करना १०.१४.१०

सधस्थ (न. सध√स्था) निवासस्थान १.१५४.१; १.११५.४

सन् (क्रि.) प्राप्त कर लेना ६.५४.५; १०.११९.१

सन (वि.) पुराना ४.३३.३; १०.७८.८

सनकात् (अ.) प्राचीन कालसे ३.२९.१४

सनय (वि.) पुरातन; प्राचीन ४.५१.४

सनाभि (वि.—नाभि) एक नाभिसे संबद्ध; सोदर १०.७८.४

सनि (पु. √सन्) लाभ १.११६.१२, २१

सनितृ (पु. √सन्) विजेता; लाभ उठानेवाला २.२३.१३

सनिष्य (क्रि.) लाभ लेनेकी अभिलाषा रखना १०.९७.८

संतनि (पु. सं√तन् = स्तन्) गर्जना ५.७३.७; ९.६९.२

संदित (वि. सं√दा) बद्ध १.२५.३

संदृश् (स्त्री.सं√दृश्) दर्शन २.३३.१; ७.८८.२

सप् (क्रि.) सेवा करना, पूजा करना ७.८३.८

सपर्य (क्रि. √सप् > सपर् > √सपर्य) पूजा करना; सेवा करना ३.९८.९

सप्तरश्मि (वि. ब.) सात रस्सोंसे निगडित; अति बलशाली २.१२.१२; ४.५०.४

सप्तहोतृ (वि. ब.) सात होताओंसे निमन्त्रित ३.२९,१३

सप्तास्य (ब.) सात मुखोंवाला; अत्यन्त प्रभावी वक्ता ४.५०.४; ४.५१.४

सप्ति (पु. √सप्) अश्व १.८५.१,६

सप्रथस् (वि. √प्रथ्) विस्तीर्ण ३.५९.७; ७.७७.२; ९.८५.८

सबाध (वि. √बाध्) अन्तःस्फूर्तिसे युक्त ७.६१.६

सभा (स्त्री.) विद्वत्सभा; द्यूतसभा ६.२८.६; १०.३४.६

सभासाह् (वी.सह्) सभाका विजेता १०.७१.१०

सम (सर्व.) हरएक; सर्व ६.५३.८

सम (वि.) समान; एक सतहवाले ५.८३.७; १०.११७.९

समद् (स्त्री. √मद्) युद्ध २.१२.३; ३.४८.५; १०.१२५.६

समन (न.) जनसमूह १.४८.६; १०.१६८.२

समनस् (वि. – मनस्) एकमत; सहमत १.११६.१९

सुमना (अ.) एक समयपर ४.५१.८, ९
समनीक (न.) युद्ध १०.१०७.११
समन्त (वि.) संयुक्त; साथ साथ ५.१.११
सुमर (पु. सम्√ऋ) एकत्र अवस्थान; युद्ध १०.१३९.३
सुमर्या (अ.—सम) एक समयमें ९.८५.५
सुमर्थ (न.=समर) युद्ध ९.८५.२
सुमह (अ.) समान रूपसे; एक ही ढंगसे ७.८९.३
सुमान (वि.) सदृश; साधारण; एक ही; सुमानम् (अ.) एक ही ढंगसे, ४.३०.२२; १०.१९१.४; ७.८६.३
सुमानतः (अ.) एक ही स्थानसे ४.५१.८
समिति (स्त्री.) मन्त्रि-परिषद् १०.९७.६
सुमिथ (न.सम्√इ) युद्ध ७.८३.९
सुमिध् (स्त्री.सम्√इध्) समिधा; इन्धन ५.१.१; १०.९०.१५
सुमुद्र (पु.सम्√उद्) सागर १.११९.७; ७.५५.७
सुमुद्रज्येष्ठ (वि. ब.) जिनमें सागर प्रमुख है ७.४९.१
सुमुद्रार्थ (वि. ब.) जिनका उद्देश्य सागर है ७.४९.२
सुमुद्रिय (वि.—समुद्र) समुद्रसंबन्धी १.२५.७
समृति (स्त्री.सम्√ऋ) प्रहार १.३२.६
सुमृध् (स्त्री.सम्√ऋध्) पूर्णत्व;समृद्धि ७.१०३.५
संपृच् (स्त्री.सम्√पृच्) संपर्क; संयोग २.३५.६
संमातृ (वि. त.) एक साथ प्रसूत (दो गायें) १०.११७.९
सुम्यच् (वि. सम्√अञ्च्) एकत्र गमन करनेवाली ३,२९.१३
सुम्राज् (वि. सं√राज्) सम्राट्; अधिराज २.२८.६; ८.२९.९
सयुज् (वि.√युज्) संयुक्त; संमिलित १०.१६८.२
सुरण्यु (वि.√सृ) वेगसे जानेवाला ३.३२.५

सुरथम् (अ.) एक ही रथमें ५.११.२;१०.१६८.२
सुरमा (स्त्री.) देवशुनीका नाम १०.१०८.१
सुरयू (स्त्री.) नदीका नाम ४.३०.१८
सरस् (न.) तडाग; तालाब (श्लेषसे) सोमरससे भरा हुआ पात्र ७.१०३.७
सुरसी (स्त्री.) तालाब; तड़ाग ७,१०३.२
सरस्वती (स्त्री.) एक नदीका नाम ७.९५.१
सरीमन् (पु. √सृ) गमन; संचार ३.२९.११
सर्ग (पु. √सृज्) मुक्त प्रवाह; अश्व; वेगयुक्त प्रवाह ३.२९.११; ९.६९.६
सर्गतक्त (त. सर्ग+तक्त√तक्) वेगसे जानेवाला ३.३३.४,११
सर्ज् (क्रि. =सृज्) निर्माण करना; मुक्त करना १०.१४६.३
सुर्पिरासुति (वि. ब. आसुति—आ√सु) घृतसे भोजन करनेवाला ८.२९.९
सुर्पिस् (न.) घृत १०.१८.७
सर्वगण (वि. ब.) सभी अनुयायियोंसे युक्त १.११६.८
सर्वताति (स्त्री.) संपूर्णता ६.५६.६
सर्ववीर (वि. ब.) सभी प्रकारके वीरोंसे युक्त ४.५०.१०; १०.१५.११
सुर्वहुत् (त.√हु) सबका हवन करनेवाला १०.९०.८–९
सुलिल (न.) पानी; सृष्टिपूर्व जलसमूह ७.४९.१; १०.७२.६
सुव (पु.√सू) उत्तेजना; प्रवर्तना २.३८.१; ४.५४.५–६
सवन (न.√सु) सोमरसका समर्पण ३.३२.१; ८.१००.६
सुश्चत् (स्त्री.√सच्) पीछे पड़नेवाला; प्रतिस्पर्धी ३.९.४; दे. असुश्चत्
सस् (क्रि.) सोना ४.५१.३; ७.५५.५
सुसुहि (वि. √सह्) विजेता २.२३.११

सस्नि (वि. √स्ना या √सन्) निष्णात, विजेता २.२३.१०; १०.१३९.६

सह् (क्रि.) परास्त करना ३.२९.९; १०.३४.९

सहवत्स (वि. ब.) वत्ससहित १.३२.९

सहस् (न. √सह्) श्रेष्ठ सामर्थ्य १.५०.१३; १०.१०८.९

सहस्य (वि. —सहस्) बलवान् ७.५५.७

सहस्रणीथ (वि. ब.) सहस्र मार्गोंसे युक्त ९.८५.४

सहस्रद्वार (वि. ब.) सहस्र द्वारोंवाला ७.८८.५

सहस्रपाद् (वि. ब.) सहस्र चरणोंवाला १०.९०.१

सहस्रभर्णस् (भर्णस् √भृ) सहस्र उपहार देनेवाला ९.६०.२

सहस्रमघ (वि. ब.) सहस्र उपहार देनेवाला ७.८८.१

सहस्रशीर्षन् (वि. ब.) सहस्र मस्तकोंवाला १०.९०.१

सहस्रशृङ्ग (वि. ब.) सहस्र सींगोंवाला ५.१.८; ७.५५.७

सहस्रसा (वि. त.) सहस्र उपहार जीतनेवाला १.११८.९

सहस्रसाव (त. साव √सु) सहस्र सवनोंसे युक्त ७.१०३.१०

सहस्राक्ष (वि. ब.) सहस्र नयनोंवाला १०.९०.१

सहूति (स्त्री. √ह्वे) सह निमन्त्रण, एकत्रित निमन्त्रण २.३३.४

सा (क्रि.) खण्डन करना; अव सा-समाप्त करना ७.२८.४

साकम् (अ.) साथ साथ ९.६९.६; १०.९७.१३

साति (स्त्री. √सन्) लाभ १.१४३.६; ७.९५.३

साध् (क्रि.) सफल होना ६.५३.४; ६.५६,४,५

साधारण (वि.) समान ७.६३.१

साधु (वि. √साध्) सफल; उत्तम ३.४८.१; ५.८०.४; १०.१४.१०

साधुया (अ.—साधु) उत्तम रीतिसे ५.११.४

साध्य (पु.) एक देवताजातिका नाम १०.९०.७,१६

सार्ध्वर्य (वि. ब.) आर्योंको अनुकूल १०.६८.३

सानसि (वि. √सन्) लाभकारी ३.५९.६; ९.८५.५

सानु (न.) शिखर; पीठ १.३२.७; २.३५.१२

सानुक (वि. √सन्) लोभयुक्त २.२३.७

सामन् (न.) साम २.२३.१६-१७; १०.९०.९

सामन (वि.) सहयोगी १०.८५.११

साम्राज्य (न.—सम्राज्) सम्राट्का वैभव; ऐश्वर्य १.२५.१०

सायम् (अ.) शामके समय १०.१४६,३-४

सायक (पु.) बाण १.३२.३; २.३३.१०

सारथि (पु.) एक रथमें बैठनेवाला ६.५७.६

सारमेय (पु. —सरमा) सरमाका वंशज ७.५५.२; १०.१४.१०

साशनानशने– (द्वन्द्व) अन्न-भक्षक; और अन्न-भक्षण-रहित १०.९०.४

सि (क्रि.) बाँधना; वि सि –मुक्त करना ३.३३.१; ५.८३.७-८

सिंह (पु.) शेर ३.९.४; ५.८३.३

सिच् (क्रि.) बरसना; ढालना ३.४८.२;५.८३.८; ९.६९.२

सिच् (स्त्री.) आँचल; छोर १०.१८.११

सिध् (क्रि.) सफल होना १.३२.१३

सिध् (क्रि.) निवारण करना १.३५.१०

सिध्र (वि. √सिध्) सिद्धिप्रद; १.१४२.८

सिन्धु (पु. स्त्री.) नदी ३.३२.१६; ४.३०.१२

सिन्धुमातृ (वि. ब.) वे जिनकी माता सिन्धु है १०.७८.६

सिम (सर्व.) हरएक १.११५.४

सिरी (स्त्री.) स्रोत; नदी १०.७१.९

सिष्विदान (वि. √स्विद्) पसीनेसे तर ७.१०३.८

सीम् (सर्व. निपात) १ वह; २ निश्चयसे १.११६.२०; ४.३०.१०; ८.१००.७

सीरा (स्त्री.√सृ) नदी १०.९७.९

सु (क्रि.) रस निकालना १०.१४.१३; ८.१००.६

सुकर्मन् (पु.) पुण्यकर्मा ४.३३.९

सुकीर्ति (स्त्री.) उत्तम कीर्ति २.२८ १

सुकृत् (वि.) धार्मिक; पुण्यकर्मा १.४८.११

सुकृत (न.√कृ) सत्कर्म ३.२९.८

सुक्रतु (वि. ब.) उत्तम बुद्धिमान् १.२५.१०; ५.११.२

सुक्रतुया (स्त्री.) श्रेष्ठ बुद्धिमत्ता १.१६०.४

सुक्षत्र (वि. ब.) उत्तम क्षात्र तेजवाला १.११६.९; ३.५९.४; ७.८६.१

सुक्षिति (स्त्री. क्षिति √क्षि) उत्तम घर; सुन्दर निवास २.३५.१५

सुक्षेत्र (न.) उत्तम क्षेत्र; उपजाऊ खेत ४.३३.७

सुख (वि.) आनन्दप्रद १.४९.२; ५.६३.५

सुग (वि. न.) १ सुखप्रद; २ सुख १.३५.११; २.२३.७

सुगव (वि. ब.) उत्तम गायोंसे संपन्न १.११६.१५

सुगम्य (वि.गम्य √गम्) सुखप्राय; सुखसाध्य १.४८.१३

सुजनिमन् (वि. ब.) सौष्ठवसे जन्म प्रदान करनेवाला १०.१८.६

सुजन्मन् (ब.) मंगल जन्म देनेवाली १.१६०.१

सुजिह्व (वि. ब.) उत्तम जिह्वावाला; मधुरभाषी; दे. मन्द्रजिह्व १.१४२.४

सुत (वि. √सु) निचोड़कर निकाला हुआ ८.१००.२; ९.६९.९

सुतर (वि.√तृ) सुखसे पार करनेवाली १०.१२७.६

सुतष्ट (वि √तक्ष्) उत्तम प्रकारसे बनाए हुए २.३५.२

सुतसोम (वि. ब.) १ जिसने सोमरस निचोड़कर तैयार रखा है; २ जिसमें सोम निचोड़ा है १.१४२.१; ३.३२.१२

सुतेकर (वि.ब.) सोमरस तैयार करनेमें व्यग्र हाथोंवाला १०.७१.९

सुदंसस् (ब.√दंस्) श्रेष्ठ या अद्भुत कर्मोंका कर्ता ३.३२.८; १.८५.१

सुदक्ष (ब. दक्ष) अत्यन्त कुशल ५.११.१

सुदानु (वि. ब.) उत्तम दानी; अत्यन्त उदार ३.२९ ७; ७.६१.३

सुदास् (वि. दास् √दा) १ एक राजाका नाम; २ दानशूर १.१८४.१; ७.८३.१

सुदिनत्व (न.) जब दिन अच्छे मालूम होते हैं; मंगल दिन ७.८८.४

सुदीदिति (वि. ब.) उत्तम प्रकाशवाला; अत्यन्त तेजस्वी ३.९.१

सुदुघ (वि.√दुह्) सुखसे बहुत दूध देनेवाली २.३५.७

सुदशीक (वि. दशीक) अत्यन्त दर्शनीय ७.७७.३

सुदशीकसंदृश् (ब.) वह जिसका दर्शन अत्यन्त देखनेलायक है ७.७७.२

सुद्युत् (वि.√द्युत्) अत्यन्त दीप्तिमान् १.१४३.३

सुधन्वन् (वि. ब.) उत्तम धनुष्यसे युक्त ५.५७.२

सुधित (वि. √धा) सुप्रतिष्ठित ३.२९.२; ४.५०.८

सुधृष्टम (वि.√धृष्) अत्यन्त प्रगल्भ १.१६०.२

सुनिधा (स्त्री. नि√धा) उत्तम प्रतिष्ठापना ३.२९.१२

सुनिर्मथ् (स्त्री.) उत्तम मन्थनकर्म ३.२९.१२

सुनीति (स्त्री.√नी) उत्तम मार्गदर्शन २.२३.४; १०.७८.२

सुनीथ (ब.√नी) उत्तम मार्गदर्शन करनेवाला १.३५.७,१०

सुपथ (न.) उत्तम मार्ग १.२५.१२; ७.६३.७

सुपर्ण (ब.) उत्तम पक्षोंसे युक्त पक्षी १.३५.७; ८.१००.८

सुपलाश (ब. – पलाश) विपुल पर्णोंसे सुशोभित १०.१३५.१

सुपाणि (ब.) कुशल हाथोंसे युक्त ३.३३.६

सुपार (वि.) सुखसे पार करनेवाली ३.३३.९

सुपेशस् (ब. पेशस् √पिश्) सुन्दर रूपवाला १.१४२.७; ५.५७.४

सुप्रकेतम् (अ. प्रकेत प्र√चित्) सहज रीतिसे पहचानी जाने योग्य ४.५०.२

सुप्रणीति ((वि. ब.) उत्तम मार्गदर्शक १०.१५.११

सुप्रतीक (ब. प्रतीक) उत्तम दर्शनवाला ७.६१.१; ६.२८.६

सुप्रतूर्ति (वि.ब.प्र√तृ) विजयी; श्रेष्ठ तारक ३.९.१

सुप्रपाण (न. ब.) वह स्थान जहाँ पर्याप्त जल सुखसे पाया जाता है ५.८३.८; ६.२८.७

सुप्रावी (त.प्र√अव्) श्रेष्ठ पूजक; अत्यधिक (देवोंको) अनुकूल १०.१२५.२

सुभग (ब. भाग) भाग्यवान्; सुंदर ७.६३.१; १०.१०८.५

सुभाग (ब. – भाग) उत्तम भाग्यशाली; श्रेष्ठ अंश पानेवाला १०.७८.८

सुभु (वि.√भू) सहज प्राप्त; स्वाभाविक २.३५.७

सुभृत (वि.√भृ) उत्तम हविभागोंसे सुसंतुष्ट ४.५०.७

सुमख (पु.) उत्तम वीर १.८५.४

सुमति (स्त्री.–मति) १ कृपा; २ स्तुति ४.५०.११; ८.४८.१२; ५.१.१०

सुमत् (वि. अ.) १ उत्तम; श्रेष्ठ; २ एक समय; साथ साथ १.१४२.७

सुमनस् (वि. – मनस्) प्रसन्न चित्त ३.९ ३; ७.८६.२

सुमनस्य (क्रि.) प्रसन्न होना ६.७४.४

सुमन्मन् (वि. ब.) उत्तम स्तोत्रोंका समर्पणकर्ता ७.६८.९

सुमातृ (वि.ब.) वह जिसकी माता श्रेष्ठ है १०.७८.६

सुमृळीक (वि. ब.) अत्यन्त कृपालु १.३५.१०; ९.६९.१०

सुमेधस् (वि.ब.) अत्यन्त बुद्धिमान् ८.४८.१; १०.१२५.५

सुम्न (न. वि.√म्ना) १ स्तोत्र २ प्रसन्न २.३३.१ ५.७३.६

सुयम (वि. √यम्) वह जिसका नियमन सुखसे होता है २.२८.११

सुयुज् (वि.√युज्) सुखसे जोते जानेवाला ४.३३.१०

सुरण (वि.ब. – रण) अत्यन्त प्रमुदित ३.२९.१४

सुरत्न (वि.ब. – रत्न) उत्तम उपहारोंसे युक्त १०.१८.७; १०.७८.८

सुरथ (वि.ब.) उत्तम रथवाला ५.५७.२

सुरभि (वि.) सुखस्पर्श; सुन्दर १०.१५.१२; १०.१४६.६

सुरा (स्त्री.) मद्य १.११६.७; ७.८६.६

सुराति (वि.ब. – राति) उत्तम उपहार देनेवाला १०.७८.३

सुराधस् (वि. ब. – राधस्) श्रेष्ठ दान देनेवाला ३.३३.१२

सुवर्ण (ब.) शोभन वर्णवाला १०.६८.३

सुवाच् (ब.) रमणीय आवाज़से युक्त ७.१०३.५

सुवित (न.) सुख; कल्याण १.११८.१०; ५.८०.३

सुविदत्र (वि.ब.√दा) शोभन दान देनेवाला; अत्यंत उदार १०.१४.१० १०.१५.३

सुवीर (ब.) उत्तम वीरोंसे युक्त १.११६.२५; १०.१८.९

सुवीर्य (न.) उत्तम सामर्थ्य १.११६ १९; ९.८५.८

सुवृक्ति (स्त्री.√वृज्) उत्तम स्तोत्र २.३३.१५; ७.८३.९

सुवृजन (वि.ब.– वृजन) उत्तम अनुयायियोंसे युक्त १०.१५.२

सुवृत् (वि.त.√वृत्) सुखसे चलनेवाला १.११८.२; ४.३३.८
सुवृध् (वि. त.√वृध्) भली भाँति बढ़नेवाला २.२३.९
सुशंस (ब.) मंगल भाषण करनेवाला २.२३.१०
सुशर्मन् (वि.ब.–शर्मन्) उत्तम रक्षा करनेवाला १०.७८.२
सुशिप्र (वि. ब. शिप्रा) सुन्दर कपोलोंसे युक्त २.१२.६; २.३३.५
सुशेव (त्रि.–शेव=शिव) अत्यन्त दयालु; अत्यन्त कल्याणकारी ३.५९.४; ८.४८.४
सुश्रवस् (वि. ब. श्रवस्) अत्यन्त कीर्तिमान्; प्रख्यात १.४९.२
सुष्टुभ् (ब.) उत्तम स्तोभोंका प्रणेता १०.७८.४
सुसंदृश् (त.) समान रूपवाला ५.५७.४
सुसंदृश् (वि.ब. – संदृश्) शोभन दर्शनवाला १०.७८.१; १.१४३.३
सुसह (अ.) एकत्रित १०.१९१.४
सुहव (वि. ब.–हव) सुखसे बुलाया जानेवाला २.३३.५
सुहवीतुनामन् (वि.ब.–हवीतु) वह जिसका नाम सुखसे पुकारा जाता है ९.८५.६
सू (क्रि.) प्रवृत करना; उत्तेजित करना ४.५४.२; ७.५०.३
सू (क्रि.) जन्म देना ५.१.४; ४.१८.१०; १०.१२५.७
सू (स्त्री.√सू) माता; जन्मदात्री १.३२.९
सूकर (पु.) सूअर ७.५५.४
सूक्त (न.√वच्) स्तोत्र २.२३.१९; ७.६८.९
सूद् (क्रि.) पकाना; मधुर बनाना १.१४२.११
सूनर (वि.) दयालु १.४८.५; ८.२९.१
सूनु (पु.√सू) पुत्र १.१.९; २.३८.५
सूनृता (स्त्री.) दयालुता १.४८.२; ३.६१.१
सूपवञ्चन (वि.ब.उप√वच्) वह जिसके पास जाना सुलभ है १०.१८.११
सूपायन (वि.उप√इ) वह जिसके पास प्रवेश करना सुलभ है १.१.९; १०.१८.११
सूयवस (न.) उत्तम चरागाह ६.२८.७
सूर (पु.) सूर्य १.५०.९; ७.६३.५
सूरि (पु.) दानी यजमान १.४८.४; २.३५.६
सूर्यरश्मि (वि. ब.) सूर्यके समान रश्मियोंसे युक्त १०.१३९.१
सूर्या (स्त्री.) अश्विनोंकी प्रिया १.१८४.३; ५.७३.५
सूर्यमास् (द्वन्द्व; मास्) सूर्य और चन्द्र १०.६८.१०
सूर्यावसु (वि.ब.) सूर्याको धन माननेवाले ७.६८.३
सृ (क्रि.) १ चलना; २ चलाना २.३८.९; ३.३२.५; १०.१०८.३
सृक (पु.√सृज्) वज्र १.३२.१२
सृज् (क्रि.) छोड़ना; मुक्त करना १.१९.९; ९.६९.१; २.३५.१
सृप् (क्रि.) जाना; चलना १०.१८.१०; १०.९७.१२
प्र सृप्, उप सृप्–जाना; चलना
सृप्र (वि.√सृप्) सर्पणशील; विस्तीर्ण ४.५०.१
सेक्तृ (पु.√सिच्) पानी पिलानेवाला ३.३२.१५
सेना (स्त्री.) सैन्य १.१४३.५; २.३३.११
सेनाजू (वि.त.√जू) सेनाकी तरह वेगवान् १.११६.१
सेनानी (त.) सैन्यका नायक; नेता १०.३४.१२
सेव् (क्रि.) सेवन करना १०.११७.२
सो (क्रि.) बाँधना; वि सो, अव सो खोलना; मुक्त करना १.२५.४; १.८५.५; १.१४२.१०; ७.२८.४
सोमपा (त.) सोमपान करनेवाला २.१२.१३
सोमपीति (त.√पा) सोमपान १.४८.१२; ४.४६.७
सोमपीथ (त.√पा) सोमपान १०.१५.८

सोमराजन् (वि.ब.) वे जिनका राजा सोम है १०.९७.१८,१९

सोमशित (वि.न.√शो) सोमपान द्वारा उत्तेजित १०.१०८.८

सोमसुत् (त.) सोमको निचोड़नेवाला ७.९८.४

सोमवत् (वि.) सोमके साथी १०.९७.७

सोमिन् (वि.)सोम अर्पण करनेवाला १.४९.१; ७.१०३.८

सोम्य (वि. – सोम) १ सोमपान करनेवाला; २ सोमसंबन्धी १.१९.९; १०.१४.६; ३.४८.१

सौभग (न.–सुभग) विपुल भाग्य; १.४८.९; ४.५४.६; ७.७५.२

सौमनस (न. –सुमनस्) चित्तस्वास्थ्य ३.५९.४; १०.४.६

स्कद्–स्कन्द् (क्रि.) कूदना ७.१०३.४ दे.अतिष्कद्

स्कन्धस् (न.) स्कन्ध; शाखा १.३२.५

स्कभ् (क्रि.) आधार देना ८.१००.१२

स्कभाय (क्रि.)=स्कभ् आधार देना १.१५४.१

स्तन् (क्रि.) गर्जना करना ५.८३.२,९

स्तनथ (पु.√स्तन्) गर्जना ५,८३.३

स्तनयित्नु (पु.√स्तन्) गर्जना करनेवाला ५,८३.६

स्तभ् (क्रि.) आधार देना; स्थिर करना ४.५०.१; १०.१८.१३

स्तरी (स्त्री.) वन्ध्या गाय १.११६.२२;७.६८.८

स्तु (क्रि.) स्तुति करना ५.८३.१; ६.५५.४; ३.३२.१४

स्तूप (पु.) शिखर दे. अरुषस्तूप

स्तृ (क्रि.) प्रस्तृत करना; फैलाना ३.९.९; १.१४२.५

स्तेन (पु.) चोर २.२८.१०; ६.२८.७

स्तोत्र (न.√स्तु) स्तुति १०.७८.८

स्तोम (पु.√स्तु) स्तुति; स्तोत्र १.४८.१४; ७.९५.५

स्तोमतष्ट (√तक्ष्) स्तोमोंसे निर्मित; स्वयंसिद्ध स्तोमोंका निर्माता १०.१५.९

स्त्री (स्त्री.) नारी; पत्नी ४.३०.८; १०.३४.११

स्थविर (वि.√स्था) बलसंपन्न ४.१८.१०

स्थशः (अ. – स्थ) हर एक स्थानमें २.३८.८

स्था (क्रि.) खड़ा होना, आ-स्था आरोहण करना अधि-स्था आरोहण करना; वि-स्था विविध स्थलोंमें रहना; परि-स्था विरोध करना; उप-स्था सेवा करना ४.३०.१२; २.३५.३; ७.८३.३; १०.१२७.७; २.२३.३; ५.६३.१; २.३८.५; १०.१२५.७

स्था (पु.√स्था) रहनेवाला ९.८५.११

स्थात्र (न.√स्था) स्थान; निवास; दे. भूरिस्थात्र

स्थिर (वि.√स्था) बलवान्; सुदृढ २.३३.९; १०.११७.२

स्थिरधन्वन् (वि.ब.) स्थिर धनुष्यवाला ७.४६.१

स्थिरपीत (वि.) अविचल रूपसे फूला हुआ; पढ़ा-लिखा मूर्ख १०.७१.५

स्थिवि (पु.) चालनी १०.६८.३

स्थूणा (स्त्री.) खंभा; स्तंभ १०.१८.१३

स्ना (क्रि.) स्नान करना ५.८०.५

स्नात्व (वि√स्ना) स्नानके योग्य १०.७१.७

स्नु=सानु (न.) शिखर ७.८८.३

स्पश् (क्रि.) देखना १०.१४.१

स्पश् (पु.√स्पश्) चार; निरीक्षक १.२५.१३; ७.६१.३

स्पार्ह (वि.√स्पृह्) स्पृहणीय; अभिलाषा रखने योग्य २.२३.९; १०.६८.३

स्पृ (क्रि.) निस् स्पृ सुरक्षा करना ७.७१.५

स्पृध् (स्त्री.√स्पृध्) स्पर्धा करनेवाला; शत्रु १०.१८.९

स्पृश् (क्रि.) स्पर्श करना १०.१२५.७

स्पृह् (क्रि.) अभिलाषा रखना १०.१३५.२

स्फिगी (स्त्री.) पार्श्व ३.३२.११

स्फुर् (क्रि.) ताड़न करना; तोड़ देना; २.१२.१२; १०.३४.९
स्म (निपात) अलंकारार्थ निपात; वाक्यपूरक २.१२.५; ७.८८.६
स्य (सर्व=स) दर्शक सर्वनाम २.३३.७; ७.९५.४
स्यद्=स्यन्द् (क्रि.) बहना; चलना १.३२.२; ५.८३.८
स्यूमगभस्ति (वि.ब.स्यूमन्+गभस्ति) वह रथ जिसका हाथ (गभस्ति) चमड़ेकी बागडोर अथवा लगाम है ७.७१.३
स्यूमन् (√सिव्) बुने हुए वस्त्र या बागडोर, लगाम ३.६१.४
स्योन (न.√सिव्) बने हुए आसन; मृदु, सुखप्रद आसन ४.५१.१०
स्रक्व (पु.) चबड़ा ७.५५.२
स्रवत् (स्त्री√स्रु) नदी; प्रवाह १०.१०८.४
स्रवन्ती (स्त्री.√स्रु) बहनेवाली नदी १.३२.१४
स्रस् =स्रंस् (क्रि.) स्खलन होना ८.४८.५
स्राम (पु.√स्रि) व्यङ्ग; शारीरिक त्रुटि ८.४८.५
स्रिध् (क्रि.) भूलना ३.२९.९; ५.८०.३
स्रिध् (स्त्री.) उपरोध; रुकावट १.४८.८; ३.९.४
स्रु (क्रि.) बहना ७.४९.२; ९.८५.१
स्रुव (पु.) करछुल १.११६.२४
स्रोत्या (स्त्री.√स्रु) नदी ३.३३.९
स्व (वि.) आत्मीय; अपना २.२३.६; ७.८६.६
स्वङ्गुरि (वि.ब.) सुन्दर उंगलियोंवाला ४.५४.४
स्वतवस् (पु.) स्वयंसिद्ध बलवान् १.८५.७
स्वधा (स्त्री.) १ स्वतंत्र इच्छा; २ धारक शक्ति; ३ पितृदेवताओंको निवेदित अन्न ४.३३.३; १०.१४.७; १०.१२९.२
स्वधावन् (वि.) स्वतन्त्रप्रज्ञ ७.८६.४; ७.८८.५
स्वध्वर (वि.ब.) यज्ञको अनुकूल १.१४२.५; ३.९.८; ४.४६.४
स्वध्वर (न.) सुसंपादित यज्ञ ३.२९.१२
स्वन (पु.) आवाज़; ध्वनि १.१४२.५
स्वप् (क्रि.) सोना ४.३०.२१; ७.५५.२
स्वपत्य (वि.ब.—अपत्य) शोभन अपत्योंसे युक्त १.११६.९
स्वपस् (वि. ब.—अपस्) सुन्दर कर्म करनेवाला; कुशल कारीगर १.८५.९; ४.३३.८
स्वपिवात (अपि+वात√वा) अत्यन्त प्रिय ७.४६.३
स्वप्न (पु.√स्वप्) निद्रा २.२८.१०; ७.८६.६
स्वप्नस् (वि. ब. अप्नस्√आप्) वैभवयुक्त; श्रीमान् १०.७८.१
स्वयंज (वि.) स्वयंभू ७.४९.२
स्वयुक्ति (वि.√युज्) स्वयं जुत जानेवाला १.५०.९
स्वयुज् (वि.√युज्) स्वयं जोतनेवाला १०.७८.२
स्वर् (क्रि.) आवाज़ करना ९.८५.३; १०.७८.४
स्वर् (न.) १ सूर्य; २ स्वर्ग; ३ सूर्यप्रकाश २.३५.६; १.५०.५; ७.८८.२; १०.१२१.५
स्वराज् (वि.) स्वयंशासक २.२८.१; १०.१५.१४
स्वरी (स्त्री.√स्वर्) रंभानेवाली १०.६८.७
स्वरु (पु.) यूप; यज्ञस्थाणु ४.५१.२
स्वर्दृश् (वि.त.) १ सूर्यको देखनेवाला, २ सूर्यसदृश, तेजस्वी ५.२६.२; ७.८३.२
स्वर्य (वि.स्वर्) गर्जना करनेवाला १.३२.२
स्वर्विद् (वि.त.) सूर्य प्रकाश प्राप्त कर लेनेवाला २.२३.३; ८.४८.१५
स्ववत् (वि.) स्वतन्त्र १.३५.१०; १.११८.१
स्ववस् (वि.ब.—अवस्) उत्तम साहाय्य देनेवाला ४.३३.८
स्वसर (न.) गृह; निवासस्थान ३.६१.४
स्वसृत्व (न.) बहनका संबन्ध १०.१०८.१०
स्वस्ति (न, अ.) १ कल्याण; २ शोभन रीतिसे; ६.५६.६; १०.१४.११; १.११६.६; २.३३.३
स्वादु (वि.√स्वद्) रुचिकर; मधुर ८.४८.१; १०.१४६.५

स्वाधी (वि.—आधी) शोभन बुद्धिवाला २.२८.२; ८.४८.१

स्वाभू (वि.आभू—आ√भू) उत्कृष्ट परिचारक ४.५०.१०

स्वायुध (वि. आयुध) प्रखर आयुधोंसे सुसज्जित ५.५७.२

स्वावेश (वि.आवेश—आ√विश्) प्रवेशके लिए अनुकूल ७.५४.१

स्वाहा (अ.) स्वाहा मन्त्रसे १.१४२.१२; १०.१४.३

स्वाहाकृत (वि.) स्वाहा मन्त्रसे अभिमन्त्रित १.१४२.१३

स्विद् शोभार्थक निपात ४.१८.७; १०.३४.१०

स्विद् (क्रि.) पसीनेसे तर होना; पसीजना ७.१०३.८

ह शोभार्थक निपात ७.६८.४; १०.९०.१०

हत्नु (वि.√हन्) वध करनेमें प्रवृत्त; घातक १.२५.२

हथ (न.√हन्) हथियार; शस्त्र ४.३०.२१

हन् (क्रि.) वध करना १.३२.१२; ८.९९.४

हनु (स्त्री.) ठोड़ी ४.१८.९

हन्त शोभार्थक निपात १०.११९.९

हन्तृ (पु.√हन्) वधकर्ता; घातक २.१२.१०; २.२३.१७

हरस् (न.√हृ) क्रोध, संताप ८.४८.२

हरस्वत् (वि.) क्रोधी; संतप्त २.२३.६

हरि (पु.) घोड़ा १.३५.३; ९.६९.३; ४.४६.६

हरिकेश (वि.ब.) पीतवर्ण केशोंवाला १०.१३९.१

हरित् (स्त्री.) घोड़ी १.५०.८; ९.६९.९

हरित (वि.) पीतवर्ण ७.१०३.४,६,१०

हरिमन् (पु.) पीलापन १.५०.११-१२

हर्म्य (न.) घर ७.५५.६

हर्य् (क्रि.) प्रेमसे स्वीकार करना ५.५७.१

हर्यत (वि.√हर्य्) विलोभनीय ८.१००.५

हर्यश्व (वि.ब.) पीतवर्ण अश्वोंका स्वामी ३.३२.५; ८.४८.१०

हव (पु.√हू) निमन्त्रण १.२५.१९; ७.२८.२

हवन (न.√हू) निमन्त्रण ७.६८.२

हवनश्रुत् (वि.त.) निमन्त्रण सुननेवाला २.२३.१५; ७.८३.३

हविरद् (वि.त.) हवि भक्षण करनेवाला १०.१५.१०

हविरद्य (वि.त.) हविका भक्षण ५.१.११

हविर्दा (वि.त.) हवि अर्पण करनेवाला ७.६८.६

हविष्पा (वि.त.) हविका पान करनेवाला १०.१५.१०

हविष्मत् (वि.) हविका स्वामी; यजमान ३.२९.२; १०.१२५.२

हविस् (न.√हु) हविष्यान्न ३.५९.५; १०.१४.१४

हवीमन् (पु.√हू) पुकार २.३३.५; ७.८३.४

हव्य (वि.√हू) पुकार करने योग्य १.११६.६; २.२३.१३

हव्य (न.√हु) हवन करने योग्य पदार्थ ३.५९.१; ७.८६.२

हव्यवाह् (वि. त.√वह्) हव्योंका वहन करनेवाला (अग्नि) ३.२९.७

हव्यवाहन (वि.त.√वह्) दे. हव्यवाह् ३.९.६; १०.११९.१३

हव्यसूद् (वि.त.√स्वद्) हव्योंको मधुर करनेवाली ४.५०.५

हस (पु.√हस्) हास्य; आनन्द १०.१८.३

हस्तग्राभ (वि.त. ग्राभ√ग्रभ्) पाणिग्रहण करनेवाला १०.१८.८

हस्तवत् (वि.) हाथवाला १०.३४.९

हा (क्रि.) जाना; चलना ७.७१.१; २.१२.१८

हा (क्रि.) त्याग करना; छोड़ना १.११६.३; १०.३४.५

हारिद्रव (पु.) एक पीतवर्ण पक्षीका नाम १.५०.१२

हार्दि (न.) हृदय ९.६०.३

हास् (क्रि.) स्पर्धा करना ३.३३.१

हि–वाक्यपूरण; अलंकारार्थ निपात १.२५.४; ४.५१.५

हि (क्रि.) प्रेरणा देना; प्रवृत्त करना १.१४३.४; १०.१३९.५

हिंस् (क्रि.) वध करना १०.१५.६; १० १२१.९

हित (वि.√धा) रखा हुआ १.११६.१५; ५.५७.६

हिम् (पु.) तुषार १०.६८.१०

हिम (पु.) हेमन्त ऋतु; संवत्सर १.११६.८

हिमवत् (पु.) एक पर्वतका नाम १०.१२१.४

हिमा (स्त्री.) संवत्सर, हेमन्त ऋतु २.३३.२

हिरण्य (न.) सुवर्ण २.३३.९

हिरण्यगर्भ (पु.) एक देवताका नाम १०.१२१.१

हिरण्यदा (वि.त.) हिरण्यकी दक्षिणा देनेवाला २.३५.१०

हिरण्यपाणि (वि.ब.)सुवर्णसदश हाथोंवाला (सविता) १.३५.९

हिरण्यप्रउग (वि.ब.) सुवर्णमयकी जुएसे मण्डित १.३५.५

हिरण्यय (वि.) सुवर्णमय १.३५.१३; ९.८५.११

हिरण्यशम्य (वि.ब.–शम्या) सुवर्णमय शम्याओंसे युक्त; दे. शम्या १.३५.४

हिरण्यवन्धुर (वि.ब.) सुवर्णमय आसनवाला ४.४६.४

हीड् (क्रि.) तिरस्कार करनेवाला १.२५.२; १०.३४.२

हीन (वि.√हा) धनहीन; निःस्व १०.३४.१०

हु (क्रि.) हवन करना ३.५९.१; १०.१४.१५

हू (क्रि.) निमन्त्रण करना१.११८.१०;७.२८.१

हृ (क्रि.) क्रुद्ध होना ७.८६.५; २.३३.१५

हृ (क्रि.) हरण करना १०.६८.४

हृद् (न.) हृदय ८.१००.५; १०.११९.५

हृदय (न.) अन्तःकरण ६.५३.८; १०.३४.९

हृद्य्या (वि. – हृदय) हृदयसे निकली हुई १०.१५१.४

हेति (स्त्री.√हि) क्षेपणास्त्र २.३३.१४; ६.२८.७

होतृ (पु.√हू) होता; निमन्त्रक ३.९.९; ५.११.१

होत्र (न.√हु) दे. होत्रवाह्

होत्रवाह् (वि. त.) होत्रों (हव्यों)का वहन करनेवाला ५.२६.७

होत्रा (स्त्री.) एक देवताका नाम १.१४२.९

होत्रा (स्त्री.√हु) दे. होत्राविद्

होत्राविद् (वि.त.) हव्योंका ज्ञानी १०.१५.९

ह्रादुनि (स्त्री.) मेघगर्जना १.३२.१३

ह्वरस् (न.√ह्वृ) कपट; कुटिलता; कूट पाश २.२३.६

ह्वे (क्रि.) आवाहन करना १.३५.१; २.१२.८; १०.१४६.४

विषयसूची

[* इसमें पहला अंक पृष्ठका और दूसरा ऋचाके क्रमाङ्कका निर्देश करता है।]

प्र = प्रस्तावना

सूक्तानुक्रमसूची

सूक्तानुसार देवतासूची

जोड़पत्र

(प्रस्तावना)पृष्ठ	पङ्क्ति	के बाद	जोड़ दें
*२९	२	'एकं सत्'	(१.१६४.४६)
,,	४	'रहते हो'	(२.१.१–७; ५.३.१)
,,	६	'प्राप्ति कराता है'	(६.९)
,,	७	प्रदान किया है	(८.५८.२)
,,	८	एक ही है	(१०.१७७.१)
,,	११	मानी जा सकती	(१ ८९.१०)
८१	अन्तिम	उक्थ्यम्	उसके बाद
८६	१५	नहीं चलता।	दे.. ७.८६.५ की टिप्पणी
९३	१२	उचित है।	दे. ८.२०.१२
९७	१३	योग्य है।	दे. ६.६.३
१११	२३	यज्ञकार्यका समय।	दे. ७.७५.४ की टिप्पणी
११६	१४	वह कहाँ है	ऋ ६ उत्तरार्धका[१] अनुवाद
१९२	३१	आगे बढाया।	दे. ७.६८.५ की टिप्पणी
२१४	१६	दिया गया है।	दे. ७.८३.७ की टिप्पणी
१४२	११	प्रेमसे स्वीकार करो।	(टिप्पणियाँके प्रारम्भमें)[२]
२४३	२७	दे डाला।	दे. ५.७३.६ की टिप्पणी
२४४	२३	द्यावा पृथिवीके	विशेषणके
२५०	अन्तिम	१.९२.१०।	दे. १०.१८.६ की टिप्पणी
२९०	अन्तिम	रहा होगा।	मूळीके स्याम दे. ४.१८.१२ की टिप्पणी
२९३	१६	१०.६४.१३।	और दे. ५.७३.४ की टिप्पणी
२९५	१४	कि 'जम्म'	शायद
३३९	२९	व्याख्या करते हुए	विज्ञानेश्वरने
४०१	२७	'यशकी दृष्टिसे'	अथवा प्रजाद्वारा दे. ४.५४.२ की टिप्पणी
४३४	१७	नचिकेतोपाख्यानके	द्रष्टाने गृहस्थधर्ममें अतिथि (पूजाकी)

तळटीप—

१. ऋ. ४.५१.६ के उत्तरार्धका अनुवादः—ये दैदीप्यमान उषाएँ जब ज्ञानसे चलती रहती हैं तब सभी अन्योन्यसदृश और जरासे परे होनेके कारण एक दूसरीसे भिन्न नहीं मालूम होतीं।

२. टिप्पणियाँके प्रारम्भमें:—ऋचा एकसे सातका छन्द त्रिपदा विराज् है। प्रत्येक पाद त्रिष्टुभ् छन्दमें है।

शुद्धिपत्र

(मन्त्रपाठ और पदपाठ)

पृष्ठ	पङ्क्ति	(अशुद्ध) के स्थानमें	(शुद्ध) पढ़ें
३२	३	वि॒दथे॑षु॒	वि॒दथे॑षु
३३	३	वि॒ऽरुक्म॑तः	वि॒रुक्म॑तः
९२	७	न॒मा॒म॒	न॒ना॒म॒
९६	८	व॒ऽसुदे॑याय	व॒सु॒ऽदे॑याय
१२५	२	सु॒नु॒ः	सू॒नुः
१४५	३	य॒था॑	य॒था
१४९	१	पञ्च	पञ्च॑
१८५	६	प्र॒शं॑स्तिम्	प्रश॑स्तिम्
१९५	११	अस्रे॑धन्ती	अस्रे॑धन्ती
२०६	६	प्र॒जाऽव॑ती	प्र॒जाव॑तीः
२१६	७	हरी॒ इति॑	हरी॒ इति॑
२२०	७	हस्त॒	हस्ते॑
२६८	५	व॑रुण	व॑रुण

(हिंदी अनुवाद और टिप्पणियाँ)

पृष्ठ	पङ्क्ति	के स्थानमें	पढ़ें
२	२२	इस ऋचाका	इस (८) ऋचाका
३४	१३	उन्नति	उन्दन्ति
४६	१९	मेंडे	मेड़े
१०५	१४	तृतीया	प्रथम पुरुष
१०६	१९	होनेके	न होनेके
१२४	२६	बढ़नेवाले	बढ़नेवाला
,,	२७	आज्ञारूपी	उत्तेजनारूपी
१२९	१५	३·३२·९	३·३२·२
१३१	२०	३·३२·९	३·४२·७
१४४	२४	सिवा मेरी	सिवा अपनी
१४८	१२	तुमनी अपने	तुमने अपनी
१५३	१६	उपमानसे	उपमेयसे
१६०	२८	गिरा हो है	हो रही है
१७१	१४	मिलनेके लिए जिसे	जिससे मिलनेके लिए
१९०	२३	√वृ	√वृ
२०९	६	पुच्छसे	गुच्छसे
२१४	२५	यहि	यदि
२१६	१६	चम्	चमू
२२९	६	हमारा	हमारे उत्कृष्ट धनका
२६०	१८	उदुस्त्रिथः	उदुस्त्रियाः
२६२	१८	पशुतृतम्	पशुतृपम्
२६३	२५	६·२८·५	९·६०·३
२८८	९	हे इन्दो	एवं
२९०	उपान्त्य	आरोग्य-दीर्घायुष्य	दया—सुसंतति
३३८	१०	कर्णफलोंका	कर्णफूलोंका
३४५	२५	गायोंकी	गायोंको
३५५	५, २५	आदितिको	अदितिको
३७७	२६	अस्ति, आयुवः	अष्टि, आयुषः
३८४	२०	ओंर	ओर
३९१	१४	राजाओंसे	राजासे
३९८	अन्तिम	रूपाहके	गवाहके
४०२	१२	उषाके	सूर्याके
४२३	२३	सोमक स्तवन	सोमका सवन
४३८	उपान्त्य	सन्धि प्रकाशमें	सन्धिप्रकाशोंके बीचमें
४४७	उपोपान्त्य	ऋचामें भी है और हाल ही में	ऋचामें हाल ही में
४४८	१७	आतङ्कमें	काबूमें